बृहत्कल्पभाष्यम्

(हिन्दी अनुवाद सहित)

वाचना प्रमुख
आचार्य तुलसी

प्रधान संपादक
आचार्य महाप्रज्ञ

संपादक / अनुवादक
आगम मनीषी मुनि दुलहराज

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुनि दुलहराजजी श्रमिकवृत्ति के मुनि हैं। वे मुनि बनकर मेरे पास आए। तब से लेकर अब तक सतत उनकी श्रमनिष्ठा को अखंडरूप में देख रहा हूं। यह सौभाग्य की बात है कि उन्होंने श्रम की साधना में कभी थकान का अनुभव नहीं किया। **आचार्य तुलसी** ने आगम-संपादन के भगीरथ कार्य को हाथ में लिया और उसके संचालन का दायित्व मुझे दिया। उस दायित्व की अनुभूति में मुनि दुलहराजजी अनन्य सहयोगी बने रहे। आगम-संपादन के कार्य में वे पहले दिन से संलग्न रहे और आज भी इस कार्य में संलग्न हैं। उनकी श्रमनिष्ठा और संलग्नता ने ही उन्हें **आगम-मनीषी** के अलंकरण से अलंकृत किया है।

इस संपादन कार्य से पूर्व वे **व्यवहारभाष्य** का अनुवाद और संपादन भी कर चुके हैं। वह भाष्य भी साढ़े चार हजार से अधिक गाथाओं का विशाल ग्रंथ है। यदि मन की विशालता हो तो सागर की विशालता को भी मापा जा सकता है। मेरी दृष्टि में ये भाष्य-ग्रंथ सागर की उपमा से उपमित किए जा सकते हैं। इनको नापने का प्रयत्न निष्ठा, साहस और दत्तचित्तता का कार्य है। मुनि दुलहराजजी इस कसौटी में सफल हुए हैं। उनका वर्तमान आगम का वर्तमान है। उनका भविष्य भी आगम का भविष्य बना रहे।

आचार्य महाप्रज्ञ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

णमोत्थु भगवओ महावीरस्स

बृहत्कल्पभाष्यम्

(हिन्दी अनुवाद सहित)

खण्ड -१

(गाथा १ से ३६७८)

नम्र सूचन

इस ग्रन्थ के अभ्यास का कार्य पूर्ण होते ही नियत समयावधि में शीघ्र वापस करने की कृपा करें. जिससे अन्य वाचकगण इसका उपयोग कर सकें.

वाचना प्रमुख
गणाधिपति तुलसी

प्रधान संपादक
आचार्य महाप्रज्ञ

संपादक/अनुवादक
आगम मनीषी मुनि दुलहराज

सहयोगी
मुनि राजेन्द्रकुमार
मुनि जितेन्द्रकुमार

जैन विश्व भारती, लाडनूं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशक :
जैन विश्व भारती
लाडनूं - ३४१ ३०६ (राज.)

© जैन विश्व भारती, लाडनूं

ISBN : 81-7195-132-5

सौजन्य : सेठिया परिवार (दुधोड़–बैंगलोर) द्वारा उनके
संसारपक्षीय चाचा आगम मनीषी मुनि दुलहराजजी के
दीक्षा के साठवें वर्ष–प्रवेश पर।

प्रथम संस्करण : २००७

मूल्य : ५००/- (पांच सौ रुपया मात्र)

पृष्ठ संख्या : ३७८+६८=४४६

टाईप सेटिंग : नेत्तम प्रिण्ट एण्ड आर्ट

मुद्रक : पायोराईट प्रिण्ट मीडिया प्रा. लि. उदयपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

BṚHATKALPABHĀṢYAM

(With Hindi Translation)

PART - 1

Vachanapramukh

Ganadhipati Tulsi

Chief Editor

Acharya Mahaprajna

Editor/Translator

Āgama Maniṣhi Muni Dulaharaj

Assisted by

Muni Rajendra Kumar

Muni Jitendra Kumar

JAIN VISHVA BHARATI, LADNUN

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Publishers :
Jain Vishva Bharati
Ladnun - 341 306 (Raj.)

© Jain Vishva Bharati, Ladnun

ISBN : 81-7195-132-5

Courtsey : Sethia Family (Dudhor-Banglore) On the eve of entry into Sixtyeth year of the ascetic life by their uncle Āgama-Maniṣhi Dulharaj ji.

First Edition : 2007

Price : 500/-

Pages : 378+68=446

Type Setting : Sarvottam Print & Art

Printed by : PAYORITE PRINT MEDIA PVT. LTD. UDIPUR

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समर्पण

।।१।।

पुट्ठो वि पण्णा-पुरिसो सुदक्खो,
आणा-पहाणो जणि जस्स निच्चं।
सच्चप्पओगे पवरासयस्स,
भिक्खुस्स तस्स प्पणिहाणपुव्वं।।

जिसका प्रज्ञा-पुरुष पुष्ट पटु,
होकर भी आगम-प्रधान था।
सत्य-योग में प्रवर चित्त था,
उसी भिक्षु को विमल भाव से।।

।।२।।

विलोडियं आगमदुद्धमेव,
लद्धं सुलद्धं णवणीयमच्छं।
सज्झायसज्झाणरयस्स निच्चं,
जयस्स तस्स प्पणिहाणपुव्वं।।

जिसने आगम-दोहन कर कर,
पाया प्रवर प्रचुर नवनीत।
श्रुत-सद्ध्यान लीन चिर चिंतन,
जयाचार्य को विमल भाव से।।

।।३।।

पवाहिया जेण सुयस्स धारा,
गणे समत्थे मम माणसे वि।
जो हेउभूओ स्स पवायणस्स,
कालुस्स तस्स प्पणिहाणपुव्वं।।

जिसने श्रुत की धार बहाई,
सकल संघ में, मेरे मन में।
हेतुभूत श्रुत-सम्पादन में,
कालुगणी को विमल भाव से।।

विनयावनत

आचार्य तुलसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आशीर्वचन

छेदसूत्रों की शृंखला में एक सूत्र है—कल्प। विषयवस्तु और आकार के कारण उसका नाम हो गया—बृहद्कल्प। मूल प्राकृत, भाष्य प्राकृत भाषा में और टीका संस्कृत में। अपेक्षा थी—इसका हिन्दी में अनुवाद हो। इसकी पूर्ति मुनि दुलहराजजी ने की। अपेक्षा अंग्रेजी अनुवाद की भी है। उसकी पूर्ति पर भी विचार किया जाएगा। स्वास्थ्य की अनुकूलता की स्थिति में मुनि दुलहराजजी इस कार्य का दायित्व निभा सकते हैं।

'बृहद्कल्पभाष्य' एक विशाल ग्रंथ है। यह ६४९० गाथाओं में निबद्ध है। विषयवस्तु की दृष्टि से आकर ग्रंथ है। इस आकर ग्रंथ के प्रथम और चरम बिन्दुओं को मिलाकर एक रेखा का निर्माण करना एक श्रमसाध्य कार्य है।

मुनि दुलहराजजी श्रमिकवृत्ति के मुनि हैं। वे मुनि बनकर मेरे पास आए। तब से लेकर अब तक सतत उनकी श्रमनिष्ठा को अखंडरूप में देख रहा हूं। यह सौभाग्य की बात है कि उन्होंने श्रम की साधना में कभी थकान का अनुभव नहीं किया। **आचार्य तुलसी** ने आगम-संपादन के भगीरथ कार्य को हाथ में लिया और उसके संचालन का दायित्व मुझे दिया। उस दायित्व की अनुभूति में मुनि दुलहराजजी अनन्य सहयोगी बने रहे। आगम-संपादन के कार्य में वे पहले दिन से संलग्न रहे और आज भी इस कार्य में संलग्न हैं। उनकी श्रमनिष्ठा और संलग्नता ने ही उन्हें **आगम-मनीषी** के अलंकरण से अलंकृत किया है।

इस संपादन कार्य से पूर्व वे **व्यवहारभाष्य** का अनुवाद और संपादन भी कर चुके हैं। वह भाष्य भी साढ़े चार हजार से अधिक गाथाओं का विशाल ग्रंथ है। यदि मन की विशालता हो तो सागर की विशालता को भी मापा जा सकता है। मेरी दृष्टि में ये भाष्य-ग्रंथ सागर की उपमा से उपमित किए जा सकते हैं। इनको नापने का प्रयत्न निष्ठा, साहस और दत्तचित्तता का कार्य है। मुनि दुलहराजजी इस कसौटी में सफल हुए हैं। उनका वर्तमान आगम का वर्तमान है। उनका भविष्य भी आगम का भविष्य बना रहे।

धनतेरस, वि. सं. २०६४
उदयपुर (राज.)

आचार्य महाप्रज्ञ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भूमिका

जिनशासन कालजयी शासन है। इसकी चिरजीविता का मौलिक और पुष्ट आधार है—आगम। आगम का अर्थ है—आप्तवचन। यथार्थ ज्ञाता और यथार्थ वक्ता आप्त कहलाता है। उसे आगम भी माना गया है। वक्ता और वचन के अभेदोपचार से आगमपुरुष के वचनों को भी आगम कहा गया है। केवलज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, चतुर्दशपूर्वी और दसपूर्वी मुनि आगमपुरुष कहलाते हैं। किन्तु जिन आगमों के आधार पर जिनशासन आज भी अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखे हुए है, उनका संबंध तीर्थंकरों के साथ है। तीर्थंकरों द्वारा अर्थरूप में निरूपित तथा गणधरों एवं स्थविरों द्वारा गुंफित शास्त्र आगम की अभिधा को अलंकृत करते हैं।

आगम मुख्यतः दो भागों में विभक्त हैं—अंग और अंगबाह्य। अंग बारह हैं। उनमें ग्यारह अंग मूलरूप में या थोड़े-बहुत परिष्कृत व परिवर्तित रूप में आज भी प्राप्त हैं। बारहवें अंग दृष्टिवाद में चौदह पूर्वों की विशाल ज्ञान-संपदा थी। वर्तमान में दृष्टिवाद प्राप्त नहीं है, पर उसके कतिपय अंश निर्यूढ़रूप में उपलब्ध है। पूर्वों से निर्यूहण का काम कई समर्थ आचार्यों ने किया। इससे कुछ दुर्लभ परम्पराएं सुरक्षित रह गईं। अंगबाह्य आगमों में बारह उपांगों के नाम आते हैं। इनकी रचना कई स्थविर आचार्यों द्वारा की गई है।

आगम-वर्गीकरण का एक क्रम इस प्रकार है—अंग, उपांग, मूल और छेद। प्रस्तुत संदर्भ में विमर्श का विषय छेदसूत्र बनते हैं। छेदसूत्रों की संख्या के बारे में विद्वानों में मतभेद है। विंटरनित्स के अनुसार छेदसूत्रों के प्रणयन का क्रम इस प्रकार है—कल्प, व्यवहार, निशीथ, पिंडनिर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति और महानिशीथ।[1] अन्य जैन परम्पराओं में भी एकरूपता नहीं है। तेरापंथ धर्मसंघ की परम्परा में चार छेदसूत्र मान्य हैं—निशीथ, व्यवहार, बृहत्कल्प और दशाश्रुतस्कन्ध।

जैन आगम ग्रंथों में छेदसूत्रों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन ग्रंथों में साधु जीवन में करणीय कार्यों की विधि और अकरणीय कार्यों के लिए निषेध का प्रावधान है। इसके साथ प्रमाद के लिए प्रायश्चित्त का भी विधान है। व्यवहारभाष्य के अनुसार अर्थ की दृष्टि से पूर्वगत को छोड़कर अन्य आगमों की अपेक्षा छेदसूत्र अधिक शक्तिशाली हैं।[2]

आगमों का व्याख्या साहित्य

मूल आगम के गंभीर अर्थ को समझने के लिए उस पर व्याख्या ग्रंथ लिखने की परंपरा प्राचीन काल से चली आ रही है। जैन आगमों पर अनेक विधाओं और भाषाओं में व्याख्या ग्रंथ लिखे गए हैं, जैसे—निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका, दीपिका, अवचूरि आदि। इनमें प्राकृत एवं संस्कृत भाषाओं का उपयोग किया गया है। कालान्तर में राजस्थानी, गुजराती आदि प्रादेशिक भाषाओं में भी टब्बा, वार्तिक, जोड़ आदि के रूप में व्याख्याएं लिखी जाती रहीं। छेदसूत्रों पर भी अनेक व्याख्याएं लिखी जा चुकी हैं।

चार छेदसूत्रों में एक सूत्र का नाम **'बृहत्कल्प'** है। नन्दीसूत्र में दी गई कालिकसूत्रों की सूची में कल्पसूत्र का उल्लेख मिलता है। कल्पसूत्र पर दो भाष्य लिखे गए—बृहत् और लघु। उत्तरकाल में बृहत् शब्द कल्प का विशेषण बन गया। इस आधार पर सूत्र का नाम बृहत्कल्प हो गया। छेदसूत्र जैनाचार्यों की स्वतंत्र रचना नहीं है। ये निर्यूढ ग्रंथ हैं। इनका निर्यूहण पूर्वों से किया गया है।

---

१. A History of cannonical Literature of Jains P. 446.

२. जम्हा तु होति सोधी, छेयसुयत्थेण खलितचरणस्स।
तम्हा छेयसुयत्थो, बलवं मोत्तूण पुव्वगतं॥ (व्यभा. १८२९)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूत्रकार और भाष्यकार

बृहत्कल्पभाष्य के टीकाकार आचार्य मलयगिरि ने कल्प और व्यवहारसूत्र के बारे में प्रश्न उपस्थित किए हैं कि सूत्रकार, निर्युक्तिकार और भाष्यकार कौन-कौन हैं? इस प्रश्नत्रयी के समाधान में स्वयं टीकाकार ने लिखा है–चौदह पूर्वों में नौवां पूर्व प्रत्याख्यानपूर्व है। उसकी तीसरी आचार-वस्तु के बीसवें प्राभृत से इनका निर्यूहण किया गया है। इस प्राभृत में साधु के मूलगुण और उत्तरगुण में प्रमाद होने पर उसकी विशुद्धि के लिए आलोचना, प्रतिक्रमण आदि दस प्रकार के प्रायश्चित्त का निरूपण किया गया है। समय के प्रभाव से धृति, बल, वीर्य, बुद्धि, आयुष्य आदि का ह्रास होने से पूर्वों का अध्ययन दुर्बोध हो गया। उस स्थिति में प्रायश्चित्तविधि का विच्छेद न हो, इस दृष्टि से साधुओं पर अनुग्रह करके चतुर्दशपूर्वी भगवान् भद्रबाहु स्वामी ने कल्पसूत्र और व्यवहारसूत्र का निर्यूहण किया और दोनों सूत्रों पर सूत्रस्पर्शिका निर्युक्तियों की रचना की।

निर्युक्ति होने पर भी सूत्रों की शाब्दिक संरचना अर्थ की विशदता को देखते हुए अत्यधिक संक्षिप्त है। इधर दुःषमा काल के प्रभाव से मेधा, आयुष्य आदि गुणों में आने वाली न्यूनता के कारण ऐदंयुगीन लोगों के लिए वे दुर्बोध ही रहे। उनको समझना और धारणकर रखना कठिन हो गया। उन सूत्रों को सरलता से समझने और धारण करने के लिए भाष्यकार ने भाष्य का निर्माण किया।[1]

आचार्य मलयगिरि ने भाष्यकार का उल्लेख अवश्य किया है, पर किसी नामांकित भाष्यकार को प्रस्तुत नहीं किया। यहां प्रश्न उठ सकता है कि उन्होंने ऐसा क्यों किया? संभव है, भाष्यकार के बारे में प्राचीन आचार्यों में मतैक्य नहीं रहा हो। इस विषय की विस्तृत चर्चा मुनिश्री दुलहराजजी और समणी कुसुमप्रज्ञाजी ने उनके द्वारा संपादित व्यवहारभाष्य के आमुख–**'व्यवहारभाष्य : एक अनुशीलन'** में की है। उन्होंने मुनि पुण्यविजयजी को उद्धृत करते हुए संघदासगणी को भाष्यकार स्वीकार किया है। इस मत की पुष्टि के लिए उनके द्वारा आचार्य क्षेमकीर्ति को भी उद्धृत किया गया है।[2] संघदासगणी का अस्तित्व-काल विक्रम की पांचवीं-छठी शताब्दी माना गया है।

भाष्य और उनका परिमाण

आगम के व्याख्या साहित्य में निर्युक्ति के बाद भाष्य का स्थान है। निर्युक्ति दस ग्रंथों पर लिखी गई। निर्युक्तियों की भांति भाष्य भी दस ग्रंथों पर लिखे गए हैं–आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, बृहत्कल्प, पंचकल्प, व्यवहार, निशीथ, जीतकल्प, ओघनिर्युक्ति और पिंडनिर्युक्ति।

दस भाष्यों में बृहत्कल्प, निशीथ और व्यवहारसूत्र पर बृहत्काय भाष्य मिलते हैं। जीतकल्प, पंचकल्प और आवश्यक (विशेषावश्यक भाष्य) पर मध्यम, ओघनिर्युक्ति पर अल्प तथा दशवैकालिक, उत्तराध्ययन और पिंडनिर्युक्ति पर अत्यल्प परिमाण में भाष्य लिखे गए हैं। इन भाष्यों की गाथा संख्या इस प्रकार है–

१. बृहत्कल्पभाष्य–६४९०
२. निशीथभाष्य–६७०३
३. व्यवहारभाष्य–४६९४
४. आवश्यकभाष्य–
   - विशेषावश्यक भाष्य–३६०३
   - मूलभाष्य–२५३
५. पंचकल्पभाष्य–२६६६
६. जीतकल्पभाष्य २६०६
७. ओघनिर्युक्तिभाष्य–३२२
८. दशवैकालिकभाष्य–६३
९. उत्तराध्ययनभाष्य–३४
१०. पिंडनिर्युक्तिभाष्य–३७

प्रायः भाष्य मूलसूत्रों पर लिखे गए हैं। किन्तु दो भाष्य निर्युक्ति पर लिखे गए हैं–पिंडनिर्युक्ति भाष्य और ओघनिर्युक्ति भाष्य। डॉ. मोहनलाल मेहता ने ओघनिर्युक्ति पर दो भाष्यों का उल्लेख किया है, पर वर्तमान में दूसरा बृहद्भाष्य अप्रकाशित है।

---

१. बृभा. वृ. पृ. २।
२. व्यभा. भूमिका पृ. ४३,४४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कल्पशब्द : अर्थमीमांसा

नन्दीसूत्र के अनुसार प्रस्तुत आगम का नाम कल्पसूत्र है। वृत्तिकार ने कल्पशब्द के अनेक अर्थ बताते हुए एक श्लोक उद्धृत किया है–

सामर्थ्ये वर्णनायां च, छेदने करणे तथा।
औपम्ये चाधिवासे च, कल्पशब्दं विदुर्बुधाः॥

सामर्थ्य, वर्णन, छेदन, क्रिया, उपमा और अधिवास–इन अर्थों में कल्प शब्द प्रयुक्त हो सकता है। प्रत्येक अर्थ का उदाहरण के रूप में प्रयोग किया गया है, जैसे–

सामर्थ्य–वर्षाष्टप्रमाणश्चरणपरिपालने कल्पः समर्थ इत्यर्थः।

आठ वर्ष की अवस्था वाला साधुत्व का पालन करने में समर्थ है।

वर्णन–अध्ययनमिदमनेन कल्पितम्, वर्णितमित्यर्थः।

इस अध्ययन का वर्णन इसके द्वारा किया गया है।

छेदन–केशान् कर्त्तर्या कल्पयति, छिनत्तीत्यर्थः।

कैंची (कतरनी) से केश काटता है।

क्रिया–कल्पिता मयाऽस्याऽऽजीविका कृता इत्यर्थः।

मैंने इसके लिए आजीविका की व्यवस्था की।

उपमा–सौम्येन तेजसा च यथाक्रममिन्दुसूर्यकल्पाः साधवः।

सौम्यता और तेजस्विता के आधार पर साधुओं को क्रमशः चन्द्रमा और सूर्य से उपमित किया जा सकता है।

अधिवास–सौधर्मकल्पवासी शक्रः सुरेश्वरः।

देवेन्द्र शक्र सौधर्म नामक प्रथम स्वर्ग में वास करता है।

कल्पसूत्र के प्रसंग में उपर्युक्त सभी अर्थों में कल्पशब्द का प्रयोग घटित हो सकता है।[1]

भाष्यकार द्वारा कृत मंगल

कल्प शब्द की व्याख्याविधि बताने के इच्छुक भाष्यकार ने अपने लक्ष्य की सफलता के लिए मंगल का प्रयोग किया है। मंगल के लिए उन्होंने नन्दी शब्द का प्रयोग किया है। यह पंचात्मक ज्ञान का प्रतीक है। पंचात्मक ज्ञान के अपेक्षा भेद से कई प्रकार किए गए हैं। प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से वह दो प्रकार का है। प्रत्यक्षज्ञान के तीन भेद हैं–अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान। परोक्षज्ञान के दो भेद हैं–आभिनिबोधिकज्ञान और श्रुतज्ञान। श्रुतज्ञान के चौदह प्रकार हैं। अथवा श्रुतज्ञान के दो भेद हैं–अंगगत/अंगप्रविष्ट और अनंगगत/अंगबाह्य। यहां प्रकृत है मंगलार्थ नंदी। उसका कथन करना चाहिए।[2]

मंगल के निमित्त पांच ज्ञानों की प्ररूपणा की गई। किन्तु यहां श्रुतज्ञान का अधिकार है, प्रसंग है। क्योंकि श्रुतज्ञान से ही शेष ज्ञानों का तथा अनुयोग का कथन होता है। यहां प्रदीप का दृष्टान्त ज्ञातव्य है। जिस प्रकार प्रदीप घट आदि पदार्थों का तथा स्वयं का प्रकाशक होता है, वैसे ही श्रुतज्ञान शेष ज्ञानों तथा स्वयं का अनुयोगकारक है, इसलिए यहां श्रुतज्ञान का अधिकार है। उस श्रुतज्ञान के भी उद्देशक, समुद्देशक, अनुज्ञा और अनुयोग–ये चार अंग होते हैं। प्रस्तुत प्रकरण में अनुयोग का अधिकार है।[3]

१. बृभा. वृ. पृ. ४।
२. बृभा. गा. ३।
३. बृभा. गा. १४८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुयोग/व्याख्या की विधि

श्रुतज्ञान की प्राप्ति के लिए आचार्यों ने अनुयोग/व्याख्या की व्यवस्था की है। अनुयोग की विधि का निरूपण करते हुए भाष्यकार ने लिखा है–

पहली परिपाटी में सूत्र का कथन करना चाहिए। दूसरी परिपाटी में निर्युक्तिमिश्रित सूत्र का कथन करना चाहिए। तीसरी परिपाटी में सम्पूर्ण अनुयोग का कथन करना चाहिए।[१] इस क्रम में पद, पदार्थ, चालना, प्रत्यवस्थान से विस्तृत कथन करना चाहिए। अनुयोग की यह विधि ग्रहण-धारणा समर्थ शिष्यों के लिए है। मन्दमति शिष्यों के लिए अनुयोग की विधि यह है–

१. शिष्य गुरु की वाचना को मौन होकर सुने।

२. दूसरी बार शिष्य गुरु की वाचना को हुंकार देकर सुने, वन्दना करे।

३. तीसरी बार शिष्य गुरु की वाचना सुनकर बाढकार करे–यह ऐसा ही है, इस रूप में प्रशंसा करे।

४. चौथी बार प्रतिपृच्छा करे–भंते! यह कैसे होता है? इस प्रकार प्रश्न करे।

५. पांचवीं बार विमर्श करे–प्रमाण की जिज्ञासा करे।

६. छठी बार में शिष्य उपदिष्ट विषय का पारायण कर लेता है।

७. सातवीं बार में परिनिष्ठा को प्राप्त हो जाता है–गुरु की भांति व्याख्या करने में समर्थ हो जाता है।[२]

सूत्र और अर्थ का पौर्वापर्य

अनुयोग क्या होता है? और कब होता है? इस विषय में भाष्यकार का मन्तव्य यह है–अनु के साथ योग शब्द जुड़ने से अनुयोग शब्द बनता है। अनु का अर्थ है–पश्चात्भूत। अणु के साथ योग शब्द जुड़ने से अणुयोग शब्द निष्पन्न होता है। अणु का अर्थ है थोड़ा। इस शब्द-संयोजना के अनुसार जो पश्चात्कृत है, अल्प है, वह सूत्र है। सूत्र की रचना बाद में होती है तथा वह संक्षिप्त होती है, इसलिए उसे अणु/अनु कहा जाता है। अर्थ का कथन पहले होता है तथा वह विपुल/विस्तृत होता है, इसलिए अनणु/अननु कहलाता है।

आचार्य द्वारा अनुयोग की मीमांसा सुनकर शिष्य ने जिज्ञासा की–पहले सूत्र होता है और प्रकाश/अर्थ उसके बाद होता है। लौकिक लोग भी यही चाहते हैं। सूत्र पेटी के सदृश होता है। जैसे पेटी में अनेक वस्त्रों का समावेश होता है, वैसे ही सूत्र में अनेक अर्थपदों का समावेश होता है। लौकिक लोगों का अभिमत निम्नलिखित श्लोक से ज्ञात होता है–

पूर्वं सूत्रं ततो वृत्तिर्वृत्तेरपि च वार्तिकम्।
सूत्रवार्तिकयोर्मध्ये ततो भाष्यं प्रवर्तते॥[३]

पहले सूत्र होता है फिर सूत्र की वृत्ति होती है। वृत्ति के बाद वार्तिक होता है। सूत्र और वार्तिक के मध्य में अपेक्षानुसार भाष्य का निर्माण किया जाता है।

शिष्य का तर्क यह है कि पेटी का उदाहरण सूत्र के संक्षिप्त होने को प्रमाणित नहीं करता, क्योंकि पेटी बड़ी होती है तभी उसमें अधिक वस्त्र समाते हैं। इससे पेटास्थानीय सूत्र में बहुत अर्थपदों का समावेश घटित हो जाता है। इस आधार पर पहले सूत्र और बाद में अर्थ की संगति बैठती है।[४]

शिष्य के तर्क को निरस्त करने के लिए भाष्यकार ने कहा–अर्हत् अर्थ का कथन करते हैं। उसी को गणधर सूत्ररूप में ग्रथित करते हैं। अर्थ के बिना सूत्र कैसे हो सकता है? यदि होता भी है तो वह असंबद्ध होता है। लौकिक शास्ता भी पहले अर्थ देखकर ही सूत्र की रचना करते हैं, क्योंकि अर्थ के बिना सूत्र की निष्पत्ति ही संभव नहीं है।

---

१. बृभा. गा. २०९।
२. बृभा. गा. २१० वृ. पृ. ६७।
३. बृभा. वृ. पृ. ६२।
४. बृभा. वृ. पृ. ६२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रंथकार ने एक तर्क यह दिया कि पेटी की तरह सूत्र विशद होता है और अर्थ थोड़ा होता है। प्रस्तुत उदाहरण भी ग्राम्य है। क्योंकि उसी पेटी से एक वस्त्र निकालकर अनेक पेटियों को बांधा जा सकता है। इसी प्रकार एक अर्थ से अनेक सूत्र पहले उसी अर्थ के आधार पर बनते हैं। इस दृष्टि से वस्त्रस्थानीय अर्थ ही महत्त्वपूर्ण घटित होता है।[1]

व्याख्या के लक्षण

अर्थ और सूत्र की मीमांसा के बाद सूत्र के लक्षण, दोष और गुण बताए गए हैं। गुण-दोष की चर्चा के अनन्तर सूत्र के उच्चारण की पद्धति का निर्देश है। उस पद्धति का अतिक्रमण होने पर संभावित कठिनाइयों को उदाहरणों के माध्यम से स्पष्ट किया गया है तथा प्रायश्चित्त का संकेत भी किया गया है। इस समग्र प्रकरण को भाष्य की वृत्ति के साथ पढ़ा जाए तो भाष्यकार की बहुश्रुतता स्वतः मुखर हो जाती है। शास्त्रोक्त विधि से सूत्र का पाठ करने पर उसकी व्याख्या का प्रसंग उपस्थित होता है। भाष्यकार ने व्याख्या के छह लक्षण बताए हैं—संहिता, पद, पदार्थ, पदविग्रह, चालना और प्रत्यवस्थान।[2] मतान्तर से व्याख्या के पांच विकल्प निर्दिष्ट किए गए हैं—सूत्रोच्चारण, पद, पदार्थ, पदविक्षेप और निर्णयप्रसिद्धि।[3] सामान्यतः पाठक के लिए उक्त शब्द दुर्बोध प्रतीत होते हैं, किन्तु वृत्ति और भाष्य का हिन्दी अनुवाद सामने होने पर ये बोधगम्य बन जाते हैं।

भाष्यकार का उद्देश्य केवल कल्पसूत्र के सूत्रों की व्याख्या तक सीमित नहीं था। जिस किसी प्रसंग से उन्होंने अपने बहुमुखी ज्ञान को भाष्य की गाथाओं में पिरोने का प्रयास किया है। और तो क्या, संस्कृत-व्याकरण के अनेक पहलुओं को इतनी सहजता से गाथाओं में गूंथ दिया कि व्याकरण के सामान्य नियमों को समझने वाला भी उनके आधार पर व्याकरण के गंभीर ज्ञान को उपलब्ध कर सकता है।[4]

सूत्रग्रहण की अर्हता

सूत्र के बारे में विशद विश्लेषण करने के बाद भाष्यकार ने सूत्र-ग्रहण की अर्हता और कल्पसूत्र को ग्रहण करने के योग्य परिषद् की परीक्षा के लिए चौदह दृष्टान्त प्रस्तुत किए हैं—शैलघन, कुटक, चालिनी, परिपूणक, हंस, महिष, मेष, मशक, जलौका, बिडाली, जाहक, गौ, भेरी तथा आभीरी।[5] प्रत्येक दृष्टान्त को भाष्य गाथाओं में ही कुछ विस्तार से बताया गया है। निष्कर्ष रूप में यह भी प्रतिपादित किया गया है कि किन दृष्टान्तों के प्रतिरूप शिष्य वाचना के योग्य या अयोग्य होते हैं। अयोग्य शिष्यों को वाचना देने वाले और योग्य शिष्यों को वाचना न देने वाले आचार्य प्रायश्चित्त के भागी होते हैं।

परिषद् की परीक्षा विधि का निरूपण करने के बाद भाष्यकार ने उसके तीन प्रकार बतलाए हैं—ज्ञायक परिषद्, अज्ञायक परिषद् और दुर्विदग्ध परिषद्। इन तीनों परिषदों के स्वरूप एवं प्रकारों की भी विस्तृत चर्चा की गई है।[6] इसी शृंखला में लौकिक तथा लोकोत्तर परिषदों के प्रकार भी समझाए गए हैं।[7] समग्र प्रकरण को पढ़ने से प्रतीत होता है कि भाष्यकार की ज्ञान-चेतना कितनी विकसित थी। वृत्तिकार ने भी भाष्यकार के कथ्य को विस्तार से प्रतिपादित कर अपने प्रतिभा-कौशल का परिचय दिया है।

प्रथम सूत्र की व्याख्या

'बृहत्कल्पसूत्र' का प्रथम सूत्र है—**'नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा आमे तालपलंबे अभिन्ने पडिगाहित्तए'**—इस छोटे-से सूत्र की व्याख्या में भाष्यकार ने एक सौ पिच्यानवे गाथाएं लिखी हैं। छोटा-सा सूत्र और व्याख्या में इतना विस्तार अपने आप में एक आश्चर्य है। भाष्यकार ने सूत्र के प्रत्येक शब्द की समग्र रूप से शल्य-चिकित्सा की है। सूत्र की व्याख्या के लिए जो अनुशासन निर्दिष्ट किया गया है, उसका अनुसरण करते हुए चालना/प्रश्न का उत्थापन और प्रत्यवस्थान/समाधान का खुलकर प्रयोग किया गया है।

---

१. बृभा. वृ. पृ. ६२,६३।
२. बृभा. गा. ३०२।
३. बृभा. गा. ३०९।
४. बृभा. गा. ३२५-३२७।
५. बृभा. गा. ३३४-३६३।
६. बृभा. गा. ३६४-३७२।
७. बृभा. गा. ३७८-३९८ वृ. पृ. ११२-११६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूत्र में सर्वप्रथम 'नो' शब्द को अमांगलिक मानकर उसके प्रयोग को लेकर उठाए गए प्रश्न को यौक्तिक-विधि से समाहित किया गया है। निर्ग्रन्थ शब्द की मीमांसा में बाह्य ग्रंथ और आभ्यन्तर ग्रंथ–ये दो भेद किए गए हैं। बाह्य ग्रंथ को समझाने के लिए उसके दस प्रकार बताए हैं। आभ्यन्तर ग्रंथ के चौदह प्रकारों का उल्लेख हुआ है। इस प्रसंग में सैद्धांतिक दृष्टि से भी कुछ विवेचन किया गया है। प्रस्तुत विवेचन भाष्यकार की सैद्धांतिक अवधारणाओं को भी उजागर करता है।[1]

आम शब्द की व्याख्या में भी भाष्यकार ने अनेक दृष्टियों का उपयोग किया है। सामान्यतः 'आम' शब्द का अर्थ होता है–अपरिपक्व/सचित्त। किसी भी निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी के द्वारा साधु जीवन स्वीकार करते समय सब प्रकार की सपाप प्रवृत्तियों का तीन करण और तीन योग से त्याग किया जाता है। सचित्त फल का स्पर्श, ग्रहण और भक्षण पापकारी प्रवृत्ति है। इस आधार पर हर अपरिपक्व फल साधु के लिए अग्राह्य और अभक्ष्य होता है। ऐसी स्थिति में अपरिपक्व तालप्रलंब फल के ग्रहण का प्रसंग ही उपस्थित नहीं होता। इस संदर्भ में कहा जा सकता है कि शैक्ष साधुओं को विस्तार या स्पष्टता से समझाने के लिए इस सूत्र की रचना की गई है।

यहां प्रश्न यह है कि सूत्र में सब प्रकार के आम फलों का निषेध होता तो वह बुद्धिगम्य हो जाता। किन्तु केवल प्रलंब फल का ही निषेध क्यों? भाष्यकार ने अपनी ओर से यह प्रश्न तो उपस्थित नहीं किया। पर निक्षेप-पद्धति से 'आम' शब्द की व्याख्या के प्रसंग में भाव आम का अर्थ किया है–उद्गम, उत्पादन और एषणा दोष को भाव आम समझना चाहिए। इसी प्रकार पृथ्वीकायिक आदि जीवों का उपमर्दन रूप असंयम भी भावतः आम विधि है। क्योंकि इससे चारित्र अपक्व होता है। उक्त प्रश्न के समाधान हेतु सूत्रकार और भाष्यकार की विवक्षा को समझना आवश्यक है। प्रलंब और भिन्न शब्दों को भी निक्षेप-पद्धति से समझाया गया है।[2]

प्रलम्ब-ग्रहण की स्थिति के अनेक विकल्पों का निरूपण करके भाष्यकार ने उनका अलग-अलग प्रायश्चित्त भी बताया है। प्रायश्चित्त का आधार है–संयम-विराधना और आत्म-विराधना। ये दोनों प्रकार की विराधना कैसे होती है और कितनी विराधना होने पर क्या प्रायश्चित्त होता है, यह भी निर्दिष्ट किया गया है। प्रायश्चित्त की प्रस्तुत विधि का निर्देश किसी परम्परा के आधार पर किया गया है अथवा भाष्यकार ने अपनी मति से निर्धारण किया है, इसका कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है।[3]

मासकल्प विहार की विधि

प्रथम उद्देशक के पांच सूत्रों में तालप्रलंब फल की ग्रहण विषयक विधि, निषेध और प्रायश्चित्त का विधान है। छठे सूत्र में ग्राम, नगर आदि में साधुओं के प्रवास-काल का विधान है। भाष्यकार ने नय और निक्षेपविधि से ग्राम शब्द का विशद विवेचन किया है। भावग्राम के निरूपण में उन्होंने तीर्थंकर, जिन (केवली), चतुर्दशपूर्वधर, दशपूर्वधर, असम्पूर्ण दशपूर्वधर, संविग्न, असंविग्न, सारूपिक, अणुव्रतधारी श्रावक, दर्शनश्रावक और सम्यग्दृष्टिपरिगृहीत प्रतिमा का ग्रहण किया है। यह पूरा प्रसंग ग्राम शब्द को विविध दृष्टिकोणों से समझने में सहायक बनता है।[4]

सूत्र में समागत मास शब्द को भी निक्षेपविधि से समझाया गया है।[5] मासकल्प विहार की विधि में भी एकरूपता नहीं है। जिनकल्पिक, शुद्ध परिहारिक, अहालंदक, गच्छवासी–स्थिरकल्पिक तथा आर्यिकाओं के लिए मासकल्प की विधि अलग-अलग बताई गई है। प्रस्तुत संदर्भ में जिनकल्पिक साधु की प्रव्रज्या, शिक्षा आदि का विस्तार से विवेचन किया गया है। शिक्षा के प्रसंग में भाष्यकार ने उदाहरणों के माध्यम से शास्त्रों के अध्ययन की आवश्यकता पर बल दिया है। आगमों के अध्ययन और स्वाध्याय में रुचिवर्धन की दृष्टि से यह प्रकरण बहुत उपयोगी है।[6]

आगम-अध्ययन का महत्त्व

भाष्य गाथा ११४४-११४६ में शिष्य ने ज्ञान के प्रति उदासीनता प्रकट करते हुए जिज्ञासा की–'गुरुदेव मैं

१. बृभा. वृ. पृ. २५७-७०।
२. बृभा. वृ. पृ. २७०-२७२।
३. बृभा. गा. ८६१-८८९ वृ. पृ. २७५-२८३।
४. बृभा. गा. १०९४-१११९ वृ. पृ. ३४३-३५०।
५. बृभा. गा. ११२६।
६. बृभा. गा. ११३१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संयमयोगों में उद्यमशील हूं, फिर मेरा पढ़ने से क्या प्रयोजन?' आचार्य ने शिष्य को प्रतिबोध देने के लिए दो दृष्टान्त उपस्थित किए हैं[1]–

१. जैसे हाथी स्नान करने के पश्चात् अपने शरीर पर प्रचुर मात्रा में धूली डाल लेता है, वैसे ही संयम में अच्छी तरह उद्यमशील अज्ञानी साधु भी कर्ममल का उपचय करता है।

२. जैसे हाथीपगा व्यक्ति जितने प्रमाण में खेत का निदान करता है, उससे भी अधिक धान्य को अपने पैरों से रौंद डालता है। इसी प्रकार श्रुतपाठ के बिना चारित्ररूपी सस्य को असंयमरूपी पंक में डाल देता है।

श्रुत के अध्ययन से निष्पन्न होने वाले गुणों की चर्चा करते हुए भाष्यकार ने गाथा ११६२ में आठ गुणों का उल्लेख किया है–आत्महित, परिज्ञा, भावसंवर, नया-नया संवेग, निष्कम्पता, तप, निर्जरा और परदेशिकत्व।[2] तप एवं निर्जरा का महत्त्व उजागर करते हुए उन्होंने लिखा है–

बारसविहम्मि वि तवे, सब्भिंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे।
न वि अत्थि न वि अ होही, सज्झायसमं तवोकम्मं॥[3]

तीर्थंकरों द्वारा दृष्ट बाह्य और आभ्यन्तर रूप में विभक्त बारह प्रकार के तपःकर्म में स्वाध्याय के समान दूसरा कोई तपःकर्म न है और न होगा।

जं अन्नाणी कम्मं खवेइ बहुयाहिं वासकोडीहिं।
तं नाणी तिहिं गुत्तो, खवेइ ऊसासमेत्तेण॥[4]

अज्ञानी जीव जिन कर्मों का क्षय अनेक कोटि वर्षों में करता है, उन्हीं कर्मों का क्षय तीन गुप्तियों से गुप्त ज्ञानी साधक उच्छ्वास मात्र कालमान में कर देता है।

विभिन्न जनपदों में विहार करने से भाष्यकार की ज्ञान-चेतना और अनुभव-चेतना भी समृद्ध हो गई। अपनी इसी चेतना के द्वारा तत्कालीन कृषि-व्यवस्था और जीवन-निर्वाह की प्रक्रिया प्रस्तुत करते हुए उन्होंने लिखा है–

- लाट देश में वर्षा के पानी से धान्य की निष्पत्ति होती है।
- सिन्धु देश में नदी के पानी से धान्य की निष्पत्ति होती है।
- द्रविड़ देश में तालाब के पानी से धान्य की निष्पत्ति होती है।
- उत्तरापथ में कूएं के पानी से धान्य की निष्पत्ति होती है।
- बनास जनपद में बाढ़ के पानी से धान्य की निष्पत्ति होती है।
- डिंभरेलक नगर में महिरावण नदी के पूर से धान्य की निष्पत्ति होती है।
- कानन द्वीप में नौका द्वारा आनीत धान्य से जीवन-यापन किया जाता है।
- मथुरा में धान्य के व्यापार से जीवन-यापन किया जाता है।
- दुर्भिक्ष में मांसाहार जीवन-यापन का साधन बनता है।
- कोंकण देश के मनुष्य पुष्प और फलभोजी होते हैं।[5]

जिनकल्प की पांच तुलाएं

जिनकल्प की साधना हर कोई साधक नहीं कर सकता। उसके लिए विशेष अर्हता का अर्जन आवश्यक माना गया है। जिनकल्प साधना की अर्हता प्रमाणित करने वाली पांच तुलाएं–भावनाएं बताई गई हैं–तप, सत्व, श्रुत, एकत्व और

१. बृभा. गा. ११४७,११४८ वृ. पृ. ३५७,३५८।
२. विस्तार हेतु देखें बृभा. गा. ११६३-११७१।
३. बृभा. गा. ११६९।
४. बृभा. गा. ११७०।
५. बृभा. गा. १२३९ वृ. पृ. ३८३,३८४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बल। इन पांचों भावनाओं का समीचीन रूप में प्रतिपादन करने के बाद भाष्यकार ने बताया है कि ये सारी भावनाएं धृति और बल से युक्त होती हैं। ऐसा कोई साध्य नहीं है, जो धृतिमान पुरुष सिद्ध न कर सके।[1]

वैयावृत्त्य/सेवा का महत्त्व

मासकल्प विहार के प्रसंग में बीमार मुनि की वैयावृत्त्य का सांगोपांग विवेचन है। मुनियों के अनेक गच्छ होते थे। अपने या दूसरे गच्छ के किसी साधु की बीमारी के बारे में अवगति पाकर भी जो मुनि बीमार साधु के पास नहीं जाता, दूसरा रास्ता लेकर अन्यत्र चला जाता है, उस मुनि के आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं। बीमारी की सूचना मिलने पर क्या करना चाहिए? इस विषय में भाष्यकार का दिशादर्शन यह है–

जह भमर-महुयरिगणा, निवतंती कुसुमियम्मि चूयवणे।
इय होइ निवइअव्वं, गेलन्ने कइवयजढेणं॥[2]

जिस प्रकार भ्रमर और मधुकरी समूह कुसुमित आम्रखण्ड में मकरंद के लोभ से आते हैं, वैसे ही मुनि भी निर्जरालाभ का आकांक्षी होकर मायारहित होकर ग्लान की परिचर्या के लिए तत्काल उसके पास पहुंचे।

ग्लान की सेवा करने से मुझे महान् निर्जरा का लाभ मिलेगा, ऐसा सोचने वाला श्रद्धावान् होता है। वह ग्लान के विषय में सुनकर सारे कार्य छोड़कर त्वरित गति से उसके पास पहुंचे और वहां नियुक्त उपचारकों से निवेदन करे–'भंते! मुझे निर्देश दें कि मैं क्या करूं? आप मुझे किस कार्य में नियुक्त करना चाहेंगे? मैं इसी प्रयोजन से यहां आया हूं। मैं ग्लान की परिचर्या करूंगा अथवा ग्लान की सेवा में व्यापृत मुनियों की वैयावृत्त्य करूंगा। इस प्रकार करने से तीर्थ की अनुवर्तना और भगवान् की भक्ति होती है।[3]

स्थविरों द्वारा प्रतिबोध

संघ में अनेक मुनि होते हैं। सबकी मनोवृत्ति समान नहीं होती। अप्रशस्त मनोवृत्ति वाला मुनि स्वयं को परिचर्या करने में अक्षम अनुभव करता है। अपनी अक्षमता को प्रकट करते हुए कोई मुनि कहे–'मैं सर्वथा वराक/अशक्त हूं। ऐसी स्थिति में वहां ग्लान-परिचर्या में जाकर क्या करूंगा?' इस प्रकार कथन करने वाले मुनि को प्रायश्चित्त का भागी माना गया है।[4]

उक्त प्रकार की दुर्बल या अप्रशस्त मनोवृत्ति वाले मुनि को स्थविर प्रतिबोध देते हैं। उनके प्रतिबोध की भाषा यह है–आर्य! तुम ऐसा क्यों कहते हो? क्या तुम ग्लान का उद्वर्तन करना, खेलमल्लक को भस्म से भरना, संस्तारक बिछाना, रात्रि में जागरण करना, औषध आदि पीसना, भोजन-पात्रों को धारण करना, ग्लान तथा उसके परिचारकों की उपधि का प्रतिलेखन करना आदि काम भी करने में असमर्थ हो? जिससे अपने आपको अशक्त बता रहे हो।[5]

महर्द्धिक/महत्त्वपूर्ण कौन?

जिनकल्पिक की प्रव्रज्या, शिक्षा, साधना आदि की सहज और प्रासंगिक विशद चर्चा के उपसंहार से भाष्यकार ने शिष्य की एक जिज्ञासा को मुखर होने का मौका दिया है। शिष्य ने पूछा–'गच्छ और जिनकल्पिक मुनि के मध्य कौन महर्द्धिक होता है?' आचार्य ने कहा–निष्पादक और निष्पन्न की अपेक्षा दोनों महर्द्धिक हैं। गच्छ सूत्रार्थ का प्रदाता है। उसी के आधार पर जिनकल्प होता है। गच्छ जिनकल्प का निष्पादक होने के कारण महर्द्धिक है। जिनकल्प ज्ञान, दर्शन और चारित्र में परिनिष्ठित होता है, इसलिए वह महर्द्धिक है।

गच्छ और जिनकल्पिक की सापेक्ष महत्ता को प्रमाणित करने के लिए भाष्यकार ने दो महिलाओं और दो गायों के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। प्रस्तुत विषय के उपसंहार में बताया गया है कि जिनकल्पिक गच्छ में ही तैयार होता है। विशिष्ट साधना के लिए वह आगे जाकर गच्छ निरपेक्ष हो जाता है, गच्छ से मुक्त हो जाता है। किन्तु गच्छ जिनकल्पिक

---

१. बृभा. गा. १३२८-१३५७ वृ. पृ. ४०७-४१२।
२. बृभा. गा. १८७३।
३. बृभा. गा. १८७७,१८७८।
४. बृभा. गा. १८८५।
५. बृभा. गा. १८८६ वृ. पृ. ५५१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधुओं से रिक्त नहीं होता। रत्नाकर—समुद्र से अनेक प्रकार के रत्न निकालने पर भी उसको रत्नरहित नहीं किया जा सकता क्योंकि वह रत्नों का उत्पादक है। इसी प्रकार गच्छ रूपी रत्नाकर भी रत्न सदृश जिनकल्पिकों के विनिर्गत होने पर रत्नरहित नहीं हो जाता, क्योंकि वह बाद में भी दूसरे मुनियों को रत्नभूत बनाता रहता है।[1]

विहार क्षेत्र की सीमा

बृहत्कल्प के प्रथम उद्देशक का अंतिम सूत्र आर्य और अनार्य क्षेत्रों की सीमा का निर्धारण करने वाला है। मूलसूत्र में पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण—चारों दिशाओं में समनुज्ञात क्षेत्रों का उल्लेख है। पूर्व दिशा में अंग एवं मगध, दक्षिण दिशा में कौशाम्बी, पश्चिम दिशा में स्थूणा जनपद और उत्तर दिशा में कुणाला जनपद तक की सीमा निश्चित करके सूत्र में निर्दिष्ट किया गया है कि आर्यक्षेत्र इतना ही है, इसलिए इस सीमा से बाहर साधु-साध्वियों के लिए विहार करना विहित नहीं है। सूत्रकार का यह वचन भी सापेक्ष है, क्योंकि सूत्र का अन्तिम अंश बताता है कि इससे आगे भी विहार किया जा सकता है, पर आधार एक ही है—ज्ञान, दर्शन और चारित्र का विकास। यदि विकास की संभावना हो तो निर्धारित सीमा से आगे भी यात्रा की जा सकती है।[2]

उक्त सूत्र के महत्त्व को अभिव्यक्ति देते हुए भाष्यकार ने लिखा है—जो आचार्य प्रस्तुत प्रथम उद्देशक का अंतिम सूत्र नहीं जानता अथवा सारा कल्प अध्ययन नहीं जानता, उसके लिए भाष्यकार ने निम्ननिर्दिष्ट उदाहरण प्रस्तुत किया है—चतुःशाला वाले घर के मध्यभाग में अथवा उसके प्रवेश और निर्गमन के स्थान पर दीपक जलाकर रख दिया जाता है तो वह दीपक सम्पूर्ण चतुःशाला को प्रकाशित कर देता है।[3]

उपाश्रय, शय्यातरपिण्ड और वस्त्र-रजोहरण

बृहत्कल्पसूत्र के द्वितीय उद्देशक में साधु-साध्वियों के प्रवास की दृष्टि से उपयुक्त और अनुपयुक्त उपाश्रय का विवेचन किया गया है। प्रथम बारह सूत्रों में उपाश्रय का वर्णन है। भाष्यकार ने ३२९० से ३५१७ तक की गाथाओं में उपाश्रयपद की व्याख्या की है। प्रस्तुत उद्देशक में दूसरा प्रसंग सागारिक—शय्यातर का है। शय्यातर कौन होता है? कब होता है? उसका पिण्ड कितने प्रकार का है? वह अशय्यातर कब होता है? आदि अनेक प्रश्न उपस्थित कर भाष्यकार ने पूरे विस्तार के साथ इस प्रकरण को प्रस्तुत किया है। लगभग एक सौ गाथाओं में यह प्रकरण गुंफित है। इसी प्रकार निर्हृत शय्यातरपिण्ड, आहृत शय्यातरपिण्ड, अंशिकापिण्ड और पूज्यभक्त के बारे में विवेचन है। साधु के लिए कल्पनीय वस्त्रों और रजोहरणों की संक्षिप्त चर्चा के साथ दूसरा उद्देशक समाप्त होता है।

उपाश्रय, वस्त्र आदि का विधान

तृतीय उद्देशक का प्रारंभ उपाश्रय के संबंध में विशेष निर्देश के साथ हुआ है। बिना कारण साधुओं को साध्वियों के उपाश्रय में तथा साध्वियों को साधुओं के उपाश्रय में जाने का निषेध किया है। अकारण उपाश्रय में जाने से संभावित दोषों की सूचना दी गई है। प्रस्तुत प्रसंग के बाद साधु-साध्वियों को वस्त्र कैसा लेना? कब लेना? किस क्रम से लेना आदि व्यवस्थाओं के बारे में विवरण दिया गया है। साधु-साध्वियों में परस्पर कतिकर्म—अभ्युत्थान और वन्दना की विधि इसी उद्देशक में वर्णित है। इसी प्रकार गृहान्तर में बैठना, शय्या-संस्तारक पुनः गृहस्थ को सौंपना आदि अनेक विषयों को विविध दृष्टियों से विश्लेषित किया गया है। सूत्रकार की संक्षिप्त सूचनाओं को भाष्यकार ने जिस रूप में प्रस्तुति दी है, उससे उस युग के साधु-साध्वियों की चर्या तथा सामान्य परम्पराओं का भी पूरा बोध हो सकता है।

अनार्यदेश बने विहारक्षेत्र

भाष्य में वर्णित राजाओं के कथानक भारतीय इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण जानकारी देने वाले हैं। उदाहरण के रूप में सम्राट् सम्प्रति का प्रसंग यहां प्रस्तुत है—भाष्य के अनुसार राजा सम्प्रति सुविहित मुनियों का श्रावक हो गया। राजा ने एक बार सभी प्रात्यन्तिक—अनार्य देश के राजाओं को बुलाया और उनको विस्तार से धर्म-विषयक बात बताई।

---

१. बृभा. गा. २१२२-२१२४ विस्तार हेतु देखें वृ. पृ. ६०७-६०९।
२. बृसू. १।४७।
३. बृभा. गा. ३२४४,३२४५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उनको सम्यक्त्व प्राप्त कराई तथा उन्हें निर्देश दिया कि वे अपने देश में जाकर श्रमणों के प्रति भद्रक बने रहें, उनके प्रति भक्ति भाव रखें।[1]

महाराज सम्प्रति ने उन राजाओं से कहा—'यदि तुम मुझे स्वामी मानते हो तो सुविहित श्रमणों को प्रणाम करो। मुझे द्रव्य नहीं चाहिए। मुझे केवल श्रमणों को प्रणमन करना प्रिय है। वह प्रियता आप करें।' इस प्रकार निर्देश देकर सम्प्रति राजा ने एकत्रित सभी राजाओं को विसर्जित कर दिया। वे राजा अपने राज्य में गए। उन्होंने अमारी की घोषणा करवाई। उसके बाद वे क्षेत्र साधुओं के लिए सुविहार क्षेत्र हो गए।[2]

साधुओं ने राजा से कहा कि अनार्य देशों के लोग साधुओं के आचार-विचार, कल्प्याकल्प को नहीं जानते। इस स्थिति में वहां विहार कैसे हो सकता है? इस समस्या का समाधान करने के लिए राजा सम्प्रति ने अपने सैनिकों को साधु-सामाचारी का प्रशिक्षण देकर अनार्य देशों में भेजा। श्रमण वेशधारी सैनिक अनार्य देशों में गए। उन्होंने वहां एषणा के दोषों से शुद्ध आहार लिया। इससे वे क्षेत्र सम्यक्भावित हो गए। उन देशों में मुनि सुखपूर्वक विहार करने लगे। उस समय से वे अनार्य देश भी भद्रक हो गए।[3]

महाराज सम्प्रति का सैन्यबल अपूर्व था। उसकी सेना प्रबल योद्धाओं से आकीर्ण तथा सर्वत्र अप्रतिहत थी। उस सेना ने समस्त विपक्षी सेनाओं को जीत लिया। ऐसे सैन्यबल से अन्वित महाराज सम्प्रति ने साधुओं को कष्ट देने वाले आन्ध्र, द्रविड़ आदि देशों को चारों ओर से सुखविहार के लिए उपयुक्त बना दिया।[4]

वाचना के लिए अपात्र

बृहत्कल्पसूत्र में तीन व्यक्तियों को वाचना के लिए अयोग्य माना गया है—अविनीत, विगयप्रतिबद्ध और कलह को उपशांत नहीं करने वाला।[5] इन्हें वाचना क्यों नहीं देनी चाहिए? इसे स्पष्ट करते हुए भाष्यकार ने लिखा है कि अविनीत व्यक्ति बिना ज्ञान दिए भी स्तब्ध होता है। यदि उसे श्रुत दे दिया जाए तो फिर कहना ही क्या? जो स्वयं नष्ट हो चुका है, वह दूसरों को नष्ट न करे, क्षत पर कोई नमक न छिड़के, इसलिए अविनीत को वाचना नहीं देनी चाहिए।[6]

गोयूथ स्वयं प्रस्थित है। अग्रगामी गोपाल जब उसको पताका दिखाता है तो उसका वेग बढ़ जाता है, यह श्रुति है। इसी प्रकार दुर्विनीत को ज्ञान देने से उसका अविनय बढ़ता ही है। रोग के तीव्रतर वेग में औषध शमनकारी नहीं होती और न वह निदान के अनुरूप ही होती है।[7]

इसी प्रकार रसलोलुप और कलह को शांत नहीं करने वाला व्यक्ति भी वाचना के लिए अयोग्य है।

अपात्रों/अयोग्यों को वाचना दी जाती है तो दूसरे शिष्य भी सोचते हैं, अहो! अब हम भी ऐसे ही बनें। इस प्रकार दुर्विनय से प्रवर्तमान उनके द्वारा इहलोक और परलोक दोनों ही परित्यक्त होते हैं। इससे अनवस्था होती है। फिर कोई भी विनय आदि नहीं करता।[8]

आतापना की साधना

जैन मुनि के लिए आतापना एक प्रकार का तप है। प्राचीनकाल में अनेक मुनि सूरज की किरणों से तपी हुई शिला या धूली पर लेटकर आतापना लेते थे। इसी प्रकार दोनों हाथ ऊपर उठाकर सूरज के सामने खड़े रहकर आतापना लेने की भी परम्परा रही है। तेजोलब्धि की उपलब्धि के लिए निरूपित साधना की प्रक्रिया का एक महत्त्वपूर्ण अंग आतापना ही है। मंखलिपुत्र गोशालक द्वारा तेजोलेश्या की प्राप्ति कैसे होती है? इस प्रकार की जिज्ञासा सुनकर महावीर ने उसकी पूरी विधि बताई। तीर्थ की स्थापना के बाद गणधर गौतम को इस विषय की जानकारी दी गई, वह पूरा प्रसंग भगवती सूत्र में विस्तार से मिलता है। भगवान् महावीर ने तेजोलब्धि प्राप्त करने की प्रक्रिया बताते हुए कहा—जो एक मुट्ठीभर

---

१. बृभा. गा. ३२८३,३२८४।
२. बृभा. गा. ३२८६,३२८७।
३. बृभा. गा. ३२८८।
४. बृभा. गा. ३२८९।
५. बृसू. ४।६।
६. बृभा. गा. ५२०१।
७. बृभा. गा. ५२०२।
८. बृभा. गा. ५२०९।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुल्मासपिण्डिका खाता है, एक चुल्लू पानी पीता है, निरन्तर बेले-बेले की तपस्या करता है, आतापन-भूमि में सूर्य के सामने दोनों भुजाएं ऊपर उठाकर आतापना लेता है, वह छह मास के अंतराल में संक्षिप्त विपुल तेजोलेश्या वाला हो जाता है।[1]

कल्पसूत्र के पांचवें उद्देशक में आतापना के तीन प्रकार बतलाए गए हैं—उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य। निपन्न—लेटकर आतापना लेना उत्कृष्ट आतापना है। निषण्ण—बैठकर आतापना लेना मध्यम आतापना है। स्थित—खड़े रहकर आतापना लेना जघन्य आतापना है।[2]

आतापना का प्रयोग वैदिक परम्परा में भी सम्मत रहा है। पंचाग्नि तप में एक अग्नि सूर्य की किरणों को माना गया है। इनका वैज्ञानिक महत्त्व भी है। वैज्ञानिक दृष्टि से की गई शोध का निष्कर्ष है कि सूर्य की किरणें मानव के शरीर और मस्तिष्क को स्वस्थ और पुष्ट रखती हैं। ये रोग-निवारक और कीटाणु-नाशक भी हैं। डॉ. चाल्स एफा हेलैन तथा लन्दन के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक डॉ. डब्ल्यू. एम. फ्रेजर का मत है कि संसार में जितनी शक्तियां विकसित हैं, वे सब सूर्य के कारण हैं।

विगत कुछ दशकों में सूर्यकिरण चिकित्सा से भी आश्चर्यकारी परिणाम सामने आए हैं। डॉ. हेगेन का अभिमत है कि रक्त का पीलापन, पतलापन, लोह तत्त्व की कमी, कमजोरी, पेशियों की शिथिलता, थकान आदि रोगों में सूर्य की सहायता से उपचार करना सरल है। सूर्य की रश्मियों से शरीर की प्रतिरोधात्मक शक्ति बढ़ती है। इस विषय में काफी अनुसंधान हुआ है और हो रहा है। वैज्ञानिक अनुसंधाता जैन आगम साहित्य में उपलब्ध तथ्यों को भी शोध का विषय बनाएं, यह अपेक्षित है।

सूत्र और भाष्य का उपसंहार

बृहत्कल्पसूत्र के अंतिम सूत्र में छह प्रकार की कल्पस्थिति बताई गई है—सामायिकसंयत कल्पस्थिति, छेदोपस्थापनीयसंयत कल्पस्थिति, निर्विशमान कल्पस्थिति, निर्विष्टकाय कल्पस्थिति, जिनकल्प कल्पस्थिति और स्थविर कल्पस्थिति।[3]

कल्पस्थान दस हैं—आचेलक्य, औद्देशिक, शय्यातरपिंड, राजपिंड, कृतिकर्म, व्रत, ज्येष्ठ, प्रतिक्रमण, मासकल्प और पर्युषणाकल्प।[4]

प्रथम और अंतिम तीर्थंकर के शासन में छेदोपस्थापनीय चारित्र वाले साधुओं की दस प्रकार की कल्पस्थिति स्थितकल्प के रूप में मान्य की गई है। यह धुतरजाकल्प दस स्थान में प्रतिष्ठित होता है।[5]

प्रथम प्रलम्बसूत्र और अंतिम षड्विधकल्पस्थितिसूत्र तक सूत्रकार तथा भाष्यकार द्वारा साधु के आचार-विचार संबंधी अनेक तथ्य प्रस्तुत किए गए हैं। उनके संदर्भ में उत्सर्ग मार्ग और अपवाद मार्ग से भी विचार किया गया है। भाष्यकार के अनुसार उत्सर्ग में आपवादिक क्रिया तथा अपवाद में उत्सर्ग क्रिया करने वाला अर्हत् शासन की आशातना करता है और वह दीर्घसंसारी होता है।[6]

भाष्य के समापन में भाष्यकार ने मोक्षार्ह मुनि की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए लिखा है—अरहस्य-धारक—अतीव रहस्यमय शास्त्रों को धारण करने वाला, सूत्रों का पारगामी, अशठकरण—मायापद से विप्रमुक्त, तुलासदृश, समित—पांच समितियों से समायुक्त, कल्प की अनुपालना करने वाला, दीपन—स्वसमय की दीपना करने वाला, आलस्य छोड़कर भगवद्वाणी को जन-जन तक पहुंचाने वाला होता है। वही ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना करने वाला तथा संसार-भ्रमण को छिन्न करने वाला होता है। वह मोक्ष को प्राप्त होता है।[7]

---

१. भगवई श. १५।७०।
२. बृभा. गा. ५९४५, विस्तार हेतु देखें गा. ५९४६-५९४९।
३. बृभा. गा. ६३५७।
४. बृभा. गा. ६३६३।
५. बृभा. गा. ६३६४।
६. बृभा. गा. ६४८७।
७. बृभा. गा. ६४९०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उल्लेखनीय ग्रंथ रत्न

छह हजार चार सौ नब्बे (६४९०) गाथाओं में ग्रथित बृहत्कल्पभाष्य भाष्य-परम्परा में एक उल्लेखनीय ग्रंथ है। बृहत्कल्पसूत्र पर भाष्य से पहले निर्युक्ति लिखी गई थी। वर्तमान में निर्युक्ति और भाष्य दोनों मिलकर एक ग्रंथ हो गए। टीकाकार आचार्य मलयगिरि ने इस बात का उल्लेख करते हुए लिखा है—'सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिर्भाष्यं चैको ग्रन्थो जातः।'[1] इस उल्लेख से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि टीकाकार मलयगिरि के समय तक छेद सूत्रों की निर्युक्तियों का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रहा।

बृहत्कल्प भाष्य पीठिका सहित छह खण्डों में प्रकाशित है। प्राचीन भारतीय संस्कृति, सभ्यता, इतिहास, परम्परा आदि की दृष्टि से प्रस्तुत ग्रंथ का अपना महत्त्व है। साध्वाचार के विधि-निषेधों के निरूपण-क्रम में ग्रंथकार ने प्रासंगिक रूप में तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक, भौगोलिक, चिकित्साशास्त्रीय, आर्थिक, व्यावहारिक आदि विभिन्न परिस्थितियों का भी समीचीन अंकन किया है। भाष्यकार जैन मुनि थे। मुनिचर्या का पालन करते हुए उन्होंने अनेक जनपदों में परिव्रजन किया था और लोकजीवन का अध्ययन भी किया था, ऐसा प्रतीत होता है। उनके विशालकाय भाष्य को पढ़ने वाले सहज ही इस सचाई से परिचित हो सकते हैं।

जैन शासन की सेवा

ग्रंथ-रचना अपने आप में एक साधना है। जिस युग में मुद्रण व्यवस्था का विकास न हो, स्वाध्याय के लिए ग्रंथ सुलभ न हो और लेखन सामग्री का भी पर्याप्त विकास नहीं हुआ हो, उस युग में ऐसे विशालकाय ग्रंथ की रचना तो किसी भी प्रकार की विशिष्ट तपस्या से कम नहीं है। ऐसी तपस्या वे ही कर सकते हैं, जिनके ज्ञानावरणीय कर्म का विशेष क्षयोपशम हो, मानसिक एकाग्रता सधी हुई हो, धृतिबल एवं मनोबल मजबूत हो। ग्रंथ की रचना में कितना समय लगा, इसका कोई उल्लेख नहीं है। प्रस्तुत ग्रंथ को आदि से अन्त तक पढ़ने में भी कई वर्ष बीत जाते हैं। इस आधार पर कल्पना की जा सकती है कि ग्रंथकार ने कितने वर्षों के समय और श्रम का इसमें नियोजन किया होगा। इस बात को गौरव के साथ स्वीकार किया जा सकता है कि उन मनीषी आचार्यों ने ऐसे ग्रंथ रत्नों का सृजन कर जैन शासन की महान् सेवा की है।

अनुवाद : एक श्रमसाध्य कार्य

भाष्य की भाषा प्राकृत है। क्योंकि उस युग में प्राकृत भाषा जनभाषा थी। किन्तु इन शताब्दियों में प्राकृत भाषा के पाठक और अध्यापक खोजने पर भी कम मिलते हैं। आम आदमी के लिए तो प्राकृत भाषा विदेशी भाषा की भांति अपरिचित है। ऐसी स्थिति में उस भाषा में निबद्ध गंभीर ग्रंथों के स्वाध्याय का स्वप्न देखना भी कठिन है। स्वाध्याय के अभाव में ज्ञान की परम्परा विच्छिन्न होने की संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यह एक ऐसी समस्या है, जिसका सामना प्राचीन भाषा में रचित सभी धर्म ग्रंथों को करना पड़ रहा है। इस समस्या का एकमात्र समाधान है—युगीन भाषा (हिन्दी, अंग्रेजी आदि) में उनका अनुवाद।

किसी भी ग्रंथ का अनुवाद मूल ग्रंथ की रचना से अधिक श्रमसाध्य है। स्वतंत्र लेखन में लेखक की ऐसी कोई प्रतिबद्धता नहीं होती, जिससे उसको दूसरों का अनुगमन करना पड़े। तीव्र अनुभूति और अन्तस् को उघाड़ने की अकुलाहट का योग होने पर सृजन-चेतना जीवंत हो जाती है। उन क्षणों में लेखक/कवि अपनी कलम की नोक कागज पर टिकाता है तो वह अनिरुद्ध गति से चलती रहती है। किन्तु भाषान्तर करते समय ग्रंथ की भाषा में ही नहीं, ग्रंथकार के भावों में भी अवगाहन करना जरूरी हो जाता है। बृहत्कल्पभाष्य जैसे बृहत्तम ग्रंथ का अनुवाद कार्य तो समय-साध्य और श्रमसाध्य ही नहीं, विशिष्ट मेधा-साध्य भी है, क्योंकि इसकी रचनाशैली संक्षिप्त होने के साथ विशिष्ट परम्पराओं, परिभाषाओं और सांकेतिक उदाहरणों से अनुस्यूत है।

---

१. बृभा. वृ. पृ. २।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुवादक के प्रति

तेरापंथ धर्मसंघ में आचार्य तुलसी ने आगम-सम्पादन का स्वप्न देखा। आगम-सम्पादन का गुरुतर कार्य प्रारंभ हुआ। इसके वाचनाप्रमुख स्वयं आचार्य तुलसी रहे। सम्पादक और विवेचक की भूमिका में आचार्य महाप्रज्ञ का कर्तृत्व मुखर हुआ। बत्तीस आगमों के साथ उनके व्याख्या-साहित्य के सम्पादन और अनुवाद का काम भी करणीय था। आगम मनीषी मुनिश्री दुलहराजजी प्रारंभ से ही आगमों के सम्पादन, हिन्दी अनुवाद, टिप्पण-लेखन आदि कार्यों में संलग्न रहे हैं। गहरी संकल्पनिष्ठा, श्रमनिष्ठा और गंभीर अध्यवसायशीलता से उन्होंने आगम-सम्पादन के क्षेत्र में नए-नए क्षितिज उद्घाटित करने में सफलता प्राप्त की। सफलता की उसी शृंखला की एक कड़ी है—बृहत्कल्पभाष्य का हिन्दी अनुवाद।

५ फरवरी २००४, चौपड़ा गांव (महाराष्ट्र) में आचार्य महाप्रज्ञ के वरद करकमलों से जिस कार्य की सिद्धश्री लिखी गई, ८ दिसम्बर २००६, उदासर (राजस्थान) में उस पर पूर्णविराम लगा दिया गया। २ वर्ष, दस महीने और आठ दिन की छोटी-सी अवधि और समुद्र-मंथन जैसा गुरुतर कार्य। **क्रियासिद्धि सत्त्वे भवति महता नोपकरणे**—इस नीतिवाक्य के अनुसार अनुवादक ने समय के उपकरण को धता बताते हुए सफलता के शिखर पर आरोहण कर लिया। मुनिश्री दुलहराजजी ने ऐसा दुष्कर कार्य करके जैन वाङ्मय की अपूर्व सेवा तो की ही है, आगम-रसिक पाठकों पर भी बहुत बड़ा उपकार किया है। उनकी यह सारस्वत-साधना आगम-साहित्य की अखूट सम्पदा को जन-जन के लिए उपयोगी बनाती रहे, यही अभीप्सा है।

धनतेरस, वि. सं. २०६४
उदयपुर (राज.)

महाश्रमणी साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संपादकीय

जैन परंपरा में मुख्यरूप से चार भाष्य प्रचलित हैं–दशाश्रुतस्कंध, बृहत्कल्प, व्यवहार और निशीथ। इनका निर्यूहण पूर्वों से हुआ, इसलिए इनका बहुत महत्त्व है। इनके निर्यूहणकर्त्ता भद्रबाहु 'प्रथम' माने जाते हैं। निशीथ के निर्यूहण के विषय में मतैक्य नहीं है।

कुछ वर्ष पूर्व व्यवहार भाष्य का संपादित पाठ के साथ, बीस-पचीस परिशिष्टों से युक्त, पदानुक्रम तथा भूमिका से संयुक्त संस्करण प्रस्तुत किया था। तत्पश्चात् जलगांव मर्यादा-महोत्सव पर व्यवहारभाष्य का सानुवाद संस्करण जनता के समक्ष आया।

आचार्यप्रवर ने राजस्थान से अहिंसा-यात्रा के लिए प्रस्थान किया। उस यात्रा के दौरान गुजरात, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश की यात्रा कर रहे थे। आचार्यप्रवर उस यात्रा के मध्य महाराष्ट्र के **चौपड़ा** गांव में पधारे। वहां विवेकानन्द हाई स्कूल में विराजना हुआ। मध्याह्न में आचार्यश्री ने अपने हाथों से बृहत्कल्पभाष्य का अनुवाद प्रारंभ करते हुए प्रथम श्लोक का अनुवाद अपनी हस्तलिपि से लिखा और फिर मुझे निर्दिष्ट करते हुए फरमाया–अब तुम इस अनुवाद को आगे बढ़ाओ और पूरा करो। मैंने उसी दिन से यात्रा में भी इस कार्य को आगे बढ़ाया। वह दिन था ५ फरवरी २००४। यात्रा चलती रही। यात्रा में हम बीकानेर संभाग में आए। वहां उदासर में मैंने इस बृहद्काय ग्रंथ का अनुवाद संपन्न कर दिया। इस ग्रंथ में ६४९० गाथाएं हैं।

इसके भाष्य के प्रणयिता संघदासगणी माने जाते हैं।

टीकाकार

इसकी टीका के दो रचयिता हैं–महान् टीकाकार आचार्य मलयगिरि और आचार्य क्षेमकीर्त्ति सूरी। आचार्य मलयगिरि ने प्रारंभिक ६०६ गाथाओं की टीका लिखी। फिर उससे विरत हो गए। आचार्य क्षेमकीर्त्ति ने उसे आगे बढ़ाया और पूरे भाष्य की टीका संपन्न की। टीका प्रशस्त और विस्तृत है। आचार्य मलयगिरि ने इसे बीच में क्यों छोड़ा, यह अन्वेषणीय है। आचार्य क्षेमकीर्ति ने लिखा–

'श्रीमलयगिरिप्रभवो, यां कर्त्तुमुपाक्रामन्त मतिमंतः।
सा कल्पशास्त्रटीका मयाऽनुसंधीयतेऽल्पधिया॥'

बृहत्कल्प पर लघुभाष्य और चूर्णि भी है।

निशीथभाष्य और प्रस्तुत भाष्य की अनेक-अनेक गाथाएं समान हैं।

टीकासंयुक्त भाष्य का प्रकाशन

मुनि पुण्यविजयजी ने टीकायुक्त पूरे ग्रंथ को छह भागों में प्रकाशित किया है। उस संस्करण में पाठान्तरों का उल्लेख भी है। ८० पृष्ठों में पदानुक्रम दिया हुआ है, परन्तु वह इतना शुद्ध नहीं है। यत्र-तत्र त्रुटियां दृग्गोचर होती हैं। हमने पदानुक्रम को नए सिरे से तैयार किया है।

इस ग्रंथ के अनुवाद कार्य में मुझे दो वर्ष और दस माह लगे। इस अवधि में यात्रा निरंतर चलती रही। प्रतिदिन विहार और नए-नए गांवों में निवास। पूरे यात्राकाल में अनुकूल स्थान मिलते या नहीं भी मिलते, परन्तु कार्य निरंतर चलता रहता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हमने संपूर्ण टेक्स्ट पुण्यविजयजी द्वारा संपादित ग्रंथ के अनुसार लिया है। कहीं-कहीं मूल पाठ और टीका में संवादिता नहीं है, फिर भी हमने मूल पाठ के साथ छेड़छाड़ नहीं की है। हमने पूर्वानुपर का अनुसंधान कर अनुवाद को आगे बढ़ाया है।

छेदसूत्र का महत्त्व क्यों?

शिष्य ने प्रश्न किया कि मूल आगमों के होते हुए छेदसूत्रों का क्या महत्त्व है? आचार्य कहते हैं—अंग, उपांग आदि मूलसूत्र हैं। वे मार्गदर्शक और प्रेरक हैं। परन्तु यदि साधु संयम में स्खलना करता है और वह अपनी स्खलना की शुद्धि करना चाहता है तो वे मूल आगम उसको दिशा-निर्देश नहीं दे सकते। दिशा-निर्देश और स्खलना की विशुद्धि छेदसूत्रों द्वारा ही हो सकती है। वे प्रायश्चित्तसूत्र हैं और प्रत्येक स्खलना की विशोधि के लिए साधक को प्रायश्चित्त देकर स्खलना का परिमार्जन और विशोधि कर साधक को शुद्ध कर देते हैं, इसीलिए उनका महत्त्व है।

व्यवहारभाष्य का कथन है कि छेदसूत्रों के पाठ का ज्ञाता भी बहुत बलशाली और महत्त्वपूर्ण होता है और अर्थ का विज्ञाता शेष आगमों के विज्ञाता से भी श्रेष्ठ होता है, कारण है कि वही प्रायश्चित्त देने का अधिकारी होता है। उसके अभाव में साधक भटक जाता है और संघ से विमुख होकर संयमच्युत हो जाता है। इससे तीर्थविच्छेद की स्थिति आ जाती है। भाष्यों की वाचना के विषय में कहा जाता है कि हर किसी को, हर किसी वेला में इनकी वाचना नहीं देनी चाहिए। ये रहस्य सूत्र हैं। सामान्य आगमों से इनकी विषयवस्तु भिन्न है। इनमें उत्सर्ग और अपवाद-विषयक अनेक स्थल हैं। हर कोई उन स्थलों को पढ़कर या सुनकर पचा नहीं सकता और तब वह निर्ग्रन्थ प्रवचन से विमुख होकर स्वयं भ्रांत होकर, अनेक व्यक्तियों को भ्रांत कर देता है, इसीलिए इनकी वाचना के विषय में पात्र-अपात्र का निर्णय करना बहुत आवश्यक हो जाता है। गृहस्थों को तो इनकी वाचना देनी ही नहीं है, साधुओं में सभी साधु इनकी वाचना देने योग्य नहीं होते।

छेदसूत्रों की वाचना के योग्य शिष्य

निर्ग्रन्थ प्रवचन में शिष्य तीन प्रकार के माने गए हैं—परिणामक, अपरिणामक और अतिपरिणामक। जो परिणामक शिष्य हैं वे ही इनकी वाचना के योग्य होते हैं। शेष दो प्रकार के शिष्य अयोग्य माने जाते हैं, क्योंकि इन सूत्रों के रहस्यों को पचा पाना बहुत कठिन होता है। उसके लिए धैर्य, विचारों की गंभीरता और शालीनता चाहिए। हर एक शिष्य अपवादों को देखकर विचलित हो जाता है। उसमें निर्ग्रन्थ प्रवचन के प्रति अन्यमनस्कता आ जाती है, मन संशयों से भर जाता है।

जो मुनि द्रव्यकृत, क्षेत्रकृत, कालकृत और भावकृत को जिनेश्वर ने जैसे कहा है, उस पर वैसी श्रद्धा रखता है, वह परिणामक है और जो उन पर वैसी श्रद्धा नहीं रखता वह अपरिणामक है। जो वस्तु जिस रूप में जिस काल में ग्राह्य-रूप में कथित है, उसे आपवादिक रूप में ग्रहण करने की मति वाला शिष्य अतिपरिणामक होता है। इस विषय को भाष्यकार ने एक उदाहरण के द्वारा स्पष्ट किया है।

एक आचार्य ने अपने तीन शिष्यों को बुलाया। उनमें एक था परिणामक, एक अपरिणामक और एक अतिपरिणामक। आचार्य उनकी परीक्षा करना चाहते थे। आचार्य ने कहा—'आर्यो! हमें आम चाहिए।' यह सुनकर परिणामक शिष्य बोला—'आम चेतन या अचेतन, भावित या अभावित, छोटे या बड़े, छिन्न या अछिन्न, कौन से आम लाऊं?'

अपरिणामक शिष्य बोला—'आचार्यप्रवर! क्या आपके पित्त का प्रकोप हो गया है? आप आम लाने की बात कैसे कह रहे हैं? दूसरी बार ऐसा मत कहना। हम ऐसे सावद्य वचन सुनना नहीं चाहते।'

अतिपरिणामक शिष्य बोला—'आप आम खाना चाहते हैं। आम का काल बीत चुका है। फिर भी मैं प्रयत्न कर आम ला दूंगा। क्या आपके लिए दूसरे फल भी ले आऊं?'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य तब कहते हैं–'आर्यो! तुमने मेरे अभिप्राय को नहीं समझा। क्या मैं सचित्त आम मंगा सकता हूं? मैं कह रहा था कि शुक्लाम्ल लवण से भावित आम, छिन्न किया हुआ तथा भोजन के द्वितीय अंग के रूप में अर्थात् शाकरूप में पकाया हुआ आम लाना है।'

इन तीनों में परिणामक शिष्य की मति आगमों से अनुमोदित और निर्ग्रन्थ प्रवचन के अनुकूल थी। ऐसे शिष्य को कल्प और व्यवहार का सूत्रार्थ सापवादरूप में जैसे गुरुमुख से सुना है, धारण किया है, उसी रूप में उसको दे और यदि सूत्र और अर्थ की व्यवच्छित्ति का प्रसंग आए वहां अन्यान्य शिष्यों को भी वह दिया जा सकता है।

गच्छ के निस्तारण का क्रम

भाष्य में स्थान-स्थान पर गण की अव्यवच्छित्ति के लिए अनेक प्रकार के उदाहरण दिए गए हैं। एक गच्छ में आचार्य, अभिषेक, भिक्षु, क्षुल्लक और स्थविर मुनि हैं। बाढ़, अग्निदाह, चौरों का उपद्रव, अवम–दुर्भिक्ष, महान् अरण्य में भटक जाना, बुभुक्षा, ग्लानत्व आदि गाढ़ कारण में फंस जाने पर तीर्थ के अव्यवच्छेद के लिए, जो विशिष्ट मुनि होता है, वह किस विधि से उनका निस्तारण करे, इसको भाष्यकार ने विस्तार से समझाया है।

आचार्य गच्छ के साथ एक नगर में स्थित थे। अकस्मात् एक दिन वहां बाढ़ का प्रकोप हुआ। सारा नगर हाहाकार से व्याप्त हो गया। गच्छ बाढ़ में बहने लगा। अब प्रश्न हुआ कि गच्छ में पांच घटकों में से किस-किसको बचाया जाए? इसके समाधान में कहा गया कि यदि साधु समर्थ हो तो पांचों घटकों का निस्तारण करे और यदि इतना समर्थ न हो तो क्या किया जाए? भाष्यकार के सामने यह प्रश्न आया तो उन्होंने इसके समाधान में अनेक गाथाओं की रचना की। उन्होंने लिखा–

'सव्वे वि तारणिज्जा, संदेहाओ परक्कमे संते।
एक्केक्कं अवणिज्जा, जाव गुरू तत्थिमो भेओ॥'

यदि साधु में पराक्रम हो तो वह सभी को बचाए। यदि पराक्रम की न्यूनता हो तो स्थविर को छोड़कर शेष चार को बचाए। यदि उतना भी पराक्रम न हो तो क्षुल्लक को भी छोड़ दे, उतना भी सामर्थ्य न हो तो केवल दो को–आचार्य और अभिषेक को बचाए, उतना भी सामर्थ्य न हो तो केवल आचार्य को बचाए। क्योंकि आचार्य के रहने पर ही गच्छ की अव्यवच्छित्ति रह सकती है।

इसी प्रकार आर्यायों के विषय में जानना चाहिए। इनके पांच भेद इस प्रकार हैं–प्रवर्तनी, अभिषेका, स्थविरा, भिक्षुणी, क्षुल्लिका। बाढ़ में इनका निस्तारण भी पूर्ववत् जानना चाहिए।

प्रश्न होता है कि लोक में भी बाल, वृद्ध और अपंग अनुकंपनीय होते हैं तो फिर उनको बचाने में प्राथमिकता क्यों नहीं? तरुण चिरजीवी होता है, स्थविर अल्पायुष्क वाला होता है अतः तरुण को बचाने से प्रवचन की वृद्धि होती है। तरुण गण का वृद्धिकर होता है, शिष्यों को सूत्रार्थ देने में समर्थ होता है, गण के लिए पात्र, वस्त्र आदि का उत्पादक होता है।

जिज्ञासु ने पूछा–क्या इसमें व्युत्क्रम भी होता है? हां, व्युत्क्रम भी होता है। जिसमें लाभ अधिक और व्यय कम होता है, उसको वणिग्भूत होकर हम व्युत्क्रम करते हैं। हम सोचते हैं–किसको ग्रहण करने से प्रभूत लाभ और अल्प व्यय होता है, उसको हम प्राथमिकता देते हैं। जिस पात्र को बचाने से प्रवचन की प्रभावना और तीर्थ की अव्यवच्छित्ति हो सकती है, उसको प्रथमरूप से तारणीय मानते हैं और शेष दो नंबर में आते हैं।

हम आर्याओं को बचाने के लिए प्राथमिकता से कार्य करते हैं, क्योंकि स्त्रियां स्वभावतः भयबहुल होती हैं। वे दूसरों के संकट को देखकर पवन के संपर्क से लता की भांति कांपने लग जाती हैं, इसलिए स्त्रियां प्रथम तारणीय होती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अवग्रह

इस प्रकार हम देखते हैं कि भाष्यकार प्रत्येक वस्तु के सैद्धांतिक रूप को भी मनोवैज्ञानिक रूप में प्रस्तुत करते हैं। इस भाष्य में अनेक स्थानों पर ऐतिहासिक घटनाक्रमों का उल्लेख हुआ है। 'अवग्रह' विषय में भाष्यकार ने भगवान् ऋषभ क समय के भरत का एक प्रसंग उद्धृत किया है। वह इस प्रकार है–

एक बार भगवान् ऋषभ अष्टापद पर्वत पर समवसृत हुए। महाराज भरत ने यह सुना और वे अपने परिवार के साथ दर्शन करने निकल पड़े। उनका पूरा दल-बल साथ था। पूरे ऐश्वर्य से मंडित होकर वे चले। उन्होंने सोचा–भगवान् को वंदना कर, स्तुति कर, साधुओं को भक्तपान के लिए निमंत्रित करूंगा। इसलिए उन्होंने अपने साथ पांच सौ शकट भक्तपान से भर कर ले लिए। वे वहां आए, वंदना-स्तुति कर, भक्तपान ग्रहण करने के लिए निमंत्रित किया। भगवान् ने तब कहा–

'पीलाकरं वताणं, एयं अम्हं न कप्पए घेत्तुं।
अणवज्जं निरुवहयं, भुंजंति य साहुणो भिक्खं॥'

'भरत! आधाकर्म, राजपिंड आदि भक्तपान व्रतों के लिए पीड़ाकर होते हैं, इसलिए वैसा भक्तपान साधुओं के लिए नहीं कल्पता। इसलिए प्रासुक और एषणीय भिक्षा साधु लेते हैं। वही कल्पनीय है।'

भगवान् के ये वचन सुनकर भरत को अत्यंत मानसिक दुःख हुआ और वे खिन्न हो गए। उन्होंने सोचा– **'समणा अणुग्गहं मे, ण कुव्वंति अहो! अहं चत्तो**–ओह! मैं मंदभाग्य हूं। ये श्रमण मेरे पर अनुग्रह नहीं कर रहे हैं। मैं इनके द्वारा परित्यक्त हो गया हूं।'

देवेन्द्र ने उनके इस मानसिक कष्ट को जाना और उन्हें अपने स्वामित्व की सीमा का अवबोध देने के लिए भगवान् ऋषभ से अवग्रह के विषय में पृच्छा की। भगवान् कहते हैं–देवेन्द्र! अवग्रह पांच हैं–देवेन्द्रावग्रह, राजावग्रह, गृहपत्यवग्रह, शय्यातरावग्रह, साधर्मिकावग्रह। अवग्रह का अर्थ है–स्वामित्व। देवेन्द्र जितने क्षेत्र का स्वामी होता है, उतना उसका अवग्रह है। इसी प्रकार चक्रवर्ती आदि महर्द्धिक पृथ्वीपति जितने क्षेत्र के प्रभुत्व का अनुभव करता है, वह उसका अवग्रह है। इसी प्रकार गृहपति अर्थात् सामान्य राजा, शय्यातर तथा सामान्य गृहस्थ–इनके अपने-अपने अवग्रह होते हैं, स्वामित्व की सीमा होती है।

भगवान् से अवग्रह की बात सुनकर देवेन्द्र ने अपने अवग्रह में साधुओं को निमंत्रित कर उनके प्रायोग्य अन्न-पान का वितरण किया। यह सुनकर भरत बहुत प्रसन्न हुए और अपने अवग्रह में साधुओं को निमंत्रित कर उनके प्रायोग्य भक्त-पान दिया। सोचा–आज अनायास यह बड़ा लाभ प्राप्त हुआ है। उन्होंने संपूर्ण भारत में प्रासुक भक्तपान साधुओं को देने की व्यवस्था की।

उत्सारकल्पिक

शिष्य ने जिज्ञासा के स्वरों में पूछा–'भंते! आपने कुछेक कल्पिकों का विस्तार से वर्णन किया। जैसे पिंडकल्पिक, अवग्रहकल्पिक, लेपकल्पिक, विहारकल्पिक आदि। उनमें उत्सारकल्पिक का उल्लेख नहीं है।' आचार्य ने कहा–'उत्सारकल्पिक होता नहीं है।' शिष्य ने पुनः पूछा–'यदि उत्सारकल्पिक नहीं होता है तो फिर इस भाष्य में उसका नामोल्लेख कैसे किया गया है?' आचार्य ने कहा–'यद्यपि उत्सारकल्प व्यवहृत होता है, फिर भी उत्सारकल्प करना नहीं कल्पता। जो उत्सारकल्प करता है और जो उत्सारकल्प करवाता है–दोनों प्रायश्चित्त के भागी होते हैं।'

उत्सारकल्प का अर्थ है–आगमों का इस प्रकार से अध्ययन-अध्यापन कराना कि आगमों के पूरे अंशों का अध्ययन न कर केवल आगमों का चंचुपात करना। इससे पढ़ने वाले को पूरा ज्ञान नहीं होता और वह अधूरे ज्ञान के आधार पर अपने-आपको वाचक, आचार्य या उपाध्याय के रूप में प्रस्तुत करता है। उस अधूरे ज्ञान से पग-पग पर पराभव का सामना करना पड़ता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक बार एक गांव में वाचक पदधारी आचार्य अपने शिष्यों के साथ आए। उन्होंने वहां अन्यान्य मत के वादियों को वाद में पराजित कर निर्ग्रन्थ प्रवचन का झंडा फहराया। पराजित वादियों के मन में ईर्ष्या की आग भभक उठी। वे पराजय का बदला लेने के लिए उतावले हो गए। उन्होंने जैनों से कहा—हम एक बार वाद करना चाहेंगे। कुछ दिनों बाद उत्सारकल्पिक वाचक वहां आए। वाद का आयोजन निश्चित किया गया। अन्ययूथिक लोगों ने वाचक के ज्ञान की थाह लेने के लिए एक प्रच्छन्न वेषधारी प्रत्युपेक्षक को भेजा। उसने वाचक से प्रश्न किया—परमाणु पुद्गल में कितनी इन्द्रियां होती हैं? वाचक ने सोचा—वह परमाणु एक समय में लोकान्त तक चला जाता है। निश्चित ही वह पंचेन्द्रिय होना चाहिए। यह उत्तर सुनकर पर्यवेक्षक ने जान लिया कि यह वाचक केवल बाहर से गर्जना करता है, परन्तु है असार। अन्ययूथिक आए और उस वाचक के सामने गहरे प्रश्न रखकर उसे निरुत्तर कर डाला। उसे बहुत शर्मिन्दा होना पड़ा। जिनशासन की भी अवहेलना हुई।

अधूरे ज्ञान का यह प्रभाव है। इसीलिए उत्सारकल्प मान्य नहीं है।

उत्सर्ग-अपवाद

इस प्रकार भाष्य साहित्य अनेक बिन्दुओं को स्पष्ट करता है और उनकी पूरी अवगति देता है। यह प्राचीन परंपराओं का संग्राहक और अवबोधक है। भाष्यों के अध्ययन से ऐसा लगा कि एक भी नियम बिना अपवाद के व्यवहृत नहीं है।

सभी उत्सर्ग अपवाद से संवलित हैं। इन नियमों के अध्ययन से ऐसा लगता है कि इनका निर्माण गण की अव्यवच्छित्ति के लिए हुआ है। जैन आचार्यों का यह मुख्य उद्देश्य रहा है कि कोई भी व्यक्ति निर्ग्रन्थ प्रवचन से विमुख न हो। यदि कोई मुनि स्खलना करता है तो उसको प्रायश्चित्त देकर शुद्ध करे और स्खलना-जनित विषाद का निवारण कर उसे संयम में स्थिर करने का प्रयास करे। वह स्खलना को पलायन का बहाना न बनाए, इसका ध्यान रखे और उसको समझाए कि स्खलना होना बड़ी बात नहीं है, बड़ी बात है, स्खलना हो जाने पर संभल जाना।

सुनने की कला

भाष्यकार ने भगवद्वचन और गुरुवचन को सुनने की सुन्दर विधि प्रतिपादित की है। वह इस प्रकार है—

निद्दा-विकहापरिवज्जिएण, गुत्तिंदिएण पंजलिणा।
भत्ती बहुमाणेण य, उवउत्तेणं सुणेयव्वं॥
अभिकंखंतेण सुभासियाइं वयणाइं अत्थमहुराइं।
विम्हियमुहेण हरिसागएण हरिसं जणंतेण॥

निद्रा और विकथा का परिवर्जन कर, गुप्तेन्द्रिय होकर, हाथ जोड़कर, भक्ति और बहुमानपूर्वक, उपयुक्त अर्थात् तल्लीन होकर सुनना चाहिए।

सुभाषित वचन, जो अर्थ मधुर हों उनकी अभिकांक्षा करता हुआ मुनि विस्मित मुख से हर्षागत होकर, गुरु में भी हर्षातिरेक पैदा करता हुआ उनकी वाणी सुने।

दो विशिष्ट परंपराएं

मैं दो विशेष परंपराएं, जो भाष्यकाल तक प्रचलित थीं, उनकी ओर पाठक का ध्यान आकृष्ट करना चाहूंगा।

(१) साध्वियों को वस्त्र-याचना की अनुज्ञा नहीं।

(२) मृतनिर्ग्रन्थ के शव का स्वयं मुनियों द्वारा परिष्ठापन।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रश्न होता है जब निर्ग्रन्थी को वस्त्र-याचना की अनुज्ञा नहीं है तो फिर उनके वस्त्र की पूर्ति कैसे होती थी? जब साध्वियां भिक्षा के लिए घर-घर जा सकती हैं तो वस्त्र की भिक्षा के लिए क्यों नहीं जा सकती? उन्हें वस्त्र मिलता भी है, परन्तु परंपरा के अनुसार उन्हें वस्त्र लेने की आज्ञा नहीं है। वे अपनी आवश्यकता आचार्य को बताती हैं और आचार्य उनकी उस आवश्यकता की पूर्ति करते हैं। आचार्य उन्हें पूछते हैं–वर्षाकल्प और अन्तरकल्प आदि में से आपके पास कौनसी उपधि नहीं है? वह उपधि पहले से आचार्य के पास हो तो वह साध्वियों को दे और यदि न हो तो लब्धिसंपन्न मुनियों को इस कार्य में व्यापृत कर कहे–'आर्यो! संयतियों के प्रायोग्य वस्त्र की गवेषणा करो।' वे जाते हैं और वस्त्रों को ग्रहण कर आचार्य को समर्पित कर देते हैं। वे वस्त्र परिभुक्त या सुगंधमय हों तो उनका कल्प करे, धोए और फिर उनको अपने पास रखें। अर्थात् उन वस्त्रों का प्रक्षालन कर, सात दिन तक पास में रखें। यदि उनमें कोई दोष या विकृति न लगे तो गणधर उन वस्त्रों को लेकर जाए और प्रवर्तिनी को दे दे। प्रवर्तिनी उन वस्त्रों को, जिन-जिन आर्याओं को आवश्यक हों उनको दे।

कुछेक मुनि वस्त्र-आभिग्राहिक होते हैं। वे स्वयं आचार्य के समक्ष आकर कहते हैं–'हम वस्त्रों की गवेषणा करेंगे।' आचार्य की आज्ञा प्राप्त कर वे जाते हैं, वस्त्र लाकर आचार्य को समर्पित कर देते हैं।

जो वस्त्र सुगंधमय हों, अपरिभुक्त हों, फिर भी उनको प्रक्षालित कर, सात दिन तक रखकर, स्थविर मुनि उनको पहन-ओढ़कर परीक्षा करते हैं। यदि उनमें कोई अभियोग–विकार न हो तो उसे गणधर गणिनी–प्रवर्तिनी को दे देते हैं। यदि गणधर स्वयं आर्याओं को देते हैं तो वे प्रायश्चित्त के भागी होते हैं।

वस्त्र-ग्रहण इनकी निश्रा में करे–आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गणी और गणधर। इन सबके अभाव में प्रवर्तिनी स्वयं जाकर लाए। यदि आचार्य आदि अन्यान्य मुनि गण-कार्यों में व्यापृत हों तो स्थविरा आर्यिका प्रवर्तिनी की निश्रा में वस्त्र याचित करे, किन्तु तरुण साध्वियों के लिए वस्त्र-ग्रहण का सर्वथा निषेध है। यदि तरुण साध्वियों को उनके ज्ञातिजन वस्त्र-ग्रहण के लिए निमंत्रित करे, तो भी वे स्वयं जाकर वस्त्र न लाएं। प्रवर्तिनी स्वयं वहां जाकर वस्त्र लाए। यदि कोई न हो तो सामान्य साधु की या गृहस्थ की भी निश्रा ली जा सकती है। यदि प्रवर्तिनी न हो तो अभिषेका, गणावच्छेदिनी की निश्रा ली जा सकती है। यदि इनका भी अभाव हो तो साध्वियां परस्पर एक-दूसरे की निश्रा में वस्त्र ग्रहण कर सकती हैं।

यदि एकाकी साध्वी कहीं स्थित है और उसे कोई गृहस्थ वस्त्र के लिए निमंत्रित करे तो उसे कहे–मेरा शय्यातर या ज्ञाति वस्त्र के लक्षण जानते हैं, अतः उनके द्वारा परीक्षित यह वस्त्र मैं ले सकूंगी। तब वह प्रान्त वस्त्रदाता अपने दंभ के प्रगट होने के भय से दूसरे वस्त्र लाकर सामने रखता है। वह कहता है–पहले वाला वस्त्र अन्य साध्वी को दे दिया आदि। ऐसे व्यक्ति का वस्त्र नहीं लेना चाहिए।

प्रश्न होता है कि मैथुन के लिए वस्त्र देने वाले को कैसे पहचाना जाए? भाष्यकार कहते हैं–

'वेवहु चला य दिट्ठी, अण्णोण्णनिरिक्खियं खलति वाया।
देण्णं मुहवेवण्णं, ण याणुरागो य कारीणं॥'

उनके सामान्यतया ये लक्षण होते हैं–उनका शरीर प्रकंपित होता है, दृष्टि चल होती है। वह परस्पर दृष्टि मिलाने का प्रयत्न करता है। उसकी वाणी स्खलित होती है। मुख पर दीनता और वैवर्ण्य परिलक्षित होता है तथा उसका अनुराग हृष्टपुष्ट लक्षण वाला नहीं होता।

(२) मुनियों के शव का मुनियों द्वारा परिष्ठापन

भाष्यकाल तक निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी के कालगत होने पर शव के दाहसंस्कार की विधि नहीं थी। शव का स्थंडिलभूमी में परिष्ठापन किया जाता था। इसलिए जिस गांव या नगर में साधु-साध्वी जाते, वहां सबसे पहले स्थंडिलभूमी और शव-वहनकाष्ठ की गवेषणा करते, उसकी प्रत्युपेक्षा करते, जिससे अचानक मृत्यु हो जाने पर भी कोई कठिनाई नहीं होती थी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शव-परिष्ठापन के लिए तीन स्थंडिलभूमियों की प्रत्युपेक्षा करे। एक गांव के निकट, दूसरी उससे कुछ दूर और तीसरी उससे भी दूर। अथवा तीन दिशाओं में—दक्षिण, पूर्व, पश्चिम दिशा में, एक-एक स्थंडिल की प्रत्युपेक्षा करे। तीन स्थंडिल इसलिए कि कभी कोई एक स्थंडिल को अपना खेत बना लेता है। दूसरे स्थंडिल में सेना का पड़ाव हो सकता है। तीसरा स्थंडिल जल से आप्लावित हो सकता है। इसलिए प्रथम दिशा में एक महास्थंडिल की प्रत्युपेक्षा करनी चाहिए। अस्थंडिल में शव का परिष्ठापन करने से अनेक दोष हो सकते हैं, होते हैं।

शव को परिष्ठापित करने पर दिशाओं के आधार पर हानि-लाभ—

अपरदक्षिण (नैर्ऋति) दिशा में—प्रचुरान्न-पानवस्त्र का लाभ।

दक्षिण दिशा में—भक्तपान की अप्राप्ति।

पश्चिम दिशा में—उपकरणों की अप्राप्ति।

दक्षिणपूर्व (आग्नेयी) दिशा में—गण में 'तू-तू-मैं-मैं' की स्थिति।

अपरोत्तर (वायवी) दिशा में—कलह।

पूर्व दिशा में—गणभेद या चारित्रभेद।

उत्तर दिशा में—ग्लानत्व।

पूर्वोत्तर (ईशान) दिशा में—एक और साधु का मरण।

शव को आच्छादित करने के लिए सफेद वस्त्र ढाई हाथ चौड़ा और चार हाथ लंबा या कुछ और अधिक लंबा-चौड़ा होना चाहिए। वह सुगंधित तथा साफ होना चाहिए। ऐसे तीन वस्त्र होते हैं। एक वस्त्र शव के नीचे, एक शव को ढंककर डोरे से कसकर बांधा जाता है और तीसरा—उत्कृष्टतर ऊपर डाला जाता है। शव को मलिन वस्त्रों से ढंकने पर अपवाद होता है।

जिस वेला में मृत्यु होती है उसी समय शव का निष्काशन कर देना चाहिए। जागरण, बंधन और छेदन—यह सारी विधि संपन्न कर देनी चाहिए।

जब तक मृतक का शरीर वायु के द्वारा आक्रान्त न हो, अकड़ नहीं जाता तब तक जीवमुक्त शरीर के हाथ, पैर लंबे किए जा सकते हैं, मुंह और नयनों को संपुट कर दिया जाता है। उस शव के पास जितनिद्र, उपायकुशल, औरसबली, कृतकरण, अप्रमादी और अभीरू मुनि बैठे रहते हैं।

हाथों और पैरों के अंगूठों को डोरा बांधे। अक्षत देह में व्यन्तर का प्रवेश हो सकता है, अतः अंगुली के मध्य में चीरा दे। यह छेदन है। इतना करने पर भी यदि कोई प्रान्त देवता उस कलेवर में प्रविष्ट हो जाए और कलेवर उठकर बैठ जाए तो मुनि वामहस्त से प्रश्रवण का कलेवर पर सिंचन करे और कहे—**ओ गुह्यक! सोचो, समझो। मूढ़ मत बनो, प्रमाद मत करो। संस्तारक से मत उठो।**

यदि वह कलेवर अन्य देवता द्वारा अधिष्ठित हो और वह विकरालरूप दिखाकर भयभीत कर रहा हो, अट्टहास करता हो तो वही विधि अपनाए और शव का प्रस्रवण से सिंचन करे।

शव-वहनकाष्ठ से शव को स्थंडिल भूमी में ले जाते समय एक सूत्रार्थविद् मुनि मात्रक में पानक और कुश लेकर शव के आगे-आगे चले, मुड़कर न देखे।

जिस दिशा में गांव हो उस दिशा में शव का सिर करना चाहिए। गांव की ओर शव के पैर करने से अमंगल होता है और लोग गर्हा करते हैं। शव के नीचे बिछा हुआ तृण संस्तारक सम हो, विषम न हो। ऊपर में विषम हो तो आचार्य का, मध्य में विषम हो तो वृषभ का और नीचे विषम हो तो मुनियों का मरण या ग्लानत्व हो सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यदि तृण न मिले तो चूर्ण अथवा नागकेशर से **'ककार'** और उसके नीचे **'तकार'** करे अर्थात् **'क्त'** करे।

शव के पास यथाजात उपकरण--मुखपोतिका, रजोहरण, चोलपट्टक अवश्य रखे। न रखने पर कालगत मुनि जब देवलोक से अपने शव को देखता है तब मिथ्यात्व को प्राप्त हो सकता है।

वह शव उत्थित होकर जितने मुनियों का नाम ले, उन सबको लुंचन कराना चाहिए। वे मुनि गणभेद भी कर सकते हैं।

कालगत साधु को परिष्ठापित कर उसी दिन मध्याह्न में या दूसरे दिन सूत्रार्थविद् मुनि उसकी शुभ-अशुभ गति को जानने के लिए शव का निरीक्षण करे। उसको देखने पर दुर्भिक्ष, सुभिक्ष आदि को भी जाना जाता है।

शव को परिष्ठापित कर स्थान पर आकर कायोत्सर्ग करे।

उपरोक्त सारी विधि भाष्यकाल तक मान्य रही है। शव को गृहस्थों को संभलाने, दाहसंस्कार आदि कब से प्रचलित हुए यह ज्ञात नहीं है।

प्रस्तुत सूत्र में श्लोक ५४९७ से ५५६५ तक कालगत मुनि के परिष्ठापन संबंधी विधि-विधानों का उल्लेख है। आज यह विधि बहुत ही विचित्र और अव्यावहारिक लगती है। आर्याओं के लिए कौन सी विधि थी, यह भी अन्वेषणीय है। प्रतीत होता है कि यही विधि उनके लिए मान्य रही होगी।

इस प्रकार भाष्यकार ने शव-परिष्ठापन विधि को विस्तार से समझाया है। उसके कुछेक बिन्दु ये हैं–

- शव के परिष्ठापन योग्य स्थंडिल का निरीक्षण।
- परिष्ठापन योग्य दिशा और तद्गत उपघात।
- कालगत भिक्षु के नीहरण योग्य वस्त्र।
- कालगत भिक्षु की व्युत्सर्जन विधि। शोक करने का निषेध।
- नक्षत्र के अनुसार कुश के पुतलों का निर्माण।
- शव को स्थंडिल भूमी में ले जाते समय विस्मृतिवश आगे ले जाकर पुनः स्थंडिल भूमी में लाने की विधि।
- शव के मस्तक को रखने की दिशा।
- शव के नीचे तृण का संस्तारक करने की विधि।
- शव के पास यथाजात वस्त्र न रखने से होने वाले दोष।
- परिष्ठापन के पश्चात् कायोत्सर्ग करने की विधि।
- शव को ले जाने के मार्ग से पुनः न लौटने का निर्देश।
- शव में व्यन्तराविष्ट, भूताविष्ट हो जाने पर की जाने वाली विधि।
- आचार्य आदि प्रभावक मुनि या बृहद् कुटुम्ब वाले मुनि के कालगत होने पर की जाने वाली विधि।
- रात्री में भी नीहरण की अनुज्ञा।
- कालधर्म प्राप्त मुनि के वस्त्रों, पात्रों का व्युत्सर्जन।
- दूसरे दिन मुनि के शव के अवलोकन से ज्ञात होने वाले निमित्तों से शुभ-अशुभ गति तथा अन्यान्य तथ्य।
- शव-परिष्ठापन विधिपूर्वक न करने पर प्रायश्चित्त।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुवादक की इयत्ता

मैंने बृहद्कल्पभाष्य का अनुवाद प्रारंभ किया। स्थान-स्थान पर भाष्यकार ने तथा वृत्तिकार ने मूर्तिपूजक संप्रदाय की मान्यताओं का विस्तार से उल्लेख कर उनकी करणीयता को सिद्ध किया है। विषय है—चैत्य आदि, अनुयान—रथयात्रामें करणीय कार्य, भावग्राम के अंतर्गत प्रतिमाओं का पूजन, तीर्थंकरों के जन्म-कल्याणक आदि गांवों में जाने से दर्शन शुद्धि आदि होती है। इन तीर्थ स्थानों में जाने की प्रेरणा। यद्यपि हम इन सारी विधियों से सहमत नहीं है। फिर भी हमने यथावत् अनुवाद प्रस्तुत किया है, क्योंकि यह अनुवादक का धर्म है। वह जिस ग्रंथ का अनुवाद कर रहा है, वह उस ग्रंथ की गाथाओं में परिवर्तन या परिवर्द्धन नहीं कर सकता। वह टिप्पण में अपने अभिप्राय को स्पष्ट कर सकता है, परन्तु उनमें फेरबदल नहीं कर सकता। मैंने टिप्पण देने के बदले संपादकीय में इस विषय को स्पष्ट किया है। मैंने कुछ वर्षों पूर्व **'भरत बाहुबली महाकाव्यम्'** का अनुवाद प्रस्तुत किया था। उसमें महाराज भरत द्वारा कृत चैत्यपूजा, मूर्तिपूजा तथा शाश्वत चैत्य का उल्लेख है। मैंने यथार्थ अनुवाद किया। इस अनुवाद को मूर्तिपूजक आचार्यों और मुनियों ने खूब उछाला और लिखा 'तेरापंथी मुनि ने मूर्तिपूजा स्वीकार कर ली है।' पेम्पलेट, परदों पर बड़े-बड़े अक्षरों में उसे छापा, प्रचार-प्रसार किया। आज भी कर रहे हैं। हमें इसकी चिंता नहीं। सब अपना अपना कर्म करते हैं।

मैं विश्वास करता हूं कि पाठक अनुवादक की इयत्ता का अनुभव कर, यथार्थ को जानने का प्रयास करेंगे।

कृतज्ञता-ज्ञापन

कृतज्ञता-ज्ञापन का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। जो कोई मनसा, वाचा, कर्मणा कार्य में सहयोगी बनता है, कार्य का अनुमोदन करता है, उसका कार्य के प्रति अहोभाव उस कार्य की अथ/इति का संवाहक होता है। गणाधिपति तुलसी ने मुझे वि. सं. २००५ में दीक्षित किया और मुनि नथमलजी के पास संयम-साधना के गुर सीखने के लिए रखा। वे मेरे जीवन के संरक्षक, विबोधक और संवर्धक रहे। अव्यक्त व्यक्ति को व्यक्त बनाने की उनकी अपूर्व विधि है। वह प्रारंभ में कुछ अटपटी-सी लगती है, परंतु उसका पर्यवसान लाभदायी और सुन्दर होता है। यह आपातविरस और परिणाम-भद्रवाली विधि है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने इस विधि से मेरे जैसे अव्यक्त मुनि को व्यक्त बनाने का सफल प्रयास किया है। मैंने कुछ वर्षों पूर्व व्यवहारभाष्य का अनुवाद कर श्रीचरणों में भेंट किया। वह सारा कार्य यात्रा में संपन्न हुआ।

'अहिंसा-यात्रा' के संदर्भ में जब हम महाराष्ट्र की यात्रा पर थे तब एक दिन चौपड़ा गांव में रुके। वहां विवेकानन्द स्कूल में ठहरे और मध्याह्न में इस विशाल ग्रंथ के अनुवाद करने की अनुज्ञा प्राप्त करने श्रीचरणों में पहुंचा और अनुवाद प्रारंभ करने की प्रार्थना की। आचार्य प्रवर ने प्रथम गाथा का अनुवाद कर मुझे अनुगृहीत किया तथा मुझे पूरे ग्रंथ का अनुवाद करने की अनुज्ञा दी। यात्रा चलती रही, भिवानी तक निर्धारित थी। उसे आगे बढ़ाया गया और आज वह अपने छठे वर्ष में चालू है। इस महान् यात्रा के साथ जब गंगाशहर की ओर जा रहे थे तब मध्य में हम उदासर में रुके और मैंने ६४९० गाथाओं के इस महान् ग्रंथ का अनुवाद संपन्न किया, और उसकी पांडुलिपि तैयार करने में तत्पर हो गया। मेरे अनन्य सहयोगी मुनि राजेन्द्रकुमारजी तथा मुनि जितेन्द्रकुमारजी ने उस तत्परता को आगे बढ़ाने और उसको निष्ठा तक पहुंचाने में दत्तचित्त हो गए। यह कार्य मेरे से होने वाला नहीं था। वे दोनों इसके पीछे लगे और कार्य पूरा कर दिया। जब हम उदयपुर चातुर्मास के संदर्भ में वहां पहुंचे तब आचार्यश्री के श्रीचरणों में वह पांडुलिपि प्रस्तुत की। आचार्यश्री ने अपनी व्यस्तता के बावजूद उसका निरीक्षण किया और उस ग्रंथ के प्रति अहोभाव प्रगट किया। समय-समय पर उस ग्रंथ की भूरि-भूरि प्रशंसा भी की।

सायंकाल के समय युवाचार्यश्री ने उस पांडुलिपि का निरीक्षण किया और बहुत प्रसन्नता व्यक्त की। दूसरे दिन उन्होंने आचार्यश्री से निवेदन किया—गुरुवर! मैंने इस महान् ग्रंथ का अनुवाद देखा। यह एक विचक्षण कार्य संपन्न हुआ है। यह कार्य और इसके कर्त्ता—दोनों साधुवादार्ह हैं। इसमें प्रधानतः मुनि दुलहराजजी रहे और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शेष दो मुनि सहयोगी रहे। कुल मिलाकर ग्रंथ महत्त्वपूर्ण है, प्राचीन परंपराओं का दिग्दर्शक यह ग्रंथ अभूतपूर्व है। इसमें स्वाध्याय के लिए बहुत सामग्री है।

साध्वीप्रमुखाश्री कनकप्रभाजी को मैंने भूमिका के लिए निवेदन किया और आपने मेरे पर अनुग्रह कर मेरे निवेदन को स्वीकार कर लिया। उस समय आप चिकित्स्य थीं और मनोयोगपूर्वक स्वास्थ्य लाभ कर रही थीं। उसके पश्चात् विश्राम हेतु भुवाणा (उदयपुर) में स्थित 'महिला अहिंसा प्रशिक्षण केन्द्र' में पधार गईं। श्रावण और भाद्रपद मास विश्राम करने हेतु बीत गये। तदनन्तर विद्वत्तापूर्ण तथा पग-पग पर बहुश्रुतता का बोध देने वाली भूमिका का लेखन किया। आप केवल जैनवाङ्मय की विदुषी ही नहीं हैं अन्यान्य दार्शनिक ग्रंथों का भी तलस्पर्शी अध्ययन कर उनके उपनिषद्भूत तत्त्वों को आत्मसात् किया है। आपकी लेखनी विषय के अनुरूप नानारूप वाली होती है। जहां प्रसादगुण की अपेक्षा हो वहां प्रसादधर्मा और जहां दार्शनिक तत्त्वचर्चा का प्रसंग हो वहां दार्शनिक तत्त्वावगाहिनी होकर यह मन्दाकिनी आगे बढ़ती है।

आपके इस अनुग्रह के प्रति मैं किन शब्दों में आभार व्यक्त करूं। आपका सदा से मुझे अनुग्रह प्राप्त होता रहा है, आज है और आगे भी रहेगा। मेरी यही मंगलकामना है कि आप अपनी वाग्मिता तथा लेखनी की प्रवहमानता को विराम न दें और गुरु के इस वरदान को संजोकर रखें।

मुनिद्वय

मुनि राजेन्द्रकुमारजी और मैं अनेक वर्षों से साथ-साथ रह रहे हैं। उनकी कर्मठता, सजगता और कार्य में लगे रहने की तमन्ना प्रशंसनीय है। वे मुख्यतः संस्कृत व्याकरण के विभिन्न अंगों के संपादन में लगे हुए हैं। उन्होंने उस कार्य में अपनी उपयोगिता सिद्ध कर अनेक ग्रंथों का संपादन किया है। वे अद्भूत खोजी, परिश्रमी और कार्य के प्रति प्रामाणिक हैं। उनकी कार्यक्षमता की चर्चा आचार्यप्रवर बहुधा करते हैं, क्योंकि वे सदा ही आचार्यश्री की सेवा में संलग्न रहे हैं और आज भी हैं। वे प्रथम दृष्ट्या **'गुरुसेवास्ति मामकीनं जीवनमंत्रं'** यह मानकर सेवा की संलग्नता बनाए रखते हैं। जब अन्यत्र विहार होता है, गुरु सेवा छूट जाती है, तब उनकी छटपटाहट देखने योग्य होती है। **'सेवाधर्मः परमगहनः'** इसको आत्मसात् कर **'सेवाधर्मः परमसुखदः परमसहजः'**—ऐसा मानकर सेवाकार्य में संलग्न रहते हैं। वे निष्कामसेवी और निर्जराप्रेक्षी हैं।

वे आजकल मेरी रुग्णावस्था के कारण मेरे उपचार में संलग्न हैं।

प्रस्तुत ग्रंथ के कार्य में लगने से पूर्व उन्होंने अभी-अभी 'सिन्दूरप्रकरण' काव्य का सांगोपांग संपादन, अनुवाद कर हजारों व्यक्तियों को लाभान्वित किया है। इस कार्य से मुक्त होने के पश्चात् तथा व्याकरण के कार्य को पुनः प्रारंभ न करने के कारण वे बृहद्कल्पभाष्य के कार्य में लगे। ग्रंथ की परिसंपन्नता में दो विषय विशेष हैं। गाथानुक्रम और विषयानुक्रम। उन्होंने दोनों कार्य अपने हाथ में लिए और सर्वप्रथम गाथानुक्रम के परिशिष्ट को करने में लगे। यद्यपि मुद्रित इस ग्रंथ में गाथानुक्रम है। हमने पहले उसका निरीक्षण किया। हमें लगा कि उसमें पाठगत और अनुक्रमगत अनेक त्रुटियां हैं। सबसे पहले मुनिजी ने पाठ की अशुद्धियों का परिमार्जन किया और फिर अनुक्रम को तैयार करने का उपक्रम प्रारंभ किया। एक मास की अवधि में पहले परिशिष्ट का कार्य संपन्न हो गया। श्लोकों की गणना में दो गाथाएं न्यून आ रही थीं। इस न्यूनता ने उनको झकझोर डाला। उनकी खोज में फिर १०-१५ दिन लगे और उन गाथाओं की खोज कर उन्होंने परिशिष्ट को संपन्न किया।

दूसरे विषय में लगभग साढ़े छह हजार गाथाओं का विषय-सूचन करना था। समय लगा और चातुर्मास के प्रारंभ काल में वह संपन्न हो गया।

ये दोनों बहुत श्रमसाध्य थे। मुनिजी ने इनको पूरा कर मुझे अनुगृहीत किया है। वे साधुवादार्ह हैं। उनकी कर्मजाशक्ति वृद्धिंगत होती रहे, यही मंगलभावना है।

मुनि जितेन्द्रकुमारजी दीक्षाकाल से ही मेरे पास हैं। उनको दीक्षित हुए दस वर्ष हो गए। वे प्रारंभ से ही प्रतिभासंपन्न थे। यहां रहकर उन्होंने अपनी प्रतिभा को संवारा है, बढ़ाया है। वे प्रारंभ में विद्यार्थी बनकर आए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

थे। तीन वर्ष तक क्रमिक अध्ययन का क्रम चला। उन्होंने संस्कृत भाषा को हस्तगत करना प्रारंभ किया। धीरे-धीरे अन्यान्य कार्यों के प्रति उनकी रुचि बढ़ी, दक्षता तो पहले से ही थी, वह वृद्धिंगत हुई और वे क्रमिक शिक्षाक्रम को छोड़कर यदाकदा संस्कृत टीका और संस्कृत काव्यों का वाचन कर अपना ज्ञान बढ़ाते रहे। आज वे मेरे संपूर्ण कार्य के पर्यवेक्षक, यत्र-तत्र परामर्शक बने हुए हैं।

अभी कुछ वर्षों पूर्व मैंने व्यवहार भाष्य का अनुवाद किया। उसकी पांडुलिपि तैयार करना, प्रूफ देखना आदि सारा कार्य उन्होंने संपन्न कर जलगांव में महोत्सव के अवसर पर पुस्तकरूप में उपहृत किया।

तत्पश्चात् वे मेरे साथ बृहत्कल्पभाष्य में लग गए। मैं उनको भाष्य की टीका का वाचन कर अर्थ करने के लिए कहता वे अर्थ करते। धीरे-धीरे अभ्यास बढ़ता गया। अर्थ को पकड़ने की उनकी शक्ति बढ़ी और उन्हें यह प्रतीति होने लगी की नाममाला का ज्ञान अत्यंत आवश्यक है।

आजकल इस ग्रंथ की पांडुलिपि को आद्योपान्त पढ़ने में लगे हुए हैं। सारे परिशिष्टों का परिमार्जन कर रहे हैं। मैं उनकी इस तत्परता के प्रति प्रणत हूं।

कथा परिशिष्ट को साध्वीश्री दर्शनविभाजी ने तैयार किया है। ग्रंथगत प्राकृत तथा संस्कृत कथाओं का हिन्दी भाषा में अनुवाद कर ग्रंथ को सुबोध बनाया है। इसमें १५० कथाएं हैं। कहीं-कहीं भाष्य की गाथाओं में वे कथाएं हैं और वृत्तिकार ने उन्हें विस्तार से समझाया है। मैं समझता हूं साध्वीजी का यह प्रथम प्रयास सफल रहा है। मैं उनके प्रति आभारी हूं। उनमें प्राकृत और संस्कृत भाषा को पढ़ने-समझने की शक्ति बढ़े, यही मंगलकामना है।

नोखामंडी में लगभग एक माह तक रहे। वहां के डॉ. प्रेमसुखजी मरोठी इस ग्रंथ के कम्प्यूटराइज्ड कॉपी के लिए प्रयत्नशील रहे और उस प्रयत्न में सफल हुए। उन्होंने इस विशाल ग्रंथ के महत्त्व को समझा और इसके प्रति अत्यन्त प्रसन्नता व्यक्त की।

विहार-क्रम में हम संबोधि उपवन में पहुंचे। वहां ध्यानयोगी मुनिश्री शुभकरणजी की सन्निध्य में लगभग ४५ दिन रहे। ग्रंथ का कार्य आगे बढ़ा और निष्पत्ति तक पहुंच गया।

मैं किशन जैन को भी नहीं भूल सकता। वे सर्वोत्तम साहित्य संस्थान के कर्ता-धर्त्ता है और जैन विश्व भारती संस्था के साहित्य विक्रेता है। उन्होंने अपने कम्प्यूटर ऑपरेटर प्रमोद को हमारे पास भेजकर, ग्रंथ की पांडुलिपि तैयार कराई। मैं उनके इस सहयोग को विस्मृत नहीं कर सकता।

अन्त में

हमने इस ग्रंथ को दो खण्डों में विभक्त किया है। पहले खण्ड में संपादकीय, भूमिका तथा पीठिका सहित प्रथम दो उद्देशक हैं। दूसरे खण्ड में तीसरे उद्देशक से छट्ठा उद्देशक तथा चार परिशिष्ट हैं–१. कथा परिशिष्ट २. सूक्त और सुभाषित ३. आयुर्वेद और आरोग्य ४. गाथानुक्रम। प्रथम खण्ड का विषयानुक्रम प्रथम खण्ड में, दूसरे का दूसरे में है।

पुनश्च इस ग्रंथ के आकार लेने तक जिस किसी का भी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग मिला है उनके प्रति भी मंगलकामना।

शुभं भवतु, कल्याणमस्तु।

१ अगस्त २००७ **मुनि दुलहराज**

महाप्रज्ञ विहार, भुवाणा (उदयपुर)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशकीय

मुझे यह लिखते हुए अत्यंत हर्ष हो रहा है कि 'जैन विश्व भारती' द्वारा आगम-प्रकाशन के क्षेत्र में जो कार्य हुआ है, वह अभूतपूर्व तथा मूर्धन्य विद्वानों द्वारा स्तुत्य और बहुमूल्य बताया गया है।

हम बत्तीस आगमों का पाठान्तर शब्दसूची तथा 'जाव' की पूर्ति से संयुक्त सुसंपादित मूलपाठ प्रकाशित कर चुके हैं। उसके साथ-साथ आगम-ग्रंथों का मूलपाठ, संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद प्राचीनतम व्याख्या-सामग्री के आधार पर प्रस्तुत हुआ है। उसमें सूक्ष्म ऊहापोह के साथ विस्तृत मौलिक टिप्पण तथा अनेक परिशिष्टों से मंडित संस्करणों को भी सम्मिलित किया गया है। इस शृंखला में दसवेआलियं, उत्तराध्ययन, सूयगडो, ठाणं, नंदी, समवाओ आदि अनेक आगम ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं और विशाल ग्रंथ भगवई के चार खंड प्रकाशित होकर जनता के सामने आ चुके हैं।

भाष्य लिखने की परम्परा बहुत प्राचीन रही है। आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने संस्कृत में 'आयारो' का भाष्य लिखकर भाष्य-जगत् में एक नूतन कार्य किया है। वह कार्य भाष्य परम्परा को अक्षुण्ण बनाने का श्रमसाध्य प्रयत्न है। आचारांग भी मूलपाठ-सहित हिन्दी और अंग्रेजी में प्रकाशित हो चुका है।

प्रस्तुत ग्रंथ '**बृहत्कल्पभाष्यम्**' आगम व्याख्या साहित्य की बहुमूल्य धरोहर है। छेदसूत्रों में यह बृहत्काय ग्रंथ है। इसमें ६४९० गाथाएं गुंफित हैं। बहुश्रुत वाचना-प्रमुख **आचार्यश्री तुलसी** एवं **आचार्यश्री महाप्रज्ञ** के नेतृत्व में आगम-संपादन का भगीरथ कार्य हो रहा है। आगम साहित्य के इस महान् अभिक्रम में **आगम मनीषी मुनिश्री दुलहराजजी** प्रारंभ से ही जुड़े रहे हैं। वे श्रद्धेय आचार्यश्री महाप्रज्ञ के अंतेवासी बहुश्रुत संत हैं। उन्होंने इस विशाल ग्रंथ का संपादन एवं अनुवाद किया है। मुनिश्री ने इस ग्रंथ की निष्पत्ति में जो श्रम किया है वह ग्रंथ के अवलोकन से स्वयं स्पष्ट होगा। इससे पूर्व मुनिश्री द्वारा संपादित/अनूदित सानुवाद व्यवहारभाष्य भी प्रकाशित हो चुका है।

प्रस्तुत ग्रंथ की विशालता देखते हुए इसे दो खण्डों में विभक्त किया है। पहले खण्ड में संपादकीय, भूमिका तथा पीठिका सहित प्रथम दो उद्देशक समाविष्ट हैं। दूसरे खण्ड में तीसरे उद्देशक से छट्ठा उद्देशक तथा चार परिशिष्ट संलग्न हैं।

इस ग्रंथ की भूमिका **महाश्रमणी साध्वीप्रमुखाश्री कनकप्रभाजी** ने अपने बहुमूल्य समय का नियोजन कर लिखी है। संपादन में **मुनि राजेन्द्रकुमारजी, मुनि जितेन्द्रकुमारजी** सहयोगी रहे हैं। उन्होंने इसे सुसज्जित करने में अनवरत श्रम किया है। इसकी कंपोजिंग में सर्वोत्तम प्रिण्ट एण्ड आर्ट के श्रीकिशन जैन एवं श्रीप्रमोद प्रसाद का योग रहा है।

ऐसे सुसम्पादित आगम ग्रंथ को प्रकाशित करने का सौभाग्य **जैन विश्व भारती** को प्राप्त हुआ है।

आशा है पूर्व प्रकाशनों की तरह यह प्रकाशन भी विद्वज्जनों की दृष्टि में अत्यंत उपयोगी सिद्ध होगा।

१ नवम्बर २००७
उदयपुर (राज.)

सुरेन्द्र चोरड़िया
अध्यक्ष, जैन विश्व भारती, लाडनूं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषयानुक्रमणिका

गाथा संख्या	विषय
	पीठिका
१-३	तीर्थंकरों को नमस्कार और बृहत्कल्पभाष्य के विषय में निर्देश।
४	नंदी और मंगल का अपेक्षाकृत भेदानुभेद।
५	चार प्रकार के मंगल और नंदी।
६	नाम मंगल का विवेचन।
७,८	स्थापना मंगल का विवेचन।
९,१०	द्रव्य तथा भाव मंगल का विवेचन।
११	पदार्थ मात्र में चारों निक्षेपों का स्वीकरण।
१२	नाम इन्द्र का लक्षण।
१३	स्थापना इन्द्र का लक्षण तथा नाम स्थापना में अंतर।
१४	द्रव्य इन्द्र का लक्षण।
१५	भाव इन्द्र का लक्षण।
१६-१८	इन्द्र पद के भाव निक्षेप में विपर्यास और उसका समाधान।
१९	नाम इन्द्र तथा स्थापना इन्द्र में और द्रव्य इन्द्र तथा भाव इन्द्र में अंतर।
२०,२१	मंगलाचरण करने का प्रयोजन और उसकी सिद्धि के लिए उपचार का निर्देश। तद्गत 'नृप-निधि-विद्या-मंत्र' आदि के दृष्टांत।
२२	ग्रंथ के आदि, मध्य तथा अंत में मंगल क्यों?
२३	मंगल करने से अनवस्था दोष क्यों नहीं होता इसका समाधान।
२४	नंदी के चार निक्षेप।
२५	प्रत्यक्ष ज्ञान और परोक्ष ज्ञान का लक्षण।
२६,२७	वैशेषिकों द्वारा स्वीकृत प्रत्यक्ष ज्ञान के लक्षण में दूषण। उदाहरण सहित।
२८	इन्द्रियों से ग्राह्य ज्ञान लैंगिकज्ञान है।
२९	प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान की व्याख्या।
३०	दोनों ज्ञानों के प्रकार।
३१-३३	द्रव्यतः अवधिज्ञान का स्वरूप और सीमा।
३४	क्षेत्रतः, कालतः और भावतः अवधिज्ञान का स्वरूप।
३५,३६	मनःपर्यवज्ञान का स्वरूप।
३७	केवलज्ञान कब प्राप्त होता है।
३८	केवलज्ञान का स्वरूप।
३९	आभिनिबोधिक ज्ञान का लक्षण।
४०	आभिनिबोधिक ज्ञान के प्रकार।
४१	श्रुतज्ञान का लक्षण।
४२	श्रुतज्ञान के प्रकार।
४३	अक्षरश्रुत के प्रकार।
४४,४५	संज्ञाक्षरश्रुत तथा लब्ध्यक्षरश्रुत का स्वरूप तथा लब्ध्यक्षश्रुत के प्रकार।
४६	अनुपलब्धि और उपलब्धि के प्रकार।
४७	अत्यन्त अनुपलब्धि का सोदाहरण लक्षण।
४८	सामान्य अनुपलब्धि का सोदाहरण लक्षण।
४९	विस्मृति अनुपलब्धि का सोदाहरण लक्षण।
५०	सादृशतः और विपक्षतः उपलब्धि का सोदाहरण लक्षण।
५१	उभयतः (सादृशतः-विपक्षतः) उपलब्धि का सोदाहरण लक्षण।
५२	औपम्यतः उपलब्धि का सोदाहरण लक्षण।
५३	आगमोपलब्धि का सोदाहरण लक्षण।
५४	पांचों उपलब्धियां संज्ञी में ही होती हैं और तीनों अनुपलब्धि असंज्ञी में होती हैं।
५५	व्यञ्जनाक्षर का लक्षण।
५६,५७	व्यञ्जनाक्षर के भिन्न-भिन्न आधार से होने वाले प्रकार।
५८	अभिधेय से अभिधान की भिन्नता।
५९	अपने अर्थ से अभिधान की अभिन्नता।
६०	व्यञ्जनाक्षर के दो-दो पर्याय।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथा संख्या	विषय
६१-६४	स्व पर्याय और पर पर्याय में परस्पर संबद्धता और असंबद्धता।
६५	अक्षर के प्रमाण व उसके स्वरूप का निरूपण।
६६	पुद्गलास्तिकाय के आश्रय से गुरु, लघु आदि पर्यायों पर विचार।
६७	पुद्गलास्तिकाय में गुरुलघु द्रव्य सबसे कम।
६८	प्रज्ञा के आधार पर गुरु लघु पर्याय का पृथक्करण।
६९	अगुरुलघु पर्याय परिमाण का चिंतन।
७०	चारों अरूपी अस्तिकाय अनंत अगुरुलघु पर्यायों से संयुक्त।
७१	ज्ञान सर्वाकाश प्रदेशों से अनंतगुणा अधिक।
७२	ज्ञान अक्षर है।
७३	ज्ञानावरणीय कर्म अनंत अविभक्त आवरण से आवृत।
७४	ज्ञान का अनन्तवां भाग सदा उद्घाटित।
७५	स्थावरकायिक में ज्ञान अव्यक्त।
७६	अनक्षर श्रुत के प्रकार।
७७	अनक्षरश्रुत का उदाहरण सहित विवेचन।
७८	संज्ञी की परिभाषा।
७९	कालिक्युपदेशिकी संज्ञा वाले प्राणियों के मानसिक व्यापार कैसे?
८०	मनोद्रव्य द्वारा प्रकाशन में भाव विषयक उपयोग।
८१	असंज्ञी प्राणियों में विषयों का उपयोग मंद।
८२	असंज्ञी प्राणी और मूर्च्छित प्राणी की तुलना।
८३,८४	चेतना भाव की तुल्यता होने पर भी असंज्ञी में विषयावग्रह में पटुता नहीं।
८५	हेतुवाद की दृष्टि से संज्ञी और असंज्ञी।
८६,८७	दृष्टिवाद की अपेक्षा संज्ञी और असंज्ञी।
८८	स्वामित्व की अपेक्षा लौकिक और लोकोत्तरिक श्रुत में सम्यक् मिथ्या की भजना।
८९	मनःपर्यवज्ञान पर्यन्त अवाय।
९०	सम्यक्त्व के पांच प्रकार।
९१	सर्वप्रथम कर्मों की बंध-स्थिति।
९२	मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति में आयुष्य के अतिरिक्त सर्व कर्मों की स्थिति उत्कृष्ट।
९३	सम्यग्दर्शन की अन्तरायभूत ग्रंथी का भेदन कब?
९४	करण (परिणाम विशेष) के तीन प्रकार।
९५	तीनों करणों का कार्य।
९६	करणों के आधार पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के आठ उदाहरण।
९७	यथाप्रवृत्तिकरण में संबंधित (प्रस्तर) दृष्टांत।
९८	सम्यक्त्वलाभ के दो उपाय। तद्गत 'पथ' एवं 'ज्वर' का दृष्टांत।
९९	अपूर्व करण से संबंधित 'वस्त्र' तथा 'जल' का उदाहरण।
१००,१०१	अभव्य ग्रंथि के पास पहुंच कर दूर कैसे होते हैं? भव्य ग्रंथ भेद कर आगे कैसे बढ़ते हैं? समाधान के लिए 'पिपीलिका' दृष्टान्त।
१०२,१०३	तीनों करणों से संबंधित तीन 'पुरुषों' का दृष्टान्त।
१०४	सर्व संसारी जीवों के साथ त्रिकरणों की योजना।
१०५	दृष्टान्तगत स्तब्ध पुरुष का उपनय।
१०६	अनिवृत्तिकरण द्वारा प्राप्त सम्यक्त्व की श्रावकत्व से मोक्ष तक क्रमशः संप्राप्ति।
१०७	उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी दोनों एक साथ एक भव में नहीं हो सकती।
१०८	उपशमक सम्यक्त्वदृष्टि कौन कहलाता है?
१०९	मिथ्यात्व के तीन प्रकार।
११०	अधिगम और नैसर्गिक सम्यक्त्व प्राप्ति के लक्षण।
१११	मिथ्यात्व पुद्गलों के तीन पुंज।
११२	पुद्गल पुंजों में संक्रमण संभव।
११३-११६	कौनसा पुंज किसमें संक्रमण कर सकता है? इसका विवेचन।
११७	क्षपक, त्रिपुंजी, द्विपुंजी आदि कौन होता है?
११८	उपशम सम्यक्त्वी कौन?
११९	उपशांत मिथ्यात्व कालान्तर के बाद पुनः उद्भूत हो जाता है।
१२०	उपशांत मिथ्यात्व में 'इलिका' का दृष्टांत।
१२१	मिथ्यात्व उदयावलिका में प्रविष्ट होने पर अंतर्मुहूर्त्त तक औपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति।
१२२	औपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति में 'दवाग्नि' का उदाहरण।
१२३	औपशमिक सम्यक्दृष्टि जीव के शेष कर्मों का उदय निष्प्रभ।
१२४	नैरयिक साता का अनुभव कब करते हैं?
१२५	सम्यक्त्व लाभ से ज्ञान लाभ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथा संख्या	विषय
१२६	मिथ्यात्व के त्यक्त होने पर अज्ञान ज्ञान में परिणत हो जाता है।
१२७	सास्वादन सम्यक्त्व कब और कैसे?
१२८	उपशम सम्यक्त्व से च्युत सम्यक्दृष्टि कैसे? इस प्रश्न का समाधान।
१२९	मिश्र (क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि) कब बनता है?
१३०	वेदक सम्यक्त्वी कौन कहलाता है?
१३१	क्षायक सम्यक्त्व कब प्राप्त होता है?
१३२	अभिन्न दशपूर्वी से चौदहपूर्वी पर्यन्त नियमतः सम्यक्त्वी होते हैं।
१३३	सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में विवेक।
१३४	सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के लक्षण।
१३५,१३६	श्रुतज्ञान अनादि-अनंत या सादि-सान्त?
१३७	पांच स्थानों से प्रतिपात।
१३८	पांच प्रतिपातों का विवेचन।
१३९	श्रुत नियमतः जीव भी है और तीन स्थानों से श्रुत की जीव में भजना भी।
१४०	क्षेत्र की अपेक्षा से श्रुत सादि और सपर्यवसित कब? कहां?
१४१	प्रज्ञापक के आधार पर श्रुत सादि और सपर्यवसित।
१४२	श्रुतज्ञान अनादि और अपर्यवसित कैसे?
१४३	गमिक और अगमिक श्रुत का विवेचन।
१४४	अंगश्रुत और अनंगश्रुत का विवेचन।
१४५,१४६	'भूतवाद' अर्थात् दृष्टिवाद का अध्ययन स्त्रियों के लिए अनुज्ञात क्यों नहीं?
१४७	श्रुतज्ञान की प्ररूपणा में पहले अक्षरश्रुत तथा अनक्षर श्रुत का ग्रहण।
१४८	श्रुतज्ञान से ही शेष ज्ञानों का कथन संभव।
१४९	अनुयोगाधिकार की द्वार गाथा।
१५०	निक्षेप किसका?
१५१	अनुयोग के सात निक्षेप।
१५२	द्रव्य आदि अनुयोगों के प्रभेद।
१५३	द्रव्यानुयोग के दो प्रकार।
१५४	जीव द्रव्यानुयोग का विवेचन।
१५५,१५६	अजीव द्रव्यानुयोग का विवेचन।
१५७	द्रव्य पर्यायात्मक होते हैं।
१५८	द्रव्य और द्रव्यों से अनुयोग।
१५९-१६२	क्षेत्र और क्षेत्रों से अनुयोग कैसे?
१६३,१६४	कलानुयोग का कथन और सोलह वचनों का अनुयोग।
१६५	वचन से और वचनों से अनुयोग का विवेचन।
१६६	भावानुयोग का कथन।
१६७,१६८	भाव से और भावों से अनुयोग का विवेचन किन्तु क्षायोपशमिक का भावों में अनुयोग नहीं।
१६९	द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का परस्पर समवतार कैसे?
१७०	द्रव्य और भाव, आधार और आधेय हैं।
१७१	द्रव्य अनुयोग और अननुयोग विषय में वत्स और गाय का दृष्टान्त
	क्षेत्र अनुयोग और अननुयोग विषय में कुब्जा का दृष्टान्त।
	काल अनुयोग और अननुयोग विषय में स्वाध्याय का दृष्टान्त।
	वचन अनुयोग और अननुयोग विषय में बधिरोल्लाप और ग्रामेयक का दृष्टान्त।
१७२	भाव अनुयोग और अननुयोग विषय में सात दृष्टान्त।
१७३	एकार्थिकों के प्रयोग से होने वाले गुण।
१७४	सूत्र के दश एकार्थक।
१७५,१७६	द्रव्यश्रुत और भावश्रुत।
१७७	चौदह प्रकार का अक्षरश्रुत।
१७८	द्रव्य सूत्र और भाव सूत्र के प्रकार। द्रव्य ग्रंथ और भाव ग्रथ के प्रकार।
१७९	सिद्धान्त की परिभाषा और उसके प्रकार।
१८०	सर्वतंत्र सिद्धान्त का स्वरूप।
१८१	प्रतितंत्र सिद्धान्त का स्वरूप।
१८२	अधिकरण सिद्धांत का स्वरूप।
१८३	अभ्युपगम सिद्धान्त का स्वरूप।
१८४	द्रव्य शासन और द्रव्य आज्ञा। भाव शासन और भाव आज्ञा।
१८५	द्रव्य वाक् और भाव वाक् क्या?
१८६	उपदेश, प्रज्ञापना और आगम का निक्षेप।
१८७	अनुयोग के पांच एकार्थक।
१८८	निरुक्त का अर्थ।
१८९	अनुयोग, नियोग, भाषा आदि के दृष्टान्त।
१९०,१९१	सूत्र की परिभाषा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथा संख्या	विषय
१९२	अर्थ महान् कैसे?
१९३	अर्हत् अर्थ का ही कथन करते हैं।
१९४	नियोग की परिभाषा।
१९५	पत्रक और दंडिका—दोनों संयुक्त रूप में अर्थ के सहायक।
१९६	जैसा सूत्र वैसा अर्थ।
१९७,१९८	भाषक, विभाषक और व्यक्तिकर की उदाहरण से अभिव्यक्ति।
१९९	व्यक्तिकर है वार्तिकर।
२००	व्यक्तिकर के विषय में 'चार मंखपुत्रों' का दृष्टान्त।
२०१	व्यक्तिकर की योग्यता।
२०२,२०३	क्या सभी तीर्थंकरों की प्ररूपणा समान है? शिष्य का प्रश्न। आचार्य का समाधान।
२०४	अनियत और नियत क्या?
२०५,२०६	निरुक्त, निक्षेप आदि की प्ररूपणा सर्व अर्हतों की समान। 'शकट, गंत्री' का दृष्टान्त।
२०७	आत्मांगुल के आधार पर क्षेत्र विभाग से तुल्य उपलब्धि।
२०८	विधि शब्द के एकार्थक।
२०९,२१०	शिष्यों की पटुता के आधार पर अनुयोग की विधि।
२११-२१४	अनुयोग विधि से संबंधित प्रश्न और आचार्य द्वारा समाधान।
२१५	एकान्त अयोग्य शिष्य के वाचक सात दृष्टान्त।
२१६,२१७	दारु (लकड़ी) का दृष्टान्त।
२१८	धातु का दृष्टान्त।
२१९	व्याधि का दृष्टान्त।
२२०	बीज का दृष्टान्त।
२२१	कांकटुक (कोरडू) का दृष्टान्त।
२२२	सामुद्रिक लक्षण के ज्ञाता का कथन।
२२३	स्वप्नशास्त्री का दृष्टान्त।
२२४	पहले अयोग्य पश्चात् योग्य विषयक प्रतिपक्ष के उदाहरण।
२२५,२२६	अग्नि का दृष्टान्त।
२२७	बालक और व्याधि का दृष्टान्त।
२२८,२२९	सिंहशिशु, द्विपर्णवृक्ष तथा करील का दृष्टान्त।
२३०	स्थूलबुद्धि शिष्य क्रमशः बुद्धि को वृद्धिंगत कर निपुण होगा।
२३१	स्थूल से प्रारंभ कर सूक्ष्म में निपुणता की प्राप्ति। इसके सात दृष्टान्त।
२३२	संवेगकर और निर्वेदकर आगम की वाचना दे।
२३३	अनुयोग ग्रहण करने वाला शिष्य और ग्राहक आचार्य का उद्यम।
२३४,२३५	गाय और दोहक विषयक चतुर्भंगी। आचार्य और शिष्य विषयक चतुर्भंगी।
२३६-२३८	चतुर्भंगी का विवेचन।
२३९	उद्यमी आचार्य प्रमादी शिष्य को अनुयोग में प्रवृत्त करता है। आर्य कालक का दृष्टान्त। अनियुक्त आचार्य को उद्यमी शिष्य अनुयोग में प्रवृत्त कर देता है।
२४०	नियुक्त आचार्य दोनों समय अनुयोग करे। नियुक्त शिष्य उसे सुने।
२४१-२४४	अनुयोग दाता के गुण।
२४५	गुणी और गुणहीन के वचनों की स्थिति।
२४६-२५५	अनुयोग किस सूत्र का? प्रस्तुत में कल्प और व्यवहार सूत्र का। इन विषयक जिज्ञासा और समाधान।
२५६,२५७	अनुयोग के चार द्वार और उनके निरूपण का कारण।
२५८,२५९	अनुयोगद्वार का एक द्वार—उपक्रम। लौकिक द्रव्योपक्रम का निरूपण।
२६०	लौकिक द्रव्योपक्रम।
२६१	लौकिक कालोपक्रम।
२६२	लौकिक अप्रशस्त भावोपक्रम और तीन दृष्टान्त।
२६३,२६४	लौकिक प्रशस्त भावोपक्रम।
२६५-२७०	छह प्रकार का शास्त्रीय उपक्रम और प्रस्तुत का समवतार।
२७१,२७२	निक्षेप के तीन प्रकार।
२७३	नाम निक्षेप के छह प्रकार।
२७४	भाव कल्प के पांच प्रकार।
२७५	सूत्रालापक निक्षेप का प्रसंग होते हुए भी सूत्रानुगम का कथन।
२७६	अनुगम के तीन द्वार। लक्षणयुक्त सूत्र ही सिद्ध।
२७७	सूत्र के लक्षण।
२७८-२८१	सूत्र के बत्तीस दोष।
२८२-२८७	सूत्र के गुण और उनकी व्याख्या।
२८८	सूत्रोच्चारण विधि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथा संख्या	विषय
२८९	अहीनाक्षर–हीन के दो प्रकार। एक बहिन का उदाहरण।
२९०	सूत्र के अर्थ की व्यापत्ति कैसे?
२९१	विद्याधर का दृष्टान्त।
२९२-२९४	राजपुत्र कुणाल का दृष्टान्त।
२९५	कामिक सरोवरवासी बंदर का दृष्टान्त।
२९६	व्यत्याम्रेडित का अर्थ और उसके भेद।
२९७	स्खलित और मीलित के भेद।
२९८,२९९	स्खलित, मीलित आदि से सूत्रोच्चारण करने पर निष्पन्न प्रायश्चित्त।
३००,३०१	प्रायश्चित्त के प्रकार व उनका विवेचन।
३०२-३०८	संहिता, पद, पदार्थ आदि सूत्र की व्याख्या के छह प्रकार। उनका स्वरूप और उनके प्रयोग की विधि।
३०९	व्याख्या के पांच प्रकार।
३१०-३१३	सूत्र की अनेक व्याख्याएं।
३१४	अनुसरण के प्रकार और वणिक् के अंधे पुत्र का दृष्टान्त।
३१५-३१८	सूत्र के तीन प्रकार व उनकी व्याख्या।
३१९	उत्सर्ग और अपवाद की परिभाषा।
३२०,३२१	उत्सर्ग से अपवाद में आने वाले भग्नव्रत हैं या नहीं? शिष्य द्वारा प्रश्न। आचार्य का दृष्टान्त के साथ समाधान।
३२२	अल्प क्या उत्सर्ग या अपवाद?
३२३,३२४	उत्सर्ग और अपवाद स्वस्थान और परस्थान कब?
३२५, ३२६	पद द्वार और पदार्थ द्वार।
३२६/१/२	तद्धित और सामासिक द्वार।
३२७	आख्याति पदार्थ और मिश्र पदार्थ।
३२८	आक्षेप और निर्णयप्रसिद्धि का अर्थ।
३२९	अर्थ का वशवर्ती है पद।
३३०-३३३	गुणयुक्त सूत्र की अर्हता।
३३४	कल्प व्यवहार के ग्रहण-योग्य परिषद् की परीक्षा के लिए चौदह दृष्टान्त।
३३५,३३६	मुद्गशैल पर्वत का दृष्टान्त।
३३७	मुद्गलशैल सम शिष्य को सूत्र सिखाने के दोष।
३३८	सूत्र का अव्यवच्छित्तिकारक शिष्य कौन?
३३९-३४२	कुट के आधार पर शिष्यों का ग्रहण और अग्रहण।
३४३-३५२	शिक्षणीय और अशिक्षणीय शिष्य की पात्रता और अपात्रता का विवेचन।
३५३-३५५	चार चतुर्वेदी ब्राह्मण और एक गाय का दृष्टान्त।
३५६-३५९	कृष्ण की चार भेरियां और भेरिपाल।
३६०,३६१	आभीरी का दृष्टान्त और अयोग्य शिष्य।
३६२,३६३	योग्य शिष्य को वाचना न देने और अयोग्य शिष्य को देने से आचार्य को प्राप्त प्रायश्चित्त।
३६४	परिषद् के प्रकार।
३६५	परिषद् का स्वरूप।
३६६	कल्पाध्ययन ग्रहण करने की योग्यता।
३६७,३६८	अजानती परिषद् का स्वरूप।
३६९	दुर्विदग्धा परिषद् के प्रकार।
३७०	किंचित्मात्रग्राही का लक्षण।
३७१,३७२	पल्लवग्राही का लक्षण व दृष्टान्त।
३७३-३७५	मूर्ख आचार्य कैसे?
३७६,३७७	दुर्विदग्ध शिष्य और दुर्विदग्ध वैद्यपुत्र की तुलना।
३७८-३८३	लौकिक पर्षद् के पांच प्रकार व उनका स्वरूप।
३८४	लौकोत्तर पर्षद् की व्याख्या।
३८५,३८६	लौकोत्तर बुद्धिपर्षत् के कार्य।
३८७-३८९	लोकोत्तर मंत्री परिषद् का स्वरूप और शृंगनादित कार्य की व्याख्या।
३९०	संघ के अपराधी को दंड देने का अधिकार संघ को है राजा को नहीं?
३९१	श्रमण-श्रमणियों का शल्योद्धरण करने के लिए चतुःकर्णा आदि राहस्यिकी पर्षद्।
३९२,३९३	श्रमण की गुरु के समक्ष आलोचना करने की विधि।
३९४,३९५	श्रमणी की गुरु के समक्ष आलोचना करने की विधि।
३९६-३९८	आलोचना के समय साथ रहने वाले श्रमण-श्रमणी की योग्यता।
३९९-४०१	कल्प और व्यवहार की वाचना के योग्य छत्रान्तिका पर्षद्।
४०२	बहुश्रुत के प्रकार और स्वरूप।
४०३,४०४	चिर प्रव्रजित के प्रकार और स्वरूप।
४०५	कल्पिक के बारह प्रकार।
४०६	सूत्रकल्पिक का स्वरूप और योग्यता। सर्वश्रुतानुपाती कब? कैसे?
४०७	तीन वर्ष की अपूर्णता पर श्रमण क्या पढ़े?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथा संख्या	विषय
४०८	अर्थ कल्पिक का स्वरूप और योग्यता।
४०९,४१०	उभय कल्पिक का स्वरूप और योग्यता।
४११	उपस्थापना योग्य शिष्य का स्वरूप। अयोग्य शिष्य को उपस्थापना देने पर आचार्य को प्रायश्चित्त।
४१२	षड्जीवनिकाय के पांच अधिकार।
४१३	द्रव्य कल्प के छह प्रकार।
४१४	उपस्थापना कल्प का स्वरूप।
४१५,४१६	विचारकल्पिक का स्वरूप।
४१७	स्थंडिल के अर्थाधिकार।
४१८	अचित्त, सचित्त और मिश्र स्थंडिल के भेद।
४१९	स्थंडिल संबंधी चतुर्भंगी।
४२०-४२४	आपात-असंलोक आदि स्थंडिलों का वर्णन।
४२५-४२९	अस्थंडिलों का उपयोग करने से निष्पन्न प्रायश्चित्त।
४३०-४३७	स्थंडिल भूमी में स्त्री, पुरुष, नपुंसक, पशु आदि के आपात से होने वाले उपसर्ग व उनसे होने वाले दोष।
४३८-४४१	काल और अकाल संज्ञाभूमि में जाने की विधि और प्रायश्चित्त।
४४२-४४४	विशुद्ध संज्ञाभूमी के लक्षण।
४४५	स्थंडिल भूमि के १०२४ भंग।
४४६	औपघातिक स्थंडिल के प्रकार।
४४७	विषम स्थंडिल के दोष।
४४८	स्थंडिल और अस्थंडिल का विवेक।
४४९	विस्तीर्ण व दूरावगाढ़ स्थंडिल का प्रमाण।
४५०	आसन्न स्थंडिल के प्रकार।
४५१	बिल आदि युक्त अस्थंडिलों का उपयोग करने से समुत्पन्न दोष।
४५२-४५५	अविधि पूर्वक अस्थंडिल में व्युत्सर्ग करने से निष्पन्न प्रायश्चित्त।
४५६,४५७	शौचार्थ जाने वाले मुनि के लिए दिशा विवेक और स्थायिका विवेक।
४५८	कृमियुक्त कुक्षि वाले मुनि की उत्सर्ग क्रिया का विवेक।
४५९	शौचार्थी मुनि अपने उपकरण कैसे धारण करे।
४६०	आलोक स्थंडिल के तीन प्रकार।
४६१	छहकाय की विराधना से निष्पन्न प्रायश्चित्त।
४६२-४६९	प्रथम लक्षण स्थंडिल के अपवाद में द्वितीय आदि स्थंडिल की अनुज्ञा तथा वहां जाने की विधि।
४७०	स्थंडिल कल्पिक के स्वरूप का वर्णन।
४७१	पात्र लेप लाने के लिए योग्य कौन?
४७२	पात्र लेप शास्त्रविहित व तीर्थंकरों का उपदिष्ट।
४७३-४७५	लेप ग्रहण में उपघात व होने वाली विराधना।
४७६-४८०	अलेपकृत पात्र से होने वाली विराधना।
४८१-४८७	लेप की अनुज्ञा। लिंपन की यतना और शिष्य द्वारा किए गए प्रश्न और उनका समाधान।
४८८-४९०	पात्र लेप आचार्य की अनुज्ञा से।
४९१-४९६	लेप ग्रहण की विधि।
४९७,४९८	राजा के शकटों से लेप ग्रहण की विधि।
४९९-५०६	अन्य शकटों से लेप ग्रहण की विधि तथा रात्रि संबंधी लेपग्रहण की विधि।
५०७	अमित लेप ग्रहण की अनुज्ञा नहीं।
५०८	लेपग्रहण संबंधी प्रायश्चित्त।
५०९,५१०	लेप ग्रहण करने के पश्चात् गुरु को दिखाकर अन्य मुनियों को आमंत्रण दे।
५११-५१६	पात्र लेपन की विधियां।
५१७-५२०	लेप लिप्त पात्र की परिकर्म विधि।
५२१,५२२	लेपयुक्तपात्र को आतप में रखने की विधि।
५२३	जघन्यतः और उत्कृष्टतः पात्र के कितने लेप?
५२४	'तज्जात लेप' क्या?
५२५	द्विचक्रलेप क्या?
५२६	कौन सा लेप इष्ट? क्यों?
५२७	पात्र लेप का उद्देश्य संयम। सती-असती का दृष्टान्त।
५२८,५२९	नौबंध, स्तेनकबंध तथा जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट लेपों का स्वरूप।
५३०	लेपकल्पित कौन?
५३१,५३२	पिण्डकल्पिक का स्वरूप।
५३३-५३५	उद्गम के अनेक प्रकार और उनके दोष संबंधी प्रायश्चित्त।
५३६	उत्पादन दोष संबंधी प्रायश्चित्त।
५३७	एषणा दोष संबंधी प्रायश्चित्त।
५३८	निक्षिप्त संबंधी प्रायश्चित्त।
५३९	पिहित संबंधी प्रायश्चित्त।
५४०	संयोजना संबंधी प्रायश्चित्त।
५४१	शय्या के प्रकार।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथा संख्या	विषय
५४२,५४३	शय्याकल्प के प्रकार व उनसे निष्पन्न प्रायश्चित्त।
५४४-५५३	वसति को शून्य छोड़ने से उत्पन्न दोष।
५५४-५६४	बाल मुनि को वसतिपाल के रूप में बिठाकर जाने से उत्पन्न होने वाले दोष।
५६५,५६६	वसति की रक्षा के लिए योग्य-अयोग्य का कथन।
५६७-५७९	विविध प्रसंगों में वसति की रक्षा कैसे की जाए। इसका विवेचन।
५८०	शय्याग्रहण कल्पिक कौन?
५८१-५८३	वसति के सात मूलकरण और सात उत्तरकरण।
५८४-५८६	मतान्तर से अन्य उत्तरकरण व उनसे निष्पन्न प्रायश्चित्त।
५८७	वसति के मूलकरण और उत्तरकरण संबंधित चतुर्भंगी।
५८८-५९२	सप्रत्यवाय वसति का स्वरूप और उसमें रहने से प्राप्त होने वाला प्रायश्चित्त।
५९३-६०२	शय्या के नौ प्रकार। उनमें रहने आदि से निष्पन्न प्रायश्चित्त व उनमें रहने की यतना।
६०३-६०५	वस्त्र कल्पिक की परिभाषा।
६०६-६०८	वस्त्रों का स्वरूप, ग्रहण विधि और अविधि से निष्पन्न प्रायश्चित्त।
६०९-६१४	गच्छवासी मुनियों की वस्त्रग्रहण की चार प्रतिमाएं तथा जिनकल्पिक मुनियों की दो प्रतिमाएं और उनका विवेचन।
६१५,६१६	वस्त्र आनयन के योग्य मुनि का कथन।
६१७	वस्त्र ग्रहण के लिए आचार्य जाएं तो प्रायश्चित्त।
६१८	वस्त्र प्राप्ति के लिए गीतार्थ के साथ जाना।
६१९,६२०	गमन से पूर्व कायोत्सर्ग क्यों? और उसकी संपन्नता का निर्देश।
६२१,६२२	कायोत्सर्ग आदि पदों में अविधि करने पर प्रायश्चित्त।
६२३	वस्त्र ग्रहण से पहले पूरी पृच्छा न करे तो दोष।
६२४,६२५	पृच्छा करने के कारण।
६२६-६२८	प्रक्षेपक दोष किन-किन स्थानों में।
६२९	प्रक्षेपण और निक्षेपण में अंतर।
६३०	छिन्न और अच्छिन्न निक्षेपण में विवेक।
६३१	दूर देश में चले गए साधु के स्थापित वस्त्र परिष्ठापनीय।
६३२-६४२	ये वस्त्र किसके हैं? इस प्रश्न को सुन द्रमक दुर्भग, भ्रष्ट आदि के मन में उत्पन्न अप्रीति व उसको उपशांत करने का उपाय।
६४३-६४७	पृच्छा से शुद्ध वस्त्र ग्रहण की अनुज्ञा।
६४८	प्राप्त वस्त्रों का विभाजन कैसे?
६४९-६५२	द्रव्य पात्र व भाव पात्र के प्रकार।
६५३	पात्र ग्रहण और कारण में विपर्यास होने पर प्रायश्चित्त।
६५४	पात्र गवेषणा की चार प्रतिमाएं।
६५५	तीन प्रकार के पात्रों का स्वरूप।
६५६	उज्झित पात्रों के चार प्रकार।
६५७	क्षेत्रोज्झित पात्र का स्वरूप।
६५८	कालोज्झित पात्र का स्वरूप।
६५९	भावोज्झित पात्र का स्वरूप।
६६०	पात्र के उत्पादन (प्राप्ति) विषयक आठ पृच्छाएं।
६६१	दृष्ट और रिक्त पात्र ग्रहण योग्य।
६६२	कृतमुख और वहमानक पात्र ग्रहण योग्य।
६६३	प्रासुक अन्न आदि से संसृष्ट व आर्द्र तथा गृही द्वारा उत्क्षिप्त पात्र ग्रहण योग्य।
६६४	प्रकाशमुख वाला पात्र ग्राह्य।
६६५-६६७	तीन बार प्रस्फोटन किया गया पात्र शुद्ध तथा प्रस्फोटन की विधि।
६६८	पात्र के मूलगुण और उत्तरगुण की चतुर्भंगी।
६६९	अवग्रह के पांच प्रकार।
६७०	कौन सा अवग्रह बलीयान्।
६७१	प्रत्येक आग्रह के चार-चार प्रकार। इनमें भी क्षेत्र की प्रधानता।
६७२-६७६	अवग्रह के स्वामित्व का चिंतन।
६७७,६७८	विभिन्न अवग्रहों में जघन्य और उत्कृष्ट का विवेचन।
६७९,६८०	गृहपति द्वारा सारे अवग्रह की अनुज्ञा देने पर भी मुनि सीमा का निर्धारण करे।
६८१	द्रव्यावग्रह का कथन।
६८२,६८३	देवेन्द्र आदि अवग्रह का कालमाण।
६८४	भावावग्रह का स्वरूप।
६८५	भावावग्रह के दो प्रकार।
६८६	ज्ञात और अज्ञात अवग्रह का विवेक।
६८७	इक्कड, कढिण आदि के संस्तारक ग्रहण करने पर प्रायश्चित्त।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथा संख्या	विषय
६८८	दो प्रकार के विहार की अनुज्ञा।
६८९-६९१	गीतार्थ की योग्यता व गीतार्थ कौन?
६९२	निश्रा का विवेक
६९३	जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट गीतार्थ का स्वरूप।
६९४,६९५	एकल विहार के दोष और उससे निष्पन्न प्रायश्चित्त।
६९६,६९७	एकल विहार के लिए मंद कौन?
६९८-७०२	एकाकी विहार के दोष।
७०३,७०४	अबहुश्रुत और अगीतार्थ को गच्छ का भार सौंपने पर प्रायश्चित्त।
७०५-७०७	गणदायक तथा गणधारक की चतुर्भंगी व उससे निष्पन्न प्रायश्चित्त विधि।
७०८	आचार्य की योग्यता का कथन।
७०९	प्रायश्चित्त का करणत्रय और योगत्रय से परिहार करने वाला कौन?
७१०	छेद प्रायश्चित्त के दो प्रकार और उनकी व्याख्या।
७११	मूल आठवां प्रायश्चित्त तथा छेद और मूल में भेद।
७१२	अनवस्थाप्य और पारांचिक से प्रायश्चित्त दस प्रकार का।
७१३,७१४	सुलभ बोधि कौन?
७१५	शिष्य का प्रश्न–बारह कल्प में उत्सारकल्प का उल्लेख क्यों नहीं?
७१६	उत्सारकल्पिक में होने वाले दोष।
७१७	उत्सारवाचक के कारण जिनशासन की अपभ्राजना। उत्सारवाचक आचार्य की घटना।
७१८	उत्सारकल्पिक की अज्ञानता।
७१९-७२३	उत्सारकल्पिक के लगनेवाली योग विराधना का कथन तथा सियार का दृष्टान्त।
७२४	उत्सारारूपकृत आचार्य से होने वाले दोष।
७२५	वाचक पद की हीलना कब और कैसे?
७२६	उत्सारकल्पिक के अनन्त जन्म-मरण निमित्तभूत कर्मरजों का बंधन।
७२७,७२८	क्रमपूर्वक सूत्र का अध्ययन करने से लाभ।
७२९-७३१	उत्सार कल्प है ही नहीं तो लाभ कहां से आया? शिष्य का प्रश्न और उसका समाधान।
७३२	उत्सारणा कल्प करा सकने की अर्हता किसमें?
७३३-७३६	उत्सार कल्प के योग्य कौन?
७३७,७३८	अन्य मत के आधार पर उत्सार कल्पिक के गुण।
७३९	गुणों से रहित को उत्सारकल्प करवाने वाले आचार्य को प्रायश्चित्त।
७४०	उत्सार कल्प करवाने का कारण।
७४१	उत्साकल्प मुनि की वस्त्रैषणा कैसे?
७४२	एक व्यक्ति अनेक व्यक्तियों के पुण्य का हनन कर सकता है। रक्तपट भिक्षु का उदाहरण।
७४३	वस्त्रों का उत्पादन कैसे?
७४४	दृष्टिवाद का उत्सार क्यों?
७४५,७४६	उत्सारकल्प में स्वाध्यायिकी की काल-मर्यादा।
७४७-७५०	उत्सारकल्पिक को आचार्य किस प्रकार की सुविधा दे? इसका विवेचन।
७५१	चंचल के चार प्रकार।
७५२	गति चंचल की व्याख्या तथा स्थान चंचल के प्रकार।
७५३,७५४	भाषा चंचल के प्रकार और व्याख्या।
७५५	भाव चंचल की व्याख्या।
७५६	किन कारणों से चारों चंचलताएं विहित?
७५७,७५८	अनवस्थित के दो प्रकार और विवेचन।
७५९	मेधावी के तीन प्रकार।
७६०	परिश्रावी और अपरिश्रावी का कथन। अमात्य और बटुकी का दृष्टान्त।
७६१	ज्ञायक और विनीत को सूत्र की वाचना न देने पर प्रायश्चित्त।
७६२,७६३	छेदसूत्र के अर्थ के लिए अयोग्य?
७६४-७६६	द्रव्य और भाव तिन्तिणिक के प्रकार और व्याख्या।
७६७	चलचित्त का विवेचन।
७६८	गाणंगणिक की व्याख्या व उससे निष्पन्न प्रायश्चित्त।
७६९	दुर्बल चारित्री की व्याख्या।
७७०	परिभाषी आचार्य का विवेचन।
७७१	मंदधर्मा श्रमण अपवादपद की स्पृहा करता है।
७७२,७७३	आचार्य का परिभव करने वाले शिष्य के दो प्रकार और उनकी व्याख्या।
७७४	वामावर्त्त की व्याख्या।
७७५	पिशुन की व्याख्या तथा उससे निष्पन्न प्रायश्चित्त।
७७६	आदिम अदृष्टभाव की व्याख्या।
७७७,७७८	सामाचारी के दो प्रकार और उनकी व्याख्या।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथा संख्या	विषय
७७९	अर्थमंडली की विधि। शिष्य का प्रश्न ज्येष्ठ कौन? इसका समाधान।
७८०	मंडली की विधि को वितथ करने पर प्राप्त प्रायश्चित्त।
७८१,७८२	आगमों के लिए तरुणधर्मा कौन? तरुणधर्मार्य का विवेचन।
७८३	गर्वित की व्याख्या।
७८४,७८५	प्रकीर्णप्रज्ञ का स्वरूप।
७८६,७८७	निह्नवी का स्वरूप।
७८८,७८९	तिन्तिणिक आदि को सूत्रार्थ देने पर प्रायश्चित्त।
७९०	क्षेत्र, काल और पुरुष का भलीभांति जानकर ही गुह्य का प्रकाशन।
७९१	अनुज्ञात और अननुज्ञात के आधार पर चतुर्भंगी।
७९२	परिणामक,अपरिणामक और अतिपरिणामक–तीनों में प्रतिषेध किनका?
७९३	परिणामक का स्वरूप।
७९४	अपरिणामक का स्वरूप।
७९५	अतिपरिणामक का स्वरूप।
७९६-८०२	मति के आधार पर तीनों का स्वभाव व आम्र के दृष्टांत के आधार पर उनकी परीक्षा।
८०३,८०४	सुनने की कला।
८०५	कल्प और व्यवहार की वाचना किनको? कब?

पहला उद्देशक

तालपलंब पदं

सूत्र १

गाथा संख्या	विषय
८०६	निर्ग्रन्थ कौन?
८०७	सूत्र में स्थित 'नो कप्पई' का विवेचन।
८०८	प्रलंब क्या?
८०९,८१०	सारी अनुज्ञा मंगल नहीं, सारा प्रतिषेध अमंगल नहीं। इसका विवेचन।
८११	सूत्र मांगलिक ही है।
८१२	सूत्र दर्पण के समान मंगल रूप।
८१३	सूत्र में यदि सर्व निषेध हो तो शिष्य की कल्पना सही।
८१४	प्रतिषेध के छह निक्षेप।
८१५	नोकार से प्रतिषेध करने का कारण।
८१६	प्रतिषेधक में चार वर्णों की व्याख्या।
८१७	प्रतिषेधक वर्णों का निदर्शन।
८१८	नकार से प्रतिषेध का ज्ञान।
८१९,८२०	संयोग, समवाय, सामान्य और विशेष चार प्रकार के नकार का विवेचन।
८२१	अकार और नोकार से केवल वर्तमान काल का ही प्रतिषेध।
८२२	'नोकार' शब्द का औचित्य।
८२३	भाव ग्रंथ के प्रकार।
८२४	सग्रंथ और निर्ग्रन्थ का विवेक।
८२५	बाह्य ग्रंथ के दस प्रकार।
८२६,८२७	क्षेत्र, वास्तु का विवेचन।
८२८	धन, धान्य और संचय का विवेचन।
८२९	मित्र, ज्ञाति तथा संयोग का विवेचन।
८३०	यान, आदि बाह्य ग्रंथ का विवेचन।
८३१	चौदह प्रकार का आभ्यन्तर ग्रंथ।
८३२	निर्ग्रन्थ कहलाने का कारण।
८३३-८३५	उपशमश्रेणी में कौन?
८३६	सराग संयमी निर्ग्रन्थ कैसे?
८३७	निष्कषायी कौन?
८३८	मुनि उपकरण आदि ग्रहण करते हुए भी बाह्य ग्रंथ से मुक्त कैसे?
८३९	'आम' शब्द के निक्षेप।
८४०	द्रव्य आम का विवेचन।
८४१-८४३	पर्याय आम के प्रकार व विवेचन।
८४४-८४६	भाव आम के प्रकार और उनका विवेचन।
८४७,८४८	ताल शब्द के चार निक्षेप तथा विवेचन।
८४९	प्रलंब के चार निक्षेप तथा विवेचन।
८५०	ताल, तल और प्रलंब का स्वरूप।
८५१	मूल प्रलंब के उदाहरण।
८५२	अग्र प्रलंब के उदाहरण।
८५३-८५७	शिष्य द्वारा प्रश्न–मूल तथा अग्र प्रलंब का प्रतिषेध है तो क्या शाखा आदि लेना कल्पता है या नहीं? आचार्य द्वारा समाधान।
८५८	भिन्नपद के चार निक्षेप।
८५९,८६०	भाव और द्रव्य के भिन्न-अभिन्न के आधार पर चतुर्भंगी।
८६१	भंगों के आधार पर प्रायश्चित्त।
८६२	परीत्त प्रलंग और अनन्तकायिक प्रलंब ग्रहण में प्रायश्चित्त का विवेक।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथा संख्या	विषय
८६३,८६४	प्रलंब प्राप्ति के प्रकार।
८६५-८७१	द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आधार पर वसतिवाले प्रदेश में प्रलंब आदि ग्रहण के प्रायश्चित्त।
८७२,८७३	कोट्टक क्या? प्रलंब ग्रहण के लिए जाते हुए चार पदों से सोलह भंगों की रचना।
८७४,८७५	सोलह भंगों में शुद्ध अशुद्ध का विवेक।
८७६	पुष्ट आलंबन में अशुद्ध भंग भी शुद्ध।
८७७-८८०	सोलह भंगों में यथायोग्य प्रायश्चित्त का निरूपण।
८८१-८८४	कोट्टकादि में अकेले मुनि के जाने से होने वाली आत्मविराधना व उससे निष्पन्न प्रायश्चित्त।
८८५-८८९	सहायक के भेद तथा इनके साथ जाने पर निष्पन्न प्रायश्चित्त।
८९०	अरण्य तथा अन्यत्र ग्रहण की तरह तत्र ग्रहण में भी प्रायश्चित्त।
८९१	तत्रग्रहण के प्रकार तथा उनके भेद।
८९२-८९४	सपरिग्रह के तीन प्रकार तथा इनका स्वरूप।
८९५-९०३	प्रलंबयुक्त आराम के भद्र या प्रान्त स्वामी का मुनि के प्रति व्यवहार तथा उससे निष्पन्न प्रायश्चित्त।
९०४,९०५	बिना आज्ञा प्रलंब ग्रहण करने पर मुनि की होने वाली प्रताड़ना और तद्जन्य प्रायश्चित्त।
९०६	आराम के विविध स्वामी।
९०७	सचित्त प्रलंब के विषय में प्रक्षेपण, आरोहण और पतन ये द्वार पूर्ववत्।
९०८,९०९	सचित्त के प्रकार तथा हस्त प्रास प्रलंग को वृक्ष से तोड़ने से निष्पन्न नाना प्रायश्चित्त।
९१०	काष्ठ या पत्थर फेंक कर प्रलंब गिराने से निष्पन्न प्रायश्चित्त।
९११-९१३	प्रक्षेपण से षट्कायविराधना।
९१४	प्रलंब के लिए प्रक्षेपण आदि करता हुआ मुनि षट्काय विराधक क्यों?
९१५	क्षेपण संबंधित दोष।
९१६-९१८	वृक्ष पर आरोहण करने से उत्पन्न दोष व प्रायश्चित्त।
९१९,९२०	प्रान्त प्रलंब स्वामी द्वारा मुनि के वस्त्रों का अपहरण तथा तद्जन्य दोष और प्रायश्चित्त।
९२१-९२३	प्रलंब स्वामी द्वारा पकड़ लिए जाने पर होने वाले दोष व उनसे निष्पन्न प्रायश्चित्त।
९२४	आज्ञाभंग गुरुतर दोष कैसे?
९२५-९२७	निषिद्ध परिहार न करने वाले मुनि का संसार में सर्वस्व विनाश। इस विषयक राजा का दृष्टान्त।
९२८,९२९	अकार्य में प्रवृत्त कौन?
९३०	प्रलंब सेवी मुनि असंयम से स्पृष्ट।
९३१	प्रलंब सेवी ज्ञानी होते हुए भी अज्ञानी।
९३२	ज्ञान के अभाव में न दर्शन और न चारित्र।
९३३	वनस्पति का आदि कौन?
९३४,९३५	बीजसेवी आत्मवधक कैसे?
९३६	प्रलंब ग्रहण से प्रायश्चित्त किसको? शिष्य का प्रश्न। आचार्य का समाधान।
९३७	सारणा रहित गण निस्सार।
९३८	गच्छ की सारणा से विकल गणी का परित्याग।
९३९	किस राज्य की प्रजा उच्छृंखल?
९४०	सात व्यसनों का कथन।
९४१,९४२	गच्छ की सारणा संबंधी चतुर्भंगी और उनमें शुद्ध अशुद्ध का विवेक।
९४३	लौकिक और लोकोत्तर सार का कथन।
९४४	कार्य सिद्ध न होने के कारण।
९४५-९४९	उपाय से कार्य की संपत्ति और अनुपाय से कार्य की विपत्ति का निदर्शन पूर्वक विवेचन।
९५०	काल की हीनता या अधिकता से कार्य करने वाला गीतार्थ भी दोषी।
९५१	कालकारी गीतार्थ के विशिष्ट गुण।
९५२,९५३	गीतार्थ प्रतिसेवना क्यों करता है? तद्विषयक उसका चिंतन।
९५४	प्रतिसेवना सकारण या निष्कारण कैसे?
९५५	वस्तु और अवस्तु कौन? वस्तुभूत ही प्रतिसेवना के अधिकारी।
९५६	शक्ति के दो प्रकार तथा 'परिरय' का अर्थ।
९५७	इहलोक फल और परलोक फल का स्वरूप।
९५८	ओजा कौन व उसके प्रकार।
९५९	गीतार्थ महावैद्य की तरह श्लाघ्य।
९६०,९६१	क्या गीतार्थ तीर्थंकर और केवली के तुल्य होता है? शिष्य का प्रश्न और आचार्य का समाधान।
९६२	गीतार्थ के ज्ञान की आंशिक तुलना केवली से।
९६३	श्रुतकेवली तथा सर्वज्ञ प्रज्ञप्ति-प्रज्ञापना में तुल्य।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथा संख्या	विषय
९६४	अप्रज्ञापनीय भाव और प्रज्ञापनीय भावों का अल्पबहुत्व।
९६५	चतुर्दशपूर्वधर परस्पर षट्स्थानवर्ती।
९६६	श्रुतकेवली और केवलज्ञानी तुल्य कैसे? तथा श्रुतकेवली प्रकाशन किससे करते हैं?
९६७-९७२	अनन्त कायिक वनस्पति के लक्षण तथा परीत्तजीवी वनस्पति के लक्षण।
९७३,९७४	लवण आदि पदार्थ अचित्त कब? कैसे?
९७५	परिणमन के कारण।
९७६	वनस्पति प्रकरण में लवण आदि का ग्रहण क्यों? शिष्य का प्रश्न आचार्य का समाधान।
९७७	आहार की निष्पति में केवल वनस्पति का ही उल्लेख क्यों?
९७८,९७९	उदकयोनिक उदक में, उष्णयोनिक आतप में चिरकाल तक सचित्त।
९८०	पत्र आदि जीव विप्रमुक्त होने की पहचान।
९८१	ग्रहण और प्रक्षेपण की चतुर्भंगी।
९८२	तुल्य जीवों के घात पर अलग-अलग प्रायश्चित्त क्यों?
९८३,९८४	समाधान और म्लेच्छ दृष्टान्त।
९८५	प्रायश्चित्त पृच्छा आदि की द्वार गाथा।
९८६,९८७	अनन्त वनस्पति और परीत्त वनस्पति में प्रायश्चित्त की भिन्नता क्यों?
९८८	प्रशस्त और अप्रशस्त कौटुंबिक दृष्टान्त।
९८९,९९०	भिन्न प्रलंब ग्रहण में क्या दोष?
९९१,९९२	कन्यान्तःपुर रक्षक का दृष्टान्त।
९९३	देवद्रोणी दृष्टान्त।
९९४	प्रलंब एषणीय न मिलने पर अनेषणीय का ग्रहण। मद्यप का दृष्टान्त।
९९५	प्रलंब ग्रहण वर्जनीय क्यों?
९९६	सभी धर्म अनुगुरु किन्तु देशसाधर्म्य से।
९९७-९९९	प्रवचन अनुधर्म ही आचरणीय है। भगवान् महावीर की घटना का उल्लेख।
१०००	यही समूचा गम-प्रकार नियमतः साध्वियों के लिए।

सूत्र २

१००१	**'कल्पते भिन्नम्'** का विवेचन।
१००२	कारणिक सूत्र रचना और कारण।
१००३,१००४	पूर्वसूत्र में प्रलंबग्रहण प्रतिषिद्ध फिर इस सूत्र में कल्पनीय कैसे? शिष्य द्वारा प्रश्न।
१००५,१००६	दृष्टान्त से अर्थसिद्धि क्यों? आचार्य का समाधान।
१००७	अर्थ की स्पष्टता दृष्टान्त के द्वारा।
१००८,१००९	शिष्य द्वारा प्रस्तुत दृष्टान्त से उसी का समाधान।
१०१०	प्रलंब सेवन अहितकर कब?
१०११	बिना दृष्टान्त अर्थ का निर्णय संभव नहीं।
१०१२-१०१६	मरुक दृष्टान्त।
१०१७	मरुक दृष्टान्त का उपनय।
१०१८	ऊर्ध्वदर के प्रकार व ऊर्ध्वदर और सुभिक्ष की चतुर्भंगी।
१०१९,१०२०	अध्वप्रतिपन्न होने के आगाढ़ कारण।
१०२१,१०२२	अध्वकल्पस्थिति की जानकारी देनी आवश्यक। न देने पर आचार्य आदि को प्रायश्चित्त।
१०२३	ग्लानत्व के प्रकार।
१०२४	रोग और आतंक में अंतर।
१०२५,१०२६	आगाढ़ और अनागाढ़ ग्लानत्व में ग्रहण अग्रहण का विवेक।
१०२७	वैद्य विषयक द्वार गाथा।
१०२८	आठ प्रकार के वैद्य व रोग का प्रतिकार पूछने के लिए वैद्य के पास जाने की विधि।
१०२९	रोगों के प्रतिकार में प्रयुक्त द्रव्य।
१०३०	अपरिणामक भिक्षु को समझाने के लिए भंडी और पोत की उपमा।
१०३१,१०३२	वैद्य द्वारा निर्दिष्ट आलेप ग्रहण करने की विधि।
१०३३	निर्ग्रंथिनीयों के लिए भी यही गम-प्रकार।

सूत्र ३-५

१०३४	पक्व के चार निक्षेप।
१०३५	भाव पक्व की व्याख्या।
१०३६	पक्व ग्रहण श्रमणों के लिए दोषप्रद।
१०३७	प्रस्तुत सूत्र तीसरे और चौथे भंग के प्रसंग में है।
१०३८-१०४०	श्रमणियों के लिए अविधि भिन्न या भिन्न प्रलंब ग्रहण का निषेध तथा उसके छह भंग।
१०४१,१०४२	श्रमणियों के भंगानुसार प्रायश्चित्त।
१०४३,१०४४	प्रलंब सूत्र का कथन न करने व उसको स्वीकार न करने पर प्रायश्चित्त।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथा संख्या	विषय
१०४५	श्रमणियों के महाव्रतों के विषय में शिष्य की पृच्छा।
१०४६	जैन परंपरा में श्रमण-श्रमणियों के महाव्रत का तुल्य निर्देश।
१०४७	दोनों वर्गों में मैथुन की भावना का उद्भव करने वाली वस्तु का प्रतिषेध।
१०४८	दोनों वर्गों में प्रतिषिद्ध वस्तुओं का भिन्न-भिन्न निर्देश।
१०४९	निदान (कारण) का परिहार आवश्यक।
१०५०	स्त्री और पुरुष के मोहोद्भव में रस, गंध की तुल्यता तथा शब्द, रूप और स्पर्श में भजना।
१०५१	कौतूहली रानी का दृष्टान्त।
१०५२	अभिन्न तथा अविधि भिन्न प्रलंब ग्रहण करने पर श्रमणियों को प्राप्त प्रायश्चित्त।
१०५३,१०५४	पादकर्म व हस्तकर्म करने से उत्पन्न होने वाले दोष।
१०५५	अविधिभिन्न तथा विधिभिन्न की प्ररूपणा।
१०५६	अविधिभिन्न और अभिन्न प्रलंब के दोषों में समानता।
१०५७	विधिभिन्न प्रलंब का ग्रहण भी केवल कारणिक।
१०५८	तीन कारणों का कथन।
१०५९	प्रलंब ग्रहण का कल्प।
१०६०	तोसली में भिन्न तथा अभिन्न प्रलंब ग्रहण करने का कल्प।
१०६१	देश के दो प्रकार और तोसली में प्रलंब अत्यधिक क्यों?
१०६२	सहिष्णु और भीत परिषद् की चतुर्भंगी।
१०६३	श्रमणियों के परिपालन का निर्देश।
१०६४,१०६५	अवमौदर्य के समय साध्वियों की व्यवस्था कैसे की जाए?
१०६६	विधिभिन्न प्रलंब की अप्राप्ति में स्थविरा साध्वी द्वारा करणीय कल्प।
१०६७	तरुण श्रमणियों को भिन्न प्रलंब ही क्यों?
१०६८-१०७४	त्रिविध गण (संयत, संयती तथा तदुभय) द्वारा परिगृहीत क्षेत्र में यतना का विवेक और विवेचन।
१०७५	स्वग्राम तथा परग्राम में ग्रहण करने की विधि।
१०७६	प्रमाण प्राप्त आहार का परिमाण।
१०७७-१०७९	शुद्ध ओदन आदि अप्राप्ति में प्रलंब ग्रहण की विधि।
१०८०,१०८१	पूर्वाचार्यों द्वारा गृहीत धान्य, फल आदि का ग्रहण कल्पनीय।
१०८२	अशस्त्रोपहत पृथुक अनाचीर्ण।
१०८३	मिश्रोपस्कृत, निर्मिश्रोपस्कृत के ग्रहण की विधि।
१०८४	आधाकर्म संबंधी दो आदेश।
१०८५	दोनों वर्गों के लिए प्रलंब ग्रहण विधि समान।

मासकप्प पदं

सूत्र ६

१०८६,१०८७	प्रस्तुत सूत्र में वसति विधि का वर्णन।
१०८८	सूत्रगत **'से' 'वा'** का अर्थ।
१०८९	नगर, खेट, कर्बट और मडंब की व्याख्या।
१०९०	पत्तन के प्रकार तथा द्रोणमुख की व्याख्या।
१०९१	निगम, राजधानी, आश्रम तथा निवेश की व्याख्या।
१०९२	संबोध, घोष, अंशिका आदि की व्याख्या।
१०९३	पुटभेदन की व्याख्या।
१०९४	ग्राम शब्द के नौ निक्षेप।
१०९५	कौन सा नय किस ग्राम को द्रव्य ग्राम कहता है? इसका समाधान तथा शब्द नय के तीन विकल्प।
१०९६-११००	ग्राम की व्याख्या के विविध नय।
११०१	ऋजुसूत्र नय के अनुसार ग्राम शब्द की व्याख्या।
११०२-११०८	ग्राम संस्थान के बारह प्रकार तथा उनकी व्याख्या।
११०९-१११	संस्थानों की व्याख्या के अनेक नय।
१११२	भूतग्राम आतोद्यग्राम के विविध भेद।
१११३	मातृग्राम तथा भावग्राम का विवेचन।
१११४	भावग्राम कौन-कौन से?
१११५	तीर्थंकर भावग्राम क्यों?
१११६	क्या सम्यक्दृष्टि परिगृहीत प्रतिमा भी भाव ग्राम है?
१११७,१११८	प्रतिमा को भावग्राम मानने पर निह्नवों को भावग्राम माने? शिष्य द्वारा प्रश्न। आचार्य द्वारा समाधान।
१११९	प्रस्तुत सूत्र में ग्राम का कौन सा अधिकार?
११२०	ग्राम पद की प्ररूपणा करने पर अनुपूर्वी से नगर आदि की प्ररूपणा करनी आवश्यक।
११२१	परिक्षेप पद के छह निक्षेप।
११२२	द्रव्य परिक्षेप के तीन प्रकार व उनकी व्याख्या।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथा संख्या	विषय
११२३	अचित्त द्रव्य परिक्षेप तथा क्षेत्र परिक्षेप के उदाहरण।
११२४	काल परिक्षेप नगर कौनसा?
११२५	भाव परिक्षेप नगर कैसे?
११२६	मास शब्द के छह निक्षेप।
११२७-११३०	द्रव्य मास आदि भाव मास पर्यन्त मासों का स्वरूप।
११३१	जिनकल्पिक आदि श्रेणियों के मासकल्प संबंधी विधि में नानात्व।
११३२	जिनकल्पिक कल्प की द्वार गाथा।
११३३	प्रव्रज्या कौन ग्रहण करता है?
११३४,११३५	धर्म क्या? कथन कौन करता है? शिष्य द्वारा प्रश्न आचार्य का समाधान।
११३६,११३७	भव्य रूपी कमल विकस्वर, अभव्य रूपी कुमुद अवबुद्ध नहीं।
११३८	धर्म और धर्मोपदेष्टा का व्युत्क्रम क्यों? प्रश्न का समाधान।
११३९	धर्म सुनाने का क्रम। व्युत्क्रम से सुनाने पर प्रायश्चित्त।
११४०,११४१	व्युत्क्रम से सुनाने के दोष।
११४२	यति धर्म का प्रतिपादन क्यों? उसकी उपयोगिता।
११४३	प्रव्रजित व्यक्ति के लिए शिक्षा तथा उसके दो प्रकार।
११४४-११४८	शिष्य को गुरु के द्वारा शिक्षा की प्रेरणा। संयममार्ग के लिए शिक्षा के प्रयोजन की क्या आवश्यकता? शिष्य के द्वारा जिज्ञासा आचार्य के द्वारा दृष्टान्तपूर्वक समाधान।
११४९-१०५३	गुरु की विद्यमानता में श्रुतग्रहण करने से क्या लाभ? विविध दृष्टान्तों के द्वारा ज्ञान क्रिया की सिद्धि का प्रतिपादन।
११५४-११५९	श्रुत तीसरा चक्षु क्यों? अनेक दृष्टान्तों से आचार्य द्वारा समाधान।
११६०,११६१	आगम अध्ययन क्यों करना चाहिए?
११६२	श्रुत अध्ययन से अष्ट गुणों की प्राप्ति का निर्देश।
११६३	भवसागर में परिभ्रमण का हेतु—श्रुत साधना का अनभ्यास।
११६४	आत्महित के परिज्ञान की आवश्यकता क्यों?
११६५	श्रुत का जिज्ञासु किन गुणों से समाहित होता है?
११६६-११७०	भाव, संवर, संवेग, संयम मार्ग की निष्कम्पता, स्वाध्याय रूप तप की वृद्धि, तथा निर्जरा से फलित का निर्देश।
११७१	परदेशकत्व के गुण।
११७२,११७३	जिनकल्पिक का कालमान? उसका ज्ञान कैसे? शिष्य का धूलीदृष्टान्त तथा चिक्खलदृष्टान्त के द्वारा प्रतिवाद।
११७४,११७५	परम्परा से आने वाले श्रुत की परिहानि कैसे? आचार्य द्वारा उसका समाधान।
११७६-११८०	समवसरण की रचना कहां, कब, कैसे और कौन करते हैं? उसका वर्णन।
११८१	समवसरण रचना में भिन्न-भिन्न देवेन्द्रों की भूमिका।
११८२,११८३	समवसरण में तीर्थंकरों गणधरों के प्रवेश की विधि तथा उनके बैठने आदि की व्यवस्था। तीनों दिशाओं में देवकृत प्रतिरूपक।
११८४	तीनों दिशाओं में तीर्थंकर के रूप की अनुकृति का वर्णन।
११८५-११८८	तीर्थंकर और गणधरों के पश्चात् अतिशायी मुनि, वैमानिक देवियां आदि के बैठने, खड़े रहने का क्रम।
११८९	समवसरण में विभिन्न देवों के पारस्परिक व्यवहार का वर्णन तथा ईर्ष्या, मत्सर भाव, भय, संत्रास यंत्रणा, विकथा आदि का अभाव।
११९०	समवसरण में तिर्यञ्च, यान-वाहन आदि की व्यवस्था का वर्णन।
११९१	तीर्थंकर की धर्मदेशना का प्रयोजन और उसका प्रभाव।
११९२	सामायिक के चार प्रकार। चार गतियों में कौन प्राणी कौनसी सामायिक ग्रहण करता है? देवों में सम्यक्त्व प्रतिपत्ति का नियम।
११९३	धर्मदेशना से पूर्व तीर्थंकर का तीर्थ को नमस्कार तथा धर्मदेशना का लाभ।
११९४	तीर्थंकर द्वारा तीर्थ को प्रणाम करने का हेतु तथा तीर्थंकर नामगोत्र कर्म के वेदन का उपाय।
११९५	समवसरण को देखने की इच्छा से श्रमण के आने की मर्यादा तथा नहीं आने पर प्रायश्चित्त का विधान।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथा संख्या	विषय
११९६-१२००	तीर्थंकर की रूप संपदा तथा संहनन आदि की देव, गणधर आदि के साथ तुलना।
१२०१-१२०३	तीर्थंकर के सर्वोत्कृष्ट रूप प्राप्ति का कारण। सभी श्रोता प्राणियों के संशय की एक साथ व्युच्छित्ति करने का उपाय। क्रमपूर्व व्याकरण दोष के निवारण के लिए युगपद् व्याकरण का कथन तथा उसके गुण।
१२०४-१२०६	तीर्थंकर की एक ही भाषा का भिन्न-भिन्न भाषाओं में परिणमन कैसे? श्रोता पर उसका प्रभाव कैसा?
१२०७-१२१०	भगवान् के विहरण संबंधी तथा आगमन संबंधी सूचना देने वालों को चक्रवर्ती आदि के द्वारा प्रीतिदान तथा उसके गुण।
१२११,१२१२	देवमाल्य बलि का विधान।
१२१३,१२१४	बलि का कौनसे द्वार से प्रवेश। भगवान् को बलि उपहृत करने का विधान। देवता आदि पौरजनों द्वारा बलि लेने की विधि। बलि लेने का लाभ।
१२१५-१२१७	तीर्थंकर के धर्मदेशना करने का काल और गणधर के धर्मदेशना का काल। गणधर की धर्मदेशना का लाभ और गुण।
१२१८-१२२०	तीर्थंकर के समीप अध्ययन करने में व्याक्षेप और अर्थग्रहण की नियमा।
१२२१-१२२५	सूत्र के प्रकार। सूत्र-अर्थ की ज्ञप्ति होने पर देशाटन का प्रयोजन क्यों? आचार्यपद के योग्य व्यक्ति को देशदर्शन की नियमा।
१२२६-१२३१	देश दर्शन के विविध गुण और उनका विस्तार।
१२३२,१२३३	आचार्य की पर्युपासना से लाभ।
१२३४	भव्य आचार्य का देशदर्शन से लाभ।
१२३५-१२४०	अतिशय के प्रकार और देवदर्शन का महत्त्व।
१२४१,१२४२	द्वार गाथा का वर्णन।
१२४३-१२४९	वर्षावर्जविहारी, सत्पुरुष, विद्यापुरुष और निपुण व्यक्तियों के लक्षण।
१२५०-१२५३	भावी आचार्य की श्लाघ्यता क्यों? उपसंपदा की व्याख्या के तीन प्रकार तथा उपसंपदा किसको, कब और उसका निषेध कब?
१२५४-१२६२	आत्मतुला के चार प्रकार। परतुला के चार प्रकार। पुत्रवधू दृष्टान्त द्वारा प्रतीच्छकों को प्रतिबोध।

गाथा संख्या	विषय
१२६३-१२६७	संविग्न के दो प्रकार। आलोचना कब तथा आचार्य के द्वारा सामाचारी का कथन।
१२६८,१२६९	प्रतिस्मारणा का स्वरूप।
१२७०-१२७४	प्रमाद का दंड। प्रमादाचरण से उपरत होने पर गच्छ से बहिष्कार तथा विनीत शिष्यों द्वारा आचार्य के प्रति विनय का प्रयोग।
१२७५-१२७९	प्रमादी साधुओं के प्रति स्मारणाकरण से क्या प्रयोजन? शिष्यों को स्थिर करने के लिए राजा का दृष्टान्त और स्मारणा कब?
१२८०-१२८२	जिनकल्प स्वीकार करने से पूर्व आचार्य की आत्महित के लिए विचारणा आवश्यक।
१२८३,१२८४	अभ्युद्यत विहार के तीन प्रकार तथा अभ्युद्यतमरण के तीन प्रकार। पहले किसका स्वीकरण।
१२८५-१२८८	गण का निक्षेप इत्वरिक क्यों? इसका समाधान तथा जिनकल्प धारण करने की अर्हता का वर्णन।
१२८९-१२९२	भावना से भावित आत्मा के गुण तथा भावना के प्रकार।
१२९३-१३२७	संक्लिष्ट भावनाओं के प्रकार तथा व्याख्या और उनके फल।
१३२८-१३५७	प्रशस्त भावनाओं के प्रकार तथा उनकी व्याख्या।
१३५८-१३७७	जिनकल्पी बनने से पूर्व उसकी चर्या, स्वीकरणविधि, नवीन आचार्य की स्थापना तथा उसे शिक्षा। श्रमण संघ से क्षमायाचना आदि।
१३७८-१४१२	सामाचारी के प्रकार तथा जिनकल्पिक मुनि की कौन सी सामाचारी? २७ द्वारों से जिनकल्पिक मुनि का विस्तार से वर्णन।
१४१३-१४२४	जिनकल्पी मुनियों की स्थिति का १९ द्वारों से वर्णन।
१४२५-१४४५	शुद्ध परिहारिक और यथालंदिक मुनियों की जीवनचर्या, स्वरूप और मर्यादा।
१४४६-१४५९	गच्छवासी मुनियों के पांच प्रकार और उनमें प्रव्रज्या, शिक्षापन आदि में जिनकल्प की तुल्यता। उनके विहार के लिए समय और मर्यादा और विहार के लिए गण की अनुमति आवश्यक आदि विधियां।
१४६०-१४७०	गण को आमंत्रित नहीं करने पर अथवा आमंत्रित करने पर नहीं आने पर प्रायश्चित्त विधान। भिन्न-भिन्न दिशाओं में वैयावृत्यकर, बालमुनि, वृद्ध

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथा संख्या	विषय
	क्षपक, योगवाही और अगीतार्थ को कब और कहां किसको भेजने का विधान। भेजने और न भेजने पर प्रायश्चित्त विधान।
१४७१,१४७२	गच्छ के रहने के लिए योग्य क्षेत्र की तलाश और वहां गमनविधि।
१४७३-१४८९	उपद्रव रहित और अपाय रहित स्थान की गवेषणा तथा भिक्षा, औषध, उपाश्रय आदि की सुलभता-दुर्लभता आदि की गवेषणा। कौनसा प्रशस्तक्षेत्र कौन सा अप्रशस्तक्षेत्र।
१४९०-१५००	श्रमण के पांच प्रकार। वसति की खोज। वास्तुविज्ञान के द्वारा वसति का परीक्षण। कौनसी वसति में लाभ तथा कौनसी में अलाभ? उच्चार-प्रस्रवण आदि अनुज्ञात प्रदेश में करने का विधान।
१५०१-१५१०	शय्यातर की अनुमति से वसति में रहने का विधान अन्यथा नहीं। अतिथि मुनि के आतिथ्य सत्कार करने की विधि। महास्थंडिल की प्रत्युपेक्षा क्यों? कैसे? उसके मांगलिक-आमांगलिक की विचारणा।
१५११,१५१२	गच्छवासी मुनियों द्वारा यथालंदिक मुनियों के लिए क्षेत्र की गवेषणा।
१५१३-१५२०	प्रतिलेखित क्षेत्र की अनुज्ञात विधि।
१५२१-१५३०	क्षेत्र-प्रत्युपेक्षकों द्वारा आचार्य के समक्ष क्षेत्र के गुण दोष आदि का निवेदन और गमनयोग्य क्षेत्र में जाने की निर्णय विधि।
१५३१-१५४४	विहार करने से पूर्व शय्यातर को पूछने की विधि। बिना पूछे आज्ञाभंग आदि दोष और प्रायश्चित्त। विधिपूर्वक वसति के स्वामी को उपदेश और विहार के समय का सूचन।
१५४५-१५५०	विहार के लिए शकुन अपशकुन का चिंतन।
१५५१-१५५३	विहार करते समय शय्यातर को धर्मकथन। आचार्य, बाल साधु आदि की उपधि वहन करने का निर्देश।
१५५४	रात्री में विहार करणीय-अकरणीय की विवेचना।
१५५५-१५६१	अनुज्ञात क्षेत्र में रहने की कालमर्यादा। अननुज्ञात क्षेत्र में निवास करने पर प्रायश्चित्त विधान।
१५६२-१५६४	ग्राम प्रवेश करने की विधि।
१५६५-१५६८	प्रशस्त शकुन और अप्रशस्त शकुनों की व्याख्या।
१५६९-१५७२	आचार्य की वसति प्रवेश की विधि तथा धर्मकथी मुनि का कर्तव्य।
१५७३-१५७६	वसति प्रवेश के पश्चात् आचार्य के द्वारा सामाचारी और दान आदि कुलों की स्थापना की व्यवस्था।
१५७७,१५७८	भक्तार्थियों की भक्तपान ग्रहण करने की विधि।
१५७९-१५८१	गीतार्थ मुनियों द्वारा विविध कुलों की जानकारी तथा उनके गमनागमन की व्यवस्था। व्यवस्था न करने पर प्रायश्चित्त।
१५८२-१५८८	आचार्य द्वारा स्थापनाकुलों की व्यवस्था। उनमें जाने का विधान तथा स्थापना कुलों में अनेक संघाटक जाने के दोष।
१५८९,१५९०	प्राघूर्णक साधुओं के चार प्रकार।
१५९१	स्थापनाकुलों में न जाने के दोष। दृष्टान्त द्वारा उसकी पुष्टी।
१५९२-१६०१	स्थापना कुलों में जाने योग्य और न जाने योग्य साधुओं का लक्षण। दोषयुक्त साधुओं को वहां भेजने पर अनेक प्रकार के दोषों की उत्पत्ति तथा भिक्षाटन के लिए जाने वाले मुनियों के गुण।
१६०२-१६०८	श्रावकों को गोचरी की चर्या बताने के लाभ तथा एषणा दोषों की जानकारी द्वारा दोषों से बचाव।
१६०९,१६१०	प्रायोग्य द्रव्य के दो प्रकार। उनको ग्रहण करने की विधि।
१६११-१६१४	एक गच्छ की स्थापनाकुलों में भिक्षाग्रहण की सामाचारी तथा देश-काल की अपेक्षानुसार भिक्षा के समय में भिक्षा-ग्रहण करने का प्रावधान।
१६१५-१६२२	अनेक गच्छों की स्थापनाकुलों में भिक्षाग्रहण की विधि।
१६२३-१६२६	दस प्रकार की सामाचारियां तथा स्थविरकल्प विषयक २७ द्वारों का उल्लेख।
१६२७-१६३३	स्थविरकल्पी मुनियों की सामाचारी, श्रुत, संहनन, उपसर्ग, आतंक, वेदना, स्थंडिल, वसति आदि का विस्तार से वर्णन।
१६३४-१६४७	स्थविरकल्पी मुनियों की क्षेत्र, काल, चारित्र, लेश्या आदि द्वारों से स्थिति।
१६४८-१६५५	अभिग्रह के चार प्रकार। उनके आधार पर स्थविरकल्पी मुनियों के अभिग्रह का स्वरूप।
१६५६-१६५९	गच्छवासी मुनियों की अतिरिक्त सामाचारी संबंधी द्वार।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथा संख्या	विषय
१६६०-१६६९	प्रतिलेखना द्वार–वस्त्रादिक के प्रतिलेखन का काल, प्रतिलेखन के दोष, प्रायश्चित्त तथा प्रतिलेखन के अपवाद आदि।
१६७०-१६७३	निष्क्रमणद्वार–गच्छवासी आदि की बाहर जाने और कितनी बार जाने की विधि।
१६७४-१६९१	प्राभृतिकाद्वार–सूक्ष्म और बादर प्राभृतिका का वर्णन। गृहस्थ आदि के निमित्त तैयार अथवा साधुओं के निमित्त बने हुए घर, अथवा वसति में रहना अथवा न रहने संबंधी विधि और प्रायश्चित्त।
१६९२-१७०४	भिक्षाद्वार–विविध एषणाओं से भक्त-पानक ग्रहण करने की विधि। गच्छवासी मुनि कब कितनी बार भिक्षा के लिए जाए? अथवा समुदाय रूप या अकेला जाए? एकाकी भिक्षाटन के दोष और प्रायश्चित्त विधान। भिक्षार्थ पात्र आदि की मर्यादा।
१७०५-१७४७	कल्पकरणद्वार–लेपकृत, अलेपकृत, द्रव्यार्थ पात्रकल्प। लेपकृत अथवा अलेपकृत द्रव्यों का विश्लेषण। विकृति अविकृति की विवेचना। पात्र लेप की विधि और उसका गुण। लेप का कल्प न करने पर प्रायश्चित्त तथा अनेक दोषों का प्रसंग। पानक लाने के लिए बार-बार गृहपति के घर जाने पर स्व पर दोष। पात्र को धोने का कारण और उससे संबंधित प्रश्नोत्तरी।
१७४८-१७६७	गच्छशतिकादिद्वार–सात प्रकार की सौवीरिणी का वर्णन। प्रत्येक के सात-सात भेद। कृत कारापित से प्रत्येक के दो-दो भेद। कुल ९८ भेद। अवान्तर अनेक भेद आदि की विवेचना।
१७६८-१७७०	परिहरणा अनुयानद्वार–तीर्थंकर के समय सैंकड़ों गच्छों के एक साथ होने पर आधाकर्मिक दोषों का परिहरण कैसे? शिष्य की जिज्ञासा। आचार्य द्वारा रथयात्रा आदि के द्वारा समाधान।
१७७१,१७७२	अनुयान–रथयात्रा में जाने की विधि–रथयात्रा यदि नगर में हो तो वहां जाने पर ईर्यासमिति के दोष।
१७७३	रथयात्रा में पहुंचने के बाद दोषों का वर्णन करने के लिए द्वार गाथा।
१७७४-१७७७	चैत्यद्वार–चार प्रकार के चैत्यों का स्वरूप और उनका विवेचन।
१७७८-१७८३	आधाकर्मद्वार–रथयात्रा के मेले में जाने वाले साधुओं को लगने वाला आधाकर्मिक दोष।
१७८४	उद्गमदोष द्वार और शैक्षद्वार–रथयात्रा के मेले में जाने से साधुओं को लगने वाला उद्गम दोष और शैक्ष मुनियों की पथभ्रष्टता।
१७८५	स्त्रीद्वार और नाटकद्वार–रथयात्रा में जाने वाले साधुओं को स्त्री, नाटक देखने से लगने वाला दोष।
१७८६	संस्पर्शनद्वार–रथयात्रा में जाने से साधुओं को स्त्री आदि के स्पर्श से लगने वाला दोष।
१७८७	तन्तुद्वार–रथयात्रा में जाने से चैत्य का प्रमार्जन न होने पर प्रतिमाओं पर मकड़ी, मकड़ी का जाला भ्रमरी के घर आदि हटाने पर साधुओं को लगने वाला दोष तथा प्रायश्चित्त विधान।
१७८८,१७८९	क्षुल्लकद्वार और निर्धर्मकार्यद्वार–रथयात्रा के मेले में जाने से पार्श्वस्थ मुनियों, क्षुल्लकों को अलंकृत देखकर मैले, कुचेले क्षुल्लकों का पतित होना। समाधान देने वालों को धन आदि देने पर अनुमोदना दोष, नहीं देने पर वाद विवाद में वृद्धि और साधुओं का संघ से निष्कासन।
१७९०-१८०१	वे कौन से कारण जिनसे रथयात्रा में जाना आवश्यक होता है, उनका वर्णन।
१८०२-१८१५	रथयात्रा में जाने वाले मुनि के लिए करणीय आवश्यक निर्देश–जैसे चैत्यपूजा, भिक्षाचर्या की विधि आदि आदि।
१८१६	पुरःकर्मद्वार–पुरःकर्म के स्वरूप के लिए द्वार गाथा।
१८१७-१८२०	पुरःकर्म क्या? आचार्य द्वारा समाधान।
१८२१-१८२९	पुरःकर्म किसके और कब लगता है? पुरःकर्म दोष संबंधी अष्टभंगी। पुरःकर्म किसलिए किया जाता है? पुरःकर्म करने के पश्चात् उसके कल्पने का निरूपण। पुरःकर्म और उदकाद्रक दोष में अन्तर।
१८३०	आरोपणा द्वार–पुरःकर्म लेने संबंधी प्रायश्चित्त।
१८३१-१८६९	परिहारणाद्वार–सात प्रकार का अविधिनिषेध। पुरःकर्म लेने का निषेध और उससे संबंधित सात प्रकार के शिष्यों के सात अविधि निषेध रूप आदेश–प्रकार। पुरःकर्म लेने संबंधी आठ विधिनिषेध। लौकिक व्यवहार में पुरःकर्म विषय में ब्रह्महत्या का दृष्टान्त।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथा संख्या	विषय
१८७०-१८७३	ग्लान्यद्वार–ग्लान साधु का समाचार सुनने पर सभी कार्य छोड़कर वहां जाने का साधु का कर्तव्य। नहीं जाने पर प्रायश्चित्त विधान।
१८७४	ग्लान द्वार की वक्तव्यता संबंधी द्वार गाथा।
१८७५,१८७६	ग्लान साधु की सेवा के लिए जाने का विधान। उपेक्षा करने पर प्रायश्चित्त।
१८७७-१८८२	ग्लान की सेवा महान् निर्जरा का हेतु–इस प्रकार की श्रद्धा से सेवा करने वालों के लिए सेवा का प्रकार।
१८८३,१८८४	इच्छाकारद्वार–बिना बुलाए सेवा के लिए न जाना अथवा जाने पर वैयावृत्य करने का निषेध करने में आरोपणा रूप प्रायश्चित्त का विधान और महर्द्धिक राजा का दृष्टान्त।
१८८५	अशक्तद्वार–ग्लान की सेवा करने में अपनी असमर्थता प्रकट करने वाले को शिक्षा।
१८८६,१८८७	सुखितद्वार–ग्लान साधु की सेवा करने में दुःख मानने वाले को प्रायश्चित्त।
१८८८,१८८९	अवमानद्वार–ग्लान परिचर्या के लिए जाने पर हम भी अवमान उद्गम आदि दोषों के भागी होंगे अर्थात् ये दोष वहां होंगे इस प्रकार कहने वालों के लिए प्रायश्चित्त विधान।
१८९०-१८९९	लुब्धद्वार–ग्लान साधु की सेवा में जाने वाले लोलुप साधु उस क्षेत्र को बिगाड़ देते हैं। तब वहां ग्लान प्रायोग्य द्रव्य मिलना भी कठिन हो जाता है। ऐसे साधुओं के लिए प्रायश्चित्त का विधान।
१९००-१९०६	अनुवर्तना ग्लानस्थद्वार–ग्लान की अनुवर्तना क्यों? ग्लान साधु के लिए पथ्यापथ्य कैसे लाना, कहां से लाना, कहां रखना और उसे सुरक्षित रखने के लिए गवेषणा कैसे करनी आदि का विवेचन।
१९०७	वैद्यानुवर्तना–स्वयं जानकार साधु ग्लान की स्वयं चिकित्सा करे अथवा वैद्य जानकार हो तो वैद्य को पूछे।
१९०८-१९१०	रोगोपचार के लिए उपवास चिकित्सा का विधान।
१९११,१९१२	वैद्य के आठ प्रकार तथा मतान्तर के अनुसार वैद्य के आठ प्रकार।
१९१३	संविग्न गीतार्थ वैद्य अथवा कुशल वैद्य को छोड़कर असंविग्न अगीतार्थ वैद्य और अकुशल वैद्य से चिकित्सा कराने पर प्रायश्चित्त।
१९१४	ग्लान साधु के लिए वैद्य के पास जाने संबंधी द्वार गाथा।
१९१५-१९१८	ग्लान साधु को वैद्य के पास ले जाने की विधि अथवा वैद्य को ग्लान के पास लाने की विधि।
१९१९,१९२०	गमनद्वार–ग्लान साधु के लिए वैद्य के पास कौन जाए इसका विवेचन।
१९२१	प्रमाणद्वार और उपकरणद्वार–ग्लान साधु के लिए वैद्य के पास जाने वाला साधु कैसा होना चाहिए, उसके लक्षण।
१९२२-१९२४	शकुनद्वार–वैद्य के पास जाते समय प्रशस्त-अप्रशस्त शकुन विचार।
१९२५	वैद्य के पास जाने वाला बातचीत करे या मौन रखे?
१९२६,१९२७	वैद्य के पास गीतार्थ साधु से क्रमशः श्रावक तक जाए और ग्लान साधु की बीमारी का क्रमवार निवेदन करे।
१९२८,१९२९	वैद्य द्वारा रोगी के लिए कथनीय सारे कार्य करणीय।
१९३०,१९३१	वैद्य के कहे अनुसार पथ्य की व्यवस्था करनी आवश्यक किन्तु यदि वे न मिले तो पुनः वैद्य से परामर्श।
१९३२	ग्लान साधु को बिना देखे औषधि का निर्देश नहीं किया जा सकता इस दृष्टि से वैद्य का उपाश्रय में आगमन।
१९३३	उपाश्रय में आगत वैद्य के साथ आचार्य आदि की यतना।
१९३४-१९३६	अभ्युत्थान द्वार, आसन द्वार और दर्शनाद्वार–उपाश्रय में वैद्य के आने पर आचार्य का उठना उनको आसन देना तथा ग्लान साधु को दिखाने की विधि। अविधि होने पर दोष और प्रायश्चित्त।
१९३७	चिकित्सा के चतुष्पाद। ग्लान साधु के लिए औषधि का प्रबंध–कौन करे? प्रश्न का समाधान।
१९३८-१९४७	भृतिद्वार, आहारद्वार और ग्लानाहारद्वार–वैद्य की व्यवस्था तथा औषधि आदि व्यवस्था करने की विधि।
१९४८-१९६०	गांव से वैद्य को बुलाने की विधि। उसके खान-पान आदि के लिए विशिष्ट विधि।
१९६१-१९६२	ग्लान अथवा असंयमी वैद्य का वैयावृत्य क्यों? प्रश्न का समाधान।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथा संख्या	विषय
१९६३	ग्लान साधु की शरीर शुश्रूषा संबंधी विधि।
१९६४	ग्लान विषयक और वैद्य विषयक–दो प्रकार की अनुवर्तना।
१९६५,१९६६	बाहर से आए हुए वैद्य द्वारा दान-दक्षिणा मांगने पर उसे विशिष्ट विधि द्वारा दातव्य। वास्तव्य वैद्य द्वारा दक्षिणा की याचना करने पर पश्चात्कृत व्यक्तियों द्वारा धन दिलाने की विधि।
१९६७	वास्तव्य और आगन्तुक वैद्यों द्वारा वस्त्र याचना करने पर उन्हें देने की विधि।
१९६८	वैद्य को वस्त्र न मिलने पर न्यायालय द्वारा विहित वस्त्रों को देने की विधि।
१९६९,१९७०	वैद्य आदि के रुपये मांगने पर उसको देने की विधि अथवा अपवाद पद न्यायालय में जाने पर अहिरण्यक विधि।
१९७१	ग्लान के नीरोग हो जाने पर ग्लान और उसके प्रतिचारक को अपवाद आदि सेवन के कारण प्रायश्चित्त।
१९७२	ग्लान के प्रायोग्य द्रव्यविषयक तथा वैद्यविषयक अनुवर्तना का उपसंहार।
१९७३-१९८०	ग्लान साधु को एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाने के कारण तथा एक समुदाय के ग्लान साधु की सेवा के लिए दूसरे समुदाय में फेरबदली।
१९८१-१९८८	ग्लान की उपेक्षा करने वाले साधुओं और ग्लान की सेवा करवाने में आचार्य यदि उपेक्षा करते हैं तो दोनों को प्रायश्चित्त।
१९८९-१९९७	संयत के चार प्रकार। आठ स्थानों से ग्लान का परित्याग करने पर प्रायश्चित्त विधि।
१९९८-२००१	आचार्य, कुल, गण द्वारा ग्लान की प्रतिचर्या करने का कालमान।
२००२-२०१३	ग्लान का परित्याग करने की स्थिति होने पर भी परित्याग न करने का विधान। ग्लान को छोड़ने की बात कहने पर भी प्रायश्चित्त। आचार्यों द्वारा मधुर आश्वासन। निर्ग्रन्थ मुनियों के गुण। ग्लान को न त्यागने के लाभ।
२०१४,२०१५	वाचना के लिए यथालंदिक मुनियों के साथ प्रतिबंध तथा उनके साथ वंदन व्यवहार की विधि।
२०१६,२०१७	आचार्य के स्थान पर यथालंदिक के रहने से दोष तथा उनके रहने की आचार्य की यथालंदिक मुनि के पास जाने की विधि।
२०१८	वृद्ध यथालंदिक मुनि के प्रति आचार्य की वाचना देने की मर्यादा।
२०१९	यथालंदिक मुनि के पास आचार्य के जाने पर उनके भक्तपान करने की विधि।
२०२०	आचार्य के गमन की असमर्थता में विविध स्थानों में वाचना देने की पद्धति।
२०२१	यथालंदिक मुनियों द्वारा कृतिकर्म कब ?
२०२२	यथालंदिक मुनि और उनकी मास कल्प की मर्यादा।
२०२३	एक वसति में एक मास से अधिक रहने पर दोष। अपवाद की स्थिति के वसति और भिक्षा विषयक यतना की अनुपालना।
२०२४-२०२७	मासकल्प में मास से अधिक, चतुर्मास के चार मास से अधिक रहने पर प्रायश्चित्त। काल-मर्यादा से अधिक एक स्थान में रहने से अनेक प्रकार के दोषों की विवेचना।
२०२८-२०३३	आपवादिक कारणों के कारण काल-मर्यादा से अधिक भी एक क्षेत्र में रहा जा सकता है। वहां वसति विभाग से भिक्षाचर्या की विधि।
	सूत्र ७
२०३४-२०४६	ग्राम, नगर आदि तथा किल्ले के अन्दर और बाहर दो विभाग में वसति होने पर ऋतुबद्ध काल में अन्दर और बाहर मिलाकर दो मास एक क्षेत्र में रहा जा सकता है। तृण, फलक आदि बाहर ले जाने की विधि। अविधिपूर्वक ग्रहण करने में दोष और प्रायश्चित्त।
	सूत्र ८
२०४७	निर्ग्रन्थियों की निर्ग्रन्थ के समान वक्तव्यता।
२०४८,२०४९	निर्ग्रन्थियों के गणधर की प्ररूपणा आदि की द्वार गाथा।
२०५०,२०५१	संयतियों का गणधर कैसा हो ? उसके लक्षण।
२०५२	साध्वियों के प्रायोग्य क्षेत्र की गवेषणा गणधर द्वारा करने का विधान।
२०५३-२०५५	साध्वियों द्वारा क्षेत्र प्रत्युपेक्षा करने से निष्पन्न दोष तथा आचार्य को प्रायश्चित्त और आज्ञाभंग आदि दोष।
२०५६,२०५७	आर्याओं के लिए प्रत्युपेक्षणीय क्षेत्र।
२०५८	श्रमणियों की वसति का विवेक।
२०५९	मतान्तरानुसार श्रमणी वसति का स्वरूप।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथा संख्या	विषय
२०६०	श्रमणियों की वसति कैसी हो?
२०६१,२०६२	मतान्तरानुसार श्रमणियों के शय्यातर का स्वरूप।
२०६३	स्थंडिल भूमि के चार प्रकार।
२०६४-२०६८	श्रमणियों के योग्य-अयोग्य स्थंडिल भूमियों का विवेक।
२०६९,२०७०	उपद्रव आदि अवसरों में साध्वियों को निर्धारित क्षेत्र तक पहुंचाने की विधि।
२०७१	विहार करते हुए कायिकी तथा संज्ञानिवृत्ति की यतना।
२०७२,२०७३	अवमानना की दृष्टि से मात्रक आदि ग्रहण करने की विधि तथा परिष्ठापन की आज्ञा।
२०७४	वारक को अन्तर्लिप्त न करने से जीव विराधना।
२०७५	निर्ग्रन्थियों के लिए कायिकी करने में अपेक्षित यतना।
२०७६-२०७९	साध्वियों का आहार विभाग और आहार करने की विधि।
२०८०-२०८२	आर्यिकाओं का सौहार्द्रपूर्ण अवस्थिति देखकर लोगों के द्वारा महिमा मंडन।
२०८३-२०८६	प्रत्यनीक व्यक्ति के द्वारा तरुणी साध्वी को अभिद्रुत होने पर बचाव करने के विविध उपाय। उपद्रुत होने पर यदि साध्वियां गुरुणी को नहीं कहती हैं तो प्रायश्चित्त।
२०८७,२०८८	भिक्षा गमन के लिए वृद्ध और तरुणी साध्वियां कितनी होनी चाहिए? लोगों में विविध तर्कणा।
२०८९-२०९१	साध्वियों की गमनविधि तथा साध्वियां स्थविरा और तरुणियां कहां और उनके खड़े रहने की विधि। कोठे के द्वार से बाहर खड़ी स्थविरा द्वारा प्रत्यनीक द्वारा उपद्रव उत्पन्न होने पर तरुणी साध्वी की रक्षा का उपाय।
२०९२	रूपवती साध्वी की रक्षा के लिए विविध उपाय।
२०९३-२०९७	तीन आदि के समूह में भिक्षा ग्रहण करने के लाभ। परस्पर विरोधी भोजन ग्रहण करने पर संयमोपघात और आत्मोपघात।
२०९८,२०९९	वेद के तीन प्रकार। उदाहरण द्वारा उनका स्पष्टीकरण।
२१००-२१०२	स्त्रीलिंग की रक्षा का प्रयोजन तथा अत्यधिक यतना करने के कारण।
२१०३-२१०५	साधुओं को एक मास और साध्वियों को दो मास रहने की अनुज्ञा क्यों? उसका समाधान। एक स्थान में दो मास से अधिक रहने पर प्रायश्चित्त।
	सूत्र ९
२१०६-२१०८	सपरिक्षेप तथा सबाहिरिका क्षेत्र में आर्यिकाओं के रहने की मर्यादा।
२१०९-२१२४	गच्छ और जिनकल्पी में महर्द्धिक कौन? विविध दृष्टान्तों द्वारा उसका समाधान।
	एगत्तवासविधिनिसेध-पदं
	सूत्र १०
२१२५,२१२६	ग्राम, नगर आदि क्षेत्रों में श्रमण कहां रहे? सूत्रकार द्वारा समाधान।
२१२७	वगड़ा, द्वार एवं निर्गम प्रवेश पद की व्याख्या।
२१२८-२१३१	द्वारपद और निर्गम-प्रवेशपथ–इन दोनों में से एक का कथन क्यों नहीं? शिष्य द्वारा प्रश्न, आचार्य का समाधान।
२१३२	एक वगड़ा–एक द्वारवाले क्षेत्र में निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी का रहना निषिद्ध तथा उसके दोष।
२१३३	एक वगड़ा और एक द्वार वाले क्षेत्र में पहले एक श्रमण वर्ग अथवा श्रमणी वर्ग ठहरे हुए हों तो वहां बाद में आकर ठहरने वाले को प्रायश्चित्त और दोष।
२१३४	जहां पहले श्रमणी स्थित है यदि वहां भिक्षा की सुलभता जानकर कोई आचार्य गच्छ को लेकर उस क्षेत्र में ठहरता है तो उन्हें प्रायश्चित्त और आज्ञाभंग आदि दोष।
२१३५-२१५३	गच्छ के रहने योग्य क्षेत्र की प्रत्युपेक्षा के लिए भेजे हुए श्रमणों द्वारा श्रमणी भावित क्षेत्र की जानकारी। आचार्य, उपाध्याय, वृषभ, भिक्षु आदि उसकी कांक्षा करे तो प्रायश्चित्त। द्रव्याग्नि और भावग्नि का स्वरूप।
२१५४-२१५६	साधु-साध्वियों के मोह (वेद) का उदय कैसे? कृषक के उदाहरण से उसका समाधान।
२१५७-२१६२	मोह के उदित होने पर उसका निरोध क्यों नहीं? योद्धा और गारुडिक दृष्टान्त द्वारा गुरु से समाधान।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथा संख्या	विषय
२१६३-२१७२	पृथक् वसति में रहने वाली साध्वियों का परिहार किया जा सकता है,परन्तु गृहणियों का नहीं। क्योंकि उनसे ही भक्तपान, औषधि आदि की प्राप्ति होती है। मुनियों का संसर्गजा दोष से बचा नहीं जा सकता। आचार्य द्वारा विविध उदाहरणों से उसका प्रतिवाद।
२१७३-२१८०	एक वगड़ा–एक द्वार वाले ग्राम–नगर आदि में साथ रहने वाले श्रमण-श्रमणियों के विचारभूमी आदि में आते जाते, एक दूसरे से मिलने और देखने के निमित्त से होने वाले दोष तथा लोगों में उठने वाली तर्कणा से निष्पन्न प्रायश्चित्त।
२१८१-२१९३	एक द्वार वाले ग्राम-नगर आदि में साथ में रहने वाले श्रमण-श्रमणियों के विविध प्रयोजनों से जाते या निर्गमन विषयक चतुर्भंगी तथा उसके आश्रित प्रायश्चित्त के पांच आदेशों का वर्णन।
२१९४-२२०४	एक द्वार वाले गांव-नगर आदि में श्रमणियों के रहने पर यदि वहां श्रमण रहते हैं तो श्रमणियों के विचारभूमी–भिक्षाचर्या आदि के निमित्त से होने वाली परितापना तथा तद्विषयक भोगिक दृष्टांत और प्रायश्चित्त।
२२०५-२२१७	एक द्वार वाले गांव-नगरादि में श्रमणियों के होने पर कुलस्थविरों द्वारा नगरद्वार पर स्थित आचार्य से वहां रहने का कारण पूछना। निष्कारण रहने पर प्रायश्चित्त और उस क्षेत्र से निष्कासन। कारणवश वहां ठहरे हुए हों तो यतनापूर्वक विचारभूमी, भिक्षाचर्या आदि की व्यवस्था।
२२१८-२२३१	वास्तव्य और आगन्तुक साधु-साध्वियां यदि कारणवश एक ग्राम में रहें तो वहां कलह के प्रसंग संभावित। गणिनी, प्रवर्तिनी और गणधर द्वारा शान्ति के लिए प्रयत्न। परस्पर क्षमायाचना के बाद विशोधि।
२२३२-२२३४	अनेक द्वार रूप एक वगड़ा में जो दोष लगते हैं उनके वर्णन के लिए द्वारगाथा।
२२३५-२२४०	वृत्ति द्वारा अंतरित स्थान में भी साधु-साध्वियों का एक साथ रहना निषिद्ध। परस्पर वार्ता, कुशलक्षेत्र आदि से संयमच्युत की संभावना और मोह की वृद्धि आदि दोष।
२२४१-२२४४	साध्वियों के अभिमुख द्वार वाले उपाश्रय के पास साधुओं को रहने का निषेध क्यों?

गाथा संख्या	विषय
२२४५-२२५७	ऊंचे, नीचे स्थान में साधु-साध्वियों के रहने से एक दूसरे को देखने का प्रसंग। उससे लगने वाले दोष तथा उनसे संबंधित विभिन्न प्रायश्चित्त तथा अनेक आदेश।
२२५८-२२६३	कामवेग के दस प्रकार। तथा उनके वेगों का क्रमशः प्रायश्चित्त का निरूपण।
२२६४-२२७१	निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के अत्यधिक निकट रहने पर रात्री में धर्मकथा आदि करने की विधि। धर्मकथा सुनने पर अनुराग, संकेत आदि दोषों की संभावना। प्रवचन की मधुरता से श्रमणी द्वारा प्रशंसा। श्रमण-श्रमणी को आपस में देखने से प्रीति, रति, विश्वास, प्रणय आदि की उत्पत्ति। भग्नव्रत होने पर अवधावन करे तो आचार्य को प्रायश्चित्त।
२२७२-२२७७	निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के अशिव, दुर्भिक्ष आदि कारणों से अकस्मात् संयती क्षेत्र में आने पर निरुपहत वसति की मार्गणा करने का विधान। उसके अभाव में संयती क्षेत्र में यतनापूर्वक रहने की विधि।
२२७८-२२८७	जिस गांव के अनेक वगड़ा और प्रवेश-निर्गमन द्वार एक हो वहां रहने वाले श्रमण-श्रमणियों के तीसरे भंग वाली अर्थात् आपात असंलोक वाली विचारभूमी भीतर न होने पर बहिर्गमन का प्रसंग। एक द्वार होने के कारण दोनों के आने-जाने और मिलने से लगने वाले दोष और तद्विषयक कुसुंभरक्तवस्त्र का दृष्टान्त।
	सूत्र ११
२२८८,२२८९	ग्राम-नगरादि में निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के रहने के लिए भिक्षाभूमि, स्थंडिलभूमि, विहारभूमि आदि जहां पृथक्-पृथक् हों वहीं यतनापूर्वक रहने का विधान।
२२९०-२२९४	निर्ग्रन्थों के लिए पार्श्वस्थ आदि संयतियां दोषकारी। वहां मुरुण्डदूत का दृष्टान्त।
	आवणगिहादिसु वासविधिनिसेध-पदं
	सूत्र १२
२२९५,२२९६	पृथग् वगडा और पृथक् द्वार वाले क्षेत्रों में रहने वाली साध्वियों को कौन से उपाश्रय कल्पनीय?
२२९७-२३०३	आपणगृह, रथ्यामुख, शृंगाटक, चतुष्क, चत्वर अंतरापण आदि पदों की व्याख्या तथा भिन्न भिन्न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथा संख्या	विषय
	स्थानों में बने उपाश्रयों में रहने वाली श्रमणियों के स्थानानुरूप प्रायश्चित्त का विधान।
२३०४-२३१०	आपणगृह आदि में ठहरी साध्वियों के तरुण व्यक्तियों, वेश्याओं, विवाह तथा राजा आदि को देखकर भुक्तभोगों का स्मरण आदि होने वाले दोष।
२३११-२३१९	सार्वजनिक स्थानों में ठहरी हुई श्रमणियों को देखकर तरुणों के मन में तर्कणा, मोहोदय, कुलगृह की अवमानना तथा उचित उपाश्रय के अभाव में अनुचित उपाश्रय में रहना पड़ रहा है, इस प्रकार का लोकापवाद।
२३२०-२३२४	निर्दोष वसति की गवेषणा। उसके अभाव में श्रमणियों को कहां-कहां ठहरने का विधान।
	सूत्र १३
२३२५	मुनियों के लिए भी पूर्वोक्त नियम। उसके अभाव में अन्य स्थानों में भी यतनापूर्वक रहने का निर्देश।
	अवंगुयदुवार-उवस्सय-पदं
	सूत्र १४
२३२६-२३३३	बिना कपाट के खुले उपाश्रयों में साध्वियों को रहने का निषेध तथा वहां उद्भूत होने वाले दोष। यदि अपवाद रूप में रहना पड़े तो वहां रहने की विधि और रक्षा।
२३३४-२३३८	दरवाजे की रक्षा करने वाली प्रतिहारी साध्वी कैसी हो? उसके गुण और कार्य।
२३३९-२३४२	अनावृत उपाश्रय में साध्वियों के सोने का क्रम तथा विधि।
२३४३-२३४७	अनावृत उपाश्रय में जागना, मोक का विसर्जन, काल की प्रतिलेखना और स्वाध्याय की क्रम विधि।
२३४८,२३४९	चोरी के लिए अथवा मैथुन के लिए अथवा दोनों के लिए प्रतिश्रय में आए हुए व्यक्ति को निकालने के लिए साध्वियों द्वारा करणीय विधि।
२३५०-२३५२	अध्वनिर्गत मार्ग में सुरक्षित द्वारवाला उपाश्रय न मिलने पर खुले द्वार वाले उपाश्रय में साध्वियों के रहने की विधि। उपसर्ग के समय तरुण अथवा वृद्ध साध्वी को उसका निवारण किस प्रकार करना चाहिए? उसकी विधि।
	सूत्र १५
२३५३,२३५४	साधु को उपाश्रय के द्वार को ढंकने का निषेध। ढंकने से त्रस जीवों के अभिघात का प्रसंग। प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग का दोष।
२३५५	आगाढ़ कारण में यतनापूर्वक द्वार बंद करने का कल्प।
२३५६-२३६०	जिनकल्पी और स्थविरकल्पी की द्वार संबंधी पृथक्-पृथक् विधियां और कारण। कारणवश द्वार बन्द न करे तो उससे होने वाले दोष।
२३६१	कपाटों को रजोहरण से प्रमार्जित कर खोलने अथवा बंद करने की विधि।
	घडीमत्तय-पदं
	सूत्र १६
२३६२,२३६३	निग्रन्थियों को घटीमात्रक रखना और उसका उपयोग करने का कल्प। ग्रहण नहीं करने पर प्रायश्चित्त और आज्ञाभंग आदि दोष।
२३६४	निर्ग्रन्थियों के घटीमात्रक का स्वरूप।
	सूत्र १७
२३६५	निग्रन्थों को घटीमात्रक रखना और उसका उपयोग करना नहीं कल्पता। ग्रहण करने पर प्रायश्चित्त और आज्ञाभंग आदि दोष।
२३६६,२३६७	प्रमाण और परिहरण के दो दो प्रकार। उनकी व्याख्या।
२३६८-२३७०	निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों को घटीमात्रक रखने का कारण और उसके अभाव में होने वाले विकल्प।
	चिलिमिलिया-पदं
	सूत्र १८
२३७१	घटीमात्रक की तरह चिलिमिलिका ग्रहण तथा यतना का निर्देश।
२३७२-२३८१	धारण और परिहरणा का अर्थ। चिलिमिलिका के द्वार। चिलिमिलिका उपग्रहकारी क्यों? उसके पांच प्रकार। प्रत्येक का अलग-अलग प्रमाण। प्रत्येक के उपयोग के भिन्न-भिन्न प्रकार। उपयोग न करने पर प्रायश्चित्त और संयम तथा आत्मविराधना से निष्पन्न प्रायश्चित्त।
२३८२	उपाश्रय में निवास करने वाली साध्वियों के लिए चिलिमिलिका का उपयोग और उससे लाभ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथा संख्या विषय

दगतीर-पदं

सूत्र १९

२३८३,२३८४ दकतीर सूत्र की विस्तृत व्याख्यार्थ द्वार गाथा। दकतीर पर बैठने सोने आदि से प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोष।

२३८५,२३८६ दकतीर विषयक परिभाषाएं और उससे संबंधित सात आदेश।

२३८७ दकतीर पर बैठने, खड़ा होने आदि से होने वाले अधिकरणादि दोष।

२३८८-२३९८ अधिकरणादि दोषों का स्वरूप तथा साधुओं के कारण से जंगली जानवरों का पलायन, षड्काय की विराधना, अनाचार का सेवन आदि होने का प्रसंग।

२३९९ दकतीर पर होने वाली दस प्रवृत्तियां। उनसे निष्पन्न प्रायश्चित्त।

२४००-२४१२ निद्रा, निद्रानिद्रा आदि का स्वरूप। दकतीर के दो प्रकार। वहां रहकर दस स्थानों की सेवना करने वाला आचार्य, उपाध्याय, भिक्षु, स्थविर क्षुल्लक–इन पांच निर्ग्रन्थों और प्रवर्तिनी, अभिषेका, भिक्षुणी, स्थविरा, क्षुल्लिका–इन पांच निर्ग्रन्थियों के लिए प्रायश्चित्त के विविध आदेश।

२४१३-२४१५ यूपक का स्वरूप और उससे लगने वाला प्रायश्चित्त।

२४१६-२४१९ पानी के किनारे आतापना लेने से लगने वाले दोष।

२४२०-२४२५ दकतीर, यूपक पर रहने और दकतीर पर आतापना लेने का अपवाद और यतना।

चित्तकम्म-पदं

सूत्र २०,२१

२४२६,२४२७ सचित्र उपाश्रय में निग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को रहने का निषेध तथा चौथे महाव्रत के खंडित होने की संभावना। जागरिका और स्वाध्याय आदि के अभाव से होने वाले दोष।

२४२८-२४३० निर्दोष तथा सदोष चित्रकर्म का स्वरूप। वहां रहने पर आज्ञाभंग आदि दोष। अपवाद में वहां रहने की आज्ञा।

२४३१ आचार्य, उपाध्याय और वृषभ आदि प्रवर्तिनी, गणावच्छेदिनी, अभिषेका और भिक्षुणी के निर्दोष अथवा सदोष चित्रकर्म उपाश्रय में रहने से प्रायश्चित्त।

२४३२ सचित्र उपाश्रय में चित्रों को देखकर मन में संकल्प-विकल्प तथा परस्पर कलह की उदीरणा।

२४३३ तीन बार वसति की गवेषणा करने पर अध्वनिर्गत मुनि अथवा साध्वी को चित्रकर्म युक्त उपाश्रय में रहने की विधि और वहां रक्षणीय यतना।

सागारिय-निस्सा-पदं

सूत्र २२,२३

२४३४ दोषमुक्त आलय में सागारिक निश्रा में रहने की अनुज्ञा।

२४३५-२४३८ सागारिक निश्रा के बिना साध्वियों को नहीं कल्पता–इस प्रकार प्रवर्तिनी को नहीं बताने पर आचार्य को प्रायश्चित्त। उसी प्रकार प्रवर्तिनी द्वारा भिक्षुणियों को न बताने पर भिक्षुणियों को आने वाला प्रायश्चित्त और आज्ञाभंग आदि दोष।

२४३९-२४४२ आर्याएं कैसे और किससे परिगृहीत-अपरिगृहीत होती हैं? विविध उदाहरणों के द्वारा स्पष्टीकरण।

२४४३-२४४५ अपवाद की स्थिति में सागारिक अनिश्रित वसति में रहने का विधान। साधु साध्वी की रक्षा कैसे करे? साध्वी के लिए उपयुक्त वसति की व्यवस्था कैसे करे आदि का निर्देश। रक्षा करने वाले साधु के गुण।

सूत्र २४

२४४६ साधु कब निश्रा अथवा कब अनिश्रा में रहे? अकारण निश्रा में रहने पर तथा कारण में अनिश्रा में रहने पर साधु को प्रायश्चित्त।

२४४७ निष्कारण सागारिक की निश्रा में रहने से निर्ग्रन्थ के होने वाले दोष।

२४४८ आपवादिक स्थिति में निर्ग्रन्थों को सागारिक निश्रा में रहने का विधान।

सागारिय-उवस्सय-पदं

सूत्र २५

२४४९ पूर्वसूत्र से अतिप्रसंग दोष न हो इसलिए प्रस्तुत सूत्र का प्रारंभ।

२४५० सागारिक पद का निक्षेप।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथा संख्या	विषय
२४५१-२४५४	सागारिक का द्रव्य निक्षेप। उसके प्रकार, स्वरूप और उससे होने वाले संबंधित प्रायश्चित्त।
२४५५-२४६४	द्रव्य सागारिक से युक्त उपाश्रय में निवास करने वाले साधु-साध्वियों को होने वाली मनःस्थिति और उससे निष्पन्न दोष।
२४६५	अब्रह्मचर्य का कारण है—रूप, औदारिक और दिव्य। मन-वचन-काय के आधार पर नौ नौ भेद। कुल अठारह प्रकार का अब्रह्म भावसागारिक।
२४६६,२४६७	रूप अथवा रूपसहगत अब्रह्म भावसागारिक का स्वरूप। रूप और रूपसहगत का तात्पर्य। रूप के तीन प्रकार—दिव्य, मानुष्य और तैरश्च। पुनः एक-एक के तीन प्रकार। इन सबके जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद से तीन प्रकार।
२४६८,२४६९	दिव्य प्रतिमाओं के प्रकार।
२४७०-२४८५	दिव्य प्रतिमायुक्त उपाश्रय में रहने से निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के लिए आने वाले प्रायश्चित्त के दो प्रकार। इनका विस्तार से वर्णन और इनसे निष्पन्न विविध प्रायश्चित्त।
२४८६-२४९०	यदि अप्रतिसेवी को भी प्रायश्चित्त मिले तो फिर अप्रायश्चित्ती कौन होगा? कोई कर्मबंधन से मुक्त नहीं होगा। यदि अपराध में लघुतर दंड और आज्ञाभंग में गुरुतर दंड, यह क्यों? शिष्य की जिज्ञासा। आचार्य द्वारा समाधान। आज्ञा के विषय में मौर्य दृष्टान्त।
२४९१-२४९३	बहुश्रुत मुनि की भांति यदि कोई निर्ग्रन्थ अथवा निर्ग्रन्थी दिव्य प्रतिमायुक्त उपाश्रय में रहे तो वहां नानात्व दोष होने का निर्देश।
२४९४-२५०३	निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के देव सन्निहित प्रतिमा वाले उपाश्रय में रहने से तीन कारणों—प्रलुब्ध, प्रत्यनीकता तथा भोगार्थी से लगने वाले दोष और उनसे निष्पन्न प्रायश्चित्त।
२५०४,२५०५	देव सन्निहित प्रतिमाओं के प्रकार।
२५०६-२५०८	सन्निहित देवियों के चार प्रकार तथा उनसे संबंधित चार दृष्टान्त।
२५०९-२५१५	शिष्य की जिज्ञासा—प्राजापत्य परिगृहीत, कौटुंबिक परिगृहित और दंडिकपरिगृहीत प्रतिमाओं में कौन सी गुरुतर? गुरु के द्वारा समाधान।
२५१६-२५२६	मनुष्यणी के तीन प्रकार जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। प्रत्येक के तीन भेद—प्राजापत्य परिगृहीत, कौटुम्बिक परिगृहीत और दंडिक परिगृहीत। उन-उन स्थान में रहने से निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को लगने वाले स्थान निष्पन्न तथा प्रतिसेवना विषयक दोष और प्रायश्चित्त।
२५२७-२५३३	मानुषी के चार विकल्प। उनके उदाहरण तथा उनसे संबंधित प्रायश्चित्त और दोष।
२५३४-२५४३	प्राजापत्य, कौटुम्बिक और दंडिक आधिपत्य वाली तिर्यंच स्त्रियों के जघन्य, मध्यम आदि प्रकार। उन स्थानों में रहने से निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को आने वाले स्थान और प्रतिसेवना संबंधी दोष और प्रायश्चित्त।
२५४४-२५४६	सुखविज्ञप्य—सुखमोच्य आदि तिर्यंच स्त्री के चार प्रकार तथा उनके उदाहरण। मनुष्य के साथ मैथुनसेवन का सिंहनी का दृष्टान्त।
२५४७	निर्ग्रन्थियों के लिए भी द्रव्य, भाव सागारिक की नियमा। पुरुष प्रतिमा वाले यावत् पुरुष तिर्यंच स्थान में श्रमणियों को रहने का निषेध। वहां रहने से दोष तथा अनुराग के दृष्टान्त।
२५४८-२५५०	सागारिक उपाश्रय में रहने के अपवाद और उससे संबंधित यतनाएं।
	सूत्र २६-२९
२५५१	निर्ग्रन्थ-निर्गन्थी विषयक विभागशः सूत्र-कथन।
२५५२-२५५५	(२५वें) सूत्र में कही बात यदि (२६-२९) सूत्रों में कही गई है तो फिर इन सूत्रों की रचना निरर्थक है? क्योंकि इन सूत्रों में भी वही प्रसंग है, शिष्य की जिज्ञासा। आचार्य का समाधान।
२५५६-२५७७	सविकार पुरुष से संबंधित अथवा निर्विकार पुरुष से संबंधित उपाश्रय में रहने से लगने वाले दोष। कारणवश सागारिक से संबंधित उपाश्रय में रहना पड़े उससे संबंधित यतनाएं और अपवाद।
२५७८-२५८२	श्रमणी संबंधी सागारिक सूत्र की व्याख्या निर्ग्रन्थसूत्रों की व्याख्या के सदृश।
	पडिबद्धसेज्जा-पदं
	सूत्र ३०
२५८३	जिस उपाश्रय के नजदीक में गृहस्थ रहता हो उस प्रतिबद्धशय्या में निर्ग्रन्थों को रहने का निषेध।
२५८४-२५८६	प्रतिबद्ध पद का निक्षेप। भाव प्रतिबद्ध के चार प्रकार। द्रव्य और भाव प्रतिबद्ध पद की चतुर्भंगी और उनसे संबंधित विधि-निषेध।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथा संख्या	विषय
२५८७	साधुओं के परस्पर विकथा करना द्रव्य क्रिया का फलित, भावक्रिया का नहीं।
२५८८-२५९१	निर्ग्रन्थों के द्रव्यतः प्रतिबद्ध भावतः अप्रतिबद्ध रूप पहले भंग वाले उपाश्रय में रहने से लगने वाले अधिकरणादिदोष। उनका स्वरूप और उनमें होने वाली यतनाएं।
२५९२	भावतः प्रतिबद्ध उपाश्रय में रहने पर प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोष।
२५९३	भाव प्रतिबद्ध उपाश्रय के चार प्रकार। प्रस्रवण, स्थान, रूप और शब्द प्रतिबद्ध की षोडशभंगी।
२५९४-२६१३	निर्ग्रन्थों को द्रव्यतः अप्रतिबद्ध भावतः प्रस्रवण-स्थान-रूप शब्द प्रतिबद्ध रूप दूसरे भंग वाले उपाश्रय में रहने के दोष। उनका स्वरूप और उनसे संबंधित अनेक यतनाएं।
२६१४,२६१५	निग्रन्थों को द्रव्य-भाव प्रतिबद्ध रूप तीसरे भांगे वाले उपाश्रय में रहने से लगने वाले दोष आदि तथा द्रव्य-भाव अप्रतिबद्ध भांगे वाले उपाश्रय की निर्दोषता का कथन।
	सूत्र ३१
२६१६	निर्ग्रंथीविषयक प्रतिबद्ध शय्या सूत्र की व्याख्या।
२६१७-२६२०	द्रव्य प्रतिबद्ध उपाश्रय में रहने वाली निर्ग्रन्थियों को लगने वाले दोष, यतना आदि।
२६२१-२६२८	भाव प्रतिबद्ध उपाश्रय में रहने वाली श्रमणियों को लगने वाले दोष, यतना आदि तथा 'पूपलिकाखादक' का उदाहरण।
	गाहावइकुलमज्झवास-पदं
	सूत्र ३२
२६२९	गृहपतिकुलमध्यवास–निर्ग्रन्थों को गृहपतिकुल के बीचोंबीच रहने का निषेध।
२६३०-२६३२	मध्य के दो प्रकार। उनकी व्याख्या तथा दोनों के निर्वाही और अनिर्वाही भेद से दो-दो प्रकार और उनकी व्याख्या। उपरोक्त चारों प्रकारों के तीन-तीन भेद। इन तीनों में निर्ग्रन्थों को रहने का निषेध। वहां रहने पर प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोष।
२६३३-२६४४	निर्ग्रन्थों को शाला में रहने के कारण होने वाली क्रियाएं और लगने वाले दोष।
२६४५-२६५२	निर्ग्रन्थों को शाला के मध्य अपवरक, वलभी अथवा अन्यत्र गृहमध्य में रहने से होने वाली क्रियाएं और लगने वाले दोष। इनके अतिरिक्त अतिगमन, अनाभोग, अवभाषण, मज्जन और हिरण्य–इन पांच द्वारों से निरूपण।
२६५३-२६५८	निर्ग्रन्थों को छिंडिका में रहने से लगने वाले दोष।
२६५९-२६६७	शाला, मध्य और छिंडिका द्वार संबंधी यतनाएं।
	सूत्र ३३
२६६८-२६७५	श्रमणियों को गृहपतिकुल के बीचोंबीच रहने का निषेध। तथा उनके शाला आदि में रहने वाले दोषों का वर्णन तथा प्रस्तुत सूत्र की सार्थकता।
	विओसवण-पदं
	सूत्र ३४
२६७६	गृहपति के मध्य में साधुओं का रहना अकल्प्य और साध्वियों का कल्प्य यह कैसे? अथवा कलह क्यों? समाधान।
२६७७	सूत्र में **'च'** शब्द से और **'भिक्षु'** से किसका ग्रहण?
२६७८,२६७९	क्षामित, व्यवशमित, विनाशित और क्षापित–एकार्थिक तथा प्राभृत, प्रहेनक और प्रणयन ये नरक के एकार्थवाची। इच्छा और आढा शब्द का अर्थ।
२६८०,२६८१	अधिकरण के चार प्रकार। द्रव्यविषयक अधिकरण के चार प्रकार। उनका स्वरूप।
२६८२-२६८४	भावाधिकरण का स्वरूप। उससे जीव किस प्रकार पृथक्-पृथक् गति में जाता है, उसकी व्याख्या।
२६८५-२६८८	व्यवहार नय से द्रव्य के चार प्रकार तथा निश्चय नय से उसके प्रकार। दोनों नय की अपेक्षा से द्रव्य का गुरुत्व, लघुत्व और अगुरुलघुत्व का स्वरूप।
२६८९-२६९१	जीव कर्मों को बांधने में स्वतंत्र और कर्मों के उदय में परतंत्र, यह कैसे? आचार्य द्वारा समाधान।
२६९२	जीव कर्मों को खपाते हैं वे कर्म उदीर्ण होते हैं या अनुदीर्ण? उनका स्वरूप।
२६९३-२६९७	भावाधिकरण की उत्पत्ति के पांच हेतु। उनका निरूपण।
२६९८,२६९९	साधु के द्वारा साधु को कुपित करने पर तथा उपहास करने पर, कलहकारक को उत्तेजित और कलह कराने में सहायक होने पर और उनकी उपेक्षा करने पर प्रायश्चित्त।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथा संख्या	विषय
२७००	भिक्षु, वृषभ उपाध्याय और आचार्य के कलह करने पर प्रत्येक को प्रायश्चित्त का विधान।
२७०१-२७०५	उपेक्षा, उपहास, उत्तेजना, सहायक पदों की व्याख्या।
२७०६,२७०७	अधिकरण—कलह की उपेक्षा करने पर होने वाला अनर्थ। उसका निदर्शन।
२७०८-२७११	अधिकरण के दोष। उनकी विवेचना। कलह के होने पर अथवा समाप्ति पर होने वाले दोष।
२७१२	निश्चयनय के अनुसार चारित्र का स्वरूप। संसारभ्रमण को बढ़ाने वाला कौन?
२७१३,२७१४	कर्कश अधिकरण—कलह होने पर पार्श्वस्थित मुनियों द्वारा कलह को उपशांत करने की विधि और उपदेश।
२७१५	देशोनपूर्वकोटी वर्षों में अर्जित चरित्र को एक मुहूर्त्त में नष्ट करने वाला कौन?
२७१६,२७१७	दो मुनियों के परस्पर कलह करने पर आचार्य द्वारा पक्षपात करने पर प्रायश्चित्त। पक्षपात की स्थिति में दूसरे शिष्य का चिंतन और कथन का प्रकार।
२७१८-२७३०	उपशांत मुनि के द्वारा अनुपशान्त मुनि के विषय में आचार्य को निवेदन। आचार्य द्वारा अनुपशान्त को प्रज्ञापित करने के लिए पर के निक्षेप का प्रयोग। 'पर' शब्द के भेद-प्रभेद तथा निक्षेप। उनकी विवेचना।
२७३१	अधिकरण—कलह करने से संबंधित अपवादपद।
	चार-पदं
	सूत्र ३५
२७३२,२७३३	निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को चातुर्मास काल में एक गांव से दूसरे गांव में जाने के कल्प का निषेध।
२७३४	वर्षावास के दो प्रकार—प्रावृड् और वर्षारात्र। साधु-साध्वियों को उनमें विहरण करने पर प्रायश्चित्त और वर्षारात्र के पूर्ण होने पर विहार न करने पर प्रायश्चित्त।
२७३५-२७३७	साधु-साध्वियों को वर्षावास में विहार करने पर लगने वाले आज्ञा-विराधनादि दोष तथा अभिघात आदि होने वाली अनेक आपदाएं।
२७३८-२७४७	निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को वर्षावास में विहरण संबंधी आपवादिक कारण और उनसे संबंधित यतनाएं। आपवादिक कारणों का स्वरूप।

गाथा संख्या	विषय
	सूत्र ३६
२७४८	ऋतुबद्ध काल में विहार संबंधी सूत्र।
२७४९,२७५०	निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को हेमंत तथा ग्रीष्मऋतु में विहार नहीं करने से होने वाले दोष और विहार के लाभ।
२७५१-२७५८	निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को हेमंत तथा ग्रीष्मऋतु में विहार मार्ग में आने वाले मासकल्प के योग्य ग्राम, नगरादि को छोड़कर अन्यत्र विहरण करने का निषेध। उनसे लगने वाले दोष और प्रायश्चित्त। उससे संबंधित आपवादिक कारण।
	वेरज्ज-विरुद्धरज्ज-पदं
	सूत्र ३७
२७५९	निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को विरुद्धराज्य में विहरण करने का निषेध।
२७६०,२७६१	वैराज्य, विरुद्धराज्य आदि की व्याख्या तथा वहां गमनागमन करने का निषेध।
२७६२	वैर शब्द के छह निक्षेप। भाववैर संबंधी महिष, वृषभ आदि के दृष्टान्त।
२७६३,२७६४	अराजक, यौवराज्य, वैराज्य और द्वैराज्य—इन चारों की व्याख्या तथा उनका स्वरूप।
२७६५	विरुद्धराज्य की व्याख्या तथा वहां जाने से होने वाले दोष।
२७६६-२७८३	विरुद्धराज्य में गमनागमन कितने प्रकार से हो सकता है। उसके ६४ भांगे। वहां जाने से आज्ञाभंग आदि दोष।
२७८४-२७९१	वैराज्य में गमनागमन के आपवादिक कारण और उनसे संबंधित यतनाएं।
	ओग्गह-पदं
	सूत्र ३८
२७९२,२७९३	विरुद्धराज्य में भिक्षार्थ गया हुआ मुनि वस्त्र आदि ग्रहण करने पर आचार्य की अनुज्ञा से उपभोग करने की विधि।
२७९४-२७९६	वस्त्र के दो प्रकार। निमंत्रणावस्त्र का स्वरूप। उससे संबंधित पृच्छादि सामाचारी। उसके विरुद्ध आचरण से आने वाला प्रायश्चित्त और आज्ञाभंग आदि दोष।
२७९७-२८०२	पृच्छादि सामाचारी के विरुद्ध निमंत्रणा-वस्त्र ग्रहण करने पर लगने वाले दोष, शंका और विराधना आदि से प्राप्त होने वाला प्रायश्चित्त।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथा संख्या विषय

२८०३-२८०७ बिना पूछे वस्त्रग्रहण पर स्त्री द्वारा निमित्त आदि की पृच्छा। ना कहने पर पुनः वस्त्रों की याचना। छिन्न वस्त्र न लेने पर राजकुल में व्यवहार। वृक्ष के दृष्टान्त से समझाना।

२८०८,२८०९ निमंत्रणावस्त्र की शुद्धता का स्वरूप।

२८१०-२८१३ निमंत्रणावस्त्र के ग्रहण के अवग्रह की मर्यादा।

सूत्र ३९

२८१४ स्थंडिलभूमि में निर्गत निर्ग्रन्थ को कोई वस्त्रादिक की विज्ञप्ति करे तो उन वस्त्र आदि को जांच कर आचार्य के पास उपस्थित करे। उनकी आज्ञा लेने के पश्चात् रखने या पुनः लौटाने की विधि।

सूत्र ४०,४१

२८१५-२८१९ साध्वी यदि स्वयं के लिए वस्त्र आदि ग्रहण करे तो उससे आने वाला प्रायश्चित्त और लगने वाले दोष तथा पट्टक का दृष्टान्त।

२८२० निर्ग्रन्थी के लिए गणधर द्वारा वस्त्र की परीक्षा और पश्चात् उनको वस्त्र देने की विधि।

२८२१ संयतिओं को स्वयं के लिए वस्त्र लेने की अनुज्ञा होने पर प्रस्तुत सूत्र की सार्थकता कैसे? शंका का समाधान।

२८२२-२८२९ निर्ग्रन्थियों के लिए वर्जनीय-अवर्जनीय स्थान। वस्त्रों के उपयोग की विधि।

२८३०-२८३५ वस्त्र से होने वाला लाभ-अलाभ के परिज्ञान का उपाय और शुभाशुभ फल का निर्देश।

राइभोयण-पदं

सूत्र ४२

२८३६ रात्रीभक्तव्रत का भग्न होने पर सभी महाव्रतों की विराधना का प्रतिपादन।

२८३७ रात्री में भोजन ग्रहण करने का वर्जन।

२८३८ रात्री तथा विकाल पद की व्याख्या। तद्विषयक दूसरे आचार्यों का मत।

२८३९,२८४० बयालीस दोषों में रात्री भोजन का प्रतिषेध नहीं फिर छट्ठे व्रत में उसका प्रतिषेध क्यों? शंका का समाधान।

२८४१-२८४८ रात्री में भोजन ग्रहण करने से भगवान् की सर्वज्ञता के प्रति शंका। मिथ्यात्व, संयमविराधना आदि दोष तथा प्राणवध, महाव्रतादि विषयक शंकादि दोष।

२८४९-२८७१ रात्रि भोजन विषयक चतुर्भंगी। उसका विस्तृत स्वरूप। उससे संबंधित सामान्य तथा नौ संस्थित प्रायश्चित्त।

२८७२ रात्रिभोजन ग्रहण संबंधित आपवादिक कारण।

२८७३,२८७४ ग्लानाश्रित रात्रीभक्तग्रहण विषयक चतुर्भंगी और उसके आपवादिक कारण।

२८७५ क्षुधित, पिपासित और असहिष्णु के लिए रात्रीभक्तग्रहण विषयक अपवाद।

२८७६ चन्द्रवेध सदृश अनशन करने वाले मुनि के लिए रात्रीभक्तग्रहण विषयक अपवाद।

२८७७,२८७८ अध्वाद्वार से संबंधित ऊर्ध्वंदर और सुभिक्ष आश्रित चतुर्भंगी। प्रथम और तीसरे भंग में अध्वगमन से प्रायश्चित्त विधान।

२८७९-२८८१ प्रथम तृतीय भंग में ज्ञान-दर्शन-चारित्र निमित्त देशान्तरगमन की अनुज्ञा।

२८८२,२८८३ विहार मार्ग में साथ में ले जाने वाले उपकरण।

२८८४-२८८७ चर्म उपकरणों के नाम। उनका स्वरूप और उनका उपयोग।

२८८८,२८८९ लोह-उपकरण के नाम तथा शस्त्रकोश का स्वरूप। उनके उपयोग।

२८९० नंदी भाजन और धर्मकरक का स्वरूप और उपयोग।

२८९१,२८९२ परतीर्थिक—उपकरणों (गुलिका-खोल) का स्वरूप और उपयोग।

२८९३ अध्व निर्गत मुनि के विहारोपयोगी उपकरणों को साथ न ले जाने पर प्रायश्चित्त और दोष।

२८९४,२८९५ प्रस्थान करते समय शकुनावलोकन।

२८९६ सिंहपर्षद्, वृषभपर्षद् और मृगपर्षद् का स्वरूप।

२८९७-२९०० सार्थ के साथ प्रस्थित मुनियों को अटवी के मध्य सार्थवाह के द्वारा छोड़ देने पर उनको समझाने की विधि तथा भिक्षा आदि न मिलने पर उसको प्राप्त करने की विधि।

२९०१-२९०५ विहार मार्ग में सिंहादिपर्षदों का आगे-पीछे चलने का क्रम।

२९०६ मार्ग निर्गत मुनि की भक्तपान की प्राप्ति न होने पर उसको एषणाविषयक विधि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथा संख्या	विषय
२९०७,२९०८	मार्ग में सूर्योदय से पूर्व या सूर्यास्त के पश्चात् गीतार्थ संविग्न की अन्य सार्थ में भिक्षा लेने की विधि।
२९०९,२९१०	चोरपल्ली में भक्तपान ग्रहण करने की विधि और अविधिपूर्वक भिक्षा ग्रहण से प्रायश्चित्त।
२९११-२९१७	उजड़े या खाली गांव में भिक्षा लेने की विधि। अविधि से भिक्षा ग्रहण में प्रायश्चित्त। उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य द्रव्यों का स्वरूप।
२९१८,२९१९	नीचे गिरे हुए प्रलंब तथा वृक्ष के ऊपर प्रलंब विषयक चर्चा व कल्पनीय का विवेक।
२९२०	नन्दि पद की व्याख्या।
२९२१-२९२३	आहार-पान संबंधी यतनाएं।
२९२४-२९२६	रात्री में अप्रत्युपेक्षित भूमी में उच्चार-प्रस्रवण का व्युत्सर्ग करने और शय्या-संस्तारक आदि ग्रहण करने से प्रायश्चित्त और आज्ञाभंग आदि दोष।
२९२७-२९३४	रात्रि में वसति आदि ग्रहण संबंधी अपवाद।
२९३५-२९४२	रात्री में गीतार्थ निर्ग्रन्थों के लिए वसति ग्रहण की विधि।
२९४३-२९५७	गीतार्थ के साथ अगीतार्थ निर्ग्रन्थों के होने पर रात्री में वसतिग्रहण की विधि। अंधकारमय वसति में प्रतिलेखन हेतु प्रकाश मंगवाने संबंधी यतनाएं।
२९५८-२९६८	ग्राम के बाहर वसति ग्रहण संबंधी यतनाएं। आचार्य, गच्छ, कुल, गण, संघ आदि की रक्षा के लिए कृत दोषों की शुद्धीकरण का उपाय।
	सूत्र ४३
२९६९	रात्री में वस्त्रग्रहण करना अकल्पनीय।
२९७०-२९७३	रात्री में वस्त्रग्रहण संबंधी प्रायश्चित्त तथा अपवाद।
२९७४,२९७५	चोरों के चार प्रकार।
२९७६-२९७८	चोरों द्वारा गृहस्थों के वस्त्र लूटे जाने पर उनको वस्त्रादि देने की विधि।
२९७९-२९८१	चोरों द्वारा निर्ग्रन्थ तथा निर्ग्रन्थी में से किसी एक के वस्त्र लूटे जाने पर उनकी एक दूसरों को वस्त्र लेने-देने की विधि।
२९८२-३०००	श्रमण-गृहस्थ, श्रमण-श्रमणी, समनोज्ञ और अमनोज्ञ–इन युगलों में किसी के भी वस्त्र लूटे जाने पर उनके आपस में एक दूसरे को वस्त्र देने-लेने की विधि।
३००१	हृताहृतिक वस्त्रों को रात्री में ग्रहण करना कल्पनीय।
३००२-३००४	अध्वगमन के कारण।
३००५-३००७	मार्ग में आचार्यसंरक्षण की विधि और उसके कारण।
३००८	चोरों के चार प्रकार।
३००९-३०१३	चोरों द्वारा श्रमण श्रमणियों के वस्त्र चुराए जाने पर भद्रिक सेनाधिपति द्वारा वस्त्रों को पुनः भेजना अथवा साथी चोरों को वस्त्र देने के लिए भेजना। वे भय के कारण उपाश्रय के बाहर, या प्रस्रवण भूमि में वस्त्रों को फैंक कर चले जाते हैं। उन फेंके गए वस्त्रों को लेने की विधि।
३०१४-३०२२	यदि चोराधिपति अथवा पापी चोर आचार्य को मारने की इच्छा करे तो आचार्य को गुप्त रखने की विधि।
३०२३-३०३७	चौरों द्वारा चुराए गए उपधि आदि की चोर-पल्ली में गवेषणा करने की विधि। उपधि को इधर-उधर फैंके जाने पर उनको ग्रहण करने या ग्रहण न करने से दोषों के अल्पबहुत्व की जानकारी।
	अद्धाण-पदं
	सूत्र ४४
३०३८,३०३९	हृताहृतिक आदि प्रयोजन से रात्रीगमन का निषेध।
३०४०	अर्थापत्ति के आधार पर मुनि को दिन में विहरण करने की अनुज्ञा।
३०४१,३०४२	अध्वा के दो प्रकार। रात्रिविषयक मान्यता से संबंधित दो परम्पराएं।
३०४३-३०५०	रात्री में विहार करने पर मिथ्यात्व, उड्डाह तथा संयम और आत्मविराधना आदि दोष और उनसे संबंधित अपवाद।
३०५१,३०५२	पथ के दो प्रकार–छिन्नाध्वान्तर, अछिन्नाध्वान्तर। उनका अर्थ।
३०५३-३०६०	रात्री में पंथरूप अध्वगमन से लगने वाले दोषों का स्वरूप तथा मार्गोपयोगी उपकरण न रखने से लगने वाले दोष।
३०६१-३०६५	अपवाद में अध्वगमन संबंधी कारण और अध्वोपयोगी उपकरणों को न लेने पर योग्य सार्थ की प्रत्युपेक्षा की विधि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथा संख्या	विषय
३०६६-३३६८	सार्थ के पांच प्रकार। कौनसे सार्थ में निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को जाने से लाभ तथा उनके साथ जाने की विधि।
३०६९-३०७९	सार्थ की अर्हता तथा उसके गुणों की जानकारी करने की विधि।
३०८०	आठ प्रकार का सार्थवाह तथा आठ प्रकार के आदियात्रिक–सार्थ संरक्षक।
३०८१-३०८५	अध्वगमन में सार्थ संबंधी ५१२० भांगे।
३०८६-३०९१	निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों की सार्थवाह से अनुज्ञा लेने की विधि तथा भिक्षा, भक्तार्थना, वसति, स्थंडिल आदि विषयक यतनाओं का स्वरूप।
३०९२-३०९८	अध्वगमन उपयोगी अध्वकल्प का स्वरूप तथा लेने न लेने का विवेक। तद्विषयक प्रायश्चित्त।
३०९९-३१०३	अध्वकल्प का उपयोग निर्दोष अथवा आधाकर्मिक भोजन लेना निर्दोष?
३१०४-३१३८	अध्वगमन से संबंधित अशिव, दुर्भिक्ष राजद्विष्ट आदि व्याघात और उनसे लगने वाली यतनाओं का विस्तृत वर्णन।
३१३९	साधु-साध्वियों को संखड़ी में जाना दिन में भी नहीं कल्पता फिर रात्री में कैसे?
३१४०,३१४१	संखड़ी का तात्पर्य। उसमें जाने से निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थियों को प्रायश्चित्त।
३१४२-३१४८	दिवस और पुरुषों की अपेक्षा से संखड़ी के प्रकार तथा उनसे संबंधित प्रायश्चित्त।
३१४९,३१५०	संखड़ी जहां होती थी उन पुरातन स्थानों के नाम।
३१५१-३१५४	माया, कपट, लोलुपता आदि कारणों से संखड़ी में जाने से प्रायश्चित्त।
३१५५-३१५७	संखड़ी वाले गांव आदि में जाते समय मार्गगत लगने वाले दोषों का स्वरूप।
३१५८-३१६२	संखड़ी वाले गांव में पहुंचने के पश्चात् वसति, परतीर्थिक तर्जना आदि निमित्तों से लगने वाले दोष।
३१६३-३१६७	संखड़ी वाले गांव में पहुंचने पर आवश्यक, स्वाध्याय, प्रत्युपेक्षण, भोजन, भाषा, विचार और ग्लानत्व विषयक दोषों का वर्णन।
३१६८-३१७६	संखड़ी वाले ग्राम में न जाकर यदि श्रमण बाहर रहता है तो उससे लगने वाले दोष। उनसे संबंधित शिष्य-आचार्य की प्रश्नोत्तरी।
३१७७-३१८२	संखड़ी में जाने से कब दोष होते है और कब नहीं। आचार्य द्वारा समाधान।
३१८३-३१८९	अनाचीर्ण संखड़ियों के विविध प्रकार। उनका स्वरूप और उनसे प्रायश्चित्त।
३१९०-३२०६	संखड़ी में जाने योग्य आपवादिक कारण तथा उनसे संबंधित यतनाओं के प्रकार।

एगागिगमण-पदं

सूत्र ४५

३२०७	विचारभूमी में एकाकी निर्ग्रन्थ का जाना वर्जित।
३२०८-३२१७	विचारभूमी के दो प्रकार। रात्री में अकेले निर्ग्रन्थ को वहां जाने से लगने वाले दोष तथा उनसे संबंधित अपवाद और यतनाएं।
३२१८-३२२१	रात्री में विहारभूमी–स्वाध्यायभूमि में जाने की विधि और यतनाएं।

सूत्र ४६

३२२२-३२२४	अकेली निग्रन्थी को विचारभूमी में जाने पर प्रायश्चित्त तथा स्त्री स्वभाव का वर्णन।
३२२५-३२३४	निर्ग्रन्थी के योग्य उपाश्रय और उससे संबंधित यतनाएं और अपवाद।
३२३५-३२३९	श्रमणीयोग्य विहारभूमी विषयक यतनाएं और अपवाद।

आरियखेत्त-पदं

सूत्र ४७

३२४०-३२४३	समनुज्ञात क्षेत्र को छोड़कर शेष क्षेत्रों में विहार करने की वर्जना। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव विषयक प्रतिषेधात्मक सूत्रों का नामांकन पूर्वक उल्लेख।
३२४४-३२५८	आर्यक्षेत्र विषयक प्रथम उद्देशक के अंतिम सूत्र अथवा संपूर्ण कल्पाध्ययन को नहीं जानने वाला अथवा जानने पर उसे आचार में नहीं लेने वाला आचार्य की अयोग्यता का निदर्शन। सर्पशीर्ष और वैद्यपुत्र का दृष्टान्त।
३२५९,३२६०	कल्पाध्ययन का अजानकार आचार्य की अयोग्यता को प्रकट करने वाला वैद्यपुत्र का दृष्टान्त।
३२६१,३२६२	भगवान् महावीर ने कब और कहां आर्यक्षेत्र से संबंधित इस सूत्र की प्ररूपणा की–उसका उल्लेख। आर्यक्षेत्र की सीमा। विहार भूमी का कल्प।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथा संख्या	विषय
३२६३-३२६५	आर्य पद के निक्षप के १२ प्रकार और उनका स्वरूप। आर्य जनपद और उनकी राजधानियों का नामांकन।
३२६६-३२६९	आर्यक्षेत्र में श्रमण-श्रमणियों के विहार का कारण।
३२७०-३२७४	भगवान् महावीर के काल की अपेक्षा से आर्यक्षेत्र का निरूपण। आर्य क्षेत्र के बाहर विहरण करने में लगने वाले दोष और स्कन्दक का उदाहरण।
३२७५-३२८९	ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि की वृद्धि और रक्षा हेतु आर्यक्षेत्र के बाहर विहरण की आज्ञा और उससे संबंधित संप्रतिराजा का दृष्टान्त।
३२९०-३२९२	निर्ग्रंथ-निर्ग्रंथी कैसे उपाश्रय में रहे? उसकी निरवद्यता का प्रतिपादन।

दूसरा उद्देशक

उवस्सए बीज-पदं

सूत्र १

३२९३	उपाश्रय शब्द के चार निक्षेप।
३२९४	द्रव्य और भाव उपाश्रय का स्वरूप।
३२९५	उपाश्रय के एकार्थिक।
३२९६	वगडा के प्रकार तथा भाव वगडा का स्वरूप।
३२९७-३३०१	रहने योग्य और रहने अयोग्य उपाश्रय की जानकारी।
३३०२,३३०३	उत्क्षिप्त, विक्षिप्त, व्यतिकीर्ण, विप्रकीर्ण और यथालंद पदों की व्याख्या।
३३०४-३३०९	बीजाकीर्ण उपाश्रय में रहने से आने वाला प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोष, संयम और आत्मविराधना।

सूत्र २

३३१०-३३१२	राशीकृत, पुंजीकृत, कुलिकाकृत, पिहित, मुद्रित बीज वाले उपाश्रय में अगीतार्थ के रहने से आने वाला प्रायश्चित्त तथा उन पदों की व्याख्या। अपवाद में वहां रहने की यतना।
३३१३-३३२५	सूत्र में अगीतार्थ अथवा गीतार्थ का निर्देश न होने पर एक को अनुज्ञा तथा दूसरे को प्रतिषेध? यह कैसे? शिष्य की जिज्ञासा। आचार्य का नाना सूत्रों के स्वरूप द्वारा समाधान।
३३२६,३३२७	उत्सर्गसूत्र और अपवादसूत्र का विषय और उनका स्वस्थान।
३३२८-३३३१	शिष्य और आचार्य के संवाद के द्वारा उत्सर्ग और अपवाद सूत्र के रहस्य का प्रतिपादन।
३३३२	बीजाकीर्ण उपाश्रय में रक्षणीय तीन प्रकार की यतनाएं।
३३३३-३३६०	अगीतार्थ के लिए तीनों प्रकार की अयतना का स्वरूप।
३३६१,३३६२	गीतार्थ मुनि निष्कारण धान्यशाला में रहे तो प्रायश्चित्त।
३३६३,३३६४	वसति मार्गणा के बाद भी अप्राप्त हो तो गीतार्थ को धान्यशाला में रहने की आज्ञा।
३३६५-३३६७	अनुज्ञापना की यतना विषयक विवेक।
३३६८-३३७१	धान्यशाला में रहने की विधि।
३३७२-३३७५	स्वपक्ष यतना में आचार्य (गीतार्थ) द्वारा रक्षणीय विवेक।
३३७६,३३७७	परपक्ष यतना का स्वरूप। द्वारबंद करने की विधि।
३३७८-३३८७	धान्य चुराने वालों को साधुओं द्वारा प्रतिबोधित करने की विधि।
३३८८-३३९२	चोर को जानते हुए भी उसका स्वरूप न बताएं। चोर के सामने मौन रहने का कारण।

सूत्र ३

३३९३-३३९५	निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी के लिए कौन सा उपाश्रय अकल्पनीय? कोष्ठागुप्त, पल्यागुप्त, मालागुप्त आदि पदों की व्याख्या।
३३९६-३४०१	वर्षावास के लिए किस प्रकार के उपाश्रय में रहने से अगीतार्थ मुनि के लिए प्रायश्चित्त का विधान और अयतना का स्वरूप।

उवस्सए वियड-पदं

सूत्र ४

३४०२,३४०३	मद्य आदि से प्रतिबद्ध उपाश्रय में रहने का निषेध।
३४०४,३४०५	'हुरत्था' शब्द का अर्थ और 'परिहार पद' को छेद पद के बाद रखने का कारण।
३४०६	सुरा और सौवीर में अन्तर।
३४०७-३४१२	सुरा युक्त उपाश्रय में वास करने से अगीतार्थ को प्रायश्चित्त और वहां होने वाली अयतना का स्वरूप।
३४१३-३४१८	सुरायुक्त उपाश्रय में रहने वाले गीतार्थ मुनि के आश्रित स्वपक्ष-परपक्ष संबंधी यतना का स्वरूप।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथा संख्या विषय

उवस्सए उदग-पदं

सूत्र ५

३४१९ मदिरा के साथ पानी का संबंध।

३४२० शीतोदक-उष्णोदक, प्राशुक-अप्राशुक की चतुर्भंगी तथा उनसे युक्त उपाश्रय में रहने से प्रायश्चित्त।

३४२१-३४२९ शीतोदक से युक्त उपाश्रय में रहने से अगीतार्थ के लिए अयतना का स्वरूप।

उवस्सए जोइ-पदं

सूत्र ६

३४३० अग्नि पानी—दोनों परस्पर प्रतिपक्षी कैसे?

३४३१,३४३२ 'हुरत्था' शब्द का अर्थ आदि।

३४३३-३४५८ ज्योति का स्वरूप। वहां रहने से लगने वाले दोष। प्रतिलेखन, प्रमार्जन आदि पदों के द्वारा निरूपण। तत्संबंधी प्रायश्चित्त और यतनाएं।

उवस्सए पईव-पदं

सूत्र ७

३४५९,३४६० 'हुरत्था' शब्द का अर्थ आदि।

३४६१-३४७३ दीपक के दो प्रकार। उनसे युक्त उपाश्रय में रहने से लगने वाले दोष। प्रतिलेखना, प्रमार्जना आदि द्वारों द्वारा उनकी स्खलना। तद्विषयक प्रायाश्चित्त एवं वहां रक्षणीय यतनाएं।

उवस्सए असणाइ-पदं

सूत्र ८

३४७४-३४७७ प्रस्तुत सूत्र में गृहीत पिण्ड, लोचक, फाणित, शष्कुली, शिखरिणी आदि पदों की व्याख्या।

३४७८,३४७९ पिण्ड आदि से आकीर्ण उपाश्रय में रहने वाले निर्ग्रंथ-निर्ग्रंथियों के लिए प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोष।

सूत्र ९

३४८० कुतूहल वश भोज्य पिंड खाने की संभावना।

सूत्र १०

३४८१ आचार्य द्वारा पूर्वदृष्ट पिंड सन्निचय का कथन।

३४८२,३४८३ अवलिप्त, पिहित या मुद्रित पिंड वाले उपाश्रय में वर्षावास में रहना कल्पनीय अन्यथा प्रायश्चित्त।

आगमणगिहादिसु वास-पदं

सूत्र ११

३४८४,३४८५ श्रमणियों का आगमनगृह, विवृतगृह, वंशीमूल, वृक्षमूल अथवा अभ्रावकाश स्थानों में रहना अकल्पनीय और रहने पर प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोष।

३४८६-३४९८ आगमनगृह की व्याख्या तथा वहां रहने से लगने वाले विविध दोष और प्रायश्चित्त का विधान।

३४९९-३५०३ विवृतगृह, वंशीमूल तथा वृक्षमूल और अभ्रावकाश स्थान में रहने से लगने वाले दोष।

३५०४-३५०९ अपवाद स्वरूप श्रमणियों को आगमनगृह आदि स्थानों में रहने की विधि।

सूत्र १२

३५१०-३५१७ निर्ग्रंथों के रहने योग्य आगमनगृह आदि का स्वरूप और तत्र रहने की विधि।

सागारिय-पदं

सूत्र १३

३५१८ दोषों से विवर्जित उपाश्रय में अनुज्ञापूर्वक रहने का विधान।

३५१९,३५२० शय्यातर कौन? कब? उसका पिंड कितने प्रकार का तथा अशय्यातर कब? किस मुनि से संबंधित शय्यातर परिहर्तव्य और सागारिक पिंड के दोष आदि की प्रश्नावली।

३५२१-३४२४ सागारिक के पांच एकार्थक नाम तथा उनकी व्याख्या।

३५२५ शय्यातर का स्वरूप।

३५२६ सागारिक द्वारा संदिष्ट एक या अनेक के आधार पर चतुर्भंगी।

३५२७-३५३१ शय्यातर कब अथवा कब नहीं, इस विषय में अनादेश और शास्त्रसम्मत आदेश।

३५३२-३५३५ शय्यातर के कल्प्य-अकल्प्य पिंड आदि का स्वरूप और उसके प्रकार।

३५३६-३५३८ शय्यातर कब नहीं होता? उसका स्वरूप तथा आदेश और अनादेश की विवेचना।

३५३९ शय्यातर कब वर्जनीय होता है? रसापण दृष्टांत द्वारा उसकी पुष्टि।

३५४०-३५४९ तीर्थंकरों द्वारा शय्यातरपिण्ड का निषेध। उसके लेने पर तीर्थंकर की आज्ञाभंग आदि आठ दोषों का वर्णन।

३५५०-३५५५ शय्यातर पिंड के कल्पनीय होने के कारणों का वर्णन।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथा संख्या	विषय
३५५६	अनेक शय्यातर वसति होने पर उनसे शय्यादिक ग्रहण संबंधी चर्चाएं।
३५५७-३५६२	एक वसति के पिता-पुत्र दोनों के स्वामी होने पर, उनसे पिंडादिक ग्रहण करने की यतनाएं और लगने वाले दोषों का स्वरूप।
३५६३-३५६७	शय्यातर के देशान्तर जाने पर उसकी अनेक पत्नियों वाली वसति से पिंडादि ग्रहण संबंधी यतनाएं और दोषों का वर्णन।
३५६८	देशान्तर जाने का इच्छुक कोई व्यक्ति यदि गांव के बाहर रहता है उससे पिंडादिक ग्रहण करने की कल्पनीय-अकल्पनीय विधि।
३५६९-३५७३	देशान्तर के लिए प्रस्थित वणिक् से पिंडादिक ग्रहण संबंधी यतनाएं और उनका संखड़ी, अटवी आदि पदों द्वारा निरूपण।
३५७४-३५७८	महत्तर, अनुमहत्तर ललितासन, कटुक और दंडपति से परिगृहीत गोष्ठियों का वर्णन। उनसे संबंधित वसति, पिंड आदि ग्रहण करने की यतनाएं आदि।
३५७९-३५८१	शय्यातर के गोकुल से दूध आदि ग्रहण करने की कल्पनीय विधि।
३५८२-३५८४	अपवाद पद में अनेक शय्यातर होने पर एक शय्यातर की स्थापना। शेष शय्यातरों का भक्तपान कल्पनीय।
	सूत्र १४
३५८५	संसृष्ट पिंड ग्रहण की वर्जना।
३५८६	वानव्यंतर को बलि चढ़ाने के लिए किए हुए भक्त का ग्रहण-अग्रहण दोषकारी।
३५८७	'संखड़ी' के प्रकार। उसमें शय्यातर का भोजन मिश्रित न हो तो उसका ग्रहण कल्पनीय।
३५८८-३५९१	भद्रक और प्रान्त शय्यातर का चिंतन।
३५९२	प्रान्त शय्यातर के पिंड को ग्रहण न करने का परिणाम।
३५९३-३५९५	अन्य भोजन से संसृष्ट शय्यातर के पिंड को ग्रहण करने के अनेक दोषों का वर्णन।
	सूत्र १५,१६
३५९६	शय्यातर के वाटक से बाहर निष्कासित असंसृष्ट पिंड लेने में दोष।
३५९७	सागारिक दृष्ट का परिहार करने के कारण।
३५९८	संसृष्ट पिंड का ग्रहण अनुज्ञात कब और कैसे?
३५९९	प्रसंग आदि दोष कब नहीं?
३६००-३६०२	सागारिक पिंड की कल्पनीयता कब और कैसे?
	सूत्र १७
३६०३-३६०५	असंसृष्ट को संसृष्ट करने में प्रायश्चित्त का विधान तथा संयम और आत्मविराधना आदि दोष।
३६०६	संयत भाजन में डाला हुआ द्रव्य का अपहरण होने पर कर्मबंध विषयक मत-मतान्तर। कर्मबंध कब तक? उसका समाधान।
३६०७	संयत द्वारा स्पृष्ट भोजन से होने वाले दोष।
३६०८	संसृष्ट भोजन कराने, अनुमोदना करने से लगने वाले दोष।
३६०९,३६१०	लोकोत्तर मर्यादा और लौकिक मर्यादा का अतिक्रमण होने पर अथवा स्वयं करने तथा दूसरों से करवाने पर प्रायश्चित्त।
३६११	एक द्रव्य को दूसरे में प्रक्षिप्त करने पर कलह आदि दोषों की उत्पत्ति।
३६१२	स्वयं संयती संसृष्टपिंड कब कर सकती हैं?
३६१३	संसृष्ट किससे कराया जाए? उसकी प्रज्ञापना।
३६१४,३६१५	गीतार्थ-अगीतार्थ मुनियों के कौन सा सागारिक पिंड ग्रहणीय? संसृष्ट कराने का हेतु।
	सूत्र १८,१९
३६१६	आहृत सागारिक पिंड का प्रतिपादन।
३६१७-३६२४	आहृतिका का अर्थ तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से उसका स्वरूप तथा अवान्तर भेद।
३६२५	पहले और चौथे भंग के आधार पर कुछ आचार्यों की सागारिक द्वारा अपरिगृहीत आहृतिका के ग्रहण के कल्पनीयता की पुष्टि।
३६२६	कुछेक आचार्यों की प्ररूपणा—जो आहृतक शय्यातर के घर से निष्कासित है, दूसरों के हाथ में है, वह कल्पनीय है।
३६२७-३६३०	आचार्य द्वारा सूत्र में विधि, वारणा और विधि से निरूपण तथा पूर्वापर विरुद्ध और पारंपरिक अर्थ से युक्त प्रमाण सूत्र की संगति का निर्देश।
३६३१	अगीतार्थ सागारिक आहृतिका पिंड का ग्रहण क्यों करते है?
३६३२-३६३४	आहृतिका कब और कैसे कल्पनीय होती है? उसका वर्णन।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथा संख्या	विषय
	सूत्र २०,२१
३६३५-३६३७	निर्हृतिका का अर्थ। उसके चार विकल्प। कौन सा विकल्प शय्यातरपिंड, कौन सा नहीं? उसके ग्रहण के दोष और शय्यातर की विविध सोच।
३६३८	शय्यातर का पिंड सात कारणों से ग्रहणीय।
३६३९	अगीतार्थ मुनियों के लिए आहृतिका या निर्हृतिका लेने का विधान तथा गीतार्थ के लिए सागारिक पिंड।
३६४०	अगीतार्थ मुनि द्वारा आहृतिका और निहृतिका का वर्जन करने पर सूत्र साक्ष्य से तथ्य का प्रतिपादन।
३६४१	धर्मसंघ में व्यक्ति प्रमाण का स्वरूप।
३६४२	कृतघ्नता का स्वरूप। चन्द्रमा और कुमुद का उदाहरण।
	सूत्र २२,२३
३६४३,३६४४	सागारिक के अंशिका पिंड के कल्प्य-अकल्प्य की विवेचना।
३६४५	अंश और भाग की एकार्थता। अविभक्त अंशिका और अव्यवच्छिन्न अंशिका में अन्तर।
३६४६-३६५१	अनिर्गूढा अंशिका, सागारिक अंशिका, यंत्र विषयक अंशिका, भोज्य विषयक अंशिका, क्षीर विषयक अंशिका, मालाकार अंशिका का स्वरूप। उनके ग्रहण की कल्प्य-अकल्प्य विधि।
३६५२	अपवाद रूप में सागारिक अंशिका की ग्रहण विधि।
	सूत्र २४
३६५३	द्रव्य से विभक्त अथवा अविभक्त की कल्प्याकल्प्य विधि।
३६५४	सागारिक पिंड के विभाग का स्वरूप।
३६५५	पूज्यभक्त की परिभाषा और उसके एकार्थक नाम।
३६५६,३६५७	चेतित, प्राभृतिका, उपकरण, निष्ठित, निसृष्ट, प्रातिहारिक, अप्रातिहारिक आदि पदों की व्याख्या और उनके एकार्थक नाम।
	सूत्र २५-२७
३६५८	निष्ठित उपकरणों का ग्रहण अकल्पनीय।
	वत्थ-पदं
	सूत्र २८
३६५९	उपकरण का अधिकार।
३६६०-३६६३	यतियों को पांच प्रकार के वस्त्र कल्पनीय। जंगिक, सानक, पोतक और तिरीडपट्ट वस्त्रों का स्वरूप।
३६६४-३६७२	उपधि—वस्त्रों के परिभोग की विधि, उनकी संख्या और अपवाद आदि। मर्यादा के अतिक्रम में प्रायश्चित्त का विधान।
	रयहरण-पदं
	सूत्र २९
३६७३	मध्यम उपधि रजोहरण का प्रकरण।
३६७४	रजोहरण की व्याख्या और उसके पांच प्रकार।
३६७५	वच्चकचिप्पक और मुंजचिप्पक का स्वरूप।
३६७६-३६७८	रजोहरण पंचक के ग्रहण का क्रम। परिपाटी के विपरीत ग्रहण करने पर प्रायश्चित्त। और्णिक रजोहरण की प्रशस्यता क्यों? उसकी अप्राप्ति में उत्क्रम का विधान।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पीठिका

(गाथा १-८०५)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसा

१. काऊण नमोक्कारं, तित्थयराणं तिलोगमहियाणं।
कप्पव्ववहाराणं, वक्खाणविहिं पवक्खामि॥

त्रिलोक पूजित तीर्थंकरों को नमस्कार
कर कल्प और व्यवहार की
व्याख्यान पद्धति का विश्लेषण
करूंगा।

चौपड़ा गांव (महाराष्ट्र) का प्रसिद्ध विद्यालय 'विवेकान्द स्कूल'। परम पूज्य आचार्य महाप्रज्ञ का अहिंसा-यात्रा के दौरान वहां पदार्पण। वि. सं. २०६०, माघ शुक्ला चतुर्दशी, (५ फरवरी, २००४) वार बृहस्पति का मंगल दिन। मध्याह्न कालीन वेला। पौने तीन बजे का समय। उस पावन वेला में पूज्यपाद लोकमहर्षि युगप्रधान आचार्य महाप्रज्ञ ने अपने पवित्र कर कमलों से इस विशालकाय ग्रंथ के अनुवाद का शुभारंभ करवाया और मुझे (मुनि दुलहराज को) इस कार्य को आगे बढ़ाने के लिए निर्देश दिया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. **सक्कयपाययवयणाण विभासा जत्थ जुज्जते जं तु।**
अज्झयणनिरुत्ताणि य, वक्खाणविही य अणुओगो॥

संस्कृत और प्राकृत भाषा के वचन (एकवचन, द्विवचन) जो जहां उचित हो, उनकी विभाषा–विवेचन करना तथा कल्प[1] और व्यवहार[2]–इन दोनों ग्रंथों के अध्ययननिरुक्त की व्याख्यानविधि–यह अनुयोग है।

३. **नंदी य मंगलट्ठा, पंचग दुग तिग दुगे य चोद्दसए।**
अंगगयमणंगगए, कायव्व परूवणा पगयं॥

अनुयोग के प्रारंभ में मंगल के लिए नंदी का कथन करना चाहिए। नंदी पांच ज्ञानात्मक है। ज्ञान पंचक दो भागों में विभक्त है–प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष ज्ञान के तीन भेद हैं–अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान तथा केवलज्ञान। परोक्ष ज्ञान के दो भेद हैं–आभिनिबोधिकज्ञान तथा श्रुतज्ञान। श्रुतज्ञान के चौदह प्रकार हैं। अथवा श्रुतज्ञान के दो भेद हैं–अंगगत तथा अनंगगत अर्थात् अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य। उनकी प्ररूपणा करनी चाहिए। यहां प्रकृत है–मंगलार्थ नंदी। उसका कथन करना चाहिए।

४. **नंदी मंगलहेउं, न यावि सा मंगलाहि वइरित्ता।**
कज्जाभिलप्पनेया, अपुढो य पुढो य जह सिद्धा॥

नंदी–ज्ञानपंचक का कथन मंगल के लिए वक्तव्य है। वह नंदी मंगल से व्यतिरिक्त नहीं है।[3] कार्य, अभिलाप्य तथा ज्ञेय–ये कारण अभिलाप तथा ज्ञान से अपृथक् और पृथक्–दोनों प्रकार से सिद्ध हैं। (इसी प्रकार नंदी मंगल से पृथक् भी है और अपृथक भी है।)

५. **नामं ठवणा दविए, भावम्मि य मंगलं भवे चउहा।**
एमेव होइ नंदी, तेसिं तु परूवणा इणमो॥

मंगल चार प्रकार का होता है- नाममंगल, स्थापनामंगल, द्रव्यमंगल तथा भावमंगल। इसी प्रकार नंदी के भी चार प्रकार हैं–नामनंदी, स्थापनानंदी, द्रव्यनंदी तथा भावनंदी। उन नाममंगल आदि की प्ररूपणा इस प्रकार है।

६. **एगम्मि अणेगेसु व, जीवद्दव्वे व तव्विवक्खे वा।**
मंगलसत्ता नियता, तं सत्तामंगलं होइ॥

एक जीवद्रव्य अथवा अनेक जीवद्रव्यों में तथा उसके विपक्ष अर्थात् एक अजीवद्रव्य अथवा अनेक अजीवद्रव्यों में जो मंगलसंज्ञा नियत होती है वह संज्ञामंगल–नाममंगल है।

७. **जा मंगल त्ति ठवणा, विहिता सब्भावतो व असतो वा।**
तत्थ पुण असब्भावे, मंगलठवणागतो अक्खो॥

८. **जे चित्तभित्तिविहिया, उ घडादी ते य हुंति सब्भावे।**
तत्थ पुण आवकहिया, हवंति जे देवलोगेसु॥

जो सद्भूताकार अथवा असद्भूताकार में मंगल की स्थापना की जाती है, वह स्थापनामंगल है। अक्ष आदि में मंगल की स्थापना असद्भाव स्थापनामंगल है। चित्रभित्ति पर चित्रित घट आदि सद्भाव स्थापनामंगल हैं। जो देवलोक में चित्रभित्ति पर चित्रित घट आदि स्थापनामंगल होते हैं वे यावत्कथिक (शाश्वत) होते हैं और मनुष्यलोक में होनेवाले वे इत्वरिक होते हैं।

९. **उत्तरगुणनिप्फन्ना, सलक्खणा जे उ होंति कुंभाई।**
तं दव्वमंगलं खलु, जह लोए अट्ठ मंगलगा॥

१०. **णेगंतियं अणच्चंतियं च दव्वे उ मंगलं होइ।**
तव्विवरीयं भावे, तं पि य नंदी भगवती उ॥

जैसे लोक में आठ मंगल होते हैं, वैसे ही उत्तरगुणों[4] से निष्पन्न तथा लक्षणयुक्त कुंभ आदि द्रव्यमंगल होते हैं। द्रव्यमंगल अनैकान्तिक तथा अनात्यन्तिक होते हैं।[5] इसके विपरीत अर्थात् भावमंगल ऐकान्तिक और आत्यन्तिक होता है। वह भावमंगल है–भगवान् नन्दी।

११. **जह इंदो त्ति य एत्थं, तु मग्गणा होति नाममादीणं।**
सव्वाणुवायि सत्ता, ठवणादिपया उ पत्तेयं॥

(जहां केवल संज्ञा शब्द होता है वहां नाम, स्थापना आदि चारों का समवतार होता है।) जैसे किसी ने 'इन्द्र' शब्द का उच्चारण किया। यहां इस शब्द के साथ नाम आदि चारों की मार्गणा होती है। संज्ञा शब्द सर्वानुपाती होता है। अर्थात इन्द्र मात्र कहने से नामइन्द्र, स्थापनाइन्द्र, द्रव्यइन्द्र और भावइन्द्र–चारों ग्रहण होते हैं। स्थापना आदि पद प्रत्येक

---

१. सामर्थ्ये वर्णनायां च, छेदने करणे तथा।
औपम्ये चाधिवासे च, कल्पशब्दं विदुर्बुधाः॥
कल्प शब्द के छह अर्थ–सामर्थ्य, वर्णन, छेदन, करण, उपमा तथा अधिवास।

२. विधिवद् वपनाद् हरणाच्च व्यवहारः। यस्य नाऽऽभवति तस्य ह्रापयति, यस्य आभवति तस्मै ददाति व्यवहाराध्ययनवेत्तेति व्यवहारः।

३. श्लोक में प्रयुक्त 'अपि' शब्द की यह ध्वनि है कि नंदी मंगल से व्यतिरिक्त भी है। (बृ. पृ. ५)

४. मूलगुण की अपेक्षा उत्तरगुण से निष्पन्न। मूल गुण है–पृथ्वीकायिक जीव–मिट्टी। उत्तरगुण है–कुंभकार द्वारा चक्र, दंड, सूत्र आदि के प्रयत्न से निष्पन्न घट आदि।

५. पूर्ण कलश एकांततः सब के लिए मंगल है। परन्तु चोर और कृषक के लिए रिक्त घट शुभ होता है और गृहप्रवेश आदि में पूर्ण घट शुभ माना जाता है। अतः वह अनैकान्तिक है।
किसी व्यक्ति ने शोभनद्रव्यों के शकुन से प्रस्थान किया और आगे उसने अशोभन द्रव्य देखे। इससे पूर्व का शुभ प्रतिहत हो गया। अतः वह आत्यन्तिक है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् स्व-स्वपद के अनुसार व्यवस्थित होते हैं। वे परस्पर अनुगमनशील नहीं होते।

१२. अत्ताभिप्पायकया, सन्ना चेयणमचेयणे वा वि।
ठवणादीनिरविक्खा, केवल सन्ना उ नामिंदो॥

चेतन अथवा अचेतन द्रव्यों में स्वेच्छा से इन्द्र आदि संज्ञा की जाती है, वह स्थापना आदि से सापेक्ष होती है। स्थापना आदि से निरपेक्ष जो केवल संज्ञा होती है, उस अर्थ से निरपेक्ष होती है, वह नामइन्द्र है।

१३. सब्भावमसब्भावे, ठवणा पुण इंदकेउमाईया।
इत्तरमणित्तरा वा, ठवणा नामं तु आवकहं॥

स्थापनेन्द्र के दो प्रकार हैं—सद्भाव स्थापनाइन्द्र और असद्भाव स्थापनाइन्द्र। अक्ष, वराटक आदि में इन्द्र की स्थापना असद्भाव स्थापनाइन्द्र है। इन्द्रकेतु आदि में इन्द्र की स्थापना सद्भाव स्थापनाइन्द्र है। स्थापना इत्वर और अनित्वर दोनों प्रकार की होती है। नाम नियमतः यावत्कथिक ही होता है।

१४. दव्वे पुण तल्लद्धी, जस्सातीता भविस्सते वा वि।
जो वा वि अणुवउत्तो, इंदस्स गुणे परिकहेइ॥

जिसमें वह लब्धि अर्थात् इन्द्र की लब्धि है, जो अतीत में इन्द्र था अथवा भविष्य में इन्द्र होगा, वह द्रव्यइन्द्र है। जो इन्द्र के गुणों को दूसरों को कहता है, जो अनुपयुक्त है वह भी द्रव्येन्द्र है।

१५. जो पुण जहत्थजुत्तो, सुद्धनयाणं तु एस भाविंदो।
इंदस्स व अहिगारं, वियाणमाणो तदुवउत्तो॥

जो यथार्थ से युक्त है, वह भावेन्द्र है। यह शब्द आदि शुद्ध नयों द्वारा सम्मत है। अथवा जो इन्द्र शब्द के अधिकार—अर्थ को जानता हुआ उसमें उपयुक्त होता है, वह भावेन्द्र है।

१६. न हि जो घडं वियाणइ, सो उ घडीभवइ नेय वा अग्गी।
नाणं ति य भावो त्ति य, एगट्ठमतो अदोसो त्ति॥

शिष्य ने कहा—जो घट को जानता है वह घटी नहीं होता और जो अग्नि को जानता है वह अग्नि नहीं होता। (इसलिए यह जो कहा गया कि जो इन्द्र के अर्थ को जानता है वह भावेन्द्र है, यह सही नहीं है।) आचार्य कहते हैं—ज्ञान, भाव, अध्यवसाय तथा उपयोग—ये एकार्थक हैं। अतः वह अदोष है।

१७. जमिदं नाणं इंदो, न व्वतिरिच्चति ततो उ तन्नाणी।
तम्हा खलु तब्भावं, वयंति जो जत्थ उवउत्तो॥

'यह इन्द्र है', ऐसा जो ज्ञान है उससे इन्द्रज्ञानी अतिरिक्त नहीं है। अतः जो 'इन्द्र' भाव में उपयुक्त है, उसे इन्द्रादिभाव कहते हैं।

१८. चेयण्णस्स उ जीवा, जीवस्स उ चेयणाओ अन्नत्ते।
दवियं अलक्खणं खलु, हविज्ज ण य बंधमोक्खा उ॥

(ज्ञान और ज्ञानी का अभेद न मानने पर ये दोष आते हैं।) चैतन्य का जीव से और जीव से चेतना का अन्यत्व मानने पर जीवद्रव्य लक्षणरहित हो जाएगा। (**चेतनालक्षणो जीवः**—यह घटित नहीं होगा।) इस स्थिति में बंध और मोक्ष भी नहीं होगा। (क्योंकि अचेतन न बंधता है और न मुक्त होता है।)

१९. जह ठवणिंदो थुव्वइ, अणुग्गहत्थीहिं तह न नामिंदो।
एमेव दव्वभावे, पूयाथुतिलद्धिनाणत्तं॥

जैसे अनुग्रहार्थी व्यक्ति स्थापनाइन्द्र की स्तुति करते हैं, पूजा करते हैं, वैसे नामइन्द्र की नहीं करते। इसी प्रकार द्रव्यइन्द्र और भावइन्द्र में पूजा, स्तुति और लब्धि विषयक नानात्व है। (द्रव्यइन्द्र स्तुत्य और पूजनीय तथा उपयोग-लब्धियुक्त नहीं होता। भावेन्द्र स्तुत्य और पूजनीय तथा उपयोगलब्धियुक्त होता है।)

२०. विग्घोवसमो सद्धा, आयर उवयोग निज्जराऽधिगमो।
भत्ती पभावणा वि य, निवनिहिविज्जाइ आहरणा॥

मंगल करने का प्रयोजन क्या है? मंगल के ये आठ प्रयोजन हैं—(१) विघ्नों का उपशमन (२) शिष्य के श्रद्धा की वृद्धि (३) शास्त्रों के धारण में आदर (४) शास्त्रविषयक उपयोग (५) ज्ञानावरणीय कर्म की निर्जरा (६) शास्त्रों का स्पष्ट-स्पष्टतर अधिगम (७) गुरु और शास्त्रों के प्रति भक्ति की वृद्धि (८) प्रभावना। इस विषयक ये उदाहरण हैं—नृप, निधि, विद्या आदि।[1]

२१. जो जेण विणा अत्थो, न सिज्झई तस्स तव्विहं करणं।
विवरीय अभावेण य, न सिज्झई सिज्झई इहरा॥

जो प्रयोजन जिस करण (साधन) के बिना सिद्ध नहीं होता, उस प्रयोजन को उसी साधन से करना चाहिए। विपरीत

---

१. *नृप*—कोई कार्यार्थी पुरुष राजा को प्रसन्न कर अपना प्रयोजन सिद्ध करना चाहता था। वह राजा के पास उपहार लेकर उपस्थित होता है और राजा को हाथ जोड़कर उसके चरणों में प्रणाम करता है। राजा प्रसन्न होता है और तब उस व्यक्ति का प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। *निधि, विद्या आदि*—कोई व्यक्ति निधि का उत्खनन करना चाहता है अथवा किसी विद्या अथवा मंत्र की सिद्धि करना चाहता है तो वह द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार उपचार करता है। जैसे—द्रव्यतः—वह पुष्पों के द्वारा उपचार करता है। क्षेत्रतः—श्मशान आदि स्थानों में, कालतः—कृष्णपक्ष की चतुर्दशी आदि तिथियों में और भावतः—प्रतिलोम और अनुलोम उपसर्गों को सहन करता है। इस उपचार के द्वारा वह निधि, विद्या और मंत्र को सिद्ध कर सकता है। इस उपचार के अभाव में कुछ भी सिद्ध नहीं होता। (बृ. पृ. १०)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधनों से अथवा साधनों के अभाव से वह प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। वह सिद्ध होता है अविपरीत साधनों के द्वारा।

२२. जयवि य तिट्ठाण कयं, तह वि हु दोसो न बाहए इयरो।
तिसमुब्भवदिट्ठंता, सेसं पि हु मंगलं होइ॥

यद्यपि मंगल तीन स्थानों—आदि, मध्य और अंत में किया जाता है, फिर भी इतर अर्थात् अपान्तराल में अमंगल का दोष बाधा नहीं पहुंचाता। इसको सिद्ध करने के लिए यह दृष्टांत है। तीन द्रव्यों से अर्थात् गुड़, आटा और घृत से मोदक बनता है। मोदक आदि, मध्य और अन्त में—अर्थात् पूरा मोदक मीठा-मीठा ही होता है। उसी प्रकार शेष शास्त्र भी मंगल ही मंगल है।

२३. न वि य हु होयऽणवत्था, न वि य हु मंगलममंगलं होइ।
अप्पपराभिव्वत्तिय, लोणुण्हपदीवमादि व्व॥

(शिष्य ने कहा—शास्त्र स्वयं मंगल है। नंदी शास्त्र से भिन्न नहीं है। उसे अन्य मंगल के रूप में प्रस्तुत करना अनवस्था दोष है।) आचार्य कहते हैं—निश्चित रूप से अनवस्था नहीं होती और न मंगल अमंगल होता है। आत्मपराभिव्यक्तितः अर्थात् नंदी स्वयं मंगल है और शास्त्र भी उसको मंगल करता है अथवा शास्त्र स्वयं मंगल है और नंदी भी उसको मंगल करती है—तो दोनों के योग से और अधिक मंगल होता है। जैसे दो लवणों का एकीकरण अधिक लवणता पैदा करता है। दो उष्ण एकत्रित होने पर वे उष्णतर हो जाते हैं तथा दो प्रदीपों का प्रकाश मिलने पर प्रकाश की अधिकता होती है। वैसे ही दो मंगलों का एकत्रीकरण विशेष मंगल को उत्पन्न करता है।

२४. नंदी चतुक्क दव्वे, संखब्बारसग तूरसंघातो।
भावम्मि नाणपणगं, पच्चक्खियरं च तं दुविहं॥

नंदी के चार निक्षेप हैं—नामनंदी, स्थापनानंदी, द्रव्यनंदी तथा भावनंदी। द्रव्यनंदी है—शंख आदि बारह प्रकार का तूर्य (वाद्य) संघात।[1] भावनंदी है—पांच ज्ञान। ज्ञानपंचक के दो प्रकार हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष।

२५. जीवो अक्खो तं पइ, जं वट्टति तं तु होई पच्चक्खं।
परतो पुण अक्खस्सा, वट्टंतं होइ पारुक्खं॥

जीव अक्ष[2] है। उसके प्रति प्रवर्तित होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष है। जो अक्ष से परतः ज्ञान होता है वह है परोक्ष। (आत्मा से होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष है तथा इन्द्रिय और मन से होने वाला ज्ञान परोक्ष है।)

२६. केसिंचि इंदियाइं, अक्खाइं तदुवलद्धि पच्चक्खं।
तं तु न जुज्जइ जम्हा, अग्गाहगमिंदियं विसए॥

कुछेक दार्शनिक (वैशेषिक आदि) इन्द्रियों को अक्ष मानते हैं। उनकी उपलब्धि—ज्ञान को वे प्रत्यक्ष मानते हैं। (वे कहते हैं—**'चाक्षुषादिविज्ञानं प्रत्यक्षम्'**)। उनका यह सिद्धांत उचित नहीं है क्योंकि इन्द्रियां (पौद्गलिक होने के कारण) विषय की ग्राहक नहीं होतीं।

२७. न वि इंदियाइं उवलद्धिमंति विगतेसु विसयसंभरणा।
जह गेहगवक्खाइं, जो अणुसरिया स उवलद्धा॥

इन्द्रियां उपलब्धिमान् नहीं हैं, क्योंकि विषय के अतीत हो जाने पर भी, उस विषय की स्मृति होती है, जैसे—गृह के गवाक्ष में उपलब्ध अर्थों का, गेहगवाक्ष के अतीत हो जाने पर भी उन विषयों का स्मरण होता है। जो अनुस्मर्ता है, उसको वे विषय प्राप्त हो जाते हैं। (अर्थात् आत्मा अनुस्मर्ता है।)

२८. धूमनिमित्तं नाणं, अग्गिम्मिं लिंगियं जहा होइ।
तह इंदियाइलिंगं, तं नाणं लिंगियं न कहं॥

जैसे धूम के निमित्त से होने वाला अग्नि का ज्ञान लैंगिक होता है, वैसे ही इन्द्रिय आदि लिंग हैं, उनसे होने वाला ज्ञान लैंगिक कैसे नहीं होगा?

२९. अपरायत्तं नाणं, पच्चक्खं तिविहमोहिमाईयं।
जं परतो आयत्तं, तं पारोक्खं हवइ सव्वं॥

जो अपरायत्त ज्ञान है वह प्रत्यक्ष है। वह अवधिज्ञान आदि तीन प्रकार का है। जो परायत्त ज्ञान है, वह सारा परोक्ष है।

३०. ओहि मणपज्जवे या, केवलनाणं च होति पच्चक्खं।
आभिणिबोहियनाणं, सुयनाणं चेव पारोक्खं॥

प्रत्यक्ष ज्ञान तीन हैं—अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान तथा केवलज्ञान। परोक्ष ज्ञान दो हैं—आभिनिबोधिकज्ञान तथा श्रुतज्ञान।

३१. विवरीयवेसधारी, विज्जंजणसिद्ध देवताए वा।
छाइय सेवियसेवी, बीयादीओ वि पच्चक्खा॥

३२. पुढवीइ तरुगिरिया सरीरादिगया य जे भवे दव्वा।
परमाणू सुहुदुक्खादओ य ओहिस्स पच्चक्खा॥

अवधिज्ञान चार प्रकार का है—द्रव्यतः, क्षेत्रतः, कालतः और भावतः।

द्रव्यतः अवधिज्ञान—वेष का परिवर्तन करने वाले (नेपथ्य का परिवर्तन करने वाले, गुटिका का प्रयोग करने वाले स्वर

---

१. भंभा मुकुंद महल, कडंब झल्लरि हुडुक्क कंसाला।
काहला तलिमा वंसो, पणवो संखो य बारसमो॥

२. अश्नाति—भुंक्ते यथायोगं सर्वानर्थानिति अक्षः—जो यथायोग सभी अर्थों को जानता है, वह है अक्ष—आत्मा।
अश्नुते—ज्ञानेन व्याप्नोति सर्वान् ज्ञेयानिति अक्षः—जो ज्ञान के द्वारा सभी ज्ञेयों को जानता है, वह है अक्ष—आत्मा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परावर्तन करने वाले, वर्ण परावतन करने वाले) तथा जो विद्यासिद्ध, अंजनसिद्ध और देवता द्वारा छादित (परिगृहीत) हैं तथा जो बीज आदि हैं—इन सबको अवधिज्ञानी प्रत्यक्षतः जानता है।

जो पृथ्वी में, वृक्षों में तथा पर्वतों में द्रव्य हैं—निधियां हैं उनको तथा जो शरीर आदि गत द्रव्य हैं, जो परमाणु हैं तथा जो सुख-दुःख आदि है—इन सबको अवधिज्ञानी प्रत्यक्षतः जानता है। यह द्रव्यतः अवधिज्ञान है।

३३. अच्चंतमणुवलद्धा, वि ओहिनाणस्स होंति पच्चक्खा।
ओहिन्नाणपरिगया, दव्वा असमत्तपज्जाया॥

चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा अत्यंत अनुपलब्ध पदार्थ भी अवधिज्ञानी के लिए प्रत्यक्ष होते हैं। अवधिज्ञान के द्वारा जाने हुए पदार्थ असमासपर्यायवाले होते हैं अर्थात् द्रव्य के सारे पर्याय अवधिज्ञान के द्वारा जाने नहीं जा सकते। केवल केवलज्ञानी ही उन्हें जान सकता है।

३४. खित्तिम्मि उ जावइए, पासइ दव्वाइं तं न पासइ या।
काले नाणं भइयं, को सो दव्वं विणा जम्हा॥

क्षेत्रतः अवधिज्ञान—जघन्यतः अथवा उत्कर्षतः जितने क्षेत्र के अवधिज्ञान की शक्ति प्राप्त है, वह उतने क्षेत्रगत रूपी द्रव्यों को देख सकता है, किन्तु उस क्षेत्र को नहीं देख सकता। (क्योंकि क्षेत्र अमूर्त होता है।)

कालतः अवधिज्ञान—कालविषयक अवधिज्ञान विकल्पित होता है—कभी होता है, कभी नहीं होता।[1] वह ऐसा कौन-सा द्रव्य है जो द्रव्य की पर्याय के बिना अन्य काल द्रव्य हो? क्योंकि काल द्रव्य की ही अवस्था विशेष है। कहा भी है—**'दव्वस्स चेव सो पज्जातो इति।'** अतः वह अवधिज्ञानी के प्रत्यक्ष होता है। पर्यायों में भी कुछेक पर्यायों को ही अवधिज्ञानी जान पाता है।

भावतः अवधिज्ञान—अवधिज्ञानी भावतः अनंत भावों को जानता है। यह अनंत सभी भावों का अनंतवां भाग है।

३५. तं मणपज्जवनाणं, जेण वियाणाइ सन्निजीवाणं।
दट्ठुं मणिज्जमाणे, मणदव्वे माणसं भावं॥

संज्ञी जीवों द्वारा मनन में व्यापृत मनोद्रव्यों को देखकर जिस ज्ञान से मानसिक भाव को जान लिया जाता है, वह मनःपर्यवज्ञान है।

३६. जाणइ य पिहुजणो वि हु, फुडमागारेहिं माणसं भावं।
एमेव य तस्सुवमा, मणदव्वपगासिए अत्थे॥

सामान्य पुरुष भी स्फुट आकारों के द्वारा निश्चित रूप से मानसिक भावों को जान लेता है। इसी प्रकार मनःपर्यवज्ञानी के भी मनोद्रव्य द्वारा प्रकाशित अर्थ-विषयक उपमा जाननी चाहिए। (अर्थात् सामान्य पुरुष की भांति ही मनःपर्यवज्ञानी भी मनोद्रव्यगत आकारों को देखकर उन-उन मानसिक भावों को जान लेता है।)

३७. पंकसलिले पसाओ, जह होइ कमेण तह इमो जीवो॥
आवरणे झिज्जंते, विसुज्झए केवलं जाव॥

पंकिल—गुदला पानी कतकचूर्ण के योग से क्रमशः साफ होता है, वैसे ही यह जीव भी अपने कार्मिक आवरणों को क्षीण करता हुआ तब पूर्ण शुद्ध होता है जब उसे कैवल्य की प्राप्ति होती है।[2]

३८. दव्वादिकसिणविसयं, केवलमेगं तु केवलन्नाणं।
अणिवारियवावारं, अणंतमविकप्पियं नियतं॥

केवलज्ञान का विषय है समस्त द्रव्य। वह केवल—असहाय अर्थात् अन्य ज्ञान से निरपेक्ष, एक—अनन्यसदृश, अनिवारित व्यापार अर्थात् निरंतर उपयोगवाला, अनंत, अविकल्पित—विकल्परहित (भेदरहित) तथा नियत—सर्वकालिक होता है।

३९. पच्चक्खं परोक्खं वा, जं अत्थं ऊहिऊण निद्दिसइ।
तं होइ अभिणिबोहं, अभिमुहमत्थं न विवरीयं॥

प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष विषय की तर्कणा कर निश्चयपूर्वक कहता है, वह ज्ञान अर्थ के प्रति अभिमुख होने के कारण आभिनिबोधिक ज्ञान है। जो अर्थाभिमुख नहीं होता वह आभिनिबोधिक ज्ञान नहीं है।

४०. अत्थाणंतरचारिं, नियतं चित्तं तिकालविसयं तु।
अत्थे य पडुप्पण्णे, विणियोगं इंदियं लहइ॥

वह दो प्रकार का है—इन्द्रियनिश्रित तथा अनिन्द्रियनिश्रित (मनोनिश्रित) मन अर्थानन्तरचारी होता है अर्थात् इन्द्रियों का अपने विषय में व्यापृत होने के पश्चात् मन व्यापृत होता है। वह नियतार्थविषय होता है अर्थात् एक काल में एक ही विषय में व्यापृत होता है, अनेक विषयों में नहीं। मन त्रिकाल—अतीत, वर्तमान और भविष्य—विषयवाला

---

१. क्योंकि यहां यदि हम कालद्रव्य को समयक्षेत्र भावी स्वीकार करते हैं तो वह केवल समयमात्र का होता है और 'समयमात्र काल' अरूपी होने के कारण वह अवधिज्ञान का विषय नहीं बनता।

२. यह जीव भी अपूर्वकरण गुणस्थान से प्रारंभ कर क्षपणश्रेणी में आरूढ़ होकर विशुद्ध-विशुद्धतर अध्यवसायों के प्रभाव से कर्मावरण को क्षीण करता हुआ कैवल्य को प्राप्तकर पूर्णरूप से घातीकर्मों से मुक्त हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है। इन्द्रियां केवल वर्तमान अर्थ में ही विनियोग–व्यापृत होती हैं।

४१. मतिविसयं मतिनाणं, मतिपुव्वं पुण भवे सुयन्नाणं।
तं पुण समतिसमुत्थं, परोवदेसा व सव्वं पि॥

मतिज्ञान मतिविषयक अर्थात् मति के अनुसार होता है। श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है। सारा श्रुतज्ञान दो भेदों में विभक्त हैं–स्वमतिसमुत्थ तथा परोपदेशसमुत्थ।

(प्रत्येकबुद्ध तथा पदानुसारीप्रज्ञा वालों के श्रुतज्ञान स्वमतिसमुत्थ होता है और सामान्य व्यक्तियों के वह परोपदेशसमुत्थ होता है।)

४२. अक्खर सण्णी सम्मं, साइयं खलु सपज्जवसियं च।
गमियं अंगपविट्ठं, सत्त वि एए सपडिवक्खा॥

परोपदेशसमुत्थ श्रुतज्ञान के चौदह प्रकार हैं।

१. अक्षरश्रुत	८. अनादिश्रुत
२. अनक्षरश्रुत	९. सपर्यवसितश्रुत
३. संज्ञिश्रुत	१०. अपर्यवसितश्रुत
४. असंज्ञिश्रुत	११. गमिकश्रुत
५. सम्यक्श्रुत	१२. अगमिकश्रुत
६. मिथ्याश्रुत	१३. अंगप्रविष्ट
७. सादिश्रुत	१४. अनंगप्रविष्ट।

४३. अक्खरतिगरूवणया, पढमनयादेसतो न तं खरति।
अभिलप्पा पुण भावा, होंति खरा अक्खरा चेव॥

अक्षर के तीन प्रकार हैं–संज्ञाक्षर, लब्धि-अक्षर तथा व्यंजनाक्षर। इन तीनों की प्ररूपणा करनी चाहिए। प्रथमनय अर्थात् नैगमनय के आदेशानुसार अक्षर कभी अपने स्वभाव से चलित नहीं होता। जो अभिलाप्य भाव हैं, वे दो प्रकार के हैं–क्षर और अक्षर। (क्षर हैं घट आदि तथा अक्षर हैं धर्मास्तिकाय आदि)।

४४. संठाणमगाराई, अप्पाभिप्पायतो व जं जस्स।
लद्धी पंचविगप्पा, जस्सुवलब्भो उ जो अत्थो॥

अकार आदि का जो संस्थान है, वह संज्ञाक्षर है। अथवा अपने अभिप्राय से जिस अक्षर का जो संस्थान किया जाता है उसको संज्ञाक्षर कहते हैं। लब्ध्यक्षर के पांच प्रकार हैं, जैसे–श्रोत्रेन्द्रियलब्ध्यक्षर, जिह्वेन्द्रियलब्ध्यक्षर, चक्षुरिन्द्रिय-लब्ध्यक्षर, घ्राणेन्द्रियलब्ध्यक्षर तथा स्पर्शनेन्द्रियलब्ध्यक्षर। (छठा है–नोइन्द्रियलब्ध्यक्षर।) पांच इन्द्रियों तथा मन के द्वारा जो उपलभ्य अर्थ है, उसके द्वारा जो अक्षरों की उपलब्धि होती है वह श्रोत्रेन्द्रिय आदि का लब्ध्यक्षर है। जैसे श्रोत्रेन्द्रिय से शंख शब्द सुना। उसके बाद जो दो अक्षरों 'शंख' की लब्धि है, वह श्रोत्रेन्द्रियलब्ध्यक्षर है।

४५. सामन्न विसेसेण य, दुविहुवलद्धी उ पढमिय अभेया।
तिविहा य अणुवलद्धी, उवलद्धी पंचहा बिइया॥

अथवा उपलब्धि (उपलब्ध्यक्षर) के दो प्रकार हैं–सामान्य और विशेष। अर्थात् सामान्यलब्ध्यक्षर और विशेष-लब्ध्यक्षर। जो प्रथम सामान्योपलब्धि है वह अभेदात्मक होती है। अनुपलब्धि के तीन प्रकार हैं और जो दूसरी-विशेष उपलब्धि है वह पांच प्रकार की है।

४६. अच्चंता सामन्ना, य विस्सुती होइ अणुवलद्धीओ।
सारिक्ख विवक्खोभय, उवमाऽऽगमतो य उवलद्धी॥

अनुपलब्धि के तीन प्रकार ये हैं–अत्यंत से अर्थात् एकांत से, सामान्य से और विस्मृति से। उपलब्धि के पांच प्रकार ये हैं–सदृशता से, विपक्ष से, उभय से–सदृशता और विपक्ष–दोनों से, उपमा से तथा आगम से।

४७. अत्थस्स दरिसणम्मि वि, लद्धी एगंततो न संभवइ।
दुट्ठं पि न याणंते, बोहिय पंडा फणस सत्तू॥

पदार्थ को देखने पर भी अक्षरों की लब्धि एकांततः नहीं हो सकती। जैसे–बोधिक अर्थात् पश्चिम दिशावासी लोग 'पनस' को देखकर भी 'यह पनस है' ऐसा नहीं जान पाते। क्योंकि पनस उनके लिए अत्यंत परोक्ष है। इसी प्रकार पांडुमथुरावासी 'सत्तू' को देखकर भी 'ये सत्तू हैं', ऐसा नहीं जान पाते। (क्योंकि वहां सत्तू होते ही नहीं। यह एकांततः अनुपलब्धि है।)

४८. अत्थस्स उग्गहम्मि वि, लद्धी एगंततो न संभवति।
सामन्ना बहुमज्झे, मासं पडियं जहा दट्ठं॥

पदार्थ को जान लेने पर भी, उसकी अन्य पदार्थ के साथ सामान्यता–सदृशता होने के कारण एकांततः उसे अक्षर-लब्धि नहीं होती। जैसे बहुत धान्यों के बीच पड़े हुए उड़द को देख लेने पर भी, उसे उसका अक्षरलाभ नहीं होता। (यह सामान्य से अनुपलब्धि है।)

४९. अत्थस्स वि उवलंभे, अक्खरलद्धी न होइ सव्वस्स।
पुव्वोवलद्धमत्थे, जस्स उ नामं न संभरति॥

पदार्थ का उपलंभ हो जाने पर भी सभी के उस विषयक अक्षरलब्धि नहीं होती। जिसको विवक्षित अर्थ विषयक पूर्व उपलब्ध नाम स्मृति में नहीं है तो उसे उस वस्तु की अक्षर-लब्धि नहीं होती। (यह विस्मृति से होने वाली अनुपलब्धि है।)

५०. सारिक्ख-विवक्खेहि य, लभति परोक्खे वि अक्खरं कोइ।
सबलेर-बाहुलेरा, जह अहि-नउला य अणुमाणे॥

कोई व्यक्ति पदार्थ के परोक्ष होने पर भी सादृश्य के कारण उसका वाचक अक्षर प्राप्त कर लेता है। जैसे कोई 'शाबलेय' (चितकबरी गाय आदि) को देखकर उसकी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सदृशता से बाहुलेय (काली गाय आदि) का ज्ञान कर लेता है। वह कहता है--ऐसा होता है 'बाहुलेय'। इसी प्रकार पदार्थ के परोक्ष होने पर भी विपक्षतः उसका वाचक अक्षर प्राप्त कर लेता है। जैसे--सर्प को देखकर नकुल का अनुमान तथा नकुल को देखकर सर्प का अनुमान हो जाता है।

५१. एगत्थे उवलद्धे, कम्मि वि उभयत्थ पच्चओ होइ।
अस्सतरि खर-ऽस्साणं, गुल-दहियाणं सिहरिणीए॥

उभयधर्मवाली किसी एक वस्तु को देखकर दोनों वस्तुओं का प्रत्यय--वाचक अक्षर प्राप्त हो जाता है। जैसे अश्वतर--खच्चर को देखकर गधे का और घोड़े का--दोनों का ज्ञान हो जाता है। इसीप्रकार शिखरिणी को देखकर गुड़ और दही--दोनों का अक्षरलाभ हो जाता है।

५२. पुव्वं पि अणु अणुवलद्धो, घिप्पइ अत्थो उ कोइ ओवम्मा॥
जह गोरेवं गवयो, किंचिविसेसेण परिहीणो॥

पहले कोई पदार्थ अनुपलब्ध (अज्ञात) होने पर भी वह उपमा से गृहीत होता है, जैसे--गाय के सदृश होता है गवय। वह किंचित् विशेषण से रहित होता है अर्थात् उसके गलकंबल नहीं होता। (वन में परिभ्रमण करते हुए किसी व्यक्ति ने गवय देखा। तत्काल उसे **'यथा गौस्तथा गवयः'** की उपमा याद आ जाती है और उस उपमा से उसे गवय का अक्षरलाभ हो जाता है।)

५३. अत्तागमप्पमाणेण अक्खरं किंचि अविसयत्थे वि।
भवियाऽभविया कुरवो, नारग दियलोय मोक्खो य॥

आप्तागम को प्रमाण मानने वाले व्यक्तियों के लिए अविषयभूत पदार्थों का भी अक्षरलाभ होता है। जैसे--भव्य-अभव्य, देवकुरु-उत्तरकुरु, नारक, देवलोक, मोक्ष--आप्तागम के प्रमाण के अनुसार इनका अक्षरलाभ--ज्ञान होता है। यह आगमोपलब्धि है।

५४. ओसन्नेण असन्नीण अत्थलंभे वि अक्खरं नत्थि।
अत्थो च्चिय सन्नीणं, तु अक्खरं निच्छए भयणा॥

असंज्ञी प्राणियों के अर्थलाभ--पदार्थ की उपलब्धि होने पर भी उनको उत्सन्न--एकांततः अक्षरलाभ नहीं होता। (वे नहीं जान पाते कि यह शंख का शब्द है।) संज्ञी जीवों के ही पदार्थ की उपलब्धि होते ही अक्षरलाभ हो जाता है। निश्चय करने में भजना--विकल्प है। (जैसे--यह शब्द शंख का ही है। यह शब्द शार्ङ्ग का ही है--ऐसा निश्चय होता भी है और नहीं भी होता।)

५५. अत्थाभिवंजगं वंजणक्खरं इच्छितेतरं वदतो।
रूवं व पगासेणं, वंजति अत्थो जओ तेणं॥

ईप्सित अथवा अनीप्सित (विवक्षित अथवा अविवक्षित) बोलते हुए व्यक्ति का जो अर्थाभिव्यंजक अभिधान होता है वह व्यंजनाक्षर है। प्रश्न है उसे व्यंजनाक्षर क्यों कहा जाता है? अभिधानाक्षर क्यों नहीं कहा जाता? जैसे अंधकार में स्थित रूप--घट आदि प्रकाश से व्यंजित होता है, प्रकट होता है, इस कारण से उसे व्यंजनाक्षर कहा जाता है।

५६. तं पुण जहत्थनियतं, अजहत्थं वा वि वंजणं दुविहं।
एगमणेगपरियायं, एमेव य अक्खरेसुं पि॥

५७. सक्कय-पाययभासाविणियुत्तं देसतो अणेगविहं।
अभिहाणं अभिधेयातो होइ भिण्णं अभिण्णं च॥

व्यंजन के दो प्रकार हैं--यथार्थनियत तथा अयथार्थ। अथवा व्यंजन के दो प्रकार हैं--एक पर्यायवाला और अनेक पर्यायवाला। अथवा अक्षर आदि के आधार पर व्यंजन के दो भेद हैं--एकाक्षर तथा अनेकाक्षर।[1]

अथवा व्यंजन के दो प्रकार हैं--संस्कृतभाषाविनिर्युक्त, प्राकृतभाषाविनिर्युक्त।

अनेक देशों के आधार पर उसके अनेक प्रकार हैं।

अभिधान अर्थात् व्यंजनाक्षर अभिधेय से दो प्रकार का होता है--भिन्न अथवा अभिन्न।

५८. खुर-अग्गि-मोयगोच्चारणम्मि जम्हा उ वयण-सवणाणं।
ण वि छेदो ण वि दाहो, ण वि पूरण तेण भिण्णं तु॥

क्षुर, अग्नि, मोदक आदि के उच्चारण से तथा श्रवण से न मुंह का और न कान का छेदन होता है, न दाह होता है और न पूरण होता है। इसके आधार पर कहा जा सकता है कि अभिधेय से अभिधान भिन्न होता है।

५९. जम्हा उ मोयगे अभिहियम्मि तत्थेव पच्चओ होइ।
ण य होइ सो अणत्ते, तेण अभिण्णं तदत्थातो॥

मोदक शब्द का उच्चारण करने पर, सुनने पर उसी में अर्थात् मोदक में ही प्रत्यय होता है। अन्यत्र में वह प्रत्यय नहीं होता। प्रत्यय होता है संबद्धता के कारण। अतः यह जाना जाता है कि अभिधान अपने अर्थ से अभिन्न होता है--संबद्ध होता है।

६०. एक्केक्कमक्खरस्स उ, सप्पज्जाया हवंति इयरे य।
संबद्धमसंबद्धा, एक्केक्का ते भवे दुविहा॥

---

१. यथार्थनियत--अन्वर्थयुक्त--क्षपयतीति क्षपणः आदि, अयथार्थ--नेन्द्रं गोपयति तथापि इन्द्रगोपकः, न पलमश्नाति तथापि पलाशः।
एक पर्याय--अलोक आदि।
अनेक पर्याय--जीव, सत्त्व, प्राणी आदि।
एकाक्षर--धी, श्री, आदि।
अनेकाक्षर--वीणा, लता, माला आदि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यंजन के एक-एक अक्षर के दो-दो प्रकार के पर्याय होते हैं—स्वपर्याय और परपर्याय। इन दोनों के दो-दो प्रकार हैं—संबद्ध और असंबद्ध।[1]

६१. अत्थित्ते संबद्धा, होंति अकारस्स पज्जया जे उ।
ते चेव असंबद्धा, णत्थित्तेणं तु सव्वे वि॥

अकार के जो स्वपर्याय हैं वे वहां अस्तित्व से संबद्ध हैं। नास्तित्व से वे ही सभी असंबद्ध हैं।

६२. एमेव असंता वि उ, णत्थित्तेणं तु होंति संबद्धा।
ते चेव असंबद्धा, अत्थित्तेणं अभावत्ता॥

इसी प्रकार परपर्याय न होने पर भी वे नास्तित्व से संबद्ध हैं। वे ही परपर्याय अस्तित्व की दृष्टि से असंबद्ध हैं, क्योंकि वहां उनके अस्तित्व का अभाव है।

६३. घडसद्दे घ-ड-ऽकारा, हवंति संबद्धपज्जया एते।
ते चेव असंबद्धा, हवंति रहसद्दमादीसु॥

'घट' शब्द में 'घ' 'ट' और अकार हैं। उनके जो पर्याय हैं वे अस्तित्व से संबद्ध हैं। घट शब्द के वे ही अकार आदि पर्याय रथ आदि शब्दों में अस्तित्व की दृष्टि से असंबद्ध होते हैं। (तात्पर्य है कि रथ शब्द के जो स्वपर्याय हैं वे अस्तित्व की दृष्टि से संबद्ध हैं क्योंकि वे वहां हैं। घट शब्द के स्वपर्याय नास्तित्व की दृष्टि से वहां असंबद्ध हैं, क्योंकि वे वहां नहीं हैं।)

६४. संजुत्ता-ऽसंजुत्तं, इय लभते जेसु जेसु अत्थेसु।
विणिओगमक्खरं ते, सि होंति सब्भावपज्जाया॥

इस प्रकार घट, रथ आदि शब्दों में संयुक्त अथवा असंयुक्त अक्षर आदि जिन-जिन अर्थों में विनियोग को प्राप्त होते हैं, वे उनके सद्भाव पर्याय अर्थात् स्वपर्याय हैं, दूसरे परपर्याय हैं।

६५. णिच्छयतो सव्वगुरुं, सव्वलहुं वा ण विज्जते दव्वं।
ववहारतो तु जुज्जति, बादरखंधेसु णऽण्णेसु॥

निश्चयनय के अनुसार कोई भी द्रव्य सर्वगुरु अर्थात् एकांतगुरु अथवा सर्वलघु अर्थात् एकांतलघु नहीं होता।[2] व्यवहारनय के अनुसार बादर स्कंध (अनंतप्रदेशी स्कंध) सर्वगुरु और सर्वलघु होते हैं, दूसरे नहीं।

६६. तत्तो वग्गणाओ, सुहुमाण भवंतऽणंतगुणियातो।
परमाणूण य एक्का, संखे संखेयरेऽसंखा॥

समस्त बादर स्कंध की वर्गणाओं से सूक्ष्म अनंत प्रदेशात्मक स्कंधों की वर्गणा अनंतगुणा अधिक है। समस्त परमाणुओं की वर्गणा एक है। संख्येय प्रदेशों की वर्गणा संख्यात और असंख्येय प्रदेशों की वर्गणा असंख्यात है। (संख्यात के संख्यात भेद हैं और असंख्यात के असंख्यात भेद हैं)।

६७. इय पोग्गलकायम्मी, सव्वत्थोवा उ गुरुलहू दव्वा।
उभयपडिसेहिया पुण, अणंतकप्पा बहुवियप्पा॥

इस प्रकार पुद्गलास्तिकाय में गुरुलघु द्रव्य सबसे कम हैं तथा उभयप्रतिषेधित अर्थात् अगुरुलघु द्रव्यों के अनंत भेद हैं। वे अनंतभेद विकल्पों के आधार पर होते हैं।

६८. ते गुरुलहुपज्जाया, पण्णाछेदेण वोकसित्ताणं।
जा बायरो जहण्णो, अणंतहाणीए हायंता॥

वे गुरु-लघुपर्याय प्रज्ञा के आधार पर पृथक्-पृथक् किए जाने पर सर्वोत्कृष्ट बादर स्कंध से अधस्तन बादर स्कंधों में अनन्तगुणहानि से तब तक ही हीयमान होते हैं जब तक कि जघन्य बादर स्कंध प्राप्त नहीं हो जाता। (अगुरुलघु पर्याय क्रमशः अनंतगुणवृद्धि से प्रवर्धमान होते हैं।)

६९. केण हवेज्ज विरोहो, अगुरुलहूपज्जवाण उ अमुत्ते।
अच्चंतमसंजोगो, जहियं पुण तव्विवक्खस्स॥

(अमूर्त्त द्रव्यों के अगुरुलघु पर्याय परिमाण का चिंतन)

प्रश्न होता है कि अमूर्त द्रव्यों (धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय तथा जीवास्तिकाय में गुरुलघुपर्याय का विपक्ष अगुरुलघुपर्याय के एकान्ततः असंयोग में किसका विरोध है? किस कारण से वे पर्याय नहीं होते? किसीका विरोध नहीं। (किसी के विरोध—विनाशन के अभाव में सदा प्रति प्रदेश में अनंत अगुरुलघु-पर्याय होते हैं।)

७०. एवं तु अणंतेहिं, अगुरुलहूपज्जवेहिं संजुत्तं।
होइ अमुत्तं दव्वं, अरूविकायाण उ चउण्हं॥

चारों अरूपी अस्तिकाय द्रव्यों में प्रत्येक अमूर्त्त द्रव्य अनंत अगुरुलघुपर्यायों से संयुक्त है।

७१. उवलद्धी अगुरुलहू, संजोग-सरादिणो य पज्जाया।
एतेण हुंतऽणंता, सव्वागासप्पएसेहिं॥

जितने अगुरुलघुपर्याय (तथा गुरुलघुपर्याय) हैं, अक्षरों में जितने स्वरूपतः अथवा अभिलाप्यभेद से संयोग हैं, जो उदात्त आदि स्वरों से अभिलाप्यभाव हैं, जो शकुन आदि गत स्वर विशेष हैं—इन सबकी उपलब्धि होती है। (यह प्रत्येक

१. अवर्ण के अठारह स्वपर्याय—ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत। प्रत्येक के तीन-तीन भेद—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। प्रत्येक के दो-दो भेद—सानुनासिक, निरनुनासिक। इस प्रकार १८ भेद।

२. एकान्तगुरु होने पर वह द्रव्य एकान्ततः पतनधर्मा हो जाता है। एकान्तलघु होने पर वह द्रव्य एकान्ततः अपतनधर्मा हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की भिन्न-भिन्न होती है।) इस प्रकार ज्ञान सर्वाकाशप्रदेशों से भी अनंतगुणा अधिक है।

७२. णाणं तु अक्खरं जेण खरति ण कयाइ तं तु जीवातो।
तस्स उ अणंतभागो, न वरिज्जति सव्वजीवाणं॥

ज्ञान अक्षर है, क्योंकि वह कभी भी जीव से क्षरित नहीं होता। सभी जीवों के ज्ञान का अनंतवां भाग कभी आवृत नहीं होता।[1]

७३. एक्केक्को जियदेसो, नाणावरणस्स हुंतऽणंतेहिं।
अविभागेहाऽऽवरितो, सव्वजियाणं जिणे मोत्तुं॥

केवलज्ञानियों को छोड़कर शेष सभी जीवों का एक-एक जीव प्रदेश ज्ञानावरणीय कर्म के अनंत अविभक्त आवरणों[2] से आवृत होता है।

७४. जति पुण सो वि वरिज्जेज्ज तेण जीवो अजीवयं गच्छे।
सुट्ठु वि मेहसमुदए, होति पभा चंद-सूराणं॥

जैसे अत्यधिक मेघ समुदय से आवृत हो जाने पर भी चांद और सूर्य की प्रभा उपलब्ध होती है, वैसे ही जीव का एक-एक प्रदेश कर्म से आवृत हो जाने पर भी, ज्ञान का अनंतवां भाग सदा उद्घाटित रहता है। यदि वह भी आवृत हो जाए तो जीव अजीवता को प्राप्त हो जाता है, अजीव हो जाता है।

७५. अव्वत्तमक्खरं पुण, पंचण्ह वि थीणगिद्धिसहिएणं।
णाणावरणुदएणं, बिंदियमाई कमविसोही॥

पांचों स्थावरकायिक जीव स्त्यानगृद्धिनिद्रा से भावित होने के कारण तथा ज्ञानावरणीय का उदय होने के कारण उनका अक्षर–ज्ञान अव्यक्त होता है। द्वीन्द्रिय आदि जीवों में क्रमशः वह विशुद्ध होता जाता है।[3]

७६. ऊससियं नीससियं, णिच्छूढं खासियं च छीयं च।
णिस्सिंघियमणुसारं, अणक्खरं छेलिआदीयं॥

उच्छ्वसित, निःश्वसित, निष्ठूत–थूकना, खांसी करना छींकना, निस्सिंघित–नाक से श्लेष्म निकालना, शेष्टित–सीटी बजाना, अनुस्वार आदि अनक्षरश्रुत है।

७७. टिट्टि त्ति नंदगोवस्स बालिया वच्छए निवारेइ।
टिट्टि त्ति य मुद्धडए, सेसे लट्ठीनिवाएणं॥

खेत की रखवाली करने वाली नंद गोप की बालिका गाय के बछड़े आदि का तथा हरिणों का निवारण करने के लिए 'टि-टि' आदि शब्द का उच्चारण करती है। शेष प्राणियों का निवारण करने के लिए वह लाठी को जमीन पर पटकती है। यह सारा अनक्षरश्रुत है।

७८. सन्नाणेणं सण्णी, कालिय हेऊ य दिट्ठिवाए य।
आदेसा तिण्णि भवे, तेसिं च परूवणा इणमो॥

संज्ञी वह होता है जिसमें संज्ञान हो। इस विषयक तीन आदेश–मत हैं, जैसे–कालिक्युपदेशिकी, हेतूपदेशिकी और दृष्टिवादोपदेशिकी। उनकी प्ररूपणा यह है–

७९. खंधेऽणंतपएसे, मणजोगे गिज्झ गणणतोऽणंते।
तल्लद्धि मणेति तहा, भासादव्वे व भासंते॥

प्रश्न होता है कि कालिक्युपदेशिकी संज्ञा वाले प्राणियों के मानसिक व्यापार कैसे होता है? आचार्य कहते हैं– मानसिक लब्धि से युक्त प्राणी मनोयोग्य अनंतप्रदेशी–संख्या से अनंत पुद्गलस्कंधों को ग्रहण कर मनन करता है। तात्पर्य है कि वह इन मनो द्रव्यों से ईहा, अवाय, मार्गणा कर भावों को जानता है। तथा भाषालब्धि से युक्त प्राणी भाषा द्रव्यों को लेकर बोलता है।

८०. रूवे जहोवलद्धी, चक्खुमतो दंसिए पगासेण।
इय छव्विहमुवओगो, मणदव्वपगासिए अत्थे॥

जैसे घट आदि पदार्थ प्रकाश से प्रकाशित होने पर चक्षुष्मान् व्यक्ति के चक्षु से उनकी उपलब्धि होती है, वैसे ही मनोद्रव्य द्वारा प्रकाशित अर्थ (मनन किये हुए विषय) में छह प्रकार का शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श तथा अतीत, अनागत भावविषयक उपयोग होता है। (जो ईहा, अपोह आदि के द्वारा स्पष्टतर उपयोग होता है वह दीर्घकालिक्युपदेश से संज्ञीश्रुत है। जिसके मनोद्रव्य का अभाव होता है, उसके ईहा आदि नहीं होते। वह असंज्ञी प्राणी है।)

८१. एसेव य दिट्ठंतो, नातिफुडे खलु जहा पगासेणं।
होउवलद्धी रूवे, अस्सण्णीणं तहा विसए॥

चक्षुलक्षण वाला यही दृष्टांत असंज्ञी प्राणियों के अर्थावबोध में जानना चाहिए। जैसे चक्षुष्मान् व्यक्ति के भी मंद प्रकाशित रूप–पदार्थ की उपलब्धि मंद होती है वैसे ही असंज्ञी प्राणियों के शब्द आदि विषय में उपयोग मंद होता है क्योंकि उनमें विशिष्ट मनोद्रव्य की उपलब्धि नहीं होती।

८२. अहवा मुच्छित मत्ते, पासुत्ते वा वि होइ उवलंभो।
इय होति असन्नीणं, उवलंभो इंदिया जेसिं॥

अथवा मूर्च्छित, मत्त और प्रसुप्त प्राणी को जैसे अव्यक्त

---

१. सव्वजीवाणं पि य णं अक्खरस्स अणंतो भागो निच्चुग्घाडिओ.....।
जा होंतऽणुत्तरसुरा, सव्वविसुद्धं तु पुव्वधरे॥ (वृ. पृ. २७)
वह ज्ञान द्वीन्द्रिय जीवों से लेकर अनुत्तर वैमानिक जीवों तक विशुद्ध होता जाता है। पूर्वधर में वह श्रुतज्ञान पूर्णविशुद्ध हो जाता है।

२. जिनका आगे विभाग नहीं किया जाता, ऐसे आवरण।

३. नं चिय विसुज्झमाणं, बिंदियमादि कमेण विन्नेयं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपलंभ होता है वैसे ही असंज्ञी प्राणियों में जितनी इन्द्रियां होती हैं उतने ही प्रकार का अव्यक्त उपलंभ होता है।

८३. तुल्ले छेयणभावे, जे सामत्थं तु चक्करयणस्स।
तं तु जहक्कमहीणं, न होइ सरपत्तमादीणं॥

८४. एवं मणविसईणं, जा पडुया होइ उग्गहाईसु।
तुल्ले चेयणभावे, न होइ अस्सण्णिणं सा तु॥

छेदन करने की तुल्यता होने पर भी जो सामर्थ्य चक्ररत्न में होता है, वह यथाक्रमहीन शरपत्र आदि में नहीं होता।

उसी प्रकार मनोग्राही विषय वाले प्राणियों में अवग्रह आदि में जो पटुता होती है वह चेतना भाव की तुल्यता होने पर भी असंज्ञी प्राणियों में नहीं होती।

८५. जेसि पवित्ति-निवित्ती, इट्ठा-ऽणिट्ठेसु होइ विसएसु।
ते हेउवाउ सन्नी, वेहम्मेणं घडो नायं॥

जिन द्वीन्द्रिय आदि प्राणियों में इष्ट विषय में प्रवृत्ति और अनिष्ट विषय में निवृत्ति होती है, वे हेतुवाद से संज्ञी हैं। यहां वैधर्म्य से घट का दृष्टांत है।[1]

८६. होइ असीला नारी, जा खलु पतिणो न रक्खए सेज्जं।
तं पि य हु होति सीलं, असोहणं तेण उ असीला॥

८७. एवं खओवसमिए, जे वट्टंते उ नाणविसयम्मि।
ते खलु हवंति सण्णी, अण्णाणी होंति अस्सण्णी॥

जो नारी पति की शय्या का संरक्षण नहीं करती, वह अशीला होती है। यद्यपि पति की शय्या का अरक्षण शील है, फिर भी वह अशोभन होने के कारण, वह नारी अशीला कहलाती है।

इसी प्रकार ज्ञान के विषय में जो क्षायोपशमिक भाव में हैं, सम्यग्ज्ञानी हैं, वे संज्ञी हैं और जो अज्ञानी हैं वे असंज्ञी हैं।

८८. अंगा-ऽणंगपविट्ठं, सम्मसुयं लोइयं तु मिच्छसुयं।
आसज्ज उ सामित्तं, लोइय लोउत्तरे भयणा॥

स्वरूपतः अंग-अनंगप्रविष्ट श्रुत लोकोत्तरिक है। वह सम्यक्श्रुत है। लौकिक श्रुत मिथ्याश्रुत है। स्वामित्व की अपेक्षा लौकिक और लोकोत्तरिक श्रुत में सम्यक्-मिथ्या की भजना है अर्थात् लौकिक श्रुत भी कभी सम्यक्श्रुत हो जाता है और लोकोत्तर श्रुत भी कभी मिथ्याश्रुत हो जाता है। सम्यग्दृष्टि द्वारा परिगृहीत लौकिक श्रुत भी सम्यग्श्रुत और मिथ्यादृष्टि द्वारा परिगृहीत लोकोत्तर श्रुत भी मिथ्याश्रुत हो जाता है।

८९. आभिणिबोहमयावं, वयंति तप्पच्चयाउ सम्मत्तं।
जा मणपज्जवनाणी, सम्मद्दिट्ठी उ केवलिणो॥

आभिनिबोधिक का जो अपाय है, वह यथार्थविनिश्चय का प्रतीक है। उसे पूर्वाचार्य सम्यक्त्व का प्रत्यय कहते हैं। इस प्रत्यय से सम्यक्त्व मनःपर्यवज्ञानी तक घटित होता है। उससे आगे अपाय नहीं होता। केवली केवलज्ञान के प्रत्यय से ही सम्यग्दृष्टि हैं।

९०. उवसमियं सासायण, खओवसमियं च वेदगं खइयं।
सम्मत्तं पंचविहं, जह लब्भइ तं तहा वोच्छं॥

सम्यक्त्व पांच प्रकार का होता है—औपशमिक, सास्वादन (सास्वादन), क्षायोपशमिक, वेदक और क्षायिक। इनकी प्राप्ति जैसे होती है, वैसे मैं कहूंगा।

९१. बंधट्ठितीपमाणं, सामित्तं चेव सव्वपगडीणं।
को केवइयं बंधइ, खवेइ वा कित्तियं कोइ॥

सबसे पहले कर्मों के बंध-स्थिति का प्रमाण कहना चाहिए। तदनन्तर सर्वप्रकृतियों की सत्ता के आधार पर स्वामित्व का कथन करना चाहिए। फिर कौन कितनी प्रकृतियों का बंध करता है और कौन कितनी प्रकृतियों का क्षय करता है, यह बताना चाहिए।

९२. आउयवज्जा उ ठिई, मोहोक्कोसम्मि होइ उक्कोसा।
मोहविवज्जुक्कोसे, मोहो सेसा य भइयाउ॥

मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति में आयुष्य कर्म के अतिरिक्त शेष सभी कर्मों की स्थिति उत्कृष्ट होती है। मोहविवर्ज अर्थात् ज्ञानावरणीय आदि कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति में मोहनीय तथा शेष कर्मों की स्थिति कदाचित् उत्कृष्ट होती है और कदाचित् नहीं। यह भजना है।

९३. अंतिमकोडाकोडीएँ होइ सव्वासि कम्मपगडीणं।
पलियाअसंखभागे, खीणे सेसे हवइ गंठी॥

आयुष्य कर्म के अतिरिक्त शेष सभी कर्मप्रकृतियों की जब अंतिम कोटीकोटि स्थिति होती है और उसमें भी पल्योपम के असंख्येयतम भाग के क्षीण होने पर, शेष स्थिति वाले कर्म दलिकों के रहने सम्यग्दर्शन की अंतराय-भूत ग्रंथी का भेदन होता है।

---

१. वह दृष्टांत इस प्रकार है—द्वीन्द्रिय आदि प्राणी संज्ञी हैं क्योंकि पुरुष की भांति इष्ट विषय में उनकी प्रवृत्ति और अनिष्ट विषय में उनकी निवृत्ति देखी जाती है। जो संज्ञी नहीं हैं उनकी ऐसी प्रवृत्ति और निवृत्ति नहीं होती, जैसे घट। इसी प्रकार स्थावर जीवों की भी ऐसी प्रवृत्ति और निवृत्ति नहीं होती, अतः वे असंज्ञी हैं। इस प्रकार हेतुवाद के आधार पर संज्ञी और असंज्ञी का कथन किया गया।

दृष्टिवादोपदेश के आधार पर कहा जा सकता है कि जो सम्यक्दृष्टि हैं वे संज्ञी हैं, शेष सभी मिथ्यादृष्टि असंज्ञी हैं।

'सम्मद्दिट्ठी सन्नी, दिट्ठीवायस्स होंति उवएसा।
सेसा होंति असन्नी, कालिय तह हेउसन्नी॥'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९४. तिविहं च होइ करणं, अहापवत्तं तु भव्व-ऽभव्वाणं।
भवियाण इमे अन्ने, अपुव्वकरणाऽनियट्टी य॥

उस ग्रंथी का भेदन 'करण' (परिणाम विशेष) से होता है। करण के तीन प्रकार हैं। इसमें पहला है—यथाप्रवृत्तिकरण। यह भव्य और अभव्य—दोनों प्रकार के जीवों के होता है। भव्य जीवों के ये अन्य दो करण—अपूर्वकरण तथा अनिवृत्तिकरण भी होते हैं।

९५. जा गंठी ता पढमं, गंठिं समतिच्छतो अपुव्वं तु।
अनियट्टीकरणं पुण, सम्मत्तपुरक्खडे जीवे॥

जब तक ग्रंथी विद्यमान रहती है तब तक प्रथम—यथाप्रवृत्तिकरण रहता है। ग्रंथी का भेदन अपूर्वकरण में होता है। अनिवृत्तिकरण जीव को सम्यक्त्वाभिमुख कर, उसको सम्यक्त्व का लाभ करा देता है।

९६. नदि पह जर वत्थ जले, पिवीलिया पुरिस कोद्दवा चेव।
सम्मद्दंसणलंभे, एते अट्ठ उ उदाहरणा॥

करणों के आधार पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में ये आठ उदाहरण हैं—(१) गिरिनदी का प्रस्तर (२) पथ (३) ज्वर (४) वस्त्र (५) जल (६) पिपीलिका (७) पुरुष (८) कोद्रव। (इनका विस्तार आगे की गाथाओं में।)

९७. गिरिसरियपत्थरेहिं, आहरणं होइ पढमए करणे।
एवमणाभोगियकरणसिद्धितो खवण जा गंठी॥

पहाड़ी नदी के प्रस्तर का उदाहरण प्रथम करण अर्थात् यथाप्रवृत्तिकरण से संबंधित है। जैसे पहाड़ी नदी के प्रवाह में कुछेक प्रस्तर गोल हो जाते हैं, कुछेक चतुष्कोण आदि आकार के हो जाते हैं। यह सारा स्वतः होता है। इसी प्रकार 'अनाभोगकरणसिद्धि' से अर्थात् बिना किसी स्वेच्छिक प्रयत्न से यथाप्रवृत्तिकरण के प्रभाव से जीव कर्मों की सुदीर्घ स्थिति का इतना क्षय कर देता है कि वह ग्रंथी तक पहुंच जाता है।

९८. उवएसेण सयं वा, नट्ठपहो कोइ मग्गमोतरति।
जरितो य ओसहेहिं, पउणइ कोई विणा तेहिं॥

सम्यक्त्व का लाभ दो प्रकार से होता है—उपदेश से तथा स्वतः। इसमें पथ का उदाहरण है। कोई व्यक्ति पथ से भटक गया। दूसरे के उपदेश से वह मूल मार्ग पर आ गया। कोई मार्ग से भटक जाने पर स्वतः ऊहापोह कर सही मार्ग को पकड़ लेता है।

कोई ज्वर से पीड़ित व्यक्ति किसी औषधि से ज्वर मुक्त हो जाता है और कोई बिना औषधि के भी रोगमुक्त हो जाता है।

९९. मइल दरसुद्ध सुद्धं, जह वत्थं होइ किंचि सलिलं वा।
एसेव य दिट्ठंतो, दंसणमोहम्मि तिविहम्मि॥

जैसे कोई वस्त्र अथवा पानी मलिन होता है, कोई थोड़ा स्वच्छ होता है और कोई कुछ स्वच्छ होता है। यही दृष्टांत त्रिविध दर्शनमोह विषयक जानना चाहिए। (अपूर्वकरण के कारण कुछ शुद्ध सम्यक्त्व रूप है, थोड़ा शुद्ध सम्यग्-मिथ्यात्वरूप है और वैसा ही मलिन मिथ्यात्वरूप है।)

१००. अहभावेण पसरिया, अपुव्वकरणेण खाणुमारूढा।
चिट्ठंति तत्थ काई, पिपीलिया काई उड्डंति॥
१०१. पच्चोरुहणट्ठा खाणुआतो चिट्ठंति तत्थ एवावि।
पक्खविहूणातो पिवीलियातो उड्डंति उ सपक्खा॥

(प्रश्न है कि अभव्य जीव ग्रंथि के पास कैसे पहुंचते है? वहां से फिर दूर कैसे हो जाते हैं? भव्य जीव ग्रंथि का भेदन कर आगे कैसे बढ़ते हैं? इसमें पिपीलिका का दृष्टांत है—)

कुछ पिपीलिकाएं बिल से निकल कर स्वेच्छापूर्वक इधर-उधर घूमने लगीं। कुछ पिपीलिकाएं अपूर्वकरण के द्वारा स्थाणु पर चढ़ गईं। उनमें से कुछ पिपीलिकाएं स्थाणु पर ही ठहर जाती हैं और कुछ पिपीलिकाएं पांखें प्राप्त कर उड़ जाती हैं। कुछ पंखविहीन पिपीलिकाएं स्थाणु से उतरने के लिए वहीं स्थाणु पर ठहर जाती हैं और कुछ नीचे उतर जाती हैं। जिन पिपीलिकाओं के पंख आ जाते हैं, वे उड़ जाती हैं। (पिपीलिकाओं का इधर-उधर घूमना यथाप्रवृत्तिकरण से, स्थाणु पर आरोहण करना अपूर्वकरण से तथा उड़ना अनिवृत्तिकरण से होता है। इसी प्रकार जीव का ग्रंथि के पास गमन यथाप्रवृत्तिकरण से, ग्रंथि-भेदन अपूर्वकरण से तथा सम्यक्त्व प्राप्ति अनिवृत्तिकरण से होती है।)

१०२. जह वा तिण्णि मणूसा, सभयं पंथं भएण वच्चंता।
वेलाइक्कमतुरिया, वयंति पत्ता य दो चोरा॥
१०३. तत्थेगो उ नियत्तो, एगो थद्धो अतिच्छितो एक्को।
कमगति अहापवत्तं, भिन्नेयर धावणं तइए॥

तीन मनुष्य साथ-साथ एक डरावने मार्ग पर चले। उनका मन भय से आक्रांत था। चलते-चलते वेला बीत न जाए, इसलिए वे तेज चलने लगे। इतने में ही वहां दो चोर आ गए। एक पथिक उनको देखते ही निवृत्त हो गया। दूसरा पथिक वहीं स्तब्ध होकर बैठ गया। तीसरा पथिक दोनों चोरों को पीछे छोड़कर उस स्थान से पलायन कर गया।

पहले पुरुष की क्रमगति यथाप्रवृत्तिकरण, दूसरे पथिक का स्तब्ध हो जाना, भय से टूट जाना अपूर्वकरण तथा तीसरे पथिक का पलायन कर जाना अनिवृत्तिकरण है।

१०४. एवं संसारीणं, जोए सव्वाइं तिन्नि करणाइं।
भवसिद्धिसलद्धीण य, पंखालपिवीलिया उवमा॥

इसी प्रकार सभी संसारी जीवों के साथ इन तीनों करणों की योजना करनी चाहिए। पूर्वोक्त पंखवाली पिपीलिका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की उपमा भवसिद्धिक तथा सलब्धिक जीवों के साथ दी गई है।

१०५. दट्ठूण जिणवराणं, पूयं अण्णेण वा वि कज्जेण।
सुयलंभो उ अभव्वे, हविज्ज थंभेण उवणीए॥

(तीन पुरुषों के दृष्टांत में जो पुरुष चोरों को देखकर स्तब्ध हो गया था, उसके सदृश होता है ग्रंथि के निकट स्थित भव्य अथवा अभव्य। वहां संख्येय अथवा असंख्येय काल तक रहा जाता है। प्रश्न है वहां स्थित पुरुष के क्या लाभ होता है?)

जिस स्तब्ध पुरुष का दृष्टांत में उपनय है, वह भव्य अथवा अभव्य हो, उसे जिनेश्वर देव की पूजा-अर्चा देखकर अथवा अन्य कार्य से श्रुतलाभ होता है।

१०६. सम्मत्तम्मि उ लद्धे, पलियपुहुत्तेण सावगो होज्जा।
चरणोवसम-खयाणं, सागरसंखंतरा होंति॥

जिसने अनिवृत्तिकरण द्वारा सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया है, वह पल्योपम-पृथक्त्व बीत जाने पर श्रावक होता है। उसके पश्चात् संख्यात सागरोपम के बीत जाने पर चरणलाभ होता है। फिर संख्यात सागरोपम बीतने पर उपशमश्रेणी का लाभ और फिर संख्येय सागरोपम के व्यतीत होने पर क्षपकश्रेणी और उसी भव में मोक्ष हो जाता है।

१०७. एवं अप्परिवडिए, सम्मत्ते देव-मणुयजम्मेसु।
अन्नयरसेढिवज्जं, एगभवेणं च सव्वाइं॥

इस प्रकार देव और मनुष्यजन्म में जिनका सम्यक्त्व अप्रतिपतित रहा है, उनके लिए यह क्रम है। एक भव में ही यह सारा क्रम प्राप्त हो जाता है, केवल उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी—दोनों एक साथ एक भव में नहीं हो सकतीं।

१०८. अप्पुव्वेण तिपुंजं, मिच्छं काऊण कोद्दवोवमया।
तिन्नि वि अवेययंतो, उवसामगसम्मदिट्ठीओ॥

कोद्रव दृष्टांत की भांति अपूर्वकरण से मिथ्यात्व के तीन पुंज कर अनिवृत्तिकरण के द्वारा प्रारंभ में ही क्षायोपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है। फिर कालान्तर में वह परिणामों के आधार पर मिश्र या मिथ्यात्व को प्राप्त हो जाता है। जो तीनों पुंजों का अवेदन करता है वह उपशमक सम्यक्त्वदृष्टि कहलाता है।

१०९. जह मयणकोद्दवा ऊ, दरनिव्वलिया य निव्वलीया य।
एमेव मिच्छ मीसं, सम्मं वा होंति जीवाणं॥

कोद्रव तीन प्रकार के होते हैं—मदनकोद्रव, ईषद्निर्वलित-कोद्रव (ईषदपगतमदनभाव) और निर्वलितकोद्रव (सर्वथा-मदनभावरहित)। इसी प्रकार जीव का मिथ्यात्व भी तीन प्रकार का होता है—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व।

११०. कालेणुवक्कमेण व, जह नासति कोद्दवाण मदभावो।
अहिगमसम्मं नेसग्गियं च तह होइ जीवाणं॥

जैसे कभी कोद्रवों का मदनभाव—मादकता काल के विपाक से नष्ट हो जाता है और कभी उपक्रम—उपाय से उनका मदनभाव दूर हो जाता है। उसी प्रकार कुछेक जीवों के उपक्रम के द्वारा सम्यक्त्व प्राप्त होता है। वह अधिगम सम्यक्त्व होता है। किन्हीं जीवों के काल के परिपाक से स्वतः सम्यक्त्व प्राप्त होता है। वह नैसर्गिक सम्यक्त्व होता है।

(इसका तात्पर्य है कि किन्हीं जीवों के अधिगम के कारण मिथ्यात्वपुद्गल सम्यक्त्व में बदल जाते हैं और किन्हीं जीवों के ये मिथ्यात्व के पुद्गल स्वतः बदल जाते हैं।)

१११. सोऊणं अहिसमेच्च व, करेइ सो वड्ढमाणपरिणामो।
मिच्छे सम्मामिच्छे, सम्मे वि य पोग्गले समयं॥

केवलज्ञानी आदि प्रत्यक्षज्ञानियों से सुनकर अथवा जाति-स्मृति आदि से सम्यक्त्व को प्राप्तकर कोई वर्धमान परिणाम वाला जीव एक साथ मिथ्यात्व पुद्गलों के तीन पुंज कर लेता है—मिथ्यात्वपुद्गल, सम्यग्मिथ्यात्वपुद्गल तथा सम्यक्त्व-पुद्गल।

११२. मिच्छत्ताओ मीसे, मीसस्स उ होज्ज संकमो दोसुं।
सम्मे वा मिच्छे वा, सम्मा मिच्छं न पुण मीसं॥

(पूर्वोक्त पुद्गलों का परस्पर संक्रमण होता है, जैसे—) मिथ्यात्व पुद्गलों का मिश्र में संक्रमण होता है। मिश्र पुद्गलों का दो में संक्रमण होता है—सम्यक्त्व में तथा मिथ्यात्व में। सम्यक्त्वी सम्यक्त्व में तथा मिथ्यात्वी मिथ्यात्व में। सम्यक्त्व से मिथ्यात्व में संक्रमण हो सकता है, मिश्र में संक्रमण नहीं होता।

११३. मिच्छत्ताओ अहवा, मीसं सम्मं च कोइ संकमइ।
मीसाओ वा सम्मं, गुणवुड्ढी हायतो मिच्छं॥

अथवा कोई जीव मिथ्यात्व से मिश्र में या सम्यक्त्व में संक्रमण करता है। कोई गुणवृद्धि—परिणामवृद्धिवाला जीव मिश्र से सम्यक्त्व में संक्रमण करता है और हायक हीन परिणाम वाला जीव मिश्र से मिथ्यात्व में संक्रमण करता है।

११४. मिच्छत्ता संकंती, अविरुद्धा होति सम्म-मीसेसु।
मीसातो वा दुण्णि वि, ण उ सम्मा परिणमे मीसं॥

मिथ्यात्व से सम्यक्त्व और मिश्र में संक्रांति अविरुद्ध है। मिश्र से (सम्यक्मिथ्यात्व से) सम्यक्त्व और मिथ्यात्व—दोनों में संक्रांति होती है। सम्यक्त्व से मिश्र में परिणमन नहीं होता।

११५. हायंते परिणामे, न कुणति मीसे उ पोग्गले सम्मे।
न य सोहिया सि विज्जंति केइ जे दाणि वेएज्जा॥

सम्यग्दर्शन से हीयमान परिणाम वाला व्यक्ति मिश्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुद्गलों को सम्यक्त्व पुद्गल नहीं कर सकता। उसके पास न कोई अन्य शोधित पुद्गल हैं जिनका तब वह वेदन कर सके। अर्थात् अधिकृत सम्यक्त्वपुद्गलों के निष्ठाकाल में वेदन कर सके।

११६. सम्मत्तपोग्गलाणं, वेदेउं सो य अंतिमं गासं।
पच्छाकडसम्मत्तो, मिच्छत्तं चेव संकमति॥

सम्यक्त्व पुद्गलों के अंतिम ग्रास का वेदन कर लेने पर तथा वह पश्चात्कृत सम्यक्त्व होकर भी मिथ्यात्व में ही संक्रमण करता है।

११७. मिच्छत्तम्मि अखीणे, तेपुंजी सम्मदिट्ठिणो नियमा।
खीणम्मि उ मिच्छत्ते, दु-एकपुंजी व खवगो वा॥

जिन सम्यक्दृष्टि जीवों का मिथ्यात्व क्षीण नहीं हुआ है वे नियमतः त्रिपुंजी होते हैं। मिथ्यात्व के क्षीण हो जाने पर वे द्विपुंजी अथवा एकपुंजी (मिश्रपुंज के क्षीण होने पर) हो जाते हैं। अथवा सम्यक्त्वपुंज का भी क्षय हो जाने पर वे क्षपक हो जाते हैं।

११८. उवसामगसेढिगयस्स होति उवसामियं तु सम्मत्तं।
जो वा अकयतिपुंजो, अखवियमिच्छो लहइ सम्मं॥

उपशमश्रेणीगत व्यक्ति में औपशमिक सम्यक्त्व होता है। अथवा जिसने पुंजत्रय नहीं किया है, अक्षपित मिथ्यात्व वाले व्यक्ति का भी औपशमिक सम्यक्त्व होता है।

११९. वाही असव्वछिन्नो, कालाविक्खंकुरु व्व दड्ढदुमो।
उवसामगाण दोण्ह वि, एते खलु होंति दिट्ठंता॥

जो व्याधि सर्वथा छिन्न नहीं हुई है, वह कालान्तर में पुनः उद्भूत हो जाती है। दग्ध वृक्ष भी कालान्तर में पुनः अंकुरित हो जाता है। उसी प्रकार उपशांत मिथ्यात्व भी कालान्तर के बाद पुनः उद्भूत हो जाता है। अतः दोनों उपशमकों (११८ श्लोकगत) से संबंधित ये दोनों दृष्टांत हैं। (उपशमश्रेणीगत औपशमिकदर्शनी का प्रतिपात देशतः अथवा सर्वतः होता है। औपशमिकदर्शनी का अवश्य ही सर्वप्रतिपात होता है। वह मिथ्यात्व को प्राप्त होता है।)

१२०. आलंबणमलहंती, जह सट्ठाणं न मुंचए इलिया।
एवं अकयतिपुंजो, मिच्छं चिय उवसमी एति॥

इलिका तृण के सहारे ऊपर चढ़ी। तृण के अग्रभाग तक वह चढ़ी, परंतु आगे आलंबन न होने के कारण वह अपने मूल स्थान पर आ गई, उसे नहीं छोड़ती। इसी प्रकार जो मिथ्यात्व के तीन पुंज नहीं करता, वह उपशमी पुनः मिथ्यात्व को ही प्राप्त करता है।

१२१. खीणम्मि उदिन्नम्मी, अणुइज्जंते य सेसमिच्छत्ते।
अंतोमुहुत्तकालं उवसमसम्मं लहइ जीवो॥

जो मिथ्यात्व उदयावलिका में प्रविष्ट हुआ है, उसके क्षीण हो जाने पर और शेष मिथ्यात्व का अनुदय होने पर जीव को अंतर्मुहूर्त्त काल का औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है। (इसका कारण है मिथ्यात्वदर्शन के वेदन का अभाव।)

१२२. ऊसरदेसं दड्ढेल्लयं च विज्झाइ वणदवो पप्प।
इय मिच्छस्स अणुदए, उवसमसम्मं मुणेयव्वं॥

वनप्रदेश का दव—वनाग्नि ऊषर प्रदेश को प्राप्त कर बुझ जाती है। इसी प्रकार मिथ्यात्व के अनुदय से औपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति जाननी चाहिए।

१२३. जिम्हीभवंति उदया, कम्माणं अत्थि सुत्त उवदेसो।
उववायादी सायं, जह नेरइया अणुभवंति॥

दोनों प्रकार के औपशमिक सम्यक्दृष्टि जीवों के शेष कर्मों का उदय भी निष्प्रभ हो जाता है। सूत्र का यह उपदेश है, जैसे नैरयिक जीव उपपात आदि में साता का अनुभव करते हैं।

१२४. उववाएण व सायं, नेरइओ देवकम्मुणा वा वि।
अज्झवसाणनिमित्तं, अहवा कम्माणुभावेणं॥

नैरयिक जीव (१) उपपात के अवसर पर, (२) देवता द्वारा वेदना का उपशमन कर दिए जाने पर, (३) तथाविध शुभ अध्यवसान के निमित्त तथा (४) कर्मों के तथाविध अनुभाव के कारण साता का अनुभव करते हैं।

१२५. विब्भंगी उ परिणमं, सम्मत्तं लहति मति-सुतोहीणि।
तइभावम्मि मति-सुते, सुतलंभं केइ उ भयंति।

विभंगज्ञानी सम्यक्त्व का परिणमन करता हुआ मति, श्रुत और अवधिज्ञान को प्राप्त करता है। विभंग के अभाव में मिथ्यादर्शनी सम्यक्त्व का परिणमन करता हुआ मति और श्रुत—इन दो ज्ञानों को प्राप्त करता है। कुछेक जीवों में श्रुतलाभ की भजना है—विकल्प है। जिन्होंने श्रुत का अध्ययन किया है उन्हें श्रुतज्ञान होता है, दूसरों को नहीं।

१२६. अन्नाण मती मिच्छे, जढम्मि मतिणाणतं जहा एइ।
एमेव य सुयलंभो, सुयअन्नाणे परिणयम्मि॥

मिथ्यात्व के त्यक्त होने पर मति-अज्ञान मतिज्ञान में परिणत हो जाता है। इसी प्रकार श्रुत-अज्ञान के परिणत (अपगत) होने पर श्रुतलाभ हो जाता है।[1]

१२७. उवसमसम्मा पडमाणतो उ मिच्छत्तसंकमणकाले।
सासायणो छावलितो, भूमिमपत्तो व पवडंतो॥

---

१. क्या सम्यक्त्व लाभ के समय श्रुत अज्ञान रहता है? यदि हां तो मिथ्यादृष्टित्व का प्रसंग आएगा। यदि नहीं तो श्रुत अज्ञान भी केवल आभिनिबोधिकज्ञानी के होगा। यह उपयुक्त नहीं है। क्योंकि श्रुतज्ञान के बिना केवल आभिनिबोधिकज्ञान का अभाव होता है। कहा है—जत्थ मतिनाणं तत्थ सुयनाणं, जत्थ सुयनाणं तत्थ मतिनाणं। दोवि एयाइं अण्णोण्णमणुगयाइं' इति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मिथ्यात्व में संक्रमणकाल में उपशम सम्यक्त्व से गिरता हुआ जीव, अभी भूमी को अप्राप्त है, अपान्तराल में है, (उपशमसम्यक्त्व से गिर चुका है, परन्तु अभी तक मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं हुआ है) उसमें जघन्यतः एक सामयिक और उत्कर्षतः षट्आवलिक सास्वादन सम्यक्त्व होता है।

१२८. आसदेउं व गुलं, ओहीरंतो न सुट्ठु जा सुयति।।
सं आयं सायंतो, सस्सादो वा वि सासाणो।।

प्रश्न होता है, जो उपशमसम्यक्त्व से च्युत हो गया है उसे सम्यग्दृष्टि कैसे कहा जा सकता है?

कोई व्यक्ति गुड़ का आस्वाद लेकर सो गया। परन्तु अभी तक वह अच्छी तरह नींद नहीं ले पाया है, उसे तब भी गुड़ की मधुरता का स्वाद आता है। इसी प्रकार उपशम-सम्यक्त्व से च्युत व्यक्ति को भी, मिथ्यात्व की अप्राप्ति तक उपशमगुण का वेदन होता है।

सास्वादन शब्द की व्युत्पत्ति–**'सं आयं सायंतो, सस्सादो वा वि सासाणो'**–अपनी आय–प्राप्ति का आस्वादन अर्थात् अव्यक्त उपशमगुण का स्वादसहित अनुभव। वह है सास्वादन।

१२९. जो उ उदिन्ने खीणे, मिच्छे अणुदिन्नगम्मि उवसंते।
सम्मीभावपरिणतो, वेयंतो पोग्गले मीसो।।

जो मिथ्यात्व के दलिक उदयप्राप्त हैं, उनको क्षीण कर तथा जो उदयप्राप्त नहीं हैं उनका उपशमन कर अर्थात् किंचित् सम्यक्त्वरूप में परिणत कर और किंचित् मूल मिथ्यात्वरूप में ही स्थित–ऐसी अवस्था में सम्यक्त्वरूप में परिणत पुद्गलों का वेदन करने वाला मिश्र अर्थात् क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि होता है।

१३०. जो चरमपोग्गले पुण, वेदेती वेयगं तयं बिंति।
केसिंचि अणादेसो, वेयगदिट्ठी खओवसमो।।

(जो दर्शनसप्तक को क्षीण कर चुका है और जो अनन्तर-समय में क्षायक सम्यक्त्वी होने वाला है) उस समय वह जो सम्यग्दर्शन के चरम पुद्गलों का वेदन करता है, उस व्यक्ति के चरमपुद्गलों का वेदन वेदकसम्यक्त्व कहलाता है। कोई अर्थात् बोटिक आदि यह मानते हैं कि वेदकदृष्टि अर्थात् वेदकसम्यक्त्व क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि है। परन्तु यह मान्यता अनादेश है, उचित नहीं है।

१३१. दंसणमोहे खीणे, खयदिट्ठी होइ निरवसेसम्मि।
केण उ सम्मो मोहो, पडुच्च पुव्वं तु पण्णवणं।।

दर्शनमोह के सम्पूर्णरूप से क्षीण होने पर क्षयदृष्टि अर्थात् क्षायक सम्यक्त्व प्राप्त होता है।

प्रश्न होता है कि मिथ्यात्वदर्शन मोह हो सकता है, परंतु सम्यक्दर्शन मोह कैसे हो सकता है? आचार्य कहते हैं–पूर्व प्रज्ञापना के आधार पर ऐसा कहा गया है।[1]

१३२. चोद्दस दस य अभिन्ने, नियमा सम्मं तु सेसए भयणा।
मति-ओहिविवच्चासो, वि होति मिच्छे ण उण सेसे।।

चौदहपूर्वी से अभिन्नदशपूर्वी पर्यन्त–इनमें नियमतः सम्यक्त्व होता है। शेष अर्थात् किंचित् न्यून दशपूर्वधर आदि में उसकी भजना है–सम्यक्त्व भी हो सकता है और मिथ्यात्व भी। मतिज्ञान और अवधिज्ञान के मिथ्यात्व में विपर्यास भी होता है, जैसे–मतिज्ञान का मतिअज्ञान और अवधिज्ञान का विभंगअज्ञान। श्रुतज्ञान का विपर्यास पहले बताया जा चुका है। शेष अर्थात् मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान में विपर्यास नहीं होता।

१३३. दंसणमोग्गह ईहा, नाणमवातो उ धारणा जह उ।
तह तत्तरुई सम्मं, रोइज्जइ जेण तं नाणं।।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में कौन विशेष है? अवग्रह और ईहा दर्शन है तथा अवाय और धारणा ज्ञान है। दर्शन सामान्यावबोधात्मक होता है और ज्ञान विशेषबोधात्मक होता है। जो तत्त्वों की जानकारी है वह सम्यग्ज्ञान है और जो तत्त्वों में रुचि है, श्रद्धा है, वह सम्यग्दर्शन है। वह ज्ञान को रुच्यात्मक बनाता है।

१३४. सोच्चा व अभिसमेच्च व, तत्तरुई चेव होइ सम्मत्तं।
तत्थेव य जा विरुई, इतरत्थ रुई य मिच्छत्तं।।

केवली आदि से सुनकर अथवा जातिस्मरण आदि से जानकर जो तत्त्व के प्रति रुचि होती है वह सम्यक्त्व है। तत्त्व में विरुचि और इतर अर्थात् अतत्त्व में रुचि होना मिथ्यात्व है।

१३५. अव्वोच्छित्तिनयट्ठा, एयं तु अणाइयं जहा लोए।
वोच्छेयनया सादी, पप्प गईतो जहा जीवो।।

अव्यवच्छित्तिनय (द्रव्यास्तिकनय) के मत के अनुसार श्रुतज्ञान अनादि है और अनंत है, जैसे लोक। व्यवच्छेदनय (पर्यायास्तिकनय) के अनुसार श्रुतज्ञान सादि–आदिसहित और अंतसहित होता है, जैसे गति (देवगति, नरकगति आदि) को प्राप्त जीव।

१३६. दव्वाइचउक्कं वा, पडुच्च सादी व होज्जऽणादी वा।
दव्वम्मि एगपुरिसं, पडुच्च सादी सनिहणं च।।

द्रव्य आदि चतुष्क–द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आधार पर श्रुतज्ञान सादि अथवा अनादि हो सकता है। द्रव्य में अर्थात् एक पुरुष की अपेक्षा से श्रुतज्ञान सादि और सान्त है।

---

१. निर्मदनीकृतकोद्रवों का ओदन भी मदनकोद्रवओदन कहलाता है। क्योंकि पूर्व में वे मदनयुक्त थे। इसी प्रकार सम्यक्त्व के वे पुदगल भी पूर्व में मिथ्यात्व के पुद्गल थे। वे दर्शनमोहक थे। अतः पूर्वभाव की प्रज्ञापना के अनुसार उन्हें दर्शनमोह कहा गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१३७. पणगं खलु पडिवाए, तत्थेगो देवभावमासज्ज।
मणुये रोग-पमाया, केवल-मिच्छत्तगमणे वा॥

पांच स्थानों से श्रुतज्ञान का प्रतिपात होता है—

(१) देवभाव से (२) रोग से मनुष्य का (३) प्रमाद से मनुष्य का (४) कैवल्य से (५) मिथ्यात्वगमन।

१३८. चउदसपुव्वी मणुओ, देवत्ते तं न संभरइ सव्वं।
देसम्मि होइ भयणा, सद्धाणभवे वि भयणा उ॥

कोई चतुर्दशपूर्वी मनुष्य देवत्व को प्राप्त हुआ। उसे सारा श्रुत स्मृति में नहीं रहता। उस श्रुत की आंशिक स्मृति में भजना है, विकल्प है। कुछ याद रहता है और कुछ नहीं। मनुष्यभव में उस श्रुत की भजना है। प्रमाद के कारण भी भजना है। केवलज्ञान होने पर श्रुतज्ञान का क्षय हो जाता है। मिथ्यादर्शन में जाने से सर्वश्रुत का अभाव हो जाता है।

१३९. नियमा सुयं तु जीवो, जीवे भयणा उ तीसु ठाणेसु।
सुयनाणि सुयअनाणी, केवलनाणी व सो होज्जा॥

श्रुत नियमतः जीव है। तीन स्थानों के आधार पर श्रुत की जीव में भजना है, विकल्पना है। वे तीन स्थान ये हैं—जीव कभी श्रुतज्ञानी होता है, कदाचित् श्रुत अज्ञानी और कदाचित् केवलज्ञानी।

१४०. खित्ते भरहेरवए, काले उ समातो दोण्णि तत्थेव।
भावे पुण पण्णवगं, पण्णवणिज्जे य आसज्जा॥

क्षेत्रतः पांच भरत और पांच ऐरावत में, कालतः—उन्हीं क्षेत्रों में अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी—इन दो कालों में श्रुत सादि और सपर्यवसित होता है अर्थात् जब तक तीर्थंकरों के तीर्थ की अनुवृत्ति होती है तब तक श्रुत होता है, शेष काल में नहीं।

भावतः प्रज्ञापक तथा प्रज्ञापनीय भावों के आधार पर श्रुत सादि और पर्यवसित होता है।

१४१. उवयोग-सर-पयत्ता, ठाणविसेसा य हुंति पण्णवगे।
गति-ठाण-भेय-संघाय-वत्तमादी य भावम्मि॥

प्रज्ञापक के आधार पर श्रुत सादि और सपर्यवसित होता है, जैसे -प्रज्ञापक का उपयोग कभी शुभ और कभी अशुभ होता है। उसका स्वर कभी उदात्त, कभी अनुदात्त और कभी स्वरित होता है। उसका प्रयत्न कभी एक समान नहीं रहता। स्थानविशेष अर्थात् आसन विशेष के आधार पर भावों का उत्पाद और विनाश होता है।

प्रज्ञापनीय भावों के आधार पर श्रुत सादि और सपर्यवसित होता है, जैसे—गति अर्थात् गति में सहायभूत धर्मास्तिकाय, स्थान अर्थात् स्थिति में सहायभूत अधर्मास्तिकाय, पुद्गलस्कंधों का भेद, पुद्गलों का संघात, पुद्गलों के वर्ण आदि अर्थात् वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, संस्थान ये प्रज्ञापनीय भाव हैं। इनकी प्रज्ञापना में श्रुतज्ञान भी उस-उस रूप में परिणत होता है, अतः वह सादि-सपर्यवसित है।

१४२. दव्वे नाणापुरिसे, खेत्ते विदेहाइं कालो जो तेसु।
खयउवसम भावम्मि य, सुयनाणं वट्टए सययं॥

द्रव्यतः अर्थात् अनेक पुरुषों की अपेक्षा से, क्षेत्रतः अर्थात् पांच महाविदेह में, कालतः अर्थात् उन्हीं क्षेत्रों में काल की अपेक्षा से तथा भावतः अर्थात् क्षयोपशमभाव से श्रुतज्ञान सतत—सर्वकाल में रहता है। इस प्रकार श्रुतज्ञान अनादि और अपर्यवसित है।

१४३. भंग-गणियादि गमियं, जं सरिसगमं च कारणवसेणं।
गाहादि अगमियं खलु, कालिय तह दिट्ठिवाए य॥

दृष्टिवाद गमिक है और कालिकश्रुत अगमिक है—यह बहुलता की अपेक्षा से कहा जाता है।

कालिकश्रुत और दृष्टिवाद में भंग—चतुर्भंगी आदि, गणित आदि (आदि शब्द से क्रियाविशाल पूर्व में जो छंद कहे गए हैं, वे) तथा सदृशगम का ग्रहण किया गया है। तथा कारणवश से अर्थात् अर्थवश से जो सदृशगम (जैसे निशीथ का बीसवां उद्देशक) है, वह गमिक है। शेष गाथा, श्लोक आदि अगमिक हैं।

१४४. गणहर-थेरकयं वा, आदेसा मुक्कवागरणतो वा।
धुव-चलविसेसतो वा, अंगा-ऽणंगेसु णाणत्तं॥

जो श्रुत गणधरकृत है वह अंगप्रविष्ट है। जो श्रुत स्थविरों द्वारा रचित अथवा अंगों से निर्यूढ है, जो आदेश हैं अर्थात् विषय संबंधी भिन्न-भिन्न मान्यताएं हैं, जो मुक्त व्याकरण अर्थात् स्फुट वचन हैं—ये सारे अनंगप्रविष्ट हैं। अथवा ध्रुव और चल की अपेक्षा से अंग और अनंग में नानात्व है। अंग ध्रुव हैं और अनंग अध्रुव अर्थात् चल। (द्वादशांग ध्रुव है क्योंकि उसका नियमतः निर्यूहण होता है। प्रकीर्णक चल हैं क्योंकि उनका कदाचित् निर्यूहण होता है और कदाचित् नहीं। वे अनंगप्रविष्ट हैं।)

१४५. जइ वि य भूयावादे, सव्वस्स वयोगयस्स ओयारो।
निज्जूहणा तहा वि य, दुम्मेहे पप्प इत्थी य॥

यद्यपि 'भूतवाद' अर्थात् दृष्टिवाद में समस्त वचनगत (श्रुत का) अवतरण है, फिर मंदबुद्धि वाले पुरुषों तथा स्त्रियों को ध्यान में रखकर शेष अंगों तथा अनंगों का निर्यूहण किया गया है। (यह स्पष्ट है कि प्रज्ञावती स्त्रियां भी दृष्टिवाद का पठन नहीं करतीं। क्योंकि—)

१४६. तुच्छा गारवबहुला, चलिंदिया दुब्बला य धीईए।
इति अतिसेसज्झयणा, भूयावादो उ नो थीणं॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतिशेष अर्थात् अतिशायी अध्ययन (महापरिज्ञा, अरुणोपपात आदि) तथा भूतवाद-दृष्टिवाद का अध्ययन स्त्रियों के लिए अनुज्ञात नहीं है। क्योंकि स्त्रियां तुच्छ, गौरवबहुल, अस्थिर इन्द्रियों वाली तथा धृति से दुर्बल होती हैं।

१४७. सुणतीति सुयं तेणं, सवणं पुण अक्खरेयरं चेव।
तेणऽक्खरेयरं वा, सुयनाणे होति पुव्वं तु॥

जो सुना जाता है वह श्रुत है। श्रवण अक्षर का भी होता है और अनक्षर का भी होता है। इसलिए श्रुतज्ञान की प्ररूपणा में पहले अक्षर तथा अनक्षर (अक्षरश्रुत तथा अनक्षरश्रुत) का ग्रहण किया गया है।

१४८. इत्थं पुण अहिगारो, सुयनाणेणं जतो हवति तेणं।
सेसाणमप्पणो वि य, अणुवयोग पईव दिट्ठंतो॥

मंगल के निमित्त पांच ज्ञानों की प्ररूपणा की गई थी। उनमें भी श्रुतज्ञान का अधिकार है, प्रसंग है। क्योंकि श्रुतज्ञान से ही शेष ज्ञानों का तथा अनुयोग का कथन होता है। यहां प्रदीप का दृष्टांत वक्तव्य है। (जैसे प्रदीप घट आदि पदार्थों का तथा स्वयं का प्रकाशक होता है वैसे ही श्रुतज्ञान शेष ज्ञानों तथा स्वयं का अनुयोग कारक है।)

१४९. निक्खेवेगट्ठ निरुत्त विहि पवित्ती य केण वा कस्स।
तद्दार भेय लक्खण, तदरिह परिसा य सुत्तत्थो॥

अनुयोग का निक्षेप, एकार्थक, निरुक्त, विधि, प्रवृत्ति, कौन अनुयोग करे, किसका अनुयोग, अनुयोग के द्वार, उनके भेद, सूत्र का लक्षण, उस सूत्र के योग्य, परिषद् तथा सूत्रार्थ—यह द्वारगाथा का शब्दार्थ है। विस्तार आगे की गाथाओं में।

१५०. निक्खेवो नासो त्ति य, एगट्ठं सो उ कस्स निक्खेवो।
अणुओगस्स भगवओ, तस्स इमे वत्तिया भेया॥

निक्षेप और न्यास एकार्थक हैं। वह निक्षेप किसका करना चाहिए? आचार्य कहते हैं—भगवान् अनुयोग का निक्षेप करना चाहिए। उसके ये भेद वर्णित हैं।

१५१. नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले य वयण भावे य।
एसो अणुओगस्स उ, निक्खेवो होइ सत्तविहो॥

अनुयोग का यह सात प्रकार का निक्षेप होता है—

१. नामानुयोग
२. स्थापनानुयोग
३. द्रव्यानुयोग
४. क्षेत्रानुयोग
५. कालानुयोग
६. वचनानुयोग
७. भावानुयोग।

१५२. सामित्त-करण-अहिगरणतो य एगत्त तह पुहत्ते य।
नामं ठवणा मोत्तुं, इति दव्वादीण छब्भेया॥

स्वामित्व, करण तथा अधिकरण—इनसे एक (एक वचन) अथवा बहुत्व (बहुवचन) के आधार पर नाम और स्थापना अनुयोग के अतिरिक्त शेष अनुयोगों का—प्रत्येक के छह-छह भेद होते हैं। जैसे—द्रव्य का, द्रव्यों का, द्रव्य से, द्रव्यों से, द्रव्य में तथा द्रव्यों में अनुयोग द्रव्यानुयोग है। इसी प्रकार क्षेत्र, काल, वचन तथा भाव अनुयोगों के (प्रत्येक के) छह-छह भेद होते हैं।

१५३. दव्वस्स उ अणुओगो, जीवदव्वस्स वा अजीवस्स।
एक्केक्कम्मि य भेया, हवंति दव्वाइया चउरो॥

द्रव्यानुयोग दो प्रकार का है—जीव द्रव्य का तथा अजीव द्रव्य का। प्रत्येक द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से चार-चार प्रकार का होता है।

१५४. दव्वेणिक्कं दव्वं, संखातीतप्पदेसमोगाढं।
काले अणादिनिहणं, भावे नाणाइयाऽणंता॥

द्रव्य से जीव द्रव्य एक है, क्षेत्र से असंख्यप्रदेशावगाढ है, कालतः अनादि अनंत तथा भावतः ज्ञान आदि पर्याय अनंत है। जैसे—अनंत ज्ञानपर्याय, अनंत दर्शनपर्याय, अनंत चारित्रपर्याय तथा अनंत अगुरुलघुपर्याय।

१५५. एमेव अजीवस्स वि, परमाणू दव्वमेगदव्वं तु।
खेत्ते एगपएसे, ओगाढो सो भवे नियमा॥

१५६. समयाइ ठिति असंखा, ओसप्पिणीओ हवंति कालम्मि।
वण्णादि भावऽणंता, एवं दुपदेसमादी वि॥

इसी प्रकार अजीव द्रव्य का भी अनुयोग कहना चाहिए। जैसे परमाणु द्रव्यतः एक है, क्षेत्रतः नियमतः एक प्रदेशावगाढ है, कालतः जघन्य स्थिति एक आदि समय तथा उत्कृष्टतः असंख्य अवसर्पिणीया-उत्सर्पिणीया होती हैं। भावतः उनमें अनंत वर्णपर्यव, अनंत गंधपर्यव, यावत् अनंत स्पर्शपर्यव होते हैं। इसी प्रकार द्विप्रदेशी आदि स्कंधों में होता है।

१५७. दव्वाणं अणुयोगो, जीवमजीवाण पज्जवा नेया।
तत्थ वि य मग्गणाओ, णेगा सट्ठाण परठाणे॥

दो प्रकार के द्रव्यों का अनुयोग होता है—जीव द्रव्य का और अजीव द्रव्य का। ये द्रव्य पर्यायात्मक होते हैं। उनको जानना चाहिए। स्वस्थान और परस्थान में उन पर्यायों की मार्गणा अनेक होती है।[1]

१५८. वत्तीए अक्खेण व, करंगुलादीण वा वि दव्वेण।
अक्खेहि उ दव्वेहिं, अहिगरणे कप्प कप्पेसु॥

वर्ती (खटिका) की शलाका, अक्ष अथवा अंगुली से जो

---

१. नैरयिक और असुरकुमार देवों के पर्याय अनन्त हैं। प्रश्न है, यह किस आधार पर कहा जाता है? दोनों द्रव्यार्थतया तुल्य हैं, प्रत्येक एक द्रव्य होने के कारण। प्रदेशार्थतया भी तुल्य हैं, प्रत्येक लोकाकाशप्रदेश तुल्यप्रदेशवाले होने के कारण। स्थिति से चतुःस्थानपतित, भावतः षट्स्थानपतित—इनमें दोनों तुल्य हैं। इसलिए दोनों में प्रत्येक के पर्याय अनन्त हैं आदि (वृ. पृ. ४८)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुयोग किया जाता है वह द्रव्य से अनुयोग है। अनेक अक्षों से किया गया अनुयोग द्रव्यों से अनुयोग है। एक कल्प में स्थित होकर अनुयोग करना—यह अधिकरण अर्थात् एक द्रव्य में होने वाला अनुयोग है। अनेक कल्पों में स्थित होकर अनुयोग करना—यह द्रव्यों में होने वाला अनुयोग है।

१५९. पन्नत्ति जंबुदीवे, खित्तस्सेमादि होइ अणुयोगो।
खित्ताणं अणुयोगो, दीवसमुद्दाण पन्नत्ती॥

जंबूद्वीप की प्रज्ञप्ति अथवा अन्य द्वीप की प्रज्ञप्ति—यह क्षेत्र का अनुयोग है। क्षेत्रों का अनुयोग-द्वीपसागरप्रज्ञप्ति अर्थात् अनेक द्वीपों और समुद्रों की प्रज्ञप्ति।

१६०. जंबुद्दीवपमाणं, पुढविजियाणं तु पत्थयं काउं।
एवं मविज्जमाणा, हवंति लोका असंखिज्जा॥

पृथ्वीकायिक जीवों को मापने के लिए जंबूद्वीप प्रमाण का प्रस्थक बना कर पृथ्वीकायिक जीवों को माप-मापकर अलोक में फेंका जाए तो असंख्येय लोक होते हैं अर्थात् असंख्येय लोकाकाशप्रमाण अलोक खंड को पूरित करते हैं। (यह क्षेत्र से अनुयोग है।)

१६१. खित्तेहिं बहू दीवे, पुढविजियाणं तु पत्थयं काउं।
एवं मविज्जमाणा, हवंति लोका असंखिज्जा॥

पृथ्वीकायिक को मापने के लिए 'बहु' अर्थात् तीन आदि द्वीपों का प्रस्थक बनाकर पृथ्वीकायिक जीवों को माप-मापकर अलोक में फेंका जाए तो असंख्य लोक होते हैं अर्थात् असंख्येय लोकाकाश प्रमाण अलोक खंड को पूरित करते हैं। (यह क्षेत्रों से अनुयोग है।)

१६२. खित्तम्मि उ अणुयोगो, तिरियंलोगम्मि जम्मि वा खेत्ते।
अड्ढाइयदीवेसुं, अद्धछवीसाएँ खित्तेसु॥

क्षेत्र में अनुयोग, जैसे तिर्यक् लोक में अनुयोग जिस ग्राम, नगर अथवा उपाश्रय में अनुयोग। क्षेत्रों में अनुयोग जैसे—ढाई द्वीपों में अनुयोग अथवा साढा पचीस (२५ ½) आर्य क्षेत्रों में अनुयोग।

१६३. कालस्स समयरूवण, कालाण तदादि जाव सव्वद्धा।
कालेणऽणिलवहारो, कालेहि उ सेसकायाणं॥

काल का अनुयोग—समय की प्ररूपणा। कालों का अनुयोग—समयों अर्थात् समय, आवलिका आदि से समस्त काल (सर्वाद्धा) पर्यन्त। काल से अनुयोग, जैसे—वायुकायिक जीवों का अपहार। कालों से—शेष कायिक जीवों का अपहार।[1]

१६४. कालम्मि बिइयपोरिसि, समासु तिसु दोसु वा वि कालेसु।
वयणस्सेगवयाई, वयणाणं सोलसण्हं तु॥

काल में अनुयोग, जैसे—दूसरी पौरुषी में। कालों में अनुयोग, जैसे—अवसर्पिणी के तीन अरों में—सुषमदुःषमा में, दुःषमसुषमा में, दुःषमा में तथा उत्सर्पिणी के दो अरों में—दुःषमसुषमा में तथा सुषमादुःषमा में। (छह प्रकार का कालानुयोग समाप्त)। वचन का अनुयोग—एक वचन, द्विवचन, बहुवचन। सोलह वचनों का[2] अनुयोग।

१६५. वयणेणाऽऽयरियाई, इक्केणुत्तो बहूहि वयणेहिं।
वयणे खओवसमिए, वयणेसु उ णत्थि अणुओगो॥

वचन से अनुयोग—किसी आचार्य ने, भिक्षु ने अथवा श्रावक ने किसी आचार्य से कहा—'अनुयोग करो।' वह अनुयोग करता है। वचनों से अनुयोग, जैसे—अनेक आचार्यों ने कहा—अनुयोग करो। वह अनुयोग करता है। क्षायोपशमिक वचन में स्थित का अनुयोग, वचन में अनुयोग है। उसके वचनों में अनुयोग नहीं होता, क्योंकि क्षायोपशमिक भाव का सर्वत्र एकत्व होता है, बहुत्व नहीं होता।

१६६. भावस्सेगतरस्स उ, अणुयोगो जो जहद्दिओ भावो।
दोमाइसन्निकासे, अणुयोगो होति भावाणं॥

औदयिक आदि भावों में से किसी एक में यथास्थित भाव है, उसका कथन भावानुयोग है। दो आदि भावों के संयोग में जितने विकल्प होते हैं, उनका कथन करना भावानुयोग है।

१६७. भावेण संगहाईअन्नयरेणं दुगाइभावेहिं।
भावम्मि खओवसमे, भावेसु य नत्थि अणुयोगो॥

---

१. वायुकायिक जीवों के वैक्रियशरीर के अपहार का कालमान—पल्योपम का असंख्येय भाग। शेष कायिक जीवों का—बद्ध औदारिक शरीर का. असंख्येय उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालमान में, अपहार।

२. वचन के सोलह प्रकार—

'लिंगतियं वयणतियं, कालतियं तह परुक्ख पच्चक्खं।
उवणय, वणयचउक्कं, अज्झत्थियायं तु सोलसमं॥

जैसे (१-३) लिंग तीन—स्त्री, पुरुष, नपुंसक।
(४-६) वचन तीन—एकवचन, द्विवचन, बहुवचन।
(७-९) काल तीन—अतीत, वर्तमान, अनागत।
(१०) परोक्ष—जैसे वह।
(११) प्रत्यक्ष—जैसे यह।
उपनय वचन—स्तुति वचन। अपनय वचन—निन्दावचन।
(१२) रूपवती स्त्री—उपनय वचन
(१३) कुरूप स्त्री—अपनयवचन।
(१४) रूपवती स्त्री किन्तु दुःशीला—उपनय-अपनय वचन।
(१५) कुरूप स्त्री किन्तु सुशीला—अपनय-उपनय वचन।
(१६) अध्यात्म वचन—जो मन में हो वही कहना।

(बृ. पृ. ५०)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संग्रहार्थता आदि पांच भावों में[1] से किसी एक भाव से अनुयोग करना भाव से अनुयोग है। इन पांचों में से दो-तीन भावों से अनुयोग करना भावों से अनुयोग है। भाव में अनुयोग—क्षायोपशमिक भाव में। भावों में अनुयोग नहीं है, क्योंकि क्षायोपशमिक भाव का एकत्व ही है।

१६८. अहवा आयाराइसु, भावेसु उ एस होइ अणुओगो।
सामित्तं आसज्ज व, परिणामेसुं बहुविहेसुं॥

अथवा भावों में यह अनुयोग होता है, जैसे—आयारो आदि द्वादशांगों में जो भाव हैं, उनमें अनुयोग—भावों में अनुयोग है। अथवा स्वामित्व की अपेक्षा से बहुत परिणाम हैं, उनमें अनुयोग होना, अथवा क्षायोपशमिक भाव भी क्षण-क्षण में बहुविध होता है, उनमें व्यवस्थित की व्याख्या करना भावों में अनुयोग है।

१६९. दव्वे नियमा भावो, न विणा ते यावि खित्त-कालेहिं।
खित्ते तिण्ह वि भयणा, कालो भयणाय तीसुं पि॥

(द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का परस्पर समवतार कैसे?) द्रव्य में नियमतः भाव है। भाव के बिना द्रव्य नहीं होते। द्रव्य और भाव क्षेत्र और काल के बिना नहीं होते। क्षेत्र में द्रव्य, काल और भाव—इन तीनों की भजना है।[2] उसमें काल समयक्षेत्र में होता है, अन्यत्र नहीं। इस प्रकार उसकी भजना है। द्रव्य और भाव भी लोकाकाश में होते हैं, अलोक में नहीं। इनकी भी भजना है।

१७०. आधारो आधेयं, च होइ दव्वं तहेव भावो य।
खित्तं पुण आधारो, कालो नियमा उ आधेयो॥

द्रव्य और भाव आधार और आधेय—दोनों होते हैं। द्रव्य भाव का आधार है और क्षेत्र का आधेय है। भाव काल का आधार है और द्रव्य का आधेय है। काल नियमतः आधेय होता है। उसका द्रव्य, क्षेत्र और भाव में अवस्थान होता है।

१७१. वत्स(च्छ)ग गोणी खुज्जा, सज्झाए चेव बहिरउल्लावे।
गामिल्लए य वयणे, सत्तेव य हुंति भावम्मिह॥

वत्स, गाय, कुब्जा, स्वाध्याय, बधिरोल्लाप, ग्रामेयक, वचन—ये द्रव्य संबंधी सात उदाहरण हैं।[3]

१७२. सावगभज्जा सत्तवइए य कुंकणगदारए नउले।
कमलामेला संबस्स साहसं सेणिए कोवो॥

श्रावकभार्या, सप्तपदिक, कोंकणकदारक, नकुलक, कमलामेला, शंब का साहस, श्रेणिक का कोप—ये भाव संबंधी सात उदाहरण हैं।[4]

१७३. बंधाणुलोमया खलु, सुत्तम्मि य लाघवं असम्मोहो।
सत्थगुणदीवणा वि य, एगट्ठगुणा हवंतेए॥

एकार्थिकों के प्रयोग से होने वाले ये गुण हैं—बंधानुलोमता, सूत्र में लाघवता, असम्मोह—असंदिग्धता, शास्ता के गुणों का उद्दीपन।

१७४. सुय सुत्त गंथ सिद्धंत सासणे आण वयण उवएसो।
पण्णवणमागमे इय, एगट्ठा पज्जवा सुत्ते॥

श्रुत, सूत्र, ग्रंथ, सिद्धांत, शासन, आज्ञा, वचन, उपदेश, प्रज्ञापना और आगम—ये सूत्र के दश पर्याय—एकार्थक हैं।

१७५. दव्वसुयं पत्तग-पुत्थएसु जं पढइ वा अणुवउत्तो।
आगम-नोआगमओ, भावसुयं होइ दुविहं तु॥

१७६. आगमओ सुयनाणी, सुओवउत्तो य होई भावसुयं।
सो सुयभावाऽणन्नो, सुयमवि उवओगओऽणन्नं॥

द्रव्यश्रुत है—पत्रक, पुस्तकों में न्यस्त श्रुत तथा जो उनको अनुपयुक्त होकर पढ़ता है वह। भावश्रुत के दो प्रकार हैं—आगमतः और नोआगमतः। आगमतः भावश्रुत है श्रुतोपयुक्त अर्थात् श्रुतज्ञानोपयोगवान् श्रुतज्ञानी। वह श्रुतज्ञानी श्रुतभाव से अनन्य है तथा श्रुत भी उपयोग से अनन्य है।

१७७. जं तं दुसत्तगविहं, तमेव नोआगमो सुयं होइ।
सामित्तासंबद्धं, समिईसहियस्स वा जं तु॥

जो चौदह प्रकार का अक्षरश्रुत आदि कहा है वह पुरुषों में स्वामित्व से असंबद्ध अर्थात् पुरुषों से पृथक् विवक्षित श्रुत नोआगमतः भावश्रुत है। अथवा समितिसहित उपयुक्त पुरुष का जो श्रुत है वह नोआगमतः भावश्रुत है।

१७८. पंचविहं पुण दव्वे, भावम्मि तमेव होइ सुत्तं तु।
सच्चित्ताई गंथो, दव्वे भावे इमं चेव॥

द्रव्यसूत्र के पांच प्रकार हैं—अंडज, बोंडज, कीटज, बालज तथा वल्कज। भावसूत्र वही है जो पूर्वगाथा में कहा है। द्रव्य ग्रंथ के तीन प्रकार हैं—सचित्त, अचित्त और मिश्र। भाव ग्रंथ है—यही कल्पाध्ययन।

१७९. जेण उ सिद्धं अत्थं, अंतं णयतीति तेण सिद्धंतो।
सो सव्व-पडीतंतो, अहिगरणे अब्भुवगमे य॥

जो सिद्ध अर्थ को अंत तक ले जाता है अर्थात प्रमाणकोटि में आरूढ़ करता है, वह है सिद्धांत। द्रव्यतः वह सिद्धांत है पुस्तकों में न्यस्त और भावतः सिद्धांत के चार प्रकार हैं—सर्वतंत्रसिद्धांत, प्रतितंत्रसिद्धांत, अधिकरणसिद्धांत तथा अभ्युपगमसिद्धांत।

---

१. पांच भाव ये हैं—संगहट्ठयाए, उवग्गहट्ठयाए, निज्जरट्ठयाए, सुय-पज्जवजाएणं, अव्वुच्छित्तीए।

२. क्षेत्र के बिना द्रव्य नहीं होता। तद्गत भाव भी क्षेत्र के बिना नहीं होता। काल के बिना द्रव्य और भाव नहीं होते।

३,४. कथाओं के लिए देखें—कथा परिशिष्ट नं. ३-१४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१८०. संति पमाणाति पमेयसाहगाइं तु सव्वतंतो उ।
थेज्जवई य वसुमई, आपो य दवा चलो वाऊ॥

प्रमेय को सिद्ध करने वाले प्रमाण हैं, पृथ्वी स्थिर है, पानी द्रव है, वायु चल है—ये सर्वतंत्रसिद्धांत हैं अर्थात् सभी तंत्रों में ये अर्थ सिद्ध हैं।

१८१. जो खलु सतंतसिद्धो, न य परतंतेसु सो उ पडितंतो।
निच्चमणिच्चं सव्वं, निच्चानिच्चं च इच्चाई॥

जो अर्थ स्व-तंत्र में सिद्ध है, पर-तंत्र में नहीं, वह प्रतितंत्र-सिद्धांत है। जैसे—सांख्य मानते हैं सब नित्य है, बौद्ध मानते हैं सब अनित्य है, जैन मानते हैं सब नित्यानित्य है।

१८२. सो अहिगरणो जहियं, सिद्धे सेसं अणुत्तमवि सिज्झे।
जह निच्चत्ते सिद्धे, अन्नत्ता-ऽमुत्तसंसिद्धी॥

जिसके सिद्ध होने पर अनुक्त भी सिद्ध हो जाता है वह है अधिकरणसिद्धांत। जैसे—आत्मा की नित्यता सिद्ध होने पर शरीर से उसकी अन्यत्वसिद्धि तथा अमूर्त्तत्व की सिद्धि भी हो जाती है।

१८३. जं अब्भुविच्च कीरइ, सिच्छाएँ कहा स अब्भुवगमो उ।
सीतो वण्ही गयजूह तणग्गे मग्गु-खरसिंगा॥

जो अपनी इच्छा से किसी सिद्धांत को मानकर वादकथा में प्रवृत्त होता है, वह है अभ्युपगमसिद्धांत। जैसे किसी ने स्वेच्छा से मानकर कहा—अग्नि शीतल होती है, तृण के अग्रभाग पर गजयूथ है, मद्गु—जलकाक और गधे के सींग होते हैं।

१८४. कडकरणं दव्वे सासणं तु दव्वे व दव्वओ आणा।
दव्वनिमित्तं वुभयं, दुन्नि वि भावे इमं चेव॥

कृतकरण अर्थात् मुद्रा द्रव्यतः शासन है और वही द्रव्यतः आज्ञा है। अथवा द्रव्योत्पादन के निमित्त जो शासन और आज्ञा है वह द्रव्यशासन और द्रव्यआज्ञा है। भावशासन और भावआज्ञा यही कल्पाध्ययन है।

१८५. दव्ववती दव्वाइं जाइं गहियाइं मुंचइ न ताव।
आराहणि दव्वस्स वि, दोहि वि भावस्स पडिवक्खो॥

भाषा के प्रायोग्य पुद्गलों को ग्रहण कर जब तक उनको भाषा के रूप में परिणत कर नहीं छोड़ा जाता तब तक वह द्रव्यवाक् है। अथवा द्रव्य की आराधनी वाक्—यथार्थस्वरूप प्रतिपादिका भी द्रव्यवाक् है। दोनों प्रकारों से भाववाक् का प्रतिपक्ष वक्तव्य है, जैसे—भाषायोग्य पुद्गलों को भाषा के रूप में परिणत कर छोड़ना, यह नोआगमतः भाववाक् है अथवा जो जीव के भाव ज्ञान आदि की आराधिका है, अथवा अजीव घट आदि के वर्णादिक की आराधिका है वह वाक् नोआगमतः भाववाक् है।

१८६. दव्वाण दव्वभूओ, दव्वट्ठाए व विज्जमाईया।
अह दव्वे उवएसो, पन्नवणा आगमे चेव॥

वैद्य आदि रोगी को औषधि द्रव्यों का द्रव्यभूत अर्थात् अनुपयुक्त होकर द्रव्य—धन के निमित्त जो उपदेश देता है, प्रज्ञापना करता है तथा आगम—अर्थ का संग्रह करता है, यह सारा द्रव्यतः उपदेश, द्रव्यतः प्रज्ञापना और द्रव्यतः आगम है।

१८७. अणुयोगो य नियोगो, भास विभासा य वत्तियं चेव।
एए अणुओगस्स उ, नामा एगट्ठिया पंच॥

अनुयोग के ये पांच एकार्थिक हैं—अनुयोग, नियोग, भाषा, विभाषा और वार्त्तिक।[1]

१८८. निच्छियमुत्त निरुत्तं, तं पुण सुत्ते य होइ अत्थे य।
सुत्ते उवरिं वुच्छं, अत्थनिरुत्तं इमं तत्थ॥

निरुक्त का अर्थ है—निश्चित कथन। वह सूत्र का भी होता है और अर्थ का भी। सूत्र विषयक निरुक्त आगे श्लोक ३१० में कहे जाएंगे। अर्थनिमित्त ये निरुक्त हैं—

१८९. अणु बायरे य उंडिय, पडिंसुया चेव अब्भपडले य।
वत्तिय चउक्कभंगो, निरुत्तादी वत्तणी व जहा॥

अनुयोग में अणुत्व और बादरत्व का दृष्टांत, नियोग में उंडिका—मुद्रा विषयक, भाषा में प्रतिश्रुत का दृष्टांत, विभाषा में अभ्रपटल का दृष्टांत तथा वार्त्तिक के चार भंग हैं। उनका दृष्टांत है मंख विषयक। तथा निरुक्त आदि। वर्त्तनी—मार्ग का दृष्टांत। (इनकी व्याख्या अगली गाथाओं में)।

१९०. अणुणा जोगो अणुजोगो, अणु पच्छाभावओ य थेवे य।
जम्हा पच्छाऽभिहियं, सुत्तं थोवं च तेणाणू॥

अनु के साथ योग—अनुयोग। अनु का अर्थ है—पश्चात्भूत। अणु के साथ योग—अणुयोग। अणु का अर्थ है—थोड़ा। इसलिए जो पश्चात्कृत है, अल्प है, वह है सूत्र। (अर्थ अनणु है, क्योंकि वह पूर्व उक्त है। वह बादर है, क्योंकि वह बहुत है।)

१९१. पुव्वं सुत्तं पच्छा, य पगासो लोइया वि इच्छंति।
पेलासरिसे सुत्ते, अत्थपया हुंति बहुया वि॥

पहले सूत्र होता है, फिर प्रकाश अर्थात् अर्थ। लौकिक लोग भी यही चाहते हैं। सूत्र पेटी के सदृश होता है। जैसी

१. (१) अनुयोग—सूत्र का अर्थ के साथ अनुकूल योग।
(२) नियोग—निश्चित योग।
(३) भाषा—अर्थ का कथन।
(४) विभाषा—विविध प्रकार से कथन करना।
(५) वार्त्तिक—पूरे पद का अर्थगत विवरण।

(वृ. पृ. ६१)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पेटी में अनेक वस्त्रों का समावेश होता है। इसी प्रकार सूत्र में भी अनेक अर्थपदों का समावेश होता है।

१९२. इक्कं वा अत्थपयं, सुत्ता बहुगा वि संपयंसंति।
उक्खित्तनायमाइसु, अयमवि तम्हा अणेगंतो॥

एक अर्थपद भी अनेक सूत्रों में वर्णित होता है। उसका संप्रदर्शन–अर्थाभिव्यक्ति अनेक सूत्रों से होती है। जैसे–उत्क्षिप्तज्ञात[1] आदि में 'अनुकंपा करनी चाहिए'–इस अर्थ विषयक अनेक सूत्र ग्रथित हैं। आदि शब्द से 'संघाट'[2] (ज्ञाता) में कहा है–वर्णवृद्धि के लिए आहार नहीं करना चाहिए–यह भी अनेकांत वचन है। क्योंकि 'अर्थ महान् होता है'।

१९३. अत्थं भासइ अरिहा, तमेव सुत्तीकरेंति गणधारी।
अत्थं च विणा सुत्तं, अणिस्सियं केरिसं होज्जा॥

अर्हत् अर्थ का कथन करते हैं। उसीको गणधर सूत्ररूप में ग्रथित करते हैं। बिना अर्थ के अनिश्रित सूत्र कैसा होता है? वह असंबद्ध होता है।

१९४. अहिगो जोगो निजोगो, जहाऽइदाहो भवे निदाहो त्ति।
अत्थनिउत्तं सुत्तं, पसवइ चरणं जओ मुक्खो॥

'नि' आधिक्य के अर्थ में प्रयुक्त है। नियोग का अर्थ है–अधिक योग। जैसे अतिदाह अर्थात् निदाह। किसका किसके साथ आधिक्य? इसका उत्तर है–सूत्र का अर्थ के साथ–सूत्रस्यार्थेन। अधिक योग का फल क्या है? अर्थ के साथ अधिकता से नियुक्त सूत्र चारित्र का उत्पादक होता है। चारित्र से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

१९५. वच्छनियोगे खीरं, अत्थनियोगेण चरणमेवं तु।
पत्तग दंडियमुभयं, दंडियसरिसो तहिं अत्थो॥

जैसे बछड़े के नियोग से गाय दूध का प्रस्रवण करती है, वैसे ही अर्थ के नियोग से चारित्र का प्रसव होता है। पत्रक, दंडिका और उभय अर्थात् पत्र भी दंडिका भी। दंडिका के सदृश होता है अर्थ। स्पष्टार्थ आगे–

तीन पुरुष राजा की सेवा में संलग्न थे। राजा ने उनकी सेवा से संतुष्ट होकर, निकटस्थ गांव में एक नया मकान उनको दिया। एक व्यक्ति उस गांव के राजपुरुषों के लिए एक पत्र लिखा कर ले गया। दूसरा व्यक्ति केवल राजमुद्रायुक्त पत्र लेकर गया और तीसरा व्यक्ति मुद्रायुक्त लिखा पत्रक लेकर गया। प्रथम दोनों खाली हाथ लौटे और तीसरे व्यक्ति को वह नया मकान मिल गया, क्योंकि उसमें नए मकान विषयक बात भी थी और वह मुद्रांकित भी था।

(पत्रक सदृश है सूत्र, दंडिका सदृश है अर्थ। केवल पत्रक अथवा केवल दंडिका प्रयोजनीय नहीं होती। दोनों एक साथ होने पर वे प्रयोजन सिद्ध करते हैं। इसी प्रकार सूत्र और अर्थ दोनों होते हैं तो वे चारित्र के साधक होते हैं। पृथक् पृथक् नहीं।

१९६. पडिसद्दगस्स सरिसं, जो भासइ अत्थमेगु सुत्तस्स।
सामइय बाल पंडिय, साहु जईमाइया भासा॥

जैसा शब्द किया जाता है, वैसा ही प्रतिशब्द होता है। जो जैसा सूत्र होता है, उसका वैसा ही एक अर्थ कहा जाता है। वह उसकी भाषा है। जैसे–समभाव है सामायिक। जो भूख-प्यास से आकुल होता है वह है बाल। जो पाप से डरता है अथवा जिसकी बुद्धि पंडा है वह है पंडित। मोक्षमार्ग का साधक है साधु। सर्वात्मना संयमानुष्ठान करने वाला होता है यति आदि शब्दों की यह भाषा है।

१९७. एक्केणं एक्कदलं, तहिं कयं बिईएण बहुतरगा।
तइएण छाइयं तं, तिल्लं-ऽबिलमादुवाएहिं॥

१९८. एगपए दु-तिगाई, जो अत्थे भणइ सा विभासा उ।
असइ य आसु य धावइ, न य सम्मइ तेण आसो उ॥

एक छत्रकार ने अपने तीन शिष्यों को तीन छत्र और अभ्रपटल देते हुए कहा–इनको अभ्रपटल से आच्छादित करो। एक शिष्य ने एक अभ्रपटलदल को छत्र पर लगाया। दूसरे शिष्य ने अनेक अभ्रपटलों से छत्र को आच्छादित किया। तीसरे ने अनेक अभ्रपटलों से छत्र को आच्छादित कर, तैल-अम्बा आदि पदार्थों से उस पर लेप कर उसको मजबूत बना डाला। प्रथम शिष्य सदृश होता है भाषक और द्वितीय शिष्य सदृश होता है विभाषक।

जो एक शब्दपद में दो-तीन आदि अर्थों की अभिव्यक्ति होती है वह है विभाषा, जैसे–**अश्नाति इति अश्वः**–जो खाता है वह है घोड़ा। अथवा **आशु धावति न च श्राम्यतीति अश्वः**–जो तेज दौड़ता है पर थकता नहीं, वह है अश्व। यह है विभाषक। उसका कथन है विभाषा। तीसरे शिष्य के सदृश होता है व्यक्तिकर।[3]

१९९. सामाइयस्स अत्थं, पुव्वधर समत्तमो विभासेइ।
चउरो खलु मंखसुया, वत्तीकरणम्मि आहरणा॥

जो चतुर्दश पूर्वधर सामायिक का अर्थ समस्तरूप से कहता है, वह व्यक्तिकर अथवा वार्तिककर होता है। व्यक्तिकरण के विषय में चार मंखपुत्रों का दृष्टांत है।

२००. फलगिक्को गाहाहिं, बिइओ तइओ य वाइयत्थेणं।
तिन्नि वि अकुडुंबभरा, तिगजोग चउत्थओ भरइ॥

---

१. ज्ञाताधर्मकथा–ज्ञात १।
२. वही, ज्ञात २।
३. पढमसरिच्छो भासगो, बिइय विभासो य तइय वितिकरो। इति।
(वृ. पृ. ६४)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चार मंखपुत्र गांव में याचना करने के लिए घूमते। एक केवल फलक लेकर घूमता है, कुछ बोलता नहीं, दूसरा फलक के बिना केवल गाथाएं बोलता हुआ घूमता है और तीसरा बिना फलक लिए, बिना गाथाओं का उच्चारण किए केवल अर्थ कहता है—ये तीनों अकुटुम्बभर होते हैं, उन्हें कुछ भी नहीं मिलता। चौथा मंखपुत्र त्रिकयोग अर्थात् फलक के साथ, गाथाओं का उच्चारण तथा उनका अर्थ कहता हुआ घूमता है। उसे बहुत मिलता है और वह कुटुंबभर होता है।

(इस दृष्टांत का उपनय इस प्रकार है—व्यक्तिकरण के चार विकल्प हैं—एक को सूत्र आता है, अर्थ नहीं। दूसरे को अर्थ आता है, सूत्र नहीं। तीसरे को दोनों ज्ञात हैं। चतुर्थ को न सूत्र याद है और न अर्थ। इनमें प्रथम दो तथा चतुर्थ—ये प्रथम तीन मंखपुत्रों के सदृश अपने प्रयोजन के साधक नहीं होते। तीसरा व्यक्तिकर चौथे मंखपुत्र की भांति अपने प्रयोजन का साधक होता है।)

२०१. जे जम्मि जुगे पवरा, तेसि सगासम्मि जेण उग्गहियं।
परिवाडीण पमाणं, वुच्छं वत्तीकरो स खलु॥

जो जिस युग में प्रधान होते हैं, उनके पास से जिस ग्रहण-धारणा समर्थ शिष्य ने ज्ञानार्जन किया है, वह व्यक्तिकर होता है। ग्रहण-विषयक परिपाटियों का प्रमाण आगे कहूंगा।

२०२. निक्खेवा य निरुत्ताणि जा य कहणा भवे पगासस्स।
जह रिसभाईयाऽऽहंसु किमेवं वद्धमाणो वि॥

निक्षेप, निरुक्त, अर्थ का कथन, एकार्थकों का कथन, जैसे ऋषभ आदि तीर्थंकरों ने किया है, क्या उसी प्रकार से वर्द्धमान ने भी किया है? हां, सबकी प्ररूपणा समान है।

२०३. धिय-संघयणे तुल्ला, केवलभावे य विसमदेहा वि।
केवलनाणं तं चिय, पन्नवणिज्जा य चरमे वि॥

(शिष्य ने पूछा—ऋषभ आदि तीर्थंकरों की अवगाहना बहुत थी और भगवान् वर्द्धमान केवल सातरत्निप्रमाण के थे। फिर उनका वैसे ही प्ररूपण कैसे संभव है?) आचार्य कहते हैं—तीर्थंकर विषम देह वाले होने पर भी धृति, संहनन और केवल भाव में तुल्य होते हैं। जैसे ऋषभ आदि में केवलज्ञान था वैसा ही केवलज्ञान चरम तीर्थंकर वर्द्धमान का था। वे ही प्रज्ञापनीय भाव थे। इस प्रकार वे सब तुल्य थे।

२०४. नायज्झयणाहरणा, इसिभासियमो पइन्नगसुया य।
एए हुंति अनियया, नियया पुण सेसमुस्सण्णं॥

ज्ञाताधर्मकथा के दृष्टांत, ऋषिभाषित तथा प्रकीर्णकसूत्र—ये सब अनियत होते हैं। शेष पुनः प्रायशः नियत होता है।

२०५. जह सव्वजणवएसुं, एक्कं चिय सगडवत्तिणिपमाणं।
विसमाणि य वत्थूणी, सगडाईणं तह निरुत्ता॥

यद्यपि शकट, गंत्री आदि विषम वस्तुएं हैं—कुछ बड़ी होती हैं और कुछ छोटी, फिर भी सभी जनपदों में, समय के अनुसार शकटवर्त्तनी—शकटमार्ग का एक ही प्रमाण होता है। सर्वत्र जुआ का प्रमाण चार हाथ है। शकटवर्त्तनी की भांति ही निरुक्त, निक्षेप आदि की निरूपणा भी सभी अर्हतों की समान होती है।

२०६. जइ वि य वत्थू हीणा, पुव्विल्लरहेहिं संपयरहाणं।
तह वि जुगम्मि जुगम्मी, सहत्थचउहत्थगा अक्खा॥

यद्यपि पूर्वतर वस्तु—रथों से वर्तमानकाल के रथ हीन हैं फिर भी प्रत्येक युग में स्वहस्त से चतुर्हस्तक जुआ होते हैं।

२०७. पुरिमेहिं जइ वि हीणा, इंदियमाणा उ संपयनराणं।
तह वि य सिं उवलद्धी, खित्तविभागेण तुल्ला उ॥

यद्यपि पूर्वकाल के मनुष्यों से वर्तमान के पुरुषों की इन्द्रियां हीन प्रमाणवाली हैं, फिर भी आत्मांगुल के आधार पर क्षेत्रविभाग से इनकी तुल्य उपलब्धि है।

२०८. अणुपुव्वी परिवाडी, कमो य नायो ठिई य मज्जाया।
होइ विहाणं च तहा, विहीएँ एगट्ठिया हुंति॥

विधि शब्द के ये एकार्थिक हैं—आनुपूर्वी, परिपाटी, क्रम, न्याय, स्थिति, मर्यादा और विधान।

२०९. सुत्तत्थो खलु पढमो, बिइओ निज्जुत्तिमीसिओ भणिओ।
तइओ य निरवसेसो, एस विही भणिय अणुयोगे॥

अनुयोग की यह विधि कही गई है—

पहली परिपाटी में सूत्र का अर्थ कहना चाहिए। दूसरी परिपाटी में निर्युक्तिमिश्रित उसका कथन करना चाहिए। (ये दोनों अध्ययन की परिसमाप्ति पर्यन्त कथनीय हैं।) तीसरी परिपाटी में संपूर्ण अनुयोग का कथन करना चाहिए अर्थात् पद, पदार्थ, चालना, प्रत्यवस्थान आदि से विस्तृत कथन करना चाहिए। (यह अनुयोग की विधि ग्रहण-धारणा समर्थ शिष्यों के प्रति है।)

२१०. मूयं हुंकारं वा, बाढक्कार पडिपुच्छ वीमंसा।
तत्तो पसंगपारायणं च परिणिट्ठ सत्तमए॥

मंदमति के लिए अनुयोग की विधि यह है—

(१) शिष्य गुरु की वाचना को मूक होकर सुने, मौनभाव से सुने।
(२) फिर हुंकार दे, वंदना करे।
(३) बाढ़कार करे—ऐसी ही है यह, यह प्रशंसा करे।
(४) प्रतिपृच्छा करे—भंते! यह कैसे?
(५) विमर्श करे—प्रमाण की जिज्ञासा करे।
(६) शिष्य उपदिष्ट विषय का पारायण कर लेता है।
(७) सातवें में वह परिनिष्ठा अर्थात् गुरु की भांति व्याख्या करने में सक्षम हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार गुरु मंद बुद्धिवाले शिष्यों के लिए, जैसे वे समझ सकें वैसे सात परिपाटियों में अनुयोग करे।

२११. चोएइ राग-दोसा, समत्थ परिणामगे परूवणया।
एएसिं नाणत्तं, वुच्छामि अहाणुपुव्वीए॥

शिष्य ने प्रश्न किया—भंते! आपने जो तीन परिपाटियों में समर्थ और परिणामक शिष्य को अनुयोग की प्ररूपणा करने की बात कही है, और मंद परिणाम वाले को सात परिपाटियों में अनुयोग-प्ररूपणा का कथन किया है, क्या उससे राग-द्वेष का प्रसंग नहीं आता? मैं इन समर्थ और असमर्थ शिष्यों का आनुपूर्वी से नानात्व कहूंगा।

२१२. मच्छरया अविमुत्ती, पूयासक्कार गच्छइ य खिन्नो।
दोसो गहणसमत्थे, इयरे रागो उ वुच्छेयो॥

ग्रहण करने में समर्थ शिष्य को तीन परिपाटियों में अनुयोग कहना, यह द्वेष है। इसके कारण ये हैं—(१) मत्सरता—यह बहुशिक्षित होने पर मेरा शत्रु बन जायेगा। (२) अविमुक्ति—सूत्रार्थ समाप्त होने पर यह मुझे छोड़ देगा, अन्यथा मेरे शिष्य परिवार में ही रहेगा। (३) पूजा-सत्कार—इसका पूजा-सत्कार बढ़ जाएगा। (४) खिन्न—यह परिश्रांत होकर अन्य गच्छ में चला जाएगा। यह द्वेष है। इतर अर्थात् मंदमति को सात परिपाटियों में अनुयोग देना राग है, क्योंकि आप सोचते हैं कि इसका संपूर्ण अनुयोग नहीं दूंगा तो अनुयोग का व्यवच्छेद हो जाएगा।

२१३. निरवयवो न हु सक्को, सयं पगासो उ संपयंसेउं।
कुंभजले वि हु तुरिउज्झियम्मि न हु तिम्मए लिट्ठू॥

आचार्य कहते हैं—एक ही परिपाटी में सूत्र का निरवयव—संपूर्ण अर्थ कभी भी संप्रदर्शित नहीं किया जा सकता। जैसे जल से भरे हुए एक कुंभ का पानी भी यदि लेष्टु पर उंडेला जाए तो भी वह उसको नहीं भिगो पाएगा। इसी प्रकार समर्थ शिष्य भी एक ही परिपाटी से संपूर्ण अर्थ का धारण नहीं कर सकता। अतः तीन परिपाटियों से उसे अनुयोग देना अदोष है।

२१४. सुत्त-ऽत्थे कहयंतो, पारोक्खी सिस्सभावमुवलब्भ।
अणुकंपाएँ अपत्ते, निज्जूहइ मा विणस्सिज्जा॥

परोक्षज्ञानी आचार्य शिष्यों को सूत्र और अर्थ की वाचना देते हुए, शिष्यों के आंतरिक भावों को जानकर, अपात्र शिष्यों का निर्यूहण करते हैं—उन्हें सूत्रार्थ नहीं देते, यह जानकर कि श्रुत की आशातना आदि से उनका विनाश न हो जाए। यह द्वेषभाव नहीं है।

२१५. दारुं धाउं वाही, बीए कंकडुय लक्खणे सुमिणे।
एगंतेण अजोग्गे, एवमाई उदाहरणा॥

एकांत अयोग्य शिष्य के वाचक ये उदाहरण हैं—दारु (लकड़ी), धातु, व्याधि, बीज, कांकटुक, लक्षण और स्वप्न। (इनकी व्याख्या आगे के श्लोकों में)।

२१६. को दोसो एरंडे, जं रहदारुं न कीरए तत्तो।
को वा तिणिसे रागो, उवजुज्जइ जं रहंगेसु॥

एरंडद्रुम में कौन-सा द्वेष है कि उससे रथयोग्य लकड़ी नहीं बनाई जाती? तिनिश की लकड़ी के प्रति कौनसा राग है कि उसका उपयोग रथ के अंगों के निर्माण में किया जाता है?

२१७. जं पि य दारुं जोग्गं, जस्स उ वत्थुस्स तं पि हु न सक्का।
जोएउमणिम्मविउं, तच्छण-दल-वेह-कुस्सेहिं॥

यद्यपि किसी वस्तु के योग्य कोई लकड़ी है, परंतु उसको बिना निर्मापित किए उसे उपयुक्त स्थान में नियोजित नहीं किया जा सकता। लकड़ी के निर्माण की ये क्रियाएं हैं—तक्षण, दल—समूचे काठ को दो-तीन पाटों में फाड़ना, वेध और कुश (जिसे वेध के प्रान्त में पिरोया जा सके।)

(इसी प्रकार शिष्य के योग्य होने पर भी जब तक वह सूत्रों से परिकर्मित नहीं होता, तब तक उसे कल्प या व्यवहार नहीं पढ़ाया जाता। यह राग-द्वेष नहीं है।)

२१८. एमेव अधाउं उज्झिऊण धाऊण कुणइ आयाणं।
न य अक्कमेण सक्का, धाउम्मि वि इच्छियं काउं॥

इसी प्रकार राग-द्वेष के बिना अधातु को छोड़कर धातु को ग्रहण करता है। धातु को भी अक्रम से इच्छितरूप में नहीं ढाला जा सकता, किन्तु क्रम से उसे वह रूप दिया जा सकता है।

(इसी प्रकार अयोग्य शिष्यों का परिहार कर, योग्य शिष्यों को भी क्रमशः श्रुत का ग्रहण कराया जा सकता है।)

२१९. सुहसज्झो जत्तेणं, जत्तासज्झो असज्झवाही उ।
जह रोगे पारिच्छा, सिस्ससभावाण वि तहेव॥

वैद्य रोग की परीक्षा करता है। वह परीक्षा कर जान लेता है कि यह रोग सुखसाध्य है, यह प्रयत्न-साध्य है और यह व्याधि असाध्य है—प्रयत्न से भी साध्य नहीं है। परीक्षा के पश्चात् वह राग-द्वेष के बिना तदनुरूप उपचार करता है। इसी प्रकार शिष्य के स्वभावों को भी राग-द्वेष के बिना परीक्षण कर तदनुरूप प्रवृत्ति की जाती है।

२२०. बीयमबीयं नाउं, मोत्तुमबीए उ करिसतो सालिं।
ववइ विरोहणजोग्गे, न यावि से पक्खवाओ उ॥

कृषक बीज और अबीज को जानकर, अबीजों को छोड़कर शालि बीजों का वपन करता है। इस प्रवृत्ति में उसने योग्य बीजों के प्रति कृषक का पक्षपात नहीं है। न उनके प्रति राग है और न अबीजों के प्रति द्वेष है।

२२१. कंकडुए को दोसो, जं अग्गी तं तु न पयई दित्तो।
को वा इयरे रागो, एमेव य सुत्तकारस्स॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कांकटुक (कोरडू) धान्य को दीप्त अग्नि भी नहीं पका सकती, यह उसके प्रति अग्नि का द्वेष नहीं है। वह इतर धान्य को पका डालती है, यह उनके प्रति कोई राग नहीं है। इसी प्रकार सूत्र की वाचना देने, न देने में सूत्रकार की राग-द्वेषयुक्त प्रवृत्ति नहीं होती।

२२२. जे उ अलक्खणजुत्ता, कुमारगा ते निसेहिउं इयरे।
रज्जरिहे अणुमन्नइ, सामुद्दो नेय विसमो उ॥

सामुद्रलक्षणज्ञाता अलक्षणयुक्त राजकुमारों का निषेध कर, लक्षणयुक्त राजकुमार को राजयोग्य मानता है। ऐसा करने वाला विषम-राग-द्वेषवान् नहीं होता।

२२३. जो जह कहेइ सुमिणं, तस्स तह फलं कहेइ तन्नाणी।
रत्तो वा दुट्ठो वा, न यावि वत्तव्वयमुवेइ॥

जो जैसा स्वप्न देखता है, कहता है, स्वप्नशास्त्री उसी का फल बताता है। वह रक्त या द्विष्ट होकर कोई बात नहीं कहता।

२२४. अग्गी बाल गिलाणे, सीहे रुक्खे करीलमाईया।
अपरिणयजणे एए, सप्पडिवक्खा उदाहरणा॥

अपरिणत शिष्य, जो कालान्तर में योग्य हो सकता है, इस विषयक अर्थात् पहले अयोग्य और पश्चात् योग्य विषयक—ये प्रतिपक्ष उदाहरण हैं—अग्नि, बाल, ग्लान, सिंह, वृक्ष और करील आदि।

२२५. जह अरणीनिम्मविओ, थोवो विउलिंधणं न चाएइ।
दहिउं सो पज्जलिओ, सव्वस्स वि पच्चलो पच्छा॥

२२६. एवं खु थूलबुद्धी, निउणं अत्थं अपच्चलो घेत्तुं।
सो चेव जणियबुद्धी, सव्वस्स वि पच्चलो पच्छा॥

जैसे अरणि से निर्मापित थोड़ी अग्नि विपुल इंधन को जलाने में समर्थ नहीं होती, पश्चात् वही अग्नि प्रज्वलित होकर सभी इंधन को जलाने में सक्षम हो जाती है।

इसी प्रकार स्थूलबुद्धि वाला शिष्य विपुल अर्थ को ग्रहण करने में सक्षम नहीं होता, वही वृद्धिंगत बुद्धि वाला होकर समस्त शास्त्रों को ग्रहण करने में समर्थ हो जाता है।

२२७. देहे अभिवड्ढंते, बालस्स उ पीहगस्स अभिवुड्ढी।
अइबहुएण विणस्सइ, एमेवऽहुणुट्ठिय गिलाणे॥

शरीर की वृद्धि के साथ-साथ पीहक—आहार की भी अभिवृद्धि होती है। यदि बालक को अतिबहु आहार दिया जाता है तो वह विनष्ट हो जाता है। इसी प्रकार अभी-अभी रोग से मुक्त व्यक्ति के विषय में ज्ञातव्य है।

(इसी प्रकार शिष्य भी अपनी योग्यता के अनुसार शास्त्रों को क्रमशः ग्रहण करता है। प्रारंभ से ही अतिनिपुण शास्त्रग्रहण से उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है।)

२२८. खीर-मिउपोग्गलेहिं, सीहो पुट्ठो उ खाइ अट्ठी वि।
रुक्खो बिवन्नओ खलु, वंसकरिल्लो य नहछिन्नो॥

२२९. ते चेव विवड्ढंता, हुंति अछेज्जा कुहाडमाईहिं।
तह कोमला वि बुद्धी, भज्जइ गहणेसु अत्थेसु॥

सिंह शिशु प्रारंभ में दूध और मृदु मांस खाता है और पुष्ट होकर (बड़ा होकर) वह हड्डियों को भी चबाने लग जाता है। द्विपर्ण वृक्ष तथा वंशकरील—ये दोनों प्रारंभ में नखछेद्य होते हैं। वे ही जब बड़े हो जाते हैं तब कुठार आदि से भी नहीं छेदे जाते। इसी प्रकार शिष्य की बुद्धि पहले कोमल होती है। उस समय वह गहन अर्थों में टूट जाती है। क्रमशः वह कठोर, कठोरतर हो सकती है।

२३०. निउणे निउणं अत्थं, थूलत्थं थूलबुद्धिणो कहए।
बुद्धीविवद्धणकरं, होहिइ कालेण सो निउणो॥

निपुण शिष्य को निपुण अर्थ का कथन करे और स्थूलबुद्धि वाले शिष्य को स्थूल अर्थ का कथन करे। कालान्तर में वही स्थूलबुद्धि शिष्य अपनी बुद्धि को वृद्धिंगत कर निपुण होगा। (अन्यथा प्रारंभ में उसे निपुण अर्थ का बोध कराने पर उसकी बुद्धि का भंग हो सकता है।)

२३१. सिद्धत्थए वि गिण्हइ, हत्थी थूलगहणे सुनिम्माओ।
सरवेह-छिज्ज-पवए, घड-पड-चित्ते तहा धमए॥

हाथी को पहले स्थूल वस्तुओं के ग्रहण में निपुण किया जाता है। जब वह उसमें निर्मित हो जाता है तब वह उड़द के दानों का भी ग्रहण करने में सक्षम हो जाता है। इसी प्रकार स्वरवेध, पत्रच्छेद्यक, प्लवक, घटकारक, पटकारक, चित्रकारक तथा धमक के दृष्टांत हैं।

२३२. जत्थ मई ओगाहइ, जोग्गं जं जस्स तस्स तं कहए।
परिणामा-ऽऽगमसरिसं, संवेगकरं सनिव्वेयं॥

शिष्य की मति भी जैसे-जैसे जितना-जितना अवगाहन करती है, उसके योग्य जो शास्त्र हो उसको उस शास्त्र की वाचना देनी चाहिए। आगम के सदृश ही उसके परिणाम होंगे, इसलिए उसको संवेगकर और निर्वेदकर आगम की वाचना देनी चाहिए।

२३३. गिण्हंत-गाहगाणं, आइसुएसु उ विही समक्खाओ।
सो चेव य होइ इहं, उज्जोगो वन्निओ नवरं॥

ग्रहण करने वाले शिष्य और ग्राहक—आचार्य के लिए आदिसूत्र—सामायिक में जो विधि समाख्यात है, वही विधि यहां भी वक्तव्य है। आचार्य शिष्यों को अनुयोग कहने में जो उद्यम करते हैं (तीन या सात परिपाटियों का) वह यहां विस्तार से वर्णित है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२३४. अणिउत्तो अणिउत्ता, अणिउत्तो चव होइ उ निउत्ता।
नि (ने)उत्तो अणिउत्ता, उ निउत्तो चेव उ निउत्ता॥
२३५. निउत्ता अनिउत्ताणं, पवत्तई अहव ते वि उ निउत्ता।
दव्वम्मि होइ गोणी, भावम्मि जिणादयो हुंति॥

प्रवृत्ति के दो प्रकार हैं—द्रव्यतः और भावतः। द्रव्यतः में गाय का दृष्टांत और भावतः में जिन आदि का दृष्टांत है।

गाय और दोहक विषयक चतुर्भंगी—

१. दोहक अनियुक्त, गाय भी अनियुक्त।
२. दोहक अनियुक्त, गाय नियुक्त।
३. दोहक नियुक्त, गाय अनियुक्त।
४. दोहक नियुक्त, गाय भी नियुक्त।

इसी प्रकार आचार्य-शिष्य से संबंधित भी चतुर्भंगी होती है। यह चतुर्भंगी अनुयोग विषयक है। तीसरे भंग के अनुसार आचार्य अनुयोग में नियुक्त हैं, किन्तु शिष्य अनियुक्त हैं। आचार्य उन अनियुक्त शिष्यों को भी अनुयोग में प्रवृत्त करता है। अथवा द्वितीय भंग में नियुक्त शिष्य अनियुक्त आचार्य को भी अनुयोग में प्रवृत्त कर देते हैं।

(तीसरे और दूसरे विकल्प में अनुयोग की प्रवृत्ति होती है। प्रथम में सर्वथा नहीं होती और चतुर्थ भंग में वह अवश्य होती है।)

२३६. अप्पण्हुया य गोणी, नेव य दुद्धा समुज्जओ दुद्धुं।
खीरस्स कओ पसवो, जइ वि य सा खीरदा धेणू॥
२३७. बीए वि नत्थि खीरं, थेवं व हविज्ज एव तइए वि।
अत्थि चउत्थे खीरं, एसुवमा आयरिय-सीसे॥
२३८. अहवा अणिच्छमाणमवि किंचि उज्जोगिणो पवत्तंति।
तइए सारिंते वा, होज्ज पवित्ती गुणिंते वा॥

धेनु दूध देने वाली है, परंतु वह उस समय प्रसुत नहीं है और दुहने वाला भी समुद्यत नहीं है तो दूध का प्रसव कैसे होगा? दूध कहां से मिलेगा? दूसरे भंग में 'दोहक अनियुक्त है, गाय नियुक्त है' तो दूध प्राप्त नहीं होगा, अथवा गाय से टपकने वाली दूध की बूंदें ही प्राप्त होंगी। तीसरे भंग में 'दोहक नियुक्त है, गाय अनियुक्त है'—इसमें भी दूध की प्राप्ति नहीं होगी। चौथे भंग में गाय और दोहक—दोनों नियुक्त हैं तो दूध प्राप्त होगा।

यह उपमा आचार्य और शिष्य से संबंधित अनुयोग के प्रसव के विषय में है।

अथवा अनुयोग की प्रवृत्ति में प्रवृत्त होने की इच्छा न होते हुए भी, उद्योगी शिष्य प्रतिपृच्छा आदि के द्वारा आचार्य को उसमें प्रवृत्त कर देते हैं। तीसरे भंग में 'आचार्य नियुक्त हैं किन्तु शिष्य अनियुक्त हैं' उस स्थिति में अनुयोग की प्रवृत्ति नहीं होती। अथवा आचार्य अनुयोग का स्मरण करते हुए अथवा अनुयोग नष्ट न हो जाए इसलिए बार-बार उसका गुणन (चिंतारना) करते हैं, तब अनायास अनुयोग की प्रवृत्ति हो जाती है।

२३९. सागारियमप्पाहण, सुवन्न सुयसिस्स खंतलक्खेण।
कहणा सिस्सागमणं, धूलीपुंजोवमाणं च॥

शय्यातर को संदेश कहकर स्वर्णभूमी में अपने शिष्य के शिष्य सागर के पास वृद्ध मुनि का व्याज से जाना। शिष्यों के पूछने पर शय्यातर का कहना। शिष्यों का स्वर्णभूमी में जाना। गर्वोन्मत्त सागर के लिए धूलीपुंज की उपमा।[1]

२४०. निउत्तो उभउकालं, भयवं कहणाएँ वद्धमाणो उ।
गोयममाई वि सया, सोयव्वे हुंति उ निउत्ता॥

नियुक्त आचार्य—दोनों समय अनुयोग कहते हैं। नियुक्त शिष्य दोनों समय अनुयोग सुनते हैं। अनुयोग कहने वालों का दृष्टांत है भगवान् वर्द्धमान और श्रोतव्य में दृष्टांत हैं गौतम आदि।

२४१. देस-कुल-जाइ-रूवी, संघइणी धिइजुओ अणासंसी।
अविकंथणो अमाई, थिरपरिवाडी गहियवक्को॥
२४२. जियपरिसो जियनिद्दो, मज्झत्थो देस-काल-भावन्नू।
आसन्नलद्धपइभो, नाणाविहदेसभासन्नू॥
२४३. पंचविहे आयारे, जुत्तो सुत्तऽत्थतदुभयविहन्नू।
आहरण-हेउ-उवणय-नयनिउणो गाहणाकुसलो॥
२४४. ससमय-परसमयविऊ, गंभीरो दित्तिमं सिवो सोमो।
गुणसयकलिओ जुत्तो, पवयणसारं परिकहेउं॥

अनुयोगदाता के गुण—

१. देशयुत—आर्यदेश में उत्पन्न। आर्यदेश की भाषाओं को जानने के कारण उसके पास अनेक शिष्य अध्ययन करने के लिए आते हैं।

२. कुलयुत—विशिष्ट कुल में उत्पन्न होने के कारण वह स्वीकृत मार्ग का निर्वाहक होता है।

३. जातियुत—विनय आदि गुणों से संपन्न।

४. रूपयुत—लोगों के लिए सत्करणीय।

५. संहननयुत—व्याख्या करने में नहीं थकता।

६. धृतियुत—अतिगहन विषयों में भी भ्रांत नहीं होता।

७. अनाशंसी—आकांक्षा रहित।

८. अविकत्थन—न अति न बहु भाषी।

९. अमायी—माया से रहित।

१०. स्थिरपरिपाटी—जिसमें अनुयोग की परिपाटियां स्थिर हैं।

११. गृहीतवाक्य—उपादेय वचन।

१. पूरे कथानक के लिए देखें—कथा परिशिष्ट नं. १७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१२. जितपरिषद्–महानतम परिषद् में भी अक्षुब्ध।
१३. जितनिद्र–नींद से अबाधित।
१४. मध्यस्थ–पक्षपातशून्य।
१५. देश-काल-भावज्ञ।
१६. आसन्नलब्धप्रतिभ–शीघ्रउत्तरदाता।
१७. आचारवान्–पांच प्रकार के आचार से युक्त।
१८. सूत्र–अर्थ और तदुभय की विधि का ज्ञाता।
१९. आहरण दृष्टांत, हेतु, उपनय तथा नय में निपुण।
२०. ग्राहणाकुशल–प्रतिपादनशक्ति से युक्त।
२१. ससमय-परसमयविद्–स्वसिद्धांत और परसिद्धांत का ज्ञाता।
२२. गंभीर।
२३. दीप्तिमान्–तेजस्वी।
२४. शिव–अकोपन अथवा कल्याणकर।
२५. सोम–शांतिदृष्टि वाला।
२६. सैंकड़ों गुणों से युक्त।
२७. युक्त-उपयुक्त कथन करने वाला।

जो इन सभी विशेषताओं से युक्त होता है वह प्रवचन अर्थात् द्वादशांगी के सार–अर्थ का कथन कर सकता है।

२४५. गुणसुट्ठियस्स वयणं, घयपरिसित्तु व्व पावओ भाइ।
गुणहीणस्स न सोहइ, नेहविहूणो जह पईवो॥

जो मुनि गुणों में सुस्थित है उसका वचन घृतपरिसिक्त पावक की भांति शोभित होता है। गुणहीन का वचन शोभित नहीं होता जैसे तैलविहीन प्रदीप।

२४६. जइ पवयणस्स सारो, अत्थो सो तेण कस्स कायव्वो।
एवंगुणन्निएणं, सव्वसुयस्साऽऽउ देसस्सा॥

यदि प्रवचन का सार अर्थ है तो उपरोक्त गुणान्वित अनुयोगदाता को किस सूत्र का अर्थ कहना चाहिए? क्या समस्त श्रुत का अर्थ कहना चाहिए, अथवा उसके एक अंश का श्रुतस्कंध आदि का?

२४७. को कल्लाणं निच्छइ, सव्वस्स वि एरिसेण वत्तव्वो।
कप्प-व्ववहाराण उ, पगयं सिस्साण थिज्जत्थं॥

कल्याण कौन नहीं चाहता? ऐसे गुणान्वित आचार्य को समस्त श्रुत का अर्थ कहना चाहिए। अपवादबहुल कल्प और व्यवहार सूत्र का अनुयोग ऐसे आचार्य ही कर सकते हैं और उन्होंने शिष्यों के स्थिरीकरण के लिए यह किया है।

२४८. एसुस्सग्गठियप्पा, जयणाणुन्नातो दरिसयंतो वि।
तासु न वट्टइ नूणं, निच्छयओ ता अकरणिज्जा॥

ऐसे गुणान्वित आचार्य द्वारा कल्प और व्यवहार का अनुयोग किए जाने पर शिष्य सोचते हैं–ये स्वयं उत्सर्ग में स्थितात्मा हैं। इन दोनों सूत्रों में यतनापूर्वक प्रतिसेवना अनुज्ञात है–यह प्रदर्शित करते हुए भी स्वयं उनमें प्रवर्तित नहीं होते, केवल उत्सर्ग का ही आचरण करते हैं। अतः यह निश्चयपूर्वक ज्ञात होता है कि प्रतिसेवना का समाचरण नहीं करना चाहिए।

२४९. जो उत्तमेहिं पहओ, मग्गो सो दुग्गमो न सेसाणं।
आयरियम्मि जयंते, तदणुचरा केण सीइज्जा॥

जो मार्ग उत्तम पुरुषों द्वारा क्षुण्ण है, वह शेष पुरुषों के लिए दुर्गम नहीं होता, सुगम हो जाता है। जो आचार्य सूत्रनीति से यतमान होते हैं, उनके अनुचर शिष्य क्यों खिन्न होंगे?

२५०. अणुओगम्मि य पुच्छा, अंगाई कप्प छक्कनिक्खेवो।
सुय खंधे निक्खेवो, इक्केक्को चउव्विहो होइ॥

अनुयोग में अंग आदि की पृच्छा वक्तव्य है। उसके अनन्तर कल्प के छह निक्षेप तथा श्रुत और स्कंध–प्रत्येक के चार-चार निक्षेप कहने होते हैं। (यह द्वार गाथा है। व्याख्या आगे।)

२५१. जइ कप्पादणुयोगो, किं सो अंगं उयाहु सुयखंधो।
अज्झयणं उद्देसो, पडिवक्खंगादिणो बहवो॥

यदि कल्प आदि का अनुयोग है तो पृच्छा होती है कि क्या वह अंग है? अथवा श्रुतस्कंध है? अथवा अध्ययन है? अथवा उद्देश है? इन अंगों आदि के प्रतिपक्ष बहुअंग आदि हैं। इसकी भावना यह है–क्या कल्प या व्यवहार अंग है या बहुअंग? श्रुतस्कंध है या बहुश्रुतस्कंध? अध्ययन है या बहु अध्ययन? उद्देश है या बहु उद्देश? तब आचार्य कहते हैं–इन अंगों के प्रतिपक्ष बहुत सारे अंग आदि हैं।

२५२. सुयखंधो अज्झयणा, उद्देसा चेव हुंति निक्खिप्पा।
सेसाणं पडिसेहो, पंचण्ह वि अंगमाईणं॥

आचार्य कहते हैं–श्रुतस्कंध, अध्ययन तथा उद्देश–ये तीन पक्ष निक्षेप्य होते हैं अर्थात् स्थाप्य और आदरणीय होते हैं। अंग आदि शेष पांचों का प्रतिषेध है, जैसे–कल्प और व्यवहार न अंग है और बहुअंग हैं, श्रुतस्कंध है, न बहुश्रुतस्कंध हैं, अध्ययन है, न बहुअध्ययन हैं, न उद्देश है, बहुउद्देश हैं।

२५३. तम्हा उ निक्खिविस्सं, कप्प-व्ववहारमो सुयक्खंधं।
अज्झयणं उद्देसं, निक्खिवियव्वं तु जं जत्थ॥

इसलिए मैं कल्प का निक्षेप करूंगा, व्यवहार का निक्षेप करूंगा, श्रुतस्कंध, अध्ययन और उद्देश–इन सबका निक्षेप करूंगा। जहां जो निक्षेप्तव्य है वहां नाम आदि चार प्रकार अथवा छह प्रकार का निक्षेप कहूंगा। (नामकल्प के छह प्रकार–देखें गाथा २७३)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२५४. आइल्लाणं दुण्ह वि, सद्दाणं होइ नामनिप्फन्ने।
अज्झयणस्स उ ओहे, उद्देसस्सऽणुगमे भणिओ॥

प्रथम दो--कल्प और व्यवहार के यथाक्रम षट्क और चतुष्क निक्षेप का स्वस्थान है--नामनिष्पन्न निक्षेप। अध्ययन का चार प्रकार का निक्षेप ओघनिष्पन्न निक्षेप में कथनीय है। उद्देश का निक्षेप अनुगम अर्थात् उपोद्घात निर्युक्ति के अनुगम में कहा जायेगा।

२५५. नामसुयं ठवणसुयं, दव्वसुयं चेव होइ भावसुयं।
एमेव होइ खंधे, पन्नवणा तेसि पुव्वुत्ता॥

श्रुत शब्द के चार निक्षेप हैं--नामश्रुत, स्थापनाश्रुत, द्रव्यश्रुत और भावश्रुत। इसी प्रकार स्कंध शब्द के भी चार निक्षेप होते हैं। इनकी प्रज्ञापना पूर्व अर्थात् आवश्यक में कर दी गई है।

२५६. चत्तारि दुवाराइं, उवक्कम निक्खेव अणुगम नया य।
काऊण परूवणयं, अणुगम-निज्जुत्ति सुत्तस्स॥

कल्प के चार अनुयोगद्वार हैं--उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय। इनकी प्ररूपणा जैसे अनुयोगद्वार[1] सूत्र में की गई है, वैसे ही सूत्रानुगम तथा सूत्रस्पर्शिक निर्युक्ति अनुगम पर्यन्त करनी चाहिए।

२५७. अद्दारगं अनगरं, एगद्दारे य होइ पलिमंथो।
चउदारे तेण भवे, देस पएसे य छिंडीओ॥

जिस नगर के द्वार नहीं होता, वह अनगर होता है। जिस नगर के केवल एक द्वार होता है, वह कुनगर है, क्योंकि वहां प्रवेश और निर्गमन में अनेक बाधाएं होती हैं। इसलिए नगर के चार द्वार होते हैं। वहां भी उनके देश और प्रदेश में अनेक छिंडिकाएं--छोटे द्वार आदि होगी।

(इसी प्रकार जिस ग्रंथ का अनुयोगद्वार नहीं दिया जाता है वह एकांततः अगम्य होता है, वह अद्वार वाले नगर की तरह है, एक अनुयोगद्वार कर लेने पर भी वह दुरधिगम होगा, एक द्वार वाले नगर की भांति। इसीलिए अनुयोग के चार द्वार किए गए हैं।)

२५८. सच्चित्ताई तिविहो, उवक्कमो दव्वि सो भवे दुविहो।
परिकम्मणम्मि एक्को, बिइओ संवट्टणाए उ॥

(जैसे नगर के देश, प्रदेश में छिंडिकाएं होती हैं, वैसे ही अनुयोग के अनेक अवान्तर भेद हैं। उपक्रम के दो भेद हैं--लौकिक और शास्त्रीय। लौकिक के छह भेद हैं--नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव।)

द्रव्य उपक्रम के तीन भेद हैं--सचित्त, अचित्त और मिश्र। प्रत्येक के दो-दो प्रकार हैं--परिकर्म तथा संवर्त्तन (वस्तुनाश)।

२५९. जेण विसिस्सइ रूवं, भासा व कलासु वा वि कोसल्लं।
परिकम्मणा उ एसा, संवट्टण वत्थुनासो उ॥

जिस उपाय से रूप, भाषा, कला और कौशल में विशिष्टता आपादित होती है--वह है परिकर्म और संवर्त्तन है--वस्तुनाश (जैसे बने हुए स्वर्णकिटक को तोड़ देना, पुरुष को मार डालना।)

२६०. नावाए उवक्कमणं, हल-कुलियाईहिं वा वि खित्तस्स।
सम्मज्ज-भूमिकम्मे, पंथ-तलागाइएसुं तु॥

नौका आदि से नदी पार करना, हल, कुलिक आदि से खेत का उपक्रमण करना, गृह आदि का संमार्जन करना, मंदिर आदि का भूमिकर्म करना, मार्ग का शोधन, तालाब का उत्खनन आदि से परिकर्म करना--यह सारा क्षेत्रोपक्रम है।

२६१. छायाए नालियाइ व, कालस्स उवक्कमो विउपसत्थो।
रिक्खाईचारेसु व, साव-विबोहेसु व दुमाणं॥

छाया से, नालिका--घटिका से काल का माप करना जो विद्वानों द्वारा प्रशंसित होता है--यह कालोपक्रम है। अथवा नक्षत्र, ग्रह आदि के चार--गति के परिज्ञान के आधार पर काल के शुभ-अशुभ को जानना, वृक्ष विशेष (शमी, इमली आदि) के स्वाप और विबोध (अविकास और विकास) के आधार पर सूर्य के अस्त-उदय को जानना--यह सारा कालोपक्रम है।

२६२. गणिगा मरुगीऽमच्चे, अपसत्थो भावुवक्कमो होइ।
आयरियस्स उ भावं, उवक्कमिज्जा अह पसत्थो॥

अप्रशस्त भावोपक्रम के तीन उदाहरण हैं--गणिका, ब्राह्मणी और अमात्य।[2] आचार्य के भाव के अनुसार वर्तन करना, उनकी सेवा-सुश्रूषा करना प्रशस्त भावोपक्रम है।

२६३. जो जेण पगारेणं, तूसइ कार-विणयाणुवत्तीहिं।
आराहणाइ मग्गो, से च्चिय अव्वाहओ तस्स॥

आचार्य जिस प्रकार से तुष्ट होते हैं, वैसे कार--वैयावृत्त्य आदि करना तथा विनयानुवृत्ति का अनुपालन करना। आचार्य की आराधना का यह अव्याहत मार्ग है।

२६४. आगारिंगियकुसलं, जइ सेयं वायसं वए पुज्जा।
तह वि य सिं न विकूडे, विरहम्मि य कारणं पुच्छे॥

वही शिष्य आचार्य की आराधना कर सकता है जो आचार्य के आकार और इंगित को जानने में कुशल होता है। आचार्य यदि कहे--कौआ सफेद होता है, तो भी वह शिष्य

१. अनुयोगद्वार का अर्थ है--अर्थ के उपाय।--अनुयोगस्य--अर्थस्य द्वाराणि--मुखानि उपाया इत्यर्थः। (वृ. पृ. ७८)
२. कथाओं के लिए देखें--कथा परिशिष्ट नं. १८-२०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसका प्रतिषेध न करे, उसको खंडित न करे। जब आचार्य एकांत में हों, उनके पास जनता न हो, तब शिष्य नम्रतापूर्वक कारण पूछे—भंते! आपने कौए को सफेद क्यों बतलाया?

२६५. भावे उवक्कमं वा, छव्विहमणुपुव्विमाइ वण्णेउं।
जत्थ समोयरइ इमं, अज्झयणं तत्थ ओयारे॥

भावोपक्रम (शास्त्रीय उपक्रम) के छह प्रकार हैं—आनुपूर्वीभाव उपक्रम, नामभाव उपक्रम, प्रमाणभाव उपक्रम, वक्तव्यताभाव उपक्रम, अर्थाधिकारभाव उपक्रम तथा समवतारभाव उपक्रम। इनका वर्णन कर यह अध्ययन (कल्प) किस उपक्रम में समवतरित होता है, वहां उसका समवतार करना चाहिए।

२६६. दुण्हं अणाणुपुव्वी, न हवइ पुव्वाणुपुव्विओ पढमं।
पच्छाणुपुव्वि बिइयं, जइ उ दसा तेण बारसमं॥

(आनुपूर्वी के तीन प्रकार हैं—पूर्वानुपूर्वी, पश्चादानुपूर्वी तथा अनानुपूर्वी।)

कल्प और व्यवहार ये दो अध्ययन हैं। इनकी अनानुपूर्वी नहीं होती। पहले की पूर्वानुपूर्वी और दूसरे की पश्चादानुपूर्वी होती है। कुछ आचार्य कहते हैं—कल्प, व्यवहार और दशा—एक श्रुतस्कंध है। यदि दशा को गिना जाए तो पूर्वानुपूर्वी से प्रथम और पश्चानुपूर्वी से बारहवां है।

२६७. सव्वज्झयणा नामे, ओसन्नं मीसए अवतरंति।
जीवगुण नाण आगम, उत्तरऽणंगे य काले य॥

नामभाव उपक्रम में भावों का निरूपण होता है। प्रायः सभी अध्ययन मिश्रक—क्षायोपशमिक भाव में समवतरित होते हैं। अतः 'कल्प' भी क्षायोपशमिक नाम में अवतरित होता है। यह प्रमाण के आधार पर जीवगुणप्रमाण में अवतरित होता है। जीव गुण के तीन भेद हैं—ज्ञान, दर्शन और चारित्र। यह अध्ययन ज्ञानगुण प्रमाण में आता है। यह प्रमाण भी चार प्रकार का है—प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान। यह अध्ययन आगम के अंतर्गत आता है। आगम भी दो प्रकार का है—लौकिक और लोकोत्तर। यह अध्ययन लोकोत्तरिक में समाविष्ट होता है। लोकोत्तरिक आगम के दो प्रकार हैं—अंगप्रविष्ट और अनंगप्रविष्ट। यह अंगप्रविष्ट में आता है। उसके भी दो प्रकार हैं—कालिक और उत्कालिक। यह कालिक में आता है। नयप्रमाण में इसका समवतार नहीं होता। कालिकश्रुत में नयों का समवतार नहीं होता। संख्याप्रमाण में कालिकश्रुत परिमाण संख्या में समवतरित होता है।

२६८. पज्जव पुव्वद्दिट्ठा, संघाया पज्जव-ऽक्खराणं च।
मुत्तूण पज्जवा खलु, संघायाई उ संखिज्जा॥

कल्प के व्याख्यान में अनंत पर्यव हैं। उनको पहले अर्थात् नंदी सूत्र में उद्दिष्ट कर दिया गया है।[1] संघात के दो प्रकार हैं—पर्यवों के तथा अक्षरों के। पर्यव संघात अनंत हैं। उनको छोड़कर, अक्षरों के संघात संख्येय हैं। जैसे—संख्येय अक्षर-संघात, संख्येय श्लोक, संख्येय वेष्टक आदि।

२६९. उस्सन्नं सव्वसुयं, ससमयवत्तव्वया समोयरइ।
अहिगारो कप्पणाए, समोयारो जो जहिं एसा॥

उत्सन्न—सर्वकाल सर्वश्रुत स्वसमय वक्तव्यता में समवतरित होता है। अर्थाधिकार की दृष्टि से मूलगुण और उत्तरगुण में दोष लगाने वालों के प्रायश्चित्त स्वरूप यह यथायोग्य (यथास्थान) समवतरित होता है।

२७०. परपक्खं दूसित्ता, जम्हा उ सपक्खसाहणं कुणइ।
नो खलु अदूसियम्मी, परे सपक्खंजसा सिद्धी॥

श्रुत परसमय वक्तव्यता में भी समवतरित होता है क्योंकि परपक्ष के दोष बताकर स्वपक्ष की सिद्धि की जाती है। परपक्ष को दूषित किए बिना स्वपक्ष की अञ्जसा—प्रधान-रूप से सिद्धि नहीं होती।

२७१. निक्खेवो होइ तिहा, ओहे नामे य सुत्तनिप्फन्ने।
अज्झयणं अज्झीणं, आओ झवणा य तत्थोहे॥

२७२. इक्किक्कं तं चउहा, नामाईयं विभासिउं ताहे।
भावे तत्थ उ चउसु वि, कप्पज्झयणं समोयरइ॥

निक्षेप के तीन प्रकार हैं—ओघनिष्पन्न, नामनिष्पन्न और सूत्रालापकनिष्पन्न। ओघनिष्पन्न के चार प्रकार हैं—अध्ययन, अक्षीण, आय और क्षपणा। इन चारों के नाम आदि के भेद से चार-चार प्रकार हैं। कल्पाध्ययन इन चारों के अध्ययन विषयक भाव में समवतरित होता है।

२७३. नामे छव्विह कप्पो, दव्वे वासि-परसादिएहिं तु।
खेत्ते काले जहुवक्कमम्मि भावे उ पंचविहो॥

नामनिष्पन्न निक्षेप में इसका 'कल्प' नाम है। यह छह प्रकार का है—नामकल्प, स्थापनाकल्प, द्रव्यकल्प, क्षेत्र-कल्प, कालकल्प और भावकल्प। द्रव्यकल्प है—वासी, परशु आदि। क्षेत्रकल्प है—क्षेत्रोपक्रम। कालकल्प है—कालोपक्रम। भावकल्प पांच प्रकार का है।

२७४. छव्विह सत्तविहे वा, दसविह वीसइविहे य बायाला।
जस्स उ नत्थि विभागो, सुव्वत्त जलंधकारो से॥

भावकल्प के पांच प्रकार ये हैं—छह प्रकार का, सात

१. नंदी : सव्वागासपएसग्गं सव्वागासपएसेहिं अणंतगुणियं पज्जवक्खरं निप्फज्जइ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार का, दस प्रकार का, बीस प्रकार का तथा बयालीस प्रकार का। इनकी व्याख्या पंचकल्प में है। जिसको इन पांचों का परिज्ञान नहीं है, उसके स्पष्टरूप से जड़ान्धकार है।

२७५. पत्तो वि न निक्खिप्पइ, सुत्तालावस्स इत्थ निक्खेवो।
सुत्ताणुगमे वुच्छं, इति अत्थे लाघवं होइ॥

यद्यपि यहां सूत्रालापक निक्षेप का प्रसंग प्राप्त है, फिर भी उसका निक्षेप न करके, सूत्रानुगम की बात कहूंगा। इस प्रकार करने से अर्थ लाघव होता है।

२७६. लक्खणओ खलु सिद्धी, तदभावे तं न साहए अत्थं।
सिद्धमिदं सव्वत्थ वि, लक्खणजुत्तं सुयं तेण॥

अनुगम के तीन द्वार हैं–लक्षण, तदर्हा पर्षद् और सूत्रार्थ। लक्षणयुक्त की अर्थसिद्धि होती है। लक्षणहीन सूत्र की अर्थ-सिद्धि नहीं होती। यह सर्वत्र सिद्ध है। इसलिए सूत्र लक्षण-युक्त होना है।

२७७. अप्पग्गंथ महत्थं, बत्तीसादोसविरहियं जं च।
लक्खणजुत्तं सुत्तं, अट्ठहि य गुणेहिं उववेयं॥

सूत्र के लक्षण–अल्पग्रंथ अर्थात् अल्पअक्षरों से निबद्ध, महान् अर्थवाला, बत्तीस दोषों से रहित, आठ गुणों से उपपेत–इस प्रकार का सूत्र लक्षणयुक्त होता है।

२७८. अलियमुवघायजणयं, अवत्थग निरत्थयं छलं दुहिलं।
निस्सारमहियमूणं, पुणरुत्तं वाहयमजुत्तं॥

२७९. कमभिन्न वयणभिन्नं, विभत्तिभिन्नं च लिंगभिन्नं च।
अणभिहियमपयमेव य, सभावहीणं ववहियं च॥

२८०. काल-जइ-च्छविदोसो, समयविरुद्धं च वयणमित्तं च।
अत्थावत्तीदोसो, हवइ य असमासदोसो उ॥

२८१. उवमा-रूवगदोसो, परप्पवत्ती य संधिदोसो य।
एए उ सुत्तदोसा, बत्तीसं हुंति नायव्वा॥

सूत्र के बत्तीस दोष–

१. अलीक–यथार्थ का गोपन करने वाला।
२. उपघातजनक।
३. अपार्थक–असंबद्ध अर्थवाला।
४. निरर्थक–अर्थहीन।
५. छलयुक्त वचन।
६. द्रोहणशील।
७. निस्सार।
८. अधिक–यथार्थ तत्त्व से अधिक का निरूपक।
९. न्यून–यथार्थ के किसी अवयव से रहित।
१०. पुनरुक्त दोष से युक्त।
११. व्याहत–परस्पर बाधित।
१२. अयुक्त।
१३. क्रमभिन्न।
१४. वचनभिन्न।
१५. विभक्तिभिन्न।
१६. लिंगभिन्न।
१७. अनभिहित–स्वसमय में अमान्य।
१८. अपद–पद रहित।
१९. स्वभावहीन।
२०. व्यवहित–कुछ कहकर अन्य का विस्तार करना।
२१. कालदोष–काल का व्यत्यय करना।
२२. यतिदोष–पदों के मध्य विश्राम रहित।
२३. छविदोष–परुष शब्दों में सूत्र का निर्माण।
२४. समयविरुद्ध–किसी भी सिद्धांत के विरुद्ध वचन वाला।
२५. वचनमात्र–कोई वचन कहकर उसीको प्रमाणित करना, जैसे–कहीं पृथ्वी पर कीलिका गाड़कर कहना कि यही भूमी का मध्य है।
२६. अर्थापत्तिदोष।
२७. असमासदोष–प्राप्त समास के स्थान पर समास-रहित पद कहना।
२८. उपमादोष–काञ्जी की भांति ब्राह्मण सुरापन करे।
२९. रूपकदोष–पर्वत रूपी है, अपने अंगों से शून्य होता है।
३०. परप्रवृत्तिदोष–बहुत सारा अर्थ कह देने पर भी कोई निर्देश नहीं देता।
३१. परदोष।
३२. संधिदोष–संधियों से शून्य पद।

–ये सूत्र के बत्तीस दोष ज्ञातव्य हैं।

२८२. निद्दोसं सारवंतं च, हेउजुत्तमलंकियं।
उवणीयं सोवयारं च, मियं महुरमेव य॥

सूत्र के आठ गुण–(१) निर्दोष (२) सारयुक्त (३) हेतुयुक्त (४) अलंकारयुक्त (५) उपनीत (६) सोपचार (७) मित (८) मधुर।

२८३. दोसा खलु अलियाइ, बहुपज्जायं च सारवं सुत्तं।
साहम्मेयरहेऊ, सकारणं वा वि हेउजुयं॥

२८४. उवमाइ अलंकारो, सोवणयं खलु वयंति उवणीयं।
काहलमणोवयारं, दंडगममियं तिहा महुरं॥

सूत्र के आठ गुणों की व्याख्या–

१. निर्दोष अर्थात् अलीक आदि दोषों से रहित।
२. सारवान्–जिसके अनेक पर्याय होते हैं।
३. हेतुयुक्त–साधर्म्य और वैधर्म्य हेतुओं से युक्त अथवा जो सकारण होता है वह।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. अलंकारयुक्त—उपमा आदि अलंकारों से युक्त।
५. उपनीत—उपसंहारयुक्त।
६. सोपचार काहल अर्थात् व्यर्थ। वह होता है अनुपचार। इसके विपरीत होता है सोपचार।
७. मित-श्लोक और पदों से परिमित।
८. मधुर-मधुर तीन प्रकार का होता है—सूत्रमधुर, अर्थमधुर, और उभयमधुर।

२८५. अप्पक्खरमसंदिद्धं, सारवं विस्सओमुहं।
अत्थोभमणवज्जं च, सुत्तं सव्वत्तुभासियं॥

२८६. अत्थेसु दोसु तीसु व, सामन्नभिहाणओ उ संदिद्धं।
जह सिंधवं तु आणय, अत्थबहुत्तम्मि संदेहो॥

२८७. उय-वइकारो ह त्ति य, हीकाराई य थोभगा हुंति।
वज्जं होइ गरहियं, अगरहियं होइ अणवज्जं॥

श्लोक २८३ में **'च'** शब्द व्यवहृत है। उसके आधार पर सूत्र के निम्न छह गुण और गृहीत हैं—

१. अल्पाक्षर—जिसमें अक्षर अल्प हों।
२. असंदिग्ध—संदिग्ध वह होता है जहां प्रयुज्यमान शब्द के दो-तीन अर्थ होते हों। जैसे किसी ने कहा—सैन्धव लाओ। सैन्धव के अनेक अर्थ हैं, जैसे—वस्त्र, अश्व, पुरुष, लवण आदि इस प्रकार अर्थ-बहुलता से संदेह होता है।
३. सारवत्—नवनीतभूत।
४. विश्वतोमुख—सर्वत्र मान्य अर्थवाला।
५. अस्तोभ—उत, वै, हा, हि आदि अक्षरों का अकारण प्रक्षेप होने पर वह स्तोभक कहलाता है। इनसे रहित अस्तोभ है।
६. अनवद्य—अवद्य का अर्थ होता है गर्हित। अनवद्य अर्थात् अगर्हित।

२८८. अहीणऽक्खरं अणहियमविच्चामेलियं अवाइद्धं।
अक्खलियं च अमिलियं, पडिपुन्नं चेव घोसजुयं॥

सूत्रोच्चारण विधि—अहीनाक्षर, अधिकाक्षररहित, अव्यत्याम्रेडित, अव्याविद्ध, अस्खलित, अमिलित, प्रतिपूर्ण और घोषयुक्त। (इनके अर्थ आगे की गाथाओं में)

२८९. तित्त-कडुओसहाइं, मा णं पीलिज्जऊ ण ते देइ।
पउणइ न तेहि अहिएहिं मरइ बालो तहाहारे॥

अहीनाक्षर—हीन के दो प्रकार हैं—द्रव्यहीन और भावहीन। द्रव्यहीन का यह उदाहरण है—

एक स्त्री का पुत्र ग्लान हो गया। वैद्य ने औषधी दी। स्त्री ने सोचा—ये औषधियां तिक्त और कटु हैं। ये इस बालक को पीड़ित न कर दें, इसलिए वह औषधियां बालक को नहीं देती। बालक स्वस्थ नहीं होता, मर जाता है। अधिक औषधियां देने पर भी बालक स्वस्थ नहीं होता, मर जाता है। इसी प्रकार हीन या अधिक आहार से भी मृत्यु हो जाती है।

२९०. अक्खर-पयाइएहिं, हीणऽइरेगं च तेसु चेव भवे।
दोसु वि अत्थविवत्ती, चरणे य अयो य न य मुक्खो॥

सूत्र को अक्षर अथवा पदों से हीन या अतिरेक रूप में पढ़ने पर अर्थव्यापत्ति—अर्थ का विसंवाद होता है। अर्थ के विसंवाद से चरण का विसंवाद होता है और उससे मोक्ष का अभाव होता है।

२९१. विज्जाहर रायगिहे, उप्पय पडणं हीणदोसेणं।
सुणणा सरणा गमणं, पयाणुसारिस्स दाणं च॥

राजगृह में भगवान् महावीर समवसृत हुए। एक विद्याधर वंदना कर लौट रहा था। विद्या के कुछ अक्षरों की विस्मृति हो जाने पर वह आकाश में उत्पतन-पतन करने लगा। उसका आकाश-गमन अवरुद्ध हो गया। अभयकुमार ने यह देखा। विद्याधर से पूछा। उसने सारी बात बताई। अभय ने कहा—यदि तुम मुझे विद्या सिखाओगे तो मैं तुम्हारी सहायता कर सकता हूं। विद्याधर ने यह स्वीकार कर लिया। अभय ने कहा—विद्या का एक पद सुनाओ। विद्याधर ने पद सुनाया। अभय को पदानुसारी लब्धि प्राप्त थी। उस लब्धि से उसने विस्मृत अक्षरों की स्मृति करा दी। विद्याधर अभय को विद्या देकर आकाशमार्ग से चला गया।

२९२. पाडलऽसोग कुणाले, उज्जेणी लेहलिहण सयमेव।
अहिय सवत्ती मत्ताहिएण सयमेव वायणया॥

२९३. मुरियाण अप्पडिहया, आणा सयमंजणं निवे णाणं।
गामग सुयस्स जम्मं, गंधव्वाऽऽउट्टणा कोइ॥

२९४. चंदगुत्तपपुत्तो य, बिंदुसारस्स नत्तुओ।
असोगसिरिणो पुत्तो, अंधो जायइ कागिणिं॥

पाटलिपुत्र नगर में अशोक राज्य कर रहा था। वह चन्द्रगुप्त का पौत्र और बिन्दुसार का पुत्र था। उसका पुत्र कुणाल उज्जयनी में था। एक बार अशोक ने स्वयमेव कुणाल के नाम एक लेख (संदेश) लिखा। कुणाल को पढ़ाया जाए। सौतेली मां ने 'अधीयतां' के 'अ' कार पर बिन्दु लगा दिया। अब वह शब्द 'अंधीयतां' हो गया। मात्रा की अधिकता हो जाने के कारण संदेश को पढ़ने वाले, उस शब्द को नहीं पढ़ते थे। तब कुमार ने स्वयं उसे पढ़ा। उसने सोचा—मौर्यवंश की आज्ञा अप्रतिहत होती है, यह मन में विचार कर उसने तप्तशलाका से स्वयं आंखों को आंज दिया। राजा ने यह जाना तो परितप्त होकर कुणाल को गांव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में भेज दिया। कुणाल के पुत्र हुआ। अंधकुणाल गंधर्वविद्या से समस्त लोगों को प्रभावित करता था। वह गांव-गांव में घूमने लगा। वह घूमता-घूमता पाटलिपुत्र में गया। वहां के लोगों ने राजा को निवेदन किया कि एक अंधा व्यक्ति गंधर्वविद्या में अतीव कुशल है। वह यहां आया है। राजा ने उसे राजभवन में बुला भेजा। उसने राजा के आगे यह गीत गाया–

'चंदगुत्तपपुत्तो यं, बिंदुसारस्स नत्तुओ।
असोगसिरिणो पुत्तो, अंधो जायइ काकिणिं॥'

राजा ने पूछा–तुम कौन हो? उसने कहा–मैं चन्द्रगुप्त का प्रपौत्र, बिन्दुसार का पौत्र और अशोकश्री का पुत्र हूं। मैं अंधा हूं और मैं 'काकिणी'–राज्य की याचना करता हूं।[1]

२९५. जो जहा वट्टए कालो, तं तहा सेव वानरा।
मा वंजुलपरिब्भट्ठो, वानरा पडणं सर॥

(कामिक सरोवर के तट पर एक विशाल वंजुल वृक्ष था। उस वृक्ष पर चढ़ कर कोई तिर्यंच प्राणी सरोवर में गिरता तो वह मनुष्य बन जाता और यदि मनुष्य नीचे गिरता तो वह देव बन जाता। दूसरी बार पुनः गिरने पर वह मूल की स्थिति में आ जाता। एक बार वानर दंपति प्रतिदिन की भांति वहां पानी पीने आया। उसने मनुष्य बनने और देव बनने मात्र की बात सुनी। प्रकृतिगमन की बात नहीं सुनी। वह वानर युगल वृक्ष से सरोवर में कूदा और वह मनुष्य युगल में बदल गया। दोनों का रूप अप्रतिम था। मनुष्य बने बंदर ने अपनी पत्नी से कहा–एक बार और कूदें और देवरूप को प्राप्त कर लें। स्त्री ने कहा–क्या पता ऐसा होगा या नहीं? इसलिए सरोवर में न गिरा जाए। मनुष्य ने कहा–देव नहीं बनेंगे तो क्या अपना मनुष्यरूप भी विनष्ट हो जाएगा? स्त्री द्वारा प्रतिषेध करने पर भी वह ऊपर से कूदा और वानर हो गया। उधर से राजपुरुष आए और उस सुंदर स्त्री को ले गए। राजा ने उसको रानी बना दिया। उस बंदर को मदारियों ने पकड़ लिया और उसे अनेक करतबों में शिक्षित कर दिया। एक बार मदारी उसी बंदर को लेकर राजा के समक्ष करतब दिखा रहा था। राजा-रानी–दोनों करतब देख रहे थे। वानर बार-बार राजपत्नी को देख रहा था। रानी ने तब कहा–)

'वानर! जैसा समय (कालगत अवस्था) हो, वैसा ही वर्तन करो। वंजुल वृक्ष से एक बार सरोवर में गिरने पर मैंने पुनः उसमें दूसरी बार गिरने का प्रतिषेध किया था। पर तुम नहीं माने। अब उसको भोगो।'

२९६. विच्चामेलण अन्नुन्नसत्थपल्लवविमिस्स पयसो वा।
तं चेव य हिट्ठुवरिं, वायद्धे आवली नायं॥

व्यत्यामेडित का अर्थ है–अन्यान्यशास्त्रों के अंशों से मिश्रित। उसके दो भेद हैं–द्रव्यतः व्यत्यामेडित और भावतः व्यत्यामेडित। द्रव्यतः व्यत्यामेडित में 'पायस' का उदाहरण है।[2] सूत्र के शब्दों को नीचे-ऊपर व्यत्यास करना व्याविद्ध है। इसमें 'आवली' का उदाहरण है।[3]

२९७. खलिए पत्थरसीया, मिलिए मिस्साणि धन्नवावणया।
मत्ताइ-बिंदु-वन्ने, घोसा इ उदत्तमाईया॥

स्खलित के दो भेद हैं। द्रव्यस्खलित में 'प्रस्तरसीता' अर्थात् प्रस्तरों से आकीर्ण क्षेत्र। इसमें चलने वाले हल आदि स्खलित होते हैं। भावस्खलित जैसे–सूत्रालापकों को बीच-बीच से छोड़कर बोलना, जैसे–धम्मो, अहिंसा देवावि तं...। मीलित–अनेक धान्यों को मिलाकर खेत में बोना। यह द्रव्यतः मीलित है। भावतः मीलित है–अनेक सूत्रालापकों का मिश्रण कर देना। अप्रतिपूर्ण अर्थात् मात्रा, बिन्दु, वर्ण आदि से अप्रतिपूर्ण। उदात्त आदि घोषों से रहित–अघोषयुत कहलाता है।

२९८. मुत्तूण पढम-बीए, अक्खर-पय-पाय-बिंदु-मत्ताणं।
सव्वेसि समोयारो, सट्ठाणे चेव चरिमस्स॥

प्रथम पद हीनाक्षर, द्वितीय पद अधिकाक्षर–इन दो पदों को छोड़कर शेष पांच–अक्षर, पद, पाद, बिन्दु, मात्रा–इन सबका समवतार करना चाहिए। चरिम अर्थात् घोषयुत का स्वस्थान में समवतार होता है। इसमें केवल घोष से अपरिपूर्ण ही ग्राह्य है, अक्षर आदि से नहीं।

२९९. खलिय मिलिय वाइद्धं, हीणं अच्चक्खरं वयंतस्स।
विच्चामेलिय अप्पडिपुन्ने घोसे य मासलहुं॥

स्खलित, मीलित, व्याविद्ध, हीनाक्षर, अत्यक्षर,

१. पूरे कथानक के लिए देखें–कथा परिशिष्ट नं. २३।

२. कुछेक कौलिक व्रजिका में गए। वहां उन्होंने खीर पकाने की बात सोची। वहां वे दूध ले आए और उस गर्म कर दिया। फिर उन्होंने सोचा–उसमें जो कुछ भी डाला जाता है, वह खीर बन जाती है। उस गर्म दूध में उन्होंने चावल, मूंग, तिल आदि डाले। वे सारे नष्ट हो गए। अकिंचित्कर हो गए।

३. द्रव्यतः व्याविद्ध में आवली का उदाहरण–
एक आभीरी नगर में गई। एक बनियानी उसकी सहेली थी। वह हार पिरो रही थी। आभीरी उसके पास जाकर बोली–मुझे दो। मैं हार पिरो दूंगी। बनियानी ने उसे दे दिया। आभीरी उसको विपरीत रूप से नीचे-ऊपर पिरो दिया। बनियानी ने आकर देखा और कहा–अरे मूर्खे! यह क्या किया? हार को नष्ट कर डाला। महान् अकार्य कर दिया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यत्यामेडित, अपरिपूर्ण तथा घोष रहित—ऐसा सूत्रोच्चारण करने पर उसका प्रायश्चित्त है—मासलघु।[1]

३००. जं तु निरंतरदाणं, जस्स व तस्स व तवस्स तं गुरुगं।
जं पुण संतरदाणं, गुरू वि सो खलु भवे लहुओ॥

प्रायश्चित्त के तीन प्रकार—दानप्रायश्चित्त, तपःप्रायश्चित्त तथा कालप्रायश्चित्त। ये तीनों गुरु-लघु—दोनों प्रकार के होते हैं। जिस किसी तपस्या का गुरुक तेला आदि तथा अगुरुक—निर्विकृतादि का निरंतर प्रायश्चित्त आता है, वह है (गुरु) दान प्रायश्चित्त। जो तेले आदि का प्रायश्चित्त सान्तर दिया जाता है वह गुरुक होते हुए भी लघु है।[2]

३०१. काल-तवे आसज्ज व, गुरू वि होइ लहुओ लहू गुरुगो।
कालो गिम्हो उ गुरु, अट्ठाइ तवो लहू सेसो॥

काल और तप के आधार पर गुरु भी लघु हो जाता है और लघु भी गुरु हो जाता है। काल की अपेक्षा ग्रीष्मकाल गुरु है और तप अष्टम आदि। शेष काल और तप लघु है।

३०२. संहिया य पयं चेव, पयत्थो पयविग्गहो।
चालणा य पसिद्धी य, छव्विहं विद्धि लक्खणं॥

संहिता, पद, पदार्थ, पदविग्रह, चालना और प्रसिद्धि (प्रत्यवस्थान)—व्याख्या के ये छह लक्षण हैं। इनको जानो।

३०३. सन्निकरिसो परो होइ संहिया संहिया व जं अत्था।
लोगुत्तर लोगम्मि य, हवइ जहा धूमकेउ त्ति॥

सूत्र में दो अथवा अनेक पदों का अर्थप्रदायी सन्निकर्ष होता है, वह है—संहिता। अथवा जिसमें अर्थ संहित होते हैं वह है संहिता। संहिता के दो प्रकार हैं—लौकिक और लोकोत्तर। लौकिक है—यथा धूमकेतुः—इसमें यथा, धूम और केतु—ये तीन पद हैं।

३०४. तिपयं जह ओवम्मे, धूम अभिभवे केउ उस्सए अत्थो।
को सु त्ति अग्गि उत्ते, किंलक्खणो दहण-पयणाई॥

'यथा धूमकेतुः'—यह तीन पदों वाला संहितासूत्र है। पदार्थ—'यथा' शब्द उपमा के अर्थ में, 'धूम' शब्द परिभव के अर्थ में, 'केतु' शब्द उच्छ्रय के अर्थ में प्रयुक्त है। ऐसा क्या है? वह है अग्नि। उसका लक्षण क्या है? दहन, पचन, प्रकाशन आदि में समर्थ।

३०५. जइ एव सुत्त-सोवीरगाई वि होंति अग्गिमक्खेवो।
न वि ते अग्गि पइन्ना, कसिणग्गिगुणन्निओ हेऊ॥
३०६. दिट्ठंतो घडगारो, न वि जे उक्खेवणाइ तक्कारी।
जम्हा जहुत्तहेऊसमन्निओ निगमणं अग्गी॥

दहन, पचन, प्रकाशन आदि में अग्नि समर्थ है तो शुक्ल (शिव) सौवीरक आदि भी दहन करते हैं, करीष आदि भी पचन में समर्थ हैं, खद्योत, मणि आदि प्रकाशन करने में समर्थ हैं, फिर भी वे अग्नि नहीं है।—वह आक्षेप 'चालना' है।

प्रतिज्ञा वाक्य है—शुक्ल आदि पदार्थ अग्नि नहीं है। समस्त गुणों से अन्वित है—यह हेतु है। दृष्टांत है घटकार। घट का संपूर्ण निर्वर्तक घटकार होता है परंतु वह घट के उत्क्षेपण आदि का कर्त्ता नहीं होता। इसी प्रकार प्रस्तुत प्रसंग में भी जो दहन करता है, पकाता है, प्रकाशन करता है, वह अपने स्वगतलक्षण से ऐसा करता है। वही यथोक्तगुण-समन्वित परिपूर्ण अग्नि है, शुक्ल आदि नहीं। यह निगमन है।

३०७. उत्तरिए जह दुमाई, तदत्थहेऊ अविग्गहो चेव।
को पुण दुमु त्ति वुत्तो, भण्णइ पत्ताइउववेओ॥
३०८. तदभावे न दुमु त्ति य, तदभावे वि स दुमु त्ति य पइन्ना।
तग्गुणलद्धी हेऊ, दिट्ठंतो होइ रहकारो॥

लोकोत्तर में—**'जहा दुमस्स पुप्फेसु, भमरो आवियइ रसं'**—यह संहिता है। पद—यथा द्रुम, पुष्प, भ्रमर, आपिबति रस। पदार्थ—यथा उपमा के अर्थ में। द्रुम—द्रुंगतौ धातु से जो ऊपर जाता है वह है द्रुम—वृक्ष। पुष्प—जो विकसित होते हैं वे फूल। भ्रमर—भ्रम—अनवस्थान धातु से भ्रमर अर्थात् निरंतर घूमने वाला। **पां पाने आङ् मर्यादायां** धातु से आपिबति—पीना। रस-रसते आस्वाद्यते इति रसः—रस का आस्वाद लेना। यहां व्यस्तपद होने के कारण पद-विग्रह नहीं है। चालना—प्रश्नकर्त्ता पूछता है—द्रुम का लक्षण क्या कहा है? आचार्य कहते हैं—जो पत्र, पुष्प आदि से युक्त होता है, वह है द्रुम। प्रश्नकर्त्ता कहता है—क्या इनके अभाव में उसका द्रुमत्व नष्ट हो जाता है? वह द्रुम नहीं रहता? प्रत्यवस्थान—उनके अभाव में भी वह द्रुम है—यह प्रतिज्ञा वचन है। तद्गुणलब्धि होने के कारण यह हेतु है। दृष्टांत है—रथकार। रथकार रथ बनाने का प्रयत्न न करते हुए भी उसमें रथकर्तृत्व की लब्धि है। इसी प्रकार पत्र-पुष्पों के शटित हो जाने पर भी वह द्रुम है, क्योंकि उसमें उस गुणलब्धि की निवृत्ति नहीं हुई है।

३०९. सुत्तं पयं पयत्थो, पयनिक्खेवो य निन्नयपसिद्धी।
पंच विगप्पा एए, दो सुत्ते तिन्नि अत्थम्मि॥

सूत्रोच्चारण, पद, पदार्थ, पदविक्षेप (पदार्थनोदना), निर्णयप्रसिद्धि। व्याख्या के ये पांच विकल्प हैं। इन प्रथम दो

१. वृत्तिकार का कथन है कि लघु के ग्रहण से गुरु का भी ग्रहण होता है। गुरुक के तीन पर्यायवाची शब्द हैं—गुरुक, अनुद्घाती तथा कालक। लघुक के तीन पर्यायवाची हैं—लघुक, उद्घातित तथा शुक्ल।

२. जैसे प्रायश्चित्त है—चार लघुक अथवा षट्लघुक—वहां तेला अथवा चोला सान्तर दिया जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विकल्प–सूत्र और पद सूत्र में प्रविष्ट हैं और शेष तीन विकल्प अर्थ संबंधी हैं।

३१०. सुत्तं तु सुत्तमेव उ, अहवा सुत्तं तु तं भवे लेसो।
अत्थस्स सूयणा वा, सुवुत्तमिइ वा भवे सुत्तं॥

जो सुप्त की भांति होता है, अर्थ से अबोधित होता है वह है सुत्त (सुप्त अथवा सूत्र)। अथवा सूत्र होता है श्लेष–तंतुरूप। अथवा अर्थ की सूचना देने वाला होता है सूत्र। अथवा शोभनीय कथन का अर्थ है सूक्त प्राकृत में 'सुत्त'।

३११. नेरुत्तियाइं तस्स उ, सूयइ सिव्वइ तहेव सुवइ त्ति।
अणुसरति त्ति य भेया, तस्स उ नामा इमा हुंति॥

सूत्र शब्द के निरुक्त–सूत्रयतीति सूत्रम्–जो सूचित करता है, वह है सूत्र। सिव्यतीति सूत्रम्–जो सीता है वह है सूत्र। सुवतीति सूत्रम्–जो प्रसूत करता है वह है सूत्र। अनुसरतीति सूत्रम्–जो अनुसरण करता है, वह है सूत्र। ये निरुक्त के भेद हैं। सूत्र शब्द के सुप्त आदि ये नाम होते हैं।

३१२. पासुत्तसमं सुत्तं, अत्थेणाबोहियं न तं जाणे।
लेससरिसेण तेणं, अत्था संघाइया बहवे॥

प्रसुप्त के समान होता है सूत्र। अर्थ के अबोधित होने पर कुछ भी नहीं जान पाता। अथवा श्लेषसदृश होता है सूत्र। अनेक अर्थ उसमें संघातित होते हैं।

३१३. सूइज्जइ सुत्तेणं, सूई नट्ठा वि तह सुएणऽत्थो।
सिव्वइ अत्थपयाणि व, जह सुत्तं कंचुगाईणि॥

सूई गुम हो गई। यदि उसमें सूत पिरोया हुआ हो वह सूत के द्वारा सूचित हो जाती है, मिल जाती है। इसी प्रकार श्रुत के द्वारा अर्थ सूचित होता है सूचनात् सूत्र इति। श्रुत अर्थपदों को सीता है, परस्पर जोड़ता है। जैसे सूत कंचुक आदि कपड़े को सीता है।

३१४. सूरमणी जलकंतो, व अत्थमेवं तु पसवई सुत्तं।
वणियसुयंध कयवरे, तदणुसरंतो रयं एवं॥

जैसे सूर्यकान्तमणि अग्नि में और जलकान्तमणि जल में प्रक्षिप्त होते पर–दोनों दीप्ति पैदा करते हैं, वैसे ही सूत्र अर्थ का प्रसव करता है। अनुसरण दो प्रकार का होता है–द्रव्यतः और भावतः। द्रव्यतः अनुसरण में 'वणिक् के अंधे पुत्र और कचवर' का दृष्टांत है। वह अंधा पुत्र रज्जु का अनुसरण कर कचरे को बाहर फेंक देता है।[1] इसी प्रकार वणिक्स्थानीय हैं आचार्य और अंधस्थानीय हैं साधु। रज्जुस्थानीय है सूत्र और कचवरस्थानीय है–आठ प्रकार के कर्म।

३१५. सन्ना य कारगे पकरणे य सुत्तं तु तं भवे तिविहं।
उस्सग्गे अववाए, अप्पे सेए य बलवंते॥

सूत्र के तीन प्रकार हैं–संज्ञासूत्र, कारकसूत्र और प्रकरणसूत्र। अथवा सूत्र के दो प्रकार हैं–औत्सर्गिक और आपवादिक। क्या उत्सर्गसूत्र अल्प हैं या अपवादसूत्र अल्प हैं? ये दोनों अपने-अपने स्थान में श्रेयस्कर और बलवान् होते हैं। (यह द्वार गाथा है। विवरण आगे के श्लोकों में।)

३१६. उवयार अनिट्ठुरया, कज्जित्थीदाणमाहु नित्थक्का।
जे छेएँ आमगंधादि, आरं सन्ना सुयं तेणं॥

संज्ञासूत्र–**'यत् सामयिक्या संज्ञया सूत्रं भण्यते तत् संज्ञासूत्रम्'**–जो सूत्र सामयिकी संज्ञाओं से ग्रथित है वह है संज्ञा-सूत्र। जैसे–**'जे छेए से सागारियं न सेवए'**–

'सव्वामगंधं परिन्नाय निरामगंधो परिव्वए'–

'आर दुगुणेणं पारं एगगुणेणं'–आर अर्थात् संसार का दुगुणेणं–राग और द्वेष से परिहार करे और पार अर्थात् मोक्ष को एगगुण–राग-द्वेषपरिहाररूप एक गुण से साधे। इत्यादि।

संज्ञावचन ही कहीं जुगुप्सित अर्थ में प्रयुज्यमान होने पर वह उपचार वचन होता है। उपचार वचन से कहे जाने वाले जुगुप्सित अर्थ में निष्ठुरता नहीं होती। किसी कारण के उपस्थित होने पर साध्वियों को साधु सूत्रवाचना दे सकते हैं–यह पूर्ववर्ती आचार्यों का कथन है। 'बिना प्रयोजन वाचना देने से वे निर्लज्ज हो जाती हैं।' प्रस्तुत सूत्र में 'कारणवश' की मीमांसा नहीं है। वह अन्यत्र है। इसलिए यह संज्ञासूत्र है।

३१७. सव्वनुपमाणाओ, जइ वि य उस्सग्गओ सुयपसिद्धी।
वित्थरओऽपायाण य, दरिसणमिइ कारगं तम्हा॥

कारकसूत्र–यद्यपि सर्वज्ञ के प्रमाण से 'उत्सर्गतः'–एकांततः समूचे श्रुत की प्रसिद्धि है। फिर भी विस्तार से उसमें अपाय के दर्शन होते हैं, इसलिए अधिकृत अर्थ की सिद्धि करने वाला सूत्र 'कारक सूत्र' कहलाता है। जिस सूत्र में 'से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ'–हो वह कारक सूत्र है।[2]

३१८. पगरणओ पुण सुत्तं, जत्थ उ अक्खेव-निन्नयपसिद्धी।
नमि-गोयमकेसिज्जा, अद्दग-नालंदइज्जा य॥

प्रकरणसूत्र वे हैं जिनमें स्वसमय (अपने सिद्धांत) के अनुसार आक्षेप और निर्णयप्रसिद्धि वर्णित हो।[3]

१. एक वणिक् था। उसका एकाकी पुत्र अंधा था। वणिक् ने सोचा–इसे कुछ काम में लगाना है। निठल्लापन इसके जीवन का अभिशाप होगा और यह सदा-सर्वत्र पराभव का भागी होगा। सेठ ने दो खंभे गड़वाकर वहां रज्जु बांध दी। अब वह अंधा पुत्र कमरों की सफाई करता और रज्जु का अनुसरण कर कचरे को बाहर डाल देता।

२. अहाकम्मन्नं भुंजमाणे समणे निग्गंथे कइ कम्मपगडीओ बंधंति? गोयमा! आउवज्जाओ सत्त कम्मपगडीओ। से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ? (भग. १, उ. ६)

३. आक्षेप का अर्थ है–सूत्रदोष अथवा पृच्छा। निर्णयप्रसिद्धि–प्रत्यवस्थानं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैसे--नमिप्रव्रज्या[1], गौतमकेशीय[2], आर्द्रकीय[3], नालन्दीय[4] आदि अध्ययन[5]।

३१९. उज्जयसग्गुसग्गो, अववाओ तस्स चेव पडिवक्खो।
उस्सग्गा विनिवतियं, धरेइ सालंबमववाओ॥

उत्सर्ग का निरुक्त है—**उद्यतः सर्गः—विहारः उत्सर्गः** अर्थात् पूर्ण प्रयत्नपूर्वक निर्वाह योग्य मूल नियम। उसी का प्रतिपक्ष है—अपवाद। जो उत्सर्गमार्ग से प्रच्युत हो जाता है वह ज्ञान आदि का आलंबन लेकर अपवाद के मार्ग को धारण करता है।

३२०. धावंतो उव्वाओ, मग्गन्नू किं न गच्छइ कमेणं।
किं वा मउई किरिया, न कीरये असहुओ तिक्खं॥

शिष्य पूछता है—उत्सर्ग से अपवाद में आने वाला मग्नव्रत नहीं होता? आचार्य दृष्टांत देते हैं—कोई व्यक्ति अपने गंतव्य तक पहुंचने के लिए दौड़ता है। वह श्रान्त हो जाता है। तो क्या वह मार्गज्ञ व्यक्ति क्रमशः धीरे-धीरे नहीं चलता? क्या तीक्ष्ण क्रिया को न सह सकने वाले रोगी की मृदु क्रिया से चिकित्सा नहीं की जाती? इसी प्रकार उत्सर्गमार्ग से परिभ्रष्ट व्यक्ति अपवादमार्ग से चलता है।

३२१. उन्नयमविक्ख निन्नस्स पसिद्धी उन्नयस्स निन्नाओ।
इय अन्नुन्नपसिद्धा, उस्सग्गऽववायमो तुल्ला॥

जैसे उन्नत की अपेक्षा से निम्न की प्रसिद्धि है और निम्न की अपेक्षा से उन्नत की प्रसिद्धि है, वैसे ही अन्योन्यप्रसिद्ध अर्थात् उत्सर्ग से अपवाद और अपवाद से उत्सर्ग प्रसिद्ध है, इस प्रकार उत्सर्ग और अपवाद—दोनों तुल्य हैं।

३२२. जावइया उस्सग्गा, तावइया चेव हुंति अववाया।
जावइया अववाया, उस्सग्गा तत्तिया चेव॥

शिष्य ने पूछा—भंते! उत्सर्ग अल्प हैं अथवा अपवाद? आचार्य ने कहा—दोनों तुल्य हैं।

जितने उत्सर्ग हैं, उतने हैं अपवाद। जितने अपवाद हैं, उतने ही हैं उत्सर्ग।

३२३. सट्ठाणे सट्ठाणे, सेया बलिणो य हुंति खलु एए।
सट्ठाण-परट्ठाणा, य हुंति वत्थूतो निप्फन्ना॥

ये दोनों अपने-अपने स्थान में श्रेयस्कर और बलवान् होते हैं। परस्थान में वे अश्रेयस्कर और दुर्बल होते हैं। स्वस्थान और परस्थान वस्तु (पुरुष आदि) से निष्पन्न होते हैं।

३२४. संथरओ सट्ठाणं, उस्सग्गो असहुणो परट्ठाणं।
इय सट्ठाण परं वा, न होइ वत्थू विणा किंचि॥

जो मर्यादा के अनुसार जीवन यापन कर सकता है उस पुरुष के लिए उत्सर्ग स्वस्थान है और अपवाद परस्थान। जो मर्यादा के अनुसार जीवन यापन में असमर्थ है, उसके लिए अपवाद स्वस्थान है और उत्सर्ग परस्थान। इस प्रकार वस्तु—पुरुष के बिना न किंचित् स्वस्थान अथवा परस्थान निष्पन्न होता है।

३२५. नाम निवाउवसग्गं, अक्खाइय मिस्सयं च नायव्वं।
पंचविहं होइ पयं, लक्खणकारेहिं निद्दिट्ठं॥

पदलक्षणकारों ने पांच प्रकार के पदों का निर्देश किया है।

१. नाम—जैसे—अश्व।
२. निपात—जैसे—खलु।
३. उपसर्ग—जैसे—परि।
४. आख्यातिक—जैसे—करोति—करता है।
५. मिश्र—जैसे—संयत।

३२६. होइ पयत्थो चउहा, सामासिय तद्धिओ य धाउकओ।
नेरुत्तिओ चउत्थो, तिण्ह पयाणं पुरिल्लाणं॥

पूर्ववर्ती तीन पदों—नाम, निपात और उपसर्ग—का चार प्रकार का पदार्थ होता है—सामासिक, तद्धित, धातुकृत और नैरुक्त।

३२६/१. दंदे य बहुव्वीही, कम्मधारय दिगूयए चेव।
तप्पुरिस अव्वईभावे, एगसेसे य सत्तमे॥

सामासिक पदार्थ के सात प्रकार हैं—(१) द्वन्द्व, (२) बहुव्रीही, (३) कर्मधारय, (४) द्विगु, (५) तत्पुरुष, (६) अव्ययीभाव, (७) एक शेष। (जैसे—पुरुषश्च, पुरुषश्च, पुरुषश्च पुरुषाः।)

३२६/२. कम्मे सिप्पे सिलोगे य, संजोग-समीवओ य संजूहे।
ईसरियाऽवच्चेण य, तद्धियअत्थो उ अट्ठविहो॥

तद्धित पदार्थ के आठ प्रकार हैं—

(१) कर्म से—जैसे—तृणहारक
(२) शिल्प से—जैसे—जुलाहा

---

१. उत्तराध्ययन, नौवां अध्ययन।
२. वही, तेईसवां अध्ययन।
३. सूत्रकृतांग, द्वितीय श्रुतस्कंध, छठा अध्ययन।
४. वही, सातवां अध्ययन।
५. वृत्तिकार ने अन्यान्य सूत्रों का सोदाहरण उल्लेख किया है—
- उत्सर्गसूत्र—नो कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा आमे तालपलंबे अभिन्ने पडिगाहित्तए। कल्प. उ. १।२
- अपवादसूत्र—कप्पइ निग्गंथाणं पक्के तालपलंबे भिन्नेऽअभिन्ने वा पडिगाहित्तए। कल्प. उ. १।३
- औत्सर्गिक—आपवादिक—नो कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा अन्नमन्नस्स मोयं आदित्तए वा आयमित्तए वा अन्नत्थागाढेहिं रोगायंकेहिं। कल्प. उ. ५।४७-४८
- आपवादिक—औत्सर्गिक—चम्मं मंसं च दलाहि मा अट्ठियाणि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(३) श्लोक-श्लाघा से—जैसे श्रमण, संयत।
(४) संयोग से—जैसे राजा का श्वसुर।
(५) समीपता से—जैसे पहाड़ के समीप नगर।
(६) संव्यूह से—जैसे तरंगवतीकार।
(७) ऐश्वर्य से—जैसे राजा।
(८) अपत्य से—जैसे तीर्थंकरमाता, राजमाता।
धातुकृत पदार्थ—जैसे भू सत्तायां—परस्मैपद।
नैरुक्त पदार्थ—जैसे मह्यां शेते—महिषः।

३२७. कारगकओ चउत्थे, मिस्सपदे मिस्सओ चउत्थो उ।
सामासिओ सत्तविहो, हवइ पयत्थो उ नायव्वो॥

चतुर्थ अर्थात् आख्यातिक पद का पदार्थ 'कारककृत'। मिश्रपद में मिश्रपदार्थ। इनमें जो सामासिक पदार्थ है, वह सात प्रकार का ज्ञातव्य है।

३२८. अक्खेवो सुत्तदोसा, पुच्छा वा तत्तो निन्नयपसिद्धी।
आयपया दो सुत्ते, उवरिल्ला तिन्नि अत्थम्मि॥

आक्षेप का अर्थ है—सूत्रदोष अथवा पृच्छा। निर्णयप्रसिद्धि का अर्थ है—प्रत्यवस्थान (व्याख्या का एक लक्षण)। सूत्र, पद आदि पांचों में प्रथम दो अर्थात् संहिता, और पद—ये सूत्र के अंतर्गत तथा शेष पदार्थ आदि तीन पद अर्थ के अंतर्गत हैं।

३२९. अत्थवसा हवइ पयं, अत्थो इच्छियवसेण विन्नेओ।
इच्छा य पकरणवसा, पगरणओ निच्छओ सत्थे॥

अर्थ का वशवर्ती होता है पद। अर्थ इच्छा के वश में जानना चाहिए। इच्छा प्रकरण के वश में होती है। प्रकरण का निश्चय शास्त्र के अनुसार होता है।

३३०. उंडिय भूमी पेढिय, पुरिसग्गहणं तु पढमओ काउं।
एवं परिक्खियम्मी, दायव्वं वा न वा पुरिसे॥

उंडिका, भूमीशोधन तदनन्तर पीठिका। इसी प्रकार सर्वप्रथम पुरुष का ग्रहण और परीक्षा। परीक्षा कर लेने पर उस पुरुष को (सूत्रवाचन) देना या नहीं—यह निर्णय करे। (इसी गाथा का विवरण आगे की तीन गाथाओं में।)

३३१. अभिनवनगरनिवेसे, समभूमिविरेयणऽक्खरविहन्नू।
पाडेइ उंडियाओ, जा जस्स सठाणसोहणया॥
३३२. खणणं कोट्टण ठवणं, पेढं पासाय रयण सुहवासो।
इय संजम नगरुंडिय, लिंगं मिच्छत्तसोहणयं॥
३३३. वय इट्ठगठवणनिभा, पेढं पुण होइ जाव सूयगडं।
पासाओ जहिं पगयं, रयणनिभा हुंति अत्थपया॥

नए नगर का निर्माण करते समय सबसे पहले भूमी का परीक्षण किया जाता है। तदनन्तर समभूमी का विरेचन—विभाजन कर, अक्षरविधिज्ञ पुरुष जो भूमी जिसके योग्य होती है, उन-उनको देने के लिए उंडिका अर्थात् अक्षरसहित मुद्रिका स्थापित कर दी जाती है। फिर जो जिसकी भूमी है, वह अपने स्थान का शोधन करता है। फिर भूमी का खनन कर, ईंट के टुकड़े डालकर कुट्टन होता है। पीठिका का निर्माण कर उस पर प्रासाद खड़ा किया जाता है। प्रासाद को रत्नों से परिपूरित कर अर्थात् उसकी पूरी सजावट कर, फिर उसमें सुखपूर्वक निवास किया जाता है।

यह दृष्टांत है। इसका अर्थोपनय इस प्रकार है—भूमीग्रहण स्थानीय है पुरुषग्रहण अर्थात् पुरुष की परीक्षा कर शुद्ध पुरुष को प्रव्रज्यादान देना।

उक्त प्रकार से नगरस्थानीय है संयम। उंडिकास्थानीय है रजोहरण आदि मुनिलिंग। फिर मिथ्यात्व, अज्ञान आदि कचवर-स्थानीय का शोधन। मिथ्यात्व का उत्खनन, सम्यक्त्वरूपी द्रुघण से कुट्टन, फिर ईंटस्थापनसदृश व्रतों का स्वीकरण, तदनन्तर आवश्यक आदि से सूत्रकृत पर्यन्त पीठिका होती है। पीठिका का निर्माण हो जाने पर, प्रासाद-स्थानीय कल्प और व्यवहार दिए जाते हैं। उनके जो अर्थपद हैं वे रत्नतुल्य हैं।

३३४. सेलघण कुडग चालिणि, परिपूणग हंस महिस मेसे य।
मसग जलूग बिराली, जाहग गो भेरि आभीरी॥

शैलघन[1], कुटक, चालिनी, परिपूणक, हंस, महिष, मेष, मशक, जलौका, बिडाली, जाहक, गौ, भेरी तथा आभीरी—ये चौदह दृष्टांत कल्प-व्यवहार को ग्रहण-योग्य परिषद् की परीक्षा के लिए हैं। इनका विवरण आगे ३६१ तक की गाथाओं में।

३३५. उल्लेऊण न सक्का, गज्जइ इय मुग्गसेलओ रन्ने।
तं संवट्टगमेहो, सोउं तस्सोवरिं पडइ॥
३३६. रविउ त्ति ठिओ मेहो, उल्लो य न व त्ति गज्जइ य सेलो।
सेलसमं गाहिस्सं, निव्विज्जइ गाहगो एवं॥

एक बार अरण्य में मुद्गशैल पर्वत[2] ने यह गर्जना की कि मुझे कोई आर्द्र नहीं कर सकता। संवर्तकमेघ ने वह सुना और वह सात दिन-रात मुसलाधार वर्षा करता रहा। तदनन्तर 'मैंने इसे आर्द्र कर दिया है, यह सोचकर संवर्तकमेघ ने वर्षा रोक दी।' मुद्गशैल बोला—क्या आर्द्र कर दिया या नहीं? कुछ भी गीला नहीं हुआ।

इसी प्रकार जो व्यक्ति शैलसम शिष्य को 'मैं कुछ सिखाऊंगा'—यह सोचकर प्रयत्न करता है तो वह शिक्षक असफल ही होता है, उदासीन ही होता है।

१. परिपूणको नाम येन घृतपूर्णयोग्यं पानं गाल्यते, तत्र सारो गलति कल्मषं तिष्ठति। (बृ. पृ. १०४)
२. कथा परिशिष्ट नं. २७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३३७. आयरिए सुत्तम्मि य, परिवाओ सुत्त-अत्थपलिमंथो।
अण्णेसिं पि य हाणी, पुट्ठा वि न दुद्धदा वंझा॥

जो आचार्य शैलसम शिष्य को सूत्र सिखाना चाहते है, उनका अपवाद होता और जो सूत्र सिखाया जाता है, उसकी भी निन्दा होती है। अयोग्य को सिखाने के प्रयत्न में स्वयं आचार्य के भी सूत्र और अर्थ का व्याघात होता है। सुनने वालों के भी सूत्र और अर्थ की हानि होती है। ऐसे शिष्यों को पढ़ाना व्यर्थ है। वंध्या गाय को सहलाने पर भी वह दूध नहीं देती।

३३८. वुट्ठे वि दोणमेहे, न कण्हभोमाउ लोट्टए उदयं।
गहण-धरणासमत्थे, इय देयमछित्तिकारिम्मि॥

काली मिट्टी वाले प्रदेश में द्रोणमेघ–मुसलाधार वर्षा होने पर भी वह पानी अन्यत्र नहीं जाता। मिट्टी उसको शोष लेती है। इसी प्रकार ग्रहण और धारण समर्थ शिष्य सूत्र का अव्यवच्छित्तिकारक होता है। उसको सूत्र देना चाहिए।

३३९. भाविय इयरे य कुडा, पसत्थ-अपसत्थभाविया दुविहा।
पुप्फाईहिं पसत्था, सुर-तिल्लाईहिं अपसत्था॥
३४०. वम्मा य अवम्मा वि य, पसत्थवम्मा य हुंति अग्गिज्झा।
अपसत्थअवम्मा वि य, तप्पडिवक्खा भवे गिज्झा॥

कुट–घट दो प्रकार के होते हैं–भावित और अभावित। जो भावित हैं, उनके दो प्रकार हैं–प्रशस्तभावित और अप्रशस्त-भावित। जो पुष्प, कपूर आदि से भावित होते हैं, वे प्रशस्तभावित हैं। जो मदिरा, तैल आदि से भावित होते हैं, वे अप्रशस्तभावित हैं। प्रशस्तभावित के दो प्रकार हैं–वाम्य और अवाम्य।[1] जो प्रशस्तभावित वाम्य हैं वे तथा जो अप्रशस्तभावित अवाम्य हैं–ये दोनों प्रकार के कुट अग्राह्य हैं। जो उनके प्रतिपक्ष हैं अर्थात् प्रशस्तभावित अवाम्य तथा अप्रशस्तभावित वाम्य हैं–ये दोनों प्रकार के कुट ग्राह्य हैं। ये द्रव्यकुट हैं।

३४१. कुप्पवण-ओसन्नेहिं भाविया एवमेव भावकुडा।
संविग्गेहिं पसत्था, वम्माऽवम्मा य तह चेव॥

भावकुट दो प्रकार के होते हैं–भावित और अभावित। भावित के दो प्रकार हैं–प्रशस्तभावित और अप्रशस्तभावित। जो शिष्य कुप्रवचनों से भावित होते हैं वे अप्रशस्तभावित हैं। जो शिष्य संविग्नों से भावित होते हैं वे प्रशस्तभावित हैं। प्रत्येक के दो-दो प्रकार हैं–वाम्य और अवाम्य। जो प्रशस्त-भावित वाम्य हैं तथा जो अप्रशस्तभावित अवाम्य हैं–ये अग्राह्य हैं जो प्रशस्तभावित अवाम्य हैं तथा जो अप्रशस्त-भावित वाम्य हैं–ये ग्राह्य हैं।[2]

३४२. जे पुण अभाविया ते, चउव्विहा अहविमो गमो अन्नो।
छिड्डकुड खंड बोडे, सगले य परूवणा तेसिं॥

जो कुट तैल आदि से अभावित हैं वे निर्विवादरूप से ग्राह्य हैं। अथवा यह अन्य गम–विकल्प है। द्रव्यकुट के चार प्रकार हैं–छिद्रकुट, खंडकुट, बोडकुट और सकलकुट। इनकी प्ररूपणा इस प्रकार है।[3]

३४३. सेले य छिद्द चालिणि, मिहो कहा सोउ उड्डियाणं तु।
छिद्दाऽऽह तत्थ विट्ठो, सरिंसु सुमरामि नेयाणिं॥
३४४. एगेण विसइ बीएण नीइ कन्नेण चालिणी आह।
धन्न त्थ आह सेलो, जं पविसइ नीइ वा तुज्झं॥

मुद्गशैलसमान, छिद्रकुटसमान तथा चालनीसमान शिष्य व्याख्यान सुनकर उठे और परस्पर चर्चा करने लगे–आर्यो! बोलो, किसने क्या सुना? छिद्रकुटसमान शिष्य बोला–'मैं जब तक मंडली में बैठा था, तब तक जो सुना वह स्मृति में था, परंतु अब कुछ भी स्मृति में नहीं है।' चालनीसमान शिष्य ने कहा–'आचार्य का कथन मेरे एक कान से प्रविष्ट होता है और दूसरे कान से बाहर निकल जाता है।' शैलसमान शिष्य ने कहा–'तुम धन्य हो, एक कान से वचन प्रविष्ट होते हैं और दूसरे से निकल जाते हैं, मैं कितना मंदभाग्य हूं कि मूलतः मेरे कान में कुछ भी प्रविष्ट ही नहीं होता।'

३४५. तावसखउरकढिणयं, चालणिपडिवक्खु न सवइ दवं पि।
परिपूणगं पिव गुणा, गलंति दोसा य चिट्ठंति॥

---

१. वाम्य–जिस भाव से भावित हैं, उसको छोड़ने में समर्थ। अवाम्य–जिस भाव सें भावित हैं, उसको छोड़ने में असमर्थ।

२. अवाम्य वे होते हैं जो दीर्घकाल तक भी उस भाव का परित्याग नहीं करते और कालान्तर में सहयोग पाकर पाप-परायण हो जाते हैं। ग्राह्य का अर्थ है–कथनयोग्य और अग्राह्य का अर्थ है–अकथनीय। अर्थात् ग्राह्य को सूत्र दिया जा सकता है, अग्राह्य को नहीं।

३. छिद्रकुट–वह घट जिसके तल में छिद्र हो। उससे सारा पानी नीचे से निकल जाता है। खंडकुट–वह घट जिसके घटकर्ण टूटे हुए हो। उसमें थोड़ा पानी समाता है। बोटकुट–वह घट जिसके एक पार्श्व का कपाल भिन्न है। उसमें थोड़े से ज्यादा पानी ठहरता है। सकलकुट–पूर्ण घड़ा। उसमें जितना डाला जाता है, वह ठहर जाता है। इसी प्रकार शिष्य भी चार प्रकार के होते हैं–

- छिद्रकुटसमान–जितना कहा जाता है, उसे स्मृति में रखता है, परंतु वहां से उठते ही भूल जाता है।
- खंडकुटसमान–कहा हुआ सारा ग्रहण नहीं करता, कम ग्रहण करता है।
- बोटकुटसमान–थोड़ा याद रख पाता है।
- सकलकुटसमान–जितना कहा जाता है, सारा स्मृति में रखता है। इनमें से सकलकुटसमान शिष्य ही कथनीय है और वही अव्यवच्छित्तिकारक होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चालनी का प्रतिपक्ष है-तापस का भाजन 'खउर'। वह बिल्वरस तथा भल्लातकरस से लिप्त होने के कारण कठिन हो जाता है। फिर उससे द्रव पदार्थ भी नहीं निकलता, सारा उसीमें ठहर जाता है। ऐसे शिष्य को सूत्रदान दिया जा सकता है।

परिपूणक में साररूप गुण नीचे निकल जाते हैं और दोष उसमें रह जाते हैं। परिपूणक में डाले हुए घेवर के घोल का सार-सार नीचे निकल जाता है और कल्मष उसमें रह जाता है। परिपूणकसमान शिष्य में भी गुण नीचे निकल जाते हैं और दोष रह जाते हैं। वह शिक्षणीय नहीं होता।

३४६. सव्वत्तुप्पामन्ना, दोसा उ न हुंति जिणमये के वि।
जं अणुवउत्तकहणं, अपत्तमासज्ज व हवंति॥

सर्वज्ञप्रामाण्यात्—सर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादित होने के कारण जिनमत में कोई दोष नहीं होते। परन्तु अनुपयुक्त आचार्य द्वारा कथित होने पर अथवा अपात्र श्रोता को पाकर गुण भी दोष हो जाते हैं। (जैसे सर्पमुख में गया हुआ दूध भी विष बन जाता है।)

३४७. अंबत्तणेण जीहाइ कूइया होइ खीरमुदगम्मि।
हंसो मोत्तूण जलं, आपियइ पयं तह सुसीसो॥

हंस की जिह्वा अम्ल होती है। ज्योंही पानी मिले हुए दूध में हंस चोंच डालता है, जिह्वा की अम्लता के कारण दूध की कूचिका—गुच्छे बन जाते हैं। हंस कूचिकाभूत दूध को पी लेता है और पानी को छोड़ देता है। वैसे ही सुशिष्य वह होता है जो गुणों को ग्रहण कर लेता है और दोषों को छोड़ देता है। ऐसा शिष्य शिक्षणीय होता है।

३४८. सयमवि न पियइ महिसो, न य जूहं पिबइ लोलियं उदयं।
विग्गह-विकहाहिं तहा, अथक्कपुच्छाहिं ये कुसीसो॥

जैसे पानी पीने के लिए तालाब में प्रविष्ट महिष न स्वयं उस कर्दमीभूत पानी को पीता है और न महिषयूथ उस विलोडित पानी को पी पाता है। इसी प्रकार विग्रह और विकथाओं में फंसा हुआ अथवा अप्रासंगिक पृच्छाओं वाला शिष्य कुशिष्य होता है। वह अकथनीय अर्थात् अयोग्य होता है।

३४९. अवि गोपयम्मि वि पिबे, सुढिओ तणुयत्तणेण तुंडस्स।
न करेइ कलुस तोयं, मेसो एवं सुसीसो वि॥

महिष का प्रतिपक्ष है मेष। मेष—एडक गोष्पद में एकत्रित अल्पतम पानी को भी जानु के बल बैठकर पूर्ण जागरूकता से पानी को कलुषित किए बिना अपने मुंह को तनु बनाकर पी लेता है। मेष तुल्य होता है सुशिष्य जो आचार्य को उत्तेजित किए बिना शास्त्ररहस्य ग्रहण कर लेता है।

३५०. मसगो व्व तदुं जच्चाइएहिं निच्छुब्भई कुसीसो वि।
जलुगा व अदूमिंतो, पियइ सुसीसो वि सुयनाणं॥

जो कुशिष्य जातिमद आदि के द्वारा दूसरों की अवहेलना करता है, पीड़ित करता है, वह पीड़ित करने वाले मच्छर की भांति निष्कासित कर दिया जाता है, उड़ा दिया जाता है। वह अशिक्षणीय होता है।

मशक का प्रतिपक्ष उदाहरण है जलौका। जैसे जलौका शरीर पर लगकर रुधिर पीती है, परन्तु पीड़ा नहीं करती, उसी प्रकार सुशिष्य भी आचार्य को संतापित न करता हुआ श्रुतज्ञान ग्रहण कर लेता है।

३५१. छड्डेउं भूमीए, खीरं किल पिवइ मुद्ध मज्जारी।
परिसुट्ठियाण पासे, सिक्खइ एवं विणयभंसी॥

मूर्ख मार्जारी दूध को जमीन पर बिखेर कर, फिर उसे पीती है, वैसे ही अविनीत शिष्य मंडली में श्रुतश्रवण नहीं करता परंतु परिषद् के उठ जाने पर वह कुछेक श्रोताओं से श्रुतग्रहण करता है। वह अवाचनीय होता है।

३५२. पाउं थोवं थोवं, खीरं पासाणि जाहगो लिहइ।
एमेव जियं काउं, पुच्छइ मइमं न खेएइ॥

उद्बिलाव थोड़ा-थोड़ा दूध पीता है और अपने मुंह के दोनों पार्श्वों में लगे दूध को चाटता है। इसी प्रकार जो मतिमान् शिष्य पूर्वगृहीत श्रुत को परिचित कर फिर पृच्छा करता है, परन्तु गुरु को खिन्न नहीं करता, वह वाचनीय होता है।

३५३. अन्नो दुज्झिहि कल्लं, निरत्थयं किं वहामि से चारिं।
चउवरणगवी य मया, अवण्ण हाणी य मरुयाणं॥

३५४. मा णे हुज्ज अवन्नो, गोवज्झा मा पुणो य न दलिज्जा।
वयमवि दोज्झामो पुण, अणुग्गहो अन्नदूढे वि॥

३५५. सीसा पडिच्छगाणं, भरो त्ति ते वि य हु सीसगभरो त्ति।
न करिंति सुत्तहाणी, अन्नत्थ वि दुल्लहं तेसिं॥

एक गांव में चार चतुर्वेदी ब्राह्मण थे। एक गृहस्थ ने उनको एक गाय दान में दी। वे बारी-बारी से उसको दुह कर दूध ले लेते थे। एक दिन जिस ब्राह्मण की गाय दुहने की बारी थी, उसने सोचा—कल दूसरा ब्राह्मण इसको दुह कर दूध का लाभ प्राप्त करेगा। तो फिर मैं आज निरर्थक ही गाय के चारा-पानी का भार क्यों वहन करूं? उसने गाय को दुहा और उसे वैसे ही छोड़ दिया। सभी ने यही सोचा। गाय बिना चारा-पानी के मर गई। ब्राह्मणों की निन्दा हुई और दान-हानि हुई। इसी प्रकार एक गृहस्थ ने अन्य चार ब्राह्मणों को गाय दान में दी। वे बारी-बारी से उसे दुहते और प्रत्येक ब्राह्मण गाय को पूरा चारा-पानी देता। सभी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह सोचते—हमारी यह निन्दा न हो कि ये गो-घातक हैं और आगे भी गो-दान बंद कर दें। पुनः यह भी बात है कि हम अपनी बारी से आगे भी गाय को दुहते रहेंगे। दूसरा भी गाय को दुहता है और प्रभूत चारा-पानी देता है तो वह हम पर महान् अनुग्रह है। गाय मरी नहीं और वे चारों ब्राह्मण गाय के दूध से लाभान्वित होते रहे। इसी प्रकार आचार्य के पास शिष्य और प्रतीच्छक (अन्य गणों से समागत शिष्य)—दोनों थे। शिष्य सोचते—हम ध्रुव हैं। प्रतीच्छक आए हुए हैं। ये कुछ समय पश्चात् चले जाएंगे। इसलिए आचार्य का प्रत्युपेक्षण, पाद-प्रक्षालन, भिक्षा आदि ये करेंगे। शिष्यों ने ये काम छोड़ दिए। प्रतीच्छकों ने सोचा—आचार्य के सारे कार्य करना शिष्यों का दायित्व है। हमें तो सूत्रार्थ ग्रहण करने में लगे रहना है। दोनों ने आचार्य की सेवा-शुश्रूषा छोड़ दी। आचार्य अपना कार्य स्वयं करते। वे रोगग्रस्त हो गए। अब सबके लिए सूत्र की हानि हो गई। अन्यत्र गच्छान्तर में भी उनके लिए श्रुतज्ञान दुर्लभ हो गया।

३५६. कोमुइया (तह) संगामि या य दुब्भूइया य भेरीओ।
कण्हस्स आसि तइया, असिवोवसमी चउत्थी उ॥

कृष्ण के पास तीन भेरियां थीं—कौमुदिकी, संग्रामिकी और दुर्भूतिका। चौथी भेरी का नाम था—अशिवोपशमनी।[1]

३५७. सक्कपसंसा गुणगाहि केसवा नेमिवंद सुणदंता।
आसरयणस्स हरणं, कुमारभंगे य पुययुद्धं॥

३५८. नेहि जितो मि त्ति अहं, असिवोवसमीएँ संपयाणं च।
छम्मासिय घोसणया, पसमेति न जायए अन्नो॥

३५९. आगंतु वाहिखोभो, महिड्ढि मोल्लेण कंथ डंडणया।
अद्धम आराहण अन्न भेरि अन्नस्स ठवणं च॥

शक्र देवसभा को संबोधित कर बोला—'केशव गुणग्राही है। नीच व्यक्तियों के साथ युद्ध नहीं करता। एक देव इस तथ्य को झुठलाने के लिए कटिबद्ध हुआ। एक बार केशव अरिष्टनेमि को वंदन करने निकला। वह देव कुत्ते का रूप बना कर मृतरूप में मार्ग में गिर गया। उससे भयंकर दुर्गंध आ रही थी। सभी लोग नाक पर कपड़ा देकर अन्य मार्ग पर गुजरे। कृष्ण कुत्ते के निकट आकर बोले—देखो! इस कुत्ते के दांत कितने धवल रूप में शोभित हो रहे हैं? कितने सुन्दर हैं?

देव ने अश्वरत्न चुरा लिया। राजकुमार युद्ध करने गए। पराजित हो गए। केशव स्वयं युद्ध करने गए। ज्ञात हुआ कि अश्व का अपहरण करने वाला नीचजातीय है। केशव ने उसके साथ युद्ध करने का प्रतिषेध कर दिया। देव ने अश्व-रत्न लाकर दे दिया और कहा—मैं हारा, आप जीते। तब वह केशव को अशिवोपशमनी भेरी उपहृत कर चला गया। उस भेरी का यह प्रभाव था—छह-छह मास के अंतराल से उसे बजाया जाए तो पूर्वोत्पन्न सारे रोग उपशांत हो जाते हैं और छह मास पर्यन्त रोग वहां उत्पन्न नहीं होते।

एक बार एक महर्द्धिक वणिक् वहां आया। वह शिरो-व्याधि से क्षुब्ध था। वैद्य ने गोशीर्षचंदन का लेप करने के लिए कहा। अन्यत्र प्राप्त न होने पर उसने भेरीपाल को बहुमूल्य देकर भेरी से एक टुकड़ा खरीद लिया। खंड-खंड किए जाने पर वह भेरी कंथा मात्र रह गई। अब उस भेरी का प्रभाव जाता रहा। केशव को ज्ञात हुआ। भेरी को देखा और उस भेरीपाल को दंडित कर उसे हटा दिया। पुनः केशव ने तेले की तपस्या कर देवता की आराधना कर अन्य भेरी प्राप्त कर, दूसरे भेरीपाल को उसकी रक्षा के लिए नियुक्त किया। इसी प्रकार जो शिष्य सूत्र और अर्थ को कंथा कर देता है, उसे सूत्रार्थ नहीं देना चाहिए।

३६०. मुक्कं तथा अगहिए, दुपरिग्गहियं कयं तया कलहो।
पिट्टणय इयर विक्किय, गएसु चोरेहि ऊणऽग्घो॥

३६१. मा निण्हव इय दाउं, उवजुंजिय देहि किं विचिंतेसि।
विच्चमेलणदाणे, किलिस्ससी तं च हं चेव॥

एक आभीरी घृतघटों से शकट भर कर नगर में आई। उसका पति शकट पर खड़ा-खड़ा आभीरी को घृतघट पकड़ाने लगा। संयोगवश एक घट आभीरी के हाथ में न आकर जमीन पर गिरकर फूट गया। आभीरी बोली—मैंने घट को पकड़ा नहीं और तुमने उसे छोड़ दिया। आभीर बोला—नहीं, तूने उसे भलीभांति नहीं पकड़ा, इसलिए वह भूमी पर गिर गया। दोनों में कलह हुआ। आभीर ने अभीरी को पीटा। दूसरे घीविक्रेता घी बेचकर चले गए। इनको कम मूल्य में घी बेचना पड़ा और घर लौटते समय चोरों ने उन्हें अकेला पाकर लूट लिया।

एक बार एक शिष्य सूत्र के एक ही आलापक को व्यत्यामेडित कर रहा था, बार-बार बोल रहा था। आचार्य ने कहा—इस प्रकार मत बोलो। शिष्य ने कहा—'आपने ऐसे ही सिखाया था!' आचार्य बोले—नहीं। शिष्य ने तब कहा—'आप अपनी बात को छुपाए नहीं। स्वयं ही इस प्रकार आलापक

१. प्रथम तीनों भेरियां गोशीर्षचंदन से निर्मित थीं और वे देवताधिष्ठित थीं। चौथी भेरी—अशिवोपशमनी का यह गुण था कि वह जहां बजाई जाती है वहां छह मास तक सभी रोग उपशांत रहते और जो उसके शब्द को सुनता है वह भी रोगमुक्त हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देकर, अब अन्यथा न बोलें। अभी भी कुछ नहीं बिगड़ा। आप उपयुक्त होकर मुझे आलापक दें, अन्यथा चिंतन न करें। व्यत्याम्रेडन और उसके दान अर्थात् सिखाने के संदर्भ में मैं और आप—दोनों क्लेश न पाएं।' इस प्रकार निष्ठुर बोलने वाला और कलह करने वाला शिष्य अयोग्य होता है।

३६२. सेल-कुडछिद्द-चालिणि, सुद्धो चउगुरुग घडदुवे होंति।
परिपूण महिस मसए, बिरालि आभीरि एमेव॥

३६३. एमेव गोणि भेरी, हंसे मेसे य जाहग जलूगा।
चउलहुगमदाणम्मी, पावति एएसु आयरितो॥

(योग्य शिष्य को वाचना न देने और अयोग्य शिष्य को वाचना देने से आचार्य को प्रायश्चित्त।)

मुद्गशैल, छिद्रकुट तथा चालिनी सदृश शिष्यों को विशेष कार्यवश सूत्र अथवा अर्थ की वाचना देने वाला आचार्य शुद्ध है। बिना विशेष कार्य के उनको सूत्र अथवा अर्थ की वाचना देने पर चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। इसी प्रकार घटद्विक—प्रशस्त और वाम्य तथा अप्रशस्त और अवाम्य तथा बोडकूट और भिन्नकूट सदृश शिष्यों को वाचना देने पर चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त है। परिपूणक, महिष, मशक, बिडाली, आभीरी[1], अप्रशस्त गौ द्वारा उपलक्षित ब्राह्मण, कंथाकारी भेरीपाल—इनके सदृश शिष्यों को सूत्रार्थ देने वाले को, प्रत्येक के विषय में प्रायश्चित्त है—चतुर्गुरु।

इनके प्रतिपक्ष हंस, मेष, उद्बिलाव, जौंक, प्रशस्त गौ, भेरीपालक—इनके सदृश शिष्यों को वाचना देने वाला आचार्य शुद्ध है। इनको वाचना न देने पर चतुर्लघु का प्रायश्चित्त आता है।

३६४. जाणंतिया अजाणंतिया य तह दुव्वियड्ढिया चेव।
तिविहा य होइ परिसा, तीसे नाणत्तगं वोच्छं॥

परिषद् के तीन प्रकार हैं—जानती, अजानती और दुर्विदग्धा। उनमें जो नानात्व है, वह कहूंगा।

३६५. गुण-दोसविसेसन्नू, अणभिग्गहिया य कुस्सुइमतेसु।
सा खलु जाणगपरिसा, गुणतत्तिल्ला अगुणवज्जा॥

जानती परिषद् वह होती है जो गुणों को और दोषों को जानती है, जो कुतीर्थिक सिद्धांतों से अनभिगृहीत है, अप्रभावित है तथा जो अगुणों का वर्जन करती है और गुणों के प्रति प्रयत्नशील रहती है।

३६६. खीरमिव रायहंसा, जे घोट्टंति उ गुणे गुणसमिद्धा।
दोसे वि य छड्डंती, ते वसभा धीरपुरिस त्ति॥

जो गुणों से समृद्ध हैं तथा जैसे राजहंस नीरमिश्रित दूध से केवल दूध का आस्वादन करता है वैसे ही जो गुणों का आस्वादन करता है तथा जो भी दोष हैं उनका परित्याग करता है, वह प्रस्तुत कल्पाध्ययन को ग्रहण करने में योग्य है।

३६७. जे होंति पगयमुद्धा, मिगछावग-सीह-कुक्कुरगभूया।
रयणमिव असंठविया, सुहसण्णप्पा गुणसमिद्धा॥

जो शिष्य प्रकृति से मृगशिशु, सिंहशिशु और श्वानशिशु की भांति अत्यंत भद्र होते हैं, असंस्थापित रत्न[2] की भांति होते हैं वे सुखसंज्ञाप्य—सुखपूर्वक प्रज्ञापनीय और गुण-समृद्ध होते हैं।

३६८. जे खलु अभाविया कुस्सुतीहिं न य ससमए गहियसारा।
अकिलेसकरा सा खलु, वयरं छक्कोडिसुद्धं वा॥

जो कुश्रुति—कुसिद्धांतों से अभावित होते हैं और जो अपने सिद्धांतों के रहस्यों से अस्पृष्ट हैं अर्थात् जिन्होंने अपने सिद्धांतों के सार को आत्मसात् नहीं किया है, जो अक्लेशकर है, वह अजानती परिषद् है। वह षट्कोटिशुद्ध[3] वज्र की तरह होती हैं।

३६९. किंचिम्मत्तग्गाही, पल्लवगाही य तुरियगाही य।
दुवियड्ढगा उ एसा, भणिया परिसा भवे तिविहा॥

दुर्विदग्धा पर्षत् तीन प्रकार की होती है—किंचिन्मात्रग्राही, पल्लवग्राही तथा त्वरितग्राही।

३७०. नाऊण किंचि अन्नस्स जाणियवे न देति ओगासं।
न य निज्जितो वि लज्जइ, इच्छइ य जयं गलरवेण॥

स्वयं थोड़ा जान लेने पर दूसरों को जानने का अवकाश नहीं देता, निर्जित होने पर भी लज्जित नहीं होता, बाढ़स्वर से चिल्ला-चिल्ला कर जय चाहता है। यह किंचिन्मात्रग्राही का लक्षण है।

३७१. न य कत्थइ निम्मातो, ण य पुच्छइ परिभवस्स दोसेण।
वत्थी व वायपुण्णो, फुट्टइ गामिल्लगवियड्ढो॥

जो शिष्य ग्रामेयकविदग्ध—गांव के लोगों में हुशियार है, पर कहीं भी निर्मित नहीं है, परिभव के दोष से अर्थात् मेरा पराभव होगा इसलिए दूसरे से कुछ पृच्छा नहीं करता, वह हवा से भरी हुई वस्ति की भांति फूला-फूला रहता है। (फट पड़ने की तरह) रहता है—'मैं पंडित हूं' इस लोकप्रवाद से गर्वित होकर रहता है। यह पल्लवग्राही का लक्षण है।

३७२. दुरहियविज्जो पच्चंतनिवासो वावदूक कीकाको।
खलिकरण भोइपुरतो, लोगत्तर पेढियागीते॥

---

१. देखें कथा परिशिष्ट नं. ३१।

२. असंस्थापित रत्न वह होता है जो खदान से निकला है, पर अभी संस्कारित नहीं है। वैसे रत्न को हम अपनी इच्छानुसार घटित कर सकते हैं।

३. स्वभाव से ही छहों दिशाओं में शुद्ध।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक ग्रामीण व्यक्ति अधूरी विद्या पढ़कर एक प्रत्यंतग्राम में गया और अपने आपको वैयाकरण बताने लगा। एक बार वहां नगर से एक वैयाकरण अपने वाचाल छात्रों के साथ वहां आया। दोनों के मध्य शब्दगोष्ठी हुई। ग्रामीण वैयाकरण ने उस नगरवासी वैयाकरण से पूछा—काग को क्या कहते हैं। उसने कहा—'काकः!' ग्रामीण ने कहा—नहीं, उसे 'कीकाकः' कहना चाहिए। 'काक' तो सभी कहते हैं, फिर वैयाकरण की विशेषता ही क्या? नगरवासी मौन हो गया। ग्रामवासियों ने अपने वैयाकरण का जयजयकार किया। वह नगरवासी वैयाकरण नगर में गया और भोजिक—गांवप्रधान को शिकायत कर उस ग्रामवासी वैयाकरण को तिरस्कृत कर गांव से निष्कासित कर दिया। इसी प्रकार लोकोत्तर प्रसंग में भी कोई शिष्य केवल पीठिका मात्र का अध्ययन कर अपने आपको गीतार्थ बताता है।[1] यह दुर्विदग्ध परिषद् है।

३७३. आयरियत्तणतुरितो, पुव्वं सीसत्तणं अकाऊणं।
हिंडति चोप्पायरितो, निरंकुसो मत्तहत्थि व्व॥

कोई पहले स्वयं शिष्य बने बिना (गुरुकुलवास में रहे बिना) आचार्यत्व को पाने के लिए उतावला होकर प्रत्यंत गांव, नगर में जाकर अपने आपको आचार्य ख्यापित करता है। तदनन्तर वह चोप्प—मूर्ख आचार्य निरंकुश हाथी की भांति परिभ्रमण करता है।

३७४. छन्नालयम्मि काऊण कुंडियं अभिमुहंजली सुढितो।
गेरू पुच्छति पसिणं, किन्नु हु सा वागरे किंचि॥

कोई परिव्राजक 'छन्नालयम्मि' त्रिदंड पर कुंडिका रखकर, उसके अभिमुख हाथ जोड़कर, नीचे झुककर कोई प्रश्न पूछता है। क्या वह कुंडिका कोई बात कहती है? नहीं। (जैसे कुंडिका का आचार्यत्व है, वैसे ही उस शिष्य का आचार्यत्व है।)

३७५. मीसा वि य तूरंती, आयरिया वि हु लहुं पसीयंति।
तेण दरसिक्खियाणं, भरितो लोगो पिसायाणं॥

कुछेक शिष्य आचार्य बनने के लिए शीघ्रता करते हैं और आचार्य भी उन पर शीघ्र प्रसन्न हो जाते हैं। वे शिष्यों की परीक्षा नहीं करते। अतः यह लोक अल्पशिक्षित आचार्य 'पिशाचों' से भरा पड़ा है।

३७६. तेगिच्छ मते पुच्छा, अन्नहि वालुंक देवि कहि चिन्ना।
तोसत्थेण कहंति य, विज्जनिसिद्धे ततो दंडो॥

एक राजवैद्य था। वह मर गया। राजा ने पूछा—क्या वैद्य का कोई पुत्र है? राजपुरुषों ने बताया कि वैद्य के एक पुत्र है, परन्तु वह वैद्यविद्या नहीं जानता। राजा ने उसे बुलाकर कहा—अन्यत्र जाकर किसी निपुण वैद्य के पास यह विद्या सीखो। वह गया। एक दिन एक व्यक्ति बकरी को वैद्य के पास लाया। उसके गलगंड था। वैद्य ने बकरी के स्वामी को पूछकर जान लिया कि इसके गले में 'वालुंक' ककड़ी का एक टुकड़ा फंस गया है। वैद्य ने बकरी के गले पर कपड़ा बांध कर उसको इस प्रकार मोड़ा कि गले में फंसा ककड़ी का टुकड़ा टूट गया और वह गले से निकल गया। वैद्यपुत्र ने सोचा—यही वैद्यरहस्य है। वह राजा के पास लौट आया। राजा ने उसे नियुक्त कर दिया। एक बार रानी के गलगंड हो गया। वैद्यपुत्र को रानी के पास लाया गया। उसने पूछा—रानी कहां-कहां गई थी। लोगों ने वैद्यपुत्र के संतोष के लिए कहा—पुरोहड़े (पिछवाड़े)। तब वैद्य पुत्र ने रानी के गले पर कपड़ा लपेट कर जोर से मरोड़ा। रानी का प्राणान्त हो गया। राजा ने अन्य वैद्यों को बुलाकर पूछा—रानी की जो इस वैद्यपुत्र ने चिकित्सा की वह वैद्यशास्त्र सम्मत थी या नहीं? उन्होंने कहा—वह सम्मत नहीं, निषिद्ध थी। राजा ने तब उस वैद्यपुत्र को दंडित कर, गांव से निष्कासित कर दिया।

३७७. कारणनिसेवि लहुसग, अगीयपच्चय विसोहि दट्ठूण।
सव्वत्थ एव पच्चंतगमण गीयागते दंडो॥

एक आचार्य ने कारण से प्रतिसेवना करने वाले एक शिष्य को अगीतार्थ मुनियों के प्रत्यय के निमित्त विशोधि अर्थात् प्रायश्चित्त दिया। एक शिष्य ने यह देखकर सोचा—सर्वत्र इसी प्रकार प्रायश्चित्त देना चाहिए। वह शिष्य प्रत्यंत ग्राम या नगर में गया। वहां एक निष्कारण प्रतिसेवी को प्रायश्चित्त दिया। कालान्तर में वहां गीतार्थ मुनि आए। सारी बात सुनकर, उस दंडदायी को दंडित कर, उसके अधिकार का हरण कर दिया।

३७८. पूरंती छत्तंतिय, बुद्धी मंती रहस्सिया चेव।
पंचविहा खलु परिसा, लोइय लोउत्तरा चेव॥

लौकिक पर्षद् के पांच प्रकार हैं—पूरयंती, छत्रवती, बुद्धि, मंत्री और रहस्यिका। लोकोत्तर पर्षद् भी पांच प्रकार की होती हैं।

३७९. पूरंतिया महाणो, छत्तविदिन्ना उ ईसरा बितिया।
समयकुसला उ मंती, लोइय तह रोहिणिज्जा या॥

---

१. वह प्रत्यन्तगांव में जाकर वहां स्थित अगीतार्थ मुनियों का अपने अधीनस्थ कर अकरणीय कार्य भी करता है और अप्रायश्चित्त स्थान में भी उन्हें प्रायश्चित्त देता है। वह अपनी पूजा, सत्कार और गौरव-हानि के भय से दूसरे को कुछ नहीं पूछता और अपना अधिकार जमाए रखता है। एक बार वहां गीतार्थ मुनि आए। वहां की परिस्थिति को देखकर उस कृत्रिम गीतार्थ का निग्रह कर प्रायश्चित्त देकर उसके अधिकार को छीन लिया। (वृ. पृ. १११)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पहली है–पूरयंतिका–महाजनों से पूरित। दूसरी है–छत्रान्तिका वितीर्णछत्रवाली। तीसरी है बुद्धिपर्षत्–स्वसमय में कुशल। चौथी है–मंत्री पर्षद् और पांचवी है–रोहिणीया–अन्तःपुर-महत्तरिका।

३८०. नीहम्मियम्मि पूरति, रण्णो परिसा न जा घरमतीति।
जे पुण छत्तविदिन्ना, अयंति ते बाहिरं सालं॥

३८१. जे लोग-वेय-समएहिं कोविया तेहिं पत्थिवो सहिओ।
समयमतीतो परिच्छइ, परप्पवायागमे चेव॥

३८२. जे रायसत्थकुसला, अतक्कुलीया हिता परिणया य।
माइकुलीया वसिया, मंतेति निवो रहे तेहिं॥

३८३. कुविया तोसेयव्वा, रयस्सला वारअऽण्णमासत्ता।
छण्ण पगासे य रहे, मंतयते रोहिणिज्जेहिं॥

पूरयंतिका पर्षद्–राजा के कहीं बाहर जाने पर, महाजनों से पूरित वह राजा की पर्षद् घर नहीं जाती, जब तक कि राजा लौट कर नहीं आ जाता।

छत्रवितीर्णा पर्षद्–जिनको राजा द्वारा छत्र दिए गए हों। वे राजा की बाह्यशाला तक आ सकते हैं। वे छत्रधारी होते हैं।[1]

बुद्धि पर्षत्–जो लौकिक, वैदिक और सामयिक सिद्धांतों में कोविद होते हैं, उन पार्षदों सहित राजा की पर्षद् बुद्धिपर्षत् होती है। अवसर प्राप्त होने पर वह राजा परप्रवादों के जानकार उन कोविदों की परीक्षा करता है अथवा उन प्रवीण पार्षदों का परप्रवाद के आगम संबंधी ज्ञान की परीक्षा करता है।

मंत्री परिषद्–जो राजशास्त्र (कौटिल्य आदि शास्त्र) में कुशल होते हैं, जो राजकुल से संबद्ध नहीं हैं, जो हितान्वेषी हैं, जो वय प्राप्त हैं, जो मातृकुलीय–माता के संबंध से संबद्ध हैं, जो राजा के अधीन हैं, उनके साथ राजा मंत्रणा करता है। यह मंत्री पर्षत् है।

रोहिणीया पर्षद्–इस परिषद् के सदस्यों का कार्य है कि रानी राजा से कुपित हो जाए तो उसको राजी करना, मनाना। जो रानी रजस्वला हो जाए उसकी सूचना राजा को देना। जिसका वारक (बारी) हो उसकी सूचना देना। रानी अन्य में आसक्त हो तो राजा को कहना। जो राजकन्या विवाहयोग्य हो गई है, वह राजा को बताना। इनके अतिरिक्त जो भी अन्य गुप्त अथवा अगुप्त तथा एकान्त में मंत्रणा-योग्य हैं वे सारे विषय अथवा रतिकार्यों की इस रोहिणीया परिषद् के सदस्यों से राजा मंत्रणा करता है।

३८४. आवासगमादी या (जा), सुत्तकड पुरंतिया भवे परिसा।
दसमादि उवरिमसुया, हवति उ छत्तंतिया परिसा॥

इसी प्रकार लोकोत्तर पर्षद् के पांच प्रकारों की व्याख्या यह है–आवश्यक सूत्र से प्रारंभ कर सूत्रकृतांग पर्यन्त श्रुत का अध्ययन कर लेने वाली पर्षद् पूरयंती कहलाती है। दशाश्रुतस्कंध से उपरितन सारे श्रुत का अध्ययन करने वाली पर्षद् छत्रान्तिका कहलाती है। (इसमें परिणामिक शिष्यों का निवारण नहीं किया जाता, किन्तु जो अपरिणामिक और अतिपरिणामिक हैं उनका निवारण किया जाता है।)

३८५. लोइय-वेइय-सामाइएसु सत्थेसु जे समोगाढा।
ससमय-परसमयविसारया य कुसला य बुद्धिमती॥

३८६. आसन्नपतीभत्तं, खेयपरिस्समजतो तहा सत्थे।
कहमुत्तरं च दाहिसि, अमुगो किर आगतो वादी॥

जो लौकिक, वैदिक और सामयिक शास्त्रों का सम्यक् अवगाहन कर चुके हैं, जो स्वसमय तथा परसमय के विशारद हैं, जो कुशल हैं, वह बुद्धिमती पर्षत् है। इस पर्षत् के साथ श्रम करने से शीघ्र प्रतिभा उत्पन्न होती है तथा जो शास्त्र आदि की व्याख्या करने में निरंतर खेद-परिश्रम होता है, उस पर विजय प्राप्त कर ली जाती है। यह बुद्धिपर्षत् सिखाती है कि अमुक वादी के आ जाने पर किस प्रकार से उत्तर देना चाहिए। इस प्रकार उसके साथ अभ्यास करने पर परवादी का सुगमतापूर्वक निग्रह किया जा सकता है।

३८७. पुव्वं पच्छा जेहिं, सिंगणादितविही समणुभूतो।
लोए वेदे समए, कयागमा मंतिपरिसा उ॥

मंत्रीपर्षद् वह होती है जिसके सदस्य पूर्व गृहवास में तथा पश्चात् श्रमणभाव में 'शृंगनादितविधि'[2] का अनुभव कर चुके हैं तथा जो लौकिक, वैदिक और सामयिक आगमों का पारायण कर चुके हैं।

३८८. गिहवासे अत्थसत्थेहिं कोविया केइ समणभावम्मि।
कज्जेसु सिंगभूयं, तु सिंगनादिं भवे कज्जं॥

जो गृहवास के समय अर्थशास्त्र में, श्रमण अवस्था में स्वसमय-परसमय में जो कोविद् हैं, वे मंत्रीपर्षद् के सदस्य हैं। जो सभी कार्यों में शृंगभूत अर्थात् मुख्य होता है, 'शृंगनादित' कहलाता है।

३८९. तं पुण चेइयनासे, तद्दव्वविणासणे दुविहभेदे।
भत्तोवहिवोच्छेदे, अभिवायण-बंध-घायादी॥

१. वे राजा, भट्ट, भोजिक आदि होते हैं तथा वे राजा की बाह्य शाला तक आ जा सकते हैं। शेष लोगों की वर्जना की जाती है।

२. शृङ्गनादितविधिः–सर्वेषु कार्येषु मध्ये शृङ्गभूतं यत् कार्यं तत् शृङ्गनादितमुच्यते।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शृंगनादित कार्य क्या हैं? चैत्य का विनाश, चैत्यद्रव्य का विनाश, दो प्रकार का भेद–मरण अथवा उत्प्रव्राजन की परिस्थिति, आहार तथा उपधि का व्यवच्छेद होना, अन्य देवी-देवताओं को वंदना करने के लिए बाध्य करना, बंधन, घात आदि का होना–ये सारे शृंगनादित कार्य हैं।

३९०. वितहं ववहरमाणं, सत्थेण वियाणतो निहोडेइ।
अम्हं सपक्खदंडो, न चेरिसो दिक्खिए दंडो॥

राजा आदि संघ के प्रति वितथ व्यवहार कर रहा हो तो मंत्रीपर्षद् के अंतर्भूत विज्ञायक अर्थात् स्वसमय और परसमय के शास्त्रों का जानकार व्यक्ति राजा आदि को सुखपूर्वक निवारित कर सकता है। वह कह सकता है–हमारे सपक्ष में दंड होता है अर्थात् अपराधी को संघ दंड देता है, राजा नहीं। तथा दीक्षित व्यक्ति को ऐसा दंड नहीं दिया जाता। (यह मंत्रीपर्षद् के अन्तर्गत है।)

३९१. सल्लुद्धरणे समणस्स चाउकण्णा रहस्सिया परिसा।
अज्जाणं चउकण्णा, छक्कण्णा अट्ठकण्णा वा॥

श्रमण का शल्योद्धरण करने के लिए चतुःकर्णा राहस्यिकी पर्षद् होती है। श्रमणियों के लिए वह चतुःकर्णा, षट्कर्णा अथवा अष्टकर्णा होती है।[1]

३९२. आलोयणं पउंजइ, गारवपरिवज्जितो गुरुसगासे।
एगंतमणावाए, एगो एगस्स निस्साए॥

जनता के आवागमन रहित एकांत स्थान में श्रमण गौरव से परिवर्जित होकर आलोचनार्ह अकेले आचार्य की निश्रा में अकेला ही आलोचना करे।

३९३. विरहम्मि दिसाभिग्गह, उक्कुडुतो पंजली निसेज्जा वा।
एस सपक्खे परपक्खे मोत्तु छण्णं निसिज्जं च॥

श्रमण एकांत में भी गुप्त प्रदेश में गुरु की निषद्या कर स्वयं पूर्व, उत्तर अथवा चरन्तिका दिशा को ग्रहण कर वंदना कर हाथ जोड़कर उत्कटुक आसन में अथवा व्याधिग्रस्त होने पर अथवा प्रभूत आलोचना करनी हो तो निषद्या की अनुज्ञा लेकर बैठे। यह स्वपक्ष में आलोचनाविधि है। परपक्ष–संयती को आलोचना देनी हो तो छन्न प्रदेश–गुप्त प्रदेश का वर्जन करना चाहिए तथा निषद्या नहीं करानी चाहिए।

३९४. आलोयणं पउंजइ, गारवपरिवज्जिया उ गणिणीए।
एगंतमणावाए, एगा एगाए निस्साए॥

श्रमणी गौरवरहित होकर एकांत तथा अनापात स्थान में अकेली एकाकी गणिनी की निश्रा में आलोचना करे।

३९५. आलोयणं पउंजइ, एगंते बहुजणस्स संलोए।
अब्बितियथेरगुरुणो, सबिईया भिक्खुणी निहुया॥

अद्वितीय–अकेले स्थविरगुरु के समक्ष अपने साथ एक अन्य भिक्षुणी को लेकर वह आलोचना करने वाली भिक्षुणी एकांत में, बहुजनसमक्ष नियंत्रित और अचपल होकर आलोचना करे।

३९६. नाण-दंसणसंपन्ना, पोढा वयस परिणया।
इंगियागारसंपन्ना, भणिया तीसे बिइज्जिया॥

आलोचना करने वाली श्रमणी के साथ वाली दूसरी श्रमणी ज्ञान-दर्शन से संपन्न हो, प्रौढ़ हो (अस्रावी हो), परिणत वयवाली हो और इंगिताकारसंपन्न हो।

३९७. आलोयणं पउंजइ, एगंते बहुजणस्स संलोए।
सब्बितियतरुणगुरुणो, सब्बिइया भिक्खुणी निहुया॥

एक मुनि के साथ स्थित तरुण गुरु के समीप सद्वितीया श्रमणी एकांत में, बहुजनसमक्ष आलोचना करे।

३९८. नाणेण दंसणेण य, चरित्त-तव-विणय-आलयगुणेहिं।
वयपरिणामेण य अभिगमेण इयरो हवइ जुत्तो॥

आलोचनार्ह गुरु के साथ वाला वह मुनि ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, विनय और आलयगुणों से अर्थात् बाह्य चेष्टाओं में उपशमगुणयुक्त, वयपरिणत तथा अभिगम–सम्यग् शास्त्रार्थ कौशल से युक्त होना चाहिए।

३९९. छत्तंतियाए पगयं, जइ पुण सा होज्जिमेहि उववेया।
तो देंति जेहिं पगयं, तदभावे ठाणमादीणि॥

यहां छत्रान्तिका पर्षद् का प्रसंग है, अधिकार है। यदि छत्रान्तिका पर्षद् इन निम्नोक्त गुणों से सहित हो तो उसे कल्प और व्यवहार की वाचना दी जा सकती है। इन गुणों के अभाव में स्थानांग आदि (आदि शब्द से प्रकीर्णक) दिए जा सकते हैं।

४००. बहुस्सुए चिरपव्वइए, कप्पिए य अचंचले।
अवट्ठिए य मेहावी, अपरिस्सावी य जे विऊ॥
४०१. पत्ते य अणुण्णाते, भावतो परिणामगे।
एयारिसे महाभागे, अणुओगं सोउमरिहइ॥

वे गुण ये हैं–बहुश्रुत, चिरप्रव्रजित, कल्पिक, अचंचल, अवस्थित, मेधावी, अपरिस्रावी, विद्वान् (प्रभूतशास्त्रों की पारगामिता से समृद्ध बुद्धि वाला), पात्रता प्राप्त, अनुज्ञात, भावतः परिणामक–इन गुणों से समन्वित महाभाग अनुयोग सुनने में समर्थ होता है।

---

१. चतुःकर्णा– श्रमण आचार्य या निर्ग्रंथ के समक्ष आलोचना करते समय। अथवा निर्ग्रंथी निर्ग्रंथी के समक्ष आलोचना करते समय।
षट्कर्णा– स्थविर गुरु के समक्ष एक श्रमणी के साथ आलोचना करती हुई श्रमणी।
अष्टकर्णा– सद्वितीय तरुण गुरु के समक्ष एक श्रमणी के साथ आलोचना करती हुई श्रमणी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४०२. तिविहो बहुस्सुओ खलु,
जहण्णओ मज्झिमो उ उक्कोसो।
आयारपकप्पे कप्प
नवम-दसमे य उक्कोसो॥

बहुश्रुत के तीन प्रकार हैं—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। आचारप्रकल्प अर्थात् निशीथ को धारण करने वाला जघन्य बहुश्रुत, कल्प और व्यवहार का धारक मध्यम बहुश्रुत और नौवें और दसवें पूर्व का धारक उत्कृष्ट बहुश्रुत होता है।

४०३. चिरपव्वइओ तिविहो, जहण्णओ मज्झिमो य उक्कोसो।
तिवरिस पंचग मज्झो, वीसतिवरिसो य उक्कोसो॥

चिरप्रव्रजित के तीन प्रकार हैं—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट।

जघन्य चिरप्रव्रजित—तीन वर्ष की संयमपर्यायवाला।

मध्यम चिरप्रव्रजित—पांच वर्ष की संयमपर्यायवाला।

उत्कृष्टचिरप्रव्रजित—बीस वर्ष की संयमपर्यायवाला।

४०४. बहुसुय चिरपव्वइओ, उ एत्थ मज्झेसु होति अहिगारो।
एत्थ उ कमे विभासा, कम्हा उ बहुस्सुओ पढमं॥

यहां मध्यम बहुश्रुत तथा मध्यम चिरप्रव्रजित का अधिकार है। यहां क्रमविषयक विभाषा—विमर्श करना चाहिए। बहुश्रुत का कथन सबसे पहले क्यों किया गया?[1]

४०५. सुत्ते अत्थे तदुभय, उव्वट्ट विचार लेव पिंडे य।
सिज्जा वत्थे पाए, उग्गहण विहारकप्पे य॥

कल्पिक बारह प्रकार का होता है—सूत्र से, अर्थ से, तदुभय—दोनों से, उपस्थापना में, विचार में, पात्रलेपन में, पिंड में, शय्या में, वस्त्र में, पात्र में, अवग्रहण में तथा विहारकल्प में।

४०६. सुत्तस्स कप्पितो खलु, आवस्सगमादि जाव आयारो।
तेण पर तिवरिसादी, पकप्पमादी य भावेणं॥

सूत्रकल्पिक वह होता है जो आवश्यक से प्रारंभ कर आचार पर्यन्त श्रुत का अध्ययन कर लेता है। (इतना श्रुताध्ययन करने में कोई निवारित नहीं करता।) उसके पश्चात् तीन वर्ष की संयमपर्यायवाले श्रमण से प्रारंभ कर बीस वर्ष की पर्यायवाला श्रमण सर्वश्रुतानुपाती हो जाता है। इसी प्रकार आचारप्रकल्प से लेकर अन्यान्य अपवाद बहुल अध्ययनों तथा अतिशायी अध्ययनों का अध्यापन, जब श्रमण भाव से परिणत हो जाता है, तब कराया जाता है।

४०७. सुत्तं कुणति परिजितं, तदत्थगहणं पइण्णगाइं वा।
इति अंग-ऽज्झयणेसुं, होति कमो जाहगो नायं॥

(संयम पर्याय के तीन वर्ष अभी पूर्ण नहीं हुए हैं और वह आचार को पढ़ चुका है तो वह आगे क्या करे?)

वह पठित सूत्र को परिचित करे। अथवा सूत्र के अर्थ का ग्रहण करे। अथवा प्रकीर्णक सूत्रों को सूत्रतः और अर्थतः पढ़े। इस प्रकार अंग आगमों का तथा अतिशायी अध्ययनों का क्रम तब तक जानना चाहिए जब तक कल्पिक नहीं हो जाता। यहां उद्बिलाव का उदाहरण ज्ञातव्य है।

४०८. अत्थस्स कप्पितो खलु, आवासगमादि जाव सूयगडं।
मोत्तूणं छेयसुयं, जं जेणऽहियं तदट्ठस्स॥

आवश्यक सूत्र से प्रारंभ कर यावत् सूत्रकृतांग तक जो अध्ययन कर चुका है, वह उनके अर्थ का कल्पिक होता है। सूत्रकृतांग के पश्चात् भी छेदसूत्रों को छोड़कर जिसने जितना श्रुत पढ़ा है, वह उस समस्त श्रुत के अर्थ का कल्पिक होता है। (छेदसूत्र पढ़ लेने पर भी जब तक शिष्य अपरिणत होता है तब तक अर्थ नहीं दिया जाता। परिणत होने पर वह उनके अर्थ का कल्पिक होता है।)

४०९. तदुभयकप्पिय जुत्तो, तिगम्मि एगाहिएसु ठाणेसु।
पियधम्मऽवज्जभीरू, ओवम्मं अज्जवइरेहिं॥

जो शिष्य सूत्र और अर्थ—दोनों को एक साथ ग्रहण करने में समर्थ होता है, वह उभयकल्पिक होता है। अथवा त्रिक का अर्थ है—सूत्र, अर्थ और तदुभय। सूत्र से अर्थ अधिक होता है, अर्थ से अधिक होता है तदुभय। जो शिष्य अर्थ से अधिक जो उभयस्थान है—सूत्रार्थरूप इनमें जो युक्त—योग्य होता है वह उभयकल्पिक होता है। अथवा जो प्रियधर्मा और अवद्यभीरू (कर्मभीरू) होता है वह उभयकल्पिक है। इस संदर्भ में आर्यवज्र की उपमा दी जाती है।[2]

४१०. पुव्वभवे वि अहीयं, कण्णाहडगं व बालभावम्मि।
उत्तममेहाविस्स व, दिज्जति सुत्तं पि अत्थो वि॥

पूर्वभव में जिसके पढ़ा हुआ है, अथवा बाल्य अवस्था में

---

१. पहले प्रव्रज्या होती है, पश्चात् श्रुत होता है, पश्चात् प्रथम चिरप्रव्रजित का उपादान किया जा सकता है। आचार्य कहते हैं—जो किया है, उसमें कोई दोष नहीं है। नियमविशेष को बताने के लिए इस प्रकार उपादान किया है। जो बहुश्रुत है, वह नियमतः चिरप्रव्रजित होगा, जिससे त्रिवर्षप्रव्रजित श्रमण को निशीथ, पंचवर्ष प्रव्रजित को कल्प और व्यवहार तथा बीस वर्ष प्रव्रजित को दृष्टिवाद की वाचना दी जा सकती है। इसलिए उक्त क्रम निर्दोष है।

२. एक बार एक आचार्य अपने शिष्य को सूत्र की वाचना दे रहे थे। आर्यवज्र उस समय बालक थे। उन्होंने वह सूत्र सुना, पश्चात् उसका उद्देश, समुद्देश, अनुज्ञा और अर्थ दूसरी पौरुषी में बता दिया। (बृ. पृ. ११८)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो सुना हुआ है अथवा जो उत्तम मेधावी है, उसको सूत्र और अर्थ–दोनों दिए जाते हैं। वह भी उभयकल्पिक है।

४११. अप्पत्ते अकहित्ता, अणहिगयऽपरिच्छणे य चउगुरुगा।
दोहि गुरू तवगुरुगा, कालगुरू दोहि वी लहुगा॥

जो आचार्य असमाप्तसूत्र वाले शिष्य को उपस्थापना देते हैं तो उनको चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। वह उभय गुरुक होता है–काल से गुरु तथा तप से भी गुरु। जिस शिष्य ने सूत्र समाप्त कर दिया है, उस शिष्य को अर्थ कहे बिना जो उपस्थापना देते हैं उनको चार लघुमास का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। वह काल से लघु तथा तप से गुरु होता है। अर्थ का कथन कर देने पर भी जो उसे अभी तक अधिगत–हृदयंगम नहीं कर पाया है, उसको उपस्थापना देने पर चार लघुमास का प्रायश्चित्त आता है, तप से लघु तथा काल से गुरु। जो शिष्य की परीक्षा किए बिना उपस्थापित करता है, उसमें चार लघुमास का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है, तप और काल दोनों से लघु। (यह प्रायश्चित्त ही नहीं, आज्ञाभंग आदि दोष भी आते हैं। इसलिए षड्जीवनिकासूत्र जिसने अभी तक पढ़ा नहीं है, न उसने उसके अर्थ को अधिगत किया है और न उसकी परीक्षा ली है–ऐसे शिष्य को उपस्थापना नहीं देनी चाहिए।)

४१२. जीवा-ऽजीवाभिगमो, चरित्तधम्मो तहेव जयणा य।
उवएसो धम्मफलं, छज्जीवणियाएँ अहिगारा॥

षड्जीवनिकाय के पांच अधिकार हैं–१. जीवाजीवाभिगम २. चारित्रधर्म ३. यतना ४. उपदेश ५. धर्मफल।

४१३. पव्वावण मुंडावण, सिक्खावण उवट्ठ संभुंजणा य संवसणा।
एसो उ दवियकप्पो, छव्विहतो होति नायव्वो॥

द्रव्यकल्प छह प्रकार का होता है–१. प्रव्राजना २. मुंडापना ३. शिक्षापन ४. उपस्थापना ५. सहभोजन ६. संवसन।[1]

४१४. पढिए य कहिय अहिगय, परिहर उवठावणाए सो कप्पो।
छक्कं तीहिं विसुद्धं, परिहर नवगेण भेदेण॥

उपस्थापना कैसे? आचार्य पहले सूत्र पढ़ाए, फिर अर्थ का कथन करे, फिर उसकी परीक्षा करे कि अर्थ अधिगत–आत्मसात् हुआ या नहीं, इतना हो जाने पर वह शिष्य छह जीवनिकायों का, तीन की शुद्धि से अर्थात् मन, वचन और काया की विशुद्धि से परिहार करता है। यह परिहार नौ भेदों से होता है। (मन से स्वयं परिहार करता है, दूसरों से परिहार करवाता है और परिहार करने वाले अन्य का अनुमोदन करता है। इसी प्रकार वचन से और काया से भी। यह उपस्थापनाकल्प है।)

४१५. अप्पत्ते अकहित्ता, अणहिगयऽपरिच्छणम्मि चउगुरुगा।
दोहि गुरू तवगुरुगा, कालगुरू दोहि वी लहुगा॥

४१६. पढिते य कहिय अहिगय, परिहरति वियारकप्पितो सो उ।
तिविहं तीहि विसुद्धं, परिहर नवगेण भेदेणं॥

सप्तसप्तक (आचारांग, द्वितीय श्रुतस्कंध की दूसरी चूलिका) अथवा ओघनिर्युक्ति को न पढ़े हुए एकाकी शिष्य को विचारभूमी में भेजने पर प्रायश्चित्त है–चार गुरुमास। वे तप और काल–दोनों से गुरु होते हैं। सूत्र की वाचना दे दिए जाने पर, अर्थ का कथन देने पर भी, अर्थ अधिगत हुआ या नहीं–इसकी परीक्षा किए बिना यदि विचारभूमी में भेजा जाता है तो प्रत्येक क्रिया से संबंधित प्रायश्चित्त है चार लघुमास का। ये काल और तप–दोनों से लघु होते हैं। सूत्र को पढ़ लेने, अर्थ का कथन हो जाने, अर्थ के अधिगम की परीक्षा हो जाने पर, वह शिष्य तीन प्रकार के स्थंडिल–सचित्त, अचित्त और मिश्र का विवेक कर तीन करण और तीन योग से अर्थात् नवक भेद से अस्थंडिल का परिहार करता है, वह विचार-कल्पिक होता है।

४१७. भेया सोहि अवाया, वज्जणया खलु तहा अणुण्णा य।
कारणविही य जयणा, थंडिल्ले होंति अहिगारा॥

स्थंडिल के ये अर्थाधिकार हैं–

१. भेद	५. अनुज्ञा
२. शोधि–प्रायश्चित्त	६. कारणविधि
३. अपाय	७. यतना
४. वर्जन	

४१८. अच्चित्तेण अचित्तं, मीसेण अचित्त छक्कमीसेणं।
सच्चित्त छक्कएणं, अचित्त चउभंग एक्केक्के॥

मार्ग की अपेक्षा से अचित्त स्थंडिल के तीन भेद होते हैं–

१. अचित्त स्थंडिल और अचित्त मार्ग।
२. अचित्त स्थंडिल और षट्काय से मिश्रित मार्ग।
३. अचित्त स्थंडिल और सचित्त मार्ग–षट्काय से आक्रांत।

इसी प्रकार मिश्र स्थंडिल तथा सचित्त स्थंडिल से संबंधित तीन-तीन भेद हैं। अचित्त, मिश्र और सचित्त। स्थंडिल से संबंधित चतुर्भंगी आगे के श्लोकों में।

४१९. अणवायमसंलोए, अणवाए चेव होति संलोए।
आवायमसंलोए, आवाए चेव संलोए॥

वह चतुर्भंगी इस प्रकार है–

१. अनापात असंलोक।	३. आपात असंलोक।
२. अनापात संलोक।	४. आपात संलोक।

(इन चारों भंगा में संयतों के लिए प्रथम भंग अनुज्ञात

१. इनकी संपूर्ण विधि वृ. पृ. १२० में है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, शेष भंग प्रतिषिद्ध है। संयतियों के लिए तीसरा भंग अनुज्ञात है।)

४२०. तत्थाऽऽवायं दुविहं, सपक्ख-परपक्खतो उ नायव्वं।
दुविहं होइ सपक्खे, संजय तह संजतीणं च॥

४२१. संविग्गमसंविग्गा, संविग्ग मणुण्ण एतरा चेव।
असंविग्गा वि य दुविहा, तप्पक्खिय एयरा चेव॥

आपात दो प्रकार को होता है—स्वपक्ष तथा परपक्ष का। स्वपक्ष आपात दो प्रकार का है—संयतों का तथा संयतियों का। संयत दो प्रकार के हैं—संविग्न और असंविग्न। संविग्न भी दो प्रकार के हैं—मनोज्ञ और अमनोज्ञ। असंविग्न भी दो प्रकार के हैं—संविग्नपाक्षिक और असंविग्नपाक्षिक।

४२२. परपक्खे वि य दुविहं, माणुस तेरिच्छगं च नायव्वं।
एक्केक्कं पि य तिविहं, पुरिसित्थि नपुंसगं चेव॥

परपक्षापात भी दो प्रकार का होता है—मनुष्यापात तथा तिर्यग्आपात। इन दोनों के तीन-तीन प्रकार हैं—पुरुषापात, स्त्रीआपात और नपुंसकापात।

४२३. पुरिसावायं तिविहं, दंडिय कोडुंबिए य पागइए।
ते सोयऽसोयवादी, एमेव नपुंस-इत्थीसु॥

पुरुषापात तीन प्रकार का है—दंडिक, कौटुम्बिक तथा प्राकृत अर्थात् दंडिकपुरुषापात, कौटुम्बिकपुरुषापात और प्राकृतपुरुषापात। ये तीनों दो-दो प्रकार के होते हैं—शौचवादी और अशौचवादी। इसी प्रकार नपुंसक और स्त्री संबंधी भी यही भेद-प्रभेद होते हैं।

४२४. दित्तमदित्ता तिरिया, जण्णमुक्कोस मज्झिमा तिविहा।
एमेवित्थि-नपुंसा, दुगुंछिय-ऽदुगुंछिया नवरं॥

तिर्यगापात—तिर्यंच दो प्रकार के होते हैं—दृप्त और अदृप्त। इन दोनों के तीन-तीन प्रकार हैं—जघन्य, उत्कृष्ट और मध्यम। जघन्य हैं—मेष आदि। मध्यम हैं—महिष आदि। उत्कृष्ट हैं—हाथी आदि। ये पुरुष तिर्यंच हैं। इसी प्रकार स्त्री और नपुंसक तिर्यंच भी हैं। वे सब दो-दो प्रकार के होते हैं—जुगुप्सित और अजुगुप्सित।

(आपात का कथन किया गया। संलोक केवल मनुष्यों से ही संबंधित हैं। वे तीन प्रकार के हैं—पुरुष, स्त्री और नपुंसक। इनके भेद-प्रभेद पूर्ववत् हैं।)

४२५. मणुय-तिरिएसु लहुगा, चउरो गुरुगा य दित्ततिरिएसु।
तिरियनपुंसित्थीसु य, मणुयत्थि-नपुंसगे गुरुगा॥

शौचवादी मनुष्यों तथा अदृप्त तिर्यंच आपात होने पर प्रायश्चित्त है चतुर्लघुक। दृप्त तिर्यंचों का आपात होने पर प्रायश्चित्त है चार गुरुक। तिर्यंच नपुंसक और स्त्री तथा मनुष्य स्त्री-नपुंसकों का आपात होने पर प्रत्येक में चार गुरुक का प्रायश्चित्त आता है।

४२६. मणुय-तिरियपुंसेसुं, दोसु वि लहुगा तवेण कालेण।
कालगुरू तवगुरुगा, दोहिं गुरू अद्धोकंती वा॥

अशौचवादी मनुष्य पुरुष और अदृप्त तिर्यंच पुरुष का आपात होने पर प्रत्येक का प्रायश्चित्त है चार लघुक। यह तप तथा काल से लघु होता है। अशौचवादी मनुष्य स्त्री तथा नपुंसक के आपात से चार गुरुक का प्रायश्चित्त आता है। यह प्रायश्चित्त काल और तप—दोनों से गुरु होता है। अथवा अर्द्धापक्रांति है।[1]

४२७. पागय कोडुंबिय दंडिए य अस्सोय-सोयवादीसु।
चउगुरुगा जमलपया, अहवा चउ छ च्च गुरु-लहुगा॥

प्राकृत, कौटुम्बिक और दंडिक—इनके शौचवादी और अशौचवादी पुरुषों के आपात पर अर्द्धापक्रांति जाननी चाहिए।[2] यमलपद अर्थात् स्त्री-नपुंसक इनके चतुर्गुरुक प्रायश्चित्त जानना चाहिए। अथवा स्त्रियों के आपात पर तप और काल से विशेषित चार गुरुक और नपुंसक के आपात पर तप और काल से विशेषित छह लघु का प्रायश्चित्त जानना चाहिए।

४२८. तिरिएसु वि एवं चिय, अदुगुंछ-दुगुंछ-दित्त-ऽदित्तेसु।
अमणुण्णेयर लहुगो, संजतिवग्गम्मि चउगुरुगा॥

इसी प्रकार जुगुप्सित, अजुगुप्सित, दृप्त, अदृप्त तिर्यंच में अर्द्धापक्रांति—मतान्तर जानना चाहिए। स्वपक्ष के आपात में शोधि इस प्रकार है—अमनोज्ञ संविग्न और असंविग्न के आपात में प्रायश्चित्त है लघुमास और संयतियों के आपात में प्रायश्चित्त है चार गुरुमास।

---

१. कुछेक आचार्यों के मत में वह अर्द्धापक्रांति इस प्रकार है—दृप्ततिर्यंच-नरों के आपात पर तथा मनुष्यों के, गृहस्थों के तथा पाषंडियपुरुषों के आपात पर चारलघुक जो कालगुरुक हों, यह प्रायश्चित्त आता है। अदृप्त तिर्यंच स्त्री-नपुंसक, जो अजुगुप्सित हैं, उनके आपात पर कालगुरुक चारलघुक का प्रायश्चित्त है। उन्हीं दृप्त जुगुप्सित तिर्यंचस्त्री-नपुंसकों के आपात पर तापोगुरुक चारलघुक तथा अशौचवादी मनुष्य स्त्री-नपुंसकों के आपात पर तपोगुरुक चार लघुक का प्रायश्चित्त आता है। (वृ. पृ. १२३,१२४)

२. पागइयऽसोयवादी, पुरिसाणं लहुग दोहि वी लहुगा।
ते चेव य कालगुरू, तेसिं चिय सोयवादीणं॥
ते च्चिय लहु कालगुरू, कोडुंबीणं असोयवादीणं।
तेसिं चिय ते चेव उ, तवगुरुगा सोयवादीणं॥
दंडिय असोय ति च्चिय, सोयम्मि य दोहि गुरुग चउलहुगा।
एस पुरिसाण भणिओ, इत्थि-नपुंसाण वी एवं॥
(वृ. पृ. १२४)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४२९. भद्द तिरी पासंडे, मणुयाऽसोएहिं दोहिं लहु लहुगा।
कालगुरू तवगुरुगा, दोहि गुरू अड्ढोकंति दुगे॥

भद्र अर्थात अदृष्ट तिर्यंच नरों तथा अशौचवादी मनुष्यों और पाषंडियों के आपात होने पर, तप और काल से लघु चार लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। इसी प्रकार शौचवादी मनुष्य स्त्री-नपुंसकों के आपात पर, तप और काल से गुरु चार गुरुमास का प्रायश्चित्त है। शेष अर्थात् तिर्यंच-मनुष्य भेद में दो अर्थात् तप और काल संबंधी अर्द्धापक्रांति जाननी चाहिए। कहीं वह तपोगुरुक और कहीं कालगुरुक होती है।

४३०. अमणुण्णेयरगमणे, वितहायरणम्मि होइ अहिगरणं।
पउरदवकरण दट्ठुं, कुसील सेहादिगमणं च॥

अमनोज्ञ अर्थात् असांभोगिक संविग्न और इतर अर्थात् असंविग्न का गमन–आपात होने पर एक-दूसरे के वितथाचरण को देखकर परस्पर कलह हो सकता है। कुशील अर्थात् पार्श्वस्थ मुनि प्रचुर पानी से शौचशुद्धि करते हैं। यह देखकर शैक्ष तथा शौचवादी मुनि उनके पास जा सकते हैं।

४३१. निग्गंथाणं पढमं, सेसा खलु होंति तेसि पडिकुट्ठा।
दव अप्प कलुस असती, अवण्ण पुरिसेसु पडिसेहो॥

निर्ग्रंथों के लिए प्रथम प्रकार का स्थंडिल जो अनापात-असंलोक रूप है, वह विहित है। शेष तीन प्रकार के स्थंडिल वर्जनीय हैं, प्रतिषिद्ध हैं। पुरुषापात होना संभव हो तो नियमतः अकलुषित प्रचुर पानी ले जाना चाहिए। अन्यथा अल्प पानी अथवा कलुषित पानी अथवा बिना पानी के स्थंडिल गया हो तो वे आगंतुक पुरुष उसे देखकर अवर्णवाद कर सकते हैं। अतः पुरुष के आपात का प्रतिषेध किया गया है।

४३२. आय पर तदुभए वा, संकाईया हवंति दोसा उ।
पंडित्थिसंगगहिते, उड्ढाहो पडिगमणमादी॥

स्त्रियों के तथा नपुंसकों का आपात होने पर स्वविषयक, परविषयक तथा तदुभयविषयक शंका आदि दोष उत्पन्न हो सकते हैं। अथवा वह साधु स्त्री और नपुंसक के साथ मैथुन का सेवन कर सकता है। किसी के द्वारा देखे जाने पर प्रवचन का उड्डाह होता है तथा वह मुनि भी लज्जित होकर श्रमणधर्म से प्रतिगमन कर देता है, गृहस्थ बन जाता है।

४३३. आहणणादी दित्ते, गरहियतिरिएसु संकमादीया।
एमेव य संलोए, तिरिए वज्जित्तु मणुएसु॥

दृप्त तिर्यंच के आपात से आहनन आदि दोष होते हैं और गर्हित तिर्यंचों के आपात पर शंका आदि दोष उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार तिर्यग्योनिक को छोड़कर मनुष्य–स्त्री, पुरुष, नपुंसकों के संलोक में भी आपातवत् दोष होते हैं।

४३४. जत्थऽम्हे पासामो, जत्थ य आयरइ नातिवग्गो णे।
परिभव कामेमाणो, संकेयगदिन्नको वा वि॥

जहां हम उस आने वाले को देखते हैं और जहां हमारा ज्ञातिवर्ग शौचार्थ आता-जाता है, वहां हमारा परिभव करने की इच्छा से अथवा किसी के द्वारा संकेत को प्राप्त कर वह वहां आता है।

४३५. कलुस दवे असतीय व, पुरिसालोए हवंति दोसा उ।
पंडित्थीसु वि य तहा, खद्धे वेउव्विए मुच्छा॥

शौचार्थ कलुषित पानी अथवा पानी के न होने पर पुरुष का आलोक-संलोक होने पर अवर्ण आदि दोष होते हैं। तथा नपुंसक और स्त्री का संलोक होने पर मुनि की जननेन्द्रिय को स्थूल अथवा वातदोष से स्वाभाविक रूप से स्तब्ध देखकर, स्त्री या नपुंसक में कामाभिलाषा रूप मूर्च्छा के कारण मुनि के लिए उपसर्ग पैदा कर सकती है।

४३६. आयसमुत्था तिरिए, पुरिसे दव कलुस असति उड्ढाहो।
आयोभय इत्थीसुं, अतिंतिणिंते य आसंका॥

तिर्यंच के आपात पर आत्म-समुत्थ दोष होते हैं। मनुष्य के आपात पर कलुषित पानी या पानी के न होने पर उड्डाह होता है। स्त्री तथा नपुंसक के आने-जाने पर आत्मदोष, परदोष तथा उभयदोष, आशंका आदि होते हैं।

४३७. आवायदोस तइए, बिइए संलोयतो भवे दोसा।
ते दो वि नत्थि पढमे, तहिं गमणं तत्थिमा मेरा॥

तीसरे प्रकार के स्थंडिल में आपातदोष तथा दूसरे प्रकार के स्थंडिल में संलोकदोष होते हैं। ये दोनों प्रकार के दोष प्रथम प्रकार के स्थंडिल में नहीं होते। वहां जाने की यह मर्यादा है।

४३८. कालमकाले सन्ना, कालो तइयाएँ सेसगमकालो।
पढमा पोरिसि आपुच्छ पाणगमपुप्फिअण्णदिसिं॥

संज्ञा के दो प्रकार हैं–काल में होने वाली संज्ञा और अकाल में होने वाली संज्ञा। तीसरे प्रहर में होने वाली संज्ञा काल संज्ञा है और शेष सारी अकाल संज्ञा हैं। यदि प्रथम प्रहर में संज्ञाभूमी में जाना पड़े तो अपुष्पित–स्वच्छ पानी लेकर, स्थंडिल की दिशा में न जाकर उपाश्रय में आए और गुरु की आज्ञा लेकर संज्ञाभूमी में जाए।

४३९. अतिरेगगहणमुग्गाहियम्मि आलोय पुच्छियं गच्छे।
एसा उ अकालम्मी, अणहिंडिय हिंडिए काले॥

संज्ञाभूमी में जाते समय मुनि पात्र में एक और मुनि के काम आए उतना अधिक पानी लेकर गुरु के पास ईर्यापथ की आलोचना कर, गुरु को पूछकर, संज्ञाभूमी में जाए। यह अकाल संज्ञा की विधि है। काल संज्ञा की विधि यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है—तीसरे प्रहर में जब तक भिक्षा वेला नहीं होती तब तक बिना भिक्षा के लिए गए वह संज्ञाभूमी में जाए। भिक्षा के लिए घूमकर भी जब तक चौथा प्रहर नहीं आता तब तक वह संज्ञाभूमी में जाए। चिरकाल तक घूमते रहने के कारण चौथे प्रहर में भी वह संज्ञाभूमी में जा सकता है।

४४०. कप्पेऊणं पाए, एक्केक्कस्स उ दुवे पडिग्गहगे।
दाउं दो दो गच्छे, तिण्हट्ठ दवं च घेत्तूणं॥

पात्रों को पोंछकर एक-एक संघाटक को दो-दो पात्र दे दे। दो-दो मुनि संज्ञाभूमी में जाएं। वे उतना पानी ले जाए कि तीसरे मुनि के लिए भी काम आ जाए।

४४१. अजुयलिया अतुरिया, विगहारहिया वयंति पढमं तु।
निसिइत्तु डगलगहणं, आवडणं वच्चमासज्जा॥

जो मुनि युगलरूप में स्थित नहीं हैं, जिनके कोई त्वरा नहीं है, जो विकथा न करते हुए स्थित हैं, वे प्रथम अर्थात् अनापात-असंलोक वाले स्थंडिल में जाएं। शौचार्थ बैठकर डगलक ग्रहण कर, उन्हें भूमी पर पटके (जिससे कि उनमें प्रविष्ट जीव-जंतु निकल जाएं)। डगलकों का प्रमाण मल से खरंडित घृत-निर्लेपन के आधार पर होता है।

४४२. आलोइऊण य दिसा, संडासगमेव संपमज्जित्ता।
पेहिय पमज्जिएसु य, जयणाए थंडिले निसिरे॥

संज्ञाभूमी में दिशा का अवलोकन करे—आपात और संलोक की जानकारी के लिए चारों ओर देखे। पश्चात् संडासक—मल-विसर्जन स्थान की प्रतिलेखना करे। फिर प्रेक्षित और प्रमार्जित भूमी-प्रदेश में यतनापूर्वक मलत्याग करे।

४४३. अणावायमसंलोए, परस्स अणुवघातिए।
समे अज्झुसिरे यावि, अचिरकालकयम्मि य॥
४४४. विच्छिन्ने दूरमोगाढेऽनासन्ने बिलवज्जिए।
तसपाण-बीयरहिए, उच्चारादीणि वोसिरे॥

मुनि अनापात-असंलोक, दूसरों के लिए अनौपघातिक, समतल, अशुषिर, अचिरकालकृत, विस्तीर्ण, दूरावगाढ, अनासन्न, बिलवर्जित, त्रसप्राणियों तथा बीजरहित—इस प्रकार के स्थंडिल में उच्चार-प्रस्रवण आदि का विसर्जन करे।

४४५. एग-दु-ती-चउ-पंचग-छग-सत्तग-अट्ठ-नवग-दसगेहिं।
संजोगा कायव्वा, भंगसहस्सं चउव्वीसं॥

एक, दो, तीन, चार, पांच, छह, सात, आठ, नौ और दश—इनका संयोग करना चाहिए। उनके कुल भंग १०२४ होते हैं।

(स्थापना यह है—

१०	९	८	७	६	५	४	३	२	१
१	५	१५	३०	४२	४२	३०	१५	५	१

दस को १ से, नौ को ५ से, आठ को १५ से, सात को ३० से, छह को ४२ से, पांच को ४२ से, चार को ३० से, तीन को १५ से, दो को ५ से और एक को १ से। इनकी कुल जोड़ रूपाधिक के आधार पर १०२४ होती है।)

४४६. आया पवयण संजम, तिविहं उवघातियं मुणयव्वं।
आराम वच्च अगणी, घायादऽसुती य अन्नत्थ॥

औपघातिक स्थंडिल के तीन प्रकार जानने चाहिए—आत्मोपघाती, प्रवचनोपघाती और संयमोपघाती।

आत्मोपघाती अर्थात् आराम (बगीचा, उद्यान आदि) में मलत्याग करने पर स्वयं का घात—पिट्टन आदि होता है। प्रवचनोपघाती अर्थात् वर्चोगृह में मलत्याग करने पर, वह स्थान अशुचि होने के कारण लोग प्रवचन का उड्डाह करते हैं। संयोपघाती अर्थात् अग्निस्थान में व्युत्सर्ग करना। वहां मलत्याग करने पर अग्नि का प्रारंभ करने वाले अन्यत्र अग्निस्थान करते हैं।

४४७. विसम पलोट्टणि आया, इयरस्स पलोट्टणम्मि छक्काया।
झुसिरम्मि विच्छुगादी, उभयक्कमणे तसादीया॥

विषम स्थंडिल के ये दोष हैं—मुनि विषम स्थंडिल स्थान में गिर सकता है। इससे आत्मविराधना होती है। मल-मूत्र के गिरने-बहने से छह काय की विराधना होती है। यह संयम-विराधना है। झुषिर स्थंडिल में व्युत्सर्ग करने पर बिच्छु, सर्प आदि से आत्मविराधना हो सकती है। मल-मूत्र—दोनों के अतिक्रमण से त्रस-स्थावर प्राणियों की विराधना होती है। यह संयमविराधना है।

४४८. जे जम्मि उउम्मि कया, पयावणादीहिं थंडिला ते उ।
होंति इयरे चिरकया, वासावुत्थे य बारसगं॥

जो स्थंडिल जिस ऋतु में अग्नि, धूप आदि के योग से किये जाते हैं वे उस ऋतु के अचिरकालकृत होते हैं। जैसे हेमन्त ऋतु में किया गया स्थंडिल हेमन्त ऋतु में ही अचिरकालकृत होता है। दूसरे ऋत्वन्तरव्यवहित स्थंडिल चिरकालकृत हैं, वे अस्थंडिल होते हैं। जहां सगोचरग्राम एक वर्षारात्र तक उजड़ जाता है, वहां बारह वर्ष तक स्थंडिल जाना जाता है। उसके पश्चात् वह अस्थंडिल हो जाता है।

४४९. हत्थायामं चउरस, जहण्ण उक्कोस जोयणविछक्कं।
चउरंगुलप्पमाणं, जहण्णयं दूरमोगाढं॥

जो स्थंडिल चारों दिशाओं में एक हाथ लंबा-चौड़ा है वह जघन्य विस्तीर्ण स्थंडिल है और जो बारह योजन लंबा-चौड़ा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, वह उत्कृष्ट विस्तीर्ण है। जो नीचे चार अंगुल प्रमाण गहरा है। (अचित्त भूमीवाला है) वह जघन्य दूरावगाढ स्थंडिल है और जो इससे अधिक गहरा है वह उत्कृष्ट दूरावगाढ है।

४५०. दव्वासन्नं भवणाइयाण तहियं तु संजमा-ऽऽयाए।
आया-पवयण-संजमदोसा पुण भावमासन्ने॥

आसन्न स्थंडिल के दो प्रकार हैं—द्रव्यतः आसन्न स्थंडिल है भवन, देवकुल, ग्राम, पथ, वृक्ष आदि के निकट। वहां शौचक्रिया करने से संयमविराधना और आत्मविराधना—दोनों होती हैं।

भावतः आसन्न स्थंडिल का तात्पर्य है—उत्सर्ग की बाधा होने पर जब तक वह उसे रोक सके तब तक रोके। रोकने में असमर्थ हो तो भवन आदि के पास उत्सर्ग करे। इससे आत्मविराधना, संयमविराधना तक प्रवचन का उपघात भी हो सकता है।

४५१. होंति बिले दो दोसा, तसेसु बीएसु वा वि ते चेव।
संजोगतो य दोसा, मूलगमा होंति सविसेसा॥

बिलों में मल-विसर्जन करने पर दो दोष होते हैं—आत्म-विराधना और संयमविराधना। इसी प्रकार त्रसकाय और बीजों से आक्रांत भूमी पर व्युत्सर्ग करने पर ये ही दो दोष होते हैं। 'मूलगम' अर्थात् एककसंयोग से द्विक-त्रिक आदि पदों के संयोग से 'सविशेष' अर्थात् बहु-बहुतरक दोष होते हैं। जैसे—द्विकसंयोग से दुगुना, त्रिकसंयोग से त्रिगुना, इसी प्रकार दस के संयोग से दस गुना दोष होते हैं।

४५२. मंथम्मि य आलोए, झुसिरम्मि तसेसु चेव चउलहुगा।
पुरिसावाए य तहा, तिरियावाए य ते चेव॥

मार्ग के पास, पुरुषों के देखते हुए, शुषिर स्थान में, त्रसाकुल स्थान में व्युत्सर्ग करने पर चार लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। इसी प्रकार पुरुषों के आपात तथा सर्वतिर्यग्नरापात वाले स्थान पर व्युत्सर्ग करने पर चार लघुमास का प्रायश्चित्त विहित है।

४५३. इत्थि-नपुंसावाए, भावासन्ने बिले य चउगुरुगा।
पणगं लहुयं गुरुगं, बीए सेसेसु मासलहुं॥

स्त्रियों तथा नपुंसकों के आपात वाले स्थंडिल में, भावासन्न तथा बिल वाले स्थंडिल में व्युत्सर्ग करने पर प्रत्येक के चार गुरुमास का, प्रत्येक काय बीजसंकुल स्थान पर व्युत्सर्ग करने पर लघु पांच दिनरात का अर्थात् तप और काल से लघु तथा अनन्तकाय बीजसंकुल पर उत्सर्ग करने पर गुरु प्रायश्चित्त विहित है—पांच दिनरात तप तथा काल से गुरु। शेष अशुद्ध स्थंडिल पर मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

४५४. अपमज्जणा अपडिलेहणा य दुपमज्जणा दुपडिलेहा।
तिय मासिय तिय पणगं, लहु काल तवे चरिम सुद्धो॥

जो मुनि उत्सर्ग करने के लिए संज्ञाभूमी में जाकर स्थान का प्रतिलेखन और प्रमार्जन नहीं करता उसके मासलघु, तपोगुरु और काललघु का प्रायश्चित्त आता है। जो प्रतिलेखन नहीं करता, प्रमार्जन करता है उसे लघुमास, कालगुरु और तपोलघु का, जो प्रमार्जन नहीं करता, प्रतिलेखन करता है उसे लघुमास, जो तप और काल से लघु होता है, यह प्रायश्चित्त विहित है। उपरोक्त तीन स्थानों में काल और तप से विशेषित लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। इसी प्रकार—

- दुष्प्रत्युपेक्षित और दुष्प्रमार्जित स्थंडिल होने पर पांच रात-दिन लघु—तपोगुरु और काललघु।
- दुष्प्रत्युपेक्षित और सुप्रमार्जित स्थंडिल—पांच रात-दिन लघु—तपोलघु और कालगुरु।
- सुप्रत्युपेक्षित और दुष्प्रमार्जित स्थंडिल—पांच रात-दिन लघु तप और काल—दोनों से लघु।

इन सब में 'चरम' अर्थात् सुप्रत्युपेक्षित और सुप्रमार्जित स्थंडिल शुद्ध होता है।

४५५. खुड्डो धावण झुसिरे, तिक्खुत्तो अपडिलेहणा लहुगो।
घर-वावि-वच्च-गोवय-ठिय-मल्लगछड्डणे लहुगा॥

ऐसा स्थंडिल जहां विसर्जित थोड़ा मल-मूत्र बह जाता है, जो शुषिर हो, तीन प्रकार के जो अप्रत्युपेक्षित आदि स्थंडिल हों, वहां मल-मूत्र विसर्जित करने पर प्रत्येक के लिए लघुमास का प्रायश्चित्त है। तथा घर में, वापी में, वर्चोगृह अथवा मल के ऊपर, गोष्पद में, खड़े-खड़े उत्सर्ग करने में, मल्लक में व्युत्सर्ग कर परिष्ठापन करने में—इन सबमें प्रत्येक के लिए प्रायश्चित्त है चार-चार लघुमास का।[1]

४५६. दिसि-पवण-गाम-सूरिय-छायाएँ पमज्जिऊण तिक्खुत्तो।
जस्सुग्गहो त्ति काऊण वोसिरे आयमे वा वि॥

शौचार्थ गया हुआ मुनि उत्तर और पूर्व दिशा की ओर पीठ कर न बैठे। जिस ओर हवा चल रही है उस ओर तथा गांव और सूर्य की ओर पीठ कर न बैठे। छाया में व्युत्सर्ग करे तथा स्थंडिल का तीन बार प्रमार्जन-प्रत्युपेक्षण कर व्युत्सर्ग करे। जिसका अवग्रह हो उसकी अनुज्ञा लेकर व्युत्सर्ग और आचमन करे।

४५७. उत्तर पुव्वा पुज्जा, जम्माएँ निसीयरा अभिवडंति।
घाणारसा य पवणे, सूरिय गामे अवन्नो उ॥

लोक में उत्तर और पूर्व दिशा पूज्य मानी जाती है। अतः

१. यह गाथा अन्य आचार्य की परिपाटी की सूचक है। यह मतान्तर है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिन और रात में उस ओर पीठ कर शौच क्रिया न करे। दक्षिण दिशा में रात्री में निशाचर देव आते-जाते हैं। अतः रात्री में उस ओर पीठ कर शौच क्रिया न करे। जिस ओर पवन चल रहा हो उसे ओर पीठ कर बैठने पर अशुभ गंध से नाक में अर्श आदि हो सकते हैं, इसलिए पवन की ओर भी पीठ नहीं करनी चाहिए। शौच के समय सूर्य और गांव की ओर पीठ करने से लोगों में अवर्णवाद होता है।

४५८. संसत्तग्गहणी पुण, छायाए निग्गयाएँ वोसिरइ।
छायाऽसति उण्हम्मि वि, वोसिरिय मुहुत्तगं चिट्ठे॥

जिस मुनि की कुक्षि कृमियों से संसक्त है, वह मुनि वृक्ष आदि की छाया में उत्सर्ग क्रिया करे। वृक्ष की छाया के अभाव में मुनि अपने शरीर की छाया में व्युत्सर्ग करे और 'मुहूर्तक' अर्थात् कुछ समय तक वहीं बैठा रहे। (इतने समय में वे कृमि अपने स्वाभाविक योग से परिणत हो जाते हैं, अन्यथा महान् संताप होता है।)

४५९. उवगरणं वामगऊरुगम्मि मत्तो य दाहिणे हत्थे।
तत्थऽण्णत्थ व पुंसे, तिहिं आयमणं अदूरम्मि॥

मल का उत्सर्ग करता हुआ मुनि अपने उपकरणों को कैसे धारण करे? वह उपकरण अर्थात् दंडक और रजोहरण को वामऊरु–बांई जांघ पर स्थापित करे, मात्रक को दाहिने हाथ में तथा डगलकों को बांएं हाथ में रखे। संज्ञा से निवृत्त होकर, निकट के अन्यत्र प्रदेश में पुतों को डगलकों से पूंछे, फिर वहीं तीन चुल्लुक पानी से आचमन करे।

४६०. आलोगं पि य तिविहं, पुरिसि-त्थि-नपुंसकं च बोधव्वं।
लहुगा पुरिसालोए, गुरुगा य नपुंस-इत्थीसु॥

आलोक भी तीन प्रकार का होता है–पुरुषालोक, स्त्री-आलोक, नपुंसकालोक। इनका प्रायश्चित्त इस प्रकार है–पुरुषालोक चारलघुमास, स्त्रीआलोक और नपुंसकालोक चार-चार गुरुमास।

४६१. छक्काय चउसु लहुगा, परित्त लहुगा य गुरुग साहारे।
संघट्टण परियावण, लहु गुरुगऽतिवायणे मूलं॥

छह कायों में से चार काय–पृथ्वी, अप्, तेजो और वायु तथा परित्त वनस्पतिकाय का संघट्टन होने पर लघुमास, साहार–अनन्तवनस्पति काय के संघट्टन में गुरु, द्वीन्द्रिय आदि के संघट्टन में लघु और परितापन में गुरु और इनका अतिपात होने पर मूल।[1]

४६२. पढमिल्लुगस्स असती, वाघातो वा इमेहिं ठाणेहिं।
पडिणीय तेण वाले, खेत्तुदग निविट्ठ थी अपुमं॥

प्रथम लक्षण वाले स्थंडिल अर्थात् अनापात-असंलोक लक्षण वाले स्थंडिल का अभाव हो अथवा उसके होने पर भी इन स्थानों–कारणों से व्याघात हो–वहां प्रत्यनीक बैठा हो। मार्ग में चोरों का भय हो, व्याल–सर्प आदि की संभावना हो, किसी ने वहां खेत बना दिया हो, वहां पानी भर गया हो, वहां स्कंधावार आदि निविष्ट हो, स्त्री-नपुंसक वहां उपस्थित हों। तो मुनि उस स्थंडिल की वर्जना करे।

४६३. पढमासति वाघाए, पुरिसालोगम्मि होति जयणाए।
मत्तग अपमज्जण डगल कुरुअ तिविहे दुविहभेदो॥

प्रथम लक्षणवाले स्थंडिल के अभाव में अथवा वहां व्याघात होने पर मुनि दूसरे प्रकार के स्थंडिल अर्थात अनापात-संलोक में जाए। पुरुषों का संलोक हो, वहां जाए और आचमन आदि यतनापूर्वक करे। प्रत्येक मुनि पात्र लेकर जाए और डगलकों से प्रमार्जन न करे और आचमन के पश्चात् कुरुकुच (मिट्टी से हाथ धोना) करे। **'त्रिविधे प्रत्येकं द्विविधो भेदः'**–इसका तात्पर्य है कि परपक्ष तीन प्रकार का है–पुरुष, स्त्री, नपुंसक। प्रत्येक के दो-दो प्रकार हैं–शौचवादी, अशौचवादी अथवा श्रावक, अश्रावक। अथवा तीन प्रकार–स्थविर, मध्यम, तरुण अथवा प्राकृत, कौटुम्बिक, दंडिक। ये पुरुषों के भेद हैं। इसी प्रकार स्त्री-नपुंसक के भी भेद ज्ञातव्य हैं।

४६४. तेण परं पुरिसाणं, असोयवादीण वच्च आवायं।
इत्थि-नपुंसालोए, परम्मुहो कुरुकुया सा य॥

सामान्य पुरुषालोक वाले स्थंडिल के अभाव में अशौचवादी पुरुषालोक वाले स्थंडिल में जाए। इसके भी अभाव में स्त्री-नपुंसकालोक वाले स्थंडिल में जाए। वहां वह पराङ्मुख बैठे और कुरुकुच आदि की पूर्ववत् यतना करे।

४६५. तेण परं आवायं, पुरिसेयर-इत्थियाण तिरियाणं।
तत्थ वि य परिहरेज्जा, दुगुंछिए दित्तऽदित्ते य॥

उपरोक्त प्रकारों के स्थंडिलों के अभाव में मुनि तिर्यंच नर-मादा और नपुंसकों के आपात वाले स्थंडिल में जा सकता है। उनमें भी जुगुप्सित, दृप्त और अदृप्त तिर्यंचों का वर्जन करें।

४६६. तत्तो इत्थि-नपुंसा, तिविहा तत्थ वि असोयवाईणं।
तहियं च सद्दकरणं, आउलगमणं कुरुकुया य॥

अथवा स्त्री-नपुंसकों के आपात वाले स्थंडिल में जाए। वे स्त्री नपुंसक तीन प्रकार के होते हैं–प्राकृत, कौटुम्बिक और दंडिक। प्रत्येक के दो-दो प्रकार हैं–शौचवादी, अशौचवादी। इनमें से पहले अशाचवादी आपात वाले स्थंडिल में जाए। वहां शब्द करते हुए, आकुल-व्याकुल होते हुए जाएं और कुरुकुच आदि करे।

१. वृत्तिकार ने इस प्रायश्चित्त विषयक विस्तार से चर्चा की है और इनके निरंतर आठ दिन तक होने वाले व्याघात से प्रायश्चित्त की वृद्धि का भी उल्लेख किया है। (वृ. पृ. १३४,१३५)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४६७. इत्थि-नपुंसावाते, जा उण जयणा उ मत्तगादीया।
पुरिसावाए जयणा, स च्चेव उ मत्तगादीया॥

स्त्री और नपुंसकापात वाले स्थंडिल विषयक मात्रक आदि की यतना जो कही है वही यतना पुरुषापात विषयक है। मात्रक की यतना पूर्ववत् है।

४६८. अच्चित्तेणं मीसं, मीसं मीसेण छक्कमीसेणं।
सच्चित्तछक्कएणं, मीसे चउभंगिग पदेसे॥

(अचित्त स्थंडिल के ये प्रकार हैं–(१) अचित्त मार्ग से प्राप्य (२) मिश्र मार्ग से प्राप्य (३) सचित्त मार्ग से प्राप्य।)

मिश्र स्थंडिल अचित्त मार्ग से गंतव्य। उसके अभाव में षट्कायमिश्र मार्ग से गंतव्य। उसके अभाव में षट्कायसचित्त मार्ग से गंतव्य। मात्रक न होने पर संज्ञा के उत्सर्गकाल में अथवा परिष्ठापनकाल में धर्मास्तिकाय आदि प्रदेशों की निश्रा लेकर उत्सर्ग करे।

४६९. अच्चित्तेण सचित्तं, मीसेण सचित्त छक्कमीसेण।
सच्चित्त छक्कएणं, सचित्त चउभंगिय पदेसे॥

(सचित्त स्थंडिल भी चार प्रकार का है। उसमें सबसे पहले अनापात-असंलोक में जाए। उसके अभाव में दूसरे में, उसके अभाव में तीसरे में और उसके अभाव में चौथे में।)

इनमें सबसे पहले अचित्त मार्ग से जाए। उसके अभाव में सचित्तमिश्र अर्थात् षट्कायमिश्र मार्ग से जाए। उसके अभाव में षट्जीवनिकाय सचित्त मार्ग से जाए। इसमें भी मात्रक की यतना करनी चाहिए। मात्रक के अभाव में धर्मास्तिकाय आदि प्रदेशों की निश्रा में व्युत्सर्ग करे।

४७०. पढिय सुय गुणियमगुणिय, धारमधार उवउत्तो परिहरति।
आलोयाऽऽयरियादी, आयरिओ विसोहिकारो से॥

जिसने समसप्तकादि सूत्र पढ़ा है, पाठ को जिसने सुना है, अर्थ से जिसने गुणित–अभ्यस्त किया है अथवा अगुणित है, धारित है अथवा अनवधारित, फिर भी जो उपयुक्त होकर स्थंडिल का उपभोग करता है वह स्थंडिल-कल्पिक होता है। इस विषयक विराधना की वह आचार्य आदि के पास आलोचना करता है। आचार्य उसके विशोधिकारक होते हैं। उसे प्रायश्चित्त देकर शुद्ध कर देते हैं।

४७१. अप्पत्ते अकहित्ता, अणहिगयऽपरिच्छणे य चउगुरुका।
दोहि गुरू तवगुरुगा, कालगुरू दोहि वी लहुगा॥

आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कंध के छठे अध्ययन 'पात्रैषणा' को अप्राप्त अर्थात् अनधीत शिष्य को पात्र-लेप लाने के लिए प्रेषित करने पर उसे चार गुरुक का प्रायश्चित्त आता है। दो से गुरु अर्थात् तपोगुरुक और कालगुरुक। सूत्र को प्राप्त है, परंतु अर्थ का कथन नहीं हुआ है, अर्थ के कह देने पर भी उसका अधिगत–हृदयंगम नहीं किया है, अथवा अधिगत होने पर भी उस पर सम्यक् श्रद्धा है या नहीं, यह परीक्षा किए बिना भेजने पर, प्रत्येक अर्थात् अकथन, अनधिगत और अपरीक्षण के लिए चार लघुक का प्रायश्चित्त आता है–दो से लघु अर्थात् तपोलघुक और काललघुक।

४७२. अज्जक्कालिय लेवं, वयंति अवियाणिऊण सब्भावं।
ते वत्तव्वा लेवो, दिट्ठो तेलोक्कदंसीहिं॥

कुछेक मुनि प्रवचन के सद्भाव–रहस्य को जानते हुए यह कहते हैं कि पात्रलेप की बात अद्यकालिक है, प्राचीन नहीं है। उनको कहना चाहिए, त्रैलोक्यदर्शियों ने पात्रलेप देखा है।

४७३. आया पवयण संजम, उवधाओ दिस्सए जओ तिविहो।
तम्हा वयंति केई, न लेवगहणं जिणा बेंति॥

लेपग्रहण में तीन प्रकार का उपघात देखा जाता है–आत्मोपघात, प्रवचनोपघात तथा संयमोपघात। इसलिए कुछेक कहते हैं–जिनेश्वरदेव लेपग्रहण की बात नहीं कहते।

४७४. रहपडण उत्तमंगादिभंजणा घट्टणे य करघातो।
अह आयविराहणया, जक्खुल्लिहणे पवयणम्मि॥

४७५. गमणाऽऽगमणे गहणे, तिट्ठाणे संजमे विराहणया।
महि सरि उम्मुग हरिया, कुंथू वासं रयो व सिया॥

रथ आदि से गिरने पर शिर आदि शरीर के अवयव टूट जाते हैं। इसी प्रकार लेपयुक्त पात्र के घट्टन से हाथ में पीड़ा होती है–यह आत्मविराधना है। यक्ष अर्थात् कुत्ते अनेक बार शकट के अक्ष को चाटते हैं, उसी प्रकार साधु लेप को ग्रहण कर भोजनयोग्य पात्र के लगाता है। यह प्रवचनोपघात है। तीन स्थानों में संयमोपघात होता है–लेपग्रहण के लिए जाने में, लौटकर वसति में आने पर तथा लेपग्रहण करते समय। गमनागमन में सचित्त पृथ्वीकाय की विराधना, नदी के कारण अप्काय की विराधना, मार्ग में उल्मुक (अलात) के संघट्टन में अग्निकाय की विराधना, हरित्काय की विराधना, लेप में कुंथु आदि के लगने से त्रसकाय की विराधना, वर्षा हो रही हो, रजोपतन हो रहा हो–ये सारी विराधनाएं होती हैं।[1]

---

१. जिज्ञासु कहता है, जिस प्रकार भगवान् ने पिंडैषणा, पात्रैषणा का कथन किया है, वैसे स्पष्टतः कहीं भी लेपैषणा का उल्लेख नहीं है। क्योंकि इसमें आत्मोपघात, संयमोपघात और प्रवचनोपघात–तीनों उपघात होते हैं। आचार्य कहते हैं–ऐसे कहना उचित नहीं है। जिनेश्वरदेव ने लेप का कथन अर्थतः किया है। पात्रैषणा में तीन प्रकार के पात्र बतलाए हैं–यथाकृत, अल्पपरिकर्म, सपरिकर्म। अल्पपरिकर्म और सपरिकर्म पात्र लेप के बिना नहीं होते। अतः अर्थ के आधार पर लेप की बात स्वतः प्राप्त होती है। ओघनिर्युक्ति में भी लेपैषणा का विस्तार से वर्णन है। (वृ. पृ. १४०)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४७६. दोसाणं परिहारो, चोयग जयणाए कीरए तेसिं।
पाते उ अलिप्पंते, ते दोसो होंतऽणेगगुणा॥

हे शिष्य! लेप के संबंध में तुमने जो दोष बतलाए हैं, उनका परिहार यतना से किया जाता है। पात्र पर लेप न लगाने से वे दोष अनंतगुना अधिक होते हैं। जैसे–

४७७. उड्ढादीणि उ विरसम्मि भुंजमाणस्स होंति आयाए।
दुग्गंधि भायणं ति य, गरहति लोगो पवयणम्मि॥
४७८. पवयणघाया अन्ने, वि अत्थि ते उ जयणाए कीरंति।
आयमणभोयणाई, लेवे तव मच्छरो को णु॥

अलेपकृत पात्र विरस होता है। उसमें भोजन करने से वमन, अरुचि आदि आत्मसंबंधी दोष होते हैं। दुर्गंधयुक्त पात्र को देखकर लोग गर्हा करते हैं। यह प्रवचनोपघात है। इसी प्रकार दूसरे अनेक प्रवचनोपघाती दोष होते हैं। उनका परिहार यतनापूर्वक किया जाता है। आचमन-अनाचमन, मंडली में पात्र में भोजन करना आदि भी प्रवचन के घात करने वाले दोष हैं। उनका उपयुक्त परिहार होना है। तो शिष्य! लेप के ग्रहण आदि में यतनापूर्वक व्यवहार करने पर तुम्हारा क्यों मात्सर्यभाव है? यह उचित नहीं है।

४७९. खंडम्मि मग्गियम्मी, लोणे दिन्नम्मि अवयवविणासो।
अणुकंपादी पाणम्मि होति उदगस्स उ विणासो॥

एक मुनि अलेपित पात्र को लेकर भिक्षा के लिए गया और गृहिणी से 'खंड' (शक्कर) की याचना की। गृहिणी ने भ्रांति-वश नमक दे डाला। उस पात्र के कुछ अवयव अभी तक अम्ल थे। अम्ल के साथ लवण का स्पर्श होने पर पृथ्वी-कायरूप लवण के जीवों का विनाश हो गया। किसी मुनि ने पानक की याचना की। गृहिणी ने अनुकंपावश अथवा अज्ञान-वश उस पात्र में पानी दिया। अम्ल अवयव के स्पर्श से उदक का भी विनाश हो गया।

४८०. पूयलियलग्ग अगणी, पलीवणं गाममादिणं होज्जा।
रोट्टपणगा तरुम्मिं, भिगु-कुंथादी य छट्ठम्मि॥

अलेपकृत पात्र में गृहस्थ ने मुनि को पूपलिका दी। उसके नीचे अंगारा (अग्नि) लगा हुआ था। उससे पात्र जलने लगा। ताप के कारण वह पात्र साधु के हाथ से छूटा और एक बाड़ पर जा गिरा। बाड़ में आग लग गई। उससे गांव आदि का दहन हो सकता है। इससे महान् अग्निकाय की विराधना होती है।

गृहिणी ने वैसे पात्र में रोट्ट दिया। पात्र के अम्ल अवयवों के स्पर्श से वह प्राणापहारी हो जाता है। सूक्ष्म तरारों में 'पनक' आदि वनस्पति का सम्मूर्छन होता है। उस रोट्ट के परिष्ठापन से पनक के जीव विनष्ट हो जाते हैं। यह 'तरु' अर्थात् वनस्पतिकाय की विराधना है। भृगु अर्थात् सूक्ष्म तरारों में कुंथु आदि त्रस जीव भी उत्पन्न होते हैं। वे अम्लावयव स्पष्ट अन्नपान से नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार छठीकाय अर्थात् त्रसकाय की भी विराधना होती है।

(इस प्रकार पात्र के अलेपन से छहों जीवनिकाय की विराधना होती है।)

४८१. पायग्गहणम्मि उ देसियम्मि लेवेसणा वि खलु वुत्ता।
तम्हा उ आणणा लिंपणा य लेवस्स जयणाए॥

भगवान् ने पात्रग्रहण की अनुज्ञा दी है तो लेपैषणा की भी अनुज्ञा जान लेनी चाहिए। इसलिए लेप का आनयन और पात्र पर उसका लिंपन यतनापूर्वक करने में कोई दोष नहीं है।

४८२. हत्थोवघाय गंतूण लिंपणा सोसणा य हत्थम्मि।
सागारिए पभू जिंघणा य छक्कायजयणाए॥

शिष्य ने तर्क प्रस्तुत किया कि लेप को लाने समय भार के कारण हस्तोपघात होता है तो वहीं जाकर पात्र पर लेप करना चाहिए। और उस लेपित पात्र को हाथ में रखकर सुखाना चाहिए। (इनका उत्तर आगे दिया जाएगा।) लेप लाने के लिए जाते समय शय्यातर का शकट देखकर यह सागारिक–शय्यातर का पिंड है–यह सोचकर उसका वर्जन नहीं करना चाहिए। शकट के प्रभु की अथवा प्रभु-संदिष्ट व्यक्ति की अनुज्ञा लेकर उस लेप के कटुगंध की जानकारी के लिए उसे सूंघे। फिर षट्काय की यतनापूर्वक उसको ग्रहण करे। (इसकी व्याख्या आगे की गाथाओं में।)

४८३. चोयगवयणं गंतूण लिंपणा आणणे बहू दोसा।
संपातिमादिघातो, अहिउस्सग्गो य गहियम्मि॥

शिष्य कहता है–शकट के पास जाकर पात्र पर लेपन करना चाहिए। क्योंकि लेप के आनयन में अनेक दोष होते हैं। जैसे–भार से हस्तोपघात, संपातिम जीवों के पड़ने से उनका उपघात तथा अधिक लेप ग्रहण कर लेने पर उसके परिष्ठापन का दोष।[1]

४८४. एवं पि भाणभेदो, वियावडे अत्तणो उ उवघाओ।
निस्संकियं च पायम्मि गिण्हणे इयरहा संका॥

आचार्य ने कहा–शिष्य! इस प्रकार करने पर खड़े-खड़े लेपन में व्यापृत होने पर हाथ से भाजन नीचे गिर कर टूट सकता है। शकट के कारण आत्मोपघात भी हो सकता है।

१. कहा है–भारे हत्थुवघातो, तत्थ य संपादिणो पडंते य।
पारिट्ठावणिदोसो, अहिगम्मि य होइ अणीए॥ (बृ. पृ. १४२)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेप को पात्र में लेकर वहीं लगाने पर देखने वालों को यह निःशंकित हो जाता है कि ये मुनि अशुचिमय लेप से भोजन के भाजन को लिप्त करते हैं। अन्यथा लेप को शराव आदि में लेने से लोगों को केवल शंका हो सकती है कि लेप का ग्रहण पात्र के लिए अथवा पैर आदि पर पट्टी बांधने के लिए ले जा रहे हों।

४८५. जइ वा हत्थुवघाओ, आणिज्जंतम्मि होइ लेवम्मि।
पडिलेहणादि चेट्ठा, तम्हा उ न काइ कायव्वा॥

यदि लेप को लाने में हस्तोपघात होता है तो प्रतिलेखन आदि क्रियाओं में भी हस्तोपघात होता है तो वे क्रियाएं नहीं करनी चाहिए। किन्तु उन क्रियाओं से अनेक गुण संभव होते हैं, अतः वे अवश्य करणीय होती हैं।

४८६. जति नेवं तो पुणरवि, आणेउं लिंपिऊण हत्थम्मि।
अच्छति धारेमाणो, सद्दवनिक्खेवपरिहारी॥

यदि वहां जाकर पात्र पर लेप करने की बात इष्ट न हो तो स्थान पर लेप लाकर, पात्र पर उसको लगाकर, गीले पात्र में कुछ भी डालने का परिहार करने वाला वह मुनि हाथ में ही उसको उठाए रखे जब तक लेप का शोष न हो जाए, जब तक लेप न सूख जाए।

४८७. एवं पि हु उवघातो, आयाए संजमे पवयणे य।
मुच्छादी पवडंते, तम्हा उ न सोसए हत्थे॥

इस प्रकार लेप-सुखाने की प्रक्रिया करने पर भी आत्मोपघात, संयमोपघात तथा प्रवचनोपघात—तीनों उपघात होते हैं। जैसे- वह मुनि मूर्च्छा के कारण अथवा पात्र-भार के कारण गिर जाता है तब आत्मोपघात होता है। षट्काय पर गिरने से संयमोपघात और मुनि को गिरते हुए देखकर लोगों का उड्डाह करना प्रवचनोपघात है। इसलिए हाथ में पात्र को उठाकर सुखाने की क्रिया नहीं करनी चाहिए।

४८८. दुविहा य होंति पाता, जुण्णा य नवा य जे उ लिप्पंति।
जुण्णे दाएऊणं, लिंपति पुच्छा य इयरेसिं॥

जिन पात्रों पर लेप किया जाता है, वे दो प्रकार के होते हैं—जीर्ण—पुराने और नए। जीर्ण पात्र को आचार्य को दिखाए और उनकी अनुज्ञा लेकर लेप करे। नए पात्र पर बिना पूछे भी लेप लगाया जा सकता है।

४८९. पाडिच्छग-सेहाणं, नाऊणं कोइ आगमण मायी।
वढलेवे वि उ पाए, लिंपति मा तेसि दिज्जिज्जा॥

४९०. अहवा वि विभूसाए, लिंपति जा सेसगाण परिहाणी।
अपडिच्छणे य दोसा, सेहे काए यतोऽदाए॥

लेप लगाने से पूर्व जीर्ण पात्रों को आचार्य को न दिखाने पर ये दोष होते हैं—कोई मायावी शिष्य प्रातीच्छिक शिष्यों का आगमन जानकर 'गुरु इनको पात्र न दे डालें' इस बुद्धि से दृढलेपयुक्त पुराने पात्र पर भी पुनः लेप लगाता है। अथवा विभूषा के लिए उस पर लेप लगाता है तो शेष शिष्यों तथा प्रतीच्छिकों के परिहानि होती है। पात्र न दिए जाने पर ज्ञान, दर्शन, चारित्र की हानि होती है। कोई शैक्ष प्रव्रज्या के निमित्त आया है। पात्र के अभाव में प्रव्रज्या नहीं दी जाती। तब वह शैक्ष काय-विराधना कर सकता है। आचार्य को दिखाए बिना ये दोष होते हैं।

४९१. पुव्वण्हे लेवगमं, लेवग्गहणं सुसंवरं काउं।
लेवस्स आणणा लिंपणा य जयणाएँ कायव्वा॥

पूर्वाह्न लेप लाने के लिए जाए। लेपग्रहण कर सुसंवररूप से लेप का आनयन करे और फिर यतनापूर्वक लेप लगाए।

४९२. पुव्वण्हे लेपगहणं, काहं ति चउत्थगं करेज्जाहि।
असहू वासियभत्तं, अकारऽलंभे व दिंतियरे॥

'मैं पूर्वाह्न में लेपग्रहण करूंगा' यह सोचकर मुनि उपवास करे। यदि उपवास करने में असमर्थ हो तो वासी आहार लाए। पर्युषित (वासी) भक्त अकारक अर्थात् अपथ्य हो, अथवा प्राप्त न हो तो दूसरे मुनि घूम फिरकर उसे आहार लाकर दे।

४९३. कयकिइकम्मो छंदेण छंदितो भणति लेव घिच्छामि।
तुब्भं वियाणिमट्ठो, आमं तं कित्तियं किं वा॥

४९४. सेसे वि पुच्छिऊणं, कयउस्सग्गो गुरूण नमिऊण।
मल्लग-रूए गेण्हइ, जति तेसिं कप्पितो होति॥

कृतिकर्म संपन्न कर वह मुनि आचार्य के पास जाकर कहे—**'इच्छाकारेण संदिशत'**—आप अपनी इच्छानुसार मुझे कार्य में नियोजित करें। यदि आचार्य कहें—'तुम अपना अभिप्राय बताओ।' इस प्रकार आचार्य द्वारा निमंत्रित होने पर वह कहे—'मैं लेप लाने के लिए जाना चाहता हूं।' फिर वह सभी साधुओं से कहे—'क्या और किसी के लेप का प्रयोजन हो तो बताए।' कोई कहे—मुझे लेप चाहिए। तब उसे पूछे—कितना लाऊं? कौनसा लेप चाहिए? वह जो कहे उसे स्वीकार कर उपयोगकायोत्सर्ग संपन्न कर गुरु को नमस्कार करे। यदि वह मुनि पात्र और वस्त्र का कल्पिक हो तो गृहों में जाकर मल्लक और रूई ग्रहण करे।

४९५. गीयत्थपरिग्गहिते, अयाणओ रूय-मल्लए घेत्तुं।
छारं च तत्थ वच्चति, गहिए तसपाणरक्खट्ठा॥

यदि वह अज्ञायक अर्थात् अगीतार्थ हो तो गीतार्थ द्वारा परिगृहीत रूई और मल्लक लेकर जाए और त्रसप्राणियों की रक्षा के लिए उस मल्लक में क्षार डाल दे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४९६. वच्चंतेण य दिट्ठं, सागारिदुचक्कगं तु अब्भासे।
तत्थेव होइ गहणं, न होति सो सागरियपिंडो॥

वह मुनि मल्लक को साथ ले जा रहा है। जाते-जाते उसने देखा कि शय्यातर का शकट पास वाले क्षेत्र में स्थित है। उससे ही लेपग्रहण किया जाए क्योंकि वह शय्यातरपिंड नहीं होता।

४९७. गंतुं दुचक्कमूलं, अणुण्णविज्जा पभुं तु साहीणं।
एत्थ य पभु त्ति भणिए, कोई गच्छे निवसमीवं॥
४९८. किं देमि त्ति नरवई, तुब्भं खरमक्खिया दुचक्कि त्ति।
सो य पसत्थो लेवो, एत्थ य भद्देयरे दोसा॥

वह शकट के पास जाए और निकटस्थ स्वामी से अनुज्ञा प्राप्त करे। प्रभु अर्थात् स्वामी कहने पर कोई मुनि राजा के समीप जाए और राजा के यह पूछने पर कि मुनिवर! आपको क्या दूं? तब मुनि कहे—राजन्! आपके शकट खर अर्थात् तैल से म्रक्षित हैं। वहां जो लेप है, वह प्रशस्त है। मुझे उसको ग्रहण करने की अनुज्ञा दें। ऐसी स्थिति में वहां भद्रकदोष तथा प्रान्तदोष भी हो सकते हैं।[1]

४९९. तम्हा दुचक्कपतिणा, तस्संदिट्ठेण वा अणुण्णाते।
कटुगंधजाणणट्ठा, जिंघे नासं अघट्टंतो॥

इसलिए शकट के स्वामी अथवा उस स्वामी द्वारा संदिष्ट पुरुष द्वारा अनुज्ञापित होने पर तैल में कटुगंध है या नहीं यह जानने के लिए उसको सूंघे परन्तु उसका नाक से संस्पर्श न होने दे। (दूर से ही उसे सूंघ कर जब यह ज्ञात हो जाए कि यह तैल लेप कटुगंध वाला है तो उसे ग्रहण करे।)

५००. हरिए बीए चले जुत्ते, वच्छे साणे जलट्ठिए।
पुढवी संपातिमा सामा, महावाते महियाऽमिते॥

शकट हरित पर, बीज पर प्रतिष्ठित हो, चल हो, बैलों से जुता हुआ हो, उसके एक बछड़ा बंधा हो, शकट के नीचे कुत्ता हो, शकट जल के ऊपर अथवा सचित्त पृथ्वीकाय पर स्थित हो, संपातिम जीवों का उपद्रव हो, रात हो, महावात चल रहा हो, महिका गिर रही हो—इस प्रकार की स्थिति में थोड़ा या अमित लेप का ग्रहण अनुज्ञात नहीं है। (यह द्वार गाथा है। व्याख्या आगे।)

५०१. हरिए बीएँ पतिट्ठिय, अणंतर परंपरे य बोधव्वे।
परिताणंते य तहा, चउभंगो होति नायव्वो॥

हरित बीज पर साधु अथवा शकट अनन्तर या परम्परक रूप में प्रतिष्ठित हों तो प्रत्येक की चतुर्भंगी होती है। परित्त हरित और बीज तथा अनंत हरित और बीज से संबंधित भी चतुर्भंगियां होती हैं। जैसे—

(१) हरित पर साधु अनन्तरप्रतिष्ठित न परंपर-प्रतिष्ठित।
(२) परंपरप्रतिष्ठित न अनन्तरप्रतिष्ठित।
(३) अनन्तरप्रतिष्ठित भी और परंपरप्रतिष्ठित भी।
(४) न अनन्तरप्रतिष्ठित और न परंपरप्रतिष्ठित।

इसी प्रकार बीज पर भी साधु से संबंधित चतुर्भंगी होती है। इसी प्रकार शकट की एक आधार पर बीज और हरित के संदर्भ में भी प्रत्येक की एक-एक चतुर्भंगी होती है। इस प्रकार चार चतुर्भंगियां होती हैं। चतुर्भंगीद्वय साधु-शकट के संयोग से होती हैं। इसी प्रकार परित्त हरित, बीज तथा अनन्त हरित, बीज तथा मिश्र—अनेक चतुर्भंगियां होती हैं।

५०२. चउरो लहुगा गुरुगा, मासो लहु गुरु य पणग लहु गुरुयं।
छसु परितऽणंत मीसे, बीजे य अणंतर परे य॥

यह प्रायश्चित्त निर्देशिका गाथा है। इसका शाब्दिक अनुवाद यह है—

चतुर्लघुक, चतुर्गुरुक, मासलघु, मासगुरु, पांच दिनरातलघु, पांच दिनरातगुरुक। छह में परीत, अनन्त, मिश्र, बीज और अनन्तर तथा परंपर।

विविध चतुर्भंगियां और प्रायश्चित्त का कथन—

१. प्रत्येक हरित—साधु
   - अनन्तर प्रतिष्ठित—चारलघु
   - परंपर प्रतिष्ठित—चारलघु
   - उभय प्रतिष्ठित—दो चारलघुक
   - शुद्ध।
२. प्रत्येक हरित—साधु और शकट
   - अनन्तर प्रतिष्ठित—दो चतुर्लघु
   - परंपर प्रतिष्ठित—दो चतुर्लघु
   - उभय प्रतिष्ठित—चार चतुर्लघु
   - शुद्ध।
३. अनन्त हरित—साधु
   - अनन्तर प्रतिष्ठित—चारगुरुक
   - परंपर प्रतिष्ठित—चारगुरुक
   - उभय प्रतिष्ठित—दो चतुर्गुरुक
   - शुद्ध।

---

१. (क) राजा अपने सेवकों को आज्ञा दे कि जितने भी शकट हैं, उन सबको तैल से म्रक्षित कर दो। ये मुनि लेप भी बिना अनुज्ञा नहीं लेते। यह भद्रकदोष है।
(ख) राजा सोचता है—ये मुनि अशुचिबहुल हैं जो ऐसे लेप की भी याचना करते हैं। उसके मन में प्रद्वेष उभर सकता है और वह अपने राज्य में यह आदेश प्रसारित कर देता है—मेरे राज्य में कोई भी व्यक्ति शकट को तैल से म्रक्षित न करे, घृत या अन्य पदार्थ से करे। यह प्रान्तदोष है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. अनन्त हरित–शकट
- अनन्तर प्रतिष्ठित–चतुर्गुरुक
- परंपर प्रतिष्ठित–चतुर्गुरुक
- उभय प्रतिष्ठित–दो चतुर्गुरुक
- शुद्ध।

५. अनन्त हरित–साधु-शकट
- अनन्तर प्रतिष्ठित–दो चतुर्गुरुक
- परंपर प्रतिष्ठित–दो चतुर्गुरुक
- उभय प्रतिष्ठित–चार चतुर्गुरुक
- शुद्ध।

६. मिश्र प्रत्येक हरित–साधु
- अनन्तर प्रतिष्ठित–मासलघु
- परंपर प्रतिष्ठित–मासलघु
- उभय प्रतिष्ठित–दो मासलघु
- शुद्ध।

७. मिश्र प्रत्येक हरित–गंत्री
- अनन्तर प्रतिष्ठित–मासलघु
- परंपर प्रतिष्ठित–मासलघु
- उभय प्रतिष्ठित–दो मासलघु
- शुद्ध।

८. मिश्र प्रत्येक हरित–साधु-गंत्री
- अनन्तर प्रतिष्ठित–दो मासलघु
- परंपर प्रतिष्ठित–दो मासलघु
- उभय प्रतिष्ठित–चार मासलघु
- शुद्ध।

९. मिश्र अनन्त हरित–साधु
- अनन्तर प्रतिष्ठित–मासगुरु
- परंपर प्रतिष्ठित–मासगुरु
- उभय प्रतिष्ठित–दो मासगुरु
- शुद्ध।

१०. मिश्र अनन्त हरित–गंत्री
- अनन्तर प्रतिष्ठित–मासगुरु
- परंपर प्रतिष्ठित–मासगुरु
- उभय प्रतिष्ठित–दो मासगुरुक
- शुद्ध।

११. मिश्र अनन्त हरित–साधु-गंत्री
- अनन्तर प्रतिष्ठित–दो मासगुरुक
- परंपर प्रतिष्ठित–दो मासगुरुक
- उभय प्रतिष्ठित–चार मासगुरुक
- शुद्ध।

१२. प्रत्येक बीज आदि–साधु
- अनन्तर प्रतिष्ठित–लघुपंचक
- परंपर प्रतिष्ठित–लघुपंचक
- उभय प्रतिष्ठित–दो लघुपंचक
- शुद्ध।

१३. प्रत्येक बीज आदि–गंत्री
- अनन्तर प्रतिष्ठित–लघुपंचक
- परंपर प्रतिष्ठित–लघुपंचक
- उभय प्रतिष्ठित–दो लघुपंचक
- शुद्ध।

१४. प्रत्येक बीज आदि–साधु-गंत्री
- अनन्तर प्रतिष्ठित–दो लघुपंचक
- परंपर प्रतिष्ठित–दो लघुपंचक
- उभय प्रतिष्ठित–चार लघुपंचक
- शुद्ध।

इसी प्रकार अनन्त बीज आदि में गुरुपंचक जानना चाहिए। तथा परीत अनन्त और मिश्र-अनन्तर और परंपर आदि में यथायोग्य प्रायश्चित्त ज्ञातव्य है।

५०३. दव्वे भावे च चलं, दव्वम्मी दुट्ठियं तु जं दुपयं।
आयाएँ संजमम्मि य, दुविहा उ विराहणा तत्थ॥

चल दो प्रकार से होता है–द्रव्यतः और भावतः। द्रव्यतः चल वह है जो शकट दुस्थित है। वहां लेपग्रहण करने में दो प्रकार की विराधना होती है–आत्मविराधना और संयम-विराधना। (आत्मविराधना–शकट के गिरने से अभिघात हो सकता है। संयमविराधना–शकट के चलित होने पर प्राणियों का उपमर्दन।)

५०४. भावचल गंतुकामं, गोणाईअंतराइयं तत्थ।
जुत्ते वि अंतरायं, वित्तसचलणे य आयाए॥

भावचल का अर्थ है–शकट प्रस्थित होने वाला हो। उसमें बैल जोते जा रहे हों। उस समय लेपग्रहण करने से बैलों के चारे-पानी का निरोध तथा आदमियों के भी अंतराय होता है। शकट में बैल जुते हुए हों, उनको वहीं खड़ाकर लेपग्रहण करने में अंतराय दोष होता है तथा बैलों के त्रस्त हो जाने पर चरणाक्रमण हो सकता है। इससे आत्मविराधना, संयम-विराधना और त्रसप्राणियों की हिंसा हो सकती है।

५०५. वच्छो भएण नासति, भंडिक्खोभे य आयवावत्ती।
आया पवयण साणे, काया य भएण नासंते॥

शकट के वत्स बंधा हुआ हो तो वह भय से त्रस्त होकर दौड़ता है। शकट के चलित होने पर लेपग्रहण करते हुए मुनि के आत्मव्यापत्ति होती है, आत्माविराधना होती है। शकट के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नीचे स्थित कुत्ता मुनि को काट डालता है। वहां आत्मोपघात होता है। कुत्ता उस लेप को चाटता है तो प्रवचनोपघात होता है। भय से त्रस्त होकर कुत्ता दौड़ता है तो पृथ्वीकायिक आदि जीवों का विनाश होता है। यह संयमोपघात है।

५०६. जो चेव य हरिएसुं, सो चेव गमो उ उदग पुढवीए।
संपइमा तसगणा, सामाए होइ चउभंगो॥

जो गम–विकल्प पहले हरित के लिए कहे हैं, वे ही विकल्प उदक और पृथिवी संबंधी जानने चाहिए। संपातिम त्रस प्राणी यदि गिर रहे हों तो लेपग्रहण नहीं करना चाहिए। रात्री से संबंधित चतुर्भंगी होती है।

१. रात्री में लेप लिया, रात्री में ही पात्र के लेप लगाया।
२. रात्री में लेप लिया, दिन में पात्र के लेप लगाना।
३. दिन में लेप लिया, रात्रि में पात्र के लेप लगाना।
४. दिन में लेप लिया और दिन में पात्र के लेप लगाया।

५०७. वायम्मि वायमाणे, महियाए चेव पवडमाणीए।
नाणुण्णायं गहणं, अमियस्स य मा विगिंचणया॥

महावायु के चलते समय अथवा गिरती हुई महिका में लेपग्रहण अनुज्ञात नहीं है। तथा अमित लेपग्रहण भी अनुज्ञात नहीं है, क्योंकि उसका परिष्ठापन न करना पड़े।

५०८. चल-जुत्त-वच्छ-महिया-तसेसु सामाएँ चेव चतुलहुगा।
दव्वचल साण गुरुगा, मासो लहुओ उ अमियम्मि॥

यह गाथा प्रायश्चित निर्देशिका है–

भावतः चल शकट, बलिवर्दयुक्त शकट, वत्स बंधा हुआ हो, महिका तथा संपातिम त्रस गिर रहे हों, रात्री में–इन स्थितियों में लेपग्रहण करने पर प्रत्येक का प्रायश्चित्त है–चार लघुमास। द्रव्यतः चल आदि तथा शकट के नीचे कुत्ते की स्थिति होने पर–चार गुरुमास का तथा अमित लेप के ग्रहण में एक लघुमास का प्रायश्चित्त विहित है।

५०९. एतद्दोसविमुक्कं, घेत्तुं छारेण अक्कमित्ताणं।
चीरेण बंधिऊणं, गुरुमूल पडिक्कमाऽऽलोए॥

उपरोक्त सभी दोषों से मुक्त लेप को ग्रहण कर, उसमें क्षार-भस्म मिलाकर, कपड़े में बांधकर, गुरु के पास आए और ईर्यापथिकी कर आलोचना करे।

५१०. दंसिय छंदिय गुरु सेसए य ओमत्थियस्स भाणस्स।
काउं चीरं उवरिं, रूयं च छुभेज्ज तो लेवं॥

गुरु को लेप दिखाकर, लेप-ग्रहण के लिए गुरु को निमंत्रित करे और फिर शेष साधुओं को भी निमंत्रण दे। जिस मुनि को जितना चाहिए, उसको उतना देकर एक अवाङ्मुखीकृत भाजन के ऊपर कपड़ा लगाकर लेप और रूई उसमें प्रक्षिप्त करे।

५११. अंगुट्ठ-पएसिणि-मज्झिमाहि घेत्तुं घणं ततो चीरं।
आलिंपिऊण भाणं, एक्कं दो तिन्नि वा घट्टे॥

लेप कैसे लगाए? अंगूठे के साथ प्रदेशिनी और मध्यमा अंगुली से लेप निकाल कर, सघन कपड़े में उसे डालकर उसको निचोड़े। इस प्रकार एक-एक पात्र को दो-तीन बार लेप लगाए। फिर घट्टण-पाषाण से उसे रगड़े।

५१२. अण्णोण्णे अंकम्मी, अण्णं घट्टेति वारवारेण।
आणेइ तमेव दिणे, दवं रएउं अभत्तट्ठी॥

एक-एक भाजन को घट्टित कर उनको एक ओर रखकर, अपनी-अपनी बारी से उनको बार-बार रगड़े। अभी लेप सूखा न हो और द्रव–पानी लाने का प्रयोजन उपस्थित हो जाए तो वह अभक्तार्थी मुनि उसी दिन लेप लगाकर उसमें पानी ले आए।

५१३. अभतट्ठीणं दाउं, अण्णेसिं वा अहिंडमाणाणं।
हिंडेज्ज असंथरणे, असती घेत्तुं अरइयं तु॥

पात्र का लेप अभी तक सूखा नहीं है और वह मुनि भक्तार्थी है। भोजन किए बिना वह रह नहीं सकता तब अभक्तार्थियों अथवा गोचरी के लिए न जाने वालों को वह आर्द्रपात्र सौंपकर भिक्षा के लिए जाए। यदि अभक्तार्थी अथवा गोचरी के लिए न जाने वालों का अभाव हो तो वह मुनि उस अरंजित–अपरिणतवाले पात्र को लेकर जाए।

५१४. न तरिज्जा जति तिण्णि उ, हिंडावेउं ततो णु छारेण।
ओयत्तेउं हिंडइ, अन्ने व दवं से गिण्हंति॥

यदि तीनों पात्रों को लेकर गोचरी में न घूम सके तो उस पात्र को उपाश्रय में ही राख से लिप्त कर साथ में ले जाए। कोई अन्य उसके प्रयोजनीय द्रव पदार्थ ले ले तो वह उस पात्र को रिक्त ही ले आए।

५१५. लित्थारियाणि जाणि उ, घट्टगमादीणि तत्थ लेवेण।
संजमभूतिनिमित्तं, ताइं भूईएँ लिंपिज्जा॥

लेपों से जितने पात्र खरंटित किये जा चुके हैं, उन पात्रों को संयम की विभूति के लिए क्षार–राख से लिंपित करे जिससे उस लेप के स्पर्श से त्रस-स्थावर जीवों का विनाश न हो।

५१६. एवं लेवग्गहणं आणयणं लिंपणाय जयणा य।
भणियाणि अतो वोच्छं, परिकम्मविहिं तु लित्तस्स॥

इस प्रकार लेप का ग्रहण, आनयन और पात्र के लेपन संबंधी यतना कही गई है। आगे लेप-लिप्त पात्र की परिकर्म-विधि कहूंगा।

५१७. लित्ते छाणिय छारो, घणेण चीरेण बंधिउं उण्हे।
उव्वत्तण परियत्तण, अंछिय धोए पुणो लेवो॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेप-लिप्त पात्र पर छानी हुई साफ भस्म लगाए, फिर सघन वस्त्र से बांधकर उसको आतप में रखे। वहां पात्र का उद्वर्तन-परिवर्तन तब तक करे जब तक कि पात्र सूख न जाए। फिर पात्र को निकाल कर पानी से धोए और पुनः लेप लगाए।

५१८. काउं सरयत्ताणं, पत्ताबंधं अबंधगं कुज्जा।
साणाइरक्खणट्ठा, पमज्ज छाउण्हसंकमणा॥

पात्र पर पुनः लेप लगाकर उस पर रजस्त्राण बिना गांठ दिए बांधे, जिससे कुत्ते आदि से उसकी रक्षा की जा सके। गांठ देने पर कुत्ते आदि उस बंधे पात्र को घसीट कर ले जा सकते हैं। छाया और आतप में प्रमार्जन कर उस पात्र को स्थापित कर दे।

५१९. तद्दिवसं पडिलेहा, कुंभमुहादीण होइ कायव्वा।
छण्णे य निसिं कुज्जा, कयकज्जाणं विवेगो उ॥

जिस दिन पात्र-लेपन किया हो उस दिन कुंभमुख अर्थात् घट के खंड आदि लाए और रात्री में आवृत स्थान में उन घट-खंडों के ऊपर उन लिप्त पात्रों को रखे और कार्य पूरा होने पर उन खंडों का परिष्ठापन कर दे।

५२०. अट्ठगहेउं लेवाहिगं तु सेसं सरूयगं पीसे।
अहवा वि न दायव्वो, सरूयगं छारे तो उज्झे॥

शेष में बचा हुआ जो अधिक लेप हो उसको अट्ठक अर्थात् पात्र के ऊपरी किनारों आदि के लेप के लिए रूई में डालकर रख ले। अथवा पात्र के अट्ठक न लगाना हो तो उसको राख में डाल कर परिष्ठापन कर दे।

५२१. पढम-चरिमाउ सिसिरे, गिम्हे अद्धं तु तासि वज्जित्ता।
पायं ठवे सिणेहादिरक्खणट्ठा पवेसे वा॥

शिशिर अर्थात् शीतकाल में प्रथम और अंतिम पौरुषी को छोड़कर तथा ग्रीष्म ऋतु में प्रथम और अंतिम पौरुषी के आधे-आधे काल-विभाग का वर्जन कर उनके मध्यभाग में स्नेह (अवश्याय) आदि से रक्षा के लिए पात्र को आतप में रखे।[1]

५२२. उवयोगं च अभिक्खं, करेति वासादि-साणरक्खट्ठा।
वावारेति व अण्णे, गिलाणमादीसु कज्जेसु॥

पात्र को आतप में रखकर उसकी वर्षा आदि से तथा कुक्कुर आदि से रक्षा के निमित्त अनवरत उपयोग रखे, जागरूक रहे। यदि ग्लान आदि के प्रयोजन से कहीं जाना पड़े तो दूसरे मुनि को उस कार्य में व्यापृत करे, स्वयं वहीं पात्र की रक्षा करता हुआ रहे।

५२३. एक्को य जहन्नेणं, बिय तिय चत्तारि पंच उक्कोसा।
संजमहेउं लेवो, वज्जित्ता गारव विभूसं॥

पात्र के जघन्यतः एक लेप अवश्य लगाए और उत्कृष्टतः दो, तीन, चार, पांच लेप लगाए। लेप केवल संयम निर्वाह के लिए लगाए। स्वयं के गौरव या विभूषा के लिए वैसा न करे।

५२४. अणवट्ठंते तह वि उ, सव्वं अवणेत्तु तो पुणो लिंपे।
तज्जाय सचोप्पडयं, घट्ट रएउं ततो धोवे॥

चार-पांच लेप लगाने पर भी यदि लेप पात्र पर नहीं ठहरते, पात्र के साथ एकीभूत नहीं होते हों तो सारे लेप उतार कर पुनः पात्र पर नए सिरे से लेप लगाए। अलाबु आदि का पात्र सस्नेह होता है, तैल आदि से चुपड़ा हुआ होता है, उस पर प्रभूत धूलिकण लग जाते हैं, उनको घट्टकपाषाण से निकाल कर, उसी लेप से पुनः उस पात्र को लिप्त करे और तदनन्तर उसको धोए। यह 'तज्जातलेप' कहलाता है।

५२५. तज्जाय-जुत्तिलेवो, दुचक्कलेवो य होइ नायव्वो।
मुद्दियनावाबंधो, तेणगबंधो य पडिकुट्ठो॥

लेप के अनेक प्रकार हैं—तज्जातलेप, युक्तिलेप और द्विचक्रलेप। द्विचक्रलेप का अर्थ है—शकटलेप। यदि इस लेप से लिंपित पात्र टूट जाए तो उस पर मुद्रित नौ बंधन बांधे। यही बंध अनुज्ञात है। स्तेनक बंध का प्रतिषेध है।

५२६. जुत्ती उ पत्थरायी, पडिकुट्ठा सा उ सन्निही काउं।
दय सुकुमाल असन्निहि, दुचक्कलेवो अतो इट्ठो॥

युक्तिलेप प्रस्तर आदि से बनाया जाता है। 'युक्ति' की सन्निधि होती है, इसलिए वह प्रतिषिद्ध है। तज्जातलेप की प्राप्ति भी कदाचित् होती है। इन लेपों में द्विचक्रलेप—शकटलेप सुकुमाल होता है, वह इष्ट है। उसकी सन्निधि नहीं होती। उससे दया का पालन सहज हो जाता है क्योंकि उसमें प्राणी स्पष्ट परिलक्षित हो जाते हैं।

५२७. संजमहेउं लेवो, न विभूसाए वयंति तित्थयरा।
सति-असतीदिट्ठंतो, विभूसाए होंति चउगुरुगा॥

तीर्थंकर यह कहते हैं कि पात्र पर लेप लगाने का मुख्य हेतु है संयम। विभूषा और गौरव के लिए लेप लगाना निषिद्ध

---

१. इस गाथा का तात्पर्यार्थ यह है—शिशिरकाल में प्रथम पौरुषी के बीत जाने पर पात्र को आतप में रखे और अंतिम प्रहर में, जब तक वह प्रारंभ न हो, उससे पूर्व मध्यकाल में पात्र को आतप में रखे। क्योंकि शिशिर में काल की स्निग्धता के कारण प्रथम और चरम प्रहर में अवश्याय आदि के गिरने से लेप का विनाश हो जाता है। उष्णकाल में प्रथम प्रहर आधा बीत जाने पर पात्र को आतप में रखे और चरम प्रहर में अंतिम आधा प्रहर आने से पूर्व पात्र को आतप में रखे। काल की रूक्षता के कारण उसके पश्चात् अवश्याय आदि गिरने की संभावना रहती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। जो विभूषा आदि के लिए पात्र पर लेप लगाता है, उसका प्रायश्चित्त है—चार गुरुकमास। यहां सती और असती का दृष्टांत है। वह इस प्रकार है—सती अपने कुलाचार के निमित्त विभूषा करती है वह युक्त है। असती भी अपनी विभूषा करती है, परन्तु वह विभूषा जार को प्रसन्न करने के लिए होती है। वह अयुक्त है, सदोष है।

५२८. भिज्जिज्ज लिप्पमाणं, लित्तं वा असइए पुणो बंधे।
मुद्दियनावाबंधे, न तेणबंधेण बंधेज्जा॥

यदि लेप लगाते समय अथवा लेप लिप्त पात्र टूट जाए, और दूसरा पात्र न हो तो उसे मुद्रितनौबंध से बांधे। स्तेनक-बंधन से न बांधे।

५२९. खर अयसि-कुसुंभ सरिसव, कमेण उक्कोस मज्झिम जहन्नो।
नवणीए सप्पि वसा, गुले य लोणे अलेवो उ॥

स्वरसंज्ञक अर्थात् तिलों के तैल से निष्पन्न लेप उत्कृष्ट होता है, अतसी और कुसुंभ तैल से निष्पन्न लेप मध्यम और सर्षप तैल से निष्पन्न लेप जघन्य होता है। नवनीत, घृत और चर्बी से निष्पन्न लेप अलेप होता है। गुड़ अथवा लवण से भृत शकटों के चक्के यदि तिलों के तैल से म्रक्षित हों तो भी वह लेप अलेप ही है, क्योंकि वह लवणावयवयोग से अप्रशस्त होता है।

५३०. पढिय सुय गुणियमगुणिय, धारमधार उवउत्तो परिहरति।
आलोयायरियादी, आयरिओ विसोहिकारो से॥

जिसने ओघनिर्युक्ति अथवा इस कल्प-पीठिका को पढ़ा है, अथवा सुना है अथवा गुणित—अभ्यास किया है अथवा अगुणित है, धारित है अथवा अधारित है, फिर भी उपयुक्त होकर लेप का परिभोग करता है, वह लेपकल्पिक है। उसके इस विषयक कोई विराधना होती है तो वह आचार्य आदि से आलोचना करे। आचार्य उसके विशोधिकारक होते हैं।

५३१. अप्पत्ते अकहित्ता, अणहिगयऽपरिच्छणे य चउगुरुगा।
दोहिं गुरू तवगुरुगा, कालगुरू दोहि वी लहुगा॥

जिसने आचारचूलागत पिंडैषणा अध्ययन अथवा दशवैकालिकगत पिंडैषणा अध्ययन को नहीं पढ़ा है, उसको गोचरी भेजने पर दो से गुरु अर्थात् तप से गुरु तथा काल से गुरु चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। उस अध्ययन का अर्थ बताए बिना भेजने पर चार लघुमास (काल से लघु), अर्थ कथित है, परन्तु अनधिगत है अथवा अधिगत होने पर भी उस पर श्रद्धा नहीं है तो चार लघुमास (तप से लघु), अधिगत अर्थ वाला होने पर भी जिसकी परीक्षा नहीं की गई हो, उसको भेजने पर चार लघुमास (तप और काल—दोनों से लघु) का प्रायश्चित्त विहित है।

५३२. पढिए य कहिय अहिगय, परिहरती पिंडकप्पितो एसो।
तिविहं तीहिं विसुद्धं, परिहरनवगेण भेदेणं॥

जिसके पिंडैषणा अध्ययन पठित है, अर्थ कथित अर्थात् ज्ञात है, अधिगत है, वह त्रिविध अर्थात् उद्गमशुद्ध, उत्पादनशुद्ध तथा एषणाशुद्ध, मन, वचन और काया से विशुद्ध परिहरणीय को नवक भेदों से परिहार करता है, वह पिंडकल्पिक होता है।[1]

५३३. गुरुगा अहे य चरिमतिग मीस बायर सपच्चवायहडे।
कड पूइए य गुरुगो, अज्झोयरए य चरमदुगे॥

उद्गम के सोलह दोष और उनका प्रायश्चित्त विधान—यह गाथा अत्यंत संक्षिप्त है। टीका के अनुसार इसका विस्तृत अर्थ इस प्रकार है—

आधाकर्म आहार आदि लेने पर उसका प्रायश्चित्त है चार गुरुक। औद्देशिक के दो प्रकार हैं—ओघ और विभाग। विभाग औद्देशिक के बारह भेद हैं—उद्दिष्ट, कृत और कर्म। इन तीनों के चार-चार प्रकार हैं। जैसे—उद्दिष्ट के चार प्रकार—औद्देशिक, समुद्देशिक, आदेशिक और समादेशिक। कृत के चार भेद हैं—उद्देशकृत, समुद्देशकृत, आदेशकृत और समादेशकृत। कर्म के भी चार प्रकार हैं—उद्देशकर्म, समुद्देशकर्म, आदेशकर्म, समादेशकर्म। ये कुल ४×३=बारह प्रकार के हैं।

जो सभी भिक्षाचरों के लिए बनाया जाता है वह उद्देशिक, जो अन्यतीर्थिकों के लिए बनाया जाता है वह समुद्देशिक, जो श्रमणों के लिए हो वह आदेशिक और जो निर्ग्रंथों के लिए हो वह समादेशिक होता है।

विभागोद्देशिक के चरमत्रिक—समुद्देशकर्म, आदेशकर्म और समादेशकर्म लेने पर प्रत्येक के लिए प्रायश्चित्त है—तप और काल से विशेषित चार गुरुक।

मिश्रजात के तीन भेद हैं—यावंतिकमिश्र, पाषंडिकमिश्र, स्वगृहमिश्र। इनमें अंतिम दो के ग्रहण पर प्रत्येक प्रायश्चित्त है—तप और काल से गुरु चार गुरुक।

प्राभृतिका के दो प्रकार हैं—सूक्ष्म और बादर। बादर प्राभृतिका ग्रहण करने पर चार गुरुक का प्रायश्चित्त है। सप्रत्यपाय आहृत में चार गुरुक का प्रायश्चित्त है।

चारों प्रकार के कृत उद्देशकों में प्रत्येक के मासगुरुक प्रायश्चित्त है जो तप और काल से विशेषित होता है।

१. यहां वृत्तिकार ने संपूर्ण पिंडनिर्युक्ति की ओर संकेत किया है—'अत्र पिण्डनिर्युक्तिः सर्वा वक्तव्या'। सा च ग्रन्थान्तरत्वात् स्वस्थाने एव स्थिता प्रतिपत्तव्या। (वृ. पृ. १५४)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भाव पूतिक के दो भेद हैं—सूक्ष्म और बादर। सूक्ष्म का कोई प्रायश्चित्त नहीं है। बादर पूतिक जो भक्तपान विषयक होता है उसके लिए मासगुरु तथा अध्यवपूरक के तीन में से अंतिम दो भेदों (यावन्तिक अध्यवपूरक, पाषंड अध्यवपूरक तथा स्वगृह अध्यवपूरक) प्रत्येक का मासगुरु प्रायश्चित्त है।

५३४. ओह-विभागुद्देसे, चिरठविए पागडे य उवगरणे।
लोगुत्तर पामिच्चे, परियट्टिय कीय परभावे॥
५३५. सग्गामभिहडि गंठी, जहन्न जावंति ओयरे लहुओ।
इत्तरठविए सुहुमा, पणगं लहुगा य सेसेसु॥

ओघऔद्देशिक, विभागऔद्देशिक, चिरस्थापित, प्रकट-करण, उपकरणपूतिक, प्रामित्य, परिवर्तित, क्रीत, परभाव-क्रीत, स्वग्राम अभ्याहृत, ग्रंथि उद्भिन्न, जघन्य मालापहृत तथा यावंतिक अध्यवपूरक—इन सब में मासलघु का प्रायश्चित्त विहित है।

इत्वर स्थापित, सूक्ष्म प्राभृतिका—इनमें पांच रात-दिन का प्रायश्चित्त है। जो शेष उद्गम दोष हैं, उनमें प्रत्येक के चार लघुक का प्रायश्चित्त कथित है।

५३६. दुविह निमित्ते लोभे, गुरुगा मायाएँ मासियं गुरुयं।
सुहुमे वयणे लहुओ, सेसे लहुगा य मूलं च॥

उत्पादन दोष संबंधी प्रायश्चित्त—

निमित्त तीन प्रकार का होता है—अतीतविषयक, वर्तमान-विषयक और अनागतविषयक। इनमें वर्तमानविषयक तथा अनागतविषयक निमित्त तथा लोभ—प्रत्येक के चार-चार गुरुक का प्रायश्चित्त है। माया में मासलघु तथा सूक्ष्म-चैकित्स्य और वचनसंशय—प्रत्येक में लघुकमास का प्रायश्चित्त है। शेष सभी उत्पादन दोषों में प्रत्येक के लिए चार-चार लघु और मूलकर्म में मूल प्रायश्चित्त विहित है।

५३७. ससरक्खे ससिणिद्धे, पणगं लहुगा दुगुंछ संसत्ते।
उक्कुट्ठऽणंते गुरुगो, सेसे सव्वेसु मासलहू॥

एषणा दोष संबंधी प्रायश्चित्त—

सरजस्क तथा सस्निग्ध हाथ या पात्र से भिक्षा लेने पर पांच रात-दिन का, जुगुप्सित अचित्त पदार्थ (मल, मूल, मदिरा आदि) से तथा प्राणियों से संसक्त हाथ-पात्र से भिक्षा लेने पर चार लघुक का, उत्कुट्टित अनन्तकायिक वनस्पति से स्पृष्ट लेने पर मासगुरु का तथा शेष सभी एषणाओं में मासलघु प्रायश्चित्त है।

५३८. चउलहुगा चउगुरुगा, मासो लहु गुरु य पणग लहु गुरुगं।
छसु परितऽणंत मीसे, बीए य अणंतर परे य॥

निक्षिप्त संबंधी प्रायश्चित्त—

परित्त सचित्त पर अनन्तरप्रतिष्ठित अथवा परंपर-प्रतिष्ठित से लेने से चार लघु तथा अनन्त सचित्त पर अनन्तर या परंपरप्रतिष्ठित से लेने से चार गुरु, परित्तमिश्र या अनन्तमिश्र पर प्रतिष्ठित होने से लेने पर क्रमशः मासलघु और मासगुरु का प्रायश्चित्त है। परित्त बीजों पर प्रतिष्ठित से लेने पर पांच रात-दिन लघु तथा अनन्तकाय बीजों पर प्रतिष्ठित से लेने पर गुरु पांच रात-दिन, त्रसकाय पर अनन्तर प्रतिष्ठित से लेने पर चार लघुक और परंपर-प्रतिष्ठित से लेने पर मासलघु का प्रायश्चित्त है। इस प्रकार छह जीवनिकायों में परित्त, अनन्त, मिश्र पृथिवी आदि में तथा बीज के परित्त, अनन्त तथा मिश्र तथा परंपर अथवा अनन्तर प्रतिष्ठित इन सब विकल्पों में जो भिक्षा लेता है वह प्रायश्चित्त का भागी होता है।

५३९. एमेव य पिहियम्मी, लहुगा दव्वम्मि चेव अपरिणए।
बीसुम्मीसे पणगं, अणंतबीए य पणग गुरू॥

इसी प्रकार पिहित के विषय में प्रायश्चित्त विधान जानना चाहिए। पात्र में कुछ प्रक्षिप्त है, उस अपरिणत द्रव्य का संहरण कर देता है तो चार लघुक का प्रायश्चित्त आता है। परित्त बीजों से उन्मिश्र हो तो पांच रात-दिन लघु और अनंत बीजोन्मिश्र होने पर पांच रात-दिन गुरु का प्रायश्चित्त है।

५४०. संजोग सइंगाले, अणंतमीसे वि चउगुरू होंति।
बीसुम्मीसे मासो, सेसे लघुका उ सव्वेसु॥

संयोजना के दो प्रकार हैं—अन्तर् और बहिर्। अन्तर् संयोजना के चार लघुक और बहिर् संयोजना के चार गुरुक। सइंगाल में चार गुरु और सधूम में चार लघु। अनन्तमिश्र होने पर चार गुरुक। विष्वगुन्मिश्र में लघुक तथा गुरुकमास। शेष सभी में चार लघुक।

५४१. दुविहा हवंति सेज्जा, दव्वे भावे य दव्व खायाती।
साहूहिं परिग्गहिया, ते च्चेव उ भावओ सेज्जा॥

शय्या (वसति) के दो प्रकार हैं—द्रव्य और भाव। द्रव्य शय्या है—खात आदि। यही शय्या साधुओं द्वारा परिगृहीत होने पर भावशय्या होती है।

५४२. रक्खण गहणे तु तहा, सेज्जाकप्पो उ होइ दुविहो उ।
सुन्ने बाल गिलाणे, अव्वत्ताऽऽरोवणा भणिया॥

शय्याकल्प दो प्रकार का है—रक्षण और ग्रहण। वसति की रक्षा करनी चाहिए। वसति को शून्य कर देते हैं अथवा बाल, ग्लान या अव्यक्त को उसकी रक्षा सौंपते हैं तो आरोपणा प्रायश्चित्त आता है।

५४३. पढमम्मि य चउलहुया, सेसेसुं मासियं मुणेयव्वं।
दोहि गुरू इक्केणं, चउथपए दोहि वी लहुयं॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम अर्थात् वसति को शून्य करने पर चार लघुक का आरोपणा प्रायश्चित्त विहित है। यह तप और काल—दोनों से गुरु होता है। बालक को स्थापित करने पर मासलघु की आरोपणा जो तपोगुरु और काललघु होती है। ग्लान को स्थापित करने पर मासलघु की आरोपणा जो तपोलघु और कालगुरु होती है। चतुर्थ पद अर्थात् अव्यक्त को स्थापित करने पर मासलघु की आरोपणा जो दोनों—तप और काल से लघु होती है।

५४४. मिच्छत्त बडुग चारण, भडाण मरणं तिरिक्ख-मणुयाणं।
आदेस वाल निक्केयणे य सुन्ने भवे दोसा॥

वसति को शून्य छोड़ने से ये दोष होते हैं—मिथ्यात्वगमन, बटुक, चारण और भट का प्रवेश, पशु और मनुष्य का मरण, प्राघूर्णक और व्याल का प्रवेश, बेघर वाले तिर्यंच और स्त्रियों का निष्कासन। (इसकी व्याख्या अगली गाथाओं में।)

५४५. सोच्चा पत्तिमपत्तिय, अकयन्नु अदक्खिणा दुविह छेदो।
भरियभरागमनिच्छुभ, गरिहा न लभंति वऽन्नत्थ॥

५४६. भेदो य मासकप्पे, जदलंभे विहारादि पावते अन्नं।
बहिभुत्त निसागमणे, गरिह विणासा य सविसेसा॥

शय्यातर ने वसति को शून्य देखकर आसपास के लोगों को पूछ कर जाना कि साधु चले गए हैं। यदि उसके मन में प्रीति रहे तो चार लघुक का आरोपणा प्रायश्चित्त, अप्रीति हो कि ये मुनि अकृतज्ञ और निःस्नेह है तो चार गुरुक का आरोपणा प्रायश्चित्त आता है। इस प्रवृत्ति से दो का छेद होता है—स्थान की प्राप्ति और अन्य द्रव्यों की प्राप्ति का व्यवच्छेद हो जाता है। गोचरी से वे मुनि भरे हुए पात्रों के भार से अवनत होते हुए वहां आते हैं तो शय्यातर उनको स्थान नहीं देता। मुनियों की गर्हा होती है और उनको अन्यत्र भी स्थान नहीं मिलता। दूसरे गांव में जाने पर मासकल्प का भेद होता है। अन्य मुनि विहार आदि करते हुए वहां आते हैं और वसतिस्वामी पूर्व मुनियों के दोषों का स्मरण कर उनको स्थान देने से इन्कार हो जाता है। तब उन समागत मुनियों को श्वापद, स्तेन आदि के जो अनर्थ झेलने पड़ते हैं, उनका प्रायश्चित्त भी पूर्व मुनियों को आता है। यदि वे पूर्वस्थित मुनि गोचरी के लिए गए हों और गांव के बाहर आहार आदि कर रात्री में पूर्वस्थित वसति के पास आते हैं, स्थान न मिलने पर विशेष गर्हा होती है। तथा श्वापद आदि से विनाश भी होता है। शय्यातर पहले सम्यग्दृष्टि था, परन्तु भावों की विपरिणति के कारण वह मिथ्यात्व को प्राप्त हो जाता है।

५४७. सुन्नं दट्ठुं बडुगा, उभासिते ठाह जइ गया समणा।
आगम पवेसऽसंखड, सागरि दिन्ने ति य दियाणं॥

५४८. संभिच्चेण व अच्छह, अलियं न करेमऽहं तु अप्पाणं।
उड्डंचग अहिगरणं, उभयपयोसं च निच्छूढा॥

५४९. सागरिय-संजयाणं, निच्छूढा तेण-अगणिमाईहिं।
जं काहिंति पदुट्ठा, उभयस्स वि ते तमावज्जे॥

वसति को शून्य देखकर कुछ बटुकों ने शय्यातर के पास जाकर स्थान की याचना की। शय्यातर ने कहा—यदि वहां श्रमण न हों तो तुम ठहर जाओ। वे वहां ठहर गए। इतने में ही श्रमण वहां आए और वसति में प्रवेश करने लगे। बटुकों ने उन्हें रोका। परस्पर कलह हो गया। बटुक बोले—शय्यातर ने हमें यह स्थान दिया है। श्रमणों ने भी यही कहा। दोनों शय्यातर के पास गए। शय्यातर ने श्रमणों से कहा तुम वसति को शून्य कर चले गए, इसलिए मैंने बटुकों को अनुज्ञा दे दी। आप दोनों परस्पर सोच लें। एक ओर आप रहें और दूसरी ओर बटुक रहें। मैं स्वयं को झूठा साबित करना नहीं चाहता। दोनों के साथ रहने से परस्पर उपहास आदि के कारण कलह हो सकता है। दोनों को उस वसति से निष्कासित करने पर दोनों के मन में शय्यातर के प्रति प्रद्वेष हो सकता है। अथवा बटुकों का शय्यातर पर तथा श्रमणों पर प्रद्वेष हो सकता है। वे सोच सकते हैं कि इन श्रमणों के कारण हमें निकाला गया है। वे प्रद्विष्ट होकर स्तेनों के प्रयोग से अथवा अग्नि आदि के प्रयोग से, श्रमणों तथा शय्यातर—दोनों का अनर्थ करते हैं। इनसे निष्पन्न प्रायश्चित्त भी संयतों को प्राप्त होता है, जो वसति को शून्य कर चले गए थे।

५५०. एमेव चारण भडे, चारण उड्डंचगा उ अहिगतरा।
निच्छूढा व पदोसं तेणा-ऽगणिमाइ जह बडुया॥

इसी प्रकार चारण और भट संबंधी वे ही दोष हैं चारण बटुकों से भी अधिकतर होते हैं। वे प्रपंचबहुल होते हैं। उनको निष्कासित करने पर प्रद्विष्ट होकर वे बटुकों की भांति शय्यातर और श्रमणों के लिए स्तेन तथा अग्नि आदि के प्रयोग से अनेक अनर्थ उत्पादित कर सकते हैं।

५५१. छड्डणि काउड्डाहो, घाणारिस सुत्तऽवन्न अच्छंते।
इति उभयमरणदोसा, आएसा जहा बडुगमाई॥

वसति को शून्य देखकर कोई पशु अथवा अनाथ पुरुष उसमें घुस सकता है। वहां उसकी अचानक मृत्यु हो जाती है। यदि शव को गृहस्थों से परिष्ठापित करवाते हैं तो छह-काय की विराधना होती है और यदि मुनि स्वयं करते हैं तो प्रवचन का उड्डाह—अवहेलना होती है। यदि मृतक का छर्दन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं होता है तो दुर्गन्ध के कारण नाक में अर्श आदि हो सकते हैं। सूत्रपौरुषी और अर्थपौरुषी की हानि होती है। लोगों में अवर्णवाद होता है। लोग कहते हैं—देखो! ये श्मशान में निवास कर रहे हैं। (क्योंकि शव वहां पड़े हैं।) वसति में तिर्यंच और मनुष्य के मर जाने पर होने वाले ये दोष हैं। शय्यातर के कोई अतिथि आ गए। वसति को शून्य देखकर वह अपने अतिथियों को वहां ठहराता है। इसी प्रकार बटुक, चारण, भट आदि को भी वसति दे सकता है। इनके कारण अनेक दोष होते हैं।

५५२. अहिगरण मारणाऽणीणियम्मि अच्छंते वालि आयवहो।
निरिणीय जहा वाले, सूतिमणुस्सीए उड्डाहो॥
५५३. छड्डेउं व जइ गया, उज्झमणुज्झंति होंति दोसा उ।
एवं ता सुन्नाए, बाले ठविते इमे दोसा॥

शून्य वसति में व्याल—सर्प प्रवेश कर सकता है। श्रमण आते हैं और उसे निकालते हैं तो अधिकरण दोष होता है—सर्प वहां से निकल कर हरित आदि से गुजरता है। अथवा निष्कासित होता हुआ वह सर्प मुनि को डस लेता है तो मृत्यु हो सकती है। यदि नहीं निकालते हैं, सर्प वहीं रहता है तो आत्मविराधना होती है। शून्य वसति में कोई तिर्यंच मादा प्रसव कर देती है। उस प्रसूता को निष्कासित करने पर सर्प की भांति दोष उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार प्रसूता मानवी को निकालने पर प्रवचन का उड्डाह होना है तथा अनेक अन्यान्य दोष होते हैं।

अथवा वह प्रसूता स्त्री अपने बालक को वहीं छोड़कर जा सकती है। और यदि श्रमण उस सद्यप्रसूत बालक का परित्याग करते हैं तो दयाविहीन होने का दोष होता है। परित्याग न करने पर प्रवचन का उपहास होता है। ये सारे दोष वसति को शून्य कर चले जाने पर होते हैं। बालक मुनि को वसतिपाल के रूप में बिठाकर जाने से ये दोष होते हैं।

५५४. बलि धम्मकहा किड्डा, पमज्जणाऽऽवरिसणा य पाहुडिया।
खंधार अगणि भंगे, मालव-तेणा य नाती य॥

निम्न द्वारों से वे दोष वक्तव्य हैं—

१. बलिद्वार	७. स्कंधावारद्वार
२. धर्मकथाद्वार	८. अग्निद्वार
३. क्रीडाद्वार	९. भंगद्वार
४. प्रमार्जनद्वार	१०. मालवस्तेनद्वार
५. आवर्षणद्वार	११. ज्ञातिद्वार।
६. प्राभृतिकाद्वार	

५५५. साभाविय तन्नीसाए आगया भंडगं अवहरंति।
नीणेमि त्ति व बाहिं, जा पविसइ ता हरंतऽन्ने॥
५५६. एमेव कइयवा ते, निच्छूढं तं हरंति से उवहिं।
बाहिं च तुमं अच्छसु, अवणेहुवहिं व जा कुणिमो॥

कुछ मुनि कदाचित् सप्राभृतिका शय्या[1] में ठहरे। वहां बलि के निमित्त आने वाले दो प्रकार के लोग होते हैं। कुछ स्वाभाविक रूप से वहां आते हैं और कुछ माया से वहां आते हैं। कुछ बलि के निमित्त आए हुए लोग वहां वसतिपाल के रूप में बाल मुनि को देखकर भांड-उपकरणों का अपहरण कर लेते हैं। अथवा वे बलि चढ़ाते हुए उपकरणों को लेपयुक्त कर देते हैं, तब वह बालक कहता है—मैं उपकरणों को बाहर रख देता हूं। जब वह बालक बाहर जाकर पुनः प्रवेश करता है, इसके अंतराल में दूसरे लोग अन्य उपकरणों का अपहरण कर लेते हैं। कुछ लोग माया से वहां आकर बाल मुनि को कहते हैं—बलि आ रही है। तुम बाहर जाओ। इस प्रकार उसको बाहर निकाल कर उसकी उपधि का हरण कर लेते हैं। अथवा वे उसे कहते हैं—जब तक हम बलि की विधि करें, तब तक तुम बाहर रहो। अथवा वे कहते हैं—तुम अपनी उपधि बाहर ले जाओ। जब कुछ उपधि बाहर ले जाता है तो शेष उपधि का अपहरण कर डालते हैं।

५५७. कतिएण सभावेण व, कहापमत्ते हरंति से अण्णे।
किड्डा सयं व रिंखा, पासति व तहेव किड्डुगं॥

कुछेक लोग स्वाभाविकरूप से और कुछ कपटपूर्वक वहां धर्मकथा सुनने के लिए आते हैं और अकेले बाल मुनि को देखकर धर्मकथा करने के लिए कहते हैं। वह बाल मुनि कथा में प्रमत्त हो जाता है, लवलीन हो जाता है। तब कुछ अन्य व्यक्ति उपकरणों का अपहरण कर लेते हैं।

क्रीड़ा के निमित्त भी दो प्रकार के पुरुष आते हैं—स्वाभाविकरूप से तथा कपटपूर्वक। जब वह बाल मुनि क्रीड़ा में संलग्न नहीं होता, तब वे कहते हैं—हमको क्रीड़ा और रिंखा (झूलते) करते हुए देखो। वह बाल मुनि क्रीड़ा देखने में प्रमत्त हो जाता है। वे उपकरणों का अपहरण कर लेते हैं।

५५८. जो चेव बलीए गमो, पमज्जणाऽवरिसणे वि सो चेव।
पाहुडियं वा गेण्हसु, परिसाडणियं व जा कुणिमो॥

जो बलिद्वार में विकल्प कहे गए थे, वे ही विकल्प प्रमार्जन और आवर्षण में जानने चाहिए। प्राभृतिका के दो अर्थ हैं—भिक्षा और अर्चनिका। आए हुए लोग कहते हैं—भिक्षा लो अथवा जब तक हम अर्चनिका (परिशाटनिका) करें तब तक

१. सप्राभृतिका शय्या सार्वजनिक होती है। वहां लोग आकर बलि-क्रिया करते हैं—सप्राभृतिका नाम सार्वजनिका यत्र आगत्य बलिः प्रक्षिप्यते। (वृ. प. १६२)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तुम बाहर जाओ। वह बाहर जाता है, और तब उपकरणों का अपहरण हो जाता है।

५५९. खंधारभया नासति, एस व एइ त्ति कइयवे णस्स।
अगणिभया व पलायति, नस्ससु अगणी व एति त्ति॥

कोई स्कंधावार के आगमन की बात सुनकर स्वाभाविक रूप से पलायन कर जाता है। कोई कपटपूर्वक बाल मुनि को स्कंधावार के आगमन की बात कहता है तब वह भी पलायन कर जाता है। पीछे से उपकरणों का अपहरण कर लिया जाता है। इसी प्रकार अग्नि के भय से स्वाभाविक पलायन होता है और कोई कपटपूर्वक उसे कहता है- क्षुल्लक! जल्दी भागो। अग्नि इधर ही आ रही है। वह भयभीत होकर भाग जाता है। उसकी उपधि का अपहरण हो जाता है।

५६०. उवहीलोभ भया वा, न नीति न य तत्थ किंचि नीणेइ।
गुत्तो व सयं डज्झइ, उवहिं च विणा उ जा हाणी॥

उपधि के लोभ से अथवा अग्नि के भय से वह बालमुनि न स्वयं बाहर जाता है और न उपधि आदि को बाहर निकालता है। तब वह उपधि के लोभ से अन्दर बैठा हुआ अग्नि से जलकर भस्म हो जाता है और उपधि का अपहरण भी हो जाता है। अब उपधि के बिना जो हानि होती है, वह साधुओं को भुगतनी पड़ती है।

५६१. मालवतेणा पडिया, इयरे वा नासती जणेण समं।
न य गेण्हइ सारुवहिं, तप्पडिबद्धो व हीरेजा॥

कोई यह बात स्वाभाविक रूप से कहता है अथवा मायापूर्वक कि मालव के स्तेन अथवा अन्य स्तेन आ गए हैं। यह सुनकर लोगों के साथ वह बाल मुनि भी पलायन कर जाता है। तब उपकरणों का अपहरण हो जाता है। स्वाभाविक कथन को सुनकर वह बालमुनि सारभूत उपकरणों को लेकर पलायन नहीं करता है तो हानि होती है और यदि वह उपधि से प्रतिबद्ध होकर वहीं रहता है तो स्तेन आते हैं और उपधिसहित उसका भी अपहरण कर लेते हैं।

५६२. सन्नायगेहि नीते, एंति व नीय त्ति नट्ठे जं उवहिं।
कहिं नीय त्ति कइयवे, कहिए अन्नस्स सो कइए॥

५६३. चिंधेहिं आगमेउं, सो वि य साहेइ तुह निया पत्ता।
नेमो उवहिग्गहणं, तेहिं व हं पेसितो हरइ॥

स्वभावतः स्वज्ञातिक जन वहां आए और एकाकी बालक मुनि को देखकर उसे ले जाते हैं। अन्य उपधि का अपहरण कर लेते हैं। अथवा किसी ने बालक मुनि से कहा-तुम्हारे ज्ञातिजन आ रहे हैं। यह सुनकर वह भाग जाता है। उसके जाने पर दूसरे लोग उपधि का अपहरण कर लेते हैं। कोई धूर्त्त व्यक्ति बालमुनि के पास आकर ज्ञातिजनों के विषय में पूछकर दूसरे धूर्त्त व्यक्ति को बताता है। वह दूसरा धूर्त्त व्यक्ति ज्ञातिजनों के नाम-ठाम, चिह्न आदि जानकर बालमुनि के पास आकर कहता है-तुम्हारे ज्ञातिजन तुमको ले जाने के लिए आए हैं। तब वह बालमुनि उनकी बात में आकर पलायन कर जाता है। तब वे उपधिग्रहण कर लेते हैं। अथवा कोई धूर्त्त आकर बालमुनि से कहता है-तुम्हारे ज्ञातिजनों ने मुझे तुम्हारे समाचार अथवा तुमको लाने के लिए भेजा है। वह उनकी बातों में आकर साथ हो जाता है। वे उसका और उसकी सारी उपधि का अपहरण कर लेते हैं।

५६४. एते पदे न रक्खति, बाल गिलाणे तहेव अव्वत्ते।
निद्दा-कहापमत्ते, वत्ते वि य जे भवे भिक्खू॥

इन बलि आदि स्थानों की रक्षा बाल, ग्लान तथा अव्यक्त मुनि नहीं कर सकता। जो मुनि व्यक्त होने पर भी निद्राप्रमत्त और कथाप्रमत्त होता है, वह भी इन स्थानों की रक्षा नहीं कर सकता।

५६५. एमेव गिलाणे वी, सयकिड्ड-कहा-पलायणे मोत्तुं।
अव्वत्तो उ अगीतो, रक्खणकप्पे परोक्खो उ॥

इसी प्रकार ग्लान को स्थानरक्षा के लिए रखकर जाने से भी ये ही सारे दोष प्राप्त होते हैं। इनमें स्वयं क्रीड़ा करने, कथा करने, पलायन करने संबंधी दोष नहीं होते। अव्यक्त मुनि अगीतार्थ होता है। वह रक्षणकल्प के लिए परोक्ष होता है, अयोग्य होता है।

५६६. तम्हा खलु अब्बाले, अगिलाणे वत्तमप्पमत्ते य।
कप्पइ य वसहिपालो, धिइमं तह वीरियसमत्थो॥

इसलिए अबाल, अग्लान, व्यक्त, अप्रमत्त, धृतिमान तथा वीर्यसंपन्न हो, उस मुनि को वसतिपाल के रूप में स्थापित किया जा सकता है।

५६७. सति लंभम्मि अणियया, पणगं जा ताव होति अच्छित्ती।
जहनेण गुरू चिट्ठइ, तस्संदिट्ठो विमा जयणा॥

भिक्षा का लाभ सहज होने पर अनियत वसतिपाल रखे जा सकते हैं। अथवा आचार्य आदि पांच वहां रहते हैं अथवा आचार्य उस एक मुनि के साथ रहते हैं जो अव्यवच्छित्ति करने में समर्थ हों। जघन्यतः गुरु अकेले वहां रहते हैं। अथवा आचार्य आदि गणकार्य के लिए बाहर जा रहे हों तो उनके द्वारा संदिष्ट मुनि वहां रहता है। वह वसतिपाल के रूप में सारी यतना का पालन करे।

५६८. अप्पुव्वमतिहिकरणे, गाहा ण य अण्णभंडगं छिविमो।
भणइ व अठायमाणे, जं नासइ तुज्झ तं उवरिं॥

(सार्वजनिक स्थान में कैसे जाना जाए कि अमुक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपहरणकर्त्ता है?) ग्रंथकार कहते हैं—जो अपूर्व हों—जिन्हें पहले कभी न देखा गया हो, जो विशेष तिथि के बिना बलि करने आए हों—ये अपहरणकर्त्ता के लक्षण हैं। वे भी यदि मुनियों से कहे—'आप बाहर जाएं, हम बलिक्रिया करेंगे।' तब उन्हें यह गाथा सुनाए—

न वि लोणं लोणिज्जइ, न वि तुप्पिज्जइ घयं व तेल्लं वा।
किह नाम लोगडंभग! वट्टम्मि ठविज्जए वट्टो?॥
अन्नं भंडेहि वणं, वणकुट्टग! जत्था ते वहइ चंचू।
भंगुरवणवुग्गाहित!, इमे हु खदिरा बइरसारा॥

गाथा सुनकर वे जान जाते हैं कि इन्होंने हमें पहचान लिया है। अथवा उनको कहे—ये उपकरण दूसरों के हैं। हम दूसरों के उपकरणों को नहीं छूते। इतना कहने पर भी वे न मानें तो उन्हें कहे—आप नहीं मान रहे हैं तो सुनिए, इन उपकरणों में से जो खराब होगा या चला जाएगा, उसकी पूरी जिम्मेवारी आप लोगों पर होगी।

५६९. कारणे सपाहुडि ठिया, वासे वि करेंति एगमाओगं।
सन्नाविय दिट्ठा वा, भणाइ जा सारवेमुवहिं॥

यदि कारणवश सप्राभृतिका—सार्वजनिक स्थान में वर्षाकाल में भी रहना पड़े तो समस्त उपकरणों का एक आयोग अर्थात् गट्ठर बांध दे, जिससे कि उसमें से कुछ भी न निकाला जा सके। यदि शय्यातर अथवा अन्य द्वारा संदिष्ट व्यक्ति बलि क्रिया करने आए तथा स्वयं द्वारा पूर्वदृष्ट भी वहां आए हों तो वसतिपाल मुनि उनसे कहे—'मैं उपकरणों को एक ओर व्यवस्थित कर लूं तब तक आप रुकें।'

५७०. उव्वरए कोणे वा, काऊण भणाति मा हु लेवाडे।
बहु पेल्लणऽसारविए, तहेव जं नासती तुज्झं॥

वसतिपाल मुनि तब उपकरणों को एक कमरे में अथवा कोने में रखकर उनसे कहे—बलि करते समय इन उपकरणों को बलि द्रव्य से खरंटित न करें। यदि बहुत सारे लोग जबरन वहां प्रविष्ट हो जाएं और उपकरणों को एक ओर रखने तक भी प्रतीक्षा न कर सकें तो उनसे पूर्ववत् कहे—यदि उपकरणों से कुछ भी नष्ट होगा तो उसकी जिम्मेदारी तुम लोगों पर ही होगी।

५७१. नत्थि कहालद्धी मे, पुव्वं दिट्ठे व बेति गेलण्णं।
दाणादि असंकाण व, आउज्जंतो परिकहेइ॥

यदि वे धर्मकथा सुनने का आग्रह करें तो उनसे कहे—मेरे में कथालब्धि नहीं है। यदि वे कहे—मैंने तुमको पहले कथा करते देखा है। तब कहे—आज मैं ग्लान हूं। यदि धर्मकथा के लिए कहने वाले दानादि श्राद्ध हों, जो अशंकनीय हों तब जागरूकतापूर्वक धर्मकथा करे।

५७२. दट्ठुं पि णे न लब्भामो, मा किड्डह मा हरिज्जिहं को वि।
संमज्जणाऽऽवरिसणे, पाहुडिया चेव बलिसरिसा॥

यदि वहां स्थान पर आकर कोई क्रीड़ा करें तो उनको कहे—हम यहां क्रीड़ा करते हुए व्यक्तियों को देखना भी नहीं चाहते, इसलिए यहां क्रीड़ा न करें। यह इसलिए कहे कि कोई भांडोपकरण का अपहरण न करे। प्रमार्जन, आवर्षण तथा प्राभृतिका में बलिद्वारवत् यतना करे।

५७३. खमणं निमंतिते ऊ, खंधारे कइयवे इमं भणति।
किं णे निरागसाणं, गुत्तिकरो काहिई राया॥

यदि कोई भिक्षा के लिए निमंत्रण दे तो उसे कहे—आज क्षपण—तपस्या है। यदि कोई मायापूर्वक स्कंधावार का भय दिखाए तो उसे कहे—हम निरपराध व्यक्तियों के लिए क्या? राजा हमारा गुप्तिकर—रक्षाकर होगा।

५७४. पभु अणुपभु (णो व) निवेयणं तु पेल्लंति जाव नीणेमि।
तह वि य अठायमाणे, पासे जं वा तरति नेउं॥

यदि यथार्थ में स्कंधावार आ जाए जो राजा तथा अनुप्रभु—सेनापति आदि के पास जाकर कहे। उनके द्वारा संदिष्ट राजपुरुष उपाश्रय में आकर उपाश्रय से अन्य व्यक्तियों को बाहर निकाल देते हैं। यदि वे नहीं जाते हैं तो उनसे कहे—मैं उपकरणों को ले जाता हूं, तब तब प्रतीक्षा करो। यदि वह सारे उपकरण एक बार में न ले जा सके तो अपने दोनों पार्श्वों में सारभूत भांडों को बांधकर, जितना ले जा सके उतना ले जाए।

५७५. कोल्लुपरंपर संकलि, आगासं नेइ वायपडिलोमं।
अच्छुल्लूढा जलणे, अक्खाई सारभंडं तु॥

अग्नि से बचने के लिए सारे उपकरणों को 'कोल्लुक-चक्र' न्याय से चार-पांच पोट्टलिकाओं में बांध दे। फिर खुले आकाश में, वायु की प्रतिलोम दिशा में उन पोट्टलिकाओं को रख दे। वहां वे अग्नि से अस्पृष्ट रहेंगे। परंतु अग्नि की प्रचंडता उस ओर भी प्रसारित होने लगे तो अक्ष आदि सारभूत पदार्थों को निकाल कर अग्नि से बचा ले।

५७६. असरीरतेणभंगे, पवलाए जणे उ जं तरति नेउं।
न वि धूमो न वि बोलो, न हवति जणो कइयवेसुं॥

स्तेन दो प्रकार के होते हैं—शरीरस्तेन और अशरीर-स्तेन। अशरीरस्तेनों के आने पर भागने वाले लोग जितना धनमाल बचा सकते हैं, उतना लेकर चले जाते हैं। कपट-पूर्वक यदि कोई कहे—आग लग गई है। स्तेन आ गए हैं। तो उसे कहे—न कोई धूम दिखाई दे रहा है और न कोलाहल ही सुनाई दे रहा है। इस प्रकार समझदार व्यक्ति उस कपटपूर्वक कथन से विचलित नहीं होता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५७७. अन्नकुल-गोत्तकहणं, पत्तेसु वि भीयपरिस पेल्लेइ।
पुव्वं अभीयपरिसे, भणाति लज्जाए न भणामि॥

५७८. जा ताव ठवेमि वए, पत्ते कुड्डादिछेय संगारो।
मा सिं हीरे उवहिं, अच्छह जा सिं निवेएमि॥

कुछ ज्ञातिजन स्थान पर आकर पूछे तो अपना कुल और नाम गुप्त रखकर अन्य कुल और नाम बताए। यदि वे पहचानते हों और भयभीत होने वाले हों तो उनको भय दिखाते हुए कहे—मैं राजकुल में शिकायत कर आपको बंधनग्रस्त करा दूंगा। इतने पर भी वे न डरें तो उनसे कहे—'मेरी इच्छा भी उत्क्रमण करने की है, परन्तु लज्जावश मैं कह नहीं सकता। साधु बाहर से आ जायेंगे तो उनके सामने व्रतों को छोड़ दूंगा। आप कुछ रुकें। मैं उनको भी अपनी बात निवेदित कर दूंगा।' वह मुनि यह प्रपंच इसलिए भी करता है कि शून्य वसति को देखकर कोई उपकरणों का अपहरण न कर ले।

साधुओं के आने पर वह मुनि उपाश्रय की भींत के छिद्र को गिराकर, यह संकेत देता हुआ कि मुझे अमुक स्थान पर खोज लेना, पलायन कर जाता है।

५७९. खंधारादी नाउं, इयरे वि तहिं दुयं समभिएंति।
अप्पाहेई तेसिं, अमुगं कज्जं दुयं एह॥

दूसरे मुनि भी स्कंधावार आदि की बात सुनकर वहां शीघ्र ही एकत्रित हो जाते हैं। वह वसतिपाल मुनि उन मुनियों को यह संदेश भेजता है—अमुक प्रयोजन प्रस्तुत हो गया है, आप जल्दी आएं।

५८०. दुविहकरणोवघाया, संसत्ता पच्चवाय सिज्जविही।
जो जाणति परिहरिउं, सो गहणे कप्पितो होति॥

वसति का करण दो प्रकार का है—मूलकरण और उत्तरकरण। इन दोनों से उपघात अर्थात् मूलकरणोपहत और उत्तरकरणोपहत वाली वसति तथा पृथ्वीकाय आदि से संसक्त, प्रत्यवाय—बाधा उपस्थित करने वाली इन दोषों का परिहार करना जो जानता है, तथा शय्याविधि का ज्ञाता है, वह शय्याग्रहणकल्पिक होता है।

५८१. सत्तेव य मूलगुणे, सोही सत्तेव उत्तरगुणेसु।
संसत्तम्मि य छक्कं, लहु-गुरु-लहुगा चरम जाव॥

सात प्रकार के मूलगुणों की शोधि और सात प्रकार से ही उत्तरगुणों की शोधि होती है। उपाश्रय के संसक्त होने पर छह प्रकार से शोधि करनी चाहिए। यदि ऐसे उपाश्रय में रहा जाता है तो लघु, गुरु, लघुक से चरम पर्यन्त प्रायश्चित्त जानना चाहिए।

५८२. पट्ठीवंसो दो धारणाउ चत्तारि मूलवेलीतो।
मूलगुणेहिं उवहया, जा सा आहाकडा वसही॥

वसति के सात मूलकरण ये हैं—उपरितन तिरछा दिया हुआ पृष्ठवंश, दो मूलधारण जिन पर पृष्ठवंश तिरछा स्थापित किया जाता है और चार मूलवेलियां जो दोनों मूलधारणाओं के दोनों ओर दी जाती हैं। जो वसति इन मूलगुणों से उपहत होती है वह आधाकर्मिक वसति है।

५८३. वंसग कडणोक्कंचण छावण लेवण दुवार भूमी य।
सप्परिकम्मा वसही, एसा मूलोत्तरगुणेसु॥

वसति के सात उत्तरकरण—वेली के ऊपर बांस स्थापित करना, पृष्ठवंश पर तिरछेरूप से 'कट' देकर आच्छादित करना, उसके ऊपर कंबिकाओं को बांधना, छादन—दर्भ आदि से आच्छादित करना, लेपन—भींतों को लीपना, द्वार की अदला-बदली करना, भूमी को सम करना—यह सात प्रकार का उत्तरकरण है। मूलकरण और उत्तरकरण की हुई वसति सपरिकर्मा होती है।

५८४. दूमिय धूविय वासिय, उज्जोविय बलिकडा अवत्ता य।
सित्ता सम्मट्ठा वि य, विसोहिकोडी कया वसही॥

मतान्तर से अन्य उत्तरकरण ये हैं—

- दूमित—चूने आदि से भींतों को धवलित करना।
- धूपित—गंध धूप से धूपित करना।
- वासित—वसति को सुगंधित करना।
- उद्योतित करना।
- बलिकृत।
- अवत्त अर्थात् आंगन को गोबर आदि से लिप्त करना।
- सिक्त करना—पानी छिड़कना।
- संमार्जन करना—बुहारी से साफ करना।

—इन उत्तरगुणों से कृत वसति विशोधिकोटि की होती है।

५८५. अप्फासुएण देसे, सव्वे वा दूमियादि चउलहुगा।
अप्फासु धूमजोती, देसम्मि वि चउलहू होंति॥

५८६. सेसेसु फासुएणं, देसे लहु सव्वहिं भवे लहुगा।
सम्मज्जण साह-कुसादि छिन्नमेत्तं तु सच्चित्तं॥

देशतः अथवा सर्वतः अप्रासुक दूमित आदि की गई वसति में रहने पर प्रत्येक क्रिया का चार-चार लघुक प्रायश्चित्त विहित है। अगरु आदि से वसति को देशतः धूपित करना, दीपक जलाकर उद्योतित करना चारलघुक का प्रायश्चित्त आता है।

शेष अर्थात् धूपित और उद्योतित को छोड़कर दूमित, वासित आदि में देशतः प्रासुक करने पर मासलघु और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सर्वतः करने पर चारलघुक का प्रायश्चित्त है। संमार्जन में यदि सचित्त शाखा, कुश आदि जो छिन्नमात्र हैं, उनका देशतः अथवा सर्वतः संमार्जन करने पर चारलघु का प्रायश्चित्त आता है।

५८७. मूलुत्तरचउभंगो, पढमे बीए य गुरुग सविसेसा।
तइयम्मि होइ भयणा, अत्तट्ठकडो चरम सुद्धो॥

वसति का मूलकरण और उत्तरकरण (गाथा ५८२,५८३) से संबंधित चतुर्भंगी है—

(१) साधु के निमित्त मूलकरण और उत्तरकरण करना।
(२) साधु के निमित्त मूलकरण और उत्तरकरण स्वयं के लिए।
(३) स्वयं के निमित्त मूलकरण और उत्तरकरण साधु के लिए। इसमें भजना होती है।
(४) दोनों स्वयं के निमित्त करना।

प्रथम भंग का प्रायश्चित्त है—तप और काल से गुरु चार गुरुमास। दूसरे भंग का प्रायश्चित्त है—तप से गुरु, काल से लघु चार गुरुमास। तीसरे भंग का प्रायश्चित्त है—इसमें उत्तरकरण यदि विशोधिकोटि वाला है तो तप से लघु काल से गुरु चार गुरुमास। यदि अप्रासुक से देशतः अथवा सर्वतः परिकर्म करने पर चार लघुमास। प्रासुक से देशतः मासलघु और सर्वतः चार लघुमास। चौथा भंग शुद्ध है।

५८८. पुढवि दग अगणि हरियग, तसपाण सागारियादि संसत्ता।
बंभवयआदि-दंसणविराहिगा पच्चवाया उ॥

जो शय्या पृथ्वी, उदक, अग्नि, हरित, त्रसप्राणियों तथा सागारिक आदि से संसक्त होती है तथा ब्रह्मव्रत आदि तथा दर्शन अर्थात् सम्यक्त्व की विराधिका होती है, वह सप्रत्यवाय शय्या कहलाती है।

५८९. काएसु उ संसत्ते, सचित्त-मीसेसु होइ सट्ठाणं।
सागारियसंसत्ते, लहुगा गुरुगा य जे जत्थ॥

सचित्त अथवा मिश्र पृथिवी आदि काय से संसक्त शय्या में रहने से स्वस्थाननिष्पन्न प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। पुरुषों से संसक्त शय्या में रहने से निर्ग्रंथों को चार लघुक तथा स्त्रीसंसक्त शय्या में रहने से चार गुरुक का प्रायश्चित्त विहित है। साध्वी यदि स्त्रीसंसक्त उपाश्रय में रहे तो चार लघु और पुरुषसंसक्त उपाश्रय में रहे तो चार गुरु का प्रायश्चित्त आता है।

५९०. गुरुगा बंभावाए, आयाए चेव दंसणे लहुगा।
आणादिणो विराहण, भवंति एक्केक्कगपयाओ॥

ब्रह्मव्रत और आत्मप्रत्यवाय वाले उपाश्रय में रहने पर चार गुरुमास का तथा दर्शनप्रत्यवाय वाले उपाश्रय में रहने पर चार लघुमास का प्रायश्चित्त विहित है। एकैक पद से आज्ञाभंग आदि विराधनाएं होती हैं। ये सारे प्रायश्चित्त के साथ समायोजनीय हैं।

५९१. तिरिय-मणुइत्थियातो, बंभावातो उ तिविह पडिमातो।
अहिबिल-चलंतकुड्डादि एवमादी उ आयाए॥
५९२. आगाढमिच्छदिट्ठी, सव्वातिहि मरुग बहुजणट्ठाणा।
पासंडा य बहुविहा, एसा खलु दंसणावाया॥

जिस उपाश्रय में तिर्यंचस्त्रियां, मनुष्यस्त्रियां अथवा तीन प्रकार की प्रतिमाएं हों—मनुष्यस्त्री की प्रतिमा, तिर्यंचस्त्री की प्रतिमा या देवस्त्री की प्रतिमा—ये सारे ब्रह्मचर्य के प्रत्यवाय हैं। वहां रहने पर ब्रह्मचर्य का विनाश संभव है।

जहां उपाश्रय में सर्पों के बिल हों अर्थात् बिलों में सर्पों का निवास हो, जहां भींतें आदि हिल रही हों—ये आत्म-प्रत्यवाय के साधन हैं। जहां आगाढ़ मिथ्यादृष्टि रहते हों, सभी प्रकार के अतिथि याचक आदि आते हों, जहां मरुक—बटुक आदि रहते हों, जो अनेक मनुष्यों का स्थान हो (देशिककुटी आदि), जहां बहुत प्रकार के पाषंड रहते हों—ऐसी वसति दर्शनप्रत्यवाय वाली होती है।

५९३. कालातिक्कंतोवट्ठाण अभिकंत अणभिकंता य।
वज्जा य महावज्जा, सावज्ज महऽप्पकिरिया य॥

शय्या के नौ प्रकार हैं—

१. कालातिक्रान्त	४. अनभिक्रान्त	७. सावद्य
२. उपस्थान	५. वर्ज्य	८. महासावद्य
३. अभिक्रान्त	६. महावर्ज्य	९. अल्पक्रिया।

५९४. कालातीते लहुगो, चउरो लहुगा य चउसु ठाणेसु।
गुरुगा तिसु जमलपया, अप्पकिरियाए सुद्धो उ॥

कालातिक्रान्त शय्या में ऋतुबद्ध काल में रहने पर मासलघु और वर्षाकाल में रहने पर चार लघुमास का प्रायश्चित्त है। चार स्थानों अर्थात् उपस्थान, अभिक्रांत तथा वर्ज्य शय्या में ठहरने पर प्रत्येक का चार-चार लघुमास का प्रायश्चित्त तथा तीन अर्थात् महावर्ज्य, सावद्य तथा महासावद्य शय्या में ठहरने पर प्रत्येक का चार-चार गुरुमास का प्रायश्चित्त है। यह 'यमलपद' अर्थात् तप और काल से विशेषित है। 'यमलपद' यह तप और काल की द्योतक संज्ञा है। अल्पक्रिया वाली शय्या शुद्ध है।

५९५. उउ-वासा समतीता, कालातीया उ सा भवे सेज्जा।
स च्चेव उवट्ठाणा, दुगुणा दुगुणं अवज्जेत्ता॥

जहां ऋतुबद्ध काल में तथा वर्षावास में रहा जाता है वह कालातिक्रांत वसति है। जहां दो ऋतुबद्ध काल अर्थात् दो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मास और दो वर्षावास अर्थात् आठ मास का वर्जन किए बिना पुनः उसी शय्या में रहा जाता है तो वह उपस्थान शय्या कहलाती है।[1]

५९६. जावंतिया उ सेज्जा, अन्नेहिं निसेविया अभिक्कंता।
अन्नेहि अपरिभुत्ता, अनभिक्कंता उ पविसंते॥

जो वसति यावन्तिका—सार्वजनिक हो और वह चरक आदि पाषंडी तथा अन्य व्यक्तियों द्वारा परिसेवित हो, वहां यदि साधु ठहरते हैं तो वह अभिक्रान्त शय्या है। जो शय्या अन्य व्यक्तियों द्वारा अभुक्त हो, वह साधुओं के लिए अनभिक्रांत शय्या है।

५९७. अत्तट्ठकडं दाउं, जतीण अन्नं करेंति वज्जा उ।
जम्हा तं पुव्वकयं, वज्जंति ततो भवे वज्जा॥

जो गृहस्थ अपने लिए कृत वसति को मुनियों को देकर, स्वयं के लिए अन्य वसति तैयार करवाता है तो मुनियों को दी गई वसति वर्ज्य होती है। गृहस्थ उस पूर्वकृत वसति का वर्जन करते हैं, क्योंकि वह मुनियों को दे दी गई है, इसलिए वह वर्ज्य कहलाती है।

५९८. पासंडकारणा खलु, आरंभो अभिणवो महावज्जा।
समणट्ठा सावज्जा, महसावज्जा उ साहूणं॥

जो वसति पाषंडियों के लिए नए रूप में निर्मित की जाती है वह महावर्ज्य वसति है। पांच प्रकार के श्रमणों के लिए निर्मित वसति सावद्य और साधुओं के लिए निर्मित वसति महासावद्य कहलाती है।

५९९. जा खलु जहुत्तदोसेहिं वज्जिया कारिया सअट्ठाए।
परिकम्मविप्पमुक्का, सा वसही अप्पकिरिया उ॥

जो वसति यथोक्त दोषों से वर्जित है और जो स्वयं के लिए निर्मित है, जो परिकर्म से विप्रमुक्त है, वह अल्पक्रिया वसति होती है।

६००. हिट्ठिल्ला उवरिल्लाहि बाहिया न उ लंभति पाहन्नं।
पुव्वाणुन्नाऽभिणंव, च चउसु भय पच्छिमाऽभिणवा॥

एक दूसरे से नीचे वाली वसतियां उपरितन वसतियों से बाधित होती हैं। वे प्राधान्य को प्राप्त नहीं होती। इन नौ प्रकार की शय्याओं में पूर्व-पूर्व की अनुज्ञा है। चार प्रकार की शय्याओं (अनभिक्रांत, वर्ज्य, महावर्ज्य और सावद्य) में अभिनव दोष की भजना है। पश्चिम शय्या अर्थात् महासावद्य शय्या में अभिनवदोष होते ही हैं। जो इन सभी दोषों के आधार पर शय्या के परिहरण का ज्ञाता है, वह शय्या-ग्रहण कल्पिक है।

६०१. उग्गम-उप्पायण-एसणाहिं सुद्धं गवेसए वसहिं।
तिविहं तीहिं विसुद्धं, परिहर नवगेण भेदेणं॥

उद्गम, उत्पादन और एषणा—इन तीनों से शुद्ध वसति की गवेषणा करे। खात आदि के भेद से तीन प्रकार की वसति का जो उद्गम आदि से अशुद्ध हो, उनका तीन करण तीन योग से अर्थात् नौ भेदों से परिहार करना चाहिए।

६०२. पढिय सुय गुणियमगुणिय, धारमधार उवउत्तो परिहरति।
आलोयणमायरिये, आयरिओ विसोहिकारो से॥

जिसने ओघनिर्युक्ति अथवा इस कल्प-पीठिका को पढ़ा है, अथवा सुना है अथवा गुणित—अभ्यास किया है अथवा अगुणित है, धारित है अथवा अधारित है, फिर भी उपयुक्त होकर शय्या का परिभोग करता है, वह शय्याकल्पिक है। उसके इस विषयक कोई विराधना होती है तो वह आचार्य आदि से आलोचना करे। आचार्य उसके विशोधिकारक होते हैं।

६०३ नामं ठवणा वत्थं, दव्वे भावे य होइ नायव्वं।
एसो खलु वत्थस्स उ, निक्खेवो चउव्विहो होइ॥

वस्त्र के चार प्रकार हैं—नामवस्त्र, स्थापनावस्त्र, द्रव्य-वस्त्र तथा भाववस्त्र। इस प्रकार वस्त्र के चार प्रकार का निक्षेप है।

६०४. दव्वे तिविहं एगिंदि-विगल-पंचेंदिएहिं निप्फन्नं।
सीलंगाइं भावे, दव्वे पगयं तदट्ठाए॥

द्रव्यवस्त्र के तीन प्रकार हैं—एकेन्द्रियनिष्पन्न, विकलेन्द्रिय-निष्पन्न तथा पंचेन्द्रियनिष्पन्न। भाववस्त्र है—अठारह हजार शीलांग। इन अठारह हजार शीलांगों से साधु नित्य प्रावृत रहते हैं, इसलिए ये भाववस्त्र हैं। यहां द्रव्यवस्त्र का अधिकार है। यह द्रव्यवस्त्र भाववस्त्र के लिए होता है।

६०५. पुणरवि दव्वे तिविहं, जहण्णगं मज्झिमं च उक्कोसं।
एक्केक्कं तत्थ तिहा, अहाकड-ऽप्पं-सपरिकम्मं॥

द्रव्यवस्त्र के तीन प्रकारों में प्रत्येक तीन-तीन प्रकार का है—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। इनमें प्रत्येक तीन-तीन प्रकार का होता है—यथाकृत, अल्पपरिकर्म और सपरिकर्म।

६०६. चाउम्मासुक्कोसे, मासिय मज्झे य पंच य जहन्ने।
वोच्चत्थगहण-करणे, तत्थ वि सट्ठाणपच्छित्तं॥

उत्कृष्टवस्त्र ग्रहण में विपर्यास होने पर चारमास का,

---

१. मतान्तर के अनुसार जहां एक वर्षावास बिता चुके हों तो दो वर्षावास अन्यत्र बिताकर यदि पुनः पूर्व स्थान में वर्षावास बिताया जाता है तो वह उपस्थान शय्या नहीं होती, पहले जो ठहरे हों उनके वह 'उपस्थापना' शय्या होती है—अन्ये पुनरिदमाचक्षते—यस्यां वसतौ वर्षावासं स्थितास्तस्यां द्वौ वर्षारात्रावन्यत्र कृत्वा यदि समागच्छन्ति ततः सा उपस्थाना न भवति, अर्वाक् तिष्ठनां पुनरूपस्थापना। (वृ. पृ. १७२)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मध्यम के ग्रहण में एक मास का और जघन्य के ग्रहण में पांच रात-दिन का प्रायश्चित्त विहित है। वस्त्र के विपर्यस्त-ग्रहण और करण में स्वस्थान प्रायश्चित्त विहित है।

६०७. जोगमकाउमहागडे, जो गिण्हइ दोन्नि तेसु वा चरिमं।
लहुगा उ तिन्नि मज्झम्मि मासिआ अंतिमे पंच॥

यथाकृतवस्त्र विषयक उद्यम किए बिना ही जो दो प्रकार के अर्थात् अल्पपरिकर्म और सपरिकर्म वस्त्र ग्रहण करता है, यथाकृत वस्त्र की प्राप्ति न होने पर अल्पपरिकर्म और सपरिकर्म-दो प्रकार के वस्त्रों में से सपरिकर्म वस्त्र ग्रहण करता है, उत्कृष्ट, मध्यम तथा जघन्य-इन तीन प्रकार के आधार पर उपरोक्त तीनों स्थानों में क्रमशः यह प्रायश्चित्त है। उत्कृष्ट से संबंधित तीनों प्रकार में तीन चतुर्लघु, मध्यम से संबंधित तीनों प्रकार में तीन मासिक, और जघन्य में तीन पांच रात-दिन (यथाकृत आदि के विपर्यास से संबंधित यह प्रायश्चित्त है।)

६०८. एगयरनिग्गओ वा, अन्नं गिण्हिज्ज तत्थ सट्ठाणं।
छिन्नूण सिव्विऊण व, जं कुणइ तगं न जं छिंदे॥

उत्कृष्ट आदि में से जो किसी एक को प्राप्त करने के लिए निर्गत होता है वह दूसरा ही ग्रहण करता है तो उसे स्वस्थानप्राप्त प्रायश्चित्त आता है। जो उत्कृष्ट आदि वस्त्र को ग्रहण कर उसे फाड़कर अथवा सीकर मध्यम आकार का करता है, उसे उससे निष्पन्न प्रायश्चित्त आता है। छिद्यमान अथवा सीव्यमान वस्त्र विषयक प्रायश्चित्त नहीं आता।

६०९. उद्दिसिय पेह अंतर, उज्झियधम्मे चउत्थए होइ।
चउपडिमा गच्छ जिणे, दोण्हऽग्गहऽभिग्गहऽन्नयरा॥

गच्छवासी मुनियों की वस्त्र ग्रहण प्रतिमाएं चार हैं-

१. उद्दिष्टवस्त्रप्रतिमा
२. प्रेक्षावस्त्रप्रतिमा
३. अन्तरावस्त्रप्रतिमा
४. उज्झितवस्त्रप्रतिमा।

जिनकल्पिक मुनियों की दो प्रतिमाएं हैं-उद्दिष्ट तथा प्रेक्षा। इन दो का ही स्वीकार है, शेष दो का नहीं। यदि शेष दो में से किसी एक का अभिग्रह हो तो-तीसरे विकल्प का अभिग्रह हो तो चौथा नहीं और चौथा हो तो तीसरा नहीं।

६१०. उद्दिट्ठ तिगेगयरं, पेहा पुण दट्ठु एरिसं भणइ।
अन्न नियत्थऽत्थुरिए, इतरऽवणितो उ तइयाए॥

६११. दव्वाइ उज्झियं दव्वओ उ थूलं मए न घेत्तव्वं।
दोहि वि भावनिसिट्ठं, तमुज्झिओभद्वऽणोभट्ठं॥

उद्दिष्ट अर्थात् गुरु के समक्ष प्रतिज्ञात। तीन प्रकार में से किसी एक-उत्कृष्ट, मध्यम या जघन्य अथवा एकेन्द्रिय-निष्पन्न, विकलेन्द्रियनिष्पन्न अथवा पंचेन्द्रियनिष्पन्न-को ग्रहण करने की प्रतिमा। यह है उद्दिष्टवस्त्रप्रतिमा। दूसरी है-प्रेक्षा-वस्त्रप्रतिमा। वस्त्र को देखकर मुनि कहे कि यही वस्त्र अथवा इसी प्रकार का वस्त्र मुझे दो। तीसरी है-अंतरावस्त्रप्रतिमा। (उसकी व्याख्या अंतरीय अथवा उत्तरीय वस्त्रयुगल से करणीय है।) अथवा नियत्थ-परिहित या प्रावृत वस्त्र तथा 'अत्थुरिए-आस्तीर्ण वस्त्र। पुराने अंतरीय और उत्तरीय वस्त्रयुगल को निकाल कर दूसरे वस्त्रयुगल को रखने की इच्छा से जो याचना की जाती है वह तीसरी वस्त्र-प्रतिमा है।

चौथी वस्त्र प्रतिमा है-उज्झित वस्त्र की गवेषणा करना। द्रव्यादि उज्झित अर्थात् द्रव्योज्झित, क्षेत्रोज्झित, कालोज्झित और भावोज्झित। द्रव्योज्झित जैसे किसी गृहस्थ ने यह प्रतिज्ञा की कि मैं स्थूल वस्त्र ग्रहण नहीं करूंगा। किसी मित्र ने उसे स्थूल वस्त्र उपहृत किया। उसने लेने से मनाही कर दी। मित्र ने कहा-मैं वापस नहीं लूंगा। यह दायक और ग्राहक-दोनों द्वारा भावतः निसृष्ट अर्थात् परित्यक्त है। यह द्रव्यतः उज्झित कहा जाता है। अथवा जिनकल्पिक द्वारा बिना याचना किए अथवा याचना करने पर जो मिलता है वह द्रव्योज्झित है।

६१२. अमुगिच्चगं न भुंजे, उवणीयं तं च केणई तस्स।
जं वुज्झे कप्पडिया, सदेस बहुवत्थ देसे वा॥

किसी ने प्रतिज्ञा की-मैं अमुकदेश के वस्त्र का उपभोग नहीं करूंगा। मित्र ने उसी देश का वस्त्र उसे उपहृत किया। उभय द्वारा परित्यक्त (पूर्व गाथावत्) वह वस्त्र क्षेत्रोज्झित है। कार्पटिक आदि अपने देश के प्रति लौटते हुए या देशांतर के प्रति प्रस्थित होते हुए अथवा प्रचुर वस्त्र वाले देश में जाते समय जिन वस्त्रों को वहीं छोड़ जाते हैं वे वस्त्र भी क्षेत्रोज्झित कहलाते हैं।

६१३. कासाइमाइ जं पुव्वकालजोग्गं तदन्नहिं उज्झे।
होहिइ व एस्सकाले, अजोग्गयमणागयं उज्झे॥

काषायिक (गंधकाषायिक) आदि वस्त्र जो पूर्वकाल-ग्रीष्म आदि ऋतुओं में उपयोगी थे, वे अन्यकाल में उपयोगी नहीं रहे। उनका परित्याग कर देना कालोज्झित है। अथवा ये वस्त्र भविष्यकाल में अनुपयोगी हो जायेंगे। यह सोचकर उनका पहले ही त्याग कर देना-यह भी कालोज्झित कहलाता है।[1]

---

१. काषायी वस्त्र स्वभावतः अतिशीतल होते हैं। वे ग्रीष्म ऋतु में भी सकल-संताप का निवारण करने वाले होते हैं। कहा भी है-

सरसो चंदणपंको, अग्घइ सरसा य गंधकासाई।
पाडल सिरीस मल्लिय, पियाइं काले निदाहम्मि॥ (बृ. पृ. १८१)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६१४. लद्धूण अन्न वत्थे, पोराणे सो उ देइ अन्नस्स।
सो वि अ निच्छइ ताइं, भावुज्झियमेव माईयं॥

अन्य वस्त्र प्राप्तकर, पुराना वस्त्र दूसरे को दे देना, और दूसरा व्यक्ति भी उन वस्त्रों को न चाहे, यह भावोज्झित है। यहां जीर्णता आदि भाव है। यह चौथी वस्त्रप्रतिमा है।

६१५. जं जस्स नत्थि वत्थं, सो उ निवेएइ तं पवत्तिस्स।
सो वि गुरूणं साहइ, निवेइ वावारए वा वि॥

जिस मुनि के पास जो वस्त्र नहीं है, वह प्रवर्तक को निवेदन करता है। वह प्रवर्तक भी आचार्य को निवेदन करता है। आचार्य भी वस्त्र आभिग्रहिक मुनि को वस्त्र विषयक बात कहते हैं। आभिग्रहिक मुनि के अभाव में वे वस्त्रोत्पादन समर्थ मुनि को वस्त्र लाने लिए व्यापृत करते हैं।

६१६. भिक्खं चिय हिंडंता, उप्पायंतऽसइ बिइअ पढमासु।
एवं पि अलब्भंते, संघाडेक्केक्क वावारे॥

भिक्षा के लिए घूमते हुए वस्त्र का उत्पादन करे। यदि उस समय वस्त्र-लाभ न हो तो दूसरे प्रहर में वस्त्र-लाभ का प्रयत्न करे। यदि उस समय भी प्राप्त न हो तो प्रथम प्रहर में वस्त्र की गवेषणा करे। यदि इस प्रकार भी वस्त्र की प्राप्ति न हो तो एक-एक संघाटक को वस्त्र लाने के लिए व्यापृत करे।

६१७. एवं पि अलब्भंते, मुत्तूण गणिं तु सेसगा हिंडे।
गुरुगमणे गुरुग ओहामऽभियोगो सेहहीला य॥

इस प्रकार भी यदि वस्त्र-लाभ न हो तो आचार्य को छोड़कर शेष सभी मुनि वस्त्र प्राप्त करने के लिए घूमें। यदि गुरु स्वयं जाते हैं तो चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। लोग कहने लगते हैं—ओह! आचार्य भी साधुओं की भांति घूमते रहते हैं। कोई स्त्री आचार्य पर 'कार्मण' भी कर देती है। गुरु को वस्त्र-प्राप्ति न होने पर शैक्षों में गुरु के प्रति अवहेलना होती है।

६१८. सव्वे वा गीयत्था, मीसा व जहन्न एक्कु गीयत्थो।
इक्कस्स वि असईए, करिंति तो कप्पियं एक्कं॥

यदि वस्त्र प्राप्ति के लिए घूमने वाले सभी गीतार्थ हों अथवा गीतार्थ-अगीतार्थ मिश्र हों तब जघन्यतः एक गीतार्थ के नेतृत्व में सब घूमें। यदि एक भी मुनि गीतार्थ न हो तो गुरु जो मुनि लब्धिसंपन्न है उसको वस्त्र-कल्पिक की शिक्षा देकर भेजते हैं।

६१९. आवासस्सोहि अखलंत समग उस्सग्ग दंडग न भूमी।
पुच्छा देवय लंभे, न किंपमाणं धुवं दाहि॥

गमन से पहले वह मुनि आवश्यकशोधि अर्थात् कायिकी का व्युत्सर्ग अवश्य करे। फिर अस्खलित होता हुआ उठे। सभी एक साथ उठे और एक साथ कायोत्सर्ग करे। तदनन्तर दंडक को भूमी पर तब तक न रखे जब तक कि प्रथम लाभ न हो। शिष्य पूछता है—कायोत्सर्ग करने का प्रयोजन क्या है? क्या कायोत्सर्ग इसीलिए किया जाता है कि देवता प्रसन्न होकर वस्त्रों का उत्पादन करा देगा? अथवा कायोत्सर्ग के प्रभाव से ही वस्त्र-लाभ होगा? आचार्य ने कहा—कायोत्सर्ग करने का यह प्रयोजन नहीं है। इसका एक मात्र निमित्त है उपयोग। कितने प्रमाण में वस्त्र लाना है? उसकी याचना करने पर स्वामी अवश्य देगा। जब यह जान लिया जाता है कि वह अवश्य देगा, तब सबसे पहले उसी के पास पहले याचना की जाती है।

६२०. रायणिओ उस्सारे, तस्ससतोमो वि गीतो लद्धीओ।
अग्गीतो वि सलद्धी, मग्गइ इअरे परिच्छंति॥

सबसे पहले रात्निक कायोत्सर्ग संपन्न करता है। रात्निक के अभाव में जो अवम—लघुरात्निक हो, जो गीतार्थ और सलब्धिक हो, वह पहले कायोत्सर्ग संपन्न करे। गीतार्थ के अभाव में जो सलब्धिक अगीतार्थ हो वह कायोत्सर्ग संपन्न कर वस्त्र की मार्गणा के लिए, दूसरों को साथ लेकर जाए। दूसरे गीतार्थ वस्त्रग्रहण संबंधी परीक्षा करते हैं। (क्या कल्पता है, या नहीं आदि)।

६२१. उस्सग्गाई वितहं, खलंत अण्णोण्णओ अ लहुओ उ।
उग्गम विप्परिणामो, ओभावण सावगं न तओ॥

६२२. दाउं व उड्डरुस्से, फासुव्वरियं तु सो सयं देइ।
भावियकुलओभासण, नीणिइ कस्सेअ किं आसी॥

जो मुनि कायोत्सर्ग आदि सभी पदों में सामाचारी का विपरीत आचरण करते हैं, स्खलित होकर उठते हैं, साथ नहीं जाते, एक-एक कर जाते हैं—इन सब में एक-एक लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। वस्त्र की याचना करने पर उपासक हर्षातिरेक से वस्त्र दे देता है। फिर अभिनव वस्त्रों के लिए उद्गम आदि दोषों का सेवन करता है। कोई अभिनव उपासक विपरिणत भी हो जाता है। कदाचित वस्त्र की अप्राप्ति होने पर दूसरे लोग उसकी अपभ्राजना करते हैं। वे कहते हैं—इन साधुओं के श्रावक भी वस्त्र नहीं देते तो दूसरा कौन देगा? वह श्रावक लोकलज्जावश वस्त्र देकर साधुओं के प्रति प्रद्विष्ट हो जाता है। साधुओं को उपासक प्रासुक और बचे हुए वस्त्र स्वयं दे देता है। मुनि भावितकुल वाले उपासकों से ही वस्त्र की याचना करे। उसके द्वारा वस्त्र लाने पर पूछे—ये वस्त्र किसके हैं? कहां थे?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६२३. कास त्तऽपुच्छियम्मी, उग्गम-पक्खेवगाइणो दोसा।
किं आसऽपुच्छियम्मी, पच्छाकम्मं पवहणं व॥

ये किसके हैं?—यह पूछे बिना उद्गमदोष, प्रक्षेपकदोष आदि होते हैं। 'कहां थे? यह पूछे बिना पश्चात्कर्म, प्रवहण दोष आदि होते हैं। अतः पूछ कर ग्रहण करे।

६२४. कीस न नाहिह तुब्भे, तुब्भट्ठ कयं व कीय-धोयाई।
अमुएण व तुब्भट्ठा, ठवियं गेहे न गिण्हह से॥

'यह किसका है? यह पूछना व्यर्थ है। क्योंकि आप नहीं जानेंगे? आप पूछते हैं तो हम कहते हैं—यह वस्त्र आपके लिए ही किया है, अथवा आपके लिए ही खरीदा गया है, धोया गया है आदि। अमुक व्यक्ति ने आपके लिए ही यहां स्थापित किया है, क्योंकि आप उसके घर से इसे ग्रहण नहीं करते।

६२५. तण विणण संजयट्ठा, मूलगुणा उत्तरा उ पज्जणया।
गुरुगा गुरुगा लहुगा, विसेसिया चरिमए सुद्धो॥

संयती के लिए निर्मित वस्त्र की उत्पत्ति में ताना-बाना मूलगुण हैं। वस्त्र संबंधी उत्तरगुण है—पायनता अर्थात् वस्त्र की निष्पत्ति के पश्चात् उसको कूर्चिक से खलिका में डुबोया जाता है। तदनन्तर घृष्ट, मृष्ट, धावन, धूपन आदि दिए जाते हैं। यह सारा उत्तरगुण है। इसकी चतुर्भंगी इस प्रकार है—

१. मुनि के लिए ताना-बाना तथा पायन।
२. मुनि के लिए ताना-बाना तथा स्वयं के लिए पायन।
३. ताना-बाना स्वयं के लिए तथा पायन मुनियों के लिए।
४. ताना-बाना तथा पायन स्वयं के लिए।

इनमें प्रथम तीन भंगों में गुरुक, गुरुक और लघुक प्रायश्चित्त हैं। वे तप और काल से विशेषित हैं। चरम पद शुद्ध है।

६२६. समणे समणी सावग, साविग संबंधि इड्ढि मामाए।
राया तेणे पक्खेवए अ निक्खेवगं जाणे॥

श्रमण, श्रमणी, श्रावक, श्राविका, संबंधीजन, ऋद्धिमान् पुरुष, मामाकसत्क भार्या, राजा, स्तेन—इनसे संबंधित प्रक्षेपकदोष होता है। इन स्थानों में ही निक्षेपकदोष जानना चाहिए। यह संग्रहगाथा है। इसका अर्थ-विस्तार अगली गाथाओं में।

६२७. लिंगत्थेसु अकप्पं, सावग-नीएसु उग्गमासंका।
इड्ढि अपवेस साविग, इड्ढिस्स व उग्गमासंका॥

६२८. एमेव मामगस्स वि, सड्ढी भज्जा उ अन्नहिं ठवए।
निव तप्पिंडविवज्जी, मा होज्ज तदाहडं तेणे॥

लिंगस्थ अर्थात् लिंगमात्रधारी श्रमण और श्रमणी वर्ग द्वारा प्रदत्त वस्त्र अकल्पनीय होता है, अतः वे अन्य कुलों में उन वस्त्रों का प्रक्षेप करते हैं, जिससे कि संविग्न मुनि वहां से वह वस्त्र ले सके। इसी प्रकार श्रावक-श्राविकाएं भी अपने संबंधियों के वहां वस्त्र का प्रक्षेपण करते हैं जिससे कि उद्गमदोष की शंका न हो। ऋद्धिमान् व्यक्तियों के घर में प्रवेश सहज नहीं होता। सेठ की पत्नी श्राविका है, वह अन्यत्र वस्त्रों का प्रक्षेप करती है। अथवा ऋद्धिमान् व्यक्ति के घर से वस्त्रग्रहण करने में उद्गमदोष की आशंका होती है। अतः वे अन्यत्र प्रक्षेप करते हैं। इसी प्रकार 'मामक'—मेरे घर में कोई प्रवेश न करे, ऐसे ऋद्धिमान् की पत्नी श्राविका है। वह वस्त्रदान देने के लिए वस्त्रों का अन्यत्र प्रक्षेपण करती है। तथा राजा भी वस्त्रों का अन्यत्र प्रक्षेप करता है। वह जानता है कि मुनि राजपिंड नहीं लेते, अतः उसे वैसा करना पड़ता है। मुनि स्तेनाहृत भी नहीं लेते अतः चोर भी वस्त्रों का अन्यत्र प्रक्षेपण करते हैं। ये सारे प्रक्षेपण के स्थान हैं।

६२९. एए उ अधिप्पंते, अन्नहिं सन्निक्खिवंति समणट्ठा।
निक्खेवओ वि एवं, छिन्नमछिन्नो उ कालेण॥

इन कारणों से श्रमण आदि वस्त्र ग्रहण न करने पर अन्यत्र उन वस्त्रों का श्रमणों के लिए निक्षेपण किया जाता है। यह प्रक्षेपण है। प्रक्षेपण और निक्षेपण में क्या अन्तर है—यह पूछे जाने पर आचार्य कहते हैं—केवल साधुओं के लिए ही वस्त्रों को स्थापित करना प्रक्षेपण है और पहले स्वयं के लिए स्थापित कर फिर साधुओं के लिए अनुज्ञा देना निक्षेपण है। अतः प्रक्षेपक की भांति निक्षेपक को भी जानना चाहिए। वह निक्षेपक काल से छिन्न अथवा अछिन्न—दोनों प्रकार का होता है।

६३०. अमुगं कालमणागए, दिज्जह समणाण कप्पई छिन्ने।
पुण्ण समकाल कप्पइ, ठवियगदोसा अईअम्मि॥

कोई देशान्तर जाते समय किसी के घर पर वस्त्रों का निक्षेपण करते हुए कहता है—'मैं यदि अमुक काल के अंतर्गत न लौट सकूं तो ये वस्त्र श्रमणों को दान में देना।' वे वस्त्र श्रमणों के लिए कल्पनीय हैं। यह छिन्न निक्षेपण है। प्रश्न होता है क्या यह सदा कल्पता है? इसके उत्तर में गुरु कहते हैं—वह वस्त्र काल की अवधि पूर्ण होने के समकाल में ही कल्पता है, बाद में नहीं। क्योंकि विवक्षित काल की अवधि अतीत हो जाने पर स्थापितदोष होते हैं। अच्छिन्न निक्षेपण में जब भी वस्त्र दिया जाता है तब कल्पता है।

६३१. असिवाइकारणेहिं, पुण्णाईए मणुन्ननिक्खेवे।
परिभुंजंति ठविंति व, छड्डिंति व ते गए नाउं॥

अशिव आदि कारणों से देशांतर में विहार करने वाले

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनोज्ञ मुनि ग्लान आदि के लिए रुके हुए मनोज्ञ साधुओं की निश्रा में वस्त्रों का निक्षेपण करते हैं, इन वस्त्रों का परिभोग, काल के बीत जाने पर भी कर सकते हैं। उसमें कोई स्थापना दोष नहीं होता। यदि मुनियों को वस्त्रों की आवश्यकता न हो तो वे वस्त्र ही स्थापित रहते हैं। जब यह ज्ञात न हो तो वे वस्त्र वैसे ही स्थापित रहते हैं। जब यह ज्ञात हो जाता है कि वे मुनि बहुत दूर देशों में चले गए हैं तो उन वस्त्रों का परिष्ठापन कर दिया जाता है।

६३२. दमए दूभगे भट्ठे, समणच्छन्ने अ तेणए।
न य नाम न वत्तव्वं, पुट्ठे रुट्ठे जहावयणं॥

ये वस्त्र किसके हैं, यह प्रक्षेपणा दोष को निश्चित करने के लिए पूछा जाता है। पूछने पर वह कहता है–

द्रमक, दुर्भग–अभागी, भ्रष्ट, श्रमणवेश से स्वयं को छुपाने वाला, स्तेनक–इनके लिए ये वस्त्र हैं। यदि पुनः यह पूछा जाए कि इनमें प्राथमिकता किनको है? ऐसे पूछने वाले उस रुष्ट व्यक्ति के समक्ष किसीका नामोल्लेख न करे। ऐसा नहीं है किन्तु यथायोग्य वचन कहे, जिससे कि उसकी आशंका का परिहार हो जाए।

६३३. किं दमओ हं भंते!, दमगस्स वि किं मे चीवरा नत्थी।
दमएण वि कायव्वो, धम्मो मा एरिसं पावे॥

यह किसके हैं–ऐसा पूछने पर कोई कहता है–भंते! क्या आप मुझे द्रमक मानकर ऐसा पूछ रहे हैं। क्या द्रमक होने पर भी मेरे पास चीवर नहीं हैं? द्रमक को भी धर्म करना चाहिए, क्योंकि पुनः मुझे ऐसा दुःख न मिले, मैं पुनः द्रमक न बनूं।

६३४. जइ रन्नो भज्जाए, व दूभगो दूभगा व जइ पइणो।
किं दूभगो मि तुब्भ वि, वत्था वि व दूभगा किं मे॥

दुर्भग कहता है–यद्यपि मैं राजा की भार्या का दुर्भग–द्वेष्य हूं, परंतु क्या मैं तुम्हारा भी दुर्भग हूं? अथवा कोई महिला कहे–मैं पति की दुर्भग हूं, परन्तु क्या तुम्हारे लिए भी दुर्भग हूं? क्या मेरे ये वस्त्र भी दुर्भग हैं?

६३५. जइ रज्जाओ भट्ठो किं चीरेहिं पि पिच्छहेयाणि।
अत्थि महं साभरगा, मा हीरेज्ज त्ति पव्वइओ॥

राजपदच्युत कहता है–यद्यपि मैं राज्य से भ्रष्ट हूं तो क्या मैं चीवरों से भी भ्रष्ट हूं? देखो, मेरे पास बहुत वस्त्र हैं। श्रमणच्छन्न कहता है–मेरे पास बहुत 'साभरग' रुपये थे। राजकुल वाले आदि उनका हरण न कर लें, इसलिए मैं प्रव्रजित हो गया। (श्रमणच्छन्न इनमें से कोई एक हो सकता है–शाक्य, तापस, परिव्राजक, आजीवक।–ये सारे श्रमण कहलाते थे।)

६३६. अत्थि मे घरे वि वत्था, नाहं वत्थाइं साहु! चोरेमि।
सुट्ठु मुणिअं च तुब्भे, किं पुच्छह किं व हं तेणो॥

स्तेन कहता है–साधो! मेरे घर में भी वस्त्र हैं। मैं वस्त्रों को नहीं चुराता। तुमने यथार्थरूप में पहचान लिया कि मैं चोर हूं। तुम क्यों पूछते हो कि ये वस्त्र किसके हैं? किसी के भी हों, तुम ग्रहण करो। अथवा वह कहे–क्या मैं चोर हूं जो तुम ऐसा पूछते हो कि यह किसका है?

६३७. इत्थी पुरिस नपुंसग, धाई सुण्हा य होइ बोधव्वा।
बाले अ वुड्ढयुगले, तालायर सेवए तेणे॥

'कस्य' इसीकी द्वारान्तर प्रतिपादिका यह गाथा है–स्त्री, पुरुष, नपुंसक, धात्री, स्नुषा, बालयुगल, वृद्धयुगल, तालचर–नट, सेवक और स्तेन–इनको जानना चाहिए। (यह गाथा का शब्दार्थ है। व्याख्या आगे की गाथाओं में।)

६३८. तिविहित्थि तत्थ थेरिं, भणंति मा होज्ज तुज्झ जायाणं।
मज्झिम मा पइ-देवर, कण्णं मा थेर-भाईणं॥

स्त्रियों के तीन प्रकार हैं–स्थविरा, मध्यमा और कन्यका। स्थविरा दात्री को कहा जाता है–ये वस्त्र तुम्हारे पुत्रों के तो नहीं हैं–इसलिए हम पूछते हैं। मध्यमा को कहते हैं–ये वस्त्र तुम्हारे पति और देवर के तो नहीं हैं? कन्यका को पूछते हैं–ये वस्त्र तुम्हारे स्थविर भाई के तो नहीं है?

६३९. एमेव य पुरिसाण वि, पंडगऽपडिसेवि मा निआणं ते।
सामियकुलस्स धाई, सुण्हं जह मज्झिमा इत्थी॥

इसी प्रकार पुरुषों के भी तीन प्रकार होने हैं–स्थविर, मध्यम और तरुण। उनसे भी इसी प्रकार पूछा जाता है। नपुंसक जो अप्रतिसेवी है उसे पूछा जाता है–यह तुम्हारे संबंधियों का वस्त्र नहीं है? धात्री को पूछा जाता है–यह तुम्हारे स्वामी का वस्त्र तो नहीं है? स्नुषा से पूछा जाता है–यह तुम्हारे पति या देवर का वस्त्र तो नहीं है? स्नुषा मध्यमा स्त्री मानी जाती है।

६४०. दोण्हं पि अ जुयलाणं, जहारिहं पुच्छिऊण जइ पहुणो।
गिण्हंति तओ तेसिं, पुच्छासुद्धे अणुन्नायं॥

बालयुगल और वृद्धयुगल–दोनों युगलों को यथायोग्य पूछताछ कर यदि वे उस वस्त्र के प्रभु–स्वामी हैं तो उनसे वस्त्र लिया जा सकता है। पूछने पर शुद्ध हों तो वस्त्रग्रहण करना अनुज्ञात है।

६४१. तूरपइ दिंति मा ते, कुसीलवे तेसु तूरिए मा ते।
एमेव भोगि सेवग, तेणो उ चउव्विहो इणमो॥

६४२. सग्गाम परग्गामे, सदेस परदेसे होइ उड्डाहो।
मूलं छेओ छम्मासमेव गुरुगा य चत्तारि॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यदि तूर्यपति–नटमहत्तर वस्त्र दे तो उसे कहे–क्या ये नटों के वस्त्र हैं? नट वस्त्र दें तो कहे–क्या ये नटपति के वस्त्र है? इसी प्रकार भोगिक और सेवक के विषय में भी जानना चाहिए। स्तेन के ये चार प्रकार हैं–स्वग्रामस्तेन, परग्रामस्तेन, स्वदेशस्तेन और परदेशस्तेन। इनसे वस्त्रग्रहण करने पर उड्डाह–प्रवचन की लघुता होती है। तत्संबंधी प्रायश्चित्त इस प्रकार है–स्वग्रामस्तेन से लेने पर मूल, परग्रामस्तेन से लेने पर छेद, स्वदेश के स्तेन से लेने पर छह गुरुकमास तथा परदेश के स्तेन से लेने पर चार गुरुकमास।

६४३. एवं पुच्छासुद्धे, किं आसि इमं तु जं तु परिभुत्तं।
किं होहिइ त्ति अहतं, कत्थाऽऽसि अपुच्छणे लहुगा॥

इस प्रकार पृच्छा से शुद्ध–निर्दोष निर्णीत होने पर जो भुक्तपूर्व वस्त्र है उसके विषय में पूछे कि यह वस्त्र क्या था अर्थात् तुम्हारे वह किस उपयोग में आया था। 'अहत' अर्थात् अपरिभुक्त वस्त्र के विषय में पूछे कि यह क्या काम आयेगा? यह कहां रखा हुआ था? इस प्रकार पृच्छा न करने पर प्रत्येक पृच्छा संबंधी चार-चार लघुकमास का प्रायश्चित्त आता है।

६४४. निच्चनियंसण मज्जण, छणूसवे रायदारिए चेव।
सुत्तत्थजाणएणं, चउपरियट्टे तओ गहणं॥

यह पूछे जाने पर कि यह वस्त्र किस प्रयोजन में काम आता था, तो गृहस्थ कहते हैं–यह वस्त्र प्रतिदिन उपयोग में आता था। यह स्नानान्तर, यह क्षण, उत्सव आदि में, तथा राजभवन में जाते समय काम में आता है। गृहस्थ के इस प्रकार कहने पर सूत्रार्थ ज्ञायक अर्थात् गीतार्थ मुनि उपरोक्त चार प्रकार के परिवर्त्तनीय वस्त्रों के युगल हों तो उसमें से कोई एक वस्त्र देना चाहे, वह ग्रहण करे। (इस गाथा की भावना निम्नोक्त गाथा में है।)

६४५. निच्चनियंसणियं ति य, अन्नासइ पच्छकम्म-वहणाई।
अत्थि वहंते घिप्पइ, इयरय फुस-धोय-पगयाई॥

नित्यनिवसनीय वस्त्र के सदृश दूसरा नित्यनिवसनीय वस्त्र न हो तो (उसकों ग्रहण कर लेने पर) पश्चात्कर्म, वहन[1] आदि दोष होते हैं, अतः उसे ग्रहण करना नहीं कल्पता। यदि दूसरा नित्यनिवसनीय वस्त्र व्यापृयमाण हो तो वह वस्त्र लिया जा सकता है। अवहमान को वहमान करने के लिए अप्काय से उत्स्पर्शन, धावन, प्रकरण आदि क्रियाएं करनी पड़ती हैं।

६४६. होहिइ व नियंसणियं, अण्णासइ गहण पच्छकम्माई।
अत्थि नवे वि उ गिण्हइ, तहिं तुल्ल पवाहणादोसा॥

यदि गृहस्थ कहे कि यह वस्त्र नित्यनिवसनीय होगा, परन्तु यदि वैसा वस्त्र दूसरा न हो तो उसको ग्रहण करने पर पश्चात्कर्म आदि दोष होते हैं। यदि वैसा दूसरा वस्त्र हो तो लेना कल्पता है। यदि अवहमान वस्त्र नया हो तो भी ग्रहण करना कल्पता है। वैसा करने पर भी प्रवाहनादोष होते हैं–ऐसा कहने पर आचार्य कहते हैं–साधु वह वस्त्र ले या न ले फिर भी गृहस्थ उनमें से एक ही वस्त्र का उपयोग करेगा। वैसे वस्त्रग्रहण करने में कोई दोष नहीं है।

६४७. एमेव मज्जणाई, पुच्छासुद्धं तु सव्वओ पेहे।
मणिमाई दाइंति व, असिट्ठे मा सेहुवादाणं॥

इसी प्रकार मज्जनिक, क्षणोत्सविक तथा राजद्वारिक वस्त्रों के विषय में जानना चाहिए। जो वस्त्र पृच्छा करने पर शुद्ध अर्थात् निर्दोष जान पड़े तो उस वस्त्र को चारों ओर से निरीक्षण करे। क्योंकि संभव है उस वस्त्र के किसी कोने में मणि आदि (हिरण्य, सुवर्ण) बंधा हुआ हो। निरीक्षण काल में वह दीख पड़े तो गृहस्थ को वह दिखा दे। गृहस्थ को न दिखाने पर या न कहने पर शैक्ष आदि उसका ग्रहण न कर ले।

६४८. एवं तु गविट्ठेसुं, आयरिया दिंति जस्स जं नत्थि।
समभागेसु कएसु व, जहराइणिया भवे बीओ॥

इस प्रकार वस्त्रों की गवेषणा और प्राप्ति कर मुनि आचार्य के पास आए और उनको वस्त्र दिखाए। फिर आचार्य जिस मुनि के पास जो वस्त्र न हो उसको वह दे। यह वस्त्र देने का एक प्रकार है। उसका दूसरा प्रकार यह है--लाए हुए वस्त्रों का समविभाग कर दे। फिर रत्नादिक मुनियों के क्रम से उसे दे।

६४९. अप्पत्ते अकहित्ता, अणहिगयऽपरिच्छणे य चउगुरुगा।
दोहि गुरू तवगुरुगा, कालगुरू दोहि वी लहुगा॥

आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कंध के छठे अध्ययन 'पात्रैषणा' को अप्राप्त अर्थात् अनधीत शिष्य को पात्र लाने के लिए प्रेषित करने पर उसे चार गुरुक का प्रायश्चित्त आता है। दो से गुरु अर्थात् तपोगुरुक और कालगुरुक। सूत्र को प्राप्त है, परंतु अर्थ का कथन नहीं हुआ है, अर्थ के कह देने पर भी उसका अधिगत–हृदयंगम नहीं किया है, अथवा अधिगत होने पर भी उस पर सम्यक् श्रद्धा है या नहीं, यह परीक्षा किए बिना भेजने पर, प्रत्येक अर्थात् अकथन, अनधिगत और अपरीक्षण के लिए चार-चार लघुक का प्रायश्चित्त आता है–दो से लघु अर्थात् तपोलघुक और काललघुक।

६५०. नामं ठवणा दविए, भावम्मि चउव्विहं भवे पायं।
एसो खलु पायस्सा, निक्खेवो चउव्विहो होइ॥

१. जो वस्त्र काम में नहीं आ रहा है, उसको काम में लाते समय अनेक क्रियाएं करनी पड़ती हैं। वे वहन क्रियाएं होती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पात्र के चार प्रकार हैं–नामपात्र, स्थापनापात्र, द्रव्यपात्र और भावपात्र। ये पात्र के चार निक्षेप हैं।

६५१. दव्वे तिविहं एगिंदि-विगल-पंचिंदिएहिं निप्फन्नं।
भावे आया पत्तं, जो सीलंगाण आहारो॥

द्रव्यपात्र तीन प्रकार के हैं–एकेन्द्रियनिष्पन्न, विकलेन्द्रिय-निष्पन्न, पंचेन्द्रियनिष्पन्न। भावपात्र है–आत्मा। वह अठारह हजार शीलांग का आधार है।

६५२. लाउय दारुय मट्टिय, तिविहं उक्कोस मज्झिम जहन्नं।
एक्केक्कं पुण तिविहं, अहागडऽप्पं-सपरिकम्मं॥

द्रव्यपात्र के तीन प्रकार और हैं–अलाबुमय, दारुमय और मृत्तिकामय। प्रत्येक तीन-तीन प्रकार के होते हैं–उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य। ये प्रत्येक तीन-तीन प्रकार के होते हैं–यथाकृत, अल्पपरिकर्म तथा सपरिकर्म।

६५३. वोच्चत्थे चउलहुआ, आणाइ विराहणा य दुविहा उ।
छेयण-भेयणकरणे, जा जहिं आरोवणा भणिया॥

पात्र के ग्रहण और करण में विपर्यास करने पर चतुर्लघु का प्रायश्चित्त, आज्ञा आदि दोष तथा दो प्रकार की विराधना होती है–संयमविराधना और आत्मविराधना। पात्र का छेदन, भेदन करने में जो जहां संयमविराधना या आत्मविराधना में आरोपणा कही है, वह जाननी चाहिए।

६५४. उद्दिसिय पेह संगय, उज्झियधम्मे चउत्थए होइ।
सव्वे जहन्न एक्को, उस्सग्गाई जयं पुच्छे॥

पात्रगवेषणा की चार प्रतिमाएं हैं–उद्दिष्टपात्र, प्रेक्षापात्र, संगतिकपात्र और उज्झितधर्मकपात्र। पात्र की गवेषणा में जाने वाले सभी मुनि गीतार्थ हों अथवा कुछ गीतार्थ और कुछ अगीतार्थ हो अथवा एक गीतार्थ हो तो उसके नेतृत्व में पात्र की गवेषणा में घूमे। कायोत्सर्ग आदि (गा॰ ६१९ वत्) **'जयं पुच्छे'**–वह पूर्वोक्त यतना करता हुआ पूछे। इसका तात्पर्य है–श्रावकों को न पूछे। भावितकुलों में पूछे। वे जब पात्र दिखाएं तो पूछे–यह किसका है? पहले यह क्या था? आगे यह क्या होगा? यह कहां था? यह प्रश्न चतुष्टय पूर्ववत् करे। जैसे वस्त्र ग्रहण की विधि है, वही पात्र ग्रहण की विधि है। (यह गा॰ ६१५ से ६१९वें श्लोकवत् जानना चाहिए।)

६५५. उद्दिट्ठ तिगेगयरं, पेहा पुण दट्ठु एरिसं भणइ।
दोण्हेगयरं संगइ, वाहयई वारएणं तु॥

तीन प्रकार के पात्रों–जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट–में से किसी एक को लाने के लिए गुरु के समक्ष प्रतिज्ञा की, वह याच्यमान उद्दिष्ट पात्र कहलाता है। पात्र का अवलोकन कर 'ऐसा मुझे दो' यह कहना प्रेक्षापूर्वक याच्यमान होने के कारण प्रेक्षापात्र है। एक गृहस्थ के पास दो पात्र हैं। प्रतिदिन एक को काम में लेता है, दूसरे को नहीं। जिस दिन जिसको काम में लेता है, वह संगतिकपात्र कहलाता है और दूसरा पात्र वैजयन्तिक। इन दोनों में से एक का ग्रहण पात्र गवेषणा की तीसरी प्रतिमा है।

६५६. दव्वाइ दव्व हीणाहियं तु अमुगं च मे न घेत्तव्वं।
दोहि वि भावनिसिट्ठं, तमुज्झिओभट्ठऽणोभट्ठं॥

उज्झितकपात्र के चार प्रकार हैं–द्रव्योज्झित, क्षेत्रोज्झित, कालोज्झित और भावोज्झित। किसी गृहस्थ ने यह प्रतिज्ञा की कि मैं अमुक प्रमाण से अधिक या हीन पात्र अथवा अमुक प्रकार के पात्र को ग्रहण नहीं करूंगा। किसी ने वैसा ही पात्र लाकर दिया। यह दायक और ग्राहक–दोनों द्वारा भावतः निःसृष्ट पात्र, वह चाहे अवभाषित हो अथवा अनवभाषित, वह द्रव्योज्झित पात्र है।

६५७. अमुइच्चगं न धारे, उवणीयं तं च केणई तस्स।
जं वुज्झ भरहाई, सदेस बहुपायदेसे वा॥

'मैं अमुक देश का पात्र धारण नहीं करूंगा'–यह निश्चय करने के पश्चात् कोई वहीं का पात्र उपहृत करता है, वह दोनों द्वारा उज्झित पात्र क्षेत्रोज्झित पात्र कहलाता है। अथवा जो भरत आदि अर्थात् नट, चारण आदि अपने देश जाते हुए अथवा बहुपात्रवाले देश में जाते समय अपने पात्र छोड़ जाते हैं, वे पात्र भी क्षेत्रोज्झित पात्र होते हैं।

६५८. दगदोद्धिगाइ जं पुव्वकाल जुग्गं तदन्नहिं उज्झे।
होहिइ व एस्सकाले, अजोग्गयमणागयं उज्झे॥

जलतुम्बक, तक्रतुम्बक आदि जो पूर्वकाल में इसके योग्य थे, वे अन्यकाल में अथवा भविष्यकाल में अयोग्य हो जाएंगे, यह मानकर उनको छोड़ दिया जाता है। वे कालोज्झित पात्र कहलाते हैं।

६५९. लद्धूण अन्नपाए, पोराणे सो उ देइ अन्नस्स।
सो वि अ निच्छइ ताइं, भावुज्झिय एवमाईयं॥

गृहस्थ नये पात्रों को प्राप्त कर पुराने को छोड़ देता है, दूसरों को देता है। दूसरा भी उन्हें नहीं चाहता। यह सारा भावोज्झित जानना चाहिए।

६६०. ओभासणा य पुच्छा, दिट्ठे रिक्के मुहे वहंते य।
संसट्ठे उक्खित्ते, सुक्के अ पगासे दट्ठूणं॥

पात्र के उत्पादन (प्राप्ति) विषयक अवभाषण करना चाहिए। ये आठ पृच्छाएं करनी चाहिए–(१) यह दृष्ट–प्रशस्य है अथवा अदृष्ट। (२) यह रिक्त है अथवा अरिक्त (३) इसका मुख किया हुआ है या नहीं? (४) यह वहमानक है अथवा अवहमानक? (५) यह संसृष्ट है या असंसृष्ट?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(६) यह उत्क्षिप्त है या नहीं? (७) यह शष्क है अथवा आर्द्र? (८) यह प्रकाशमुखवाला है या अप्रकाशमुखवाला? पात्र यदि देखने पर निर्दोष लगे तो उसे ग्रहण करे।

६६१. दिट्ठमदिट्ठे दिट्ठं, खमतरमियरे न दिस्सए काया।
दहिमाईहि अरिक्कं, वरं तु इयरे सिया पाणा॥

दृष्ट और अदृष्ट पात्र के मध्य दृष्ट पात्र क्षमतर होता है, उसे ग्रहण करना युक्त है। अदृष्टपात्र में पृथ्वी आदि काय के जीव नहीं देखे जाते। दधि, मोदक आदि से अरिक्त पात्र अच्छा होता है। रिक्त पात्र में कदाचित् कुंथु आदि प्राणी हो सकते हैं।

६६२. अकयमुहे दुप्पस्सा, बीयाई छेयणाइ दोसा वा।
कुंथूमादवहंते, फासुवहंतं अओ धन्नं॥

अकृतमुखवाले पात्र दुःप्रत्युपेक्ष होते हैं। उनमें जीव नहीं देखे जा सकते। वहां बीजों का उद्भव हो सकता है। छेदन-भेदन आदि दोष होते हैं। इसलिए वह ग्राह्य नहीं होता। अवहमानक (जो प्रयोग में न आ रहा हो) पात्र में कुंथु आदि प्राणी संभावित होते हैं। इसलिए प्रासुक वस्त्र आदि से वहमानक पात्र धन्य[1] अर्थात् संयमधन का उपकारक होता है।

६६३. एमेव य संसट्ठं, फासुअ अप्फासुएण पडिकुट्ठं।
उक्खित्तं च खमतरं, जं चोल्लं फासुदव्वेणं॥

इसी प्रकार संसृष्ट पात्र के विषय में जानना चाहिए। जो प्रासुक अन्न आदि से संसृष्ट-खरंटित हो, वह ग्राह्य है। अप्रासुक से संसृष्ट प्रतिक्रुष्ट-निषिद्ध है। जो गृही के द्वारा स्वयं उत्क्षिप्त है, वह क्षमतर है। जो पात्र प्रासुक द्रव्य से आर्द्र है वह ग्राह्य है, अप्रासुक द्रव्य से आर्द्र पात्र का परिहार करना चाहिए।

६६४. जं होइ पगासमुहं, जोग्गयरं तं तु अप्पगासाओ।
तस-बीयाइ अदट्ठं, इमं तु जयणं पुणो कुणइ॥

जो पात्र प्रकाशमुख वाला होता है वह योग्यतर होता है, जो पात्र अप्रकाशमुख वाला होता है वह ग्राह्य नहीं होता। पात्र को आंखों से देखकर यदि त्रस-बीज आदि न दीख पड़े तो यह वक्ष्यमाण यतना पुनः करे।

६६५. ओमंथ पाणमाई, पुच्छा मूलगुण उत्तरगुणे य।
तिट्ठाणे तिक्खुत्तो, सुद्धो ससिणिद्धमाईसु॥

पात्र को औंधा कर तीन स्थानों में, तीन बार प्रस्फोटित करे। शिष्य ने पूछा—पात्र विषयक मूलगुण और उत्तरगुण क्या हैं? (यह आगे गा॰ ६६८ में बताया जायेगा।) जिस पात्र में पहले अप्काय था, वह आज सस्निग्ध हो सकता है। तीन बार उसको प्रस्फोटन करके ले, वह पात्र शुद्ध है।

६६६. दाहिणकरेण कोणं, घेत्तुत्ताणेण वाममणिबंधे।
खोडेइ तिन्नि वारे, तिन्नि तले तिन्नि भूमीए॥

दक्षिण हाथ से पात्र का कर्ण पकड़ कर, पात्र को औंधा कर वाम हाथ के मणिबंध पर तीन बार उस पात्र का प्रस्फोटन करे, फिर तीन बार हाथ के तल पर और फिर भूमी पर तीन बार उसका प्रस्फोटन करे।

६६७. तस-बीयाइ व दिट्ठे, न गिण्हई गिण्हई उ अदिट्ठे।
गहणम्मि उ परिसुद्धे, कप्पइ दिट्ठेहिं वि बहूहिं॥

यदि इस प्रकार नौ बार प्रस्फोटन करने पर त्रस जीव अथवा बीज आदि न दीख पड़े तो उसे ग्रहण करे, दीख पड़े तो ग्रहण न करे। परिशुद्ध—निर्दोष जानकर ग्रहण किए हुए पात्र को लेकर उपाश्रय में आ जाने पर यदि उसमें अनेक बीज आदि दृग्गोचर हों तो भी वह पात्र कल्पनीय है। (उस पात्र को न गृहस्थ को पुनः लौटाया जा सकता है और न परिष्ठापित किया जा सकता है, क्योंकि वह श्रुतप्रामाण्य से गृहीत है। किन्तु एकांत में उन दृष्ट बीजों का परिष्ठापन कर पात्र काम में लिया जा सकता है।)

६६८. मुहकरणं मूलगुणा, पाए निक्कोरणं च इअरे उ।
गुरुगा गुरुगा लहुगा, विसेसिया चरिमए सुद्धो॥

पात्र का मुखकरण मूलगुण हैं। पात्र का **'निक्कोरण'**[2] करना उत्तरगुण हैं। इसकी चतुर्भंगी इस प्रकार है—

१. संयमी के लिए कृतमुख और संयमी के लिए उत्कीर्ण।
२. संयमी के लिए कृतमुख और स्वयं के लिए उत्कीर्ण।
३. स्वयं के लिए कृतमुख, संयमी के लिए उत्कीर्ण।
४. स्वयं के लिए कृतमुख, स्वयं के लिए उत्कीर्ण।

प्रथम भंग में प्रायश्चित्त है—तप-काल से गुरु चार गुरुमास। दूसरे भंग में प्रायश्चित्त है—तप से गुरु, काल से लघु चार गुरुमास। तीसरे भंग में प्रायश्चित्त है—तप और काल से लघु चार लघुमास। चरम भंग शुद्ध है।

६६९. देविंद-राय-गहवइउग्गहो सागारिए अ साहम्मी।
पंचविहम्मि परूविए, नायव्वो जो जहिं कमइ॥

अवग्रह पांच प्रकार का प्ररूपित है—देवेन्द्रावग्रह, राजावग्रह, गृहपति अवग्रह, सागारिक (शय्यातर) अवग्रह और साधर्मिक अवग्रह। जहां जिस अवग्रह का प्रसंग हो, उसको वहां जानना चाहिए।

६७०. हेट्ठिल्ला उवरिल्लेहिं बाहिया न उ लहंति पाहन्नं।
पुव्वाणुन्नाऽभिनवं, च चउसु भय पच्छिमेऽभिनवा॥

अधस्तन अर्थात् देवेन्द्र अवग्रह आदि, उपरितन अर्थात् राजावग्रह आदि से यथाक्रम बाधित होते हैं। अतः वे प्राधान्य

१. धनाय हितमिति 'धन्यं'—संयमधनोपकारकमित्यर्थः। (वृ. पृ. १९७)
२. पात्र का मुखकरण करने के पश्चात् भीतर से उसका उत्किरण करना निक्कोरण कहलाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को प्राप्त नहीं होते।[1] चार अवग्रहों में (साधर्मिक अवग्रह के बिना) पूर्व अनुज्ञा तथा अभिनव अनुज्ञा की भजना है। जिस अवग्रह का पहले वाले साधुओं ने अनुज्ञा ली, यदि बाद में आने वाले साधु उसीका परिभोग करते हैं जो वह पूर्वानुज्ञा है। अभिनवरूप में अनुज्ञा लेना अभिनवानुज्ञा है।[2] (वृत्तिकार ने इस गाथा को बहुत विस्तार से समझाया है।)

६७१. दव्वाई एक्केक्को, चउहा खित्तं तु तत्थ पाहन्ते।
तत्थेव य जे दव्वा, कालो भावो अ सामित्ते॥

प्रत्येक अवग्रह चार प्रकार का है—द्रव्यतः, क्षेत्रतः कालतः और भावतः। इनमें क्षेत्र की प्रधानता है। क्षेत्र में जो द्रव्य होते हैं, काल और भाव होते हैं वे सब क्षेत्र के स्वामित्व में होते हैं।

६७२. पुव्वावरायया खलु, सेढी लोगस्स मज्झयारम्मि।
जा कुणइ दुहा लोगं, दाहिण तह उत्तरद्धं च॥

लोक के मध्यभाग में मंदरपर्वत के ऊपर एक प्रादेशिकी आकाशप्रदेशपंक्ति पूर्व-पश्चिम दिशा में दीर्घतर गई है। वह श्रेणि लोक के दो भागों में विभक्त करती है—दक्षिणलोकार्द्ध और उत्तरलोकार्द्ध। (दक्षिणलोकार्द्ध का स्वामी है शक्र और उत्तरलोकार्द्ध का स्वामी है ईशान। दक्षिणलोकार्द्ध में जो आवलिकप्रविष्ट तथा पुष्पावकीर्ण विमान हैं, वे शक्र के आधिपत्य में हैं।)

६७३. साधारण आवलिया, मज्झम्मि अवद्धचंदकप्पाणं।
अद्धं च परिक्खित्ते, तेसिं अद्धं च सक्खित्ते॥

अपार्द्धचन्द्रकल्प अर्थात् अर्धचन्द्राकारवाले सौधर्म और ईशान देवलोक के मध्यम श्रेणी में जो विमानों की आवलिका है उसका आधिपत्य साधारण अर्थात् सौधर्म और ईशान—दोनों का है। मध्यमश्रेणी में स्थित विमानों की आधी संख्या अपने-अपने कल्प की सीमा में हैं और शेष आधी संख्या अपरकल्प की सीमा में हैं।

६७४. सेढीइ दाहिणेणं, जा लोगो उड्ढ मो सकविमाणा।
हेट्ठा वि य लोगंतो, खित्तं सोहम्मरायस्स॥

पूर्वोक्त श्रेणी के दक्षिण दिशा में जहां तक लोक है अर्थात् तिर्यक्लोकपर्यन्त, ऊर्ध्व दिशा में स्वविमानपर्यन्त तथा अधोदिशा में अर्धस्तनलोकपर्यन्त सौधर्मराज का क्षेत्र है।

६७५. सरगोयरो अ तिरियं, वावत्तरिजोयणाइं उड्ढं तु।
अहलोगगाम-अघमाइ हेट्ठओ चक्किणो खित्तं॥

चक्रवर्ती के बाण का जितना क्षेत्र विषय बनता है वह चक्रवर्ती का तिर्यक् क्षेत्र है। वही बाण ऊर्ध्वदिशा में बहोत्तर योजन तक जाता है। चक्रवर्ती का इतना ऊर्ध्व क्षेत्र है। अधोलोक के ग्राम, गर्त्त आदि तक चक्रवर्ती का अधः क्षेत्र है।

६७६. गहवइणो आहारो, चउद्दिसिं सारियस्स घरवगडा।
हेट्ठा अधा-ऽगडाई, उड्ढं गिरि-गेहधय-रुक्खा॥

गृहपति (सामान्य मंडलाधिपति) का प्रभुत्व विषयभूत जितना चारों दिशाओं में आधार होता है, वह उसका तिर्यग् अवग्रह है। सागारिक अर्थात् शय्यातर का तिर्यग् अवग्रह है गृहवृत्तिपरिक्षेपपर्यन्त। दोनों के अधः अवग्रह है—गर्त्त, कूप आदि और ऊर्ध्व अवग्रह है—गिरी, गृहध्वज और वृक्ष।[3]

६७७. अजहन्नमणुक्कोसो, पढमो जो आवि चक्कवट्टीणं।
सेसनिव रोहगाइसु, जहन्नओ गहवईणं च॥

देवेन्द्रावग्रह और चक्रवर्ती का अवग्रह न जघन्य और न उत्कृष्ट होता है अर्थात् वह सदा एक रूप रहता है। शेष नृपतियों तथा गृहपती का जघन्य क्षेत्रावग्रह उतना होता है जितना शत्रुराजा द्वारा नगरवेष्टन आदि (रोधन) किया जाता है।

६७८. नगराइ निरुद्ध घरे, जा याऽणुन्ना उ दु चरिम जहन्नो।
उक्कोसो उ अनियओ, अचक्किमाईचउण्हं पि॥

दो चरम अर्थात् सागारिक और साधार्मिक का नगर आदि में जघन्य क्षेत्रावग्रह इस प्रकार है—किसी राजा ने नगर आदि का निरोध कर दिया। बाहर के वास्तव्य जब शय्यातर अथवा साधार्मिक के घर में प्रवेश करते हैं तब वे कह सकते हैं—अमुक स्थान में रहने की हमारी अनुज्ञा है। वह उनका जघन्य क्षेत्रावग्रह है। अचक्री आदि चारों का उत्कृष्ट अवग्रह अनियत होता है।

६७९. अणुन्नाए वि सव्वम्मी, उग्गहे घरसामिणा।
तहा वि सीमं छिंदंति, साहू तप्पियकारिणो॥

गृहस्वामी (शय्यातर) ने यद्यपि सारे अवग्रह की अनुज्ञा दी है, फिर भी मुनि सीमा का निर्धारण करें जिससे कि शय्यातर को समाधि हो।

---

१. सभी अपने-अपने अवग्रह में बलीयान् होते हैं। राजा स्वयं के अवग्रह में देवेन्द्र से भी बलीयान् होता है, गृहपति अपने अवग्रह में राजा से भी बलीयान्, सागारिक अपने अवग्रह में गृहपति से भी बलीयान् और साधर्मिक अपने अवग्रह में सागारिक से भी बलीयान् होता है।

२. जैसे शय्यातर ने प्रथम समागत साधुओं को स्थान के लिए अनुज्ञा दी, वह उनके लिए अभिनव अनुज्ञा है। वहां दूसरे मुनि आकर पूर्ववर्ती मुनियों की अनुज्ञा का उपभोग करते हैं, वह उनकी पूर्वानुज्ञा है। इसी प्रकार अन्य अवग्रहों में भी ज्ञातव्य है।

३. वृत्तिकार का कहना है कि साधार्मिक का उत्कृष्ट क्षेत्रावग्रह यहां निर्दिष्ट नहीं है। इसका कारण कुछ भी रहा हो, किन्तु बृहद्भाष्य में उसका उल्लेख है—साधार्मिकाणां तु क्षेत्रावग्रह उत्कृष्टः कुतोऽपि हेतोरत्र नोक्तः, परंबृहद्भाष्ये इत्थमभिहितः—उज्जाणं वा मडंबाई—मडम्बादौ उद्यानं यावदुत्कृष्टः क्षेत्रावग्रहः। (वृ. पृ. २०२)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६८०. झाणट्ठया भायणधोवणाई, दोण्हऽट्ठया अच्छणहेउगं च।
मिउग्गहं चेव अहिट्ठयंते, मा सो व अन्नो व करेज्ज मत्तुं॥

मुनि ध्यान करने के लिए, भाजन आदि धोने के लिए, उच्चार और प्रस्रवण--दोनों के लिए तथा स्वयं के बैठने के लिए परिमित अवग्रह ही स्थापित करते हैं जिससे कि शय्यातर तथा अन्य लोग उनके प्रति अप्रीति वहन न करें।

६८१. चेयणमचित्त मीसग, दव्वा खलु उग्गहेसु एएसु।
जो जेण परिग्गहिओ, सो दव्वे उग्गहो होइ॥

देवेन्द्र आदि के अवग्रह में जितने चेतन, अचेतन तथा मिश्र द्रव्य हैं वे सारे उनके द्वारा परिगृहीत हैं। वह द्रव्यावग्रह है।

६८२. दो सागरा उ पढमो, चक्की सत्त सय पुव्व चुलसीई।
सेसनिवम्मि मुहुत्तं, जहन्नमुक्कोसए भयणा॥

प्रथम अर्थात् देवेन्द्रावग्रह का कालावग्रह दो सागरोपम-काल तक होता है। चक्रवर्ती का जघन्य कालावग्रह सात सौ वर्षों तक ब्रह्मदत्तचक्री का तथा उत्कृष्ट कालावग्रह चोरासी लाख पूर्व भरतचक्री का होता है। शेष नृपों का जघन्य कालावग्रह अंतर्मुहूर्त्त का होता है और उनके उत्कृष्ट कालावग्रह की भजना है। (इसका तात्पर्य है--अंतर्मुहूर्त्त से प्रारंभ कर समय की वृद्धि के साथ वर्धमान चौरासी लाख पूर्व पर्यन्त आयुःस्थान होता है। जो नृप जितने आयुष्य का भोग करता है अथवा जो जितने काल तक राज्यैश्वर्य का अनुभव करता है, वह उसका उत्कृष्ट कालावग्रह होता है।)

६८३. एवं गहवइ-सागारिए वि चरिमे जहन्नओ मासो।
उक्कोसो चउमासा, दोहि वि भयणा उ कज्जम्मि॥

इसी प्रकार गृहपति और सागारिक--इन दोनों का जघन्य और उत्कृष्ट कालावग्रह शेष नृपति की भांति जानना चाहिए। चरम अर्थात् साधर्मिकावग्रह जघन्यतः एक मास और उत्कृष्टतः चार मास का होता है। जघन्य और उत्कृष्ट में कार्य के आधार पर भजना है। (ग्लान आदि के कारण इन दोनों में अतिरिक्त काल भी हो सकता है।)

६८४. चउरो ओदइअम्मी, खओवसमियम्मि पच्छिमो होइ।
मणसी करणमणुन्नं, च जाण जं जत्थ ऊ कमइ॥

देवेन्द्र, राजा, गृहपति तथा सागारिक--इन चारों के अवग्रह औदयिकभाव हैं (क्योंकि 'यह क्षेत्र मेरा है' ऐसी मूर्च्छा उनमें होती है।) पश्चिम अर्थात् साधर्मिकावग्रह क्षायोपशमिक भाव है। यह भावावग्रह है।

जहां देवेन्द्र आदि के अवग्रह का प्रसंग आता है वहां मन में 'जिसका यह अवग्रह है, वह मुझे अनुज्ञा दे।' यह कहना पर्याप्त होता है।

(देवेन्द्र और चक्रवर्ती के अवग्रह की अनुज्ञापना मन से ही होती है। गृहपति के अवग्रह की मन से तथा वचन से, सागारिक और साधर्मिक के अवग्रह की अनुज्ञा नियमतः वचन से ही होती है।)

६८५. भावोग्गहो अहव दुहा, मइ-गहणे अत्थ-वंजणे उ मई।
गहणे जत्थ उ गिण्हे, 'मणसी कर' अकरणे तिविहं॥

अथवा भावावग्रह दो प्रकार का होता है--मतिभावाग्रह और ग्रहणभावावग्रह। मतिज्ञानरूप भावावग्रह के दो प्रकार हैं--व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह। जहां मुनि जिसके अवग्रह से कोई वस्तु ग्रहण करता है तब ग्रहणभावावग्रह होता है। उस समय यदि मन में अनुज्ञापना नहीं करता तो उसे तीन प्रकार का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

६८६. पंचविहम्मि परूविए, स उग्गहो जाणएण घेत्तव्वो।
अन्नाए उग्गहिए, पायच्छित्तं भवे तिविहं॥

अवग्रह के पांच प्रकार प्ररूपित हैं। 'यह इस प्रकार का अवग्रह है'--इस प्रकार अवग्रह का ज्ञाता मुनि उसे ग्रहण करे। जो अज्ञात अवग्रह को ग्रहण करता है, उसे तीन प्रकार का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

६८७. इक्कड-कढिणे मासो, चाउम्मासो अ पीढ-फलएसु।
कट्ठ-कलिंचे पणगं, छारे तह मल्लगाईसु॥

इक्कड (एक प्रकार का घास), कढिण--शरस्तंब आदि का संस्तारक ग्रहण करने पर एक मासलघु, काष्ठमय पीढ-फलक आदि ग्रहण करने पर प्रत्येक का चार मासलघु, काष्ठशलाका, किलिंच, क्षार, मल्लक आदि ग्रहण करने पर पांच रात-दिन का प्रायश्चित्त आता है।

६८८. गीयत्थो य विहारो, बीओ गीयत्थनिस्सिओ भणिओ।
इत्तो तइयविहारो, नाणुन्नाओ जिणवरेहिं॥

जिनेश्वरदेव ने दो प्रकार के विहार की अनुज्ञा दी है--पहला है--गीतार्थ का विहार तथा दूसरा है गीतार्थनिश्रित विहार। इनके अतिरिक्त तीसरे प्रकार के विहार की जिनेश्वर देव ने अनुज्ञा नहीं दी है।

६८९. गीयं मुणितेगट्ठं, विदियत्थं खलु वयंति गीयत्थं।
गीएण य अत्थेण य, गीयत्थो वा सुयं गीयं॥

गीतं और मुणितं--एकार्थक हैं। गीतार्थ वह होता है जो छेदसूत्र के अर्थ का परिज्ञाता होता है। जो गीत और अर्थ से युक्त होता है वह गीतार्थ होता है। गीत का अर्थ है श्रुत।

६९०. गीएण होइ गीई, अत्थी अत्थेण होइ नायव्वो।
गीएण य अत्थेण य, गीयत्थं तं विजाणाहि॥

गीत अर्थात् सूत्र। जो केवल श्रुतधर (सूत्रधर) है वह गीती कहलाता है। जो केवल अर्थधर है वह अर्थी कहलाता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। जो गीत और अर्थ–दोनों से युक्त होता है वह गीतार्थ कहलाता है। अर्थात् वह सूत्रधर और अर्थधर–दोनों है।

६९१. जिणकप्पिओ गीयत्थो, परिहारविसुद्धिओ वि गीयत्थो।
गीयत्थे इड्ढिदुगं, सेसा गीयत्थनीसाए॥

जिनकल्पिक गीतार्थ होता है। परिहारविशुद्धि चारित्रवाला भी गीतार्थ होता है। ऋद्धिद्विक अर्थात् आचार्य और उपाध्याय–ये भी गीतार्थ होते हैं। शेष सभी मुनि गीतार्थ की निश्रा (आचार्य और उपाध्याय की निश्रा) में रहते हैं।

६९२. आयरिय गणी इड्ढी, सेसा गीता वि होंति तन्नीसा।
गच्छगय निग्गया वा, थाणनिउत्ताऽनिउत्ता वा॥

आचार्य और गणी–उपाध्याय–ये दोनों सातिशय ज्ञान आदि से ऋद्धिमान् होते हैं। शेष सभी गीतार्थ अथवा अगीतार्थ मुनि भी उनकी निश्रा में विहरण करते हैं। गच्छगत अथवा गच्छनिर्गत, स्थान पर नियुक्त[1] अथवा स्थान पर अनियुक्त–ये सभी आचार्य और उपाध्याय की निश्रा में रहते हैं।

६९३. आयारपकप्पधरा, चउदसपुव्वी अ जे अ तम्मज्झा।
तन्नीसाए विहारो, सबाल-वुड्ढस्स गच्छस्स॥

आचारप्रकल्प–निशीथ के धारक जघन्य गीतार्थ होते हैं। चतुर्दशपूर्वी उत्कृष्ट गीतार्थ होते हैं। इनके मध्यवर्ती अर्थात् कल्प-व्यवहार, दशाश्रुतस्कंध को धारण करने वाले मध्यम गीतार्थ होते हैं। इन तीन प्रकार के गीतार्थों की निश्रा में सबालवृद्ध गच्छ का विहरण होता है।

६९४. एगविहारी अ अजायकप्पिओ जो भवे चवणकप्पे।
उवसंपन्नो मंदो, होहिइ वोसट्ठतिट्ठाणो॥

एकविहारी–अकेला विहरण करने वाला, अजातकल्पिक–अगीतार्थ, तथा जो च्यवनकल्प–चारित्र से पतन के प्रकार को स्वीकृत अर्थात् पार्श्वस्थ विहारी तथा जिसने एकलविहार को स्वीकार किया है, वह मन्द अर्थात् बुद्धिविकल होगा और व्युत्सृष्टत्रिस्थान–ज्ञान, दर्शन और चारित्र इन तीनों स्थानों से परित्यक्त होगा।

६९५. मोत्तूण गच्छनिग्गते, गीयस्स वि एक्कगस्स मासो उ।
अविगीए चउगुरुगा, चवणे लहुगा य भंगट्ठा॥

गच्छनिर्गत अर्थात् जिनकल्पिक आदि मुनियों को छोड़कर यदि गीतार्थ भी एकाकी विहार करता है तो उसको मासलघु का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। अगीतार्थ यदि एकाकी विहार करता है तो उसको चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। च्यवन अर्थात् पार्श्वस्थविहार (शिथिलविहार) का यदि मन से भी संकल्प करता है तो चार लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। यहां आठ भंग (विकल्प) होते हैं–

१. एकाकी अजातकल्पिक तथा च्यवनकल्पिक भी।
२. एकाकी अजातकल्पिक, च्यवनकल्पिक नहीं।
३. एकाकी जातकल्पिक तथा च्यवनकल्पिक।
४. एकाकी जातकल्पिक, च्यवनकल्पिक नहीं।

ये एकाकीपद से चार भंग हैं। अनेकाकिपद से भी चार भंग होते हैं।

६९६. एगागित्तमणट्ठा, उवसंपज्जइ चुओ व जो कप्पा।
सो खलु सोच्चो मंदो, मंदो पुण दव्व-भावेणं॥

जो मुनि ज्ञान आदि प्रयोजन के बिना एकलविहार को स्वीकार करता है तथा जो कल्प अर्थात् संविग्नविहार से च्युत हो गया है, वह द्रव्यजीवन जीता हुआ भी शोचनीय होता है। वह मंद होता है। अर्थात् द्रव्यतः और भावतः वह मंद होता है।

६९७. एक्केक्को पुण उवचय, अवचय भावे उ अवचए पगयं।
तलिना बुद्धी सेट्ठा, उभयमओ केइ इच्छन्ति॥

द्रव्यमंद और भावमंद के दो-दो प्रकार हैं–उपचय और अपचय। यहां भावतः अपचयमंद का अधिकार है। तलिन अर्थात् सूक्ष्मबुद्धि श्रेष्ठ होती है। जो इस बुद्धि से युक्त होता है अर्थात् जो कुशाग्रीयमति होता है, वह उपचयभाव मंद है और जो स्थूलबुद्धि वाला होता है वह अपचयभावमंद होता है। कुछ आचार्य दोनों को अपचयबुद्धिमंद मानते हैं। अर्थात् निर्बुद्धिक और स्थूलबुद्धिक–दोनों को अपचयबुद्धिमंद मानते हैं।

६९८. नाणाई तिट्ठाणा, अहवण चरणऽप्पओ पवयणं च।
सुत्त-ऽत्थ-तदुभयाणि व, उग्गम उप्पायणाओ वा॥

जो एकाकी विहार करता है वह आदि तीन स्थानों से परित्यक्त हो जाता है अथवा चारित्र, आत्मा और प्रवचन से परित्यक्त हो जाता है। अथवा सूत्र, अर्थ और तदुभय–इन तीन स्थानों से विरत हो जाता है अथवा उद्गम, उत्पादन और एषणा–इन तीन स्थानों की शुद्धि से परित्यक्त हो जाता है।

६९९. अप्पुव्वस्स अगहणं, न य संकिय पुच्छणा न सारणया।
गुणयंते अ अदट्ठुं, सीदइ एगस्स उच्छाहो॥

जो एकाकी विहार करता है वह अपूर्वश्रुत के ग्रहण से वंचित रहता है। वह सूत्रार्थ संबंधी शंकित स्थानों की पृच्छा नहीं कर पाता। उसकी 'सारणा' नहीं होती। दूसरे मुनियों को परावर्तन करते हुए न देखकर वह स्वयं परावर्तन को छोड़ देता है। परावर्तन आदि में एकाकी का उत्साह नहीं रहता।

७००. चरगाई वुग्गाहण, न य वच्छल्लाइ दंसणे संका।
थी सोहि अणुज्जमया, निप्पग्गहया च चरणम्मि॥

१. स्थान पर नियुक्त–प्रवर्तक, स्थविर, गणावच्छेदक–ये पदस्थ गीतार्थ होते हैं। स्थान पर अनियुक्त–सामान्य मुनि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उस एकाकी अगीतार्थ मुनि का चरक आदि (कणाद, गौतम, सांख्य) अन्यतीर्थिक व्युद्ग्राहण (अपहरण) कर लेते हैं। एकाकी होने के कारण वह साधर्मिकों का वात्सल्य आदि नहीं कर सकता। उसमें शंका आदि दोष उत्पन्न हो जाते हैं और इस प्रकार वह दर्शन से च्युत हो जाता है। उसकी बुद्धि भी दोषिल हो जाती है। उसकी शोधि (प्रायश्चित्त) नहीं होती। उसमें अनुद्यमता आ जाती है। उसमें 'निष्प्रग्रहता'—गुरु की आज्ञा का नियमन नहीं रहता। इस प्रकार चरण विषयक उल्लंघना होती है।

७०१. सामन्नाजोगाणं, बज्झो गिहिसन्नसंथुओ होइ।
दंसण-नाण-चरित्ताण मइलणं पावई एक्को॥

वह एकाकी मुनि श्रामण्ययोगों से बाह्य हो जाता है। वह गृहस्थों के समाचारों से परिचय करता है। अकेला होने के कारण दर्शन, ज्ञान और चारित्र को मलिन कर देता है।

७०२. कयमकए गिहिकज्जे, संतप्पइ पुच्छई तहिं वसइ।
संथव-सिणेहदोसा, भासा हिय नट्ठ सोगो अ॥

वह एकाकी मुनि क्रय-विक्रय संबंधी गृहीकार्यों में संतप्त होता है। गृहस्थों के लाभ-अलाभ के विषय में पूछता है और उन्हीं के मध्य रहता है। इससे संस्तव और स्नेह संबंधी दोष उत्पन्न होते हैं। फिर वह सावद्य भाषा का प्रयोग करने लग जाता है। गृहस्थ की कोई वस्तु चोर द्वारा चुरा लिए जाने पर अथवा स्वयं नष्ट हो जाने पर उस मुनि को शोक होता है, वह परितप्त हो जाता है।

७०३. अबहुस्सुए अगीयत्थे निसिरए वा वि धारए व गणं।
तद्देवसियं तस्सा, मासा चत्तारि भारिया॥

जो आचार्य अबहुश्रुत अथवा अगीतार्थ शिष्य को गच्छ का भार सौंपते हैं तो उसका प्रायश्चित्त है चार भारिक मास। अबहुश्रुत अथवा अगीतार्थ शिष्य उस निक्षिप्त गच्छभार को धारण करता है तो उसे भी चार गुरुकमास का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। यह उस दिवस संबंधी प्रायश्चित्त है। दूसरे दिन प्राप्त होने वाले प्रायश्चित्त का कथन आगे किया जाएगा।

७०४. अबहुस्सुअस्स देइ व, जो वा अबहुस्सुओ गणं धरए।
भंगतिगम्मि वि गुरुगा, चरिमे भंगे अणुन्नाओ॥

जो आचार्य गणभार को अबहुश्रुत शिष्य को सौंपता है अथवा अबहुश्रुत शिष्य निक्षिप्त गणभार को धारण करता है—इस संबंध में चतुर्भंगी होती है। आद्यभंगत्रिक में गणदायक तथा गणधारक को चार-चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। चरम भंग की अनुज्ञा है।

७०५. सत्तरत्तं तवो होइ, तओ छेओ पहावई।
छेएणऽच्छिन्नपरियाए, तओ मूलं तओ दुगं॥

सातरात्र का तप होता है, फिर छेद आता है। छेद से अच्छिन्नपर्याय होने पर मूल, फिर द्विक अर्थात् अनवस्थाप्य और पारांचिक प्रायश्चित्त आता है। (इस गाथा का विस्तार अगली गाथा में।)

७०६. एक्केक्कं सत्त दिणे, दाऊण अइच्छियम्मि उ तवम्मि।
पंचाइ होइ छेदो, केसिंचि जहा कडो तत्तो॥

चतुर्गुरुक आदि एक-एक तप सात-सात दिनों का देने के पश्चात्, तपःप्रायश्चित्त के अतिक्रांत होने पर पंचक आदि से छेद होता है। कुछेक आचार्यों का यह अभिमत है कि जिस स्थान से तप प्रारंभ किया है, वहीं से छेद भी दिया जाता है।

७०७. तुल्ला चेव उ ठाणा, तव-छेयाणं हवंति दोण्हं पि।
पणगाइ पणगवुड्ढी, दोण्ह वि छम्मास निट्ठवणा॥

तप और छेद—दोनों के स्थान तुल्य होते हैं। पांच रात-दिन से प्रारंभ कर पंचकवृद्धि से वर्धमान स्थानों का छह मास में निष्ठापन—समापन होता है।

७०८. पढिय सुय गुणिय धारिय, करणे उवउत्तो छहिं वि ठाणेहिं।
छट्ठाणसंपउत्तो, गणपरियट्टी अणुन्नाओ॥

जिसने निशीथाध्ययन को सूत्रतः पढ़ लिया है, गुरुमुख से उसका अर्थ सुन लिया है, उसका परावर्त्तन करता है, उसको सम्यग्रूप से धारण कर लिया है, जो उसके करण—विधि-प्रतिषेध में उपयुक्त है तथा जो पांच महाव्रत और रात्रिभोजनविरमण—इन छहों स्थानों में उपयुक्त है, ऐसा मुनि पठित-श्रुत आदि छहों स्थानों में संप्रयुक्त है, वह गणवर्त्तापक के रूप में अनुज्ञात है। वह गण को धारण कर सकता है।

७०९. सत्तऽट्ठ नवग दसगं, परिहरई जो विहारकप्पी सो।
तिविहं तीहिं विसुद्धं, परिहर नवएण भेएण॥

जो आचार्य आदि सात, आठ, नौ और दश प्रकार के प्रायश्चित्त, जो त्रिविध हैं—अर्थात् दान, तप और काल प्रायश्चित्तभेद से प्रत्येक तीन-तीन भेद वाले होते हैं उनका नवक भेदों से परिहार करता है वह विहारकल्पी होता है। इसका तात्पर्य है कि वह प्राप्त सप्तविध आदि प्रायश्चित्त का करणत्रय और योगत्रय से परिहार करता है।

७१०. दुविहो अ होइ छेदो, देसच्छेदो अ सव्वछेदो अ।
मूला-ऽणवट्ठ-चरिमा, सव्वच्छेओ अतो सत्त॥

छेद प्रायश्चित्त के दो प्रकार हैं—देशच्छेद और सर्वच्छेद। पंचक आदि से षण्मासपर्यन्त देशच्छेद होता है। मूल, अनवस्थाप्य तथा पारांचिक—यह सर्वच्छेद है। दोनों प्रकार के छेद प्रायश्चित्त शब्द से व्यवहृत होते हैं, इस दृष्टि से प्रायश्चित्त के सात प्रकार हैं—आलोचनार्ह, प्रतिक्रमणार्ह, तदुभयार्ह, विवेकार्ह, व्युत्सर्गार्ह, तपोर्ह और छेदार्ह।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७११. छिज्जंते वि न पावेज्ज कोइ मूलं अओ भवे अट्ठ।
चिरघाई वा छेओ, मूलं पुण सज्जघाई उ॥

पर्याय के छिन्न होने पर भी जब तक मूल प्राप्त नहीं होता, तब उसके छह मास के छेद के पश्चात् मूल दिया जाता है। इस प्रकार प्रायश्चित्त आठ हो जाते हैं। छेद चिरघाती होता है और मूल सद्योघाती। यही दोनों में अंतर है।

७१२. वूढे पायच्छित्ते, ठविज्जई जेण तेण नव होंति।
जं वसइ खित्तबाहिं, चरिमं तम्हा दस हवंति॥

किसी कारणवश द्वादश वार्षिक परिहारतपः प्रायश्चित्त वहन कर लेने के पश्चात् उसे व्रतों में स्थापित किया जाता है। इस प्रकार अनवस्थाप्य के आधार पर प्रायश्चित्त के नौ प्रकार हो जाते हैं। वही एकाकी क्षेत्र के बाहर रहता है, उसे पारांचित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। इस प्रकार प्रायश्चित्तों की संख्या दश हो जाती है।

७१३. एयं दुवालसविहं, जिणोवइट्ठं जहोवएसेणं।
जो जाणिऊण कप्पं, सद्दहणाऽऽयरणयं कुणइ॥
७१४. सो भविय सुलभबोही परित्तसंसारिओ पयणुकम्मो।
अचिरेण उ कालेणं, गच्छइ सिद्धिं धुयकिलेसो॥

इस प्रकार जिनोपदिष्ट ये बारह प्रकार के कल्प—साधु-सामाचार हैं। इनको यथोपदिष्टरूप में जानकर जो कल्पों पर श्रद्धा करता है, उनका आचरण करता है, वह भव्य, सुलभ-बोधि, परीत्तसंसारी, प्रतनुकर्मा जीव अचिरकाल (उसी भव अथवा सात-आठ भवों) में कर्मों का अपनयन कर सिद्धगति को प्राप्त कर लेता है।

७१५. चोयग पुच्छा उस्सारकप्पिओ नत्थि तस्स किह नामं।
उस्सारे चउगुरुगा, तत्थ वि आणाइणो दोसा॥

शिष्य ने पूछा—भंते! बारह प्रकार के कल्पिकों में उत्सारकल्पिक का नामोल्लेख नहीं है। इसका कारण क्या है? आचार्य ने कहा—उत्सारकल्पिक नहीं है। शिष्य ने पुनः पूछा—फिर उत्सारकल्पिक का नाम कैसे सुना जाता है? आचार्य ने कहा—इस नाम से व्यवहार होता है, किन्तु उत्सारकरण अनुज्ञात नहीं है। जो उत्सार करता है उसका प्रायश्चित्त है चार गुरुक तथा आज्ञाभंग आदि दोष।

७१६. आणाऽणवत्थ मिच्छा, विराहणा संजमे य जोगे य।
अप्पा परो पवयणं, जीवनिकाया परिच्चत्ता॥

उत्सारकल्पिक भगवद् आज्ञा का पालन नहीं करता। अन्यान्य आचार्य या शिष्य भी उत्सारकल्प करते हैं, इससे अनवस्थादोष का प्रसंग आता है। वे मिथ्यात्व को प्राप्त हो जाते हैं। उनके संयम और योग विषयक विराधना होती है। तथा उत्सारक के आत्मा—स्वजीव, पर-उत्सारकल्पविषय शिष्य, प्रवचन—तीर्थ तथा जीवनिकाय—ये सारे परित्यक्त हो जाते हैं। (यह द्वारगाथा है। व्याख्या आगे।)

७१७. पुव्विं मलिया उस्सारवायए आगए पडिमलिंति।
पडिलेह पुग्गलिंदिय, बहुजण ओभावणा तित्थे॥

पहले किसी जैनाचार्य ने अन्ययूथिकों का मानमर्दन किया था। एक बार उत्सारवाचक वहां आए तब अन्ययूथिकों ने जैनों का मानमर्दन किया। पहले उन्होंने गुप्तरूप से एक प्रत्युपेक्षक पुरुष को उत्सारकल्पक के पास भेजकर उनके ज्ञान की परीक्षा ली। पूछा—पुद्गल के कितनी इन्द्रियां होती हैं? उसने कहा—पांच। बहुत लोगों के बीच निरुत्तर किया। तीर्थ की अपभ्राजना हुई। (यह श्लोक का शब्दार्थमात्र है। पूरा कथानक इस प्रकार है।)[1]

७१८. जीवा-ऽजीवे न मुणइ, अलियभया साहए दग-मिताई।
करणे अ विवच्चासं, करेइ आगाढऽणागाढे॥

वह उत्सारकल्पिक जीव और अजीव को नहीं जानता। वह असत्य के भय से पानी और मृग आदि की बात कह देता है। (वह उदकार्थी को कह देता है—हां, उस नदी या तालाब में पानी है। वह व्याध के पूछने पर कह देता है, हां, इधर से मृग गए हैं।) वह 'करण' अर्थात् चारित्र में विपर्यास करता है

---

१. एक वाचक आचार्य एक नगर में आए। उनके साथ अनेक शिष्य थे। नगरवासी अत्यंत प्रमुदित हुए। आचार्य के प्रवचनों से सारा नगर आनन्द विभोर हो उठा। अन्ययूथिक निर्ग्रंथ प्रवचन की प्रशंसा सुनकर बौखला गए। उन्होंने आचार्य के साथ वादगोष्ठी का आयोजन किया। वाद में आचार्य की जीत हुई और अब नगर में उनकी कीर्त्ति अत्यधिकरूप से फैली। अन्ययूथिकों के मन में ईर्ष्या और जलन उत्पन्न हो गई। वे अवसर की प्रतीक्षा में थे। वाचक आचार्य वहां से विहार कर अन्यत्र चले गए।

एक बार उसी नगर में उत्सारकल्पिक वाचक आए। श्रावक प्रमुदित हुए। अन्ययूथिकों ने उनके साथ वादगोष्ठी स्थापित करने से पूर्व एक व्यक्ति को समागत वाचक के ज्ञान की परीक्षा करने भेजा। उसने वहां जाकर वाचक से पूछा—भंते! परमाणु पुद्गल के कितनी इन्द्रियां होती हैं? वाचक ने सोचा—परमाणु पुद्गल एक समय जितने काल में लोक के चरमान्त तक पहुंच जाता है। तो निश्चित ही वह पांच इन्द्रियों वाला होना चाहिए। उसने तत्काल कहा—परमाणु पुद्गल के पांच इन्द्रियां होती हैं। परीक्षा के लिए आगत उस व्यक्ति ने जान लिया कि ये वाचक ज्ञानशून्य हैं। अन्ययूथिकों ने वादगोष्ठी का समायोजन किया। अन्ययूथिकों द्वारा पूछे गए प्रश्नों का वह उत्तर न दे सका। पग-पग पर उसका पराभव हुआ और अन्ययूथिक विजयघोष करते हुए वाचक का तिरस्कार कर चले गए। निर्ग्रंथ प्रवचन की अवहेलना हुई। श्रावकों के सिर लज्जा से झुक गए।

(बृ. पृ. २१७-२१९)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् वह आगाढ़ और अनागाढ़ विषयक विपर्यास करता है। यह सारी संयम विराधना है।

७१९. तुरियं नाहिज्जंते, नेव चिरं जोगजंतिता होंति।
लद्धो महंतसद्दो, त्ति केइ पासाइं गेण्हंति॥
७२०. कमजोगं न वि जाणइ, विगईओ का य कत्थ जोगम्मि।
अण्णस्स वि दिंति तहा, परंपरा घंटदिट्ठंतो॥

उत्सारकल्पिक शिष्य शीघ्र श्रुत का अध्ययन नहीं करते तथा वे योग–श्रुताध्ययन के समय किए जाने वाले तपोयोग से चिरकाल तक नियंत्रित नहीं होते। हमें 'वाचक या गणी' यह महान् शब्द प्राप्त हो चुका हैं यह सोचकर कुछेक शिष्य आचार्य का साथ छोड़कर पार्श्ववर्ती गांवों में स्वच्छंदरूप में विचरण करने लग जाते हैं। वे योगकर्म नहीं जानते। किस योग में कितनी विकृतियां कल्पती हैं–यह भी नहीं जानते। वे अपने अन्य शिष्यों को भी उत्सारकल्प से ही वाचना देते हैं। इस परंपरा से सूत्रार्थ का व्यवच्छेद होता है। यहां घंटा का दृष्टांत वक्तव्य है।

७२१. उच्छुकरणोव कोट्ठुगपडणं घंटा सियालनासणया।
विगमाई पुच्छ परंपराएँ नासंति जा सीहो॥
७२२. पडियरिउं सीहेणं, स हओ आसासिया मिगगणा य।
इय कइवयाइं जाणइ, पयाणि पढमिल्लुगुस्सारी॥
७२३. किं पि त्ति अन्नपुट्ठो, पच्चंतुस्सारणे अवोच्छित्ती।
गीताऽऽगमण खरंटण, पच्छित्तं कित्तिया चेव॥

एक इक्षुवाटक था। उसकी रक्षा के लिए 'उवक'–खातिका खोदी गई। एक बार उसमें एक सियार गिर गया। इक्षुवाटक के स्वामी ने उसे पकड़कर उसके गले में घंटा बांधकर उसे मुक्त कर दिया। उसे देखकर अन्य सियार भागने लगे। उन्हें भागते हुए देखकर भेड़ियों ने उनसे पूछा। उत्तर सुनकर वे भी पलायन करने लगे। इस प्रकार एक-दूसरे को देखकर जंगल के सभी पशु भागने लगे। एक सिंह ने उनको भागने का कारण पूछा। सिंह ने छानबीन कर जान लिया कि यह घंटासियार है। सिंह ने उसे मार कर सभी आरण्यक पशुओं को आश्वस्त कर उनको भयमुक्त कर दिया।

इसी प्रकार प्रथम उत्सारिक शिष्य कुछेक सूत्रालापक पदों को जानते हैं। उनके पास पढ़ने वाले कुछेक आलापकों को जान पाते हैं, अर्थ को नहीं। दूसरों के द्वारा पूछने पर वे कहते हैं–यह भी कोई अंग-उपांग का श्रुत है। तुम योगवहन करो। वे प्रत्यंत ग्राम में जाकर सूत्रार्थ का उत्सारण करते हैं। वे कहते हैं–हम सूत्रार्थ की अव्यवच्छित्ति करते हैं। उसी ग्राम में गीतार्थ मुनियों का आगमन हुआ। उन्होंने उत्सारकल्पिकों की खरंटना की और उन्हें प्रायश्चित्त दिया। ऐसे कितने गीतार्थ मुनि होंगे जो इस प्रकार शिक्षा देंगे?

७२४. अप्पत्ताण उ दिंतेण अप्पओ इह परत्थ वि य चत्तो।
सो वि अ हु तेण चत्तो, जं न पढइ तेण गव्वेणं॥

जो आचार्य अपात्र अर्थात् अयोग्य को अथवा अप्राप्त–विवक्षित अनुयोगभूमिका की प्राप्ति से रहित शिष्य को श्रुत का दान देता है तो उस आचार्य ने अपनी आत्मा को उत्सारकल्पकृत बनाने के कारण इह और परत्र में परित्यक्त कर दिया है। निश्चित-रूप से वह शिष्य भी उस आचार्य के द्वारा परित्यक्त होता है क्योंकि वह गणि, वाचक आदि गर्व से गर्विष्ठ होकर कुछ भी नहीं पढ़ता। पढ़ने के अभाव में चरण-करण की प्रतिपत्ति कैसे हो सकती है?

(इसी प्रकार प्रवचन भी परित्यक्त हो जाता हे। उस मुनि के वाचकप्रवाद को सुनकर, कुछेक सुहृद् उसको दर्शन विषयक अनेक प्रश्न पूछते हैं। उन प्रश्नों का समुचित समाधान न दे पाने के कारण लोग सोचते हैं–ओह! इनका प्रवचन व्यर्थ है। इनके गच्छ में ऐसे वाचकपद पर अधिष्ठित हैं, जो कुछ नहीं जानते। यह सोचकर कुछ व्यक्ति देशविरति, कुछ सर्वविरति स्वीकार करने के इच्छुक भी विपरिणत होकर प्रवचन को छोड़ देते हैं।)

७२५. अज्जस्स हीलणा लज्जणा य गारविअकारणमणज्जे।
आयरिए परिवाओ, वोच्छेदो सुतस्स तित्थस्स॥

जो मुनि आर्य है और अभी तक उसे वाचक पद की योग्यता प्राप्त नहीं है, वह अपने लिए प्रयुक्त 'वाचक' पद से हीलणा और लज्जा अनुभव करता है। और अनार्य के लिए वही वाचक शब्द गौरव का कारण बनता है। आचार्य का परिवाद होता है, तथा श्रुत और तीर्थ का व्यवच्छेद होता है।

७२६. पवयणवोच्छेए वट्टमाणो जिणवयणबाहिरमईओ।
बंधइ कम्मरय-मलं, जर-मरणमणंतयं घोरं॥

प्रवचन का व्यवच्छेद करने के लिए प्रवर्तमान तथा जिन-वचन से बाह्यमतिवाला वह उत्सारकल्पिक वाचक अनंत जरा-मरण का निमित्तभूत घोरकर्मरजोमल का बंधन करता है।

७२७. आणा विकोवणा बुज्झणा य उवओग निज्जरा गहणं।
गुरुवास जोग सुस्सूसणा य कमसो अहिज्जंते॥

क्रमपूर्वक सूत्र का अध्ययन करने पर ये गुण निष्पन्न होते हैं–तीर्थंकरों की आज्ञा की आराधना होती है, शिष्य का व्युत्पादन होता है, मंदबुद्धि शिष्य की भी प्रबुद्धता संपादित होती है, श्रुत में निरंतर उपयुक्तता होती है, इससे निर्जरा और श्रुतार्थ का सम्यक् ग्रहण होता है। गुरुकुलवास में रहने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के कारण सूत्रार्थ का योग होता है। शुश्रूषा का अवसर मिलता है। इसलिए क्रमशः अध्ययन करना चाहिए।

७२८. इय दोस-गुणे नाउं, उक्कम-कमओ अहिज्जमाणाणं।
उभयविसेसविहिन्नू, को वंचणमब्भुवेज्जाहि॥

इस प्रकार उत्क्रम तथा क्रमपूर्वक श्रुताध्ययन के क्रमशः दोष तथा गुणों को जानकर उभयविशेषविधिज्ञ मुनि, उत्सार-कल्प करने-कराने में कौन आत्मवंचना करेगा?

७२९. जइ नत्थि कओ नामं, असइ हु अत्थे न होइ अभिहाणं।
तम्हा तस्स पसिद्धी, अभिहाणपसिद्धिओ सिद्धा॥

यदि उत्सारकल्प नहीं है तो उसका नाम कहां से आया? अविद्यमान द्रव्य का कोई अभिधान नहीं होता। अतः अभिधान की प्रसिद्धि से ही अर्थ–द्रव्य की प्रसिद्धि सिद्ध होती है।

७३०. जइ सव्वं वि य नामं, सअत्थगं होज्ज तो भवे दोसो।
जम्हा सअत्थगत्ते, भजियं तम्हा अणेगंतो॥

यदि सारे नाम सार्थक हों तो हमारे द्वारा प्रस्तुत उत्सारकल्प नाम में दोष हो सकता है। नाम सार्थक भी होते हैं और निरर्थक भी। उनमें भजना है। इसलिए यह अनेकांत है कि असद्भूत अर्थ का अभिधान नहीं होता। सद्भूतार्थ का नाम होता है।

७३१. निक्कारणम्मि नामं, पि निच्छिमो इच्छिमो अ कज्जम्मि।
उस्सारकप्पियस्स उ, चोयग! सुण कारणं तं तु॥

वत्स! हम निष्कारण नाम भी नहीं चाहते। कारण अर्थात् प्रयोजन होने पर उत्सारकल्पिक का नाम और अर्थ की भी इच्छा करते हैं। तुम उस कारण को सुनो।

७३२. आयार-दिट्ठिवायत्थजाणए पुरिस-कारणविहिन्नू।
संविग्गमपरितंते, अरिहइ उस्सारणं काउं॥

जो आचारांग तथा दृष्टिवाद पर्यन्त आगमों का ज्ञाता है तथा जो यह जानता है कि यह पुरुष उत्सारकल्प के योग्य है या नहीं तथा जो उत्सारकल्प करने के कारणों को जानता है, जो संविग्न है तथा जो सूत्रार्थ को ग्रहण करवाने में अपरिश्रान्त होता है, वही उत्सारणाकल्प करा सकता है, वही अर्ह होता है।

७३३. अभिगए पडिबद्धे, संविग्गे अ सलद्धिए।
अवट्ठिए अ मेहावी, पडिबुज्झी जोअकारए॥

अभिगत, प्रतिबद्ध, संविग्न, सलब्धिक, अवस्थित, मेधावी, प्रतिबोधी और योगकारक–ऐसा पुरुष ही उत्सार-कल्पयोग्य होता है। (व्याख्या आगे।)

७३४. सम्मत्तम्मि अभिगओ, विजाणओ वा वि अब्भुवगओ वा।
सज्झाए पडिबद्धो, गुरूसु नीएल्लएसुं वा॥

अभिगत के तीन अर्थ हैं–सम्यक्त्व को अभिमुखता से प्राप्त, जीव-अजीव आदि तत्त्वों का विज्ञायक, 'गुरुसेवा नहीं छोड़ूंगा'–ऐसा अभ्युपगम करने वाला। प्रतिबद्ध के तीन अर्थ हैं–स्वाध्याय के प्रति प्रतिबद्ध, गुरु के प्रति स्थिरममत्वानु-बद्ध तथा ज्ञाती संयमियों के प्रति संजातप्रेमवाला।

७३५. संविग्गो दव्व मिओ, भावे मूलुत्तरेसु उ जयंतो।
लद्धी आहाराइसु, अणुओगे धम्मकहणे य॥

संविग्न के दो प्रकार हैं–द्रव्यसंविग्न और भावसंविग्न। द्रव्यसंविग्न है मृग जो सदा, सर्वदा भयभीत रहता है। जो मूलगुण और उत्तरगुणों में यतमान है वह भावसंविग्न है। जो आहार आदि की लब्धि से युक्त है तथा जो अनुयोग देने और धर्मकथन में लब्धियुक्त है, वह सलब्धिक होता है।

७३६. लिंग विहारेऽवट्ठिओ, मेरामेहावि गहणओ भइओ।
पडिबुज्झइ जं कत्थइ, कुणइ अ जोगं तदट्ठस्स॥

अवस्थित के दो प्रकार हैं–लिंग से अवस्थित और विहार से अवस्थित। जो लिंग को नहीं छोड़ता वह लिंगावस्थित है और जो संविग्न विहार को नहीं छोड़ता वह विहारावस्थित है। मेधावी के दो प्रकार हैं–ग्रहण-मेधावी तथा मर्यादामेधावी। उत्सारकल्प में ग्रहणमेधावी की भजना है। जो कहे हुए को सारा जानता है वह प्रतिबोधी होता है। उसके लिए जो सूत्र उत्सारित किया जाता है, उसके अर्थ-ग्रहण में जो व्यापृत होता है, वह योगकारक है।

७३७. अभिगय थिर संविग्गे, गुरुअमुई जोगकारए चेव।
दुम्मेहसलद्धीए, पडिबुज्झी परिणय विणीए॥
७३८. आयरियवण्णवाई, अणुकूले धम्मसद्धिए चेव।
एतारिसे महाभागे, उस्सारं काउमरिहइ॥

(अन्य आचार्य के आधार पर उत्सारकल्पिक के गुण) अभिगत–प्रबुद्ध, स्थिर, संविग्न, गुरु को न छोड़ने वाला, योगकारक, दुर्मेधा होने पर भी सलब्धिक, प्रतिबोधी, परिणत, विनीत, आचार्य का वर्णवादी–गुणोत्कीर्त्तन करने वाला, अनुकूल, धर्मश्रद्धी, ऐसा महाभाग उत्सारकल्प कर सकता है।

७३९. अणभिगयमाइआणं, उस्सारिंतस्स चउगुरू होंति।
उग्गहणम्मि वि गुरुगाऽकालमसज्झायऽवक्खेवे॥

जो आचार्य इन गुणों से विपरीत गुणों वाले को उत्सारकल्प करवाते हैं तो वे प्रत्येक के लिए चार-चार गुरुमास प्रायश्चित्त के भागी होते हैं। जो शिष्य अवग्रहण करने में समर्थ है, उसको यदि निष्कारण ही उत्सार किया जाता है तो भी चार गुरुक का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है तथा जब तक उत्सारकल्प किया जाता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है तब तक अकाल, अस्वाध्यायिक तथा व्याक्षेप करने पर चार गुरुक का प्रायश्चित्त है।

७४०. गच्छो अ अलद्धीओ, ओमाणं चेव अणहियासा य।
गिहिणो अ मंदधम्मा, सुद्धं च गवेसए उवहिं॥

यदि किसी आचार्य का पूरा गच्छ अलब्धिक है, उसका उस क्षेत्र विशेष में अपमान होता है, शिष्य शीत आदि परीषहों को सहने में असमर्थ हैं, वहां के गृहस्थ मंदधर्मा हैं, 'शुद्ध उपधि की गवेषणा करनी चाहिए'—यह भगवद् वाणी है। परन्तु वहां हर किसी को वैसी उपधि प्राप्त नहीं हो सकती, तब दुर्मेधा लब्धिक मुनि को उत्सारकल्प द्वारा कल्पिक किया जाता है।

७४१. हिंडउ गीयसहाओ, सलद्धि अह ते हणंति से लद्धिं।
तो एक्कओ वि हिंडइ, आयारुस्सारियसुअत्थो॥

वह कल्पिक लब्धिमान् मुनि गीतार्थ मुनि के साथ वस्त्रैषणा के लिए घूमे। यदि उसकी लब्धि का हनन होता हो तो वह एकाकी घूमे। क्योंकि उसे आचारांग के अंतर्गत वस्त्रैषणा का सूत्रार्थ उत्सारकल्प द्वारा ग्रहण करवाया जा चुका है।

७४२. भिक्खु विह तण्ह वहल, अभागधेज्जो जहिं तहिं न पडे।
दुग-तिगमाईभेदे, पडइ तहिं जत्थ सो नत्थि॥

पांच सौ व्यक्तियों का एक सार्थ जा रहा था। उस सार्थ के साथ एक रक्तपटवाला भिक्षु भी हो गया। सार्थ अटवी में प्रविष्ट हुआ। सभी तृषा से व्याकुल होने लगे। दूर बादल बरस रहे थे। परंतु सार्थ पर वर्षा नहीं हो रही थी। वह भिक्षु निर्भागी था। वह पांच सौ व्यक्तियों के पुण्य का उपहनन कर रहा था। तब सार्थ को दो-तीन आदि भागों में बांट दिया। वह भिक्षु जिस भाग के साथ होता, वहां पानी नहीं बरसता, शेष सर्वत्र स्थानों में वर्षा होती। इस प्रकार दूसरों के पुण्य का उपहनन होता है।

७४३. भिक्खं वा वि अडंतो, बिईय पढमाएँ अहव सव्वासु।
सहिओ व असहिओ वा, उप्पाए वा पभावे वा॥

भिक्षा के लिए घूमता हुआ अथवा पहली-दूसरी पौरुषी में या सभी पौरुषियों में वस्त्रों के उत्पादन के लिए घूमे। वह गीतार्थ मुनि के साथ अथवा अकेला ही वस्त्रों का उत्पादन करे, लोगों को प्रभावित कर वस्त्रदान के लिए प्रेरित करे।

७४४. कालियसुआणुओगम्मि गंडियाणं समोयरणहेउं।
उस्सारिंति सुविहिया, भूयावायं न अन्नेणं॥

जिस मुनि को अभी दृष्टिवाद पढ़ने की पर्याय प्राप्त नहीं है, जो कालिकश्रुतानुयोग से धर्मकथा कर रहा है, उसके लिए गंडिकाओं के समवतार के लिए सुविहित आचार्य भूतवाद अर्थात् दृष्टिवाद का उत्सारण करते हैं। अन्य किसी कारण से नहीं।

७४५. सज्झायमसज्झाए, सुद्धासुद्धे व उद्दिसे काले।
दो दो अ अणोएसुं, ओएसु उ अंतिमं एक्कं॥

७४६. एगंतरमायंबिल, विगईए मक्खियं पि वज्जेति।
जावइअं च अहिज्जइ, तावइयं उद्दिसे केइ॥

उत्सारकल्प में स्वाध्यायिक में अथवा अस्वाध्यायिक में, शुद्ध अथवा अशुद्ध काल में विवक्षितश्रुत का उद्देशन दे, उसमें व्याघात न करे। जिस अध्ययन के 'अनोज' अर्थात् सम उद्देशक हों, जैसे—दो, चार, छह, आठ आदि, वे दो-दो के आधार पर उद्दिष्ट करे तथा जिस अध्ययन के 'ओज' अर्थात् विषम उद्देशक हों तो अंतिम दिन एक ही उद्देशक उद्दिष्ट करे। वह एकान्तर आचाम्ल करे तथा विकृति से खरंटित का भी वर्जन करे। कुछ आचार्य कहते हैं—जितने परिमाण में वह श्रुत का अध्ययन करे, उतने परिमाण में उसको उद्दिष्ट करे। (यदि कोई मेधावी शिष्य हो और वह अनेक अध्ययनों की अवगति कर लेता है तो उसे सारे अध्ययन उद्दिष्ट करें।)

७४७. आहारे उवकरणे, पडिलेहण लेव खित्तपडिलेहा।
अप्पाहारो परिहारे मोअ जह अप्पनिद्दो अ॥

जो उत्सारकल्प करने लग गया है उसके आहारग्रहण, उपकरण-प्रत्युपेक्षण, लेपग्रहण, क्षेत्रप्रत्युपेक्षा में व्याक्षेप नहीं करना चाहिए। उसके अल्पाहार हो वैसा प्रयत्न करना चाहिए। इस अल्पाहार से ही परिहार अर्थात् संज्ञा तथा कायिकी अल्प हो सकती है। वह अल्पनिद्रा वाला हो, ऐसा प्रयत्न होना चाहिए।

७४८. हिंडाविंति न वा णं, अहवा अन्नट्ठया न सो अडइ।
पेहिंति व से उवहिं, पेहेइ व सो न अन्नेसिं॥

आचार्य उस उत्सारकल्पिक को भिक्षा के लिए न भेजे। अथवा असंस्तरण हो तो उसे भेजा जा सकता है। वह दूसरों के प्रयोजन से कहीं नहीं जाता। उसकी उपधि की प्रत्युपेक्षा दूसरे साधु करते हैं। वह दूसरों की उपधि की प्रत्युपेक्षा नहीं करता।

७४९. एमेव लेवगहणं, लिंपइ वा अप्पणो न अन्नस्स।
खेत्तं च न पेहावे, न यावि तेसोवहिं पेहे॥

इसी प्रकार लेपग्रहण अर्थात् पात्रलेपन भी दूसरे मुनि करते हैं अथवा वह स्वयं अपने पात्र का लेपन करता है, दूसरे का नहीं। क्षेत्रप्रत्युपेक्षा के लिए उसे न भेजे और न वह क्षेत्रप्रत्युपेक्षकों की उपधि की प्रत्युपेक्षा करे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७५०. दिंति पणीयाहारं, न य बहुगं मा हु जग्गतोऽजिण्णं।
मोआइनिसग्गेसु अ, बहुसो मा होज्ज पलिमंथो॥

आचार्य उसको प्रणीत आहार दे, जिससे कि वह दृष्टिवाद आदि के सूत्रार्थों की अनुप्रेक्षा कर सके। उसको प्रणीत आहार बहुमात्रा में न दे। उसकी अधिक मात्रा से रात में सूत्रार्थ के निमित्त जागते रहने के कारण अजीर्ण रोग होने की संभावना रहती है। इसलिए वे उसे अल्पमात्रा में प्रणीत आहार देते हैं। रूक्षाहार से कायिकी का निस्सरण अधिक होता है, उससे पलिमंथ अर्थात् सूत्रार्थ का व्याघात होता है। स्निग्ध आहार से वैसा नहीं होता।

७५१. गइ-ठाण-भास-भावे, लहुओ मासो उ होइ एक्केक्के।
आणाइणो य दोसा, विराहणा संजमाऽऽयाए॥

चंचल के चार प्रकार हैं—गतिचंचल, स्थानचंचल, भाषा-चंचल तथा भावचंचल। इनमें प्रत्येक के एक-एक लघुमास का प्रायश्चित्त, आज्ञाभंग आदि दोष, संयमविराधना तथा आत्म-विराधना—ये होते हैं।

७५२. दावद्दविओ गइचंचलो उ ठाणचवलो इमो तिविहो।
कुड्डादऽसइं फुसइ व, भमइ व पाए व विच्छुभइ॥

जो द्रावद्रविक—अत्यंत द्रुतगामी होता है, वह गतिचंचल है। स्थानचंचल के तीन प्रकार हैं—भींत आदि का बार-बार स्पर्श करने वाला, जो शरीर के अवयवों को घुमाता रहता है, जो पैरों को बार-बार संकुचित करता है, फैलाता है।

७५३. भासाचपलो चउहा, अस त्ति अलियं असोहणं वा वि।
असभाजोग्गमसब्भं, अणूहिउं तं तु असमिक्खं॥

भाषाचपल के चार प्रकार हैं—असत्प्रलापी, असभ्यप्रलापी, असमीक्षितप्रलापी, अदेशकालप्रलापी। असत् अर्थात् अलीक अथवा अशोभन—गर्व आदि से दूषित वचन बोलना। असभ्य अर्थात् असभायोग्यवचन बोलना। बिना सोचे-समझे बोलना असमीक्षितवचन है।

७५४. कज्जविवत्तिं दट्ठुं, भणाइ पुव्विं मए उ विण्णायं।
एवमिदं तु भविस्सइ, अदेसकालप्पलावी उ॥

कोई कार्यविपत्ति—कार्य के विनाश को देखकर कहता है—'मैंने पहले ही वह जान लिया था कि यह कार्य ऐसा ही होगा।' इस प्रकार कहने वाला अदेशकालप्रलापी होता है।

७५५. जं जं सुयमत्थो वा, उद्दिट्ठं तस्स पारमप्पत्तो।
अन्नन्नसुयदुमाणं पल्लवगाही उ भावचलो॥

जो-जो श्रुत और अर्थ उद्दिष्ट है, उसका पार प्राप्त न कर अन्यान्य श्रुतरूपी वृक्षों के यत्र-तत्र आलापकों को ग्रहण करता है, वह पल्लवग्राही होता है। वह है भावचपल या भावचंचल।

७५६. तेणे सावय ओसह, खित्ताई वाइ सेहवोसिरणे।
आयरिय-बालमाई, तदुभयछेए य बिहयपयं॥

चोर के भय से, श्वापद के भय से, आगाढ़रोगी को औषधि देने के लिए, क्षिप्तचित्त आदि के कारण, वादी का निग्रह करने के लिए, शैक्ष का व्युत्सर्जन करने के लिए आचार्य-बाल आदि के लिए तथा 'तदुभयच्छेद'—सूत्र और अर्थ—दोनों के व्यवच्छेद की स्थिति में—इन सारे स्थानों में अपवादपद में चारों प्रकार की चंचलताएं विहित हैं।

७५७. दुविहो लिंग विहारे, एक्केक्को चेव होइ दुविहो उ।
चउरो य अणुग्घाया, तत्थ वि आणाइणो दोसा॥

अनवस्थित दो प्रकार का है—लिंग अनवस्थित और विहार अनवस्थित। प्रत्येक के दो-दो प्रकार हैं। चार मास अनुद्घात (गुरुमास) तथा आज्ञाभंग आदि दोष। (व्याख्या आगे)।

७५८. गिहिलिंग अन्नलिंगं, जो उ करेई स लिंगओ दुविहो।
चरणे गणे अ अथिरो, विहारअणवट्ठिओ एस॥

जो साधु गृहलिंग—गृहस्थ का वेष, अथवा अन्यतीर्थिकों का वेष करता है वह दोनों प्रकार के लिंग से अनवस्थित है। जो चरण और गण में अस्थिर होता है, वह दोनों प्रकार से विहार से अनवस्थित है।

७५९. उग्गहण धारणाए, मेराए चेव होइ मेधावी।
तिविहम्मि अहीकारो, मेरासंजुत्तो मेहावी॥

मेधावी के तीन प्रकार हैं—अवग्रहणमेधावी, धारणामेधावी और मर्यादामेधावी। प्रस्तुत में तीनों प्रकार के मेधावियों में मर्यादामेधावी का अधिकार है। जो मर्यादा से संयुक्त होता है, वह मर्यादामेधावी है।

७६०. परिसाइ अपरिसाई, दव्वे भावे य लोग उत्तरिए।
एक्केक्को वि य दुविहो, अमच्च बडुईए दिट्ठंतो॥

दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं—परिस्रावी और अपरिस्रावी। दोनों के दो-दो प्रकार हैं। द्रव्यतः परिस्रावी और अपरिस्रावी तथा भावतः परिस्रावी और अपरिस्रावी। इनके दो-दो भेद हैं—लौकिक और लोकोत्तरिक। लौकिक भावतः परिस्रावी में अमात्य का दृष्टांत तथा लौकिक भावतः अपरिस्रावी में बटुकी का दृष्टांत है।[1] (लोकोत्तरिक भावतः परिस्रावी मुनि पूछने पर अथवा न पूछने पर भी अपरिणत मुनि को अपवादपद के रहस्य बता देता है। लोकोत्तरिक भावतः परिस्रावी मुनि को छेदसूत्रों के रहस्य तथा अपवाद पदों के विषय में पूछने पर अपरिणत को कहता है—आज गोष्ठी में चरण करण की प्ररूपणा विषयक चर्चा थी।)

१. दोनों दृष्टांतों के लिए देखें—कथा परिशिष्ट नं. ३७,३८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७६१. विदु जाणए विणीए, उववाए जो उ वट्टए गुरूणं।
तव्विवरीयऽविणीए, अदिंत दिंते अ लहु-गुरुगा॥

विद्वान् ज्ञायक विनीत होता है। वह गुरु के उपपात अर्थात् आज्ञा-निर्देश में रहता है। उसको यदि सूत्र की वाचना नहीं दी जाए तो चतुर्लघु और अर्थ की वाचना न दी जाए तो चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त आता है। इसके विपरीत जो अविनीत है, उसको यदि सूत्र की वाचना दी जाती है तो चतुर्लघु और अर्थ की वाचना दी जाती है तो चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त आता है।

७६२. तिंतिणिए चलचित्ते, गाणंगणिए अ दुब्बलचरित्ते।
आयरियपरिभासी, वामावट्टे य पिसुणे य॥

७६३. आदीअदिट्ठभावे, अकडसमायारि तरुणधम्मे य।
गव्विय पइण्ण निण्हइ, छेअसुए वज्जए अत्थं॥

निम्नोक्त मुनियों को छेदसूत्र के अर्थ की जानकारी न दे--तिन्तिणिक, चलचित्त, गाणंगणिक, दुर्बलचारित्री, आचार्य-परिभाषी, वामावर्त्त, पिशुन, आद्यदृष्टभाव, अकृत-सामाचारीक, तरुणधर्मा, गर्वित, प्रकीर्णक, और निह्नवी। (व्याख्या आगे)

७६४. डज्झंतं तिंबुरुदारुयं व दिवसं पि जो तिडितिडेइ।
अह दव्वतिंतिणो भावओ उ आहारुवहि-सेज्जा॥

तिंबुरुक वृक्ष की लकड़ी जब जलती है तब त्रट्-त्रट् ऐसे शब्द करती है। इसी प्रकार गुरु द्वारा उपालब्ध शिष्य दिनभर 'त्रट्-त्रट्' की आवाज करता रहता है। वह द्रव्य तिन्तिणिक है। भाव तिन्तिणिक के तीन प्रकार हैं--आहार विषयक, उपधि विषयक तथा शय्या--वसति विषयक।

७६५. अंतो-बहिसंजोअण, आहारे बाहि खीर-दधिमाई।
अंतो उ होइ तिविहा, भायण हत्थे मुहे चेव॥

आहार विषयक संयोजना दो प्रकार की होती है--अन्तर् और बाहिर। बहिर् होती है--दूध, दही आदि में लोलुपता वश उसमें कुछ मिलाना। अन्तर् संयोजना के तीन प्रकार हैं--भाजन विषयक, हाथ विषयक तथा मुख विषयक।

७६६. एमेव उवहि सेज्जा, गुणोवगारी उ जस्स जं होइ।
सो तेण जायेयंतो, तदभावे तिंतिणो होइ॥

इसी प्रकार उपधि और शय्या विषयक संयोजना जाननी चाहिए। जिसके लिए जो गुणोपकारी होता है, वह उस वस्तु की उसी के साथ संयोजना करता है। उसके अभाव में वह उस विषयक तिन्तिणिक हो जाता है।

७६७. चलचित्तो भावचलो, उस्सग्गऽववायतो उ जो पुव्विं।
भणितो सो चेव इहं, गाणंगणियं अतो वोच्छं॥

चलचित्त यहां भावचल के रूप में गृहीत है। उत्सर्ग और अपवाद के आधार पर पूर्व में अचंचलद्वार (गाथा ७५५) में जो कहा गया है, वह यहां भी कहना चाहिए। गाणंगणिक के विषय में आगे कहूंगा।

७६८. छम्मास अपूरित्ता, गुरुगा बारससमासु चउलहुगा।
तेण परं मासलहू, गाणंगणि कारणे भइतो॥

उपसंपन्न मुनि छह मास को पूरा किए बिना एक गण से दूसरे गण में जाता है तो उसे चार गुरुक का तथा पश्चात् बारह वर्षों को पूरा किए बिना यदि गाणंगणिक होता है तो चतुर्लघु, फिर गाणंगणिक होने पर मासलघु का प्रायश्चित्त विहित है। गाणंगणिकत्व ज्ञान, दर्शन, चारित्र में से किसी कारण के समुत्पन्न होने पर किया जाता है, यह मान्य है।

७६९. मूलगुण उत्तरगुणे, पडिसेवइ पणगमाइ जा चरिमं।
धिइ-वीरियपरिहीणो, दुब्बलचरणो अणट्ठाए॥

जो धृति और वीर्य से परिहीन तथा दुर्बलचारित्री है, वह बिना किसी पुष्ट आलंबन के मूल और उत्तरगुण विषयक अपराधों की प्रतिसेवना करता है, जिनका जघन्य प्रायश्चित्त है पांच दिन-रात का तथा उत्कृष्ट प्रायश्चित्त है चरम अर्थात् पारांचिक, ऐसे साधु को छेदसूत्र की अर्थ-वाचना नहीं देनी चाहिए।

७७०. पंचमहव्वयभेदो, छक्कायवहो अ तेणऽणुन्नाओ।
सुहसील-ऽवियत्ताणं, कहेइ जो पवयणरहस्सं॥

जो आचार्य प्रवचनरहस्य अर्थात् छेदसूत्रों का अर्थ सुखशील और अव्यक्त शिष्यों को बताते हैं, वे पांच महाव्रतों के भेद तथा षट्जीवनिकाय के वध के अनुज्ञापक होते हैं।

७७१. निस्साणपदं पीहइ, अनिस्साणविहारयं न रोएइ।
तं जाण मंदधम्मं, इहलोगगवेसगं समणं॥

तुम उस श्रमण को मंदधर्मा और इहलोकगवेषक जानो जो निश्राणपद--अपवाद पद की स्पृहा करता है तथा जिसे अनिश्राणविहारिता रुचिकर नहीं लगती।

७७२. डहरो अकुलीणो त्ति य, दुम्मेहो दमग मंदबुद्धि त्ति।
अवि अप्पलाभलद्धी, सीसो परिभवइ आयरियं॥

कोई शिष्य आचार्य को बालक, अकुलीन, दुर्मेधा--मंदप्रज्ञ, द्रमक--दरिद्र, मंदबुद्धि, अल्पलाभलब्धि आदि-आदि कहकर उनका परिभव करता है।

७७३. सो वि य सीसो दुविहो, पव्वावियगो अ सिक्खओ चेव।
सो सिक्खओ अ तिविहो, सुत्ते अत्थे तदुभए य॥

वैसा शिष्य भी दो प्रकार का होता है--प्रव्रजित तथा शिक्षक। शिक्षक--गच्छान्तर से आया हुआ मुनि। उसके तीन प्रकार हैं--सूत्र के लिए समागत, अर्थ के लिए समागत अथवा सूत्रार्थ के लिए समागत।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७७४. एहि भणिओ उ वच्चइ, वच्चसु भणिओ दुतं समल्लियइ।
जं जह भण्णति तं तह, अकरेंतो वामवट्टो उ॥

'आओ' कहने पर जो चला जाता है, 'जाओ' कहने पर जो शीघ्र ही आकर पास में बैठ जाता है। जिस कार्य को जैसे करने के लिए कहा जाता है, उसको वैसे न करने वाला वामावर्त्त कहलाता है।

७७५. पीईसुण्णण पिसुणो, गुरुगाइ चउण्ह जाव लहुओ उ।
अहव असंतासंते, लहुगा लहुगो गिही गुरुगा॥

जो प्रीति को शून्य करता है वह पिशुन होता है। जो गुरु के प्रति पैशून्य करता है, उसे चतुर्गुरु तथा उपाध्याय आदि के प्रति पिशुनता करने पर चतुर्लघु आदि प्रायश्चित्त आता है। अथवा असद्दूषण विषयक पैशून्य में चार लघु, सद्दूषण में लघुमास का प्रायश्चित्त है। गृहस्थ विषयक ये ही प्रायश्चित्त गुरुक हो जाते हैं।

७७६. आवासगमाईया, सूयगडा जाव आइमा भावा।
ते उ न दिट्ठा जेणं, अदिट्ठभावो हवइ एसो॥

आवश्यकसूत्र से सूत्रकृतांग पर्यन्त जो अभिधेय हैं वे आदिम--अदृष्ट भाव कहलाते हैं। जिस मुनि ने इनको नहीं जाना है वह अदृष्टभाव कहलाता है।

७७७. दुविहा सामायारी, उवसंपद मंडलीएँ बोधव्वा।
अणालोइयम्मि गुरुगा, मंउलिमेरं अतो वोच्छं॥

सामाचारी के दो प्रकार हैं--उपसंपदा में होने वाली तथा मंडली में होने वाली। गच्छान्तर से उपसंपदा के लिए आने वाले मुनि को अनेक प्रश्न पूछे जाते हैं। यह उपसंपदा की सामाचारी है। जो आचार्य अनालोचित रूप में उपसंपदा देता है उसे चतुर्गुरुक का प्रायश्चित्त आता है। आगे मंडलीमेरा अर्थात् मंडली की सामाचारी कहूंगा।

७७८. सुत्तम्मि होइ भयणा, पमाणतो यावि होइ भयणा उ।
अत्थम्मि उ जावइया, सुणिंति थेवेसु अन्ने वि॥

सूत्रमंडली में निषद्या की भजना है। यह भजना प्रमाणतः होती है--कभी दो, तीन, चार निषद्याएं भी होती हैं। अर्थमंडली में जितने मुनि अर्थ सुनते हैं वे सभी अपना-अपना कल्प निषद्याकारक को देते हैं। यदि अनुयोग ग्रहण करने वाले कम हों तो अन्य मुनि, जो अनुयोग को नहीं सुनते हैं, वे भी कल्प देते हैं।

७७९. मज्जण निसिज्ज अक्खा, किइकम्मुस्सग्ग वंदणग जेट्ठ।
परियाग जाइ सुअ सुणण समत्ते भासई जो उ॥

पहले अनुयोगमंडली का प्रमार्जन, निषद्या की रचना, अक्षों की स्थापना, कृतिकर्म, कायोत्सर्ग, ज्येष्ठ को वंदना करनी चाहिए। जिज्ञासु पूछता है--ज्येष्ठ कौन? पर्याय से ज्येष्ठ अथवा जाति से अथवा श्रुत से अथवा अनेक परिपाटियों द्वारा अर्थश्रवण से ज्येष्ठ होता है? आचार्य कहते हैं--वही ज्येष्ठ है जिसका व्याख्यान समर्थित होता है और जो अग्रणी होकर चिन्तनिका कराता है।

७८०. अवितहकरणे सुद्धो, वितह करेंतस्स मासियं लहुगं।
अक्ख निसिज्जा लहुगा, सेसेसु वि मासियं लहुगं॥

जो प्रमार्जन आदि पदों को अवितथरूप में करता है वह शुद्ध है। जो इनको वितथ करता है उसे मासिक का प्रायश्चित्त आता है। अक्षों की अस्थापना करने, गुरु की निषद्या न करने पर चार लघुक तथा शेष सभी में मासिक लघु का प्रायश्चित्त आता है।

७८१. तिण्हाऽऽरेण समाणं, होइ पकप्पम्मि तरुणधम्मो उ।
पंचण्ह दसाकप्पे, जस्स व जो जत्तिओ कालो॥

व्रतपर्याय की अपेक्षा से तीन वर्ष से पूर्व मुनि निशीथाध्ययन के लिए तरुणधर्मा होता है। पांच वर्ष से दशाश्रुतस्कंध, कल्प और व्यवहार के लिए वह तरुणधर्मा होता है। जिस सूत्र का जितना कालमान है, उससे पूर्व वह उन आगमों के लिए तरुणधर्मा होता है।

७८२. पुरिसम्मि दुव्विणीए, विणयविहाणं न किंचि आइक्खे।
न वि दिज्जइ आभरणं, पलियत्तियकन्न-हत्थस्स॥

जो दुर्विनीत पुरुष है उसके लिए विनयविधान--कर्मों के विनयन का उपाय किंचित् भी प्रतिपादित नहीं करना चाहिए। क्योंकि कटे हुए कान और हाथ वाले व्यक्ति को कोई आभरण नहीं दिया जाता।

७८३. मद्दवकरणं नाणं, तेणेव उ जे मदं समुवहंति।
ऊणगभायणसरिसा, अगदो वि विसायते तेसिं॥

मार्दव अर्थात् मान का निग्रह करने वाला होता है ज्ञान--श्रुतज्ञान। जो ज्ञान से दुर्विदग्ध हैं वे ज्ञान का अहंकार वहन करते हैं। जो अपूर्ण भरे घट के सदृश होते हैं, उनके लिए विषापहारी औषध भी विषरूप में परिणत हो जाती है।

७८४. सोउं अणभिगताणं, कहेइ अमुगं कहिज्जई इत्थं।
एस उ पइण्णपण्णो, पइण्णविज्जो उ सव्वं पि॥

अर्थमंडली में रहस्यमय अर्थ को सुनकर, उसे अपरिणत मुनियों को बताता है कि अमुक कल्पनीय रूप में कहा गया है। वह बताने वाला मुनि प्रकीर्णप्रज्ञ अर्थात् रहस्यों को जानने वाला अथवा प्रकीर्णप्रश्न कहलाता है। प्रकीर्णविद्य मुनि अपरिणत मुनि को छेदसूत्र के उत्सर्ग-अपवाद सहित सब कुछ बता देता है।

७८५. अप्पच्चओ अकित्ती, जिणाण ओहाव मइलणा चेव।
दुल्लहबोहीअत्तं, पावंति पइण्णवागरणा॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपरिणत मुनियों को रहस्य के प्रति अविश्वास होता है, वे तीर्थंकरों की अकीर्ति करते हैं। वे उत्प्रव्रजन कर देते हैं। उनके ज्ञान आदि की मलिनता होती है। उनके लिए बोधि की प्राप्ति दुर्लभ हो जाती है। वे होते हैं—प्रकीर्णव्याकरण।

७८६. सुत्त-ऽत्थ-तदुभयाइं, जो घेत्तुं निण्हवे तमायरियं।
लहुया गुरुया अत्थे, गेरुयनायं अबोही य॥

जो मुनि किसी आचार्य के पास सूत्र, अर्थ और तदुभय को ग्रहण कर आचार्य के नाम का निह्नवन करता है, अपलाप करता है तो उसे प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। सूत्राचार्य के निह्नवन पर चतुर्लघुक, अर्थदायक का निह्नवन करने पर चतुर्गुरुक, उभयाचार्य का अपलाप करने पर तदुभय प्रायश्चित्त आता है। यहां गेरुक—परिव्राजक का दृष्टांत[1] है। गुरु का निह्नवन करने वाले को परलोक में बोधि प्राप्त नहीं होती।

७८७. उवहयमइ-विन्नाणे, न कहेयव्वं सुयं व अत्थो वा।
न मणी सयसाहस्सो, आविज्झइ कोत्थु भासस्स॥

जो मति-विज्ञान[2] का उपहनन करता है, उसे श्रुत और अर्थ का ज्ञान नहीं कहना चाहिए। शतसहस्र मूल्य वाला कौस्तुभमणि भास पक्षी के गले में नहीं बांधा जाता।

७८८. अव्वत्ते अ अपत्ते, लहुगा लहुगा य होंति अप्पत्ते।
लहुगा य दव्वतिंतिणि, रसतिंतिणि होंति चतुगुरुगा॥

अव्यक्त और अपात्र को सूत्रार्थ देने पर चतुर्लघुक का तथा अप्राप्त अर्थात् आद्यदृष्टभाव को सूत्रार्थ देने पर भी चतुर्लघुक का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। द्रव्य तिन्तिणिक को देने पर भी चतुर्लघुक तथा रस तिन्तिणिक अर्थात् आहार तिन्तिणिक को देने पर चतुर्गुरुक का प्रायश्चित्त आता है।

७८९. अंतो बहिं च गुरुगा, आयरिय-गिलाण-बाल बिइअपयं।
आयरियपारिभासिस्स होंति चउरो अणुग्घाया॥

अन्तर् बहिर् संयोजना में चतुर्गुरुक का प्रायश्चित्त है। आचार्य, ग्लान और बालकों के लिए संयोजना करना अपवादपद है। जो मुनि आचार्य का परिभाषी होता है उसे चार अनुद्घात का प्रायश्चित्त आता है।

७९०. तम्हा न कहेयव्वं, आयरिएणं तु पवयणरहस्सं।
खेत्तं कालं पुरिसं, नाऊण पगासए गुज्झं॥

इसलिए आचार्य को प्रवचनरहस्य जिस किसी को नहीं कहना चाहिए। उनको क्षेत्र, काल और पुरुष को भलीभांति जानकर गुह्य का प्रकाशन करना चाहिए।

७९१. चउभंगो अणुण्णाए, अणणुन्नाए अ पढमतो सुद्धो।
सेसाणं मासलहू, अविणयमाई भवे दोसा॥

अनुज्ञात और अननुज्ञात के आधार पर चतुर्भंगी होती है। उसमें प्रथम भंग शुद्ध है। शेष भंगों में मासलघु का प्रायश्चित्त तथा अविनय आदि दोष होते हैं। वह चतुर्भंगी इस प्रकार है—

१. अनुज्ञात अनुज्ञात को वाचना देता है।
२. अनुज्ञात अननुज्ञात को वाचना देता है।
३. अननुज्ञात अनुज्ञात को वाचना देता है।
१. अननुज्ञात अननुज्ञात को वाचना देता है।

७९२. परिणाम अपरिणामे, अइपरिणाम पडिसेह चरिमदुए।
अंबाईदिट्ठंतो, कहणा य इमेहिं ठाणेहिं॥

परिणामक, अपरिणामक और अतिपरिणामक—तीन प्रकार के शिष्य होते हैं। चरमद्विक अर्थात् अपरिणामक और अतिपरिणामक का प्रतिषेध करना चाहिए। इनको छेदसूत्र नहीं देना चाहिए। इन तीनों की परीक्षा के लिए आम्र आदि (वृक्ष, बीज) का दृष्टांत है। उनका अभिप्राय ग्रहण करने के पश्चात् आचार्य इन स्थानों—प्रकारों से उनको उत्तर देना चाहिए।

७९३. जो दव्व-खेत्तकय-काल-भावओ जं जहा जिणक्खायं।
तं तह सद्दहमाणं, जाणसु परिणामयं साधुं॥

७९४. जो दव्व-खेत्तकय-काल-भावओ जं जहा जिणक्खायं।
तं तह असद्दहंतं, जाण अपरिणामयं साहुं॥

जो मुनि द्रव्यकृत, क्षेत्रकृत, कालकृत और भावकृत को जिनेश्वरदेव ने जैसे कहा है, उस पर वैसी श्रद्धा रखता है उसे परिणामक जानना चाहिए। जो उन पर वैसी श्रद्धा नहीं रखता वह अपरिणामक होता है।

७९५. जो दव्व-खेत्तकय-काल-भावओ जं जहिं जया काले।
तल्लेसुस्सुत्तमई, अइपरिणामं वियाणाहि॥

जो वस्तु द्रव्यकृत, क्षेत्रकृत, कालकृत और भावकृत है, उसको जहां और जिस काल में ग्राह्यरूप में कथित है, उसे आपवादिक ग्रहण में जिसकी लेश्या हो, आपवादिक सूत्र में जिसकी मति प्रबल हो, उस मुनि को अतिपरिणामक जानना चाहिए।

७९६. परिणमइ जहत्थेणं मई उ परिणामगस्स कज्जेसु।
बिइए न उ परिणमई, अहिगं मइ परिणमे तइओ॥

परिणामक वह होता है जिसकी मति कार्य में यथार्थरूप से परिणत होती है। अपरिणामक की मति वैसे परिणत नहीं होती। अतिपरिणामक की मति अधिक परिणत होती है।

७९७. दोसु वि परिणमइ मई, उस्सग्गऽववायओ उ पढमस्स।
बिइतस्स उ उस्सग्गे, अइअववाए य तइयस्स॥

१. दृष्टांत के लिए देखें—कथा परिशिष्ट नं. ३९।
२. मतिः स्वाभाविकी, विज्ञानं च गुरूपदेशजम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिणामक की मति उत्सर्ग और अपवाद—दोनों में परिणत होती है। दूसरे की अर्थात् अपरिणामक की मति केवल उत्सर्ग में ही परिणत होती है और तीसरे की अर्थात् अतिपरिणामक की मति अपवाद में ही परिणत होती है।

७९८. चेयणमचेयण भाविय, केदह छिन्ने अ कित्तिया वा वि।
लद्धा पुणो व वोच्छं, वीमंसत्थं व वुत्तो सि॥

आचार्य ने तीनों प्रकार के शिष्यों की परीक्षा करने के निमित्त कहा—'आर्यो! हमें आम्र चाहिए।' (गाथा ७९२ में उक्त दृष्टांत) यह सुनकर परिणामक शिष्य कहता है—भंते! आम्र चेतन या अचेतन? भावित (लवणादि से) या अभावित? कितने प्रमाण वाले अर्थात् बड़े या छोटे? छिन्न (टुकड़े किए) या अछिन्न? कितनी संख्या में? कौन से आम्र लाऊं? तब आचार्य कहते हैं—वत्स! वे प्राप्त हो गए हैं। भविष्य में जब आवश्यकता होगी तो तुमको कहूंगा। अथवा वत्स! मैंने तो आम्र लाने की बात विमर्श करने के लिए, तुम्हारी परीक्षा करने के लिए, कही थी।

७९९. किं ते पित्तपलावो, मा बीयं एरिसाइं जंपाहि।
मा णं परो वि सोच्छिहि, कहं पि नेच्छामो एयस्स॥

अपरिणामक शिष्य कहता है—ओ आचार्य! क्या आपके पित्त का प्रकोप हो गया है कि आप आम्र लाने की बात कह रहे हैं? दूसरी बार ऐसा कभी मत कहना। आपके ये वचन दूसरे भी सुनेंगे। हम भी आपके ऐसे सावद्य वचन सुनना नहीं चाहते।

८००. कालो सिं अइवत्तइ, अम्ह वि इच्छा न भाणिउं तरिमो।
किं एच्चिरस्स वुत्तं, अन्नाणि वि किं व आणेमि॥

अतिपरिणामक शिष्य कहता है—क्षमाश्रमण! यदि आम्र की आवश्यकता है तो अभी ले आता हूं। आम्र का यह काल बीत रहा है। हमारी भी आम्र के प्रति इच्छा है, परंतु हम उसको व्यक्त नहीं कर सकते। आपने इतने दिनों बाद क्यों कहा? क्या मैं अन्य फल भी आपके लिए ले आऊं?

८०१. नाभिप्पायं गिण्हसि, असमत्ते चेव भाससी वयणे।
सुत्तंबिल-लोणकए, भिन्ने अहवा वि दोच्चंगे॥

यह सुनकर आचार्य अपरिणामक शिष्य और अतिपरिणामक शिष्य को यह कहे—तुमने मेरे अभिप्राय को नहीं जाना। मेरे वचन को पूरा सुने बिना तुम ऐसा वचन कह रहे हो। मैं कह रहा था कि शुक्लाम्ल लवण से भावित, छिन्न-भिन्न किए हुए तथा 'दोच्चंग'[1]—भोजन का द्वितीय अंग अर्थात् शाकरूप में पकाए हुए आम्र लाने हैं।

८०२. निप्फाव-कोद्दवाईणि बेमि रुक्खाणि न हरिए रुक्खे।
अंबिल विद्धत्थाणि अ, भणामि न विरोहणसमत्थे॥

बीज आदि के विषय में भी आचार्य कहे—शिष्यो! निष्पाव, कोद्रव आदि जो रूक्ष हों—सूख गए हों, उनके विषय में कहा था। न कि हरित वृक्षों के लिए। जो बीज अम्लभावित हैं, विध्वस्तयोनिक हैं, उनके विषय में कहा था। जो उगने में समर्थ हों उन बीजों के विषय में नहीं।

८०३. निद्दा-विगहापरिवज्जिएण, गुत्तिंदिएण पंजलिणा।
भत्ती बहुमाणेण य, उवउत्तेणं सुणेयव्वं॥

८०४. अभिकंखंतेण सुभासियाइं वयणाइं अत्थमहुराइं।
विम्हियमुहेण हरिसागएण हरिसं जणंतेण॥

सुनने की कला—

निद्रा और विकथा का परिवर्जन कर, गुप्तेन्द्रिय होकर, हाथ जोड़कर, भक्ति और बहुमानपूर्वक, उपयुक्त अर्थात तल्लीन होकर सुनना चाहिए।

सुभाषित वचन, जो अर्थमधुर हों उनकी अभिकांक्षा करता हुआ मुनि विस्मितमुख से हर्षागत होकर, गुरु में भी हर्षातिरेक पैदा करता हुआ, उनकी वाणी सुने।

८०५. आधारिय सुत्तत्थो, सविसेसो दिज्जए परिणयस्स।
सुपरिच्छित्ता य सुनिश्छियस्स इच्छागए पच्छा॥

कल्प और व्यवहार का सूत्रार्थ सापवादरूप में गुरु के मुख से जो गृहीत है वह सारा परिणामक शिष्य को दे। पहले उसकी अच्छे प्रकार से परीक्षा करे तथा वह यदि सूत्रार्थ लेने में सुनिश्चयवाला हो तो उसे सूत्रार्थ की वाचना दे। जब अपरिणामक और अतिपरिणामक की क्रमशः केवल उत्सर्ग और केवल अपवादरूप इच्छा निवर्तित हो जाती है, तब उनको भी छेदसूत्र दिया जा सकता है।

पीठिका समाप्त

१. दोच्चंग—सामयिकी संज्ञा, ओदनादिमूलांगापेक्षया भोजनस्य द्वितीयांगानि—राद्धशाकरूपाणि। (वृ. पृ. २५२)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पहला उद्देशक

(गाथा ८०६-३२८९)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पहला उद्देशक

तालपलंब-पदं

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा
आमे तालपलंबे अभिन्ने पडिगाहित्तए॥
(सूत्र १)

८०६. अकार-नकार-मकारा, पडिसेहा होंति एवमाईया।
सहिरन्नगो सगंथो, अहिरन्न-सुवन्नगा समणा॥

अकार, नकार, मकार आदि शब्द प्रतिषेधवाचक हैं। यहां आदि शब्द से नोकार का ग्रहण किया गया है। जो हिरण्य सहित होते हैं अर्थात् जो परिग्रही होते हैं वे सग्रंथ होते हैं। श्रमण अहिरण्यक और असुवर्णक होते हैं।[1]

८०७. नोकारो खलु देसं, पडिसेहयई कयाइ कप्पिज्जा।
आमं च अणण्णत्ते, तलो य खलु उस्सए होइ॥

'नोकार' शब्द देशप्रतिषेध में प्रयुक्त होता है। सूत्र में **'नो कप्पइ'** शब्द है। इस पद में **'नो'** देश प्रतिषेधवाचक शब्द है। इसका तात्पर्यार्थ है कि कदाचित्—अपवादस्वरूप वह कल्पता भी है। **'आम'** शब्द अनन्यत्व में है। अर्थात् अपक्व अवस्था का द्योतक है। **'ताल'** शब्द उच्छ्रय अर्थ में प्रयुक्त होता है। जिसका स्कंध बहुत ऊंचा होता है वह वृक्ष अर्थात् तालवृक्ष।

८०८. पडिलंबणा पलंबं, अविदारिय मो वयंति उ अभिन्नं।
अहवा वि दव्व भावे, तंपइगहणं निवारेइ॥

'प्रलंब' का अर्थ है जो अत्यधिक लंबायमान हो। प्रलंब अर्थात् तालवृक्ष का मूल। जो अविदारित होता है वह है अभिन्न। अथवा अभिन्न के दो प्रकार हैं—द्रव्यतः और भावतः। जो द्रव्यतः अविदारित और भावतः सजीव है, उसके ग्रहण का निवारण है। वैसा आम तालप्रलंब नहीं लेना चाहिए। यह 'नोकार' शब्द का देश निषेधवाची अर्थ है।

८०९. जं गालयते पावं, मं लाइ व कहममंगलं तं ते।
जा य अणुण्णा सव्वा, कहमिच्छसि मंगलं तं तु॥

(जिज्ञासु ने कहा—**'नो कप्पइ'** यह प्रथम सूत्र प्रतिषेधात्मक होने के कारण अमांगलिक है। तब आचार्य कहते हैं—) मंगल शब्द का निरुक्त इस प्रकार है—मां लाति—दुर्गति में गिरने वाले प्राणी को ग्रहण कर लेता है। तथा जो पाप को गाल देता है, नष्ट कर देता है, वह है मंगल। इस प्रथम सूत्र में सचित्तवनस्पतिग्रहणरूप पाप को गाल देता है तथा दुर्गति में गिरने वाली आत्मा को धारण करता है—इस प्रकार के कथन को तुम्हारा अमंगल कहना कैसे उचित हो सकता है? यदि तुम्हें प्रतिषेधमात्र अमंगल इष्ट है तो फिर धर्म या पाप की सारी अनुज्ञा मंगल हो जाएगी। तुम सारी अनुज्ञा को मंगल कैसे मानते हो?

८१०. पावाणं समणुण्णा, न चेव सव्वम्मि अत्थि समयम्मि।
तं जइ अमंगलं ते, कयरं णु हु मंगलं तुज्झं॥

समस्त सिद्धांत में कहीं भी पाप की समनुज्ञा है ही नहीं। यदि पाप-प्रतिषेधक वचन तुम्हारे लिए अमंगल है तो फिर तुम्हारे लिए मंगल कौनसा होगा?

८११. पावं अमंगलं ति य, तप्पडिसेहो हु मंगलं नियमा।
निक्खेवे वा वुत्तं, जं वा नवमम्मि पुव्वम्मि॥

पाप अमंगल है। उसका प्रतिषेधकवचन नियमतः मंगल है। इसके आधार पर भी सूत्र मांगलिक है। अथवा नाम-निष्पन्न निक्षेप के प्रसंग में भी **'वंदामि भद्दबाहुं'** कहकर मंगल वचन का कथन किया है तथा नौवें पूर्व—प्रत्याख्यान पूर्व में प्रारंभ में मंगलाभिधान किया है। इन सबके आधार पर प्रस्तुत सूत्र का मांगलिकत्व सिद्ध होता है।

८१२. अद्दागसमो साहू, एवं सुत्तं पि जो जहा वयइ।
तह होइ मंगलमंगलं व कल्लाणदेसिस्स॥

साधु अद्दाग—दर्पण के समान होता है। दर्पण स्वरूपतः निर्मल होता है। उसमें जो जैसा होता है, वैसा प्रतिबिंब पड़ता है। साधु परम मंगल स्वरूप हैं। उनको जो जैसा मानता है, उनके लिए वे मंगल-अमंगलरूप होते हैं। इसी प्रकार सूत्र भी परम मंगलरूप है। उसको जो जिस रूप में ग्रहण करता है उसके लिए वह अमंगल या मंगलरूप होता है। कल्याणद्वेषी यदि सूत्र में अमंगलबुद्धि करता है तो उसके लिए अमंगल होता है।

---

१. हिरण्यं—रूप्यं। सुवर्णं—कनकम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८१३. जइ वा सव्वनिसेहो, हवेज्ज तो कप्पणा भवे एसा।
नंदी य भावमंगल, वुत्तं तत्तो अणन्नमिदं॥

यदि सूत्र में सर्वनिषेध होता तो आपकी कल्पना (प्रतिषेध वचन अमंगल होता है) सही होती। पहले यह कहा गया है कि 'नंदीभावमंगल है'। उससे यह सूत्र अनन्य है—अपृथग्भूत है।

८१४. पडिसेहम्मि उ छक्कं, अमंगलं सो त्ति ते भवे बुद्धी।
पावाणं जदकरणं, तदेव, खलु मंगलं परमं॥

प्रतिषेध के विषय में छह निक्षेप हैं—नामप्रतिषेध, स्थापनाप्रतिषेध, द्रव्यप्रतिषेध, क्षेत्रप्रतिषेध, कालप्रतिषेध और भावप्रतिषेध। यहां सूत्र में द्रव्यप्रतिषेध का प्रसंग है। इसमें प्रतिषेध अमंगल है, ऐसी तुम्हारी बुद्धि हो सकती है। पापों का अकरण ही सबसे परम मंगल है।

८१५. आइनकारे गंथे, आमे ताले तहा पलंबे य।
भिन्नस्स वि निक्खेवो, चउक्कओ होइ एक्केक्के॥

'आदिनकार' विचारणीय है। ग्रंथ, आम, ताल और प्रलंब तथा भिन्न—इन शब्दों के प्रत्येक के चार-चार निक्षेप होते हैं। (शिष्य ने कहा—आदि में नकार से प्रतिषेध होना चाहिए। ऐसा करने पर सूत्र लघु होता है और सूत्र का लघु होना महान् उत्सव का कारण होता है—'मात्रयाऽपि च सूत्रस्य लाघवं महानुत्सवः'। नो शब्द से प्रतिषेध करने पर सूत्रगौरव होता है। आचार्य कहते हैं—'नोकार' से प्रतिषेध करने का भी कारण है। सुनो—)

८१६. पडिसेहो उ अकारो, माकारो नो अ तह नकारो अ।
तब्भाव दुविहकाले, देसे संजोगमाईसु॥

प्रतिषेधक में चार वर्ण हैं—अकार, मकार, नोकार तथा नकार। अकार भाव-प्रतिषेधक है। माकार द्विविध काल—वर्तमान काल तथा अनागत काल का प्रतिषेधक है। नोकार देशप्रतिषेधक है। नकार संयोग आदि का प्रतिषेधक है।

८१७. निदरिसणं अघडोऽयं, मा य घडं भिंद मा य भिंदिहिसि।
नो उ घडो घडदेसो, तव्विवरीयं च जं दव्वं॥

इन प्रतिषेधक वर्णों का निदर्शन—अकार का तद्भाव-प्रतिषेध, जैसे अघटोऽयम्। 'मा' प्रतिषेध—मा घटं भिंद्धि—घड़े को मत फोड़ो, मा घटं भेत्स्यसि—घट को भविष्य में मत फोड़ना। 'नो' नो घटः अर्थात् घट का एक देश—कपाल आदि है। घट के विपरीत जो अन्य द्रव्य है वह।

८१८. संजोगे समवाए, सामन्ने खलु तहा विसेसे अ।
कालतिए पडिसेहो, जत्थुवओगो नकारस्स॥

नकार संयोग, समवाय, सामान्य और विशेष—इन चार प्रकारों से तीनों काल विषयक प्रतिषेधक वचन है। इस प्रकार यह ४×३=१२ प्रकार का हो जाता है। जहां कहीं भी नकार का उपयोग होता है, वहां इन बारह भेदों में से किसी एक का प्रतिषेध जानना चाहिए।

८१९. नत्थि घरे जिणदत्तो, पुव्वपसिद्धाण तेसि दोण्हं पि।
संजोगो पडिसिज्झइ, न सव्वसो तेसि अत्थित्तं॥

८२०. समवाए खरसिंगं, सामन्ने नत्थि चंदिमा अन्नो।
नत्थि य घडप्पमाणा, विसेसओ होंति मुत्ताओ॥

'कहा जाए कि जिनदत्त घर में नहीं है'—इस वाक्य में पूर्व प्रसिद्ध जिनदत्त और घर—दोनों के संयोग का प्रतिषेध है। उन दोनों के सर्वथा अस्तित्व का प्रतिषेध नहीं है। समवाय विषयक प्रतिषेध में 'खरशृंग'—गधे के सींग—यह निदर्शन है। सामान्य प्रतिषेध का निदर्शन है—इस स्थान में ऐसा अन्य चन्द्रमा नहीं है। विशेष प्रतिषेध का निदर्शन है—घटप्रमाण (इतने बड़े) मुक्ता नहीं हैं अर्थात् मुक्ता-मोती हैं, परंतु घटप्रमाण नहीं हैं।

८२१. नेवाऽऽसी न भविस्सइ, नेव घडो अत्थि इति तिहा काले।
पडिसेहेइ नकारो, सज्जं तु अकार-नोकारा॥

नकार त्रिकालविषय वस्तु का निषेध करता है, जैसे—'घट नहीं था, घट नहीं है और घट नहीं होगा। अकार और नोकार प्रायः वर्तमान काल का ही प्रतिषेध करते हैं।

८२२. जम्हा खलु पडिसेहं, नोकारेणं करेंति णऽण्णेणं।
तम्हा उ होज्ज गहणं, कयाइ अववायमासज्ज॥

सूत्रकार जिस कारण से नोकार शब्द के प्रयोग से ही प्रतिषेध करते हैं, अन्य शब्द से नहीं, इससे ज्ञात होता है कि इस प्रतिषिद्ध वस्तु का ग्रहण कदाचित् अपवादपद को प्राप्त कर किया जा सकता है।

८२३. सो वि य गंथो दुविहो, बज्झो अब्भिंतरो अ बोधव्वो।
अंतो अ चोद्दसविहो, दसहा पुण बाहिरो गंथो॥

वह भावग्रंथ दो प्रकार का जानना चाहिए—बाह्य और आभ्यन्तर। आभ्यन्तर ग्रंथ के चौदह प्रकार और बाह्य ग्रंथ के दस प्रकार हैं।

८२४. सहिरन्नगो सगंथो, नत्थि से गंथो त्ति तेण निग्गंथो।
अहवा निराऽवकरिसे, अवचियगंथो व निग्गंथो॥

जो हिरण्य सहित होता है वह सग्रंथ है। जिसके दोनों प्रकार का ग्रंथ नहीं है वह निर्ग्रंथ होता है। अथवा 'निर्ग्रंथ' में जो 'निर्' शब्द है, वह अपकर्ष—अपचय में प्रयुक्त है। अतः जिसने ग्रंथ का अपचय अर्थात् न्यून कर लिया है, वह निर्ग्रंथ है।

८२५. खेत्तं वत्थुं धण धन्न संचओ मित्त-णाइ-संजोगो।
जाण सयणा-ऽऽसणाणि य, दासी-दासं च कुवियं च॥

बाह्य ग्रंथ के दस प्रकार ये हैं—क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, संचय, मित्र-ज्ञाति तथा संयोग, यान, शयन, आसन, दास-दासी तथा कुप्य—उपस्कर आदि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८२६. खेत्तं सेउं केउं, सेयऽरहट्टाइ केउ वरिसेणं।
भूमिघर वत्थु सेउं, केउं पासाय-गिहमाई॥

८२७. तिविहं च भवे वत्थुं, खायं तह ऊसियं च उभयं च।
भूमिघरं पासाओ, संबद्धघरं भवे उभयं॥

क्षेत्र के दो प्रकार हैं—सेतु और केतु। जो खेत अरहट्ट आदि के पानी से सींचा जाता है वह है सेतु और जो वर्षा से निष्पन्न होता है वह है केतु। वास्तु के भी ये ही दो भेद हैं। भूमिगृह है सेतु और प्रासाद, गृह आदि हैं केतु। अथवा वास्तु के तीन भेद हैं—खात, उच्छ्रित और खातोच्छ्रित। भूमिगृह है खात, प्रासाद है उच्छ्रित और भूमिगृह से संबद्ध गृह है खातोच्छ्रित।

८२८. घडिएयरं खलु धणं, सणसत्तरसा बिया भवे धन्नं।
तण-कट्ठ-तेल्ल-घय-मधु-वत्थाई संचओ बहुहा॥

घटित अथवा अघटित सुवर्ण आदि को धन कहा जाता है। शण आदि सतरह प्रकार के बीज धान्य कहलाते हैं। (वे ये हैं[1]—चावल, यव, मसूर, गेहूं, मूंग, माष, तिल, चना, कंगु, प्रियंगु, कोद्रव, मोठ, शालि, अरहर, मटर, कुलत्थ तथा शण।)

तृण, काष्ठ, तैल, घृत, मधु, वस्त्र आदि संचय अनेक प्रकार का है।

८२९. सहजायगाइ मित्ता, नाई माया-पिईहिं संबद्धा।
ससुरकुलं संजोगो, तिण्णि वि मित्तादयो छट्ठो॥

मित्र सहजातक आदि होते हैं। मातृकुलसंबद्ध और पितृकुलसंबद्ध ज्ञानी कहलाते हैं। श्वसुरकुल संयोग कहलाता है। अर्थात् श्वसुर, श्वश्रू और शाले—इन तीनों का संबंध संयोग कहलाता है। मित्र आदि के ये तीनों पक्ष छठा ग्रंथ है।

८३०. जाणं तु आसमाई, पल्लंकग-पीढिगाइ अट्ठमओ।
दासाइ नवम दसमो, लोहाइउवक्खरो कुप्पं॥

यान का अर्थ है—अश्व आदि। आदि शब्द से गज, वृषभ, रथ, शिविका आदि। पल्यंक शयन कहलाते हैं और पीठिका आदि आसन हैं। यह आठवां ग्रंथ है। दास आदि नौवां ग्रंथ और लोहादिक उपस्कर कुप्य दसवां ग्रंथ है। यह सारा दस प्रकार का बाह्य ग्रंथ है।

८३१. कोहो माणो माया, लोभो पेज्जं तहेव दोसो अ।
मिच्छत्त वेद अरइ, रइ हास सोगो भय दुगुंछा॥

चौदह प्रकार का आभ्यन्तर ग्रंथ—

१. क्रोध, २. मान, ३. माया, ४. लोभ, ५. राग, ६. द्वेष, ७. मिथ्यात्व, ८. वेद, ९. अरति, १०. रति, ११. हास्य, १२. शोक, १३. भय, १४. दुगुंछा।

८३२. सावज्जेण विमुक्का, सब्भिंतर-बाहिरेण गंथेण।
निग्गहपरमा य विदू, तेणेव य होंति निग्गंथा॥

जो सावद्य ग्रंथ तथा आभ्यन्तर और बाह्य ग्रंथों से विप्रमुक्त हैं, जो क्रोध आदि दोषों के विज्ञाता है, तथा जो इनका निग्रह करने में प्रमुख हैं—इन कारणों से वे निर्ग्रंथ कहलाते हैं।

८३३. केई सव्वविमुक्का, कोहाईएहिं केइ भइयव्वा।
सेढिदुगं विरएत्ता, जाणसु जो निग्गओ जत्तो॥

कुछेक मुनि क्रोध आदि दोषों से सर्वथा विमुक्त होते हैं और कुछेक विकल्पनीय होते हैं अर्थात् कुछ मुक्त हैं और कुछ मुक्त नहीं हैं। (शिष्य ने पूछा—यह कैसे जाना जाता है कि ये सर्वथा मुक्त हैं और ये नहीं?) आचार्य कहते हैं—श्रेणीद्विक—उपशमश्रेणी तथा क्षपकश्रेणी—की स्थापना कर जो साधक जिस श्रेणी से गमन करता है उससे जान लिया जाता है कि वह क्रोध आदि से मुक्त है या नहीं।

८३४. अण दंस नपुंसि-त्थीवेय च्छक्कं च पुरिसवेयं च।
दो दो एगंतरिए, सरिसे सरिसं उवसमेइ॥

उपशमश्रेणी ग्रहण करने वाला सबसे पहले 'अण' अर्थात् अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ का उपशमन करता है। फिर दर्शनत्रिक का उपशमन करता है। यदि पुरुष प्रतिपत्ता हो तो पहले नपुंसकवेद को, फिर स्त्रीवेद को, फिर हास्य आदि षट्क का और फिर पुरुषवेद का उपशमन करता है। तत्पश्चात् अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यान क्रोध क्रोधरूप में सदृश होने के कारण एक साथ इनका उपशमन कर, फिर अकेले संज्वलन क्रोध का उपशमन करता है। इसी प्रकार अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यान मान, माया और लोभ का उपशमन कर फिर एक-एक से अंतरित संज्वलन मान, माया और लोभ का उपशमन करता है।

८३५. अण मिच्छ मीस सम्मं, अट्ठ नपुंसि त्थिवेय छक्कं च।
पुमवंयं च खवेई, कोहाईए अ संजलणे॥

अण—अनंतानुबंधी चतुष्क, मिथ्यात्व, मिश्र, सम्यक्-मिथ्यात्व, आठ कषाय, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, हास्य आदि षट्क, पुंवेद—इनको क्षीण करता है। फिर संज्वलन क्रोध आदि। यह क्षपकश्रेणी का कथन है।

८३६. जे वि अ न सव्वगंथेहिं निग्गया होंति केइ निग्गंथा।
ते वि य निग्गहपरमा, हवंति तेसिं खउज्जुत्ता॥

---

१. व्रीहिर्यवो मसूरो, गोधूमो मुद्ग-माष-तिल-चणकाः।
अणवः प्रियंगु-कोद्रवमकुष्ठकाः शालिराढक्यः॥
किञ्च कलाप-कुलत्थौ, शरणसप्तदशानि बीजानि॥ (बृ. पृ. २६४)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो सरागसंयमी होते हैं वे सभी ग्रंथों से निर्गत नहीं होते फिर भी वे क्षय करने में उद्यत होते हैं तथा निग्रहप्रधान होने के कारण वे निर्ग्रंथ कहलाते हैं।

८३७. कलुसफलेण न जुज्जइ, किं चित्तं तत्थ जं विगयरागो।
संते वि जो कसाए, निगिण्हई सो वि तत्तुल्लो॥

विगतराग अर्थात् क्षीणमोह वाला व्यक्ति यदि कलुषित कषायों के फल से संयुक्त नहीं होता तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? जो विद्यमान कषायों का निग्रह करता है वह भी वीतरागतुल्य निष्कषाय होता है।

८३८. जइ अब्भिंतरमुक्का, बाहिरगंथेण मुक्कया किह णु।
गिण्हंता उवगरणं, जम्हा अममत्तया तेसु॥

जो मुनि आभ्यन्तर ग्रंथ से मुक्त हैं, वे यदि उपकरण आदि ग्रहण करते हैं तो भी वे बाह्य ग्रंथ से मुक्त क्यों कहे जाते हैं? आचार्य कहते हैं—क्योंकि उन मुनियों का बाह्य ग्रंथ के प्रति अममत्वभाव है।

८३९. नामं ठवणा आमं, दव्वामं चेव होइ भावामं।
उस्सेइम संसेइम, उवक्खडं चेव पलियामं॥

'आम' शब्द के चार निक्षेप हैं—नाम आम, स्थापना आम, द्रव्य आम और भाव आम। द्रव्य आम चार प्रकार का है—उत्स्वेदिम आम, संस्वेदिम आम, उपस्कृत आम, पर्याय आम।

८४०. उस्सेइम पिट्ठाई, तिलाइ संसेइमं तु णेगविहं।
कंकडुयाइ उवक्खड, अविपक्करसं तु पलियामं॥

उत्स्वेदिम आम—सूक्ष्मतंदुलादि चूर्ण से निष्पन्न पिष्ट। जब वह वाष्प से उत्स्विद्यमान होकर पकाया जाता है। उसकी अपक्वावस्था उत्स्वेदिम आम है। संस्वेदिम आम तिल आदि का अनेकविध होता है। चने, मूंग आदि को उबालने पर भी जो कंकटुक (कोरडू) रह जाते हैं, वे उपस्कृत आम कहलाते हैं। अविपक्वरस वाला फल आदि पर्याय आम है।

८४१. इंधण धूमे गंधे, वच्छप्पलियामए अ आमविही।
एसो खलु आमविही, नेयव्वो आणुपुव्वीए॥

पर्याय आम के चार प्रकार हैं—इंधनपर्याय आम, धूमपर्याय आम, गंधपर्याय आम, तथा वृक्षपर्याय आम। इस प्रकार पर्याय आम में आम विधि चार प्रकार की है। यह आम विधि आनुपूर्वी से ज्ञातव्य है।

८४२. कोद्दवपलालमाई, धूमेणं तिंदुगाइ पच्चंते।
मज्झऽगडाऽगणिं पेरंत तिंदुया छिद्दधूमेणं॥

कोद्रव, पलाल आदि इंधन कहलाते हैं। इनमें आम्रफल आदि वेष्टित कर पकाए जाते हैं। धुएं से तिन्दुक आदि फल पकाए जाते हैं। इसकी विधि यह है—पहले गढ़ा खोदकर उसमें करीष प्रक्षिप्त करते हैं। उस गढ़े के पास दूसरे गढ़े खोदे जाते हैं। उन गढ़ों में तिन्दुक आदि फल रखकर मध्यमगर्ता और करीषगर्ता में अग्नि जलाई जाती है। पर्यन्तवर्तीगर्त्ता के स्रोत मध्यमगर्त्ता के साथ मिलाए जाते हैं। तब करीषगर्ता से धूम उन स्रोतों से पर्यन्तवर्तीगर्ता में प्रविष्ट होता है। वह धूम पूरे गर्त्ता में प्रसृत होकर फलों को पकाता है। जो फल अपक्व रह जाता है, वह धूमपर्याय आम कहलाता है।

८४३. अंबग-चिब्भिडमाई, गंधेणं जं च उवरि रुक्खस्स।
कालप्पत्त न पच्चइ, वत्थप्पलियामगं तं तु॥

आम्रक, चिरभटी, बीजपुर आदि अपक्व फल पके हुए फलों के बीच उनके गंध से पक जाते हैं। जो नहीं पकते वे गंधपर्याय आम कहलाते हैं। वृक्ष की शाखाओं पर पकने वाले फल यदि कालप्राप्त करके भी नहीं पकते, वे वृक्षपर्याय आम कहलाते हैं। यह सारा द्रव्य आम का वर्णन है।

८४४. भावामं पि य दुविहं, वयणामं चेव नो य वयणामं।
वयणाम अणुमयत्थे, आमं ति हि जो वदे वक्कं॥

८४५. नोवयणामं दुविहं, आगमतो चेव नो अ आगमतो।
आगमे नाणुवउत्तो, नोआगमओ इमं होइ॥

भाव आम भी दो प्रकार का है—वचन आम और नोवचन आम। अनुमतार्थ में 'आमं' यह वचन बोलता है, वह वचन आम है। नो-वचन आम दो प्रकार का है—आगमतः और नो-आगमतः। आगमतः नो वचन आम है—आम पदार्थ के ज्ञान में उपयुक्त। नोआगमतः नोवचन आम यह है—

८४६. उग्गमदोसाईया, भावतो अस्संजमो अ आमविही।
अन्नो वि य आएसो, जो वरिससयं न पूरेइ॥

भाव आम है—उद्गम आदि दोष और असंयम है भावतः आमविधि क्योंकि ये सब चारित्र को अपक्व करते हैं। इस विषयक अन्य आदेश—मत भी है—किसी व्यक्ति का आयुष्य सौ वर्ष का है। वह उसको पूरा किए बिना मर जाता है—यह भावतः आम है।

८४७. नामं ठवणा दविए, तालो भावे य होइ नायव्वो।
जो भविओ सो तालो, दव्वे मूलुत्तरगुणेसु॥

ताल शब्द के चार निक्षेप हैं—नामताल, स्थापनाताल, द्रव्यताल और भावताल। द्रव्य ताल है भावितालपर्याय। अथवा द्रव्यताल दो प्रकार का है—मूलगुणनिवर्तित और उत्तरगुणनिवर्तित।

८४८. भावम्मि होंति जीवा, जे तस्स परिग्गहे समक्खाया।
बिइओ वि य आदेसो, जो तस्स विजाणओ पुरिसो॥

जो जीव तालवृक्ष के परिग्रह—मूल-कंद आदि रूप हैं वे सभी समुदित रूप में भावताल कहे जाते हैं। इस विषयक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूसरा आदेश-मत यह है—जो ताल का विज्ञायक पुरुष है, वह भी भावताल है। यह आगमतः भावताल है।

८४९. नामं ठवणा पलंबं, दव्वे भावे अ होइ बोधव्वं।
अट्ठविह कम्मगंठी, जीवो उ पलंबए जेणं॥

प्रलंब के चार निक्षेप जानने चाहिए—नामप्रलंब, स्थापना-प्रलंब, द्रव्यप्रलंब और भावप्रलंब। द्रव्यप्रलंब है—द्रव्यताल की भांति और भावप्रलंब है—भावताल की भांति। अथवा आठ प्रकार की कर्मग्रंथि, जिसके आधार पर जीव नरक आदि गतियों में लंबित होता है, वह है भावप्रलंब।

८५०. तालं तलो पलंबं, तालं तु फलं तलो हवइ रुक्खो।
पलंबं च होइ मूलं, झिज्झिरिमाई मुणेयव्वं॥

शिष्य ने पूछा—ताल क्या है? तल क्या है और प्रलंब क्या है? आचार्य ने कहा—ताल है तलवृक्ष का फल, (अग्रप्रलंब) तल है वृक्ष। प्रलंब है—मूल। प्रलंब शब्द से यहां मूलप्रलंब गृहीत है। वह झिज्झिरी आदि (वृक्ष संबंधी) जानना चाहिए।

८५१. झिज्झिरि-सुरभिपलंबे, तालपलंबे अ सल्लइपलंबे।
एतं मूलपलंबं, नेयव्वं आणुपुव्वीए॥

झिज्झिरी-वल्लीपलाशक, सुरभि—सिग्गुक—इनका प्रलंब अर्थात् मूल। इसी प्रकार तालप्रलंब, सल्लकीप्रलंब—ये सारे आनुपूर्वी से मूलप्रलंब जानने चाहिए। (दूसरे भी मूल जो लोगों के उपभोग में आते हैं वे सारे मूलप्रलंब हैं।)

८५२. तल नालिएर लउए, कविट्ठ अंबाड अंबए चेव।
एअं अग्गपलंबं, नेयव्वं आणुपुव्वीए॥

तल का फल (तालफल), नालिकेर का फल, लकुच का फल, कपित्थ का फल, आम्रातक का फल, आम्र का फल, (कदलीफल, बीजपूरक फल)—ये सारे आनुपूर्वी से अग्रप्रलंब ज्ञातव्य हैं।

८५३. जइ मूल-ऽग्गपलंबा, पडिसिद्धा न हु इयाणि कंदाई।
कप्पंति न वा जीवा, को व विसेसो तदग्गहणे॥

शिष्य ने पूछा—सूत्र में यदि मूलप्रलंब तथा अग्रप्रलंब प्रतिषिद्ध हैं, उसमें कंद आदि (स्कंध, त्वक्, शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, बीज) का प्रतिषेध नहीं है। इनको लेना कल्पता है। अथवा ये जीव नहीं हैं। कंद आदि के अग्रहण में कौनसा विशेष हेतु है?

८५४. चोयग! कन्नसुहेहिं, सद्देहिं अमुच्छितो विसइ फासे।
मज्झम्मि अट्ठ विसया, गहिया एवऽट्ठ कंदाई॥

आचार्य ने कहा—वत्स! 'कानों के लिए सुखदायी शब्दों में अमूर्च्छित हो'—इस प्रकार के कथन से शब्दविषयक राग का प्रतिषेध किया गया है। 'स्पर्श को सहन करे'—इस कथन के द्वारा स्पर्श का निषेध है। शेष मध्यवर्ती रूप-रस और गंध का उल्लेख नहीं है।[1] परंतु आद्यन्त के ग्रहण से मध्यवर्ती का ग्रहण हो जाता है, इस न्याय से उनका प्रतिषेध ज्ञातव्य है। इसी प्रकार प्रस्तुत गाथा में आद्यन्तवाले अग्र और मूलप्रलंब का ग्रहण करने पर मध्यवर्ती कन्द आदि आठों प्रकारों का ग्रहण स्वतः हो जाता है।[2]

८५५. अहवा एगग्गहणे, गहणं तज्जातियाण सव्वेसिं।
तेणऽग्गपलंबेणं, तु सूइया सेसगपलंबा॥

अथवा एक के ग्रहण से उस जाती वाले सभी का ग्रहण हो जाता है। इसलिए अग्रपलंब अथवा मूलप्रलंब के ग्रहण से शेष कंद आदि का ग्रहण सूचित किया गया है।

८५६. तलगहणाउ तलस्सा, न कप्पे सेसाण कप्पई नामं।
एगग्गहणा गहणं, दिट्ठंतो होइ सालीणं॥

शिष्य ने कहा—तल के ग्रहण से ताल से संबंधित मूल, कंद आदि प्रलंब नहीं कल्पता, शेष आम्र आदि के प्रलंब तो कल्पते हैं, यह इससे ध्वनित होता है। आचार्य ने कहा—एक के ग्रहण से तज्जातीय सभी का ग्रहण हो जाता है। इसमें शालि संबंधी दृष्टांत है। 'चावल पक गए'—यह कहने से केवल एक चावल पका है ऐसा नहीं। सारे चावल पक गए हैं, यह भावार्थ है। इसी प्रकार तालप्रलंब कहने से समस्त वृक्षजाति वाले प्रलंब गृहीत हो जाते हैं।

८५७. को नियमो उ तलेणं, गहणं अन्नेसि जेण न कयं तु।
उभयमवि एइ भोगं, परित्त साउं च तो गहणं॥

शिष्य ने पूछा—कौन सा नियम है कि तल के ग्रहण से उसी का ग्रहण होता है, अन्य वृक्षों का ग्रहण नहीं होता? आचार्य ने कहा—ताल तथा ताल से संबंधित मूल-अग्रप्रलंब—दोनों उपयोग में आते हैं अतः इन सबका ग्रहण हो जाता है। परीत्त वनस्पति स्वादु होता है। उसके ग्रहण का प्रतिषेध किया जाता है तो अनन्तकायिक वनस्पति का प्रतिषेध स्वतः प्राप्त हो जाता है।

८५८. नामं ठवणा भिन्नं, दव्वे भावे अ होइ नायव्वं।
दव्वम्मि घड-पडाई, जीवजढं भावतो भिन्नं॥

भिन्नपद के चार निक्षेप हैं—नामभिन्न, स्थापनाभिन्न, द्रव्यभिन्न और भावभिन्न। द्रव्यभिन्न—घट का फूट जाना, पट आदि का भेद हो जाना। भावभिन्न—जीव का च्युत हो जाना। वह चतुर्भंगी इस प्रकार है—

---

१. कण्णसोक्खेहिं सद्देहिं, पेमं नाभिनिवेसए।
दारुणं कक्कसं फासं, काएण अहियासए॥ (दशवै. ८/२६)

२. मूले कंदे खंधे, तया य साले पवाले पत्ते य।
पुप्फे फलं य बीए, पलंबसुत्तम्मि दस भेया॥ (बृ. प. २७४)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८५९. भावेण य दव्वेण य, भिन्ना-ऽभिन्ने चउक्कभयणा उ।
पढमं दोहि अभिन्नं, बिइयं पुण दव्वतो भिन्नं॥
८६०. तइयं भावतो भिन्नं, दोहि वि भिन्नं चउत्थगं होइ।
एएसिं पच्छित्तं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए॥

भाव और द्रव्य के भिन्न-अभिन्न के आधार पर चतुर्भंगी होती है–(१) प्रलंब भाव से तथा द्रव्य–दोनों से अभिन्न।

(२) प्रलंब द्रव्य से भिन्न भाव से अभिन्न।

(३) प्रलंब द्रव्य से अभिन्न भाव से भिन्न।

(४) प्रलंब द्रव्य से तथा भाव से भिन्न।

इन चारों से संबंधित प्रायश्चित्त यथानुपूर्वी–यथोक्त-परिपाटी के अनुसार कहूंगा।

८६१. लहुगा य दोसु दोसु य, लहुओ पढमम्मि दोहि वी गुरुगा।
तवगुरुअ कालगुरुओ, दोहि वि लहुओ चउत्थो उ॥

प्रथम दो भंगों का प्रायश्चित्त है–चतुर्लघुक और शेष दो भंगों का प्रायश्चित्त है–मासलघु। पहले भंग का प्रायश्चित्त तप और काल से लघु, दूसरे भंग में तप से गुरु और काल से लघु, तीसरे भंग में काल से गुरु और तप से लघु और चौथे भंग में तप और काल से लघु। प्रायश्चित्त के संबंध में यहां लघु का अर्थ है मासलघु।

८६२. उग्घाइया परित्ते, होंति अणुग्घाइया अणंतम्मि।
आणाऽणवत्थ मिच्छा, विराहणा कस्सऽगीयत्थे॥

ये उद्घातिक–लघु प्रायश्चित्त परीत्त प्रलंब संबंधी हैं। अनन्तकायिक में ये ही अनुद्घातिक गुरु हो जाएंगे। इनके साथ-साथ आज्ञाभंग, अनवस्था दोष, मिथ्यात्व, आत्म-विराधना तथा संयमविराधना आदि दोष होते हैं। शिष्य ने कहा–ये किसके लिए हैं? आचार्य ने कहा–अगीतार्थ के लिए।

८६३. अन्नत्थ-तत्थगहणे, पडिते अच्चित्तमेव सच्चित्ते।
छुभणाऽऽरुहणा पडणे, उवही तत्तो य उड्डाहो॥

प्रलंबग्रहण दो प्रकार का होता है–अन्यत्रग्रहण अर्थात् वृक्षप्रदेश से अन्यप्रदेश में ग्रहण, तत्रग्रहण अर्थात् वृक्षप्रदेश में ग्रहण। पतित अर्थात् नीचे गिरे हुए प्रलंब का ग्रहण। वह दो प्रकार का होता है-सचित्त का ग्रहण, अचित्त का ग्रहण। प्रलंब पाने के लिए वृक्ष पर काष्ट आदि फेंकना। वृक्ष पर चढ़ कर प्रलंब प्राप्त करने का प्रयत्न करना. वृक्ष पर आरूढ़ नीचे गिर सकता है, उसकी उपधि का हरण हो सकता है। उसका उड्डाह हो सकता है।

८६४. अण्णगहणं तु दुविहं, वसमाणेऽडवि वसंति अंतो बहिं।
अंताऽऽवण तव्वज्जे, रच्छा गिह अंतो पासे वा॥

अन्यत्रग्रहण दो प्रकार का होता है–वसति में अथवा अटवी में। वसति प्रदेश दो प्रकार से होता है–अन्तर् या बहिर्। अन्तर् भी दो प्रकार का होता है–आपण में अथवा तद्वर्ज्य में। तद्वर्ज्य विषय अर्थात् गली में अथवा गृह में अथवा गली के पास में या गृह के पास में।

८६५. कब्बड्ढदिट्ठे लहुओ, अट्ठुप्पत्तीय लहुग ते चेव।
परिवड्ढमाणदोसे, दिट्ठाई अन्नगहणम्मि॥

यदि बालक मुनि को सचित्त प्रलंब लेते देख ले तो मासलघु, बालक के मन में भी अर्थोत्पत्ति–मैं भी ग्रहण करूं, इस प्रकार की प्रवृत्ति होती है। इसमें चतुर्लघु प्रायश्चित्त है। यदि बड़े मनुष्य ने उस मुनि को प्रलंब लेते देखा है तो वहां प्रायश्चित्त है। जो परिवर्धमान आज्ञाभंग आदि दोष हैं वे अन्यत्रग्रहण में होते हैं।

८६६. दिट्ठे संका भोइय-घाडि-निआ-ऽऽरक्खि-सेट्ठि-राईणं।
चत्तारि छच्च लहु गुरु, छेदो मूलं तह दुगं च॥

यदि मुनि को सचित्त प्रलंब लेते युवा पुरुष देख ले तो चतुर्लघु, उसको शंका हो तो भी चतुर्लघु, यदि किसी की भार्या देख ले और पति से कहे तो षड्लघु, यदि घाटी-सौहृद् को कहे तो षड्गुरु, माता-पिता से कहे तो छेद, आरक्षिक को कहे तो मूल, श्रेष्ठी और राजा को कहे तो अनवस्थाप्य तथा पारांचिक–दोनों।

८६७. एवं ता अदुगुंछिए, दुगुंछिए लसुणमाइ एमेव।
नवरिं पुण चउलहुगा, परिग्गहे गिण्हणादीया॥

यह प्रायश्चित्त अजुगुप्सित आम्र आदि के प्रलंब-ग्रहण विषयक जानना चाहिए। जुगुप्सित लशुन आदि के विषय में भी पूर्वोक्त प्रायश्चित्त ही है। केवल बालक जुगुप्सित को लेते हुए देखे तो चतुर्लघु। यदि प्रलंब आदि किसी के अधीन हों, जुगुप्सित अथवा अजुगुप्सित, प्रायश्चित्त वही है। यदि वे श्रेष्ठी या राजा के अधीन हो तो ग्रहण-आकर्षण-व्यवहार आदि दोष आते हैं।

८६८. खेत्ते निवेसणाई, जा सीमा लहुगमाइ जा चरिमं।
केसिंची विवरीयं, काले दिण अट्ठमे सपदं॥

क्षेत्र संबंधी–निवेशन से प्रारंभ कर गांव की सीमा के भीतर जो ग्रहण करता है उसके लघुक आदि प्रायश्चित्त से प्रारंभ होकर चारित्र–पारांचिक तक आता है। कुछेक आचार्यों का इससे विपरीत मत है। वे मानते हैं कि कालविषयक प्रायश्चित्त आठवें दिन 'स्वपदं' अर्थात् पारांचिक हो जाता है।[1]

१. इसकी भावना यह है–प्रलंब लेते हुए प्रथम दिन चार लघु, दूसरे दिन चार गुरु, तीसरे दिन छह लघु, चौथे दिन छह गुरु, पांचवें दिन छेद, छठे दिन मूल, सातवें दिन अनवस्थाप्य और आठवें दिन पारांचिक।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८६९. निवेसण वाडग साही, गाममज्झे अ गामदारे अ।
उज्जाणे सीमाए, अन्नग्गामे य खेत्तम्मि॥

प्रकारान्तर से क्षेत्र विषयक प्रायश्चित्त–

निवेशन में चतुर्लघु, पाटक में चतुर्गुरु, गली में षड्लघु, ग्राममध्य में षड्गुरु, ग्रामद्वार में छेद, उद्यान में मूल, सीमा में अनवस्थाप्य और अन्यग्राम में पारांचिक।

८७०. भावऽद्धवार सपदं, लहुगाई मीस दसहिं चरिमं तु।
एमेव य बहिया वी, सत्थे जत्ताइठाणेसु॥

भावतः प्रायश्चित्त–भावतः आठ बार सचित्त प्रलंब लेने पर 'स्वपद' अर्थात् पारांचिक। मिश्र प्रलंब लेने पर लघुमास आदि से प्रारंभ कर दशवें स्थान में पारांचिक प्रायश्चित्त है। इसी प्रकार ग्राम के बाहर भी जानना चाहिए। बहिर्ग्रहण में सार्थवाह के साथ जाते हुए अथवा यात्रास्थानों में यह गृहीत है।

८७१. अंतो आवणमाईगहणे जा वण्णिया सवित्थारा।
बहिया उ अन्नगहणे, पडियम्मि उ होइ स च्चेव॥

ग्राम आदि के अन्तर्–मध्य में, आपण तथा आपणवर्ज में जुगुप्सित अथवा अजुगुप्सित ग्रहण विषयक भावना जो विस्तार से (गा. ८६६) में बताई गई है, वही ग्राम आदि के बाहर पड़े हुए प्रलंब के विषय में तथा अन्यत्रग्रहण में जाननी चाहिए।

८७२. कोट्टगमाई रन्ने, एमेव, जणो उ जत्थ पुंजेइ।
तहियं पुण वच्चंते, चउपयभयणा उ छद्दसिया॥

अरण्य में 'कोट्टक' आदि प्रदेशों में लोग फलों को एकत्रित कर सुखाते हैं, वहां यदि मुनि प्रलंब ग्रहण करता है तो गाथा ८६६ की भांति प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। कोट्टकादि में जाते हुए चार पदों के सोलह भंग प्रमाण वाली भंग रचना करे।

८७३. वच्चंतस्स य दोसा, दिया य रातो य पंथ उप्पंथे।
उवउत्त अणुवउत्ते, सालंब तहा निरालंबे॥

वहां जाने पर अनेक दोष होते हैं (वे आगे बताए जायेंगे।) सोलह भंगों का प्रमाण इस प्रकार है–

(१) दिन में, पथ से, उपयुक्त, सालंब।
(२) दिन में, पथ से, उपयुक्त, निरालंब।
(३) दिन में, पथ से, अनुपयुक्त, सालंब।
(४) दिन में, पथ से, अनुपयुक्त, निरालंब।

इसी प्रकार 'उत्पथ' से भी चार विकल्प होते हैं। ये आठ विकल्प हुए। रात्री संबंधी भी ये ही आठ विकल्प होते हैं। सर्व विकल्प सोलह हुए। इनकी रचना इस प्रकार है–

८७४. अट्ठग चउक्क दुग एक्कगं च लहुगा य होंति गुरुगा य।
सुद्धा एगंतरिया, पढमरहिय सेसगा तिण्णि॥

प्रथम पंक्ति में इन सोलह भंगों को स्थापित करने पर प्रथम आठ में लघुक तथा आगे के आठ में गुरुक। द्वितीय पंक्ति वाले सोलह भंगों में पहले चार लघुक, फिर चार गुरुक, फिर चार लघुक और शेष चार गुरुक। तीसरी पंक्ति वाले सोलह भंगों में दो लघुक और दो गुरुक के क्रम से निक्षेपतव्य हैं। चौथी पंक्ति वाले सोलह भंगों में एक लघुक और एक गुरुक के क्रम से एकांतरित लघु-गुरु रूप में होते हैं।

चारों अष्टक भंगों में प्रथम भंग रहित शेष तीन भंग एकांतरित शुद्ध हैं।

८७५. पढमो एत्थ उ सुद्धो, चरिमो पुण सव्वहा असुद्धो उ।
अवसेसा वि य चउदस, भंगा भइयव्वगा होंति॥

सोलह भंगों में प्रथम सर्वथा शुद्ध है और चरमभंग सर्वथा अशुद्ध है। शेष चौदह भंगों में शुद्ध-अशुद्ध की भजना है।

८७६. आगाढम्मि उ कज्जे, सेस असुद्धो वि सुज्झए भंगो।
न विसुज्झे अणागाढे, सेसपदेहिं जइ वि सुद्धो॥

आगाढ़ कार्य अर्थात् पुष्ट आलंबन में अशुद्धभंग भी शुद्ध हो जाता है। शेष पदों में शुद्ध होने पर भी अनागाढ़ अर्थात् निरालंब में वह विशुद्ध नहीं होता।

८७७. लहुगा य निरालंबे, दिवसतो रत्तिं हवंति चउगुरुगा।
लहुगो य उप्पहेणं, रीयादी चेवऽणुवउत्ते॥

जहां जहां निरालंब है और दिवस में जा रहा है तो चार लघुक तथा रात्री में जाने पर चार गुरुक का प्रायश्चित्त है। दिन में उत्पथ से जाने पर मासलघु और ईर्या आदि समितियों में अनुपयुक्त होकर जाने में मासलघु। रात्री में उत्पथगमन और अनुपयुक्तगमन में मासगुरु।

८७८. दिय-राओ लहु-गुरुगा, आणा चउ गुरुग लहुग लहुगा य।
संजम-आयविराहण, संजमे आरोवणा इणमो॥

सभी अशुद्ध भंगों में दिन में जाने पर चतुर्लघुक और रात्री में जाने पर चतुर्गुरुक। आज्ञाभंग में चतुर्गुरुक, अनवस्था और मिथ्यात्व में चतुर्लघुक। दो प्रकार की विराधना होती है–संयमविराधना और आत्मविराधना। संयमविराधना होने पर यह प्रायश्चित्त है–

८७९. छक्काय चउसु लहुगा, परित्त लहुगा य गुरुग साहारे।
संघट्टण परितावण, लहु गुरुगऽतिवायणे मूलं॥

षड्जीवनिकाय में चार अर्थात् पृथ्वी, अप्, तेजो, वायु– का संघट्टन होने पर लघुक प्रायश्चित्त, परीत्त का लघुक, अनन्त वनस्पति का गुरुक। द्वीन्द्रिय आदि जीवों के संघट्टन में लघुक और परितापन में गुरुक, उनका अतिपात होने पर मूल।

८८०. जहिं लहुगा तहिं गुरुगा, जहिं गुरुगा कालगुरुग तहिं ठाणे।
छेदो य लहुय गुरुओ, काएसाऽऽरोवणा रत्तिं॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जहां दिवस में लघुक है, वहीं रात्री में गुरुक और जहां गुरुक हैं वहां कालगुरु ज्ञातव्य है। जहां छेद लघुक है वहां छेद गुरुक जानना चाहिए। रात्री में यह काल विषयक आरोपणा है।

८८१. कंट-ऽट्ठि खाणु विज्जल, विसम दरी निन्न मुच्छ-सूल-विसे।
वाल-ऽच्छभल्ल-कोले, सीह-विग-वराह-मेच्छित्थी॥

८८२. तेणे देव-मणुस्से, पडिणीए एवमाइ आयाए।
मास चउ छच्च लहु गुरु, छेदो मूलं तह दुगं च॥

कोट्टकादि में जाता हुआ मुनि कांटों से, लकड़ी के टुकड़े से पैर में विद्ध हो सकता है, कीचड़ तथा विषम स्थान में, खाई में, गढ़े में गिर कर मूर्च्छित हो सकता है, शूल चल सकती है, विषकंटक से विद्ध हो सकता है, विषफल खा सकता है, सर्प, भालू, शूकर, सिंह, वृक, वराह, म्लेच्छ पुरुष अथवा कोई स्त्री—ये उसे उपद्रुत कर सकते हैं। शेर, देव अथवा शत्रु, अन्य मनुष्य उसको पीड़ित कर सकते हैं। यह आत्मविराधना है। (इनका प्रायश्चित्त यह है) कंटकादि से परितप्त होने पर चतुर्लघु, अत्यधिक परितप्त होने पर चतुर्गुरुक, महान् दुःख होने पर षड्लघु, मूर्च्छा या अमूर्च्छा में षड्गुरु, कृच्छ्रप्राणनाश होने पर छेद, कृच्छ्रश्वासोश्वास में मूल, मारणांतिक समुद्घात में अनवस्थाप्य, कालगत होने पर पारांचिक।

८८३. कंट-ऽट्ठिमाइएहिं, दिवसतो सव्वत्थ चउगुरू होंति।
रत्तिं पुण कालगुरु, जत्थ व अन्नत्थ आयवहो॥

आत्मविराधना में सामान्य प्रायश्चित्त—कंटक, स्थाणु आदि से परितप्त होने पर दिन में चतुर्गुरु, रात्री में चतुर्गुरु कालगुरु हो जाते हैं। जहां कहीं आत्मवध होता है, सर्वत्र चतुर्गुरु प्रायश्चित्त है।

८८४. पोरिसिनासण परिताव ठावणं तेण देह उवहिगतं।
पंतादेवयछलणं, मणुस्सपडिणीयवहणं च॥

सूत्रपौरुषी और अर्थपौरुषी का नाश होने पर क्रमशः चतुर्लघु और चतुर्गुरु, परिताप होने पर चतुर्लघु और चतुर्गुरु, अनाहार स्थापना में चतुर्लघु और आहार-स्थापना में चतुर्गुरु। स्तेन दो प्रकार के होते हैं—देहस्तेन और उपधिस्तेन। देहस्तेन द्वारा एक साधु का अपहरण किया जाए तो मूल, साथ में उपधि का अपहरण होने पर अनवस्थाप्य, प्रान्तदेवता द्वारा छला जाना तथा प्रत्यनीक मनुष्य द्वारा मारे जाने पर चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त है।

८८५. एवं ता असहाए, सहायसहिए इमे भवे भेदा।
जय अजय इत्थि पंडे, अस्संजइ संजईहिं च॥

इस प्रकार असहाय—अकेले जाने पर उपरोक्त दोषे होते हैं। सहाय—सहित जाने पर, सहायक के ये भेद होते हैं—यत—संयत, अयत—असंयत, नपुंसक, गृहस्थस्त्री तथा साध्वी।

८८६. संविग्गाऽसंविग्गा, गीया ते चेव होंति अग्गीया।
लहुगा दोहि विसिट्ठा, तेहिं समं रत्ति गुरुगा उ॥

संविग्न, असंविग्न, गीतार्थ, अगीतार्थ के साथ जाने पर लघुक प्रायश्चित्त—दो से विशिष्ट अर्थात् तप और काल से गुरु। इनके साथ रात्री में जाने पर तप और काल से विशेषित चतुर्गुरु प्रायश्चित्त है।

८८७. अस्संजय-लिंगीहिं उ, पुरिसागिइपंडएहिं य दिवा उ।
अस्सोय सोय छल्लहु, ते चेव उ रत्ति गुरुगा उ॥

असंयत, लिंगी—अन्यतीर्थिक, पुरुषाकृतिवाले नपुंसक—ये तीनों शौचवादी और अशौचवादी—दोनों होते हैं। इनके साथ दिन में जाने पर षड्लघु और रात्री में जाने पर षड्गुरु।

८८८. पासंडिणित्थि पंडे, इत्थीवेसेसु दिवसतो छेदो।
तेहिं चिय निसि मूलं, दिय-रत्ति दुगं तु समणीहिं॥

पाषण्डिनी—परिव्राजिका, गृहस्थस्त्री, स्त्रीवेशधारी नपुंसक—इनके साथ दिन में जाने पर छेद, रात्री में जाने पर मूल। श्रमणियों के साथ दिन में जाने पर अनवस्थाप्य और रात्री में जाने पर पारांचिक प्रायश्चित्त है।

८८९. अहवा समणा-ऽसंजय-अस्संजइ-संजईहिं दियराओ।
चत्तारि छच्च लहु गुरु, छओ मूलं तह दुगं च॥

अथवा श्रमणों के साथ दिन में जाने पर चतुर्लघु, रात्री में जाने पर चतुर्गुरु। असंयतों के साथ दिन में षड्लघु, रात्री में षड्गुरु। असंयतियों के साथ दिन में छेद, रात्री में मूल। श्रमणियों के साथ दिन में अनवस्थाप्य, रात्री में पारांचिक।

८९०. जह चेव अन्नगहणेऽरण्णे गमणाइ वण्णियं एयं।
तत्थगहणे वि एवं, पडियं जं होइ अच्चित्तं॥

जैसे अन्यत्रग्रहण, अरण्यविषयक गमन आदि में जो दोष तथा प्रायश्चित्त का वर्णन किया है, वही तत्रग्रहण तथा पतित अचित्त प्रलंब के ग्रहण में जानना चाहिए।

८९१. तत्थग्गहणं दुविहं, परिग्गहमपरिग्गहं दुविहभेयं।
दिट्ठादपरिग्गहिए, परिगहिएँ अणुग्गहं कोइ॥

तत्रग्रहण के दो प्रकार हैं—परिग्रह (देवता द्वारा परिगृहीत), अपरिग्रह। इन दोनों के दो-दो भेद हैं—सचित्त, अचित्त। जो अपरिगृहीत अचित्त का ग्रहण करता है उसके (गाथा ८६६) के अनुसार सारी आरोपणा ज्ञातव्य है। जो परिगृहीत अचित्त का ग्रहण करता है, कोई भद्रक इसे अनुग्रह मानता है।

८९२. तिविह परिग्गह दिव्वे, चउलहु चउगुरुग छल्लहुक्कोसे।
अहवा छल्लहुग च्चिय, अंत गुरू तिविह दिव्वम्मि॥

सपरिग्रह तीन प्रकार का होता है—देवपरिगृहीत,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनुष्यपरिगृहीत और तिर्यक्परिगृहीत। देवपरिगृहित के तीन प्रकार हैं—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। व्यन्तरगृहीत जघन्य होता है, भवनपति और ज्योतिष्कपरिगृहीत मध्यम और वैमानिकपरिगृहीत उत्कृष्ट होता है। जघन्यपरिगृहीत का प्रलंब लेने पर चतुर्लघु, मध्यम का चतुर्गुरु तथा उत्कृष्ट का षड्लघु। अथवा तीनों का षड्लघु ही प्रायश्चित्त है। जघन्य में तपोलघु कालगुरु, मध्यम में काललघु तपोगुरु तथा अन्त्य अर्थात् उत्कृष्ट में दोनों गुरु अर्थात् तप और काल—दोनों गुरु।

८९३. सम्मेतर सम्म दुहा, सम्मे लिंगि लहु गुरुओ गिहिएसुं।
मिच्छा लिंगि गिही वा, पागय-लिंगीसु चउलहुगा॥

८९४. गुरुगा पुण कोडुंबे, छल्लहुगा होंति दंडियारामे।
तिरिया य दुट्ठ-ऽदुट्ठा, दुट्ठे गुरुगाइरे (गेयरे) लहुगा॥

मनुष्य परिगृहीत के दो प्रकार हैं—सम्यग्दृष्टिपरिगृहीत और मिथ्यादृष्टिपरिगृहीत। सम्यग्दृष्टिपरिगृहीत के दो प्रकार हैं—लिंगस्थपरिगृहीत और गृहस्थपरिगृहीत। लिंगस्थ-परिगृहीत में मासलघु और गृहस्थपरिगृहीत में मासगुरु। मिथ्यादृष्टि परिगृहीत के दो भेद हैं—लिंगीपरिगृहीत और गृहीपरिगृहीत। गृहीपरिगृहीत के तीन भेद हैं—प्राकृत-परिगृहीत, कौटुंबिक-परिगृहीत तथा दंडिकपरिगृहीत। प्राकृत और लिंगी परिगृहीत में चतुर्लघुक, कौटुंबिकपरिगृहीत में चतुर्गुरुक। दंडिक के आराम में षड्लघु। तिर्यंच दो प्रकार के होते हैं—दुष्ट और अदुष्ट। दुष्टतिर्यग्परिगृहीत में चतुर्गुरुक तथा अदुष्ट में चतुर्लघुक।

८९५. भद्देतर सुर-मणुया, भद्दो घिप्पंति दट्ठुणं भणइ।
अन्ने वि साहु! गिण्हसु, पंतो छण्हेगयर कुज्जा॥

जिस देव या मनुष्य द्वारा परिगृहीत वह आराम है, वह देव या मनुष्य भद्र या प्रान्त हो सकता है। साधु को प्रलंब ग्रहण करते हुए देखकर भद्र कहता है—हे साधो! अन्य प्रलंब भी तुम ग्रहण करो। जो प्रान्त होगा वह निम्नोक्त छह प्रकारों में से एक करेगा।

८९६. पडिसेहणा खरंटण, उवलभ पंतावणा य उवहिम्मि।
गिण्हण-कड्ढण - ववहार - पच्छकडुड्डाह - निव्विसए॥

प्रतिषेधना, खरंटणा, उपालंभ, प्रान्तापना, उपधिहरण तथा ग्रहण-आकर्षण-व्यहार-पश्चात्कृत-उड्डाह—निर्विषय—यह छठा है। (इसकी व्याख्या आगे।)

८९७. जं गहियं तं गहियं, बिइयं मा गिण्ह इरइ वा गहियं।
जायसु ममं व कज्जे, मा गिण्ह सयं तु पडिसेहो॥

वह कहेगा—जो प्रलंब ले लिया, वह ले लिया, दूसरी बार मत लेना। अथवा वह उसके हाथ से वह प्रलंब छीन लेगा। वह कहेगा यदि आवश्यकता हो तो मेरे से मांग कर लो, स्वयं ग्रहण मत करो। यह प्रतिषेधना है।

८९८. धी मुंडितो दुरप्पा, धिरत्थु ते एरिसस्स धम्मस्स।
अन्नत्थ वा वि लब्भिसि, मुक्को सि खरंटणा एसा॥

हे मुंडित दुरात्मा! तुझे धिक्कार है। तुम्हारे इस प्रकार के धर्म को धिक्कार है! मैं तुम्हें छोड़ देता हूं, परन्तु तुम अन्यत्र भी विडंबना पाओगे। यह खरंटणा है।

८९९. आमफलाणि न कप्पंति तुम्ह मा सेसए वि दूसेहिं।
मा य सकज्जे मुज्झसु, एमाई होउवालंभो॥

अपक्व फल आपको लेने नहीं कल्पते। दूसरे साधुओं को तुम कलंकित मत करो। तुम अपने कार्य में मूढ़ मत बनो। यह उपालंभ है।

९००. कर-पाय-दंडमाइसु, पंतावणगाढमाइ जा चरिमं।
अप्पो अ अहाजाओ, सव्वो दुविहो वि जं च विणा॥

हाथ, पैर, दंड आदि से प्रहार करना प्रांतापना है। अनागाढ़ परितापना आदि में पारांचिक पर्यन्त प्रायश्चित्त है। अल्प अर्थात् यथाजात उपधि (निषद्याद्वय, रजोहरण, मुख-वस्त्रिका, चोलपट्टक) का अथवा सर्व उपधि का (दस प्रकार की उपधि का) अपहरण कर लिया जाता है। अथवा उपधि के दो प्रकार हैं—ओघउपधि और औपग्रहिकउपधि। इनका अपहरण हो जाता है। तब उपधि के बिना प्रायश्चित्त आता है।

९०१. लहुगा अणुग्गहम्मी, अप्पत्तिय गुरुग तीसु ठाणेसु।
पंतावणे चउगुरुगा, अप्प बहुम्मी हिए मूलं॥

जिसके द्वारा परिगृहीत का आराम है, वह यदि साधु द्वारा प्रलंब ग्रहण करने पर अनुग्रह मानता है तो चतुर्लघु, यदि अप्रीति करता है तो चतुर्गुरुक अथवा प्रतिषेध, खरंटना और उपालंभ—ये तीन स्थान होते हैं तो प्रत्येक के चतुर्गुरुक। प्रान्तापना में चतुर्गुरुक तथा अल्प या बहुत उपधि का हरण करने पर मूल प्रायश्चित्त है।

९०२. परितावणाइ पोरिसि, ठवणा महय मुच्छ किच्छ कालगए।
मास चउ छच्च लहु गुरु, छेओ मूलं तह दुगं च॥

परितापना होने पर मुनि सूत्रपौरुषी या अर्थपौरुषी नहीं कर सकता। उसका क्रमशः प्रायश्चित्त है मासलघु और मासगुरु। सूत्र का नाश करने पर चतुर्लघु, अर्थ का नाश करने पर चतुर्गुरु। प्राशुक की स्थापना करने पर चतुर्लघु, अप्राशुक में चतुर्गुरु, प्रत्येक वनस्पति की स्थापना में चतुर्लघु, अनन्तकायिक में चतुर्गुरु। महान् दुःख होने पर षड्लघु, मूर्च्छा में षड्गुरु, कृच्छ्रप्राण में छेद, कृच्छ्रश्वास में मूल और कालगत होने पर पारांचिक।

९०३. तणगहणे झुसिरेतर, अग्गी सट्ठाण अभिनवे जं च।
एसणपेल्लण गहणे, काया सुत मरण ओहाणे॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुषिरतृणग्रहण करने पर चतुर्लघु और अशुषिरतृणग्रहण में मासलघु। अग्नि का सेवन करने पर स्वस्थान प्रायश्चित्त अर्थात चतुर्लघु, अभिनव अग्नि का प्रज्वलन करने पर मूल। उद्गमादि दोषदुष्ट वस्त्रैषणा से तथा उसके ग्रहण से तन्निष्पन्न प्रायश्चित्त आता है। उपधि के अभाव में पृथ्वी आदि कायों की विराधना होती है, श्रुत का नाश होता है, किसी का मरण भी हो सकता है और कोई मुनि अवधावन भी कर सकता है। मरण होने पर पारांचिक और अवधावन करने पर मूल, दो के अवधावन में अनवस्थाप्य और तीन के अवधावन में पारांचिक।

९०४. गेण्हण गुरुगा छम्मास कड्ढणे छेदो होइ ववहारे।
पच्छाकडम्मि मूलं, उड्डहण विरुंगणे नवमं॥

९०५. उद्दवणे निव्विसए, एगमणेगे पदोस पारंची।
अणवट्ठप्पो दोसु य, दोसु य पारंचिओ होइ॥

यदि मुनि को प्रलंब ग्रहण करते हुए प्रलंबस्वामी देखकर उसको पकड़ ले तो चतुर्गुरुक, आकर्षण करने पर षड्गुरुमास, व्यवहार–न्यायपालिका में ले जाने पर छेद, व्यवहार में यदि वह पश्चात्कृत–पराजित हो जाता है तो मूल, चौराहे आदि पर 'यह प्रलंब चोर है' ऐसी घोषणापूर्वक उसकी भर्त्सना होने पर तथा व्यंगन–हाथ पैर आदि काटे जाने पर नौवां अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त आता है। राजा द्वारा अपद्रावित अथवा देशनिष्काशन किए जाने पर अथवा राजा एक साधु पर अथवा अनेक साधुओं पर प्रद्विष्ट हो जाए तो पारांचिक तथा उद्दहन तथा व्यंगन–दोनों करने पर अनवस्थाप्य तथा अपद्रावण और देशनिष्काशन दोनों करने पर पारांचिक प्रायश्चित्त आता है।

९०६. आराम मोल्लकीए, परतित्थिय भोइएण गामेण।
वणि-घड-कुडुंबि-राउलपरिग्गहे चेव भद्दितरा॥

वह आराम स्वयं अपना हो सकता है अथवा निम्न व्यक्तियों से मूल्य द्वारा क्रीत हो सकता है–१. परतीर्थिक, २. भोगिक, ३. ग्राम, ४. वणिक् ५. घटी–गोष्ठी, ६. कौटुंबिक, ७. आरक्षिक, ८. राजा, (राजकुल शब्द से आरक्षिक और राजा–दोनों गृहीत हैं।) यहां भी भद्रक तथा इतर–प्रान्तकृत सारे दोष वक्तव्य हैं।

९०७. एमेव य सच्चित्ते, छुभणा आरोहणा य पडणा य।
जं इत्थं नाणत्तं, तमहं वोच्छं समासेणं॥

इसी प्रकार सचित्त प्रलंब के विषय में भी गा॰ ८६६ से प्रारंभ कर गा॰ ९०६ तक जानना चाहिए। प्रक्षेपण, आरोहण और पतन–ये सारे द्वार पूर्ववत् जानने चाहिए। जो नानात्व है वह मैं संक्षेप में कहूंगा।

९०८. तं सच्चित्तं दुविहं, पडियाऽपडियं पुणो परित्तियरं।
पडितऽसति अपावंते, छुभई कड्ढाइए उवरिं॥

सचित्त के दो प्रकार हैं–पतित और अपतित। इन दोनों के दो-दो भेद हैं–परीत और अनन्त। पतित–भूमी पर गिरे हुए प्रलंब के अभाव में, जो वृक्ष पर लटक रहा है परंतु हाथ से नहीं तोड़ा जा सकता, उस प्रलंब को नीचे गिराने के लिए वह काठ के टुकड़े आदि को ऊपर फेंकता है।

९०९. सजियपयट्ठिए लहुगो, सजिए लहुगा य जत्तिया गाहा।
गुरुगा होंति अणंते, हत्थप्पत्तं तु गेण्हंते॥

जो मुनि सजीववृक्ष पर प्रतिष्ठित पक्व फल लेता है उसे मासलघु का प्रायश्चित्त आता है। वृक्ष पर प्रतिष्ठित सजीव फल लेता है तो चतुर्लघु। वह जितने ग्राह–बाहुक्षेप करता है उतने चतुर्लघु प्रायश्चित्त हैं। यह प्रत्येक वनस्पति के लिए है। अनन्त वनस्पति में ये सारे प्रायश्चित्त गुरु हो जाते हैं। यह सारा प्रायश्चित्त भूमी पर स्थित मुनि हस्तप्राप्त प्रलंब को वृक्ष से तोड़ता है, उसके लिए है।

९१०. छुभमाण पंचकिरिए, पुढवीमाई तसेसु तिसु चरिमं।
तं काय परिच्चयई, आवडणे अप्पगं चेव॥

जो प्रलंब आदि लेने के लिए काष्ठ आदि वृक्ष पर फेंकता है वह पांच क्रियाओं[1] से स्पृष्ट होता है। पृथ्वी आदि जीवों के संघट्टन आदि होने पर यथास्थानप्राप्त प्रायश्चित्त। पंचेन्द्रिय-रूप त्रस का व्यापादन होने पर चरम अर्थात् पारांचिक प्रायश्चित्त। काष्ठ आदि फेंकने पर वह वनस्पति अपनी काय को छोड़ देती है अर्थात् वह वृक्ष से टूटकर नीचे आ गिरती है। उस वृक्ष पर निक्षिप्त काष्ठ या पत्थर उस मुनि पर आकर गिर सकता है।

९११. पावंते पत्तम्मि य, पुणोपडंते अ भूमिपत्ते अ।
रय-वास-विज्जुयाई, वाय-फले मच्छिगाइ तसे॥

वृक्ष को लक्ष्य कर हाथ से फेंका हुआ काष्ठ या पत्थर जब तक वृक्ष को नहीं लगता तब तक वह 'प्राप्नुवद्' कहलाता है तथा वृक्ष को प्राप्त कर भूमी पर पुनः गिरता है तब षट्कायविराधना होती है। जैसे–रज आदि पृथ्वीकाय, वर्षा का उदक आदि अप्काय, विद्युद् आदि तैजस्काय, वायु, फल, तथा मक्षिका आदि त्रसकाय की विराधना होती है। जैसे–

९१२. खोल्ल-तयाईसु रओ, महि-वासोस्साइ अग्गि दरदड्ढे।
तत्थेवऽनिल वणस्सइ, तसा उ किमि-कीड-सउणाई॥

१. पांच क्रियाएं–(१) कायिकी (२) आधिकरणिकी (३) प्राद्वेषिकी (४) पारितापनिकी (५) प्राणातिपातक्रिया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खोल्ल[1]—कोटर में, त्वक्—छाल आदि में रजें होती हैं। अतः पृथ्वीकाय की विराधना होती है। महिका और अवश्याय—ओस आदि के कारण अप्काय की विराधना, वनवह्नि के कारण दरदग्ध वृक्ष में अग्निकाय की विराधना, वहीं वायुकाय की विराधना, प्रलंब आदि के कारण वनस्पतिकाय की विराधना तथा कृमि, कीट, पक्षी—इन त्रस प्राणियों की भी विराधना होती है।

९१३. अप्पत्ते जो उ गमो, सो चेव गमो पुणोपडंतम्मि।
सो चेव य पडियम्मि वि, निक्खेवे चेव भोमाई॥

जो फेंके गए काष्ठ आदि के अप्राप्त का 'गम'—प्रकार है, वही 'गम' पुनः गिरते हुए के विषय में है। वही 'गम' भूमी पर गिरे हुए के विषय में जानना चाहिए। जो फेंका गया काष्ठ आदि अत्यंत भारी होने के कारण पृथ्वी पर निष्प्रकंप रूप में गिरता है, उससे पृथ्वी आदि की महती विराधना होती है।

९१४. एवं दव्वतो छण्हं, विराधओ भावओ उ इहरा वि।
चिज्जइ हु घणं कम्मं, किरियग्गहणं भयनिमित्तं॥

इस प्रकार वह मुनि द्रव्यतः छह जीवनिकायों का विराधक होता है। द्रव्यतः हिंसा न होने पर भी वह भावतः षट्काय विराधक होता है, क्योंकि वह संयम के प्रति निरपेक्ष है। भावतः प्राणातिपात से वह निबिड कर्मों का उपचय करता है। गा॰ ९१० में जो कहा गया कि वह पांच क्रियाओं से स्पृष्ट होता है, यह कथन भय के निमित्त कहा गया है।

९१५. कुवणय पत्थर लेट्ठू, पुव्वच्छूढे फले व पवडंते।
पच्चुप्फिडणे आया, अच्चायामे य हत्थाई॥

किसी प्रलंबार्थी ने पहले भी वृक्ष पर 'कुवणय'—लकड़ी फेंकी थी। वह किसी शाखा में अटक गई। अब जब साधु ने प्रलंब ग्रहण करने के लिए काष्ठ आदि फेंका तो पूर्वक्षिप्त लकड़ी उस पर आकर गिर सकती है। इसी प्रकार पूर्वक्षिप्त पत्थर या लेष्टु (ईंट का टुकड़ा) गिर सकता है अथवा फल गिर सकता है। पूर्वक्षिप्त लकड़ी आदि के गिरने से आत्मविराधना होती है तथा हाथ को बहुत ऊंचा कर कुछ फेंकने से परितापना होती है। ये सारे दोष क्षेपण से संबंधित हैं।

९१६. खिवणे वि अपावंतो, दुरुहइ तहिं कंट-विच्छु-अहिमाई।
पक्खि-तरच्छाइवहो, देवयखेत्ताइकरणं च॥
९१७. तत्थेव य निद्दवणं, अंगेहिं समोहएहिं छक्काया।
आरोवण स च्चेव य, गिलाणपरितावणाईया॥

कुछ फेंकने पर भी यदि प्रलंब प्राप्त नहीं होता है तो वह मुनि वृक्ष पर आरोहण करता है। चढ़ते हुए वह कांटों से बींधा जाता है, बिच्छु, सर्प आदि से डसा जा सकता है, पक्षी—तरक्ष आदि का वध हो सकता है। यदि वृक्ष देवताधिष्ठित हो तो मुनि क्षिप्तचित्त हो जाता है। अथवा देवता उस मुनि को समाप्त कर देता है। अथवा वह देवता आरोहण करने वाले उस मुनि को वृक्ष से नीचे गिरा देता है। उससे छहकाय की विराधना होती है। मुनि के अंग-उपांग भग्न हो जाते हैं। जीवों के संघट्टन से वही आरोपणा प्रायश्चित्त है। आत्मविराधना में ग्लानविषयक परितापनिका आदि से निष्पन्न वही आरोपणा प्रायश्चित्त ज्ञातव्य है।

९१८. मरण-गिलाणाईया, जे दोसा होंति दूहमाणस्स।
ते चेव य सारुवणा, पवडंते होंति दोसा उ॥

वृक्ष पर चढ़ते हुए मुनि के जो मरण, ग्लानत्व आदि दोष होते हैं, वे ही दोष वृक्ष से गिरने पर होते हैं। तत्संबंधी आरोपणा सहित प्रायश्चित्त वक्तव्य है।

९१९. तंमूल उवहिगहणं, पंतो साहूण कोइ सव्वेसिं।
तण-अग्गिगहण परितावणा य गेलन्न पडिगमणं॥

जिसके अधिकार में वे प्रलंब हैं, वही व्यक्ति प्रलंब ग्रहण करने वाले मुनि की उपधि का अपहरण कर लेता है अथवा कोई प्रान्त व्यक्ति सभी साधुओं की उपधि का अपहरण कर लेता है। वस्त्र के अभाव में मुनि के तृणग्रहण, अग्निसेवन, परितापना, ग्लानत्व तथा प्रतिगमन—ये दोष होते हैं।

९२०. तणगहण अग्गिसेवण, लहुगा गेलन्ने होइ तं चेव।
मूलं अणवट्ठप्पो, दुग तिग पारंचिओ होइ॥

जो तृणग्रहण करता है अथवा अग्नि का सेवन करता है उसको चतुर्लघु का प्रायश्चित्त आता है। जो ग्लान मुनि अग्नि का सेवन करता है उसको भी वही प्रायश्चित्त है। एक अवधावन करता है तो मूल, दो अवधावन करते हैं तो अनवस्थाप्य और तीन अवधावन करते हैं तो पारांचिक।

९२१. अपरिग्गहिय पलंबे, अलभंतो समणजोगमुक्कधुरो।
रसगेद्धीपडिबद्धो, इतरे गिण्हंतो गहिओ य॥

जो मुनि श्रमण के व्यापारभार से मुक्त हो गया है, वह अपरिगृहीत प्रलंब का लाभ न होने पर, रसगृद्धि से प्रतिबद्ध होकर परिगृहीत प्रलंब लेते हुए प्रलंबस्वामी द्वारा पकड़ा जाता है।

९२२. महजणजाणणया पुण, सिंघाडग-तिग-चउक्क-गामेसु।
उड्डहिऊण विसज्जिते, महजणणाए ततो मूलं॥

प्रलंबस्वामी उसे पकड़ कर शृंगाटक, त्रिक, चतुष्क स्थानों पर गांव में ले जाकर गांव के महाजनों को यह ज्ञापित करता है कि 'इसने प्रलंबों की चोरी की है'। इस प्रकार

१. खोल्लं ति देशीशब्दत्वात् कोटरम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महाजनों के समक्ष उसका तिरस्कार कर उसे विसर्जित कर दिया। इस स्थिति में उसे मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

९२३. एस उ पलंबहारी, सहोढ गहिओ पलंबठाणेसु।
सेसाण वि छाघाओ, सविहोढ विलंबिए होइ॥

वह प्रलंबस्वामी लोगों को एकत्रित कर कहता है—'यह प्रलंब चोर है। मैंने इसको प्रलंब-स्थानों में रंगे-हाथों[1] पकड़ा है। इस प्रकार 'सविहोढ'—उसकी जिस प्रकार जुगुप्सा हो वैसे करते हुए उसकी विडंबना की जाती है। इस विडंबना से शेष साधुओं का प्रभाभ्रंश होता है। लोक मानने लग जाते हैं कि सभी साधु ऐसे ही होते हैं।

९२४. अवराहे लहुगतरो, आणाभंगम्मि गुरुतरो किह णु।
आणाए च्चिय चरणं, तब्भंगे किं न भग्गं तु॥

शिष्य ने पूछा—अपराध होने पर लघुतर दंड पहले कहा गया है। अब आज्ञाभंग में चतुर्गुरुक का दंड कहा है। यह कैसे? आचार्य कहते हैं—आज्ञा में ही चारित्र है। आज्ञाभंग में क्या-क्या भंग नहीं होता, सब कुछ भग्न हो जाता है, अतः आज्ञाभंग गुरुतर दोष है।

९२५. सोऊण य घोसणयं, अपरिहरंता विणास जह पत्ता।
एवं अपरिहरंता, हियसव्वस्सा उ संसारे॥

राजा की घोषणा को सुनकर जो निवारित प्रयोजन का परिहार नहीं करता, वह विनाश को प्राप्त होता है। इसी प्रकार तीर्थंकर द्वारा निषिद्ध का परिहार न करने वाले मुनि का सर्वस्व अपहृत हो जाता है और वह संसार में दुःख पाता है।

९२६. छ प्पुरिसा मज्झ पुरे, जो आसादेज्ज ते अजाणंतो।
तं दंडेमि अकंडे, सुणेंतु पउरा! जणवया! य॥
९२७. आगमिय परिहरंता, निद्दोसा सेसगा न निद्दोसा।
जिणआणागमचारि, अदोस इयरे भवे दंडो॥

एक राजा ने यह घोषणा करवाई—ये छह पुरुष मेरे पुर में हैं। जो अजानकारी में इनकी आशातना करेगा, पीड़ा पहुंचाएगा, मैं अकाल में, बिना किसी कारण उनको दंडित करूंगा। हे पुरवासियो! हे देशवासियो! यह तुम सुनो। इस घोषणा के अनुसार जो लोग उन छहों पुरुषों की आशातना का परिहार करते हैं वे निर्दोष हैं। शेष लोग जो आशातना का परिहार नहीं करते, वे निर्दोष नहीं हैं, वे दंडित होते हैं।[2] इसी प्रकार जो मुनि जिनाज्ञा के अनुसार आगम का परिज्ञान कर संयम का पालन करता है, वह निर्दोष है, दूसरों के लिए भव-संसार में दुःखस्वरूप दंड ज्ञातव्य है।

९२८. एगेण कयमकज्जं, करेइ तप्पच्चया पुणो अन्नो।
सायाबहुल परंपर, वोच्छेदो संजम-तवाणं॥

एक मुनि यदि अकार्य करता है तो उसके आधार पर दूसरे भी अकार्य में प्रवृत्त होते हैं। सातबहुल प्राणियों की इस परंपरा से संयम और तप का व्यवच्छेद हो जाता है।

९२९. मिच्छत्ते संकाई, जहेय मोसं तहेव सेसं पि।
मिच्छत्तथिरीकरणं, अब्भुवगम वारणमसारं॥

मिथ्यात्व के प्रसंग में शंका आदि दोष वक्तव्य हैं। लोगों में यह चित्तविप्लुति हो जाती है कि जैसे इन मुनियों का यह व्रत मिथ्या है वैसे ही सारे व्रत मिथ्या हैं। लोगों में मिथ्यात्व का स्थिरीकरण हो जाता है। कोई धर्मग्रहण करने के लिए उद्यत होता है, उसका वारण किया जाता है और लोग मानने लग जाते हैं कि इनका प्रवचन असार है।

९३०. तं काय परिच्चयई, नाणं तह दंसणं चरित्तं च।
बीयाईपडिसेवग, लोगो जह तेहिं सो पुट्ठो॥

जो मुनि प्रलंब का ग्रहण करता है वह उस काय अर्थात् वनस्पति के ज्ञान के साथ-साथ ज्ञान, दर्शन और चारित्र का परित्याग कर देता है। बीज आदि का प्रतिसेवन करने वाले लोग जैसे असंयम से स्पृष्ट होते हैं, वैसे ही प्रलंबसेवी वह मुनि भी असंयम से स्पृष्ट होता है।

९३१. कायं परिच्चयंतो, सेसे काए वए वि सो चयई।
णाणे णाणुवदेसे, अवट्ठमाणो, उ अन्नाणी॥

प्रलंब ग्रहण करने वाला वनस्पतिकाय (के ज्ञान) का परित्याग कर देता है वैसे ही वह शेष कायों तथा व्रतों का भी परित्याग कर देता है। ज्ञान का परित्याग कर देने पर ज्ञानोपदेशक्रिया में अप्रवर्तमान वह ज्ञानी भी अज्ञानी होता है।

९३२. दंसण-चरणा मूढस्स नत्थि समया व नत्थि सम्मं तु।
विरईलक्खण चरणं, तदभावे नत्थि वा तं तु॥

ज्ञान के अभाव में वह मूढ़ होता है। मूढ़ व्यक्ति के दर्शन और चारित्र नहीं होता। उसमें प्राणियों के प्रति समता भी नहीं होती। समता के अभाव में सम्यक्त्व भी नहीं होता। चरण होता है विरतिलक्षण वाला। इस लक्षण के अभाव में उसमें चारित्र ही नहीं होता।

९३३. पाएण बीयभोई, चोयग! पच्छाणुपुव्वि वा एवं।
जोणिग्घाते व हतं, तदादि वा होइ वणकाओ॥

लोग प्रायः बीजभोजी होते हैं। हे शिष्य! यह कथन पश्चानुपूर्वी से भी होता है। बीज वनस्पति की योनि है। उसके घात से, विनाश से, मूल आदि सारा हत हो जाता है, क्योंकि 'तदादि' बीज ही आदि है उसका, अर्थात् वनस्पतिकाय का बीज ही आदि है।

---

१. सहोढः—सलोष्ट्रः—चुराई हुई वस्तु के साथ रंगेहाथों। (वृ. पृ. २९२)

२. दृष्टांत के लिए देखें—कथा परिशिष्ट, नं. ४१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९३४. विरइसभावं चरणं, बीयासेवी हु सेसघाती वि।
अस्संजमेण लोगो, पुट्ठो जह सो वि हु तहेव॥

जो बीजसेवी होता है, वह शेष अर्थात् मूल आदि का भी घात करता है। उसके विरति स्वभाव वाला चारित्र नहीं होता। जैसे बीज आदि का प्रतिसेवक असंयम से स्पृष्ट होता है वैसे ही प्रलंबसेवी भी असंयम से स्पृष्ट होता है।

९३५. तं चेव अभिहणेज्जा, आवडियं अहव जीहलोलुयता।
बहुगाइं भुंजित्ता, विसूचिकाईहिं आयवहो॥

वृक्ष पर फेंका गया लगुड़ आदि उसी मुनि पर गिर कर उसका हनन कर सकता है। अथवा वह मुनि जिह्वा की लोलुपता के कारण अनेक प्रलंबों को खाकर विसूचिका आदि से ग्रस्त हो सकता है। यह आत्मवध है।

९३६. कस्सेयं पच्छित्तं, गणिणो गच्छं असारवितस्स।
अहवा वि अगीयत्थस्स भिक्खुणो विसयलोलस्स॥

शिष्य ने पूछा—प्रलंब आदि अन्यत्र ग्रहण करने पर अनेक प्रायश्चित्त कहे हैं। वे प्रायश्चित्त किसके आते हैं? आचार्य ने कहा—वे प्रायश्चित्त गच्छ की सारणा-वारणा न करने वाले आचार्य के आते हैं। अथवा जो भिक्षु अगीतार्थ और विषयलोलुप है, उसके वे प्रायश्चित्त हैं।

९३७. देसो व सोवसग्गो, वसणी व जहा अजाणगनरिंदो।
रज्जं विलुत्तसारं, जह तह गच्छो वि निस्सारो॥

गच्छ की सारणा नहीं करने वाला आचार्य उपसर्ग सहित होता है, जैसे राज्य की चिंता न करने वाले राजा का देश उपसर्गबहुल और व्यसनी हो जाता है। जैसे अज्ञायक राजा का परित्याग कर दिया जाता है, उसी प्रकार वैसे आचार्य का परित्याग कर देना चाहिए। जैसे राजा द्वारा अरक्षित राज्य सारहित हो जाता है, वैसे ही असारित गच्छ भी निस्सार हो जाता है।

९३८. ओमोदरिया य जहिं, असिवं च न तत्थ होइ गंतव्वं।
उप्पन्ने न वसियव्वं, एमेव गणी असारणीओ॥

जिस देश में अवमोदरिका, अशिव आदि होते हैं वहां नहीं जाना चाहिए। जिस देश में अवमोदरिका, अशिव आदि रहते हैं तो वहां नहीं रहना चाहिए। इसी प्रकार गच्छ की सारणा से विकल गणी का अनुगमन नहीं करना चाहिए।

९३९. सत्तण्हं वसणाणं, अन्नयरजुतो न जाणई रज्जं।
अंतेउरे व अच्छइ, कज्जाइं सयं न सीलेइ॥

जो राजा सात व्यसनों में से किसी एक व्यसन से भी युक्त होता है तो वह राज्य का परिपालन करना नहीं जानता। वह अंतःपुर में ही समय बिताता है तथा स्वयं कार्य का परिशीलन नहीं करता, उस राज्य की प्रजा उच्छृंखल हो जाती है।

९४०. इत्थी जूयं मज्जं, मिगव्व वयणे तहा फरुसया य।
दंडफरुसत्तमत्थस्स दूसणं सत्त वसणाइं॥

सात व्यसन ये हैं—स्त्रीव्यसन, द्यूतव्यसन, मद्यव्यसन, मृगयाव्यसन, वचनपरुषताव्यसन, दंडपारुष्यव्यसन, अर्थ-दूषणव्यसन।

९४१. अहवा वि अगीयत्थो, गच्छं न सारेइ इत्थ चउभंगो।
बिइए अगीयदोसो, तइतो न सारेतरो सुद्धो॥

अथवा अगीतार्थ गच्छ की सारणा नहीं करता, इस संबंध में चतुर्भंगी होती है—

१. अगीतार्थ गच्छ की सारणा नहीं करता।
२. अगीतार्थ गच्छ की सारणा करता है।
३. गीतार्थ गच्छ की सारणा नहीं करता।
४. गीतार्थ गच्छ की सारणा करता है।

प्रथम भंग में दो दोष—अगीतार्थत्वदोष, असारणत्वदोष।
द्वितीय भंग में एक दोष—अगीतार्थत्वदोष।
तृतीय भंग में एक दोष—असारणत्वदोष।
चतुर्थ भंग—शुद्ध है।

९४२. देसो व सोवसग्गो, पढमो तइओ तु होइ वसणी वा।
बिइओ अजाणतुल्लो, सारो दुविहो दुहेक्केक्को॥

प्रथम भंगवर्ती आचार्य सोपसर्ग देश की भांति परित्याज्य है। तृतीय भंगवर्ती आचार्य व्यसनी राजा की भांति परिहर्तव्य है। द्वितीय भंगवर्ती आचार्य भी अज्ञनरेन्द्र की भांति त्याज्य है।

सार दो प्रकार का होता है—लौकिक और लोकोत्तर। ये दोनों दो-दो प्रकार के हैं—बाह्य और आभ्यन्तर।

९४३. गो-मंडल-धन्नाई, बज्झो कणगाइ अंतो लोगम्मि।
लोगुत्तरिओ सारो, अंतो बहि नाण-वत्थाई॥

गोवर्ग, मंडल—देश का खंड, धान्य आदि—यह लौकिक बाह्यसार है। कनक आदि लौकिक अन्तःसार है। लोकोत्तर सार भी दो प्रकार का है—अन्तर् और बाह्य। अन्तर् सार है ज्ञान आदि और बाह्यसार है—वस्त्र आदि।

९४४. सुहसाहगं पि कज्जं, करणविहूणमणुवायसंजुत्तं।
अन्नायऽदेस-काले, विवत्तिमुवजाति सेहस्स॥

सुखसाध्य कार्य भी यदि करण अर्थात् प्रयत्न विहीन होता है या अनुपाय से संयुक्त होता है, या कार्य अज्ञात हो, अदेश-काल—अनवसर में उसको किया जाए तो शैक्ष अर्थात् अज्ञ व्यक्ति के लिए वह विपत्ति का कारण बनता है, वह कार्य सिद्ध नहीं होता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९४५. नक्खेणावि हु छिज्जइ, पासाए अभिनवुट्ठितो रुक्खो।
दुच्छेज्जो वड्ढंतो, सो च्चिय वत्थुस्स भेदाय॥
९४६. जो य अणुवायछिन्नो, तस्सइ मूलाइं वत्थुभेदाय।
अहिनव उवायछिन्नो, वत्थुस्स न होइ भेदाय॥

प्रासाद में तत्काल उगा हुआ वट-पिप्पल आदि वृक्ष को नखों से भी छेदा जा सकता है और जब वह वृक्ष बड़ा हो जाता है तब वह दुश्छेद्य हो जाता है। वह वास्तु अर्थात् प्रासाद को ही भेद देता है।

जो अनुपाय से छेदा जाता है, उसके मूल आदि अनुद्धृत्य रह जाते हैं तो वे भी प्रासाद को भेद डालते हैं। जो वृक्ष अभिनव है, उपाय से छिन्न है, वह प्रासाद-भेद के लिए नहीं होता।

९४७. पडिसिद्ध त्ति तिगिच्छा, जो उ न कारेइ अभिनवे रोगे।
किरियं सो उ न मुच्चइ, पच्छा जत्तेण वि करेंतो॥
९४८. सहसुप्पइअम्मि जरे, अट्ठम काऊण जो वि पारेइ।
सीयल-अंबदवाणी, न हु पउणइ सो वि अणुवाया॥

कोई मुनि अभिनव रोग में यह सोचकर तत्काल चिकित्सा नहीं कराता क्योंकि मुनि के लिए चिकित्सा कराना प्रतिषिद्ध है, वह मुनि रोग के बढ़ने पर प्रयत्नपूर्वक चिकित्सा कराने पर भी रोग से मुक्त नहीं हो सकता।

इसी प्रकार सहसा उत्पन्न ज्वर में वह तेले की तपस्या कर शीतलकूर (वासी भोजन), आम्लद्रव आदि से पारणा करता है वह भी अनुपाय अर्थात् सही उपाय के अभाव में रोगमुक्त नहीं होता, स्वस्थ नहीं होता।

९४९. संपत्ती य विपत्ती, य होज्ज कज्जेसु कारगं पप्प।
अणुवायतो विवत्ती, संपत्ती कालुवाएहिं॥

कर्त्ता के आधार पर कार्य में संपत्ति और विपत्ति आती है। अनुपाय से किए हुए कार्य में विपत्ति आती है और काल और उपाय से किए हुए कार्य की संप्राप्ति-सिद्धि होती है।

९५०. इय दोसा उ अगीए, गीयम्मि उ कालहीणकारिम्मि।
गीयत्थस्स गुणा पुण, होंति इमे कालकारिस्स॥

यदि कार्य करने वाला अगीतार्थ हो तो ये सारे दोष होते हैं। गीतार्थ होने पर भी जो काल की हीनता या अधिकता में कार्य करता है तो भी ये ही दोष होते हैं। जो कालकारी गीतार्थ होता है उनमें ये निम्नोक्त गुण होते हैं।

९५१. आयं कारण गाढं, वत्थुं जुत्तं ससत्ति जयणं च।
सव्वं च सपडिवक्खं, फलं च विधिवं वियाणाइ॥

आय-लाभ, कारण, आगाढ़ग्लानता, वस्तु, युक्त, सशक्तिक-समर्थ तथा यतना-इन सभी को तथा इनके प्रतिपक्षी सभी गुणों को गीतार्थ जानता है और वह उनके फल-परिणाम को भी जानता है।

९५२. सुंकादीपरिसुद्धे, सइ लाभे कुणइ वाणिओ चिट्ठं।
एमेव य गीयत्थो, आयं दुट्ठं समायरइ॥

यदि वणिक् को शुल्क आदि से परिशुद्ध लाभ होता है तो वह वाणिज्य करने की चेष्टा करता है। इसी प्रकार गीतार्थ मुनि भी ज्ञान आदि का लाभ देखकर प्रतिसेवना करता है।

९५३. असिवाईसुंकत्थाणिएसु किंचिरखलियस्स तो पच्छा।
वायण वेयावच्चे, लाभो तव-संजम-ऽज्झयणे॥

प्रतिसेवना के समय गीतार्थ यह सोचता है कि अशिव आदि शुक्लस्थानीय हैं। प्रतिसेवना करने वाला संयमस्थान से स्खलित हो जाता है। किन्तु अशिव आदि के बीतने के पश्चात् वाचना देता हुआ तथा आचार्य आदि की वैयावृत्त्य करता हुआ वह तप, संयम तथा अध्ययन में उद्यम करता हुआ वह लाभ का भागी होता है। प्रतिसेवना की शुद्धि प्रायश्चित्त से हो जाएगी।

९५४. नाणाइतिगस्सऽट्ठा, कारण निक्कारणं तु तव्वज्जं।
अहिडक्क विस विसूइय, सज्जक्खयसूलमागाढं॥

गीतार्थ मुनि कारण में ही प्रतिसेवना का समाचरण करता है, निष्कारण नहीं। कारण है-ज्ञान, दर्शन और चारित्र-इस त्रिपदी के लिए। इनको वर्जित कर जो प्रतिसेवना की जाती है, वह निष्कारण होती है।

सर्प द्वारा डसा जाना, विषमिश्रित भक्तपान कर लेना, विसूचिका का होना, सद्यः क्षयकारी शूल आदि का होना-ये सारा आगाढ़ कारण है। चिरघाती रोग अनागाढ़ कारण है।

९५५. आयरियाई वत्थुं, तेसिं चिय जुत्त होइ जं जोग्गं।
गीय परिणामगा वा, वत्थुं इयरे पुण अवत्थुं॥

आचार्य, गीतार्थ, परिणामक-ये वस्तु कहलाते हैं। इनसे इतर अर्थात् प्रतिपक्षभूत दूसरे सभी अवस्तु कहलाते हैं। जो वस्तुभूत हैं वे स्वयं प्रतिसेवना करते हैं अथवा करवाते हैं, वे उसके ज्ञाता होते हैं। इनके लिए जो योग्य भक्त-पान आदि होता है वह युक्त है, उससे विपरीत अयुक्त है। इस युक्त-अयुक्त को गीतार्थ ही जान सकता है, दूसरा नहीं।

९५६. धिइ सारीरा सत्ती, आय-परगता उ तं न हावेति।
जयणा खलु तिपरिरया, अलंभे पच्छा पणगहाणी॥

शक्ति दो प्रकार की होती है-धृतिरूप और शारीरिकी। धृतिशक्ति आत्मगत होती है और शारीरिकी शक्ति परगत अर्थात् संहननगत होती है। आचार्य अथवा गीतार्थ मुनि उस शक्ति को न्यून नहीं करता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यहां यतना है—विपरिरया। परिरय का अर्थ है—चारों ओर परिभ्रमण। मुनि एषणीय आहार प्राप्ति के लिए ग्राम आदि में तीन बार परिभ्रमण करे। लाभ न होने पर पंचकपरिहानि (प्रायश्चित्तविधि) से प्राप्ति का प्रयत्न करे।

९५७. इह-परलोगे य फलं, इह आहाराइ इक्कमेक्कस्स।
सिद्धी सग्ग सुकुलता, फलं तु परलोइयं एयं॥

फल दो प्रकार का होता है—इहलोकफल और परलोकफल। इहलोकफल है—आहार, वस्त्र, पात्र आदि की उपलब्धि और परलोकफल है—सिद्धिगमन, स्वर्गगमन, सुकुलोत्पत्ति। इन दोनों प्रकार के फलों की स्वयं को तथा पर को कैसे प्राप्ति हो, इस चिंतन का गीतार्थ समाचरण करता है।

९५८. खेत्तोयं कालोयं, करणमिणं साहओ उवाओऽयं।
कत्त त्ति य जोगि त्ति य, इय कडजोगी वियाणाहि॥

गीतार्थ प्रतिसेवना करते-कराते हुए भी अप्रायश्चित्ती होता है, क्योंकि वह ओजा होता है, अरक्त-द्विष्ट होकर वैसे करता है। ओजा वह होता है जो मध्यस्थ होता है।[1] क्षेत्रौजा—मार्ग आदि में ओजा। कालौजा—दुर्भिक्ष आदि में ओजा। क्षेत्र और काल के अनुसार प्रतिसेवना करने वाला दूषित नहीं होता। गीतार्थ जानता है कि यह करण है—सम्यक् क्रिया है। यह ज्ञान, दर्शन, चारित्र का साधक उपाय है। जो कर्त्ता और योगी होता है, उसे कृतयोगी अर्थात् गीतार्थ जानना चाहिए।

९५९. ओयब्भूतो खित्ते, काले भावे य जं समायरइ।
कत्ता उ सो अकोप्पो, जोगीव जहा महावेज्जो॥

जो ओजभूत अर्थात गीतार्थ होता है वह क्षेत्र, काल और भाव को जानकर जो कुछ समाचरण करता है वह पूर्ण चिंतन करने वाला कर्त्ता और अकोप्य—अकोपनीय, अदूषणीय होता है। जैसे—महावैद्य वैद्यकशास्त्र के अनुसार चिकित्सा करता हुआ योगी—धन्वन्तरी की तरह श्लाघ्य होता है। (धन्वन्तरी ने अष्टांग आयुर्वेद की रचना की। उसका यथा-विधि अध्ययन करने वाला महावैद्य कहलाता है। वह आयुर्वेद के अनुसार चिकित्सा करता हुआ धन्वन्तरी की तरह श्लाघ्य होता है, दूषणभाक् नहीं होता।

९६०. अहवण कत्ता सत्था, न तेण कोविज्जती कयं किंचि।
कत्ता इव सो कत्ता, एवं जोगी वि नायव्वो॥

अहवण[2]—अथवा कर्त्ता हैं तीर्थंकर। वे जो कुछ करते हैं, वह सम्यक् ही होता है। इसी प्रकार गीतार्थ भी कर्त्ता—तीर्थंकर की भांति कर्त्ता होता है। वह कोपनीय नहीं होता। जैसे तीर्थंकर योगी होते हैं, वैसे ही वह भी योगी होता है, उसे भी योगी जानना चाहिए।

९६१. किं गीयत्थो केवलि, चउव्विहे जाणणे य गहणे य।
तुल्लेऽराग-दोसे, अणंतकायस्स वज्जणया॥

शिष्य ने पूछा—क्या गीतार्थ केवली होता है? आचार्य कहते हैं—हां, वह केवली तुल्य है। द्रव्य आदि के भेद से जो चार प्रकार का ज्ञान है, वह केवली और गीतार्थ- दोनों में होता है, एक-अनेक प्रलंबग्रहण विषयक विषम प्रायश्चित्त-दान, दोनों में राग-द्वेष का तुल्य अभाव तथा अनन्तकाय की वर्जना—दोनों करते हैं, दोनों की समान होती है।

९६२. सव्वं नेयं चउहा, तं वेइ जिणो जहा तहा गीतो।
चित्तमचित्तं मीसं, परित्तऽणंतं च लक्खणतो॥

सारा ज्ञेय चार प्रकार का है—द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतः और भावतः। इनको जिन—केवली जैसे जानता है वैसे ही गीतार्थ भी जानता है। जैसे केवली सचित्त, अचित्त, मिश्र, परीत्त और अनन्तकाय वनस्पति को लक्षण से जानते हैं, प्ररूपित करते हैं वैसे ही गीतार्थ मुनि भी जानता है, प्ररूपित करता है।

९६३. कामं[3] खलु सव्वन्नू, नाणेणऽहिओ दुवालसंगीतो।
पन्नत्तीइ उ तुल्लो, केवलनाणं जओ मूयं॥

यह अनुमत है कि द्वादशांगविद् श्रुतकेवली से सर्वज्ञ ज्ञान की अधिकता से स्तुत्य हैं। किन्तु प्रज्ञप्ति—प्रज्ञापना में दोनों तुल्य हैं। इससे आगे केवलज्ञान मूक है। इसका तात्पर्य है कि श्रुतकेवली के जो अविषयभूत हैं, उनको केवली जान सकता है, परंतु अप्रज्ञापनीय होने के कारण केवली भी उनके विषय में कुछ भी प्रज्ञापना नहीं कर सकते।

९६४. पन्नवणिज्जा भावा, अणंतभागो उ अणभिलप्पाणं।
पन्नवणिज्जाणं पुण, अणंतभागो सुअ निबद्धो॥

अनभिलाप्य अर्थात् अप्रज्ञापनीय भावों से प्रज्ञापनीय भाव अनन्तवें भाग में हैं। प्रज्ञापनीय भावों का अनन्तवां भाग श्रुत-निबद्ध है।

९६५. जं चउदसपुव्वधरा, छट्ठाणगया परोप्परं होंति।
तेण उ अणंतभागो, पन्नवणिज्जाण जं सुत्तं॥

---

१. ओजा—यो न रागे न द्वेषे किन्तु तुला-दंडवत् द्वयोरपि मध्ये प्रवर्त्तते स ओजा भण्यते। (वृ. पृ. ३०२)

२. 'अहवण' त्ति अखण्डमव्ययं अथवार्थे वर्त्तते। (वृ. पृ. ३०३)

३. काममनुमतावधृतार्थे, कामाभिधानमर्थद्वये भवति—कामार्थेऽवधृतार्थे च। (वृ. पृ. ३०३)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चतुर्दशपूर्वधर परस्पर षट्स्थानवर्ती होते हैं।[1] इसलिए प्रज्ञापनीयभावों का अनन्तवां भाग श्रुत (चतुर्दशपूर्वरूप) में निबद्ध है।

९६६. केवलविन्नेयत्थे, सुयनाणेणं जिणो पगासेइ।
सुयनाणकेवली वि हु, तेणेवऽत्थे पगासेइ॥

केवलज्ञान द्वारा जो अर्थ–पदार्थ विज्ञेय हैं, उनका 'जिन' अर्थात् केवली श्रुतज्ञान से प्रकाशन करता है। श्रुतज्ञानी केवली भी उन्हीं अर्थों का इसी श्रुतज्ञान के द्वारा प्रकाशन करता है। (अतः श्रुतकेवली और केवलज्ञानी–दोनों प्रज्ञापन की दृष्टि से तुल्य हैं।)

९६७. गूढछिरागं पत्तं, सच्छीरं जं च होइ निच्छीरं।
जं पि य पणट्ठसंधिं, अणंतजीवं वियाणाहि॥

जिस वनस्पति के सक्षीर या निःक्षीर पत्र गूढ़शिरा वाले होते हैं अर्थात् जिनके स्नायु गूढ़ होते हैं–अनुपलक्षित होते हैं तथा जो प्रनष्ट संधि वाले होते हैं, उसको अनन्तकायिक वनस्पति जानना चाहिए।

९६८. चक्कागं भज्जमाणस्स, गंठी चुण्णघणो भवे।
पुढविसरिसेण भेएणं, अणंतजीवं वियाणाहि॥

जिसके मूल आदि को तोड़ने पर चक्राकार टुकड़ा होता है और जिसकी ग्रंथी–पर्व को तोड़ने पर वह घनचूर्ण वाला होता है, पृथ्वीसदृश समभेद होता है, उसको अनन्तकायिक वनस्पति जानना चाहिए।

९६९. जस्स मूलस्स भग्गस्स, समो भंगो पदीसई।
अणंतजीवे उ से मूले, जे याऽवऽन्ने तहाविहे॥

जिसके मूल को तोड़ने पर समान टुकड़े होते हैं, वह मूल अनन्तकायिक वनस्पति है। जो अन्य अर्थात् स्कंध आदि हैं, वे भी समभाग से टूटते हैं तो वे भी अनन्तकायिक हैं।

९७०. जस्स मूलस्स भग्गस्स, हीरो भंगे पदिस्सए।
परित्तजीवे उ से मूले, जे याऽवऽन्ने तहाविहे॥

जिस वनस्पति के मूल को भग्न करने पर 'हीर' अर्थात् तंतुकविशेष देखे जाते हैं, वह परीत्तजीवी मूल है। उसी प्रकार के अन्य स्कंध आदि भी परीत्तजीवी वनस्पति हैं।

९७१. जस्स मूलस्स कट्ठातो, छल्ली बहलतरी भवे।
अणंतजीवा उ सा छल्ली, जा याऽवऽन्ना तहाविहा॥

जिसके मूल से संबंधित काष्ठ से छल्ली–छाल स्थूल होती है (जैसे–शतावरी) वह छल्ली अनन्तकायिक होती है। जो इस प्रकार की अन्य वनस्पति होती है, वह भी अनन्तकायिक है।

९७२. जस्स मूलस्स कट्ठातो, छल्ली तणुयतरी भवे।
परित्तजीवा तु सा छल्ली, जा याऽवऽण्णा तहाविहा॥

जिसके मूल से संबंधित काष्ठ से छाल तनुक–श्लक्ष्ण होती है वह छाल परीत्तजीवी है, (जैसे आम्र)। जो उसी प्रकार की अन्य छाल होती है वह भी परीत्तजीवी है।

९७३. जोअणसयं तु गंता, अणहारेणं तु भंडसंकंती।
वाया-ऽगणि-धूमेण य, विद्धत्थं होइ लोणाई॥

लवण आदि अपने उत्पत्ति स्थान से संक्रामित होकर अन्यत्र ले जाया जाता हुआ, प्रतिदिन विध्वस्त होता हुआ, सौ योजन के पश्चात् पूर्ण विध्वस्त हो जाता है, अचित्त हो जाता है। इसके और भी अनेक कारण हैं। उसे अनाहार अर्थात् स्वयोग्य आहार नहीं मिलता। भांडसंक्रांती–एक बर्तन से दूसरे बर्तन में डाला जाता हुआ अथवा एक शकट से दूसरे शकट में भरा जाता हुआ वह अचित्त हो जाता है। तथा वायु, अग्नि और धूम से भी वह अचित्त हो जाता है।

९७४. हरियाल मणोसिल पिप्पली य खज्जूर मुद्दिया अभया।
आइन्नमणाइन्ना, ते वि हु एमेव नायव्वा॥

लवण की भांति हरिताल, मनःशिला, पिप्पली, खजूर, दाख, अभया–हरड (हरीतकी)–ये भी योजनशतगमन आदि कारणों से अचित्त हो जाते हैं। ये दोनों प्रकार के हैं–आचीर्ण और अनाचीर्ण। (इनमें पिप्पली, हरीतकी आदि आचीर्ण माने जाते हैं, वे ग्राह्य हैं। खजूर, द्राक्षा आदि अनाचीर्ण हैं। वे ग्राह्य नहीं हैं।)

९७५. आरुहणे ओरुहणे, निसियण गोणादिणं च गाउम्हा।
भुम्माहारच्छेदे, उवक्कमेणं च परिणामो॥

(सामान्यतः सभी वस्तुओं के परिणमन का कारण)

शकट, बैल आदि के पीठ पर लवण आदि को लादना, उतारना, यह क्रिया बार-बार करने पर तथा लवण आदि के थैलों पर मनुष्य के बैठने के कारण शरीर की उष्मा से तथा बैल आदि के शरीर की उष्मा से वह लवण विध्वस्त हो जाता है। जो जिसका भूमी आदि से संबंधित आहार है, उसका व्यवच्छेद होने पर, वह उन जीवों के विनाश का उपक्रम–शस्त्र बन जाता है। यही परिणाम है।

---

१. प्रश्न होता है कि सभी चतुर्दशपूर्वियों को समान अक्षरलाभ होने पर भी षट्स्थानपतित्व कैसे उचित हो सकता है? आचार्य कहते हैं–एक ही सूत्र के अनन्त, असंख्य और संख्य अर्थ मतिविशेषगत हैं। वे श्रुतज्ञान के आभ्यन्तरवर्ती होते हैं। अतः परस्पर षट्स्थानपतित्व विरुद्ध नहीं है। कहा भी है–

अक्खरलंभेण समा, ऊणहिया हुंति मइविसेसेहिं।
ते पुण मईविसेसे, सुयनाणब्भंतरे जाण॥
(विशेषावश्यक भाष्य गाथा १४३)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९७६. चोएई वणकाए, पगए लोणादियाण किं गहणं।
आहारेणऽहिगारो, तस्सुवकारी अतो गहणं॥

शिष्य ने पूछा—वनस्पति के प्रकरण में लवण आदि का ग्रहण क्यों किया गया? आचार्य ने कहा—सूत्र में आहार का अधिकार था। आहार का उपकारी है लवण। इसलिए उसका ग्रहण किया गया है।

९७७. छहिं निप्फज्जइ सो ऊ, तम्हा खलु आणुपुव्वि किं न कया।
पाहन्न बहुयत्तं, निप्फत्ति सुहं च तो न कमो॥

शिष्य ने पुनः पूछा—आहार की निष्पत्ति छह जीवनिकायों से होती है तो फिर आनुपूर्वी से छहों कायों का उल्लेख सूत्र में गृहीत क्यों नहीं है? आचार्य ने कहा—प्रधानरूप से तथा बहुलता से तथा सहजता या सुखपूर्वक वनस्पति ही आहार की निष्पत्ति में कारणभूत होती है, वैसे पृथ्वी आदि काय नहीं होते। इसलिए सूत्र में वनस्पति का ही उल्लेख हुआ है।

९७८. उप्पल-पउमाइं पुण, उण्हे दिन्नाइं जाम न धरिंती।
मोग्गरग-जूहियाओ, उण्हे छूढा चिरं होंति॥

९७९. मगदंतियपुप्फाइं, उदए छूढाइं जाम न धरिंती।
उप्पल-पउमाइं पुण, उदए छूढा चिरं होंति॥

उत्पल और पद्म आतप में रखने पर प्रहरमात्र भी जीवित नहीं रह सकते। वे प्रहर से पहले ही अचित्त हो जाते हैं। मुद्गर-मगदन्तिका के पुष्प तथा यूथिका के पुष्प (उष्ण-योनिक होने के कारण) आतप में रखने पर भी चिरकाल तक सचित्त रह सकते हैं। मगदन्तिका के पुष्प उदक में डालने पर प्रहरमात्र भी सचित्त नहीं रह सकते। उत्पल और पद्म (उदकयोनिक होने के कारण) चिरकाल तक भी उदक में सचित्त रह सकते हैं।

९८०. पत्ताणं पुप्फाणं, सरडुफलाणं तहेव हरियाणं।
विंटम्मि मिलाणम्मी, नायव्वं जीवविप्पजढं॥

पत्र, पुष्प, सरडुफल (वह फल जिसमें अभी तक गुठली नहीं पड़ी है) तथा हरित (तरुण वनस्पति) का वृंत म्लान हो जाने पर जान लेना चाहिए कि वे जीवविप्रमुक्त हो गए हैं।

९८१. चउभंगो गहण पक्खेवए अ एगम्मि मासियं लहुयं।
गहणे पक्खेवम्मिं, होंति अणेगा अणेगेसु॥

ग्रहण और प्रक्षेपण की चतुर्भंगी है[1]—

१. एक का ग्रहण एक प्रक्षेपक
२. एक का ग्रहण अनेक प्रक्षेपक
३. अनेक का ग्रहण एक प्रक्षेपक
४. अनेक का ग्रहण अनेक प्रक्षेपक।

इनका प्रायश्चित्त अनेक प्रकार का है। एक का ग्रहण और एक प्रक्षेपक में प्रत्येक का प्रायश्चित्त है एक मासलघु। अनेक ग्रहण और अनेक प्रक्षेपकों में अनेक मासलघु का प्रायश्चित्त आता है। यह प्रायश्चित्त जैसे केवली जानता है, वैसे ही गीतार्थ भी जानता है।

९८२. पडिसिद्धा खलु लीला, बिइए चरिमे य तुल्लदव्वेसु।
निद्दयता वि हु एवं, बहुघाए एगपच्छित्तं॥

शिष्य ने कहा—लीला से ही—ऐसे वैसे ही यह प्रतिषेध है, जीवोपघात के आधार पर नहीं। तुल्यद्रव्य अर्थात् प्रलंब फलों का तुल्य जीवत्व होने पर भी दूसरे भंग में एक फल का और चरमभंग में अनेक फलों का अनेक बार प्रक्षेपक होने के कारण अनेक मासिक का प्रायश्चित्त देते हैं और तीसरे भंग में अनेक फलों का ग्रहण, परंतु एक प्रक्षेपक के आधार पर एक लघुमास का प्रायश्चित्त देते हैं। यह राग-द्वेष नहीं है क्या? बहुघात में एक लघुमास का प्रायश्चित्त है, क्या यह निर्दयता नहीं है?

९८३. चोयग! निद्दयतं चिय,
णेच्छंता विडसणं पि नेच्छामो।
निव मिच्छ छगल सुरकुड,
मता-ऽमताऽऽलिंप भक्खणता॥

शिष्य! हम निर्दयता भी नहीं चाहते और विदशन[2]-आस्वाद के लिए थोड़ा-थोड़ा भक्षण भी नहीं चाहते। यहां दो म्लेच्छों का दृष्टांत है—

एक राजा के दो म्लेच्छ सेवक थे। राजा ने तुष्ट होकर दोनों को एक-एक मदिरा घट और एक-एक छगल दिया। एक म्लेच्छ ने छगल को मारकर दो-चार दिन में उसका भक्षण कर दिया। दूसरा म्लेच्छ उसके एक-एक अंग का छेदन कर लवण आदि से आलेपन कर खाता है। कुछ दिनों बाद वह छगल मर जाता है। प्रथम म्लेच्छ का एक प्रहार से एक वध और दूसरे म्लेच्छ के जितने छेदन-भेदन से छगल मरता है, उतने वध हुए। लोक में वह अधिक पापी माना जाता है।[3]

९८४. अच्चित्ते वि विडसणा, पडिसिद्धा किमु सचेयणे दव्वे।
कारणे पक्खेवम्मि उ, पढमो तइओ अ जयणाए॥

अचित्त द्रव्य विषयक विदशना (टुकड़े-टुकड़े कर स्वाद लेकर खाना) भी प्रतिषिद्ध है तो फिर सचित्त द्रव्य विषयक विदशना का तो कहना ही क्या! यदि कारण में सचित्त द्रव्य का प्रक्षेपण होता है तो वह प्रथमभंग (एक ग्रहण, एक

१. ग्रहण—प्रलंब आदि का ग्रहण। प्रक्षेपण—मुंह में डालना।
२. विडसणा णाम आसादेंतो थोवं थोवं खायइ। (बृ. पृ. ३०९)
३. देखें कथा परिशिष्ट, नं. ४२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रक्षेपक) की तरह हो, और तृतीय भंगवर्ती (अनेक ग्रहण, एक प्रक्षेपक) हो तो वह यतनापूर्वक होनी चाहिए।

९८५. पायच्छित्ते पुच्छा, उच्छुकरण महिड्ढि दारु थली य दिट्ठंतो।
चउत्थपदं च विकडुभं पलिमंथो चेवऽणाइन्नं॥

प्रायश्चित्त पृच्छा। इक्षुकरण, महर्द्धिक, दारु, स्थली—ये दृष्टांत हैं। चतुर्थपद, विकटुभ, परिमंथ और अनाचीर्ण—यह द्वार गाथा है। (व्याख्या आगे।)

९८६. चोएइ अजीवत्ते, तुल्ले कीस गुरुगो अणंतम्मि।
कीस य अचेयणम्मी, पच्छित्तं दिज्जए दव्वे॥

शिष्य ने पूछा—परीत्त और अनन्तवनस्पति में (तृतीय और चतुर्थ भंग में) अजीवत्व तुल्य होने पर भी अनन्त वनस्पति में गुरुमास और परीत्त वनस्पति में लघुमास का प्रायश्चित्त क्यों? अचेतन द्रव्य विषयक प्रायश्चित्त क्यों?

९८७. साऊ जिणपडिकुट्ठो, अणंतजीवाण गायनिप्फन्नो।
गेही पसंगदोसा, अणंतकाए अतो गुरुगो॥

परीत्त से अनन्त वनस्पति स्वादु होती है, अतः तीर्थंकरों ने इसको प्रतिषिद्ध माना है। इसके प्रतिषेध के अनेक कारण हैं-वह अनन्तजीवों के शरीर से निष्पन्न होता है। स्वादु होने के कारण गृद्धि होती है। उसके प्रसंग से अनेषणीय ग्रहण का दोष भी होता है। अतः अचित्त अनन्तकाय के ग्रहण में गुरुमास का प्रायश्चित्त है।

९८८. न वि खाइयं न वि वइं, न गोण-पहियाइए निवारेइ।
इति करणभई छिन्नो, विवरीय पसत्थुवणओ य॥

एक कौटुंबिक ने ईक्षु रोपे। उसने अपने खेत के चारों ओर न खाई खोदी, न बाड़ लगाई, न गाय-बैल तथा पथिकों को उसमें प्रवेश करने से निवारण किया, उसका सारा खेत विनष्ट हो गया। इससे कर्मकरों की भृति का उच्छेद हो गया। इस प्रकार वह कौटुंबिक छिन्न हो गया—विनष्ट हो गया। इसके विपरीत प्रशस्त उपनय वक्तव्य है। जिस कौटुंबिक ने अपने इक्षु वाटक के चारों ओर खाई खुदवाई, बाड़ लगवाई, पशु और मनुष्यों का प्रवेश निवारित किया, उसके कर्मकरों की भृति का उच्छेद नहीं हुआ और उसे वाटिका से प्रचुर लाभ मिला।[1] दोनों दृष्टांतों का उपनय आगे के दो श्लोकों में)

९८९. को दोसो दोहिं भिन्ने, पसंगदोसेण अणरुई भत्ते।
भिन्नाभिन्नग्गहणे, न तरइ सजिए वि परिहरिउं॥

किसी शिष्य ने पूछा—द्रव्य और भाव—दोनों से भिन्न प्रलंबग्रहण में क्या दोष है? प्रलंब के रसास्वादन में लुब्ध होकर वह मुनि प्रसंगदोष से उसे तद्रिक्त भक्त अरुचिकर लगने लगता है। फिर उसमें भिन्नाभिन्न के ग्रहण में विवेक नहीं रहता। वह सचित्त प्रलंबग्रहण का परिहार करने में भी समर्थ नहीं होता।

९९०. छड्डाविय-कयदंडे, न कमेति मती पुणो वि तं घेत्तुं।
न य से वड्ढइ गेही, एमेव अणंतकाए वि॥

आचार्य ने शिष्य को प्रलंबग्रहण का त्याग करवा दिया और गृहीत के लिए दंड भी दिया। अब न उसमें प्रलंबग्रहण की मति होती है और न वह उसे पुनः ग्रहण करता है, न उसकी गृद्धि बढ़ती है। इसी प्रकार अनन्तकाय के विषय में भी जानना चाहिए।

९९१. कन्नंतेपुर ओलोयणेण अनिवारियं विणट्ठं तु।
दारुभरो य विलुत्तो, नगरद्दारे अवारितो॥
९९२. बितिएणोलोयंती, सव्वा पिंडित्तु तालिता पुरतो।
भयजणणं सेसाण वि, एमेव य दारुहारी वि॥

राजा का कन्यान्तःपुर था। वे कन्याएं झरोखे से बाहर झांकती थीं। उनको कोई निवारित नहीं करता। वे सब विनष्ट हो गईं।

लकड़ियों से भरा एक शकट नगरद्वार में प्रवेश कर रहा था। एक लकड़ी नीचे गिरी। एक लड़के ने उसे ले लिया। दूसरे लड़के ने शकट से एक लकड़ी खींच कर ले ली। किसी ने निवारित नहीं किया। सारा शकट खाली हो गया।

दूसरे अन्तःपुरपालक ने झरोखे से झांकती हुई कन्या को देखा। उसको अन्य कन्याओं के समक्ष ताड़ित किया। सबमें भय उत्पन्न हो गया।[2]

इसी प्रकार दारुहारी को डराया। सभी में भय उत्पन्न हुआ और शकट की सारी लकड़ियां बच गईं।

९९३. थलि गोणि सयं मुय भक्खणेण लद्धपसरा थलिं तु पुणो।
घातेसुं बितिएहिं उ, कोट्टग बंदिग्गह नियत्ती॥

स्थली अर्थात् देवद्रोणी से संबंधित गाएं गोचर में चली गईं। एक बूढ़ी गाय स्वयं मर गई। वहां के पुलिंदों ने उसे खा डाला। उसकी किसी ने वर्जना नहीं की। पुलिंदों का आना-जाना बढ़ा। उन्होंने स्थली को नष्ट कर डाला।

देवद्रोणी के अन्य परिचारकों ने कोट्टक-पुलिंद पल्ली में जाकर पल्ली को भग्न कर डाला और पुलिंदों की बंदीगृह में निवृत्ति कर दी। पल्ली के स्थान पर बंदीगृह बना डाला।[3]

९९४. विकडुभमग्गणे दीहं, च गोयरं एसणं च पिल्लिज्जा।
निप्पिसिय सोंड नायं, मुग्गछिवाडीए पलिमंथो॥

प्रलंबस्वादु मुनि को भक्तपान मिल जाने पर भी वह

१-३. देखें कथा परिशिष्ट, नं. ४३-४५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विकटुभ–शालनक की एषणा में दीर्घ गोचरी करता है और एषणीय न मिलने पर अनेषणीय का ग्रहण कर एषणा को दूषित करता है। यहां निःपिशित मद्यप का दृष्टांत है। मुद्गफली का परिमंथ। (व्याख्या आगे)

एक अमांसभक्षी पुरुष का मद्यपों के साथ संसर्ग था। मद्यपों ने कहा–मदिरा पीने में क्या दोष है? उन्होंने उसे सौगंध दिलाई। वह लज्जावश उनके साथ मद्य पीने लगा। पहले एकांत में पीता, फिर अनेक लोगों के बीच पीने लगा। कुछ लोगों ने कहा–मांस के बिना कैसा मद्यपान! दूसरों द्वारा मारे गए, जीव का मांस खाने में क्या दोष है? वह मांस खाने लगा। अब वह मांस खाने में अभ्यस्त हो गया। वह स्वयं जीवों को मारकर मांस खाने लगा। उसके मन की घृणा निकल गई।[1]

जैसे मद्यप मांसभक्षण के बिना नहीं रह सकता, वैसे ही प्रलंबरस में गृद्ध मुनि को प्रलंब के बिना भक्तपान रुचिकर नहीं लगता। वह एक दिन भी उसके बिना नहीं रह सकता। फिर अभ्यस्त हो जाने पर वह स्वयं वृक्ष से प्रलंब तोड़कर अपनी आदत पूरी करता है।

एक राजा शिकार करने जा रहा था। उसने देखा कि एक खेत में एक स्त्री मूंग की कोमलफलियों को खा रही है। शिकार से लौटते समय भी उस स्त्री को उसी खेत में फली खाते देखा। उसके मन में प्रश्न हुआ कि इसने कितनी फलियां खा ली होंगी? उसका पेट फाड़ डाला। उसमें केवल फेनरस देखा।[2]

९९५. अवि य हु सव्व पलंबा, जिण-गणहरमाइएहऽणाइन्ना।
लोउत्तरिया धम्मा, अणुगुरुणो तेण ते वज्जा॥

पूर्व दूषणों के अतिरिक्त सभी प्रलंबों (सचित्त-अचित्त या मूल-कंद आदि दस प्रकार के) को तीर्थंकरों ने, गणधरों ने तथा अन्यान्य आचार्यों ने अनाचीर्ण माना है। लोकोत्तरिक जो धर्म हैं वे अनुगुरु अर्थात् पूर्वगुरुओं के द्वारा जैसे आचरित होते हैं पश्चानुवर्ती को भी उनका वैसा ही आचरण करना होता है। इसीलिए प्रलंब वर्जनीय हैं।

९९६. कामं खलु अणुगुरुणो, धम्मा तह वि हु न सव्वसाहम्मा।
गुरुणो जं तु अइसए, पाहुडियाई समुपजीवे॥

यह अनुमत है कि सभी धर्म अनुगुरु होते हैं, फिर भी वे सर्वसाधर्म्य की दृष्टि से नहीं, देशसाधर्म्य से ही वैसे होते हैं। गुरु अर्थात् तीर्थंकर प्राभृतिका (समवसरण की रचना) आदि अतिशयों का उपभोग करते हैं, इनमें अनुधर्मता नहीं होती।

९९७. सगड-दह-समभोमे, अवि य विसेसेण विरहियतरागं।
तह वि खलु अणाइन्नं, एसऽणुधम्मो पवयणस्स॥

जब भगवान् महावीर उदायनराजा को प्रव्रजित करने के लिए राजगृह नगर से सिन्धुसौवीर देश के वीतभयनगर की ओर प्रस्थित हुए तब मार्ग में अनेक मुनि क्षुधा, पिपासा और संज्ञा से बाधित हुए। जहां मार्ग में भगवान् आवासित हुए वहां तिलों से भरे हुए शकट, पानी से परिपूर्ण ह्रद और समभूमीभाग वाला स्थंडिल था। और ये तीनों शकट, ह्रद और स्थंडिल भूमी विशेषरूप से 'विरहिततराग' अत्यंत जीव रहित और निरवद्य थे। फिर भी भगवान् ने उनकी अनुज्ञा नहीं दी। यह प्रवचन का अनुधर्म था। इसीका आचरण करना चाहिए।

९९८. वक्कंतजोणि थंडिल, अतसा दिन्ना ठिई अवि छुहाए।
तह वि न गेण्हिंसु जिणो, मा हु पसंगो असत्थहए॥

जो तिलों से भरे हुए शकट थे, उनमें जो तिल थे वे 'व्युत्क्रांतयोनिक' अर्थात् अचित्त थे। वे स्थंडिलभूमी पर स्थित थे। वे त्रस जीवों से आक्रांत नहीं थे। वे तिल शकटस्वामी द्वारा दिए जा रहे थे। साधु क्षुधा से पीड़ित होकर मृत्यु को प्राप्त हो गए। फिर भी भगवान् महावीर ने उन तिलों को ग्रहण नहीं किया, ग्रहण करने की अनुज्ञा नहीं दी। अशस्त्रोपहत के ग्रहण का प्रसंग न बन जाए, इसलिए भगवान् ने ग्रहण नहीं किया। उन्होंने सोचा कि मेरा आलंबन लेकर मेरे शिष्य अशस्त्रोपहत ग्रहण करने न लग जाएं।

९९९. एमेव य निज्जीवे, दहम्मि तसवज्जिए दए दिन्ने।
समभोम्मे य अवि ठिती, जिमिता सन्ना न याऽणुन्ना॥

इसी प्रकार पानी से भरा हुआ ह्रद निर्जीव, त्रस प्राणियों से वर्जित, ह्रद स्वामी द्वारा दत्त था, फिर भी भगवान् ने उसके पानी की अनुज्ञा नहीं दी। तीसरे प्रहर में भोजन करने के पश्चात् भगवान् साधुओं के साथ एक अटवी में प्रविष्ट हुए। साधु संज्ञा से बाधित हुए। वहां समभौम भूमी थी। वह स्थंडिल भूमी यथास्थिति से क्षयप्राप्त व्युत्क्रांत योनि वाली अचित्त भूमी थी। वह त्रस प्राणियों से रहित थी। भगवान् ने उस स्थंडिल की अनुज्ञा नहीं दी। अनेक मुनि इस स्थिति में मृत्यु को प्राप्त हो जाएंगे, यह जानते हुए भी भगवान् ने अनुज्ञा नहीं की। अशास्त्रोपहत भूमी का प्रसंग न बन जाए, इसलिए। यह अनुधर्मता है।

१०००. एसेव गमो नियमा, निग्गंथीणं पि होइ नायव्वो।
सविसेसतरा दोसा, तासिं पुण गिण्हमाणीणं॥

यही समूचा 'गम'–प्रकार नियमतः साध्वियों के लिए भी

१-२. देखें कथा परिशिष्ट, नं. ४६-४७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जानना चाहिए। प्रलंब ग्रहण में उनके हस्तकर्म आदि के सविशेषतर दोष होते हैं।

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा
आमे तालपलंबे भिन्ने पडिगाहित्तए॥
(सूत्र २)

१००१. जइ वि निबंधो सुत्ते, तह वि जईणं न कप्पई आमं।
जइ गिण्हइ लग्गति सो, पुरिमपदनिवारिए दोसे॥

यद्यपि सूत्र में निबंध–प्रतिपादन है कि **'कल्पते भिन्नम्'**, फिर भी मुनियों को भिन्न किया हुआ अपक्व प्रलंब लेना नहीं कल्पता। यदि वह लेता है तो पूर्वपद में–पूर्वसूत्र में जो निवारित दोष हैं, वे उसको प्राप्त होते हैं।

१००२. सुत्तं तू कारणियं, गेलन्न-ऽद्धाण-ओममाईसु।
जह नाम चउत्थपदे, इयरे गहणं कहं होज्जा॥

यह सूत्र कारणिक है अर्थात् कारण में प्रयुज्यमान है। कारण ये हैं–ग्लानत्व, अध्वा, अवमौदर्य। जैसे चतुर्थपद अर्थात चतुर्थ भंग में ग्रहण है वैसे इतर भंगों–तीसरे, दूसरे और प्रथम भंग–में ग्रहण कैसे होगा?

१००३. पुव्वमभिन्ना भिन्ना, य वारिया कहमियाणि कप्पंति।
सुण आहरणं चोयग!, न कमति सव्वत्थ दिट्ठंतो॥
१००४. जइ दिट्ठंता सिद्धी, एवमसिद्धी उ आणगेज्झाणं।
अह ते तेसि पसिद्धी, पसाहए किन्नु दिट्ठंतो॥

शिष्य कहता है–पूर्वसूत्र में अभिन्न प्रलंबग्रहण प्रतिषिद्ध किया है, तब इस सूत्र में उनको ग्रहण करना कल्पता है, यह कैसे कहा गया? आचार्य कहते हैं–वत्स! तुम एक दृष्टांत सुनो। तब शिष्य पुनः बोला–भंते! दृष्टांत सर्वत्र अर्थ का प्रतिपादक नहीं होता। और यदि दृष्टांतों से अर्थसिद्धि होती है तो फिर आज्ञा ग्राह्य विषय जैसे निगोद, भव्य, अभव्य आदि की असिद्धि का प्रसंग उपस्थित होगा। यदि तुम्हारी आज्ञा से उनकी प्रसिद्धि है तो दृष्टांत से अर्थसिद्धि क्यों करते हैं?

१००५. कप्पम्मि अकप्पम्मि य, दिट्ठंता जेण होंति अविरुद्धा।
तम्हा न तेसि सिद्धी, विहि-अविहिविसोवभोग इव॥

जिन कारणों से कल्प्य और अकल्प्य में दृष्टांत अविरुद्ध होते हैं अर्थात् दृष्टांत के आधार पर कल्प्य को अकल्प्य और अकल्प्य को कल्प्य किया जा सकता है। अतः दृष्टांतों से अर्थ की सिद्धि नहीं होती। दृष्टांत के बल पर जो स्वयं को इष्ट हो उसे प्रसाधित किया जा सकता है। जैसे–विधिपूर्वक विषभक्षण करना दोषप्रद नहीं होता। अविधिपूर्वक विष का उपभोग करना महान् अनर्थ का हेतु होता है।

१००६. असिद्धी जइ नाएणं, नायं किमिह उच्यते।
अह ते नायतो सिद्धी, नायं किं पडिसिज्झती॥

शिष्य के द्वारा इतना कहने पर आचार्य कहते हैं–यदि दृष्टांत से अर्थ की असिद्धि होती है तो तुमने यहां विष का दृष्टांत क्यों दिया? यदि तुम्हारे दृष्टांत से अर्थ की सिद्धि होती है तो फिर तुम हमारे द्वारा प्रस्तुत दृष्टांत का प्रतिषेध क्यों करते हो?

१००७. अंधकारो पदीवेण, वज्जए न उ अन्नहा।
तहा दिट्ठंतिओ भावो, तेणेव उ विसुज्झई॥

अंधकार का वर्जन प्रदीप के द्वारा ही होता है, अन्यथा नहीं। वैसे ही दार्ष्टान्तिक (दृष्टान्तग्राह्य) भाव, दृष्टांत के द्वारा ही निर्मल होता है, स्पष्ट होता है।

१००८. एसेव य दिट्ठंतो, विहि-अविहीए जहा विसमदोसं।
होइ सदोसं च तथा, कज्जितर जया-ऽजय फलाई॥

वत्स! तुम्हारे द्वारा प्रस्तुत दृष्टांत हम प्रस्तुत सूत्रार्थ में अवतरित करते हैं। तुमने कहा था–विधिपूर्वक विष का उपभोग करना सदोष नहीं होता और अविधि से उपभुक्त वही विष दोषप्रद हो जाता है। इसी प्रकार कार्य के उपस्थित होने पर यतनापूर्वक फल आदि का आसेवन करना दोषप्रद नहीं होता तथा अकार्य में अयतनापूर्वक उनका सेवन दोषप्रद होता है।

१००९. आयुहे दुन्निसट्ठम्मि, परेण बलसा हिए।
वेताल इव दुज्जुत्तो, होइ पच्चंगिराकरो॥

किसी व्यक्ति ने आयुध को दुर्निसृष्ट–अविधिपूर्वक फेंका अथवा किसी ने उस आयुध का बलपूर्वक[1] अपहरण कर लिया, तो उसी आयुध से उस फैंकने वाले का प्रतिघात होता है। जैसे–दुर्युक्त अर्थात् दुःसाधित वेताल उस साधक के लिए 'प्रत्यंगिराकर' अर्थात् अपकारकारी हो जाता है। (वैसे ही तुमने जो विषदृष्टांत दिया, वह दुष्प्रयुक्त होने के कारण तुम्हारे पक्ष का उपहनन करने वाला हो गया।)

१०१०. निरुतस्स विकडुभोगो, अपत्थओ कारणे य अविहीए।
इय दप्पेण पलंबा, अहिया कज्जे य अविहीए॥

स्वस्थ व्यक्ति के लिए कटुक औषधि का उपयोग तथा रोग आदि में उसका अविधि से उपयोग–यह दोनों के लिए अपथ्य अर्थात् अहितकर होता है। इसी प्रकार दर्प से अर्थात् बिना किसी कारण के प्रलंब का आसेवन करना अहितकर–

१. बलसा–छान्दसत्वात् बलात्कारेण इत्यर्थः। (वृ. पृ. ३१७)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संसार को बढ़ाने वाला होता है तथा कार्य में अर्थात् अवमौदर्य आदि में अविधि से गृहीत प्रलंब भी अहितकर होते हैं।

१०११. जइ कुसलकप्पिताओ, उवमाओ न होज्ज जीवलोगम्मि।
छिन्नब्भं पिव गगणे, भमिज्ज लोगो निरुवमाओ॥

यदि इस जीव लोक में कुशल व्यक्तियों द्वारा रचित उपमाएं-दृष्टांत न हों तो आकाश में छिन्न-भिन्न बादलों की भांति यह लोक निरूपमाक-दृष्टांतविकल होकर इधर-उधर भ्रमण करने लग जायेगा। वह किसी अर्थ का निर्णय नहीं कर पायेगा।[1]

१०१२. मरुएहि य दिट्ठंतो, कायव्वो चउहिं आणुपुव्वीए।
एवमिहं अद्धाणे, गेलन्ने तहेव ओमम्मि॥

चार मरुकों का यहां अनुपूर्वी से दृष्टांत कहना चाहिए। इस प्रकार मरुक दृष्टांत के अनुसार अध्वा, ग्लानत्व तथा अवमौदर्य में जानना चाहिए।

१०१३. चउमरुग विदेसं साहुपारए सुणग रन्न सत्थवहे।
ततियदिण पूतिमुदगं, पारगो सुणयं हणिय खामो॥

१०१४. परिणामओऽत्थ एगो, दो अपरिणया तु अंतिमो अतीव।
परिणामो सद्दहती, कन्नऽपरिणमतो मतो बितितो॥

१०१५. तइओ एयमकिच्चं, दुक्खं मरिउं ति तं समारद्धो।
किं एच्चिरस्स सिट्ठं, अइपरिणामोऽहियं कुणति॥

१०१६. पच्छित्तं खु वहिज्जह, पढमो अहालहुस धाडितो तइतो।
चउथो अ अतिपसंगा, जाओ सोवागचंडालो॥

चार मरुक विदेश जाने के लिए प्रस्थित हुए। एक शाखापारग (वेदाध्ययन पारगत) मरुक उनमें मिल गया। उसके साथ एक कुत्ता भी था। वे अरण्य में पहुंचे। चोरों ने सार्थ को लूट लिया। मरुक एक दिशा में पलायन कर गए। तीसरे दिन उन्होंने देखा कि एक गढ़े में कुथित पानी भरा है। उसमें अनेक मृतकलेवर पड़े हैं। शाखापारग बोला—इस कुत्ते को मार कर खालें और फिर इस पानी से प्यास बुझा लें। उन चार मरुकों में एक परिणामक, दो अपरिणामक और एक अतिपरिणामक था। शाखापारग की बात सुनकर परिणामक मरुक ने उस पर श्रद्धा कर ली। दूसरे अपरिणत मरुक ने 'ये वचन अश्रवणीय है' ऐसा कहकर कान ढंक लिए। तीसरे अपरिणत मरुक ने सोचा—यह अकृत्य है, परंतु मरना दुःखदायी होता है और उसने कुत्ते का मांस खाना प्रारंभ कर दिया। चौथा अतिपरिणामक था। उसने कहा—इतने विलंब से कुत्ते के मांस-भक्षण की बात क्यों कही? वह उससे आगे बढ़ा अर्थात् गाय-गर्दभ आदि का मांस भी खाने लगा। शाखापारग ने उनसे कहा—अटवी से पार होकर सभी प्रायश्चित्त वहन करें। प्रथम परिणामक था। वह यथालघुक प्रायश्चित्त से शुद्ध हो गया। दूसरा मर ही गया। तीसरे को चतुर्वेदी ब्राह्मणों ने तिरस्कृत किया और अपनी पंक्ति से बाहर कर दिया। चौथा अतिप्रसंग के कारण श्वपाकरूप चांडाल हो गया।[2]

१०१७. जह पारगो तह गणी, जह मरुगा एव गच्छवासीओ।
सुणगसरिसा पलंबा, मडतोयसमं दगमफासुं॥

इन पूर्वोक्त गाथाओं का उपनय यह है—शाखापारग की भांति गणी—आचार्य हैं। जैसे चार मरुक हैं वैसे गच्छवासी साधु हैं। शुनक (कुत्ते) के सदृश हैं प्रलंब और मृतकलेवराकुल पानी तुल्य है अप्रासुक उदक।

१०१८. उद्दद्दरे सुभिक्खे, अद्धाणपवज्जणं तु दप्पेण।
लहुगा पुण सुद्धपदे, जं वा आवज्जती तत्थ॥

ऊर्ध्वदर[3] दो प्रकार के हैं—ध्यानदर[4] और उदरदर। जहां ये दोनों भरे जाते हैं, वह ऊर्ध्वदर होता है। जहां भिक्षाचरों को भिक्षा सुलभ हो, वह सुभिक्ष कहलाता है। यहां चतुर्भंगी इस प्रकार है—

१. ऊर्ध्वदर भी है, सुभिक्ष भी है।
२. ऊर्ध्वदर है, सुभिक्ष नहीं।
३. सुभिक्ष है, ऊर्ध्वदर नहीं।
४. न ऊर्ध्वदर है और न सुभिक्ष है।

यद्यपि प्रथम और तृतीय भंग में मूलोत्तरगुणों की विराधना न होने के कारण वे शुद्धपद हैं किन्तु दर्प से अध्वा को प्रतिपन्न होने के कारण चतुर्लघुक का प्रायश्चित्त है तथा वहां यदि आत्मविराधना आदि होती है तो तत्संबंधी प्रायश्चित्त आता है। (इसका तात्पर्यार्थ है कि दुर्भिक्ष के कारण शेष दो भंगों (द्वितीय और चतुर्थ) में अध्वगमन स्वीकार किया जा सकता है। प्रथम और तृतीय भंग मे भी कारणवश अध्वगमन हो सकता है।)

१०१९. असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व आगाढे।
गेलन्न उत्तिमट्ठे, नाणे तह दंसण चरित्ते॥

१०२०. एएहिं कारणेहिं आगाढेहिं तु गम्ममाणेहिं।
उवगरणपुव्वपडिलेहिएण सत्थेण गंतव्वं॥

किसी विवक्षित देश में आगाढ़रूप से अशिव, अवमौदर्य

---

१. तावदेव चलत्यर्थो, मन्तुर्विषयमागतः।
यावन्नोत्तम्भनेनेव, दृष्टान्तेनावलम्ब्यते॥ (वृ. पृ. ३१८)

२. देखें कथा परिशिष्ट, नं. ४८

३. ऊर्ध्वदर—ऊर्ध्वं दराः पूर्यन्ते यत्र काले तत् ऊर्ध्वदरम्। (वृ. पृ. ३२०)

४. धान्य के आधारभूत दर—गढ़े आदि, जैसे कट, पल्य आदि। (वृ. पृ. ३२०)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होना, राजा का द्वेषी हो जाना, प्रत्यनीक का भय होना, बार-बार ग्लानत्व होना, अनशनी मुनि के निर्यापन के लिए ज्ञान, दर्शन और चारित्र के उत्सर्पण के निमित्त—इन आगाढ़ कारणों से मुनि अध्वप्रतिपन्न होते हैं। वे उपकरणों को साथ ले पूर्व प्रत्युपेक्षित सार्थवाह के साथ जाए।

१०२१.अद्धाणं पविसंतो, जाणगनीसाए गाहए गच्छं।
अह तत्थ न गाहेज्जा, चाउम्मासा भवे गुरुगा॥

अध्वा में प्रवेश करते हुए आचार्य ज्ञायक अर्थात् गीतार्थ की निश्रा में समस्त गच्छ को अध्वकल्पस्थिति की जानकारी देते हैं। यदि वे अध्वकल्पस्थिति की जानकारी नहीं देते हैं तो चार गुरुमास का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१०२२.गीयत्थेण सयं वा, गाहइ छड्डिंतो पच्चयनिमित्तं।
सारिंति तं सुयत्था, पसंग अप्पच्चओ इहरा॥

स्वयं आचार्य अध्वकल्पस्थिति की जानकारी देते हैं अथवा गीतार्थ के द्वारा उसकी अवगति कराते हैं। जब वे बीच-बीच में जानबूझकर अर्थपद छोड़ देते हैं तब अगीतार्थ मुनियों के प्रत्यय के लिए उन त्यक्त अर्थपदों की स्मृति कराते हैं। अन्यथा उन शिष्यों के अप्रत्यय का प्रसंग उपस्थित हो जाता है।

१०२३.अद्धाणे जयणाए, परूवणं वक्खती उवरि सुत्ते।
ओमेऽवुवरिं वोच्छिइ, रोगाऽऽयंकेसिमा जयणा॥

अध्वगत मुनियों की प्रलंबग्रहण की जो सामाचारी है, उसकी प्ररूपणा आगे के 'अध्वसूत्र' में की जाएगी। अवमौदर्य की विधि भी आगे कही जाएगी। यहां ग्लानत्वद्वार कहा जा रहा है। ग्लानत्व के दो प्रकार हैं—रोग और आतंक। दोनों से संबंधित यतना इस प्रकार है।

१०२४.गंडी-कोढ-खयाई, रोगो कासाइगो उ आयंको।
दीहरुया वा रोगो, आतंको आसुघाती उ॥

गंडमाला, कुष्ठरोग और राजयक्ष्मा—ये सारे रोग कहे जाते हैं तथा कास आदि (श्वास, शूल, हिचकी, अतिसार आदि) आतंक कहे जाते हैं। अथवा दीर्घकालभावी रोग रोग कहलाते हैं और आशुघाती रोग आतंक कहलाते हैं।

१०२५.गेलन्नं पि य दुविहं, आगाढं चेव नो य आगाढं।
आगाढे कमकरणे, गुरुगा लहुगा अणागाढे॥

ग्लानत्व के दो प्रकार हैं—आगाढ़ और नोआगाढ़-अनागाढ़। आगाढ़ में यदि पंचक परिहानि से यतना करता है तो चतुर्गुरु और अनागाढ़ में चतुर्लघु।

१०२६.आगाढमणागाढं, पुव्वुत्तं खिप्पगहणमागाढे।
फासुगमफासुगं वा, चउपरियट्टं तऽणागाढे॥

आगाढ़ और अनागाढ़ का विषय पूर्व (गाथा ९५४) में व्याख्यात है। आगाढ़ ग्लानत्व में प्रासुक-अप्रासुक का क्षीघ्र-ग्रहण करना चाहिए। अनागाढ़ ग्लानत्व में यदि तीन बार में एषणीय प्राप्त न हो तो चौथे परिवर्त में पंचक आदि की यतना से अनेषणीय भी ग्रहणीय होता है।

१०२७.विज्जे पुच्छण जयणा, पुरिसे लिंगे य दव्वगहणे य।
पिट्ठमपिट्ठे आलोयणा य पन्नवण जयणा य॥

वैद्य, पृच्छा की यतना, पुरुष, लिंग, द्रव्यग्रहण, पिष्ट अथवा अपिष्ट, आलोचना, प्रज्ञापना तथा यतना। (इन शब्दों का स्पष्टार्थ आगे की गाथाओं में।)

१०२८.वेज्जदुग एगदुगादिपुच्छणे जा चउक्कउवएसो।
इह पुण दव्वे पलंबा, तिन्नि य पुरिसाऽऽयरियमाई॥

वैद्य आठ प्रकार के हैं—संविग्न, असंविग्न, लिंगी, श्रावक, यथाभद्र, अनभिगृहीतमिथ्यात्व, तर और अन्यतीर्थिक। इन वैद्यों को रोग का प्रतिकार पूछने के लिए एक, दो या चार मुनि न जाएं। तीन, पांच आदि जाए। इस रोग का प्रतिकार कैसे हो—यह पूछने पर वैद्य चतुष्कोपदेश देता है—अर्थात् द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से तथा भाव से प्रतिकार बताता है। (ये विस्तार से आगे बताए जाएंगे।) यहां द्रव्यतः प्रलंब तथा आचार्य, उपाध्याय, भिक्षु—ये तीन पुरुष हैं।

१०२९.पउमुप्पले माउलिंगे, एरंडे चेव निंबपत्ते य।
पित्तुदय सन्निवाए, वायक्कोवे य सिंभे य॥

पित्तोदय में पद्म और उत्पल, सन्निपात में मातुलिंग (बीजपूरक), वायु के प्रकोप में एरंडपत्र, श्लेष्मा के प्रकोप में नीम के पत्ते औषध हैं।

१०३०.गणि-वसभ-गीत-परिणामगा य जाणंति जं जहा दव्वं।
इयरे सिं वाउलणा, नायम्मि य भंडि-पोउवमा॥

जो ग्लान है वह गणी, वृषभ—उपाध्याय अथवा गीत—भिक्षु है। भिक्षु के दो प्रकार हैं—परिणामक और अपरिणामक। परिणामक जो द्रव्य जैसा है उसको यथावत् जानते हैं। जो अपरिणामक होते हैं उनकी व्याकुलना करते हैं- अनेषणीय लाये हुए के विषय में कहते हैं—अमुक गृहस्थ ने अपने लिए इनको निष्पन्न किया था। हम उसे लाए हैं। यदि वे यथार्थ रूप में जान लेते हैं तो यहां भंडी और पोत की उपमा से उन्हें समझाना चाहिए।

जो एगदेसे अदढा उ भंडी, सीलप्पए[1] सा उ करेति कज्जं।
जा दुब्बला सीलविया वि संती, न तं तु सीलेंति विसिन्नदारुं॥
(कल्पबृहद्भाष्य)

जो शकट किसी एक भाग में शिथिल है, उसकी मरम्मत कर लेने पर वह शकट कार्यकारी हो जाता है। जो शकट

१. शील्यते—समारच्यते इत्यर्थः। (वृ. पृ. ३२३)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अत्यंत दुर्बल हो गया हो, उसकी मरम्मत किए जाने पर भी वह विशीर्ण काष्ठ पुनः ठीक नहीं होता।

इसी प्रकार–

जो एगदेसे अदढो उ पोतो, सीलप्पए सो उ करेइ कज्जं।
जो दुब्बलो सीलविओ वि संतो, न तं तु सीलेंति विसिन्नदारुं॥
(कल्पबृहद्भाष्य)

जो नौका किसी एक भाग में दुर्बल हो और उसकी मरम्मत कर दी जाए तो वह नौका कार्यकर हो जाती है। जो नौका दुर्बल हो, जीर्णशीर्ण काठ वाली हो, उसकी मरम्मत कर लेने पर भी वह काम की नहीं होती।

(इसी प्रकार यदि तुम समझते हो कि स्वस्थ होकर प्रायश्चित्त वहन करूंगा, स्वाध्याय-वैयावृत्त्य कर अधिक लाभ उपार्जित करूंगा तो तुम अकल्पनीय की प्रतिसेवना करो, अन्यथा नहीं।)

१०३१.सो पुण आलेवो वा, हवेज्ज आहारिमं व मिस्सियरं।
पुव्वं तु पिट्ठगहणं, विगरण जं पुव्वछिन्नं वा॥
१०३२.भावियकुलेसु गहणं, तेसऽसति सलिंगे गेण्हणाऽवन्नो।
विकरणकरणालोयण, अमुगगिहे पच्चओ गीते॥

वैद्य द्वारा निर्दिष्ट आलेप दो प्रकार का होता है–बाह्य पिंडीरूप और आहारिम। सर्वप्रथम अचित्त लेना चाहिए। न मिलने पर मिश्र। उसकी भी अप्राप्ति होने पर इतर अर्थात् सचित्त भी लिया जा सकता है। कोई आलेप आहारयितव्य नहीं होता, स्पर्श से स्पर्शनीय होता है, जैसे पद्मोत्पल, कोई नासिका से आघ्रातव्य होता है, जैसे–पुष्प आदि। आलेप आदि पूर्व पिष्ट लेना चाहिए। उसके अभाव में पूर्वच्छिन्न आलेप को विकरण कर अर्थात् अनेकविध खंडन कर लेना चाहिए। पूर्वच्छिन्न आलेप भावितकुलों से ग्रहण करे। उन कुलों के अभाव में अन्य कुलों से स्वलिंग से ग्रहण करने पर महान् अवर्ण होता है, इसलिए अलिंग से ग्रहण करे। जहां प्रलंब ग्रहण किया है, वहीं उनका विकरण करके गुरु के पास लाए और अगीतार्थ के प्रत्ययनिमित्त से यह कहते हुए आलोचना करे–अमुक के घर में गृहस्वामी के लिए ये बनाए गए हैं।

१०३३.एसेव गमो नियमा, निग्गंथीणं पि नवरि छब्भंगा।
आमे भिन्नाऽभिन्ने, जाव उ पउमुप्पलाईणि॥

निर्ग्रंथिनीयों के लिए भी यही गम–प्रकार यावत् पद्मोत्पलादि (गा. १०२९) तक ज्ञातव्य है। विशेष यह है कि आम, प्रलंब, भिन्न, अभिन्न, विधिभिन्न, अविधिभिन्न के आधार पर छह भंग होते हैं।

कप्पइ निग्गंथाण पक्के तालपलंबे भिन्ने वा अभिन्ने वा पडिगाहित्तए॥

(सूत्र ३)

नो कप्पइ निग्गंथाण पक्के तालपलंबे अभिन्ने पडिगाहित्तए॥

(सूत्र ४)

कप्पइ निग्गंथीणं पक्के तालपलंबे भिन्ने पडिगाहित्तए, से वि य विहिभिन्ने नो 'चेव णं' अविहिभिन्ने॥

(सूत्र ५)

१०३४.नामं ठवणा पक्कं, दव्वे भावे य होइ नायव्वं।
उस्सेइमाइ तं चिय, पक्किंधणजोगतो पक्कं॥

पक्व के चार निक्षेप हैं–नामपक्व, स्थापनापक्व, द्रव्य-पक्व और भावपक्व। उत्स्वेदिम आदि द्रव्यपक्व 'आम' कहलाता है। (इसके चार प्रकार हैं–उत्स्वेदिम, संस्वेदिम, उपस्कृत और पर्याय।) इंधन के संयोग से जो पकता है वह द्रव्यपक्व माना जाता है।

१०३५.संजम-चरित्तजोगा, उग्गमसोही य भावपक्कं तु।
अन्नो वि य आएसो, निरुवक्कमजीवमरणं तु॥

संयमयोग, चारित्रयोग तथा उद्गम आदि दोषों की शुद्धि भावपक्व है। इस विषय में एक अन्य आदेश भी है–जीव का निरुपक्रम आयुष्य से मरना भावपक्व है।

१०३६.पक्के भिन्ना-ऽभिन्ने, समणाण वि दोसो किं तु समणीणं।
समणे लहुओ मासो, विकडुभमाई य ते चेव॥

जो पक्व अर्थात् निर्जीव है वह द्रव्यतो भिन्न या अभिन्न हो सकता है। उसका ग्रहण श्रमणों के लिए दोषप्रद होता है तो श्रमणियों के लिए क्यों नहीं होगा? यदि श्रमण उसको ग्रहण करते हैं तो मासलघु का प्रायश्चित्त तथा विकटुभ, पलिमंथ आदि दोष होते हैं।

१०३७.आणादि रसपसंगा, दोसा ते चेव जे पढमसुत्ते।
इह पुण सुत्तनिवाओ, ततिय-चउत्थेसु भंगेसु॥

प्रथम सूत्र कथित पक्व प्रलंबग्रहण में भी आज्ञाभंग, रसप्रसंग आदि दोष होते हैं। शिष्य कहता है–इस स्थिति में सूत्र निरर्थक है। आचार्य कहते हैं–सूत्रनिपात तीसरे और चौथे भंग के प्रसंग में है। दोनों भंग भावतः भिन्न से संबंधित हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१०३८.एमेव संजईण वि, विकडुभ-पलिमंथमाइया दोसा।
कम्माईया य तहा, अविभिन्ने अविहिभिन्ने य॥

इसी प्रकार श्रमणियों के लिए भी विकटुभ और पलिमंथ आदि दोष होते हैं। अविभिन्न अथवा अविधिभिन्न प्रलंबग्रहण से हस्तकर्म आदि सविशेष दोष होते हैं।

१०३९.विहि-अविहीभिन्नम्मि य, समणीणं होंतिमे उ छब्भंगा।
पढमं दोहि अभिन्नं, अविहि-विही दव्व बिइ-तइए॥
१०४०.एमेव भावतो वि य, भिन्ने तत्थेक्क दव्वओ अभिन्नं।
पंचम-छट्ठे दोहि वि, नवरं पुण पंचमे अविही॥

श्रमणियों के प्रसंग में ये छह भंग होते हैं—१. द्रव्यतः तथा भावतः अभिन्न २. भावतः अभिन्न, द्रव्यतः अविधिभिन्न ३. भावतः अभिन्न, द्रव्यतः विधिभिन्न ४. भावतः भिन्न, द्रव्यतः अभिन्न ५. भावतः भिन्न, द्रव्यतः अविधिभिन्न ६. भावतः भिन्न द्रव्यतः विधिभिन्न।

१०४१.लहुगा तीसु परित्ते, लहुओ मासो उ तीसु भंगेसु।
गुरुगा होंति अणंते, पच्छित्ता संजईणं तु॥

श्रमणियों के इन छहों भंगों का प्रायश्चित्त यह है—प्रथम तीन भंगों में परीत्तवनस्पति के लिए चतुर्लघु, भावतः अभिन्न होने के कारण। शेष तीन भंगों में परीत्तवनस्पति के लिए लघुमास, भावतः भिन्न होने के कारण। अनन्त वनस्पति में यह प्रायश्चित्त गुरुक हो जाता है।

१०४२.अहवा गुरुगा गुरुगा, लहुगा गुरुगा य पंचमे गुरुगा।
छट्ठम्मि हवति लहुतो, लहुगत्थाणे गुरूऽणंते॥

प्रथम भंग में अभिन्न होने के कारण गुरुक, द्वितीय भंग में भी गुरुक अविधिभिन्न होने के कारण, तीसरे भंग में लघुक विधिभिन्न होने के कारण, चौथे में गुरुक अभिन्न होने के कारण, पांचवें में गुरुक अविधिभिन्न होने के कारण, छठे में लघुमास विधि या अविधि भिन्न होने के कारण। यह परीत्त वनस्पति से संबंधित प्रायश्चित्त है। अनन्तवनस्पति में यही प्रायश्चित्त गुरुक हो जाता है।

१०४३.आयरिओ पवत्तिणीए, पवित्तिणी भिक्खूणो न कहेइ।
गुरुगा लहुगा लहुओ, तत्थ वि आणाइणो दोसा॥
१०४४.गेण्हंतीणं गुरुगा, पवत्तिणीए पवत्तिणी जइ वा।
न सुणेती गुरुगाती, मासलहू भिक्खुणी जाव॥

यदि आचार्य इस प्रलंबसूत्र को प्रवर्तिनी को नहीं कहते हैं तो उनको चतुर्गुरु, प्रवर्तिनी यदि भिक्षुणीयों को नहीं कहती है तो चतुर्लघु प्रायश्चित्त आता है। यदि भिक्षुणियां नहीं सुनती हैं तो लघुमास तथा अकथन और अश्रवण से आज्ञा-भंग आदि दोष भी होते हैं।

यदि प्रवर्तिनी प्रलंबग्रहण करने वाली श्रमणियों की सारणा-वारणा नहीं करती है तो चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त आता है। प्रवर्तिनी के पास यदि गणावच्छेदिनी नहीं सुनती है तो चतुर्लघु, अभिषेका नहीं सुनती है तो मासगुरु और भिक्षुणी नहीं सुनती है तो मासलघु का प्रायश्चित्त विहित है।

१०४५.अभिन्ने महव्वयपुच्छा, मिच्छत्त विराहणा य देवीए।
किं पुण ता दुविहाओ भुत्तभोगी अभुत्ता य॥

श्रमणियों को अभिन्न प्रलंब लेना नहीं कल्पता, यह कहने पर शिष्य उनके महाव्रतों के विषय में पृच्छा करता है। कोई व्यक्ति श्रमणियों को अभिन्न प्रलंब लेते हुए देखकर मिथ्यात्व को प्राप्त होकर यह सोचता है कि निश्चित ही तीर्थंकरों ने इसके ग्रहण का प्रतिषेध नहीं किया है। वे असर्वज्ञ हैं। यह विराधना होती है। यहां रानी का दृष्टांत वक्तव्य हैं। भिक्षुणियां दो प्रकार की होती हैं—मुक्तभोगी और अमुक्तभोगी। (इस गाथा का विस्तार आगे।)

१०४६.न वि छम्महव्वया नेव दुगुणिया जह उ भिक्खुणीवग्गे।
बंभवयरक्खणट्ठा, न कप्पती तं तु समणीणं॥

भिक्षुणीवर्ग के न छह महाव्रत होते हैं और न भिक्षुओं से द्विगुणित अर्थात् दस महाव्रत होते हैं। (यद्यपि बौद्धों में भिक्षुओं के लिए २५० शिक्षापद हैं और भिक्षुणियों के लिए पांच सौ शिक्षापद हैं। जैन परंपरा में श्रमण और श्रमणी—दोनों के लिए पांच महाव्रतों का ही निर्देश है। श्रमणियों के लिए अभिन्न प्रलंबग्रहण का निषेध क्यों किया गया? आचार्य कहते हैं—यह निषेध केवल ब्रह्मचर्यव्रत की रक्षा के लिए किया गया है।

१०४७.अन्नत्थ वि जत्थ भवे, एगयरे मेहुणुब्भवो तं तु।
तस्सेव उ पडिकुट्ठं, बिइयस्सऽन्नेण दोसेणं॥

अन्यत्र भी जहां जिसके अर्थात् श्रमण या श्रमणी के वस्तु-ग्रहण से मैथुन की भावना का उद्भव होता हो, वह वस्तु उसके लिए अर्थात् श्रमण या श्रमणी के लिए प्रतिकुष्ट—प्रतिषिद्ध है। एक वर्ग के लिए उस दृष्टि से प्रतिषिद्ध वस्तु दूसरे वर्ग के लिए अन्य दोष के कारण प्रतिषिद्ध है।

१०४८.निल्लोम-सलोमऽजिणे, दारुगदंडे सबेंट पाए य।
बंभवयरक्खणट्ठा, वीसुं वीसुं कया सुत्ता॥

निर्ग्रंथों के लिए निर्लोमचर्म का प्रतिषेध स्मृति-कौतुक आदि दोषों के निवारण के लिए किया गया है और निर्ग्रंथियों के लिए प्राणीदया के निमित्त प्रतिषेध है। इसी प्रकार श्रमणियों के सलोमचर्म का प्रतिषेध स्मृति आदि दोष निवारण के लिए तथा श्रमणों के लिए वही प्राणीदया के निमित्त प्रतिषेध है। इसी प्रकार दारुदंडक और सवृन्तपात्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के ग्रहण का प्रतिषेध श्रमणियों के लिए ब्रह्मचर्यव्रत की रक्षा के लिए और श्रमणों के लिए अतिरिक्त उपधिदोष के परिहार के लिए किया गया है। अतः श्रमण और श्रमणियों के ब्रह्मव्रत की रक्षा के लिए पृथक् पृथक् सूत्रों की रचना की गई है।

१०४९.नत्थि अनिदाणओ होइ उब्भवो तेण परिहर निदाणं।
ते पुण तुल्ला-ऽतुल्ला, मोहनिदाणा दुपक्खे वि॥

निदान (कारण) के बिना मोह का उद्भव नहीं होता।[1] इसलिए निदान का परिहार करना चाहिए। दोनों पक्षों—स्त्री-पुरुष में मोहोद्भव के कारण तुल्य या अतुल्य—दोनों प्रकार के होते हैं।

१०५०.रस-गंधा तहिं तुल्ला, सद्दाई सेस भय दुपक्खे वि।
सरिसे वि होइ दोसो, किं पुण ता विसम वत्थुम्मि॥

स्त्री और पुरुष के मोहोद्भव में रस और गंध तुल्य होते हैं। शेष शब्द, रूप और स्पर्श की दोनों पक्षों में भजना है। पुरुष में पुरुषसंबंधी शब्द, रूप और स्पर्श से मोहोद्रेक होता भी है और नहीं भी होता। इसी प्रकार स्त्री में भी स्त्री संबंधी शब्द, रूप और स्पर्श से मोहोद्रेक होता भी है और नहीं भी होता। किन्तु पुरुष में स्त्रीसंबंधी शब्द, रूप और स्पर्श से तथा स्त्री में पुरुषसंबंधी शब्द, रूप और स्पर्श से निश्चित ही मोहोद्रेक होता है, तीव्र होता है। अतः सदृश स्पर्श आदि में भी दोष होता है तो विसदृश वस्तु की तो बात ही क्या?

१०५१.चीयत्त कक्कडी कोउ कंटक विसप्प समिय सत्थे य।
पुणरवि निवेस फाडण, किमु समणि निरोह भुत्तितरा॥

एक रानी को ककड़ी बहुत प्रिय थी। एक व्यक्ति प्रतिदिन ककड़ी लाकर देता था। एक दिन पुरुषलिंगसदृश ककड़ी को देखकर रानी के मन में कुतूहल उत्पन्न हुआ कि इसके द्वारा प्रतिसेवना करूं। उसने ककड़ी को पांव के बांध कर प्रतिसेवना करना प्रारंभ किया। उसकी योनि में ककड़ी का कंटक लग गया। घाव हो गया। योनि फूल गई। वैद्य को बुलाया। उसने आकर आटे को गूंथा। शस्त्र के द्वारा उसको योनि में उसको प्रविष्ट किया। अन्दर जो फोड़ा हो गया था, उसको फोड़ डाला। तब पीब के साथ कांटा भी निकल गया। रानी स्वस्थ हो गई।

यदि रानी के भी वैसा कौतुक उत्पन्न हो गया तो सदा निरोध करने वाली भुक्तभोगी और अभुक्तभोगी श्रमणियों का तो कहना ही क्या?

१०५२.कसिणाऽविहिभिन्नम्मि य,
गुरुगा भुत्ताण होइ सइकरणं।
इयरासि कोउगाई,
घिप्पंते जं च उड्डाहो॥

कृत्स्न—अभिन्न तथा अविधिभिन्न प्रलंब ग्रहण करने पर श्रमणियों को चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त आता है। वह भुक्त-भोगिनी श्रमणियों के स्मृति का हेतु बनता है तथा अभुक्तभोगिनी श्रमणियों के लिए कौतुक का हेतु बनता है। प्रलंब ग्रहण करने से उनका उड्डाह होता है। देखने वाले कहते हैं—निश्चित ही ये श्रमणियां पादकर्म करेंगी।

१०५३.जइ ताव पलंबाणं, सहत्थणुन्नाण एरिसो फासो।
किं पुण गाढालिंगण, इयरम्मि उ निद्दओच्छुद्धे॥

श्रमणी पादकर्म करके सोचती है—यदि अपने हाथ से प्रेरित प्रलंब का इस प्रकार का स्पर्श होता है तो गाढ़ आलिंगन के पश्चात् निर्दयतापूर्वक प्रबलता से स्त्री-योनि में प्रक्षिप्त पुरुष के अंगादान का स्पर्श कैसा होता होगा?

१०५४.पडिगमणमन्नतित्थिग, सिद्धे संजय सलिंग हत्थे य।
वेहाणस ओहाणे एमेव अभुत्तभोगी वि॥

ऐसा सोचने वाली श्रमणी पार्श्वस्थों से समागत हो तो वह प्रतिसेवना के लिए उन्हीं के पास जाती है। अथवा अन्यतीर्थिक, सिद्धपुत्र अथवा संयतों के साथ प्रतिसेवना करने का प्रयत्न करती है। ऐसा स्वलिंग में स्थित होकर करती है अथवा वह बार-बार हस्तकर्म करती है। स्वप्रवृत्ति से खिन्न होकर वह फांसी लगाकर मर सकती है। संयम-जीवन से पलायन कर सकती है। यह सारा भुक्तभोगिनी श्रमणी के लिए कहा गया है। इसी प्रकार अभुक्तभोगिनी के लिए भी है।

१०५५.भिन्नस्स परूवणया, उज्जुत तह चक्कली विसमकोट्ठे।
ते चेव अविहिभिन्ने, अभिन्ने जे वन्निया दोसा॥

असंयमदोष के निवर्तन के लिए अविधिभिन्न तथा विधिभिन्न की प्ररूपणा करनी चाहिए। ऋजुकभिन्न तथा चक्कलिकाभिन्न—ये दोनों अविधिभिन्न माने जाते हैं। विषमकुट्ट अर्थात् ऐसे छोटे-छोटे टुकड़े कर दिए जाते हैं, जिनका पुनः जोड़ा नहीं जा सकता—यह विधिभिन्न माना जाता है। अविधिभिन्न में वे ही दोष होते हैं जो अभिन्न में वर्णित हैं।

१०५६.कट्ठेण व सुत्तेण व, संदाणिते अविहिभिन्ने ते चेव।
सविसेसतर व्व भवे, वेउव्वियभुत्तइत्थीणं॥

अविधिभिन्न प्रलंब के टुकड़ों को काष्ठ की शलाका से अथवा सूत्र से बांधकर पूर्व आकार में स्थापित करने पर वे

१. शब्दरूपरसगन्धस्पर्शात्मकं कारणं प्रतीत्य पुरुषवेदादि मोहनीयमुदयमासादयति। (बृ. पृ. ३२८)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही दोष प्राप्त होते हैं जो अभिन्न प्रलंब के विषय में कहे गए हैं। अथवा वे दोष विशेषतर होते हैं, जैसे–भुक्तभोगिनी प्रव्रजित वे श्रमणियां विकुर्वणायुक्त अंगादानसदृश उस प्रलंब को देखकर अधिक दोषों से ग्रस्त हो जाती हैं।

१०५७.विहिभिन्नं पि न कप्पइ, लहुओ मासो उ दोस आणाई।
तं कप्पती न कप्पइ, निरत्थगं कारणं किं तं॥

विधिभिन्न प्रलंब का ग्रहण भी नहीं कल्पता। ग्रहण करने पर मासलघु का प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं। शिष्य ने कहा–सूत्र में इसका ग्रहण अनुज्ञात है। आचार्य ने कहा–फिर भी वह नहीं कल्पता। शिष्य ने पूछा–क्या सूत्र निरर्थक है? आचार्य कहते हैं–नहीं, यह सूत्र कारणिक है। शिष्य ने पुनः पूछा–कारण क्या है?

१०५८.गेलन्नऽद्धाणोमे, तिविहं पुण कारणं समासेणं।
गेलन्ने पुव्वुत्तं, अद्धाणुवरिं इमं ओमे॥

संक्षेप में ये तीन प्रकार के कारण हैं–ग्लानत्व, मार्गगमन तथा अवमौदर्य। ग्लानत्व की व्याख्या पूर्व (गा. १०२७) में की जा चुकी है। मार्ग-गमन विषयक कथन आगे किया जाएगा। अवमौदर्य की व्याख्या यह है–

१०५९.निग्गंथीणं भिन्नं, निग्गंथाणं च भिन्नऽभिन्नं तु।
जह कप्पइ दोण्हं पी, तमहं वोच्छं समासेणं॥

दोनों वर्गों–श्रमण और श्रमणी के लिए जो प्रलंब ग्रहण का कल्प है वह संक्षेप में मैं कहूंगा। सामान्यतः श्रमणियों के लिए भिन्न प्रलंब और श्रमणों के लिए भिन्न अथवा अभिन्न प्रलंब ग्रहण करने का नियम है।

१०६०.ओमम्मि तोसलीए, दोण्ह वि वग्गाण दोसु खेत्तेसु।
जयणट्ठियाण गहणं, भिन्नऽभिन्नं व जयणाए॥

एक बार अवमौदर्य के समय में साधु-साध्वी तोसली देश में आकर स्थित हुए। दोनों वर्ग दो पृथक्-पृथक् क्षेत्र में यतनापूर्वक अवस्थित हुए। यतनापूर्वक भिन्न अथवा अभिन्न प्रलंब ग्रहण करना उनको कल्पता है।

१०६१.आणुग जंगल देसे, वासेण विणा वि तोसलिग्गहणं।
पायं च तत्थ वासति, पउरपलंबो उ अन्नो वि॥

देश के दो प्रकार हैं–अनूप अर्थात् जलबहुल और जंगल अर्थात् निर्जल। तोसली देश में वर्षा के बिना भी सस्य की निष्पत्ति होती है। पर अत्यधिक वर्षा के कारण सस्य विनष्ट हो जाता है अतः प्रलंबों का उपभोग अधिक होता है। इसीलिए तोसली का ग्रहण किया गया है। अन्यत्र भी यही विधि है।

१०६२.पुच्छ सहु-भीयपरिसे, चउभंगे पढमए अणुन्नाओ।
सेस तिए नाणुन्ना, गुरुगा परियट्टणे जं च॥

शिष्य ने पूछा–भंते! आपने कहा कि श्रमण-श्रमणी–दोनों वर्ग भिन्न-भिन्न प्रदेश में रहें। ऐसी स्थिति में उनकी प्रवृत्तियों की देखरेख कैसे हो सकती है? क्या श्रमणियों का परिवर्तन करना चाहिए या नहीं? आचार्य ने कहा–ऐसा कोई निश्चित नियम नहीं है कि परिवर्तन करना ही चाहिए। परन्तु यदि परिवर्तन करना आवश्यक हो तो वैसा परिवर्तन आचार्य कर सकता है जो सहिष्णु और भीतपरिषद् हो। यहां सहिष्णु और भीतपरिषद्–इन दो पदों की चतुर्भंगी होती है–

१. सहिष्णु तथा भीतपरिषद्।[1]
२. सहिष्णु परंतु भीतपरिषद् नहीं।
३. असहिष्णु परंतु भीतपरिषद्।
४. असहिष्णु और अभीतपरिषद्।

इन चार भंगों में प्रथम भंग अनुज्ञात है। शेष भंग अनुज्ञात नहीं हैं। यदि इन भंगों में वर्तमान आचार्य श्रमणियों का परिवर्तन करते हैं तो वे चतुर्गुरुक प्रायश्चित्त के भागी होते हैं। तथा साध्वियां स्वच्छंदता से जो कुछ करती हैं उसका प्रायश्चित्त भी उन्हें ही प्राप्त होता है।

१०६३.जइ पुण पव्वावेती, जावज्जीवाए ताउ पालेइ।
अन्नासति कप्पे वि हु, गुरुगा जं निज्जरा विउला॥

सामान्यतः साध्वियों (बहिनों) को यत्र-तत्र प्रव्रज्या नहीं दी जा सकती। यदि उन्हें प्रव्रज्या दी जाती है तो वे यावज्जीवन उसका पालन करती हैं। यदि प्रथम भंगवर्ती प्रव्राजक आचार्य जिनकल्प स्वीकार करना चाहते हों तो वे प्रव्रजित साध्वी को योग्य वर्त्तापक को समर्पित कर जिनकल्प स्वीकार करें। अन्य वर्त्तापक के अभाव में यदि जिनकल्प स्वीकार करते हैं तो चतुर्गुरुक का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। जिनकल्पी मुनि के जो निर्जरा होती है, उससे भी विपुल निर्जरा होती है उस श्रमणी की परिपालना में।

१०६४.उभयगणी पेहेउं, जहिं सुद्धं तत्थ संजती णेति।
असती व जहिं भिन्ना, अभिन्ने अविही इमा जयणा॥

उभयगणी अर्थात् साधु-साध्वी–इन दो वर्गों के आचार्य अवमौदर्य आदि के समय जहां शुद्ध भिक्षा की प्राप्ति होती है, वहां श्रमणियों को स्थापित करते हैं। प्रलंबमिश्रित आहार की प्राप्ति के अभाव में विधिभिन्न प्रलंबप्राप्ति के स्थान में साध्वियों को स्थापित करते हैं और स्वयं पुनः अभिन्न अथवा

१. सहिष्णु वह होता है जो इन्द्रियनिग्रह में समर्थ है, श्रमणियों के प्रायोग्य क्षेत्र, वस्त्र, पात्र आदि के उत्पादन में सशक्त है। भीतपरिषद् वह होता है जिसके भय से कोई भी साधु-साध्वी अक्रिया करने का साहस नहीं कर सकता। (वृ. पृ. ३३२)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अविधिभिन्न प्रलंबप्राप्ति के स्थान में रहते हैं। वहां इस यतना का पालन करना चाहिए।

१०६५.भिन्नाणि देह भित्तूण वा वि असति पुरतो सि भिंदंति।
ठाविंति ताहे समणी, ता चेव जयंति तेसऽसती॥

गृहस्थ प्रलंब लाते हैं तब मुनि उनको कहे–हम अभिन्न प्रलंब नहीं लेते। उनको भिन्न कर हमें दो। यदि गृहस्थ ऐसा न करे और भिन्न प्रलंब न मिले तो पूरे प्रलंब ग्रहण कर, गृहस्थों के समक्ष ही उनके टुकड़े कर ले। वहां के गृहस्थ यह जान जाते हैं कि श्रमण भिन्न प्रलंब ही ग्रहण करते हैं। ऐसे भावित क्षेत्र में साध्वियों को स्थापित करते हैं। उन मुनियों के अभाव में अथवा उनके अन्यत्र व्यापृत हो जाने पर वहां जो स्थविरा श्रमणी हैं वह इसी प्रकार प्रयत्न करती है।

१०६६.भिन्नासति वेलातिक्कमे व गेण्हंति थेरिया भिन्ने।
दारे भित्तु अतिंति व, ठाणासति भिंदती गणिणी॥

विधिभिन्न की अप्राप्ति होने पर तथा वेलातिक्रम के भय से स्थविरा साध्वी अभिन्न अथवा अविधिभिन्न प्रलंब ग्रहण कर लेती है और तरुण साध्वी विधिभिन्न ग्रहण करती है। उपाश्रय के द्वार पर आकर स्थविरा साध्वी अभिन्न प्रलंबों को तोड़कर उपाश्रय में प्रवेश करती है। यदि बाहर स्थान न हो तो स्थविरा साध्वी सारे प्रलंब गणिनी को सौंप देती है और गणिनी उनके टुकड़े करती है।

१०६७.कक्खंतरुक्खवेगच्छियाइसू मा हु णूमए तरुणी।
तो भिन्नं छुभति पडिग्गहेसु न य दिज्जए सयलं॥

तरुणी श्रमणियां कक्षान्तर में, उक्ख–पहने हुए वस्त्र के एक छोर में अथवा वैकक्षिकी–श्रमणियों के उपकरण विशेष में अभिन्न प्रलंब को न छुपा ले, इसलिए उन्हें वह नहीं दिया जाता। भिक्षाग्रहणकाल में उनके पात्रों में भिन्न प्रलंब डाला जाता है, पूरा अथवा अविधिभिन्न प्रलंब नहीं दिया जाता।

१०६८.एवं एसा जयणा, अपरिग्गहिएसु होइ खेत्तेसु।
तिविहेहिं परिग्गहिए, इमा उ जयणा तहिं होइ॥

इस प्रकार यह यतना अपरिगृहीत क्षेत्रों में करनी चाहिए। त्रिविध अर्थात् संयत, संयती तथा तदुभय–इनसे परिगृहीत क्षेत्र विषयक यह यतना है।

१०६९.पुव्वोगहिए खेत्ते, तिविहेण गणेण जइ गणो तिविहो।
एज्जाहि तयं खेत्तं, ओमे जयणा तहिं का णू॥

त्रिविध गण (संयत, संयती तथा तदुभय) द्वारा पूर्व परिगृहीत क्षेत्र में यदि तीन प्रकार का गण और आ जाए तो क्या समागत गण को वास्तव्यगण द्वारा अवग्रह दिए जाने पर क्या यतना है?

१०७०.आयरिय-वसभ-अभिसेग-भिक्खुणो
पेल्ल लंभे न य देंति।
गुरुगा दोहि विसिट्ठा,
चउगुरुगाइ व्व जा लहुगो॥

वास्तव्य अथवा आगंतुक मुनि चार प्रकार के होते हैं–आचार्य, वृषभ, अभिषेक तथा भिक्षु। वास्तव्य अथवा आगंतुक श्रमणियां भी चार प्रकार की होती हैं–प्रवर्तिनी, गणावच्छेदिनी, अभिषेका और भिक्षुणी। आचार्य आदि द्वारा परिगृहीत क्षेत्र में यदि अन्य आचार्य आदि आ जाते हैं और उस क्षेत्र में अवकाश भी है और भक्त-पान की उपलब्धि भी है, इस स्थिति में यदि वास्तव्य आचार्य आदि मनाही करते हैं अथवा आने वाले आचार्य आदि बलात् वहां ठहर जाते हैं तो दोनों को तप और काल से गुरु चतुर्गुरुक प्रायश्चित्त आता है। अन्य मत के अनुसार चतुर्लघु का भी विधान है। उसमें काल और तप से विभिन्न विकल्प हैं।

१०७१.एमेव य भयणा वी, सोलसिया एक्कमेक्क पक्खम्मि।
उभयम्मि वि नायव्वा, पेल्लमदेंते व जं पावे॥

इसी प्रकार जिस गण में केवल एक-एक पक्ष ही होता है अर्थात् केवल संयतपक्ष अथवा केवल संयतीपक्ष ही होता है तो वहां प्रत्येक पक्ष की षोडशिका भजना–भंगरचना करनी चाहिए। पूर्व गाथा में संयतों की संयतों के साथ चारणिका में प्राप्त सोलह भंग बतलाए हैं। प्रस्तुत गाथा के अनुसार संयतियों प्रवर्तिनी, गणावच्छेदिनी, अभिषेका और भिक्षुणी–से संबंधित सोलह भंग होते हैं। यहां 'उभय' शब्द से उभय गणाधिपति का ग्रहण किया गया है। उनसे संबंधित भी यही भंगरचना होती है। पूर्ववत् बलात् लेने अथवा न देने पर प्रायश्चित्त प्राप्त होता है तथा आत्म-संयम-विराधना से संबंधित जो प्रायश्चित्त आता है, वह भी उसे वहन करना होता है।

१०७२.चउवग्गो वि हु अच्छउ, असंथराऽऽगंतुगा य वच्चंतु।
वत्थव्वा व असंथरे, मोत्तु गिलाणस्स संघाडं॥

जहां ये चार वर्ग–वास्तव्य साधु और साध्वियां तथा आगंतुक साधु और साध्वियां–एक ही क्षेत्र में रहते हैं और वहां चारों का संस्तरण नहीं होता हो तो आगंतुक वहां से चले जाएं। अथवा असंस्तरण की स्थिति में वास्तव्य वर्ग विहार कर दे। किन्तु यदि कोई ग्लान हो और वह वास्तव्य वर्ग से अथवा आगंतुक वर्ग से संबंधित हो तो, वह ग्लान संघाटक के साथ वहीं रहे।

१०७३.एमेव संजईणं, वुड्ढी-तरुणीण जुंगितकमाई।
पायादिविगल तरुणी, य अच्छए वुड्ढिओ पेसे॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी प्रकार श्रमणियों की निर्गमनविधि कहनी चाहिए। वृद्ध और तरुण श्रमणियों में यदि तरुण श्रमणियां निष्प्रत्यपाय हों तो वे वहां से प्रस्थान करें, वृद्ध साध्वियां वहीं रहें। इसी प्रकार जुंगित और अजुंगित में अजुंगित वहां से प्रस्थान कर दें। पाद आदि से जुंगित वहीं रहें। यदि तरुण श्रमणियों का प्रस्थान सप्रत्यपाय हो तो वे वहीं रहें और वृद्ध साध्वियां प्रस्थान कर दें।

१०७४.एवं तेसि ठियाणं, पत्तेगं वा वि अहव मिस्साणं।
ओमम्मि असंथरणे, इमा उ जयणा जहिं पगयं॥

इस प्रकार आचार्य आदि का उस क्षेत्र में प्रत्येक वर्ग के रूप में स्थित होने अथवा मिश्ररूप में—द्विवर्ग, त्रिवर्ग, चतुर्वर्ग—स्थित होने पर अवमकाल में असंस्तरण होने पर इस प्रकृत प्रलंबसूत्रगत यतना का पालन करे।

१०७५.ओयण-मीसे-निम्मीसुवक्खडे पक्क-आम-पत्तेगे।
साधारण सग्गामे, परगामे भावओ वि भए॥

ओदन, मिश्रोपस्कृत, निर्मिश्रोपस्कृत, पक्व, कच्चा, प्रत्येक वनस्पति, साधारण वनस्पति—इनको यथाक्रम पहले स्वग्राम में और पश्चात् परग्राम में ग्रहण करे।

१०७६.बत्तीसाई जा एक्क घास खवणं व न वि य से हाणी।
आवासएसु अच्छउ, जा छम्मासे न य पलंबे॥

प्रमाणप्राप्त आहार का परिमाण है—ओदन के बत्तीस कवल। यदि एक-दो-चार कवल न्यून लेने पर भी आवश्यक योगों में कोई हानि न होती हो तो वे मुनि उस स्थिति में वहां रहें। प्रलंब का ग्रहण न करें। यदि एक भी कवल न मिले तो उपवास, बेला, तेला यावत् छह मास तक तपस्या कर समाधि में रहे। परंतु प्रलंब ग्रहण न करे।

१०७७.जावइयं वा लब्भइ, सग्गामे सुद्ध सेस परगामे।
मीसं च उवक्खडियं, सुद्धज्झवपूरगं गेण्हे॥

जितना शुद्ध ओदन स्वग्राम में प्राप्त हो वह ग्रहण करे और यदि वह पर्याप्त न हो तो शेष परग्राम से ले। यदि शुद्धोदन स्वग्राम और परग्राम में पर्याप्त न मिले तो प्रलंबों से मिश्रित-उपस्कृत, जो शुद्धोदन का अध्यवपूरक होता है, उसे ग्रहण करे।

१०७८.तत्थ वि पढमं जं मीसुवक्खडं दव्व-भावतो भिन्नं।
दव्वाभिन्नविमिस्सं, तस्सऽसति उवक्खडं ताहे॥

उसमें भी सबसे पहले द्रव्यतः तथा भावतः भिन्न प्रलंबों से मिश्र और उपस्कृत का ग्रहण करे। उसके अभाव में द्रव्यतः अभिन्न, प्रलंबों से विमिश्र तथा उपस्कृत का ग्रहण करे।

१०७९. पणगाइ मासपत्तो, ताहे निम्मीसुवक्खडं भिन्नं।
निम्मीस उवक्खडियं, गिण्हति ताहे ततियभंगे॥

यतनापूर्वक गवेषणा करते हुए पंचक प्रायश्चित्त वाले स्थान से प्रारंभ कर जब भिन्नमास प्रायश्चित्त का अतिक्रमण कर लघुमास प्राप्त होता है तब द्रव्यतः भावतः भिन्न निर्मिश्र-प्रलंब जो उपस्कृत है तथा शुद्धोदन और मिश्रोपस्कृत का अध्यवपूरक है, उसे स्वग्राम-परग्राम में लिया जा सकता है। जब वह चरमभंग में प्राप्त न हो तो निर्मिश्र-उपस्कृत ही तीसरे भंग में लिया जा सकता है।

१०८०. एमेव पउलियाऽपउलिए य चरिम-तइया भवे भंगा।
ओसहि-फलमाईसुं, जं चाऽऽईन्नं तगं नेयं॥

इसी प्रकार पक्व और अपक्व[1] का तीसरा और चौथा भंग होता है। औषधी—धान्य आदि तथा फल आदि जो आचीर्ण हैं अर्थात् पूर्वाचार्यों द्वारा गृहीत हैं, वे लिए जा सकते हैं।

१०८१. सगला-ऽसगलाइन्ने,मीसोवक्खडिय नत्थि हाणी उ।
जइउं अमिस्सगहणं, चरिमदुए जं अणाइन्नं॥

पूर्वाचार्यों द्वारा गृहीत सकल अथवा असकल, मिश्रित अथवा निर्मिश्रित उपस्कृत धान्य, जिनमें पंचक परिहानि का प्रायश्चित्त नहीं है। पूर्वाचार्यों द्वारा अनाचीर्ण है तीसरे तथा चौथे भंगवर्ती अमिश्र का ग्रहण करे।

१०८२. जइ ताव पिहुगमाई, सत्थोवहया वि होंतऽणाइण्णा।
किं पुण असत्थुवहया, पेसी पव्वायसरडू य॥

यदि पृथुक (पके हुए व्रीहि भ्राष्ट्र में भुने जाने पर उनके दो फाड़ हो जाते हैं, उनका छिलका निकल जाता है, वे पृथुक कहलाते हैं।) आदि शस्त्रोपहत होने पर भी अनाचीर्ण होते हैं तो जो अशस्त्रोपहत प्रलंबों की लंबी फांकें तथा प्रम्लान वृन्त वाले सरडू (बिन गुठली पड़े फल) कैसे आचीर्ण हो सकते हैं?

१०८३. साधारणे वि एवं, मीसा-ऽमीसे वि होंति भंगाओ।
पणगादी गुरुपत्तो, सव्वविसोहीय जय ताहे॥

साधारण—अनन्त वनस्पति के विषय में प्रत्येक वनस्पति की भांति मिश्रोपस्कृत, निर्मिश्रोपस्कृत में चौथा और तीसरा भंग होता है। तीसरे भंग में जब निर्मिश्रोपस्कृत प्राप्त नहीं होता तब पंचक परिहानि से गुरुमास प्राप्त हो तब साधारण निर्मिश्रोपस्कृत ग्रहण करता है। यदि तीसरे भंग से भी प्राप्त न हो तो सभी विशोधिकोटि के ग्रहण करने में प्रयत्न करना चाहिए।

१०८४. कम्मे आदेसदुगं, मूलुत्तरे ताहे बि कलि पत्तेगे।
दावर कली अणंते, ताहे जयणाए जुत्तस्स॥

१. पक्व अर्थात अग्नि से संस्कारित। अपक्व का अर्थ है अग्नि या इंधन के बिना भी जो निर्जीव हो गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आधाकर्म संबंधी दो आदेश हैं—मूलगुणोपघाती आधाकर्म और उत्तरगुणोपघाती आधाकर्म। आधाकर्म में चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त है। प्रत्येक वनस्पति में पहले और दूसरे भंग में चतुर्लघु। इस प्रकार प्रायश्चित्त के आधार पर आधाकर्म गुरुक है। व्रतों की अपेक्षा से प्रथम-द्वितीय भंग गुरुक हैं, क्योंकि उनमें प्राणातिपात व्रत का लोप होता है। अथवा आधाकर्म उत्तरगुणों का घात करने के कारण लघुतर होता है। ये दो आदेश हैं। इन दोनों आदेशों में यदि आधाकर्म प्राप्त न होता हो तो प्रत्येक वनस्पति द्वितीयभंग में ली जा सकती है। उसके अभाव में 'कलि' अर्थात् प्रथम भंग में ग्रहण करे। उसके अभाव में अनन्त वनस्पति 'द्वापर' द्वितीय भंग में और उसके अभाव में 'कलि' प्रथम भंग में ली जा सकती है। अनन्तकाय भी प्रथम भंग में प्राप्त न हो तो यतनायुक्त होकर जहां अल्पतर कर्मबंध हो वह ग्रहण करे।

१०८५. एमेव संजईण वि, विहि अविही नवरि तत्थ नाणत्तं।
सव्वत्थ वि सग्गामे, परगामे भावओ वि भए॥

इसी प्रकार श्रमणियों के विषय में जानना चाहिए। विशेष है—विधिभिन्न अविधिभिन्न प्रलंब। विधिभिन्न प्रलंब स्वग्राम या परग्राम—सर्वत्र लिया जा सकता है। पहले छठे भंग, पश्चात् पांचवां-चौथा। उसके अभाव में भावतः अविधिभिन्न प्रलंब का भी सेवन किया जा सकता है।

मासकप्प-पदं

से गामंसि वा नगरंसि वा खेडंसि वा कब्बडंसि वा मडंबंसि वा पट्टणंसि वा आगरंसि वा दोणमुहंसि वा निगमंसि वा रायहाणिंसि वा आसमंसि वा निवेसंसि वा संबाहंसि वा घोसंसि वा अंसियंसि वा पुडभेयणंसि संकरंसि वा सपरिक्खेवंसि अबाहिरियंसि कप्पइ निग्गंथाणं हेमंत-गिम्हासु एगं मासं वत्थए॥

(सूत्र ६)

१०८६. वुत्तो खलु आहारो, इयाणि वसहीविहिं तु वन्नेइ।
सो वा कत्थुवभुज्जइ, आहारो एस संबंधो॥

पूर्वसूत्र में आहार विषयक विधि निरूपित की गई है। प्रस्तुत सूत्र में वसतिविधि का वर्णन किया गया है। अथवा आहार का उपभोग कहां किया जाए—यह भी इस सूत्र का संबंध है।

१०८७. तेसु सपरिग्गहेसुं, खेत्तेसुं साहुविरहिएसुं वा।
किच्चिरकालं कप्पइ, वसिउं अहवा विकप्पो उ॥

साधुओं द्वारा परिगृहीत अथवा साधु विरहित क्षेत्रों में कितने काल तक साधु-साध्वियों को रहना कल्पता है—यह प्रस्तुत सूत्र का प्रतिपाद्य है। विकल्पतः यह भी सूत्र का संबंध है।

१०८८. आदिपदं निद्देसे, वा उ विभासा समुच्चये वा वि।
गम्मो गमणिज्जो वा, कराण गसए व बुद्धादी॥

सूत्रगत आदिपद (**से गामंसि वा**) 'से' शब्द निर्देश अर्थात् उपन्यास के अर्थ में तथा '**वा**' शब्द स्वगत अनेक भेदों अथवा समुच्चय का वाचक है। ग्राम का अर्थ है जहां १८ प्रकार के 'कर' गमनीय होते हैं, लगते हैं अथवा ग्राम का अर्थ है वह स्थान जो बुद्धि आदि गुणों को ग्रस लेता है, नष्ट कर देता है।

१०८९. नत्थेत्थ करो नगरं, खेडं पुण होइ धूलिपागारं।
कब्बडगं तु कुनगरं, मडंबगं सव्वतो छिन्नं॥

जहां किसी प्रकार का 'कर' नहीं लगता वह नकर—नगर कहलाता है। जो धूली के प्रकार से युक्त होता है वह खेट और कुनगर कर्बट कहलाता है। सर्वतः छिन्न अर्थात् जिसके चारों दिशाओं में ढाई गव्यूति तक कोई ग्राम न हो वह मडंब कहलाता है।

१०९०. जलपट्टणं च थलपट्टणं च इति पट्टणं भवे दुविहं।
अयमाइ आगरा खलु, दोणमुहं जल-थलपहेणं॥

पत्तन के दो प्रकार हैं—जलपत्तन और स्थलपत्तन। लोह आदि के आकर कहलाते हैं। जो जलमार्ग और स्थलमार्ग—दोनों से जुड़ा हुआ हो वह द्रोणमुख है। जैसे भृगुकच्छ, ताम्रलिप्ती आदि।

१०९१. निगमं नेगमवग्गो, वसइ जहिं रायहाणि जहिं राया।
तावसमाई आसम, निवेसो सत्थाइजत्ता वा॥

जहां वणिक्वर्ग रहता है वह है निगम, जहां राजा रहता है वह है राजधानी, तापसों का आश्रम कहलाता है। निवेश वह है जहां सार्थ आवासित होता है अथवा यात्रायित लोग जहां ठहरते हैं।

१०९२. संवाहो संवोढुं, वसति जहिं पव्वयाइविसमेसु।
घोसो उ गोउलं अंसिया उ गामद्धमाईया॥

कृषक अन्यत्र खेती कर तथा वणिक् वर्ग व्यापार कर अपना माल पर्वत आदि विषम स्थानों में रखकर स्वयं जहां रहता है उस वसति को संबोध कहा जाता है। घोष का अर्थ है—गोकुल। अंशिका उस स्थान का नाम है जहां गांव का आधाभाग, एक तिहाई भाग, चौथा भाग रहता है, वह ग्रामांश।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१०९३. नाणादिसागयाणं, भिज्जंति पुडा उ जत्थ भंडाणं।
पुडभेयणं तगं संकरो य केसिंचि कायव्वो॥

जहां नाना दिशाओं से आगत भांडों के पुट विक्रय के लिए खोले जाते हैं, वह स्थान पुटभेदन कहलाता है। कुछेक आचार्यों के मतानुसार यहां 'संकर' पाठ अधिक होना चाहिए। 'संकर' का अर्थ है–ग्राम, खेट, आश्रम आदि।

१०९४. नामं ठवणागामो, दव्वग्गामो य भूतगामो य।
आउज्जिंदियगामो, पिउ-माऊ-भावगामो य॥

ग्राम शब्द के नौ निक्षेप हैं–नामग्राम, स्थापनाग्राम, द्रव्यग्राम, भूतग्राम, आतोद्यग्राम, इन्द्रियग्राम, पितृग्राम, मातृग्राम, भावग्राम।

१०९५ जीवा-ऽजीवसमुदओ, गामो को कं नओ कहं इच्छे।
आदिणयोऽणेगविहो, तिविकप्पो अंतिमनओ उ॥

कौनसा नय किस ग्राम को द्रव्यग्राम कहता है? जो जीव और अजीव का समुदय है, वह द्रव्यग्राम है। आदिनय अर्थात् नैगमनय के अनेक प्रकार हैं। अंतिम नय है शब्दनय। उसके तीन विकल्प हैं–शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत।

१०९६. गावो तणाति सीमा, आरामुदपाण चेडरूवाणि।
वाडी य वाणमंतर, उग्गह तत्तो य आहिपती॥

(अनेकविध नैगमनय के अनुसार ग्राम शब्द की व्याख्या) गाय, तृणहारक, सीमा, आराम, उदपान, चेडरूप, वाटि, वानमन्तर, अवग्रह और अधिपति। (इसकी विस्तृत व्याख्या अगली गाथाओं में।)

१०९७. गावो वयंति दूरं, पि जं तु तण-कट्ठहारगादीया।
सूरुट्ठिए गता एंति अत्थमंते ततो गामो॥

(प्रथम नय कहता है–गायें जितने भूभाग में चरने के लिए जाती हैं, वह सारा भूभाग ग्राम कहलाता है। तब विशुद्ध नैगम नय कहता है–)

गायें तो बहुत दूर-दूर तक चरने के लिए चली जाती हैं, वह सारा भूभाग ग्राम नहीं कहलाता। सूर्योदय होने पर तृणहारक, काष्ठहारक आदि तृण या काष्ठ के लिए जितनी दूर जाते हैं और सूर्यास्त के समय लौट आते हैं, उतना भूभाग होता है ग्राम।

१०९८. परिसीमं पि वयंति हु,सुद्धतरो भणति जा ससीमा तु।
उज्जाण अवत्ता वा, उक्कीलंता उ सुद्धयरो॥

शुद्धतर नैगमनय कहता है–यह भी उचित नहीं है, क्योंकि तृणहारक आदि घास के लिए परसीमा में भी जा सकते हैं। वहां तक ग्राम नहीं होता। स्वसीमा तक ही ग्राम होता है। विशुद्धतर नय कहता है जहां तक ग्राम का उद्यान है वहीं तक ग्राम है। विशुद्धतम नय कहता है–जहां तक ग्राम का उदपान–कूप है वहां तक ग्राम है। दूसरा कहता है–जहां तक अव्यक्त अर्थात् बालक खेलने के लिए जाते हैं वहां तक ग्राम है। विशुद्धतर नय कहता है–छोटे बालक रेंगते हुए जितने भूभाग का अतिक्रमण करते हैं, उतना भूभाग है ग्राम।

१०९९. एवं विसुद्धनिगमस्स वइपरिक्खेवपरिवुडो गामो।
ववहारस्स वि एवं, संगहो जहिं गामसमवाओ॥

इस प्रकार नैगमनय की अनेकविध परिभाषाओं को छोड़कर विशुद्ध नैगमनय कहता है कि जितना भूभाग बाड़ के परिक्षेप से परिवृत है उतने भूभाग को ग्राम कहना चाहिए। व्यवहारनय के अनुसार भी यही परिभाषा है। संग्रहनय के अनुसार जहां ग्रामवासियों का एकत्र मिलन होता है, वहां तक ग्राम मानना चाहिए।

११००. जं वा पढमं काउं, सेसग गामो निविस्सइ स गामो।
तं देउलं सभा वा मज्झिम गोट्ठो पवा वा वि॥

जिस स्थान को प्रथम मानकर, आदि मानकर गांव का निवेश होता है, फिर चाहे वह देवकुल हो, सभास्थान हो, ग्राममध्यवर्ती हो, गोष्ठ हो अथवा प्रपा हो, वह ग्राम कहलाता है।

११०१. उज्जुसुयस्स निओओ, पत्तेयघरं तु होइ एक्केक्कं।
उट्ठेति वसति व वसेण जस्स सद्दस्स सो गामो॥

नियोग का अर्थ है–ग्राम[1]। ऋजुसूत्र नय के अनुसार प्रत्येक आवासीय गृह एक-एक ग्राम है। शब्दनय के अनुसार जिस किसी के वश से ग्राम उजड़ जाता है अथवा पुनः बसता है, वह ग्राम का अधिपति ग्राम शब्द द्वारा व्यवहृत होता है।

११०२. तस्सेव उ गामस्सा, को कं संठाणमिच्छति नओ उ।
तत्थ इमे संठाणा, हवंति खलु मल्लगादीया॥

उसी ग्राम का कौनसा नय कैसा संस्थान चाहता है, इसका विवेचन है। ग्राम के मल्लक आदि संस्थान होते हैं।

११०३. उत्ताणग ओमंथिय, संपुडए खंडमल्लए तिविहे।
भित्ती पडालि वलभी, अक्खाडग रुयग कासवए॥

११०४. मज्झे गामस्सऽगडो, बुद्धिच्छेदा ततो उ रज्जूओ।
निक्खम्म मूलपादे, गिण्हंतीओ वइं पत्ता॥

११०५. ओमंथिए वि एवं, देउल रुक्खो व जस्स मज्झम्मि।
कूवस्सुवरिं रुक्खो, अह संपुडमल्लओ नाम॥

११०६. जइ कूवाई पासम्मि होंति तो खंडमल्लओ होइ।
पुव्वावररुक्खेहिं, समसेढीहिं भवे भित्ती॥

१. गामो त्ति वा निओउ त्ति वा एगट्ठं। (विशेषचूर्णि)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

११०७. पासट्ठिए पडाली, वलभी चउकोण ईसि दीहा उ।
चउकोणेसु जइ दुमा, हवंति अक्खाडतो तम्हा॥
११०८. वट्टागारठिएहिं, रुयगो पुण वेढिओ तरुवरेहिं।
तिक्कोणो कासवओ, छुरघरगं कासवं बिंती॥

ग्राम-संस्थान के बारह प्रकार हैं--

१. उत्तानकमल्लकसंस्थित	७. भित्तिसंस्थित
२. अधोमुखमल्लकसंस्थित	८. पडालिकासंस्थित
३. सम्पुटकमल्लकसंस्थित	९. वलभीसंस्थित
४. उत्तानखंडमल्लकसंस्थित	१०. अक्षवाटकसंस्थित
५. अधोमुखखंडमल्लकसंस्थित	११. रुचकसंस्थित
६. सम्पुटखंडमल्लकसंस्थित	१२. काश्यपसंस्थित

१. उत्तानमल्लकसंस्थान--जिस ग्राम के मध्यभाग में कूप है, बुद्धि से उसके पूर्व आदि दिशाओं में छेद की परिकल्पना की जाती है। फिर कूप के अधस्तन तल से बुद्धिकृत छेद के द्वारा रज्जुओं को दिशा-विदिशाओं में निकालकर घरों के मूलपाद के ऊपर से ग्रहण करते हुए ग्रामपर्यन्तवर्ती वृति तक तिर्यक् विस्तारित किया जाता है, फिर ऊपर अभिमुख होकर ऊंचाई में वे हर्म्यतलों के समीभूत होकर वहां पटहच्छेद से उपरत हो जाती हैं। इस आकार वाला उत्तानक-मल्लकसंस्थित ग्राम कहलाता है, ऊर्ध्वाभिमुख शराव (सिकोरे) का आकार ऐसा ही होता है।

२. अधोमुखमल्लकसंस्थान--यह संस्थान भी ऐसा ही है। विशेष यह है कि जिस गांव के मध्य देवकुल है या बहुत ऊंचा वृक्ष है, उस देवकुल आदि के शिखर से रज्जुओं को उतारकर तिरछे में वृति पर्यन्त ले जाया जाता है। वहां से अधोमुख हो घरों के पादमूल तक ग्रहण कर पटहच्छेद से उपरत होने पर यह संस्थान बनता है।

३. सम्पुटकमल्लकसंस्थान--जिस ग्राम के मध्यभाग में कूप है, उसके ऊपर ऊंचा वृक्ष है तो उस कूप के अधस्तल से रज्जु निकालकर घरों के मूलपाद के नीचे-नीचे ले जाकर वृति पर्यन्त ले जाया जाता है। फिर ऊर्ध्व अभिमुख होकर हर्म्यतल की समश्रेणीभूत रज्जु को वृक्ष-शिखर से उतारकर वृति पर्यन्त ले जाते हैं। फिर अधोमुखी होकर उसे कूपसंबंधी रज्जु के अग्रभाग के साथ संघटित किया जाता है। यह सम्पुटकमल्लकसंस्थान है।

४-६. उत्तान-अधोमुख-सम्पुटखंडमल्लकसंस्थान--जिस ग्राम के बाहर एक दिशा में कूप है, उस एक दिशा को छोड़कर शेष सात दिशाओं में रज्जु को निकालकर उसे तिर्यक् वृति तक ले जाकर ऊपर से हर्म्यतल तक लाकर पटहच्छेद से उपरत होने पर उत्तानखंडमल्लकसंस्थान बनता है। अधोमुखखंडमल्लक और सम्पुटखंडमल्लकसंस्थान भी ऐसा ही होता है। इन दोनों में विशेष इतना है कि पहले में एक दिशा में देवकुल या ऊंचा वृक्ष होता है, दूसरे में एक दिशा में कूप और उसके ऊपर वृक्ष होता है।

७. भित्तिसंस्थान--जिस गांव की पूर्व और पश्चिम दिशा में समश्रेणी में व्यवस्थित वृक्ष हों, वह भित्तिसंस्थित ग्राम है।

८. पडालिकासंस्थान--जिस गांव की पूर्व और पश्चिम दिशा में वृक्ष समश्रेणी में तथा पार्श्वभाग में वृक्षयुगल समश्रेणी में अवस्थित हों, वह पडालिकासंस्थित ग्राम है।

९. वलभीसंस्थान--जिस गांव के चारों कोणों में ईषद् दीर्घ वृक्ष व्यवस्थित हों, वह वलभीसंस्थित ग्राम है।

१०. अक्षवाटकसंस्थान--'अक्षवाट'--मल्लों के युद्ध का अभ्यासस्थल जैसे समचतुरस्र होता है, वैसे ही जिस गांव के चारों कोणों में वृक्ष होते हैं, उससे यह चतुर्विदिशावर्ती वृक्षों के द्वारा समचतुरस्र रूप में जाना जाता है, वह अक्षवाटक-संस्थित ग्राम है।

११. रुचकसंस्थान--यद्यपि गांव स्वयं सम नहीं होता, तथा जो रुचकवलयपर्वत की भांति वृत्ताकार में व्यवस्थित वृक्षों से वेष्टित है, वह रुचकसंस्थित ग्राम है।

१२. काश्यपसंस्थान--जो गांव त्रिकोण रूप में निविष्ट है, वह काश्यपसंस्थित ग्राम है। अथवा जिस गांव के बाहर एक ओर दो तथा दूसरी ओर एक--इस प्रकार तीन वृक्ष त्रिकोण रूप में स्थित हैं, वह काश्यपसंस्थित ग्राम है। नापित के क्षुरगृह को काश्यप कहा जाता है। वह त्रिकोण होता है।

११०९. पढमेत्थ पडहछेदं, आ कासव कडग-कोट्टिमं तइओ।
नाणिं आहिपतिं वा, सद्दनया तिन्नि इच्छंति॥

प्रथम अर्थात् नैगमनय पटहच्छेदलक्षण वाला संस्थान मानना है, संग्रहनय का भी यही अभिमत है। व्यवहारनय भित्तिसंस्थान से काश्यपसंस्थान पर्यन्त मानता है। तीसरा ऋजुसूत्रनय कटकतृणादिमय, कोट्टिम--पाषाणादिबद्धभूमिक वाले संस्थान को मानता है। तीनों शब्दनय ज्ञानी अधिपति को संस्थान रूप में मानते हैं।

१११०. संगहियमसंगहिओ, संगहिओ तिविह मल्लयं नियमा।
भित्तादी जा कासवो, असंगहो बेति संठाणं॥

नैगमनय दो प्रकार का होता है--सांग्रहिक तथा असांग्रहिक। सांग्रहिक का अर्थ है--सामान्यग्राही। सांग्रहिक नैगमनय नियमतः तीन प्रकार का संस्थान मानता है--उत्तानक, अवांगमुख तथा संपुटाकार। संपूर्ण अथवा खंड मल्लक के पटहच्छेदलक्षण संस्थान। असांग्रहिक नैगमनय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भित्तिसंस्थान से लेकर काश्यपसंस्थान पर्यन्त सभी संस्थानों को स्वीकार करता है।

१११११.निम्मा घर वइ थूभिय, तइओ दुहणा वि जाव पावंति।
नाणिस्साहिपइस्स व, जं संठाणं तु सद्दस्स॥

तीसरा ऋजुसूत्रनय मूलपादवाले गृह, वृति या स्तूप का संस्थान तथा आकाश में ऊपर उठा हुआ मुद्गर जितने आकाशतल को प्राप्त करता है, उस सीमा तक का संस्थान मानता है। ज्ञानी अधिपति का अथवा ग्रामाधिपति का जो संस्थान है वह शब्दनय का विषय है।

१११२.चउदसविहो पुण भवे, भूतग्गामो तिहा उ आतोज्जो।
सोतादिंदियगामो, तिविहा पुरिसा पिउग्गामो॥

भूतग्राम (प्राणियों का समूह) के चौदह भेद हैं।[1] आतोद्यग्राम के तीन भेद हैं–षड्जग्राम, मध्यमग्राम तथा गंधारग्राम। श्रोत्रेन्द्रिय आदि इन्द्रियों का समुदय–इन्द्रियग्राम। पितृग्राम है तीन प्रकार के पुरुष–तिर्यग्योनिक पुरुष, मनुष्ययोनिक पुरुष और देवयोनिकपुरुष।

१११३.तिरिया-ऽमर-नरइत्थी, माउग्गामं पि तिविहमिच्छंति।
नाणाइतिगं भावे, जओ व तेसिं समुप्पत्ती॥

पूर्व आचार्य तीन प्रकार का मातृग्राम बतलाते हैं–तिर्यक्योनिकस्त्री, देवयोनिकस्त्री और मनुष्ययोनिकस्त्री। ज्ञान, दर्शन और चारित्र का समवाय–यह है भावग्राम अथवा ज्ञान आदि का उत्पत्ति स्थल भावग्राम है।

१११४.तित्थगरा जिण चउदस, दस भिन्ने संविग्ग तह असंविग्गे।
सारूविय वय दंसण, पडिमाओ भावगामो उ॥

तीर्थंकर, जिन (केवली), चतुर्दशपूर्वधर, दशपूर्वधर, असंपूर्णदशपूर्वधर, संविग्न (उद्यतविहारी), असंविग्न, सारूपिक[2], अणुव्रतधारीश्रावक, दर्शनश्रावक (अविरत-सम्यग्दृष्टि), प्रतिमा–ये सारे भावग्राम माने जाते हैं।[3]

१११५.चरण-करणसंपन्ना, परीसहपरायगा महाभागा।
तित्थगरा भगवंतो, भावेण उ एस गामविही॥

तीर्थंकर भगवान् चरण-करण से संपन्न, परीषहों को जितने वाले, महाभाग भावग्राम होते हैं। उनको देखते ही भव्यजीवों में बोधिबीज उत्पन्न हो जाता है। यह भावग्राम की विधि वक्तव्य है।

१११६.जा सम्मभावियाओ, पडिमा इयरा न भावगामो उ।
भावो जइ नत्थि तहिं, नणु कारण कज्जउवयारो॥

जो सम्यग्दृष्टिपरिगृहीत प्रतिमा है, वह भावग्राम है। इतर अर्थात् जो मिथ्यादृष्टिपरिगृहीत प्रतिमा है, वह भावग्राम नहीं है। शिष्य ने पूछा–जहां भाव–ज्ञान आदि नहीं है वहां भावग्राम कैसे हो सकता है? आचार्य कहते हैं–कारण में कार्य का उपचार मानकर भावग्राम कहा जा सकता है, जैसे–प्रतिमा को देखकर आर्द्रककुमार को संबोधि प्राप्त हुई थी।

१११७.एवं खु भावगामो, णिण्हगमाई वि जह मयं तुब्भं।
एअमवच्चं को णु हु, अव्विवरीतो वदिज्जाहिं॥

शिष्य ने पूछा–'कारणे कार्योपचार' के माध्यम से आपने प्रतिमा को भावग्राम माना है तो निह्नवों को भी भावग्राम मानना होगा। आचार्य कहते हैं–यह तुम्हारा अवचन है, असमंजस प्रलाप है, क्योंकि सम्यक्तत्त्ववेदी ऐसा विपरीत कथन नहीं करता।

१११८.जइ वि हु सम्मुप्पाओ, कासइ दट्ठूण निण्हए होज्जा।
मिच्छत्तहयसईया, तहावि ते वज्जणिज्जा उ॥

यद्यपि निह्नवों को देखकर किसी के मन में दर्शन-सम्यक्त्व की उत्पत्ति हो सकती है, फिर भी उन निह्नवों की सर्वज्ञवचनों की स्मृति मिथ्यात्व से दूषित होती है अतः वे वर्जनीय होते हैं।

१११९.आहार-उवहि-सयणा-ऽऽसणोवभोगेसु जो उ पाउग्गो।
एयं वयंति गामं, जेणऽहिगारो इहं सुत्ते॥

शिष्य ने पूछा–प्रस्तुत प्रसंग में किस प्रकार के ग्राम का अधिकार है? आचार्य कहते हैं–आहार, उपधि, शयन, आसन–इनमें जो उपभोग के लिए कल्प्य हैं, वे ग्राम कहे जाते हैं। प्रस्तुत सूत्र में इनका ही अधिकार है।

११२०.एमेव य नगरादी, नेयव्वा होंति आणुपुव्वीए।
जं जं जुज्जइ जत्थ उ, जोएअव्वं तगं तत्थ॥

जिस प्रकार 'ग्राम' पद की प्ररूपणा की है, उसी प्रकार नगर आदि की प्ररूपणा भी अनुपूर्वी से करनी चाहिए। जहां-जहां नगर आदि पदों में द्रव्य-स्थापना आदि की योजना करनी होती है, वहां-वहां उनकी योजना करनी चाहिए।

११२१.नामं ठवणा दविए, खित्ते काले तहेव भावे य।
एसो उ परिक्खेवे, निक्खेवो छव्विहो होइ॥

परिक्षेप पद का यह छह प्रकार का निक्षेप है–नाम-परिक्षेप, स्थापनापरिक्षेप, द्रव्यपरिक्षेप, क्षेत्रपरिक्षेप, काल-परिक्षेप और भावपरिक्षेप।

---

१. एगिंदिय सुहुमियरा, सन्नियरपणिंदिया य सबितिचऊ।
पज्जत्ताऽपज्जत्ता, भएणं चउदस ग्गामा॥
(वृ. पृ. ३४८)

२. सारूपिक–श्वेतवस्त्रधारी, क्षुर से मुंडित सिर, भिक्षाटन से जीवन चलाने वाले अथवा पछाकड़ा विशेष। (वृ. पृ. ३४९)

३. शिष्य ने पूछा–तीर्थंकर आदि रत्नत्रयी से समन्वित होने के कारण भावग्राम हैं किन्तु असंविग्न आदि भावग्राम कैसे? आचार्य कहते हैं–ये सभी यथावत्प्ररूपणा करते हैं और अनेक व्यक्ति इनसे रत्नत्रयी प्राप्त करते हैं। अतः ये भी भावग्राम कहे जा सकते हैं। (वृ. पृ. ३४९)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

११२२.सच्चित्तादी दव्वे, सच्चित्तो दुपयमायगो तिविहो।
मीसो देसचियादी, अच्चित्तो होइमो तत्थ॥

द्रव्यपरिक्षेप के तीन प्रकार हैं–सचित्त, अचित्त और मिश्र। सचित्त के तीन भेद हैं–द्विपद, चतुष्पद और अपद। मिश्र के भी ये ही तीन प्रकार हैं। **'देसेचियादी'**–एक देश में उपचित है सचेतन और एक देश में उपचित है अचेतन। यह मिश्रपरिक्षेप है। अचित्त परिक्षेप यह होता है–

११२३.पासाणिट्टग-मट्टिय-खोड-कडग-कंटिगा भवे दव्वे।
खाइय-सर-नइ-गड्डा-पव्वय-दुग्गाणि खेत्तम्मि॥

पाषाणमय प्राकार (द्वारिका में), ईंटों का प्राकार (आनन्दपुर में), मिट्टी का प्राकार (सुमनोमुख नगर में), खोड अर्थात् काष्ठमय प्राकार, बांसों का प्राकार, कांटों का प्राकार–ये सारे द्रव्यप्राकार हैं। खातिका, तालाब, गर्त्ता, नदी, पर्वत, दुर्ग–ये जिस क्षेत्र को वेष्टित करते हैं–यह क्षेत्र परिक्षेप है।

११२४.वासारत्ते अइपाणियं ति गिम्हे अपाणियं नच्चा।
कालेण परिक्खित्तं, तेण तमन्ने परिहरंति॥

वर्षारात्र में अतिपानी के कारण, ग्रीष्म ऋतु में अपानी के कारण जिस नगर आदि का अन्य राजा परिहार कर देते हैं, वह कालपरिक्षिप्त कहलाता है।

११२५.नच्चा नरवइणो सत्त-सार-बुद्धी-परक्कमविसेसे।
भावेण परिक्खित्तं, तेण तमन्ने परिहरंति॥

जिस राजा के पास सत्त्व–धैर्य, सार–बाह्य और आभ्यन्तर (बाह्य–सेना आदि, आभ्यन्तर–स्वर्ण आदि), बुद्धि और पराक्रम विशेष होता है–वह नगर भावपरिक्षिप्त होता है। ऐसे नगर का दूसरे राजा परिहार कर देते हैं।

११२६.नामं ठवणा दविए, खित्ते काले तहेव भावे य।
मासस्स परूवणया, पगयं पुण कालमासेणं॥

मास शब्द के छह निक्षेप हैं–नाममास, स्थापनामास, द्रव्यमास, क्षेत्रमास, कालमास और भावमास। प्रस्तुत सूत्र में कालमास प्रकृत है।

११२७.दव्वे भवितो निव्वत्तिओ उ खेत्तं तु जम्मि वण्णणया।
कालो जहि वण्णिज्जइ, नक्खत्तादी व पंचविहो॥

जो माषरूप में उत्पन्न होगा अथवा मूलोत्तरगुणनिवर्तित माष है वह द्रव्यमाष है। क्षेत्रमास–जिस क्षेत्र में मासकल्प की वर्णना की जाती है अथवा माष का वपन किया जाता है। कालमास–जिस काल में मास कल्प का वर्णन किया जाता है। अथवा माष का वपन किया जाता है। अथवा श्रावण आदि मास। अथवा नक्षत्र आदि पांच प्रकार का कालमास।

११२८.नक्खत्तो खलु मासो, सत्तावीसं हवंतऽहोरत्ता।
भागा य एक्कवीसं, सत्तट्ठिकएण छेएणं॥

११२९.अउणत्तीसं चंदो, बिसट्ठि भागा य हुंति बत्तीसा।
कम्मो तीसइदिवसो, तीसा अद्धं च आइच्चो॥

११३०.अभिवड्ढि इक्कतीसा, चउवीसं भागसयं च तिगहीणं।
भावे मूलाइजुओ, पगयं पुण कम्ममासेणं॥

नक्षत्रमास २७$\frac{21}{67}$ अहोरात्र प्रमाण का होता है। चान्द्रमास २९$\frac{32}{62}$ अहोरात्र का होता है। कर्ममास (ऋतुमास) तीस अहोरात्र का तथा आदित्यमास साढ़े बीस अहोरात्र का होता है। अभिनवर्धित ३१$\frac{31}{124}$ अहोरात्र का होता है। भावमाष मूलादि युक्त होता है, अर्थात् माष का मूल, कन्द, स्कंध आदि रूप होता है। प्रस्तुत प्रसंग में कर्ममास (ऋतुमास) का अधिकार है।

११३१.जिण सुद्ध अहालंदे, गच्छे मासो तहेव अज्जाणं।
एएसिं नाणत्तं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए॥

जिनकल्पिक, शुद्धपरिहारिक, यथालंदकल्पिक, गच्छवासी–स्थविरकल्पिक तथा आर्यिकाओं का मासकल्प संबंधी जो विधि है, नानात्व है, उसका मैं क्रमशः प्रतिपादन करूंगा।

११३२.पव्वज्जा सिक्खापयमत्थग्गहणं च अनियओ वासो।
निप्फत्ती य विहारो, सामायारी ठिई चेव॥

जिनकल्पिक की प्रव्रज्या, शिक्षापद, अर्थग्रहण, अनियतवास, निष्पत्ति, विहार तथा उनकी सामाचारी और स्थिति। (इसका विस्तार आगे की गाथाओं में।)

११३३.सोच्चाऽभिसमेच्चा वा, पव्वज्जा अभिसमागमो तत्थ।
जाइस्सरणाईओ, सनिमित्तमनिमित्तओ वा वि॥

तीर्थंकर, गणधर आदि की देशना को सुनकर, अथवा अपनी सन्मति से अवबोध प्राप्त कर अथवा सनिमित्त या अनिमित्त से होने वाली जातिस्मृति की अभिसमागमता–प्राप्ति से वे प्रव्रज्या ग्रहण करते हैं।

११३४.सोच्चा उ होइ धम्मं, स केरिसो केण वा कहेयव्वो।
के तस्स गुणा वुत्ता, दोसा अणुवायकहणाए॥

धर्म को सुनने से प्रव्रज्या-प्राप्ति होती है। शिष्य पूछता है–वह धर्म कैसा है? उसका कथन कौन कर सकता है? उसके उपाय–कथन से कौन से गुण हैं? उसके अनुपायकथन से कौन से दोष हैं?

११३५.संसारदुक्खमहणो, विबोहओ भवियपुंडरीयाणं।
धम्मो जिणपन्नत्तो, पगप्पजइणा कहेयव्वो॥

सांसारिक दुःखों से मुक्त करने वाला, भव्यरूपी श्वेतकमलों को विकस्वर करनेवाला जिनप्रज्ञप्त धर्म ही धर्म है। उसके कथन का अधिकारी है–प्रकल्पसूत्रार्थ का धारक मुनि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

११३६.जह सूरस्स पभावं, दट्ठुं वरकमलपोंडरीयाइं।
बुज्झंति उदयकाले, तत्थ उ कुमुदा न बुज्झंति॥
११३७.एवं भवसिद्धीया, जिणवरसूरस्सुतिप्पभावेणं।
बुज्झंति भवियकमला, अभवियकुमुदा न बुज्झंति॥

जैसे सूर्य के प्रभा-पटल को देखकर श्रेष्ठकमलपुंडरिक प्रभात में विकसित हो जाते हैं, किन्तु उसी सरोवर में स्थित कुमुद विकस्वर नहीं होते। इसी प्रकार भवसिद्धिक जीव जिनेश्वर देवरूपी सूर्य की श्रुति–आगम के प्रभाव से भव्यरूपी कमल विकस्वर होते हैं, किन्तु अभव्यरूपीकुमुद अवबुद्ध नहीं होते।

११३८.पुव्वं तु होइ कहओ, पच्छा धम्मो उ उक्कमो किंतु।
तेण वि पुव्वं धम्मो, सुओ उ तम्हा कमो ऐसो॥

पहले धर्मोपदेष्टा होता है, पश्चात् होता है धर्म। पूर्वश्लोक में व्युत्क्रम हुआ है–पहले धर्म और फिर धर्मोपदेष्टा का कथन है। यह क्यों? आचार्य कहते हैं–उस धर्मकथक ने भी पहले गुरु के पास धर्म सुना है, अतः यह क्रम ही है, उत्क्रम नहीं।

११३९.जइधम्मं अकहेत्ता, अणु दुविधं सम्म मंसविरइं वा।
अणुवासए कहिंते, चउजमला कालगा चउरो॥

जो मिथ्यादृष्टि है, अनुपासक है, वह धर्म सुनना चाहे तो उसे पहले मुनिधर्म बतलाना चाहिए। यति धर्म न कहकर यदि उसे अणुव्रत की बात बतलाते हैं तो तप और काल से गुरु चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त आता है। यदि वह यति धर्म ग्रहण करना न चाहे तो दो प्रकार का श्राद्धधर्म बतलाना चाहिए। यदि श्राद्धधर्म न बतलाकर सम्यग्दर्शन की बात कहता है तब भी तप से गुरु और काल से लघु चतुर्लघु का प्रायश्चित्त आता है। सम्यग्दर्शन का कथन किए बिना यदि मद्य-मांस की विरति कहते हैं तब भी तप और काल से लघु चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त है। यदि सम्यग्दर्शन भी अंगीकार नहीं कर सकता तब यदि मद्य-मांस की विरति कहे बिना यदि उसको ऐहिक और आमुष्मिक फल का कथन करते हैं तब भी तप और काल से लघु चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त है। **'चउजमला कालगा चउरो'**–चार यमल अर्थात् तपःकाल युगल, चार कालक अर्थात चार चतुर्गुरुक।

११४०.जीवा अब्भुट्ठिंता, अविहीकहणाइ रंजिया संता।
अभिसंछूढा होंती, संसारमहन्नवं तेणं॥

वे समागत व्यक्ति प्रव्रज्या ग्रहण करने के लिए तत्पर थे, किन्तु उस मुनि के अविधिकथन से रंजित होकर संयम भावना से विपरिणत हो जाते हैं और वे संसाररूपी समुद्र के सम्मुख प्रक्षिप्त होते हैं।

११४१.एसेव य नूण कमो, वेरग्गगओ न रोयए तं च।
दुहतो य निरणुकंपा, सुणि-पयस-तरच्छअट्ठुवमा॥

वे आगंतुक व्यक्ति यह सोचते हैं–जैनधर्म में यही क्रम है–(पहले श्रावक धर्म, पश्चात् यतिधर्म अथवा पहले सम्यक्त्व पश्चात् देशविरति आदि)। उस वैराग्य से उपगूढ व्यक्ति को वह रुचिकर नहीं लगता। इस प्रकार धर्म का अविधि से कथन करने वाला दोनों पर अनुकंपारहित होता है-छह जीवनिकायों पर तथा उस व्यक्ति पर। यहां शुनिका, पायस तथा तरक्षअस्थि की उपमा वाच्य है।

(जैसे वीरशुनिका अयथार्थ से खिन्न होकर यथार्थ को भी ग्रहण नहीं करती, वैसे ही वह प्रव्रज्या जिघृक्षु व्यक्ति पहले श्राद्धधर्म को सुनकर, फिर प्रयत्नपूर्वक कथित यतिधर्म को भी स्वीकार करना नहीं चाहता। जैसे किसी समागत प्राघूर्णक को भरपेट वासी भक्त दे देने के पश्चात् वह पायस भी खाना नहीं चाहता तथा जैसे तरक्ष–व्याघ्रविशेष पहले हड्डियों के भोजन से तृप्त हो जाने पर मांस खाने के प्रति लालायित नहीं होता, वैसे ही वह मनुष्य भी श्रावकधर्म से तृप्त होकर यतिधर्म की ओर आकृष्ट नहीं होता।)

११४२.तित्थाणुसज्जणाए, आयहियाए परं समुद्धरति।
मग्गप्पभावणाए, जइधम्मकहा अओ पढमं॥

यतिधर्म का कथन करने वाला तीर्थ के स्थायित्व में सहायक बनता है। वह आत्महित के लिए होती है। दूसरे को यतिधर्म में प्रस्थापित करने पर उसका उद्धार होता है। उससे मार्ग (सम्यग्दर्शन आदि के) की प्रभावना होती है। इसलिए सबसे पहले यतिधर्म का कथन करना चाहिए।[1]

११४३.पव्वइयस्स य सिक्खा, गयण्हाय सिलीपती य दिट्ठंतो।
तइयं च आउरम्मी, चउत्थगं अंधले थेरे॥

प्रव्रजित व्यक्ति को शिक्षा देनी चाहिए। शिक्षा के दो प्रकार हैं–ग्रहण शिक्षा और आसेवन शिक्षा। इस विषयक चार दृष्टांत हैं–(१) गजस्नान (२) श्लीपदी (३) आतुर तथा (४) अंधस्थविर। (इसका विस्तार आगे की गाथाओं में।)

११४४.पव्वइओऽहं समणो, निक्खित्तपरिग्गहो निरारंभो।
इति दिक्खियमेकमणो, धम्मधुराए दढो होमि॥
११४५.समितीसु भावणासु य, गत्ती-पडिलेह-विणयमाईसु।
लोगविरुद्धेसु य बहुविहेसु लोगुत्तरेसुं च॥

१. जो अर्हत् धर्म का अनुपासक है उसको पहले यतिधर्म स्वीकार करने की बात कहे। वह उसे स्वीकार करने में समर्थ न हो तो श्रावकधर्म की बात कहे, फिर सम्यग्दर्शन की और वह भी स्वीकार न कर सके तो मद्य-मांस विरति के विषय में कहे। यह अनुपासक के समक्ष धर्मकथन की विधि है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

११४६.जुत्त विरयस्स सययं, संजमजोगेसु उज्जयमइस्स।
किं मज्झं पढिएणं, भण्णइ सुण ता इमे नाए॥

गुरु शिष्य को ग्रहण शिक्षा के विषय में प्रेरित करते हैं। तब शिष्य कहता है—भदन्त! मैं प्रव्रजित हूं, निष्परिग्रह और निरारंभी हूं। मैं प्रव्रज्या में एकाग्रमना होकर धर्मचिन्ता में दृढ़ बनूं—यह मेरी भावना है। समितियों, भावनाओं, गुप्तियों तथा प्रतिलेखन, विनय आदि में युक्त हूं और नाना प्रकार के लोकविरुद्ध और लोकोत्तरविरुद्ध प्रवृत्तियों से प्रतिनिवृत्त हूं। संयमयोगों में उद्यमशील हूं। तो फिर मेरा पढ़ने से क्या प्रयोजन? तब आचार्य बोले—वत्स! तुम इन दो दृष्टांतों को सुनो।

११४७.जह ण्हाउत्तिण्ण गओ, बहुअतरं रेणुयं छुभइ अंगे।
सुट्ठु वि उज्जममाणो, तह अण्णाणी मलं चिणइ॥
११४८.जं सिलिपई निदायति, तं लाएति चलणेहिं भूमीए।
एवमसंजमपंके, चरणसइं लाइ अमुणिंतो॥

जैसे हाथी स्नान करने के पश्चात् अपने शरीर पर प्रचुर धूली डाल देता है वैसे ही (संयम में) प्रचुर उद्यम करने वाला अज्ञानी कर्ममल का उपचय करता है।

जैसे श्लीपदी (हाथीपगा) व्यक्ति जितने प्रमाण में खेत का निदान करता है उससे अधिक धान्य को अपने पैरों से रौंद डालता है। इसी प्रकार श्रुतपाठ के बिना चारित्ररूपी सस्य को असंयमीरूपी पंक में डाल देता है।

११४९.भणइ जहा रोगत्तो, पुच्छति वेज्जं न संहियं पढइ।
इय कम्मामयवेज्जे, पुच्छिय तुज्झे करिस्सामि॥

शिष्य कहता है—भंते! रोग से पीड़ित पुरुष वैद्य को पूछता है, वह वैद्यकसंहिता को नहीं पढ़ता। इसी प्रकार आप कर्मरोग के चिकित्सक हैं। मैं आपको पूछकर ही सारी क्रियाएं करूंगा। मुझे श्रुत पढ़ने की आवश्यकता नहीं है।

११५०. भण्णइ न सो सयं चिय, करेति किरियं अपुच्छिउं रोगी।
नायव्वे अहिगारो, तुमं पि नाउं तहा कुणसु॥

आचार्य ने कहा—यह सच है कि रोगी वैद्य को पूछे बिना क्रिया—रोगोपचार नहीं करता, फिर भी रोगोपचार की विधि जानने का वह अधिकारी है, जिससे कि उसे वैद्य को बार-बार पूछना न पड़े। उसी प्रकार तुम भी श्रुत के आधार पर षट्कायरक्षणविधि को जानकर वैसा करो जिससे कि गुरु को बार-बार पूछना न पड़े।

११५१.दूरे तस्स तिगिच्छी, आउरपुच्छा उ जुज्जए तेणं।
सारेहिंति सहीणा, गुरुमादि जतो नऽहिज्जामि॥

शिष्य बोला—भंते! उस रोगी का चिकित्सक दूरवर्ती है, इसलिए रोगोपचार का परिज्ञान उसके लिए आवश्यक है। परंतु गुरु, उपाध्याय आदि मेरे निकट ही हैं, वे मेरी सारणा-वारणा स्वयं करेंगे। इसलिए मैं श्रुताध्ययन नहीं करूंगा।

११५२.आगाढकारणेहिं, गुरुमादी ते जया न होहिंति।
तइया कहं नु काहिसि, जहा व सो अंधलो थेरो॥

आचार्य ने कहा—आगाढ कारणों से वे गुरु आदि तुम्हारे निकट नहीं भी हो सकते हैं। तब तुम क्या, कैसे करोगे? जैसे वह अंध स्थविर कुछ भी नहीं कर सका।

११५३.अट्ठ सुय थेर अंधल्लगत्तणं अत्थि मे बहू अच्छी।
अप्पहण्ण पलित्ते, डहणं अपसत्थग पसत्थे॥

एक स्थविर के आठ पुत्र थे। कालान्तर में वह अंधा हो गया। पुत्रों ने आंख की चिकित्सा के लिए कहा—स्थविर बोला—मेरे पुत्रों की बहुत आंखें हैं। उनसे मेरा कार्य चलता रहेगा। एक बार घर में आग लग गई। सभी पुत्र आदि ('अप्पदन्न' आत्मरक्षणपराः) अपनी रक्षा के लिए घर से निकल गए। अंधा स्थविर घर में जलकर भस्म हो गया। यह अप्रशस्त दृष्टांत है। प्रशस्त का कथन पहले किया जा चुका है।[1]

११५४.मा एवमसग्गाहं, गिण्हसु सुयं तइयचक्खुं।
किं वा तुमेऽनिलसुतो, न स्सुयपुव्वो जवो राया॥

आचार्य ने पुनः कहा—वत्स! असद् आग्रह—मिथ्या आग्रह मत करो। श्रुत तीसरा नेत्र है। उसे तुम ग्रहण करो। क्या तुमने अनिलनरेन्द्र के पुत्र यव राजा की बात नहीं सुनी है?

११५५.जव राय दीहपट्ठो, सचिवो पुत्तो य गद्दभो तस्स।
धूता अडोलिया गद्दभेण छूढा य अगडम्मि॥
११५६.पव्वयणं च नरिंदे, पुणरागमऽडोलिखेलणं चेडा।
जवपत्थणं खरस्सा, उवस्सओ फरुससालाए॥

राजा का नाम यव था। दीर्घपृष्ठ उसका सचिव था। राजकुमार का नाम था गर्दभ। राज पुत्री का नाम अडोलिका था। गदर्भ का उसके प्रति तीव्रानुराग हो गया। यह जानकर राजा यव ने दोनों को अगड—भूमिगृह में डाल दिया। वे वहां भोग भोगने लगे। नरेन्द्र प्रव्रजित हो गया। पुत्रस्नेह के कारण वह बार-बार नगर में आता था। एक बार उसने बालकों को अडोलिका से खेलते देखा। वहां एक गर्दभ यवों को खाना चाहता था। मुनि यव कुंभकार की शालारूप उपाश्रय में रहा। (इस कथानक का विस्तार आगे।)

११५७.आधावसी पधावसी, ममं वा वि निरिक्खसी।
लक्खिओ ते मया भावो, जवं पत्थेसि गद्दभा!॥

१. देखें कथा परिशिष्ट, नं. ५०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

११५८.इओ गया इओ गया, मग्गिज्जंती न दीसति।
अहमेयं वियाणामि, अगडे छूढा अडोलिया॥
११५९.सुकुमालग! भद्दलया!, रत्तिं हिंडणसीलया!।
भयं ते नत्थि मंमूला, दीहपट्ठाओ ते भयं॥

क्षेत्रपाल ने उस गधे को संबोधित कर कहा–'हे गर्दभ! तुम कभी आगे भागते हो और कभी पीछे। मुझे भी तुम नहीं देख पा रहे हो। मैंने तुम्हारे अभिप्राय को जान लिया है। तुम यवों को खाना चाहते हो। (द्वितीयपक्ष में–हे गर्दभराज! तुम यव राजा को मारना चाहते हो। यही तुम्हारी अभिलाषा है।)

इधर-उधर दौड़-धूप कर तुम उसकी खोज कर रहे हो, पर उसको नहीं देख पा रहे हो। मैं यह जानता हूं कि राजकुमारी 'अडोलिका' उसी भूमीगृह में निक्षिप्त है। (मुनि यव कुंभकार की शाला में था। एक उंदर बार-बार बिल से निकलता और भयभीत होकर पुनः भीतर घुस जाता।)

यह देखकर कुंभकार बोला–हे सुकमारक! हे भद्राकृति-वाले! हे रात्री में घूमने वाले! मेरे निमित्त से तुम्हें कोई भय नहीं होगा। तुम्हारे भय का एकमात्र निमित्त है–दीर्घपृष्ठ अर्थात् सर्प। (द्वितीय पक्ष में–तीनों आमंत्रण राजा के लिए तथा दीर्घपृष्ठ सचिव के लिए)।[1]

११६०.सिक्खियव्वं मणूसेणं, अवि जारिसतारिसं।
पेच्छ मुद्धसिलोगेहिं जीवियं परिरक्खियं॥

मनुष्य को ऐसा-वैसा–सब कुछ सीखना चाहिए। देखो, एक ग्रामीण व्यक्ति के द्वारा कथित श्लोकों ने मेरे जीवन की रक्षा कर दी।

११६१.पुव्वविराहियसचिवे, सामच्छण रत्ति आगमो गुणणा।
नाओ मि सचिवघायण, खामण गमणं गुरुसगासे॥

पूर्व विराधित सचिव राजा के पास आ गया। रात्री में राजा और सचिव का परस्पर पर्यालोचन हुआ। उस समय राजा को पूर्वपठित तीनों श्लोकों की स्मृति हो आई। उसने सोचा–मेरे पिता अतिशयज्ञानी हैं। मैं उनके द्वारा जान लिया गया हूं। यह सारा प्रपंच सचिव ने किया था। यह सोचकर राजा ने सचिव को मार डाला और अपने पिता राजर्षि के पास जाकर क्षमायाचना की। राजर्षि गुरु के पास गए और फिर आगम-अध्ययन में लग गए।

११६२.आयहिय परिण्णा भावसंवरो नवनवो अ संवेगो।
निक्कंपया तवो निज्जरा य परदेसियत्तं च॥

श्रुत के अध्ययन से ये आठ विशेष गुण निष्पन्न होते हैं–

१. आत्महित
२. परिज्ञा
३. भावसंवर
४. नया-नया संवेग
५. निष्कम्पता
६. तप
७. निर्जरा
८. परदेशिकत्व

(इनका विस्तार अगली गाथाओं में।)

११६३.आयहियमजाणंतो, मुज्झति मूढो समादिअति कम्मं।
कम्मेण तेण जंतू, परीति भवसागरमणंतं॥

जो श्रुत का अध्ययन नहीं करता वह आत्महित को न जानता हुआ मोहग्रस्त होता है। वह मूढ़ व्यक्ति कर्मों का निबिडबंध करता है। वह उन कर्मों के कारण अनंत भवसागर में परिभ्रमण करता है।

११६४.आयहियं जाणंतो, अहियनिवित्तीएँ हियपवित्तीए।
हवइ जतो सो तम्हा, आयहियं आगमेयव्वं॥

जो आत्महित को जानता है वह अहित की निवृत्ति में और हित की प्रवृत्ति में प्रयत्न करता है। इसलिए आत्महित का परिज्ञान करना चाहिए।

११६५.सज्झायं जाणंतो, पंचिंदियसंवुडो तिगुत्तो य।
होइ य एक्कग्गमणो, विणएण समाहिओ साहू॥

स्वाध्याय अर्थात् श्रुत को जानने वाला मुनि पंचेन्द्रिय-संवृत, तीन गुप्तियों से गुप्त, एकाग्रमनवाला तथा विनय से समाहित होता है।

११६६.नाणेण सव्वभावा, नज्जंते जे जहिं जिणक्खाया।
नाणी चरित्तगुत्तो, भावेण उ संवरो होइ॥

जो भाव जहां उपयोगी हैं उन भावों का वहां जिनेश्वरदेव ने आख्यान किया है। वे सारे भाव ज्ञान से जाने जाते हैं। इसलिए ज्ञानी चारित्रगुप्त होता है, भाव से संवर होता है।

११६७.जह जह सुयभोगाहइ, अइसयरसपसरसंजुयमपुव्वं।
तह तह पल्हाइ मुणी, नवनवसंवेगसद्धाओ॥

जैसे-जैसे विशेष रस के अतिरेक से संयुक्त उस अपूर्व श्रुत का अवगाहन करता है, वैसे-वैसे मुनि नए-नए संवेग की श्रद्धा से प्रह्लादित होता है–शुभ भावों में स्थित होकर आनंदित होता है।

११६८.णाणाणत्तीए पुणो, दंसणतवनियमसंजमे ठिच्चा।
विहरइ विसुज्झमाणो, जावज्जीवं पि निक्कंपो॥

उसके फलस्वरूप ज्ञान की जो आज्ञप्ति–आदेश है कि (जाए सद्धाए निक्खंतो तमेव अणुपालए–जिस श्रद्धाभाव से निष्क्रमण किया है उसी का जीवनपर्यन्त अनुपालन करे)–इस आज्ञप्ति के अनुसार मुनि दर्शन, तप, नियम और संयम में स्थित होकर, (कर्ममल से) विशुद्ध होता हुआ यावज्जीवन निष्प्रकम्प रहता हुआ विहरण करता है, संयममार्ग का अनुसरण करता है।

१. देखें कथा परिशिष्ट, नं. ५१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

११६९.बारसविहम्मि वि तवे, सब्भिंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे।
न वि अत्थि न वि अ होही,सज्झायसमं तवोकम्मं॥

तीर्थंकरों द्वारा दृष्ट बाह्य और आभ्यन्तररूप में विभक्त बारह प्रकार के तपःकर्म में स्वाध्याय के समान दूसरा कोई तपःकर्म न है और न होगा।

११७०.जं अन्नाणी कम्मं, खवेइ बहुयाहिं वासकोडीहिं।
तं नाणी तिहिं गुत्तो, खवेइ ऊसासमेत्तेण॥

अज्ञानी जीव जिन कर्मों का क्षय अनेक कोटि वर्षों में करता है, उन्हीं कर्मों का क्षय तीन गुप्तियों से गुप्त ज्ञानी मनुष्य उच्छ्वासमात्र कालमान में कर देता है।

११७१.आय-परसमुत्तारो, आणा वच्छल्ल दीवणा भत्ती।
होति परदेसियत्ते, अव्वोच्छित्ती य तित्थस्स॥

ज्ञानी जीव परदेशकत्व–दूसरों का मार्गदर्शन करता है। उससे स्वयं का और दूसरे का समुत्तार होता है, उद्धार होता है। इससे आज्ञा, वात्सल्य, दीपना और भक्ति–ये कृत्य संपादित होते हैं। तथा तीर्थ की अव्यवच्छित्ति होती है। ये गुण परदेशकत्व के होते हैं।

११७२.जिणकप्पिएण पगयं, जिणकाले सो उ केवलीणं वा।
सो भणइ एव भणितो, कत्थ अहीयं भयंतेहिं॥

जिनकल्पिक का प्रसंग है। जिनकल्पिक तीर्थंकर के समय में अथवा केवलज्ञानी के समय में होते हैं। आचार्य के द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर शिष्य पूछता है–भंते! आपने यह कहां से जाना या पढ़ा?

११७३.अंतरमणंतरे वा, इति उदिए धूलिनायमाहंसु।
चिक्खल्लेण य नायं, तम्हा उ वयामि जिणमूलं॥

आचार्य ने कहा–'अंतर अर्थात् परंपरा से अथवा अनंतर–जिनेश्वरदेव के पास से ही मैंने यह जाना-पढ़ा है।' आचार्य के इस प्रकार कहने पर शिष्य ने धूलीदृष्टांत तथा चिक्खल-दृष्टांत प्रस्तुत किया[1] और कहा–इसलिए अब मैं जिनेश्वर देव के पास ही जाता हूं। वहां संपूर्ण श्रुत उपलब्ध हो जाएगा।

११७४.पय-पाय-मक्खरेहिं, मत्ता-घोसेहिं वा वि परिहीणं।
अवि य रवि-राय-हत्थी, पगास सेवा पया चेव॥

पुनः शिष्य ने कहा–परंपरा से आनेवाले श्रुत की परिहानि इस प्रकार होती है–पदों से, पादों से, अक्षरों से, मात्राओं से, घोष से तथा बिन्दु से। क्या जैसे रवि का प्रकाश होता है, वैसा खद्योत का प्रकाश होता है? जैसे राजा की सेवा का फल मिलता है, क्या वैसा फल अमात्य आदि की सेवा का होता है? हाथी के पैर जैसा क्या कुंथु का पैर होता है? इसी प्रकार तीर्थंकरों के वचनों की जो महार्थता है, क्या दूसरों के वचनों की वैसी महार्थता होती है? इसलिए तीर्थंकर के पास जाना ही उचित है।

११७५.कोट्ठाइबुद्धिणो अत्थि संपयं एरिसाणि मा जंप।
अवि य तहिं वाउलणा, विरयाण वि कोउगाईहिं॥

तब आचार्य ने कहा–शिष्य! आज भी कोष्ठबुद्धि, पदानुसारीबुद्धि तथा बीजबुद्धि से संपन्न मुनि हैं। इनमें सूत्रार्थ का परिशाटन नहीं होता। इसलिए तुम धूलीदृष्टांत आदि मत कहो। और यह भी जानो कि भगवान् के पास पढ़ने वाले मुनियों में भी कौतुक आदि के कारण व्याकुलता होती है। (उनमें भी कौतुक अर्थात् समवसरण आदि को देखने की उत्कंठा होती ही है।)

११७६.समोसरणे केवइया, रूव पुच्छ वागरण सोयपरिणामे।
दाणं च देवमल्ले, मल्लाणयणे उवरि तित्थं॥

समवसरण, कितने भूभाग से, रूप, पृच्छा, व्याकरण, श्रोतृपरिणाम, दान, देवमाल्य, माल्यआनयन, उपरि तीर्थ–(यह द्वार गाथा है। इसकी व्याख्या अगले श्लोकों में)।

११७७.जत्थ अपुव्वोसरणं, जत्थ व देवो महिड्ढिओ एइ।
वाउदय पुप्फ वद्दल, पागारतियं च अभिओगा॥

जिस क्षेत्र में पहले कभी समवसरण की रचना नहीं हुई थी, अथवा जहां महर्द्धिक देव भगवान् को वंदना करने आता है, वहां नियमतः समवसरण की रचना होती है। (अन्यत्र यह नियम नहीं है।) इन्द्र के आभियोग्यदेव संवर्तक वायु की विकुर्वणा कर योजनमंडल भूभाग को साफ करते हैं। फिर उदक के बादलों की तथा पुष्प के बादलों की विकुर्वणा कर सुरभिगन्धोदक की तथा पुष्पों की वृष्टि करते हैं। फिर वे देव तीन प्राकारों की रचना करते हैं।

११७८.अब्भिंतर-मज्झ-बहिं,
विमाण-जोइ-भवणाहिवकयाओ।
पायारा तिन्नि भवे,
रयणे कणगे य रयए य॥

वैमानिक देव रत्नमय आभ्यन्तर प्राकार की, ज्योतिष्क देव कनकमय मध्यम प्राकार की तथा भवनाधिपति देव रजतमय बाह्य प्राकार की रचना करते हैं।

---

१. धूली दृष्टांत–जैसे एक स्थान पर एकत्रित धूलीपुंज को अन्यत्र ले जाते समय वह बिखर-बिखर कर न्यून होता जाता है, इसी प्रकार परंपरा से आने वाला सूत्रार्थ न्यून ही हस्तगत होता है।
जैसे प्रासाद पर लेप करने के लिए चूना या गारा एक हाथ से दूसरे हाथ में जाते हुए, अंतिम मनुष्य तक पहुंचते पहुंचते अत्यल्प मात्रा में रह जाता है, इसी प्रकार सूत्रार्थ भी न्यून-न्यूनतम होता जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

११७९.मणि-रयण-हेमया वि य,
कविसीसा सव्वरयणिया दारा।
सव्वरयणामय च्चिय,
पडाग-झय-तोरणा चित्ता॥

आभ्यन्तर प्राकार के कपिशीर्ष मणिमय, मध्यमप्राकार के रत्नमय तथा बाह्यप्राकार के हेममय होते हैं। तीनों प्राकारों में चार-चार द्वार होते हैं। वे सर्वरत्नमय होते हैं। उन सबमें सर्व रत्नमय पताका, ध्वजा और तोरण होते हैं। वे आश्चर्यकारी होते हैं। (वैमानिक, ज्योतिष्क तथा भवनपति देव अपने-अपने प्राकारों में ये सारे कार्य निष्पन्न करते हैं।)

११८०.चेइदुम पेढ छंदग, आसण छत्तं च चामराओ य।
जं चऽन्नं करणिज्जं, करिंति तं वाणमंतरिया॥

चैत्यद्रुम, पीठ, देवच्छंद, सिंहासन, छत्र, चामर—ये सारे तथा अन्य जो कुछ भी करणीय होता है, वह सारा वानव्यंतरदेव करते हैं।

११८१.साहारण ओसरणे, एवं जत्थिड्ढिमं तु ओसरई।
एक्को च्चिय तं सव्वं, करेइ भयणा उ इयरेसिं॥

साधारण अर्थात् जहां अनेक देवेन्द्र आते हैं वहां समवसरण में पूर्वोक्तनियोग—विधि है। जहां कोई ऋद्धिमान्—इन्द्र सामानिक आदि आता है वहां वही अकेला प्राकार आदि सारा करता है। जहां इन्द्र आदि महर्द्धिक देव नहीं आते वहां भवनपति आदि समवसरण की रचना करते भी हैं और नहीं भी करते। इसमें भजना है।

११८२.सूरुदय पच्छिमाए, ओगाहिंतीए पुव्वओ एति।
दोहिं पउमेहिं पाया, मग्गेण य होंति सत्तऽन्ने॥

सूर्योदय के समय अर्थात् प्रथम पौरुषी में तथा अपराह्न में अंतिम पौरुषी का अवगाहन हो जाने पर भगवान् पूर्वद्वार से उस समवसरण में प्रवेश करते हैं। भगवान् देवता द्वारा परिकल्पित दो-दो पद्मों पर पैर रखते हुए आगे बढ़ते हैं। भगवान् के पिछले भाग में सात पद्म होते हैं। ज्यों-ज्यों भगवान् आगे बढ़ते हैं, उन सात पद्मों में से पीछे वाले पद्म एक-एक कर आगे आते जाते हैं। भगवान् उन पद्मों पर पैर रखते हुए आगे बढ़ते हैं।

११८३.आयाहिण पुव्वमुहो, तिदिसिं पडिरूवया य देवकया।
जेट्ठगणी अन्नो वा, दाहिणपुव्वे अदूरम्मि॥

भगवान् प्रवेश कर चैत्यवृक्ष की प्रदक्षिणा कर पूर्वाभिमुख होकर सिंहासन पर बैठ जाते हैं। शेष तीनों दिशाओं में देवकृत प्रतिरूपक—तीर्थंकर की आकृति धारक तीन मुखों की विकुर्वणा करते हैं। ज्येष्ठ गणधर अथवा अन्य गणधर भगवान् के चरणों में बैठते हैं। वे गणधर पूर्वद्वार से प्रवेश कर दक्षिण-पूर्व दिग्भाग में भगवान् के निकट बैठते हैं। (शेष सारे गणधर ज्येष्ठ गणधर के पार्श्व में बैठते जाते हैं।)

११८४.जे ते देवेहिं कया, तिदिसिं पडिरूवगा जिणवरस्स।
तेसिं पि तप्पभावा, तयाणुरूवं हवइ रूवं॥

देवताओं ने तीनों दिशाओं में जिनवर के जो प्रतिरूपक निर्मित किए थे, तीर्थंकर के प्रभाव से उनमें भी तीर्थंकररूप के अनुरूप रूप होता है।

११८५.तित्थाऽइसेससंजय, देवी वेमाणियाण समणीओ।
भवणवइ-वाणमंतर-जोइसियाणं च देवीओ॥

तीर्थ[1] अर्थात् गणधरों के बैठ जाने पर अतिशार्या मुनि बैठते हैं। उनके बाद वैमानिक देवियां, फिर श्रमणियां, फिर भवनपति, वानव्यंतर तथा ज्योतिष्क देवों की देवियां बैठती हैं।

११८६.केवलिणो तिउण जिणं, तित्थपणामं च मग्गओ तस्स।
मणमाई वि नमंता, वयंति सट्ठाण सट्ठाणं॥

केवली जिनेश्वरदेव को तीन प्रदक्षिणा कर, तीर्थ को प्रणाम कर, तीर्थ अर्थात् प्रथम गणधर तथा अन्य गणधरों के पीछे बैठ जाते हैं। तत्पश्चात् मनःपर्यवज्ञानी आदि अतिशय ज्ञानी मुनि तीर्थ आदि को प्रणाम करते हुए अपने-अपने स्थान पर चले जाते हैं, बैठ जाते हैं।[2]

११८७.भवणवई जोइसिया, बोधव्वा वाणमंतरसुरा य।
वेमाणिया य मणुया, पयाहिणं जं च निस्साए॥

भवनपति, ज्योतिष्क तथा वानव्यंतर—ये तीनों प्रकार के देव विधिपूर्वक एक दूसरे के पीछे उत्तर-पश्चिम दिग्भाग में खड़े रहते हैं। वैमानिक देव, मनुष्य, स्त्रियां तीर्थंकर की प्रदक्षिणा कर पूर्वदिग्भाग में यथाक्रम खड़े रहते हैं और उन

१. तीर्थः गणधरः। (वृ. पृ. ३६८)

२. वृत्ति में इसका विस्तार इस प्रकार है—केवली पूर्वद्वार से प्रविष्ट होकर भगवान् के दक्षिण-पूर्व दिशा में बैठ जाते हैं। उनके पीछे मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, चौदहपूर्वी, दशपूर्वी, नौपूर्वी तथा विविधलब्धिसंपन्न मुनि पूर्वदिशा वाले द्वार से प्रवेश कर भगवान् को प्रदक्षिणा और नमस्कार कर, तीर्थ, गणधर और केवलियों को नमस्कार कर केवलियों के पीछे बैठ जाते हैं। शेष मुनि पूर्वद्वार से प्रविष्ट होकर, भगवान् को विधिपूर्वक वंदना कर, उपस्थित सभी मुनियों को नमस्कार कर अतिशयज्ञानियों के पीछे बैठ जाते हैं। वैमानिक देवियां पूर्वद्वार से प्रविष्ट होकर सबको प्रणाम कर, अतिशयज्ञानियों के पीछे खड़ी हो जाती हैं। तदनन्तर साध्वियां भगवान् को तथा तीर्थ के सभी साधुओं को नमस्कार कर उन देवियों के पीछे खड़ी हो जाती हैं, बैठती नहीं। भवनपति, व्यन्तर और ज्योतिष्क देवलोक की देवियां दक्षिण दिशा से प्रविष्ट होकर तीर्थंकर आदि को वंदना कर दक्षिण-पश्चिम दिग्भाग में खड़ी हो जाती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देवों और मनुष्यों के निश्रा में आए हुए देव, मनुष्य भी उनके पास ही खड़े रहते हैं।

११८८.एक्केक्कीए दिसाए, तिगं तिगं होइ सन्निविट्ठं तु।
आइ-चरिमे विमिस्सा, थी-पुरिसा सेस पत्तेयं॥

एक-एक दिशा में एक-एक त्रिक बैठा हुआ अथवा खड़ा हुआ रहता है। जैसे–दक्षिण-पूर्व दिशा में श्रमण, वैमानिक देवांगनाएं तथा श्रमणियां–यह त्रिक, उत्तर-दक्षिण दिशा में भवनपति, व्यंतर और ज्योतिष्क की देवांगनाएं–यह त्रिक, उत्तर-पश्चिम दिशा में भवनपति, व्यंतर और ज्योतिष्क देव–यह त्रिक, उत्तर-पूर्व दिशा में वैमानिक देव, मनुष्य और स्त्रियां–यह त्रिक। प्रथम और अंतिम त्रिक में विमिश्र अर्थात् स्त्री-पुरुष दोनों, शेष दो त्रिकों में एक में पुरुष और एक में स्त्रियां।

११८९.इंतं महिड्ढियं पणिवयंति ठियमवि वयंति पणमंता।
न वि जंतणा न विकहा, न परोप्परमच्छरो न भयं॥

यदि समवसरण में पहले अल्पऋद्धिवाले देव आकर स्थित हो गए हों वे पश्चात् आने वाले महर्द्धिक देवों को प्रणाम करते हैं। यदि महर्द्धिक देव पहले आकर समवसरण में स्थित हों तो आने वाले अल्पऋद्धि वाले देव उनको नमस्कार कर अपने-अपने स्थान पर चले जाते हैं। ऐसे आने-जाने वालों के तत्रस्थित देवों की ओर से कोई यंत्रणा नहीं होती, न विकथा का प्रसंग आता है, न परस्पर मत्सरभाव पैदा होता है और न भय–संत्रास का अनुभव होना है।

११९०.बिइयम्मि होंति तिरिया, तइए पागारमंतरे जाणा।
पागारजढे तिरिया, वि होंति पत्तेय मिस्सा वा॥

समवसरण के दूसरे प्राकार में तिर्यंच होते है और तीसरे प्रकार में यान-वाहन। प्राकार के बाहर तिर्यंच, मनुष्य, देव–ये सारे अकेले अथवा मिश्ररूप में होते हैं।

११९१.सव्वं व देसविरइं, सम्मं घेच्छइ व होइ कहणा उ।
इहरा अमूढलक्खो, न कहेइ भविस्सइ न तं च॥

उस समवसरण में कोई सर्वविरति अथवा देशविरति अथवा सम्यक्त्व ग्रहण करेगा, इस दृष्टि से भगवान् धर्मदिशना देते हैं। अन्यथा वे धर्मदिशना नहीं देते। वे अमूढ़लक्ष्य वाले होते हैं। ऐसा कभी नहीं होता कि भगवान् की धर्मदिशना में कोई प्राणी किसी न किसी सामायिक को ग्रहण न करे।

११९२.मणुए चउमन्नयरं, तिरिए तिन्नि व दुवे व पडिवज्जे।
जइ नत्थि नियमसो च्चिय, सुरेसु सम्मत्तपडिवत्ती॥

सामायिक के चार प्रकार हैं–सम्यक्त्व सामायिक, श्रुत सामायिक, देशविरति सामायिक तथा सर्वविरति सामायिक। मनुष्य इन चार प्रकार की सामायिकों में से किसी एक सामायिक को ग्रहण करता है। तिर्यंच तीन (सम्यक्त्व, श्रुत, देशविरति) अथवा दो (सम्यक्त्व तथा श्रुत) सामायिक ग्रहण करता है। यदि मनुष्य और तिर्यंच में कोई सामायिक ग्रहण करने में समर्थ न हो तो नियमतः देवों में किसी न किसी को सम्यक्त्व की प्रतिपत्ति होती है।

११९३.तित्थपणामं काउं, कहेइ साहारणेण सद्देणं।
सव्वेसिं सन्नीणं, जोयणनीहारिणा भगवं॥

भगवान् धर्मदिशना से पूर्व तीर्थ को नमस्कार करते हैं और तदनन्तर साधारण अर्थात् स्व-स्वभाषा में परिणमन-समर्थ तथा योजनव्यापी शब्दों से धर्मदिशना देते हैं। भगवान् की दिव्यशब्दध्वनि से सभी संज्ञी जीवों की जिज्ञासाएं शांत हो जाती हैं।

११९४.तप्पुव्विया अरहया, पूइयपूया य विणयमूलं च।
कयकिच्चो वि जह कहं, कहेइ नमए तहा तित्थं॥

शिष्य पूछता है–भगवान् तीर्थ को प्रणाम क्यों करते हैं? आचार्य कहते हैं–तीर्थ का अर्थ है श्रुतज्ञान। इससे ही अर्हत्ता–तीर्थकरता प्राप्त होती है। पूजितपूजा अर्थात् भगवान् तीर्थ की पूजा करते हैं तो लोग भी उसकी पूजा करने लग जाते हैं। भगवान् ने विनयमूल धर्म का प्रतिपादन किया, इसलिए उन्होंने सर्वप्रथम तीर्थ के प्रति विनय प्रदर्शित किया। प्रश्न है–भगवान् कृतकृत्य हो चुके थे, फिर धर्मकथा करना, तीर्थ को प्रणाम करना–यह क्यों?

(भगवान् को तीर्थकरनामगोत्र कर्म का अवश्य वेदन करना था, भोगना था, इसलिए धर्मदिशना देना ही एकमात्र उपाय था। आवश्यक निर्युक्ति (गाथा १८३) में कहा है–*'तं च कहं वेइज्जइ? अगिलाए धम्मदेसणाईहिं'।*)

११९५.जत्थ अपुव्वोसरणं, न दिट्ठपुव्वं व जेण समणेणं।
बारसहिं जोयणेहिं, सो एइ अणागमे लहुगा॥

जिस क्षेत्र में अपूर्व–पहली बार समवसरण होता है और जिस श्रमण ने पहले कभी नहीं देखा है और वह बारह योजन दूर पर स्थित है तो भी वह समवसरण देखने के लिए आ सकता है। यदि वह नहीं आता है तो उसे चतुर्लघु का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

११९६.सव्वसुरा जइ रूवं, अंगुट्ठपमाणयं विउव्विज्जा।
जिणपायंगुट्ठं पइ, न सोहए तं जहिंगालो॥

यदि सभी देवता मिलकर (सारतम पुद्गलों से) अंगुष्ठ-प्रमाण रूप की विकुर्वणा करते हैं, फिर भी वह रूप तीर्थंकर के पादांगुष्ठ जितना भी शोभित नहीं हो सकता, जैसे अंगार।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

११९७. गणहर आहार अणुत्तरा य जाव वण-चक्कि-वासु-बला।
मंडलिया जा हीणा, छट्ठाणगया भवे सेसा॥

तीर्थंकर की रूपसंपदा की तुलना में गणधर रूपसंपदा अनंतगुणहीन, इससे आहारक शरीर अनंतगुणहीन, इससे अनुत्तरोपपातिक देवों का शरीर अनन्तगुणहीन, इससे भी अनंतगुणहीन उपरितन-उपरितन ग्रैवेयकदेवों का शरीर, इसी प्रकार वैमानिक देवों के एक-एक से नीचे के देव शरीर यावत् सौधर्मकल्प तक अनन्तगुणहीन होते हैं। इनसे भवनपति-ज्योतिष्क-वनचर-चक्रवर्ती-वासुदेव-बलदेव मांडलिक राजा रूप से यथाक्रम अनंतगुणहीन होते हैं। शेष राजा और जनपद के लोग परस्पर षट्स्थानपतित होते हैं। (वे षट्स्थान ये हैं– (१) अनन्तभागहीन (२) असंख्येयभागहीन (३) संख्येय-भागहीन (४) संख्येयगुणहीन (५) असंख्येयगुणहीन ६. (अनन्तगुणहीन।)

११९८. संघयण-रूव-संठाण-वन्न-गइ-सत्त-सार-ऊसासा।
एमादऽणुत्तराइं, हवंति नामोदया तस्स॥

भगवान् का संहनन, रूप, संस्थान, वर्ण, गति, सत्त्व–धैर्य, सार, उच्छ्वास-निःश्वास आदि नाम कर्म के उदय से अनुत्तर होते हैं।

११९९. पयडीणं अन्नासऽवि, पसत्थ उदया अणुत्तरा होंति।
खयउवसमे वि य तहा, खयम्मि अविगप्पमाहंसु॥

नाम कर्म की प्रकृतियों के अतिरिक्त गोत्र आदि कर्म-प्रकृतियों का उदय भी प्रशस्त और अनुत्तर होता है। भगवान् के कर्मों का क्षयोपशम भी अनुत्तर होता है। क्षय अविकल्पनीय–विकल्पातीत होता है।

१२००. अस्सायमाइयाओ, जा वि य असुहा हवंति पगडीओ।
निंबरसलवु व्व पए, न होंति ता असुहया तस्स॥

असातावेदनीय आदि कर्मप्रकृतियां जो अशुभ होती हैं, वे भी भगवान् के लिए दूध में निम्बरस के लव की भांति असुखकर या अशुभकर नहीं होतीं।

१२०१. धम्मोदएण रूवं, करेंति रूवस्सिणो वि जइ धम्मं।
गज्झवओ य सुरूवो, पसंसिमो रूवमेवं तु॥

धर्म के उदय से अर्थात् प्रशस्त और शुभ प्रकृति के उदय से रूप की प्राप्ति होती है। रूपवान् व्यक्ति भी यदि धर्म करते हैं तो शेष सामान्य व्यक्ति भी धर्म के प्रति तत्पर होते हैं। सुरूप व्यक्ति आदेयवाक्य होता है। इसलिए हम भगवान् के रूप की प्रशंसा करते हैं।

१२०२. कालेण असंखेण वि, संखाईयाणं संसईणं तु।
मा संसयवोच्छित्ती, न होज्ज कमवागरणदोसा॥

प्रश्न होता है कि समवसरण में उपस्थित सभी प्राणियों के संशयों का व्यवच्छेद भगवान् एक साथ कैसे कर देते हैं? यदि प्रत्येक के संशय का व्यवच्छेद क्रमपूर्वक किया जाता है तो उसमें क्या दोष है? उत्तर में कहा गया–असंख्येय काल में भी संख्यातीत संशयी व्यक्तियों के संशयों की व्यवच्छित्ति क्रमपरिपाटी से नहीं हो सकती। भगवान् जानते थे कि यह क्रमपूर्वकव्याकरण का दोष है। यह दोष न आए, इसलिए उन्होंने युगपद् व्याकरण किया।

१२०३. सव्वत्थ अविसमत्तं, रिद्धिविसेसो अकालहरणं च।
सव्वन्नुपच्चओ वि य, अचिंतगुणभूइओ जुगवं॥

युगपद् व्याकरण के ये गुण हैं–

१. सब जीवों के प्रति अविषमता का पालन।
२. ऋद्धिविशेष का द्योतन।
३. अकालहरण।[1]
४. सर्वज्ञत्व का प्रत्यय।
५. अचिन्त्य गुणसंपदा का द्योतन।

१२०४. वासोदगस्स व जहा, वन्नादी होंति भायणविसेसा।
सव्वेसिं पि सभासं, जिणभासा परिणमे एवं॥

वर्षा के पानी से अथवा ऐसे ही किसी एकरूप पानी से भूमी आदि के आधार-विशेष से वर्ण आदि (वर्ण, गंध, रूप, स्पर्श) विचित्र प्रकार के होते हैं। वैसे ही जिनेश्वरदेव की भाषा श्रोताओं की अपनी-अपनी भाषा में परिणत हो जाती है।

१२०५. साहारणा-ऽसवत्ते, तओवओगो उ गाहगगिराए।
न य निव्विज्जइ सोया, किढिवाणियदासिआहरणा॥

भगवान् की वाणी साधारण[2] होती है। वह असपत्न अर्थात् अनन्यसदृशी होती है। श्रोता उसी में एकाग्र हो जाता है। वह ग्राहिका अर्थात् अर्थपरिच्छेदकारी होती है। उसको सुनते-सुनते श्रोता नहीं ऊबता। यहां वणिक् की बूढ़ी दासी का उदाहरण है।[3]

१२०६. सव्वाउअं पि सोया, झविज्ज जइ हु सयय जिणो कहए।
सी-उण्ह-खु-प्पिवासा-परिस्सम-भए अविगणिंतो॥

---

१. क्रमपूर्वक संशय की व्यवच्छित्ति की प्रवृत्ति में किसी संशयी व्यक्ति का संशयव्यवच्छित्ति से पूर्व ही मृत्यु उसका हरण कर लेती है। अतः युगपद्निर्वचन में अकालहरण होता है।

२. साधारण के तीन अर्थ हैं–(१) समस्त संज्ञी प्राणियों की भाषाओं में परिणत होने वाली (२) जैसे दूध में शक्कर आदि मधुर द्रव्य मिलाने पर वह दूध सुस्वादु हो जाता है, वैसे ही वह वाणी सुस्वादु होती है (३) वह वाणी प्राणियों को आधार देकर परित्राण करने वाली होती है।

३. उदाहरण के लिए देखें कथा परिशिष्ट, नं. ५२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यदि भगवान् सतत धर्मदेशना करते रहें तो श्रोता शीत-उष्ण, भूख, प्यास, परिश्रम और भय--इन सबको न गिनता हुआ, धर्मदेशना सुनते-सुनते अपना आयुष्य भी पूरा कर देता है।

१२०७.वित्ती उ सुवन्नस्सा, बारस अद्धं च सयसहस्साइं।
तावइयं चिय कोडी, पीईदाणं तु चक्कीणं॥

जो व्यक्ति भगवान् के विहरणक्षेत्र संबंधी तथा अन्यान्य प्रवृत्तियों के विषय में प्रतिदिन के समाचार चक्रवर्ती को निवेदित करता है तो उसको चक्रवर्ती वार्षिक वृत्ति के रूप में साढ़े बारह लाख स्वर्ण (स्वर्णमुद्रा) का दान देता है। यह वृत्तिदान कहलाता है।

जो व्यक्ति नगर में भगवान् के आगमन का समाचार चक्रवर्ती को निवेदित करता है, उसे साढ़े बारह कोटि स्वर्ण देते हैं, यह प्रीतिदान कहलाता है।

१२०८.एतं चेव पमाणं, नवरं रययं तु केसवा दिंति।
मंडलियाण सहस्सा, वित्ती पीई सयसहस्सा॥

वासुदेव इतने प्रमाण में ही रजत का दान देते हैं। मांडलिक राजा का वृत्तिदान साढ़े बारह हजार रजत का और प्रीतिदान साढ़े बारह लाख रजत प्रमाण वाला होता है।

१२०९.भत्ति-विभवाणुरूवं, अन्ने वि य दिंति इब्भमाईया।
सोऊण जिणागमणं, निउत्तमनिओइएसुं वा॥

नियुक्त अथवा अनियुक्त व्यक्तियों द्वारा भगवान् के आगमन का संवाद सुनकर इभ्य[1] आदि प्रत्येक व्यक्ति अपनी भक्ति और वैभव के अनुरूप वृत्ति अथवा प्रीतिदान देते हैं।

१२१०.देवाणुवित्ति भत्ती, पूया थिरकरण सत्तअणुकंपा।
साओदय दाणगुणा, पभावणा चेव तित्थस्स॥

(वृत्तिदान और प्रीतिदान का लाभ)

जब चक्रवर्ती आदि वृत्तिदान और प्रीतिदान देते हैं तब माना जाता है कि उन्होंने देवताओं की अनुवृत्ति--अनुसरण किया है। भगवान् की भक्ति और पूजा होती है। नए श्रद्धालुओं का स्थिरीकरण होता है। भगवान् के वृत्तान्त की जानकारी देने वालों पर अनुकंपा होती है। सातावेदनीय कर्म का बंध होता है। तीर्थ की प्रभावना होती है। दान के ये गुण हैं।

१२११.राया व रायमच्चो, तस्सासइ पउर जणवओ वा वि।
दुब्बलिकंडिय बलिछडिय तंदुलाणाढगं कलमा॥

राजा अथवा मंत्री अथवा इनके अभाव में पौरजन अथवा जनपद--ग्रामवासियों का समुदय मिलकर एक आढ़क (चार प्रस्थ--चार सेर) कलमी तन्दुल, दुर्बल व्यक्तियों द्वारा छांटे जाने पर तथा बलवान् व्यक्तियों द्वारा निष्तुष किए जाने पर देवमाल्य अर्थात् बलि निष्पन्न की जाती है।

१२१२.भाइयपुण्णाणियाणं, अखंड-ऽफुडियाण फलगसरियाणं।
कीरइ बली सुरा वि य, तत्थेव छुहंति गंधाई॥

वे कलमी तन्दुल भाजित अर्थात् धनवानों के घर में बीनने के लिए दिए जाते हैं। जब यह बीनना संपन्न हो जाता है तब उन्हें ले आते हैं। अखंड और अस्फुटित (पूरे तथा लकीर रहित) उस शालि को फलक से साफ कर बलि निष्पन्न की जाती है। देवता उसी में गंध आदि का प्रक्षेप करते हैं।

(उस देवमाल्य के आनयन की विधि यह है--राजा आदि देवताओं से परिवृत होकर, दिग्मंडल को गुंजित करने वाले पटह, तूर्य आदि वाद्यों के साथ पूर्वद्वार से समवसरण में प्रविष्ट होते हैं। तब भगवान् धर्मदेशना का उपसंहार कर देते हैं।)

१२१३.बलिपविसणसमकालं, पुव्वद्दारेण ठाइ परिकहणा।
तिगुणं पुरओ पाडण, तस्सद्धं अवडियं देवा॥

जब पूर्वद्वार से बलि का प्रवेश होता है तब तत्काल भगवान् धर्मदेशना से उपरत हो जाते हैं। बलि को लेकर राजा आदि भगवान् को तीन बार प्रदक्षिणा कर बलि को भगवान के चरणों के सामने गिरा देते हैं। उस बलि का आधा भाग, भूमी पर गिरने से पूर्व ही देवता ग्रहण कर लेते हैं।

१२१४.अद्धद्धं अहिवइणो, तदद्ध मो होइ पागयजणस्स।
सव्वामयप्पसमणी, कुप्पइ नऽन्नो य छम्मासे॥

बलि का शेष बचे हुए आधे भाग में से आधा भाग बलि के स्वामी--राजा आदि को प्राप्त होता है। उससे आधा अर्थात् चतुर्थ भाग प्राकृतजन अर्थात् इतर लोगों को प्राप्त होता है। यह बलि समस्त रोगों का उपशमन करने वाली होती है तथा छह मास तक दूसरा कोई रोग उत्पन्न नहीं होता। (इस बलि का एक कण भी जिसके सिर पर प्रक्षिप्त कर दिया जाता है तो वह उपरोक्त प्रभाव से लाभान्वित हो जाता है।)

१२१५.खेयविणोओ सीसगुणदीवणा पच्चओ उभयओ वि।
सीसा-ऽऽयरियकमो वि य, गणहरकहणे गुणा होंति॥

(प्रथम प्रहर में भगवान् जब धर्मदेशना देकर उपरत होते हैं तब तीर्थ अर्थात् प्रथम गणधर अथवा अन्य गणधर द्वितीय प्रहर में धर्मकथा करते हैं।)

शिष्य प्रश्न करता है--भगवान् ही धर्मकथा क्यों नहीं करते? क्या गणधर के धर्मकथा करने में कोई गुण है? आचार्य कहते हैं--गुण हैं। भगवान् को खेदविनोद अर्थात् परिश्रम से विश्राम मिल जाता है। शिष्य के गुणों की दीपना

१. इभमर्हतीति इभ्यः, यस्य सत्कसुवर्णादिद्रव्यपुञ्जेनान्तरितो हस्त्यपि न दृश्यते सः। (वृ. पृ. ३७५)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होती है। भगवान् और शिष्य—दोनों के प्रति विश्वास होता है। (जैसे भगवान् ने कहा, गणधर भी वैसा ही कहते हैं।) शिष्य और आचार्य का क्रम भी प्रदर्शित होता है। गणधर के धर्मकथा करने के ये गुण हैं।

१२१६.राओवणीय सीहासणोवविट्ठो व पायवीढम्मि।
जिट्ठो अन्नयरो वा, गणहारि कहेइ बीयाए॥

वह गणधर राजा द्वारा उपनीत सिंहासन पर अथवा भगवान् के पादपीठ पर बैठकर ज्येष्ठ गणधर अथवा अन्य कोई गणधारी दूसरे प्रहर में धर्मकथा करता है।

१२१७.संखाईए वि भवे, साहइ जं वा परो उ पुच्छिज्जा।
न य णं अणाइसेसी, वियाणई एस छउमत्थो॥

गणधर संख्यातीत भवों का कथन कर सकते हैं। अथवा दूसरा व्यक्ति जो कोई प्रश्न करता है, उसका वे समाधान करते हैं। अनतिशायी ज्ञानी उस गणधर को 'यह छद्मस्थ है'—ऐसा नहीं जानता। (किन्तु निःशेष प्रश्नों का उत्तर देने में समर्थ जानकर उसे सर्वज्ञ की प्रतीति होती है।)

१२१८.तित्थयरस्स समीवे, वक्खेवो तत्थ एवमाईहिं।
सुत्तग्गहणं ताहे, करेइ सो बारस समाओ॥

इस प्रकार तीर्थंकर के समीप अध्ययन में अनेक व्याक्षेप आते हैं। तब शिष्य आचार्य को कहता है—भंते! मैं यहीं सूत्र पढ़ूंगा, यह कहकर वह बारह वर्षों तक सूत्र-ग्रहण करता है।

१२१९.सुत्तम्मि य गहियम्मी, दिट्ठंतो गोण-सालिकरणेणं।
उवभोगफला साली, सुत्तं पुण अत्थकरणफलं॥

सूत्र-ग्रहण के पश्चात् उसका अर्थ अवश्य जान लेना चाहिए। क्योंकि सूत्र अर्थकरणफल अर्थात् सूत्रार्थ के आचरण फल वाला होता है। यहां बैल[1] और शालि[2] के दृष्टांत हैं। शालि की उत्पत्ति का फल है—शालि का उपभोग।

१२२०.जइ बारस वासाइं, सुत्तं गहियं सुणाहि से अहुणा।
बारस चेव समाओ, अत्थं तो नाहिसि न वा णं॥

यदि बारह वर्षों तक सूत्र का ग्रहण किया है तो बारह वर्षों तक उसका अर्थ सुनो, ग्रहण करो। इस प्रकार तुम अपने ज्ञानावरणीयकर्म के क्षयोपशम के अनुसार विवक्षित अर्थ को जान पाओगे, अथवा पूरा नहीं भी जान पाओगे।

१२२१.सन्नाइसुत्त ससमय, परसमय उस्सग्गमेव अववाए।
हीणा-ऽहिय-जिण-थेरे, अज्जा काले य वयणाई॥

जैनेन्द्र प्रवचन में सूत्र अनेक प्रकार के हैं[3]—

संज्ञासूत्र आदि, स्वसमयसूत्र, परसमयसूत्र, उत्सर्गसूत्र, अपवादसूत्र, हीनाक्षरसूत्र, अधिकाक्षरसूत्र, जिनकल्पसूत्र, स्थविरकल्पसूत्र, आर्यासूत्र, कालसूत्र, वचनसूत्र आदि।

१२२२.जे सुत्तगुणा खलु लक्खणम्मि कहिया उ सुत्तमाईया।
अत्थग्गहणमराला, तेहिं, चिय पन्नविज्जंति॥

सूत्र के जो गुण पीठिका के लक्षणद्वार (गाथा २८२) में कहे गए हैं अथवा (गाथा ३१०) 'सुत्तमाईय' से प्रतिपादित हैं, उन्हीं हेतुओं से अर्थग्रहण में मराल की भांति शिष्य प्रज्ञापित किए जाते हैं।

१२२३.जइ वि पगासोऽहिगओ, देसीभासाजुओ तहा वि खलु।
उंदुय सिया य वीसुं, एरगमाई य पच्चक्खं॥

(शिष्य ने पूछा—जब सूत्र और अर्थ जान लिया गया है, फिर देशाटन से क्या प्रयोजन?) आचार्य कहते हैं—बारह वर्षों तक सूत्र ग्रहण किया और बारह वर्षों तक सूत्र का प्रकाश अर्थात् अर्थ भी ग्रहण कर लिया। फिर भी उस शिष्य को देशी भाषाओं से युक्त करना चाहिए। जैसे उंदुक का अर्थ है—स्थान। सिया-स्यात् के तीन अर्थ हैं—है, आशंका तथा भजना—विकल्प। वीसु का अर्थ है—पृथग्। एरक का अर्थ है—गुन्द्रा, भद्रमुस्तक (नागर मोथा)—ये सारे देशीशब्द हैं इसी प्रकार पयः पिच्च, नीर आदि शब्द हैं। जो देशदर्शन के लिए जाता है उसको ये तथा ऐसे ही अन्य शब्द प्रत्यक्षतः प्राप्त होते हैं।

१-२. दृष्टान्त के लिए देखें कथा परिशिष्ट, नं. ५३-५४।

३. विभिन्न सूत्र

१. संज्ञा सूत्र—जे छेए से सागारियं न सेवे। (आचा. श्रु. १ अ. ५ उ. १)

२. स्वसमयसूत्र—करेमि भंते! सामाइयं। (सामायिकाध्ययन)

३. परसमयसूत्र—पंचखंधे वयंतेगे, बाला उ खणजोविणो।
(सू. कृ. श्रु. १ अ. १ उ. १)

४. उत्सर्गसूत्र—अभिक्खणं निव्विगइं गया य। (दश. चू. २ गा. ७)

५. अपवादसूत्र—तिण्हमन्नयरागस्स निसिज्जा.....।
(दश. अ. ६ गा. ५९)

६. हीणाक्खरं—अक्षरों से हीन।

७. अहियाक्खरं—अधिक अक्षरों से युक्त।

८. जिनकल्पिक—नेगिच्छं नाभिनंदिज्जा..। (उत्त. अ. २ गा. ३३)

९. स्थविरकल्पिक—भिक्खू अ इच्छिज्जा अन्नयरिं तेगिंच्छिं आउंटित्तए।

१०. दोनों का सामान्य—संसट्ठकप्पे ण चरिज्ज भिक्खू।
(दश. चू. २ गा. ६)

११. आर्यासूत्र—कप्पइ निग्गंथीणं अंतोलित्तं घडिमत्तयं धारित्तए।
(उ.१ सूत्र १६)

१२. कालविषयक—न य लभेज्जा निउणं सहायं,.....।
(दश. चू. २ गा. १०)

१३. वचनसंबंधि—.....एगवयणं वएज्जा, दुवयणं वयमाणे आदि।
आदि शब्द से भयसूत्र आदि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१२२४. जो वि पगासो बहुसो, गुणिओ पच्चक्खओ न उवलद्धो।
जच्चंधस्स व चंदो, फुडो वि संतो तहा स खलु॥

जिस शिष्य ने सूत्रों के प्रकाश अर्थात् अर्थ का अनेक बार अभ्यास कर लिया है, किन्तु प्रत्यक्षतः उन अर्थों को उपलब्ध नहीं हुआ, सुना नहीं है, उसके लिए प्रत्यक्ष दर्शन के बिना उन शब्दों का अर्थ परिस्फुट नहीं होता। जैसे जात्यन्धव्यक्ति चन्द्रमा को भी अस्पष्ट ही मानता है।

१२२५. आयरियत्तअभविए, भयणा भविओ परीइ नियमेणं।
अप्पतइओ जहन्ने, उभयं किं चाऽऽरियं खेत्तं॥

जो शिष्य आचार्यपद के लिए अभव्य–अयोग्य होता है, उसके लिए देशदर्शन के लिए जाना अनिवार्य नहीं है, वैकल्पिक है। किन्तु जो शिष्य आचार्यपद के लिए योग्य होता है, वह नियमतः देशदर्शन के लिए जाता है।

१२२६. दंसणसोही थिरकरण देस अइसेस जणवयपरिच्छा।
काउ सुयं दायव्वं, अविणीयाणं विवेगो य॥

देशदर्शन के ये गुण हैं–दर्शनशोधि, स्थिरीकरण, देश, अतिशेष, जनपदपरीक्षा–यह सब संपन्न कर विनीत को श्रुत देना चाहिए। और अविनीत को विवेक।

(यह द्वार गाथा है। इसका विस्तार आगे।)

१२२७. जम्मण-निक्खमणेसु य तित्थयराणं महाणुभावाणं।
इत्थ किर जिणवराणं, आगाढं दंसणं होइ॥

महानुभाव तीर्थंकरों की जन्मभूमी (अयोध्या आदि), निष्क्रमणभूमी (उज्जयन्त आदि), ज्ञानोत्पत्ति (पुरिमताल आदि), निर्वाणभूमी (सम्मेदशिखर, चंपा आदि)–इन क्षेत्रों में विहरण करने से, जिनवर संबंधी बातें ज्ञात करने पर, वह मुनि निःशंक हो जाता है। उसका दर्शन–सम्यक्त्व आगाढ़ अर्थात् अत्यंत विशुद्ध हो जाता है।

१२२८. संवेगं संविग्गाण जणयए सुविहिओ सुविहियाणं।
आउत्तो जुत्ताणं, विसुद्धलेसो सुलेस्साणं॥

देशदर्शन करने वाला संविग्न मुनियों में संवेग पैदा करता है। वह मुनि स्वयं सुविहित होकर सुविहित मुनियों में सुविहित का अर्थात् शुद्ध अनुष्ठानों का, युक्त अर्थात् अप्रमादी व्यक्तियों में आयुक्त–अप्रमाद का, सुलेश्या वालों में विशुद्ध-लेश्या का प्रभाव पैदा करता है।

१२२९. नाणादेसीकुसलो, नाणादेसीकयस्स सुत्तस्स।
अभिलावअत्थकुसलो, होइ तओ णेण गंतव्वं॥

१२३०. कहयति अभासियाण वि, अभासिए आवि पव्वयावेइ।
सव्वे वि तत्थ पीइं, बंधंति सभासिओ णे त्ति॥

१२३१. पियधम्मऽवज्जभीरू, साहम्मियवच्छलो असढभावो।
संविग्गावेइ परं, परदेसपवेसणे साहू॥

विविध देशों की भाषा में कुशल मुनि विविध देशों की भाषा में निबद्ध सूत्रों के उच्चारण और अर्थ करने में कुशल होता है, इसलिए देशदर्शन के लिए जाना चाहिए।

वह मुनि अभाषक अर्थात् अव्यक्त भाषा वाले व्यक्तियों को भी धर्म देशना देता है और उनको प्रव्रजित करता है। सभी शिष्य उसके प्रति प्रीतिभाव रखते हैं। वे यह मानते हैं कि यह स्वाभाविक है, हमारी अपनी भाषा में बोलता है।

वह प्रियधर्मा, पापभीरू साधर्मिकवत्सल, अशठभाव–मायारहित–ऐसा साधु परदेश में प्रवेश करने पर संयमयोगों में शिथिल मुनियों में भी संविग्नता पैदा कर उनको संयमयोगों में स्थिर कर देता है।

१२३२. सुत्त-ऽत्थथिरीकरणं, अइसेसाणं च होइ उवलद्धी।
आयरियदंसणेणं, तम्हा सेविज्ज आयरिए॥

१२३३. उभए वि संकियाइं, पुव्विं जाइं सि पुच्छमाणस्स।
होइ जओ सुत्तत्थे, बहुस्सुए सेवमाणस्स॥

आचार्यों के दर्शन से उनकी सेवा करने से सूत्र और अर्थ का स्थिरीकरण होता है, अतिशेष–विशिष्ट अर्थ की उपलब्धि होती है। इसलिए आचार्य की पर्युपासना करनी चाहिए।

दोनों–सूत्र और अर्थ विषयक जो उसके शंकाएं पूर्व में हुई थीं, आचार्य से पूछ कर वह निःशंक हो जाता है। बहुश्रुत की सेवा करने से, सूत्र और अर्थ विषयक उसका अभ्यास परिपुष्ट हो जाता है।

१२३४. भवियाइरिओ देसाण दंसणं कुणइ एस इय सोउं।
अन्ने वि उज्जमंते, विणिक्खमंते य से पासे॥

भव्य आचार्य–आचार्य योग्य शिष्य यदि देशदर्शन के लिए जाते हैं तो यह सुनकर दूसरे शिष्य भी सूत्रार्थ-ग्रहण में उद्यम करते हैं। कुछेक गृहस्थ उनके पास दीक्षा स्वीकार करते हैं।

१२३५. सुत्तत्थे अइसेसा, सामायारी य विज्ज-जोगाई।
विज्जा जोगा य सुए, विसंति दुविहा अओ होंति॥

अतिशेष तीन प्रकार के हैं–(१) सूत्रार्थअतिशय (२) सामाचारीअतिशय तथा (३) विद्यायोगअतिशय। विद्या[1] और योग[2]–ये दोनों श्रुत में अंतर्निहित हो जाते हैं। अतः अतिशय दो प्रकार के ही होते हैं–सूत्रार्थअतिशय तथा सामाचारीअतिशय।

१. विद्या स्त्रीदेवता अधिष्ठित होती है। अथवा पूर्व सेवा आदि की प्रक्रिया से साध्य होती है। मंत्र पुरुषदेवताधिष्ठित होता है अथवा पठित सिद्ध होता है।
२. योग–पादलेपन आदि जिससे आकाश-गमन संभव होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१२३६.निक्खमणे य पवेसे, आयरियाणं महाणुभावाणं।
सामायारीकुसलो, अ होइ गणसंपवेसेणं॥

देशदर्शन करते हुए उस मुनि का महानुभाव बहुश्रुत आचार्यों के गण में विधि सहित प्रवेश करने पर, उस गण से अनेक शिष्यों का गणान्तर में निष्क्रमण और प्रवेश होने से वह सामाचारी में कुशल हो जाता है।

१२३७.आगंतुसाहुभावम्मि अविदिए धन्नसालमाइठिया।
उप्पत्तियाउ थेरा, सामायारीउ ठाविंति॥

वहां आगंतुक मुनियों के भावों को न जानते हुए, कई स्थविर आचार्य जो धान्यशाला आदि में स्थित हैं, वे औत्पत्तिकी अर्थात् अनुत्पन्नपूर्व सामाचारी का प्रतिपादन करते हैं। जैसे–

१२३८.सव्वे वि पडिग्गहए, दंसेउं नीह पिंडवायट्ठा।
अहिमरमायासंका, पडिलेहेउं व पविसंति॥

वे आचार्य पिंडपात (भिक्षाचर्या) के लिए जाने वाले मुनियों को कहते हैं–सभी मुनि अपनी-अपनी गोचरी में प्रयुक्त पात्रों को दिखाकर जाएं। यह इसलिए कि कोई अभिमर अर्थात् उदायीनृपमारकवत् श्रमणवेष में आ न जाए। इस आशंका से वे आचार्य अपूर्व सामाचारी की स्थापना करते हैं। तब भिक्षाचरी से निवृत्त होकर वे मुनि गुरु के समक्ष सारी प्रत्युपेक्षा कर फिर भीतर प्रवेश करते हैं।

१२३९.अब्भे नदी तलाए, कूवे अइपूरए य नाव वणी।
मंस-फल-पुप्फभोगी, वित्थिन्ने खेत्त कप्प विही॥

वह मुनि देशदर्शन करते हुए जनपदों की भी विविध प्रकार से परीक्षा करता है। वह सोचता है–किस देश में धान्य की निष्पत्ति कैसे होती है? कहीं अभ्र अर्थात् वृष्टि के पानी से–जैसे लाट देश में, कहीं नदी के पानी से–जैसे सिन्धू देश में, कहीं तालाब के पानी से–जैसे द्रविड़ देश में, कहीं कूए के जल से–जैसे उत्तरापथ में, कहीं बाढ़ से जैसे–बनास की बाढ़ से अथवा डिंभरेलक नगर में महिरावण नदी के पूर से धान्य की निष्पत्ति होती है। कहीं नौका से आनीत धान्य से जीवन यापन किया जाता है, जैसे–काननद्वीप में। कहीं धान्य का व्यापार होता है, जैसे–मथुरा में। जहां दुर्भिक्ष होता है वहां मांस जीवन-निर्वाह का साधन बनता है। कहीं मनुष्य पुष्प और फलभोजी होते है, जैसे–कोंकण आदि देश। कहीं-कहीं क्षेत्र विस्तीर्ण होते हैं और कहीं-कहीं संकुचित। सिन्धूदेश का यह कल्प–व्यवहार है कि वहां मछलियों का आहार अगर्हित माना जाता है। सिन्धू-देश में यह विधि–समाचार है कि रजक (धोबी) सांभोजिक माने जाते हैं तथा महाराष्ट्र में कल्यपाल–मदिरा का व्यापार करने वाला भी संभोज्य माना जाता है। (वृत्ति के आधार पर)

१२४०.सज्झाय-संजमहिए, दाणाइसमाउले सुलभवित्ती।
कालुभयहिए खेत्ते, जाणइ पडणीयरहिए य॥

वह ज्ञात कर लेता है कि कौनसा क्षेत्र स्वाध्याय के लिए हितकर है, कौनसा क्षेत्र संयम के लिए हितकर है, कौनसा क्षेत्र दानश्राद्धों से समाकुल है, कौनसे क्षेत्र में संयमियों के लिए वृत्ति सुलभ हो सकती है। कौनसा क्षेत्र ऋतुबद्ध काल के लिए और कौनसा क्षेत्र वर्षावास के लिए तथा कौनसा क्षेत्र उभयकाल के लिए उपयोगी है। कौनसा प्रत्यनीक रहित है, निरुपद्रवकारी है।

१२४१.उवसंपज्ज थिरत्तं, पडिच्छणा वायणोल्लछगणे य।
घट्टण-रुंचण-पत्ते दुट्ठासे तहिं गए राया॥

उपसंपद्यता, स्थिरत्व, प्रतीच्छना, वाचना, आर्द्रछगण-दृष्टांत, घट्टन, रुंचन, पत्र, दुष्टाश्व दृष्टांत, तत्रगत, राजा का दृष्टांत। (यह द्वार गाथा है। विवरण आगे।)

१२४२.काहिइ अव्वोच्छित्तिं, सुत्त-ऽत्थाणं ति सो तदट्ठाए।
अभिगम्मइ णेगेहिं, पडिच्छएहिं विहरमाणो॥

वह विहरण करने वाला भव्य–आचार्य सूत्र और अर्थ का अव्यवच्छित्तिकारक होगा, यह सोचकर अनेक प्रतीच्छक शिष्य उससे सूत्रार्थ ग्रहण करने के लिए उसको प्राप्त करते हैं, उसके पास आते हैं।

१२४३.वासावज्जविहारी, जइ वि य न विकंथए गुणे नियए।
अभणंतो वि मुणिज्जइ, पगइ च्चिय सा गुणगणाणं॥

वर्षावर्जविहारी–जो चातुर्मास में एक स्थान पर रहता है तथा अन्य काल में अनियतविहारी होता है, यद्यपि वह अपने गुणों का वर्णन नहीं करता, फिर भी बिना कहे ही वह अपने गुणों से जान लिया जाता है। यह गुणसमूह की प्रकृति है, स्वभाव है।

१२४४.भमरेहिं महुयरीहिं य, सूइज्जइ अप्पणो य गंधेणं।
पाउसकालकलंबो, जइ वि निगूढो वणनिगुंजे॥

यद्यपि प्रावृट्काल में कदंबवृक्ष वन निकुंज के किसी गुप्त स्थान में पुष्पित हुआ है, फिर भी वह अपनी प्रसरणशील गंध के द्वारा भ्रमरों और मधुकरियों को अपने अस्तित्व की सूचना दे देता है, इसी प्रकार व्यक्ति के गुण भी उसकी महानता की सूचना प्रसारित करते हैं।

१२४५.कत्थ व न जलइ अग्गी, कत्थ व चंदो न पायडो होइ।
कत्थ वरलक्खणधरा, न पायडा होंति सप्पुरिसा॥

अग्नि कहां नहीं जलती? उदित चन्द्रमा कहां प्रकट नहीं होता? उत्तमलक्षणों को धारण करने वाले सत्पुरुष कहां प्रकट नहीं होते?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१२४६.उदए न जलइ अग्गी, अब्भच्छन्नो न दीसई चंदो।
मुक्खेसु महाभागा, विज्जापुरिसा न भायंति॥

जल में अग्नि प्रज्वलित नहीं होती। मेघाच्छन्न आकाश में चन्द्रमा नहीं दीखता। मूर्खों में महाभाग विद्यापुरुष शोभित नहीं होते।

१२४७.सुक्किंधणम्मि दिप्पइ, अग्गी मेहरहिओ ससी भाइ।
तव्विहजणे य निउणे, विज्जापुरिसा वि भायंति॥

शुष्क इंधन में अग्नि दीप्त होती है। मेघरहित आकाश में चन्द्रमा शोभित होता है। तथाविध निपुण लोगों के मध्य विद्यापुरुष शोभित होते हैं।

१२४८.कुमुओयररसमुद्धा, किं न विबोहिंति पुंडरीयाइं।
सूरकिरणा ससिस्स व, कुमुयाणि अपंकयरसन्ना॥
१२४९.न य अप्पगासगत्तं, चंदा-ऽऽइच्चाण सविसए होइ।
इय दिप्पंति गुणड्ढा, मुक्खेसु हसिज्जमाणा वि॥

कुमुदपुष्पों के उदर में प्राप्त मकरंद से अनभिज्ञ सूर्य की किरणें उन पुष्पों को विकसित नहीं करतीं, किन्तु क्या वे पुंडरीक पुष्पों को विकसित नहीं करतीं? अवश्य करती हैं। इसी प्रकार चन्द्रमा की किरणें कमल के रस से अनभिज्ञ होने के कारण कमलों को प्रबुद्ध नहीं करतीं, किन्तु क्या वे कुमुदपुष्पों को प्रबुद्ध नहीं करतीं? अवश्य करती हैं। इसलिए चन्द्र और सूर्य का स्वविषय में अप्रकाशकत्व नहीं होता। मूर्खों में उपहास के पात्र होने वाले गुणाढ्य व्यक्ति निपुणों में दीप्त होते ही हैं।

१२५०.सो चरणसुट्ठियप्पा, नाणपरो सूइओ अ साहूहिं।
उवसंपया य तेसिं, पडिच्छणा चेव साहूणं॥

देशदर्शन के लिए प्रस्थित चारित्र में सुप्रतिष्ठित, ज्ञानवान् वह भावी आचार्य मुनियों द्वारा सूचित–श्लाघ्य होता है। मुनि उसके पास उपसंपन्न होते हैं। वह आचार्य उनकी प्रतीच्छना करे।

१२५१.ण्हाणाइ समोसरणे, परियट्टिंतं सुणित्तु सो साहुं।
अट्ठि त्ति पडिच्चोयण, उवसंपय दीवणा अत्थे॥

वह आचार्य स्नान, रथयात्रा आदि महोत्सवों तथा समवसरण (साधु सम्मेलनों) में किसी मुनि को आगमपाठों का परावर्तन करते हुए सुनता है और उसको प्रेरणा देते हुए कहता है–'अट्ठे लोए'–ऐसा पढ़ो। ('अट्ठिं लोए' नहीं।) उसके द्वारा 'क्यों' ऐसा पूछने पर भावी आचार्य ने उसे 'अट्ठे लोए' का अर्थ विस्तार से समझाया। अर्थ गांभीर्य को सुनकर वह मुनि उन आचार्यों के पास उपसंपन्न हो गया। आचार्य ने उसमें अर्थ की उद्दीपना की।

१२५२.अहवा वि गुरुसमीवं, उवागए देसदंसणम्मि कए।
उवसंपय साहूणं, होइ कयम्मी दिसाबंधे॥

अथवा देशदर्शन कर वह मुनि गुरु के समीप उपस्थित होता है। गुरु उसको आचार्यपद पर प्रतिष्ठित कर, दिशाबंध की अनुज्ञा देते हैं, दिशाबंध कर देने पर प्रतीच्छक साधुओं की उपसंपदा होती है। (उपसंपद् द्वार की तीन प्रकार से व्याख्या संपन्न हुई।)

१२५३.आयपरोभयतुलणा, चउव्विहा सुत्तसारणित्तरिया।
तिण्हऽट्ठा संविग्गे, इयरे चरणेहरा नेच्छे॥

स्व और पर–दोनों की तुलना करनी चाहिए। वह प्रत्येक के चार-चार प्रकार की होती है। जो गृहस्थ प्रव्रजित होते हैं अथवा उपसंपदा ग्रहण करते हैं, वह उनको सूत्रसारणा अर्थात् सूत्र पढ़ाता है। वह दोनों को इत्वर दिशा देते हुए कहता है–जब तक हम आचार्य के पास न पहुंचे तब तक मैं ही तुम्हारा आचार्य और उपाध्याय हूं। वहां पहुंचने पर आचार्य जैसा चाहें वैसा करें। जो संविग्न मुनि ज्ञान, दर्शन और चारित्र के लिए उपसंपन्न होते हैं, उन्हें स्वीकार करें। जो इतर अर्थात् पार्श्वस्थ आदि चारित्र के लिए उपसंपन्न होते हैं, उन्हें भी उपसंपदा दे। जो केवल ज्ञान-दर्शन के लिए, सूत्रार्थ के लिए अथवा दर्शन प्रभावक शास्त्रों के अध्ययन के लिए उपसंपन्न होना चाहते हैं, उनको उपसंपदा न दे।

१२५४.आहाराई दव्वे, उप्पाएउं सयं जइ समत्थो।
खेत्तओ विहारजोग्गा, खेत्ता विहतारणाईया॥
१२५५.कालम्मि ओममाई, भावे अतरंतमाइपाउग्गं।
कोहाइनिग्गहं वा, जं कारण सारणा वा वि॥

आत्मतुला के चार प्रकार हैं–द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से। द्रव्यतः–वह सोचे कि क्या वह उन उपसंपन्न व्यक्तियों के लिए एषणीय आहार आदि की प्राप्ति स्वयं करने में समर्थ है? इसी प्रकार उपधि, शय्या आदि की भी। क्षेत्रतः–क्या वह ऋतुबद्धकालयोग्य तथा वर्षाकालयोग्य क्षेत्र की गवेषणा कर सकता है? क्या वह अपने साथियों को मार्ग से पार लगा सकता है? कालतः–क्या मैं दुर्भिक्ष आदि काल में सबका निर्वाह कर सकता हूं? भावतः क्या मैं असमर्थ और व्याधिग्रस्त व्यक्तियों के प्रायोग्य (पथ्य) का उत्पादन करने में समर्थ हूं? क्या मैं क्रोध आदि का निग्रह कर सकता हूं? क्या किसी भी कारण से (ज्ञान आदि के निमित्त) उपसंपन्न होने वाले इनकी सारणा करने में समर्थ हूं?

१२५६.आहाराइ अनियओ, लंभो सो विरसमाइ निज्जूढो।
उब्भामग खुलखेत्ता, अरिउहियाओ अ वसहीओ॥
१२५७.ऊणाइरित्त वासो, अकाल भिक्खे पुरिमड्ढ ओमाई।
भावे कसायनिग्गह, चोयण न य पोरुसी नियया॥

परतुला–प्रतीच्छकों को प्रारंभ में ही कह दिया जाता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, द्रव्यतः—आहार आदि का लाभ अनियत होता है। वह विरस और उज्झितप्राय मिलता है। क्षेत्रतः—उद्भ्रामक भिक्षाचर्या अर्थात् गांव के बाहर भी भिक्षा के लिए जाना पड़ता है। खुलक्षेत्र अर्थात् ऐसे क्षेत्रों में विहरण करना होता है जहां भिक्षादाता अल्प होते हैं और वे भी कम भिक्षा देते हैं। ऋतुओं में अननुकूल वसतियों में रहना पड़ता है। कालतः—काल की अपेक्षा से कहीं अधिक और कहीं न्यून रहना होता है। कहीं अकाल में भिक्षा प्राप्त होती है। कहीं दिन का पूर्वार्द्ध पूरा बीत जाने पर भी अल्प भिक्षा प्राप्त होती है। भावतः—कषाय का निग्रह करना पड़ता है। कठोर और परुष भाषा में प्रेरित किए जाने पर उसे सहना होता है। सूत्रार्थपौरुषी भी नियत नहीं हो सकती। यदि ये सारी बातें स्वीकृत हों तो उपसंपदा स्वीकार करें।

१२५८.अत्तणि य परे चेवं, तुलणा उभय थिरकारणे वुत्ता।
पडिवज्जंते सव्वं, करिंति सुण्हाए दिट्ठंतं॥

इस प्रकार आत्मविषयक तथा परविषयक—दोनों प्रकार की तुलनाएं स्थिर करने के लिए कही गई हैं। यदि प्रतीच्छक सारी बातें स्वीकार करते हैं—तब आचार्य पुत्रवधू का दृष्टांत कहते हैं।

१२५९.आस-रहाई ओलोयणाइ भीया-ऽऽउले अ पेहंती।
सकुलघरपरिचएणं, वारिज्जइ ससुरमाईहिं॥

१२६०.खिंसिज्जइ हम्मइ वा, नीणिज्जइ वा घरा अठाइंती।
नीया पुण से दोसे, छायंति न निच्छुभंते य॥

कोई वधू अपने स्वकुलगृह—पितृगृह में अनेक रमणीय वस्तुओं को देखने की स्वभाववाली थी। वह श्वसुरगृह में भी पूर्व आदत के कारण गवाक्ष में बैठकर अश्व, रथ अथवा भीत स्त्री-पुरुषों तथा आकुल व्यक्तियों को देखती रहती। श्वसुर आदि ने उसको वहां बैठकर देखने का निषेध किया। यदि वह नहीं मानती है तो उसकी निन्दा करते हैं। फिर भी यदि वह निवर्तित नहीं होती है तो उसको ताड़ना-तर्जना दी जाती है। इतना होने पर भी वह निवृत्त नहीं होती है तो उसे घर से निकाल दिया जाता है। उस वधू के जो पितृगृह-संबंधी स्वजन होते हैं वे उसके दोषों को ढंकते हैं, परंतु उसको घर से निष्कासित नहीं करते।

१२६१.मरिसिज्जइ अप्पो वा, सगणे दंडो न यावि निच्छुभणं।
अम्हे पुण न सहामो, ससुरकुलं चेव सुण्हाए॥

आचार्य उन प्रतीच्छकों को कहते हैं—तुम अपने गण में प्रमाद का सेवन करते, तो वह सहन हो जाता अथवा अल्प दंड लेकर निवृत्त हो जाते, वहां से निष्कासन नहीं होता। हम तुम्हारा थोड़ा भी अपराध सहन नहीं करेंगे। जैसे श्वसुरकुल में वधू का थोड़ा भी अपराध सहन नहीं किया जाता।

१२६२.पासत्थाईमुंडिए, आलोयण होइ दिक्खपभिईओ।
संविग्गपुराणे पुण, जप्पभिइं चेव ओसन्नो॥

जो पार्श्वस्थ आदि से मुंडित है उसकी आलोचना दीक्षा दिन के प्रारंभ से होती है और जो पुराणसंविग्न है (जो पहले संविग्न था, फिर अवसन्न हो गया) वह जिस दिन से अवसन्न हुआ, उसी दिन से उसकी आलोचना होती है।

१२६३.समणुन्नमसणुन्ने, जप्पभिइं चेव निग्गओ गच्छा॥
सोहिं पडिच्छिऊणं, सामायारिं पयंसंति॥

संविग्न के दो प्रकार हैं—समनोज्ञ (साम्भोगिक) तथा असमनोज्ञ (असाम्भोगिक)। ये दोनों प्रकार के संविग्न जिस दिन से अपने गच्छ से निर्गत हुए हैं, उसी दिन से आलोचना होती है। उनको शोधि—प्रायश्चित्त देकर आचार्य अपनी सामाचारी बतलाते हैं।

१२६४.अवि गीय-सुयहराणं, चोइज्जंताण मा हु अचियत्तं।
मेरासु य पत्तेयं, माऽसंखड पुव्वकरणेणं॥

उपसंपद्यमान गीतार्थ हो, श्रुतधर हो, बहुश्रुत-गणी-वाचक आदि शब्दों से अभिहित हो, उसके पूर्वाभ्यस्त पृथक्-पृथक् मर्यादाओं तथा सामाचारियों में प्रवर्तमान होने पर, वैसा न करने की प्रेरणा देने पर उनको अप्रीतिकर न लगे तथा कलह न हो इसलिए आचार्य चक्रवाल-सामाचारी के विषय में अनुशासना देते हैं।

१२६५.गच्छई वियारभूमाइ वायओ देह कप्पियारं से।
तम्हा उ चक्कवालं, कहिंति अणहिंडिय निसिं वा॥

कोई वाचक विचारभूमी आदि में जा रहा है इसलिए उसके साथ कोई 'कल्पितार'—कल्प को जानने वाला साधु दो, जो उसे सही सामाचारी का बोध कराए। इसलिए आचार्य उन नूतन उपसंपन्नों के समक्ष चक्रवाल-सामाचारी का कथन करते हैं। उसकी असमाप्ति तक उनको भिक्षार्थ नहीं भेजा जाता। दिन में यदि सामाचारी का कथन पूर्ण नहीं होता है तो रात्री में उसका कथन किया जाता है।

१२६६.उवएसो सारणा चेव, तइया पडिसारणा।
छंदं अवट्टमाणं, अप्पछंदेण वज्जेज्जा॥

आचार्य उनको सूत्रार्थ की वाचना दे। उसमें प्रमाद करने पर उपदेश, स्मारण और तीसरा है प्रतिस्मारणा। तत्पश्चात छंद में अप्रवर्तमान होने पर आत्मच्छंद से वर्जना करे। (इसका विस्तृतार्थ आगे)

१२६७.निद्दापमायमाइसु, सइं तु खलियस्स सारणा होइ।
नणु कहिय ते पमाया, मा सीयसु तेसु जाणंतो॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य उसको कहते हैं—हमारी यह सामाचारी है कि निद्रा-विकथा आदि का परिहार करना चाहिए। यह उपदेश है। निद्राप्रमाद आदि में एक बार स्खलना करने पर स्मारणा कराई जाती है। उसे कहे—हमने पहले ही प्रमादों के विषय में बतला दिया था। जानते हुए भी उन प्रमादों का सेवन मत करो। यह स्मारणा है।

१२६८. फुड-रुक्खे अचियत्तं, गोणो तुदिओ व मा हु पेल्लेज्जा।
सज्जं अओ न भन्नइ, धुव सारण तं वयं भणिमो॥।

प्रतिस्मारणा का स्वरूप—जिसने जो प्रमाद किया है, उसको परिस्फुट रूप से न कहे, न रूक्ष शब्दों में बताए। इससे उसमें अप्रीति उत्पन्न हो सकती है। जैसे बैल[1] अत्यधिक व्यथित होकर निश्चित ही भार को नीचे गिरा देता है, वैसे ही यह मुनि भी खर-परुष वाणी से तुदित होकर, संयमभार को छोड़कर भाग जाता है। प्रमाद को तत्काल उसे नहीं बताना चाहिए। उसे कहना चाहिए—वत्स! हमें प्रमाद करने वाले की निश्चित स्मारणा करनी चाहिए। इसीलिए हम तुम्हें तुम्हारे प्रमाद की स्मृति दिलाने के लिए ऐसा कह रहे हैं, मत्सर और प्रद्वेष से नहीं।

१२६९. तद्दिवसं बिइए वा, सीयंतो वुच्चए पुणो तइयं।
एगोऽवराहो ते सोढो, बीयं पुण ते न विसहामो॥

जो मुनि सामाचारी में प्रमाद करता है उसको उसी दिन किसी समय में अथवा दूसरे दिन पुनः उसे कहा जाता है, यह तीसरी प्रतिस्मारणा है। (एक उपदेश, दूसरी स्मारणा और तीसरी प्रतिस्मारणा।) उसे कहे—तुम्हारा एक अपराध को तो हमने सहन कर लिया है, दूसरा अपराध हम सहन नहीं करेंगे।

१२७०. गोणाइहरणगहिओ, मुक्को य पुणो सहोढ गहिओ उ।
उल्लोल्लछगणहारी, न मुच्चए जायमाणो वि॥।

एक चोर गायों को चुरा कर ले जाता हुआ पकड़ा गया। उसके गिड़गिड़ाने पर उसको छोड़ दिया। अब वह आर्द्रार्द्रच्छगणहारी स्वल्पचोरी करने वाला हो गया। एक बार वह रंगे हाथों (चोरी के सामान सहित) पकड़ा गया। उसके मुक्ति की याचना करने पर भी उसे छोड़ा नहीं जाता। (इसी प्रकार मुनि को कहे—हमने एक बार तुम्हारे प्रमाद को सहन किया है। अब दूसरी बार नहीं करेंगे। फिर भी यदि वह प्रमाद करता है तो उसे मासलघु दंड देकर घटना दृष्टांत से समझाया जाता है।)

१२७१. घट्टिज्जंतं वुच्छं, इति उदिए दंडणा पुणो बिइयं।
पासाणो संवुत्तो, अइरुंचिय कुंकुमं तइए॥

पानी रहित दूध चूल्हें पर चाल्यमान होने पर भी जल जाता है, नष्ट हो जाता है—इतना कहने पर भी यदि वह मुनि पुनः प्रमादाचरण करता है तो उसे मासलघु का दंड आता है। यह दूसरा उदाहरण है। फिर भी यदि वह प्रमाद से उपरत नहीं होता है तब 'रुंचना' का दृष्टांत दिया जाता है। क्या अत्यधिक पीसे जाने पर कुंकुम पाषाण बन जाता है? (इसी प्रकार हे मुने! अत्यधिक कहे जाने पर भी तुम पाषाणसदृश हो गए हो?) यह तीसरा उदाहरण है।

१२७२. तेण परं निच्छुभणा, आउट्टो पुण सयं परेहिं वा।
तंबोलपत्तनायं, नोसेहिसि मज्झ अन्ने वि॥

यदि तीन बार सावधान किए जाने पर भी वह मुनि प्रमादाचरण से उपरत नहीं होता है तो उसे गच्छ से निकाल देना चाहिए। स्व या पर प्रेरणा से यदि वह प्रमाद से प्रतिनिवृत्त होता है तब उसे तंबोल-पत्र का दृष्टांत कहा जाता है। देखो, तंबोल के कुथित पत्र को यदि नहीं निकाला जाता है तो वह सारे तंबोलपत्रों का नाश कर डालता है। इसी प्रकार तुमको यदि हम निष्कासित नहीं करते हैं तो तुम स्वयं विनष्ट होकर मेरे दूसरे मुनियों का भी विनाश करोगे। अतः तुमको निष्कासित करना ही हमारे लिए श्रेयस्कर है।

१२७३. सुहमेगो निच्छुब्भइ, णेगा भणिया उ जइ न वच्चंति।
अन्नावएस उवहिं, जग्गावण सारिकह गमणं॥

गच्छ से जब मुनि को निष्कासित करना होता है तब वह सुखपूर्वक किया जा सकता है। परंतु जहां अनेक मुनियों का निष्कासन करना है और उनको कहने पर भी यदि वे गण से बहिर्गमन नहीं करते हों तो अन्य किसी मिष से उनसे छुटकारा पा लेना चाहिए। सबसे पहले विहारयोग्य उपधि की व्यवस्था कर लेनी चाहिए। तदनन्तर उन साधुओं को एक रात तक लंबा जागरण कराना चाहिए, जिससे वे प्रातः शीघ्र न जागे। फिर 'सारिकह'—शय्यातर को अपनी बात बताकर वहां से (अपने साथी मुनियों के साथ) आचार्य को विहार कर देना चाहिए।

१२७४. मुक्का मो दंडरुइणो, भणंति इइ जे न तेसु अहिगारो।
सेज्जायरनिब्बंधे, कहियाऽऽगय न विणए हाणी॥

इस प्रकार आचार्य के चले जाने पर जो मुनि यह सोचते हैं—अच्छा हुआ, हम दंडरुचि—उग्रदंड देने वाले आचार्य से मुक्त हो गए। ऐसा जो कहते हैं, उनका यहां प्रसंग नहीं है। परंतु जो मुनि आचार्य के बिना परितप्त होते हैं, वे शय्यातर को बलपूर्वक आचार्य के गमन के विषय में पूछते हैं। शय्यातर के बतलाने पर वे आचार्य के पास आते हैं और

१. देखें कथा परिशिष्ट, नं. ५५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विनय की हानि न करते हुए वे आचार्य के प्रति पूर्ववत् विनय का प्रयोग करते हैं।

१२७५.को नाम सारहीणं, स होइ जो भद्दवाइणो दमए।
दुट्ठे वि उ जो आसे, दमेइ तं आसियं बिंति॥

(तब आचार्य कहते हैं—दुष्ट अश्वों के प्रति सारथित्व करने की भांति इन प्रमादी साधुओं के प्रति आचार्यकरण से क्या प्रयोजन?) शिष्य कहते हैं—भद्र अश्वों का दमन करने में कौन सा सारथित्व है? जो दुष्ट अश्वों का दमन करता है उसको लोग अश्वदम कहते हैं।

१२७६.होंति हु पमाय-खलिया, पुव्वब्भासा य दुच्चया भंते!।
न चिरं च जंतणेयं, हिया य अच्चंतियं अंते॥

भंते! पूर्वाभ्यास (अनेक जन्मों के अभ्यास से) के कारण ये दुस्त्यज प्रमाद की भूलें होती हैं। स्मारणा आदि यंत्रणा भी चिरकालभावी नहीं होती। परंतु वह अंत में आत्यंतिक हितकारी होती है।

१२७७.अच्छिरुयालु नरिंदो, आगंतुअविज्जगुलियसंसणया।
विसहामि त्ति य भणिए, अंजण वियणा सुहं पच्छा॥

(उन शिष्यों को स्थिर करने के लिए आचार्य राजा का दृष्टांत कहते हैं।) एक राजा के अक्षिरोग हो गया। वास्तव्य वैद्यों से वह रोग नहीं मिटा। एक आगंतुक वैद्य ने कहा—मेरे पास गुटिकाएं हैं। वे अक्षिरोग को मिटाने वाली हैं। उन गुटिकाओं को आंख में आंजने से क्षणभर के लिए तीव्रतर वेदना होती है। राजन्! यदि उस वेदना को सहन कर सकें तो रोग मिट जाएगा। राजा ने कहा—मैं सहन कर लूंगा। वैद्य ने तब गुटिका से आंखें आंज लीं। वेदना हुई। अंत में अक्षिरोग नष्ट हो गया।

१२७८.इय अविणीयविवेगो, विगिंचियाणं च संगहो भूओ।
जे उ निसग्गविणीया, सारणया केवलं तेसिं॥

इस प्रकार अविनीत शिष्यों का परित्याग और परित्यक्त शिष्यों का संविग्न होने पर पुनः संग्रहण करना चाहिए। जो निसर्गतः विनीत होते हैं, उनके लिए तो केवल स्मारणा ही पर्याप्त होती है।

१२७९.एवं पडिच्छिऊणं, निप्फत्तिं कुणइ बारस समाओ।
एसो चेव विहारो, सीसे निप्फाययंतस्स॥

इस प्रकार देशदर्शन करता हुआ शिष्य बारह वर्षों तक शिष्य-प्रतीच्छकों की निष्पत्ति करता है। यही शिष्यों के निष्पादन करने वाले का विहार है। (इसकी भावना यह है—जो शिष्य देशदर्शन करके गुरु के पास आया है, उसे गुरु आचार्यपद पर स्थापित कर दिग्-अनुबंध की अनुज्ञा देते हैं और वह नौकल्पीविहार करता हुआ उसने जिस शिष्य-निष्पादन विधि का पालन किया है, वही विधि बारह वर्षों तक रहती है।)

१२८०.अव्वोच्छित्ती मण पंचतुलण उवगरणमेव परिकम्मे।
तवसत्तसुएगत्ते, उवसग्गसहे य वडरुक्खे॥

(जिनकल्पिकों की विहार विधि)

अव्यवच्छित्ति, मन, पांच तुलाएं, उपकरण, परिकर्म, तपः-सत्व-श्रुत-एकत्व-उपसर्गसह—पांच भावनाएं, वटवृक्ष। (यह द्वार गाथा है। विस्तार आगे।)

१२८१.अणुपालिओ य दीहो, परियाओ वायणा वि मे दिन्ना।
निप्फाइया य सीसा, सेयं खु महऽप्पणो काउं॥

आचार्य सोचते हैं—मैंने दीर्घकाल तक संयम-पर्याय का अनुपालन किया है। मैंने वाचना भी दी है। मैंने शिष्यों का निष्पादन भी किया है। इस प्रकार मैं तीर्थ की अव्यवच्छित्ति कर ऋणमुक्त हो गया हूं। अब मेरे लिए यही श्रेयस्कर है कि मैं आत्मा का हित करूं।

१२८२.किन्तु विहारेणऽब्भुज्जएण विहरामऽणुत्तरगुणेणं।
आओ अब्भुज्जयसासणेण विहिणा अणुमरामि॥

क्यों नहीं मैं अनुत्तरगुणों वाले अभ्युद्यतविहार (जिनकल्प) को स्वीकार कर विहरण करूं? अथवा[1] सूत्र में वर्णित अभ्युद्यतमरण विषयक शासन के अनुसार पहले संलेखना कर फिर उस मरण को स्वीकार करूं।

१२८३.जिण सुद्ध अहालंदे, तिविहो अब्भुज्जओ अह विहारो।
अब्भुज्जयमरणं पुण, पाओवग-इंगिणि-परिन्ना॥

अभ्युद्यतविहार तीन प्रकार का है—जिनकल्प, शुद्ध-परिहारकल्प तथा यथालंदकल्प। अभ्युद्यतमरण के तीन प्रकार हैं—पादपोपगमन (प्रायोपगमन), इंगिनीमरण तथा परिज्ञा—भक्तप्रत्याख्यानमरण।

१२८४.सयमेव आउकालं, नाउं पोच्छित्तु वा बहुं संसं।
सुबहुगुणलाभकंखी, विहारमब्भुज्जयं भजइ॥

(दोनों श्रेष्ठ हैं। दोनों में से किसका ग्रहण उचित है?) आचार्य कहते हैं—मुनि स्वयमेव अपने विशिष्ट श्रुतोपयोग से अथवा श्रुत आदि अतिशययुक्त आचार्य को पूछकर अपने आयुष्यकाल को बहुत अवशिष्ट जान लेता है तब वह अत्यधिक गुणों के लाभ का आकांक्षी होकर अभ्युद्यत विहार को स्वीकार करता है। (अवशिष्ट आयुकाल अल्प होने पर वह अभ्युद्यतमरण स्वीकार करता है।)

१२८५. गणनिक्खेवित्तरिओ, गणिस्स जो व ठविओ जहिं ठाणे।
उवहिं च अहागडयं, गिण्हइ जावऽन्न णुप्पाए॥

१. 'आउ' त्ति उताहो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य गण का निक्षेप इत्वरिक करते हैं, यावज्जीवन नहीं। जो उपाध्याय आदि उस पद पर स्थापित होते हैं, वे भी इत्वरिक ही होते हैं।[1] वे यथाकृत उपधि को ही धारण करते हैं। अपने कल्पयोग्य उपधि का उत्पादन होने पर पूर्व उपधि का परित्याग कर देते हैं।

१२८६.इंदिय-कसाय-जोगा, विणियमिया जइ वि सव्वसाहूहिं।
तह वि जओ कायव्वो, तज्जयसिद्धिं गणिंतेणं॥

यद्यपि सभी साधुओं ने विविध प्रकार से इन्द्रियों, कषायों और योगों को नियंत्रित किया है, फिर भी जिनकल्प को स्वीकार करने वाले साधक को जिनकल्प की पारगामिता के लिए इन्द्रियों आदि पर जय प्राप्त करनी चाहिए।

१२८७.जोगिंदिएहिं न तहा, अहिगारो निज्जिएहिं न हु ताइं।
कलुसेहिं विरहियाइं, दुक्खसईबीयभूयाइं॥

योग और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने का विशेष प्रयोजन नहीं है, क्योंकि वे कषायों से विरहित होने पर दुःखरूपी सस्य की उत्पत्ति के बीजभूत नहीं हैं। (अर्थात् कषाय ही दुःख परम्परा के मूल बीज हैं।)

१२८८.जेण उ आयाणेहिं, न विणा कलुसाण होइ उप्पत्ती।
तो तज्जयं ववसिमो, कलुसजयं चेव इच्छंता॥

आदानों--इन्द्रियों तथा योगों के बिना कषायों की उत्पत्ति नहीं होती, इसलिए हम कषायजय की इच्छा करते हुए इन्द्रियों और योगों के विजय की इच्छा करते हैं।

१२८९.खेयविणोओ साहसजओ य लहुया तवो असंगो अ।
सद्धाजणणं च परे, कालन्नाणं च नऽन्नत्तो॥

भावनाओं से भावित आत्मा के गुण--

तपोभावना से खेद विनोद अर्थात् परिश्रम पर विजय प्राप्त होती है। सत्त्वभावना से साहसजय[2] अर्थात् भयविजय, एकत्वभावना से लघुता का विकास, श्रुतभावना से तप का विकास, धृतिभावना से निर्ममत्व का विकास होता है।

प्रकारान्तर से श्रुतभावना से अन्य व्यक्तियों में श्रद्धा की उत्पत्ति होती है। कालज्ञान दूसरे किसी साधन से जानने की आवश्यकता नहीं होती, वह श्रुतपरावर्तन से हो जाता है।

१२९०.सरवेह-आस-हत्थी-पवगाईया उ भावणा दव्वे।
अब्भास भावण त्ति य, एगट्ठं तत्थिमा भावे॥

भावना के दो प्रकार हैं--द्रव्यतः भावना और भावतः भावना। धनुर्धर पहले स्थूल वस्तुओं का वेध करता है, फिर स्वरवेध में पारंगत हो जाता है। दौड़ने का अभ्यास करते-करते अश्व बड़े-बड़े गढ़ों को लांघ जाता है। हाथी अपनी सूंड से स्थूल पदार्थों के अभ्यास को आगे बढ़ाते हुए सूक्ष्म पदार्थों को भी उठाने लग जाता है। नट पहले बांस पर करतब दिखाता है। अभ्यास परिपक्व होने पर आकाश में भी करतब दिखाने लगता है।--ये सारी द्रव्यतः भावनाएं हैं। अभ्यास और भावना एकार्थक हैं। आगे वक्ष्यमाण भावतः भावनाएं हैं।

१२९१.दुविहाओ भावणाओ, असंकिलिट्ठा य संकिलिट्ठा य।
मुत्तूण संकिलिट्ठा, असंकिलिट्ठाहि भावंति॥

भावतः भावना के दो प्रकार हैं--असंक्लिष्ट और संक्लिष्ट। जिनकल्प स्वीकार करने वाले संक्लिष्ट भावना को छोड़कर असंक्लिष्ट भावना से भावित होते हैं।

१२९२.संखा य परूवणया, होइ विवेगो य अप्पसत्थासु।
एमेव पसत्थासु वि, जत्थ विवेगो गुणा तत्थ॥

अप्रशस्त भावनाओं की संख्या तथा उनकी प्ररूपणा करनी चाहिए। अप्रशस्त भावनाओं का विवेक--परित्याग होता है। इसी प्रकार प्रशस्त भावनाओं की संख्या और उनकी प्ररूपणा करनी चाहिए। जहां विवेक शब्द है वह अप्रशस्त भावनाओं के संदर्भ में ही है। तथा जहां गुण शब्द है वह प्रशस्त भावनाओं का द्योतक है।[3]

१२९३.कंदप्प देवकिब्विस, अभिओगा आसुरा य सम्मोहा।
एसा य संकिलिट्ठा, पंचविहा भावणा भणिया॥

संक्लिष्ट भावनाएं--अप्रशस्त भावनाएं पांच कही गई हैं--
१. कंदर्प भावना, २. दैवकिल्विषी भावना, ३. आभियोगी भावना ४. आसुरी भावना, ५. साम्मोही भावना।

१२९४.जो संजओ वि एआसु अप्पसत्थासु भावणं कुणइ।
सो तव्विहेसु गच्छइ, सुरेसु भइओ चरणहीणो॥

इन अप्रशस्त भावनाओं का फल--

जो साधु होकर भी इन अप्रशस्त भावनाओं से अपने आपको भावित करता है वह उन प्रकार के कान्दर्पिक आदि देवताओं में उत्पन्न होता है। जो चरणरहित है उसकी यहां भजना है, विकल्प है। वह उस प्रकार के देवों में अथवा नारक, तिर्यंच या मनुष्यों में उत्पन्न होता है।

---

१. प्रश्न होता है इत्वरिक क्यों? आचार्य कहते हैं--गण का पालन राधावेध की भांति सुदुष्कर है। नए स्थापित आचार्य उसकी पालना कर सकते हैं या नहीं? यदि न कर सकें तो जिनकल्प साधना स्वीकार नहीं करना है। जिनकल्प की साधना से भी श्रेष्ठतर है सूत्रोक्तविधि से गण का अनुपालन। वह बहुतर निर्जरा का कारण बनता है। बहुत लाभ को छोड़कर अल्प लाभ के लिए प्रयत्नशील नहीं होना चाहिए।

२. साहसं भयं.....चूर्णि, विशेषचूर्णि।

३. यह व्याख्या चूर्णि के अनुसार है। विशेषचूर्णि की व्याख्या इस प्रकार है--जहां प्रशस्त वस्तु का भी विवेक--परित्याग है वहां गुण ही होते हैं। जैसे--आचार्य आदि का अवर्णवाद सुनने में औदासीन्यभाव रखना गुण ही है। स्थविरकल्पी की भांति यथाशक्ति उसका निवारण न करना दोष ही है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१२९५.कंदप्पे कुक्कुइए, दवसीले यावि हासणकरे य।
विम्हावितो य परं, कंदप्पं भावणं कुणइ॥

कंदर्पवान्, कौत्कुच्यवान्, द्रवशील, हासनकर तथा दूसरे को विस्मापित करने वाला—ये कान्दर्पी भावना करते हैं।

१२९६.कहकहकहस्स हसणं, कंदप्पो अनिहुया य संलावा।
कंदप्पकहाकहणं, कंदप्पुवएस संसा य॥

मुंह फाड़कर जोर-जोर से हंसना—अट्टट्टहास करना, कंदर्प अर्थात् अपने अनुरूप के साथ परिहास करना, गुरु आदि के साथ वक्रोक्ति से संलाप करना, कंदर्पकथा का कथन, कामोपदेश तथा कामाशंसा काम की प्रशंसा—यह सारा कंदर्प है।

१२९७.भुम-नयण-वयण-दसणच्छदेहिं
कर-पाद-कण्णमाईहिं।
तं तं करेइ जह हस्सए
परो अत्तणा अहसं॥

१२९८.वायाकोक्कुइओ पुण, तं जंपइ जेण हस्सए अन्नो।
नाणाविहजीवरुए, कुव्वइ मुहतूरए चेव॥

कुत्कुच का अर्थ है—भांड की तरह चेष्टा करना। वह दो प्रकार का है—शरीर से कुत्कुच करना, वाणी से कुत्कुच करना। भ्रू, नयन, वदन, दशनच्छद, हाथ, पैर और कान आदि शरीर के अवयवों से ऐसी चेष्टाएं करना जिनसे स्वयं न हंसते हुए दूसरों को हंसाना—यह कायकौत्कुच्य है। वाणी से कौत्कुच्य वह होता है जो ऐसी बात कहता है जिससे दूसरा हंस पड़े। वह नाना प्रकार के जीवों की बोलियों का अनुकरण करता है अथवा मुंह से वाद्य बजाने की आवाज निकालता है।

१२९९.भासइ दुयं दुयं गच्छए अ दरिउ व्व गोविसो सरए।
सव्वद्दुयदुयकारी फुट्टइ व ठिओ वि दप्पेणं॥

जो बिना विचारे आवेशवश जल्दी-जल्दी बोलता है, जो शरद् ऋतु में दर्पित गोवृष की भांति त्वरित चलता है, जो सभी क्रियाओं को अति त्वरा से करता है, जो स्थित अर्थात् स्वभावस्थ होकर भी दर्प से मानो फूट रहा हो ऐसा लगता है, वह द्रवशील होता है।

१३००.वेस-वयणेहिं हासं, जणयंतो अप्पणो परेसिं च।
अह हासणो त्ति भन्नइ, घयणो व्व छले नियच्छंतो॥

जो घयण—भांड की भांति दूसरों के छिद्रों—विरूपवेष और भाषा का विपर्यय करता हुआ वैसे ही वेष और वचनों से दूसरों में हास्य उत्पन्न करता है वह हासन अर्थात् हास्यकर कहलाता है।

१३०१.सुरजालमाइएहिं, तु विम्हयं कुणइ तव्विहजणस्स।
तेसु न विम्हयइ सयं, आहट्ट-कुहेडएहिं च॥

जो इन्द्रजाल तथा आहर्त्त—प्रहेलिका, कुहेटक—वक्रोक्ति आदि के द्वारा तथाविध ग्राम्य लोगों को विस्मापित करता है, किन्तु स्वयं विस्मापित नहीं होता, वह परविस्मापक होता है।

१३०२.नाणस्स केवलीणं, धम्मायरियाण सवसाहूणं।
माई अवन्नवाई, किब्विसियं भावणं कुणइ॥

जो ज्ञान का, केवलियों का, धर्माचार्यों का तथा सभी साधुओं का अवर्णवाद बोलता है वह मायी किल्विषिक भावना करता है।

१३०३.काया वया य ते च्चिय, ते चेव पमाय अप्पमाया य।
मोक्खाहिगारिगाणं, जोइसजोणीहिं किं च पुणो॥

श्रुत का अवर्णवाद बोलने वाले कहते हैं—षड्जीवनिकाय तथा व्रत बार-बार आगमों में कहे जाते हैं। इसी प्रकार स्थान-स्थान पर प्रमाद और अप्रमाद का बार-बार वर्णन किया जाता है। यदि मोक्षाधिकारी साधुओं के लिए ही प्रवचन हो तो फिर सूर्यप्रज्ञप्ति आदि ज्योतिषशास्त्रों तथा योनिप्राभृत आदि ग्रंथों से क्या प्रयोजन?

१३०४.एगंतरमुप्पाए, अन्नोन्नावरणया दुवेण्हं पि।
केवलदंसण-णाणाणमेगकाले व एगत्तं॥

केवलियों का अवर्णवाद—क्या केवलियों के ज्ञान-दर्शन का उपयोग क्रमशः होता है अथवा एक साथ? क्रमशः होना मानें तो केवली जिस समय जानता है तो उस समय देखता नहीं और जिस समय देखता है तो उस समय जानता नहीं। इस प्रकार दोनों का एकांतरित उत्पाद होने पर दोनों का अन्योन्यावरणता हो जाएगी। युगपद् मानने पर साकार-अनाकार उपभोग का एकत्व हो जाएगा। (इनका स्पष्टीकरण विशेषावश्यक भाष्य (गाथा ३०८८-३१२४) में विस्तार से प्राप्त है।)

१३०५.जच्चाईहिं अवन्नं, भासइ वट्टइ न यावि उववाए।
अहितो छिद्दप्पेही, पगासवादी अणणुकूलो॥

धर्माचार्यों का अवर्णवाद—उनके कुल, जाति आदि के विषय में अवर्णवाद बोलना। जैसे—इनकी जाति और कुल विशुद्ध नहीं है। ये लोकव्यवहारकुशल और औचित्य को जानने वाले भी नहीं हैं। ये गुरु कि सेवा में नहीं रहते, ये अहित—अनुचित कार्य करने वाले हैं, ये गुरु के छिद्रान्वेषी हैं, ये प्रकाशवादी हैं अर्थात् सभी के समक्ष गुरु के दोषों का कथन करने वाले हैं, ये अननुकूल हैं—गुरु के प्रत्यनीक हैं।

१३०६.अविसहणाऽतुरियगई, अणाणुवत्ती य अवि गुरूणं पि।
खणमित्तपीइ-रोसा, गिहिवच्छलकाऽइसंचइआ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ये साधु असहिष्णु हैं, अत्वरितगति वाले हैं (माया से मंदगति करते हैं), ये गुरु के प्रति भी निष्ठुर व्यवहार करते हैं, ये क्षण में रुष्ट और क्षण में तुष्ट होते रहते हैं, ये गृहिवत्सल हैं अर्थात् ये चाटुवचनों से गृहस्थों को लुभाते हैं, ये अतिसंग्रहशील हैं आदि-आदि।

१३०७.गूहइ आयसभावं, घाएइ गुणे परस्स संते वि।
चोरो व्व सव्वसंकी, गूढायारो वितहभासी॥

मायी वह होता है जो आत्मस्वभाव को छुपाता है, दूसरे में विद्यमान गुणों का घात करता है, चोर की भांति सर्वशंकी, गूढ़ाचारयुक्त तथा वितथभाषी होता है।

१३०८.कोउअ भूई-पसिणे, पसिणापसिणे निमित्तमाजीवी।
इड्ढि-रस-सायगुरुतो, अभिओगं भावणं कुणइ॥

जो ऋद्धि, रस और सात गौरव के वशवर्ती होकर कौतुकजीवी, भूतिकर्माजीवी, प्रश्नाजीवी, प्रश्नप्रश्नाजीवी, निमित्ता-जीवी होता है वह आभियोगी भावना करता है।

१३०९.विण्हवण-होम-सिरपरिरयाइ खारदहणाइं धूवे य॥
असरिसवेसग्गहणं, अवयासण-उत्थुभण-बंधा॥

कौतुक—बालकों की रक्षा के निमित्त अथवा स्त्रियों के सौभाग्य के लिए विस्नपन—विशेष स्नान, होम, शिरपरिरय अर्थात् हाथ फेर कर अभिमंत्रित करना, क्षारदहन—व्याधि के उपशमन के लिए अग्नि में लवण आदि डालना, असदृश-वेषग्रहण—स्वयं आर्य होकर अनार्य का वेश धारण करना, पुरुष होकर स्त्री का वेश पहनना, अवयासण—वृक्ष आदि का आलिंगन करवाना, अवस्तोभन—अनिष्ट निवारण के लिए 'थू-थू' करना तथा बंध अर्थात् उपलों को बांधना आदि कौतुक कहलाते हैं।

१३१०.भूईए मट्टियाए व, सुत्तेण व होइ भूइकम्मं तु।
वसही-सरीर-भंडगरक्खाअभियोगमाईया ॥

अभिमंत्रित राख, मिट्टी या सूत्र (तंतु) से भूतिकर्म होता है। यह वसति, शरीर और भांड आदि की रक्षा के लिए अभियोग- वशीकरण किया जाता है।

१३११.पण्हो उ होइ पसिणं, जं पासइ वा सयं तु तं पसिणं।
अंगुट्ठ-च्चिट्ठ-पडे, दप्पण-असि-तोय-कुड्डाई॥

देवता आदि से पृच्छा करना प्रश्न कहलाता है। अथवा जो स्वयं देखता है या तत्रस्थित दूसरे लोग भी देखते हैं उसे 'पसिण' कहा जाता है। अंगुष्ठ, उच्छिष्ट पट, दर्पण, तलवार, पानी, भींत आदि पर अवतीर्ण देवता आदि को पूछना या देखना यह प्रश्न है।

१३१२.पसिणापसिणं सुमिणे, विज्जासिद्धं कहेइ अन्नस्स।
अहवा आइंखिणिया, घंटियसिद्धं परिकहेइ॥

स्वप्न में अवतीर्ण विद्याधिष्ठित देवता द्वारा कथित बात को प्रश्नकर्त्ता को बताना अथवा 'आइंखिणिया' डोंबी के कुलदेवता घंटिकपक्ष द्वारा कान में कथित प्रश्न के समाधान को दूसरों को कहना प्रश्नाप्रश्न कहलाता है।

१३१३.तिविहं होइ निमित्तं, तीय-पडुप्पन्न-ऽणागयं चेव।
तेण न विणा उ नेयं, नज्जइ तेणं निमित्तं तु॥

निमित्त के तीन प्रकार हैं—अतीत, प्रत्युत्पन्न (वर्तमान) तथा अनागत। उस ज्ञान के बिना ज्ञेय—लाभ, अलाभ आदि नहीं जाना जाता, वह लाभ-अलाभ आदि के ज्ञान का निमित्त होता है, इसलिए उसे निमित्त कहा जाता है।

१३१४.एयाणि गारवट्ठा, कुणमाणो आभिओगियं बंधे।
बीयं गारवरहिओ, कुव्वं आराहगुच्चं च॥

जो गौरव आदि के लिए कौतुक आदि का प्रयोग करता है वह आभियोगदेवकर्म का बंध करता है। इसका अपवादपद है—जो गौरव आदि से रहित होकर कौतुक आदि का प्रयोग करता है, वह आराधक होता है तथा उच्चगोत्र कर्म का बंध करता है।[1]

१३१५.अणुबद्धविग्गहो चिय, संसत्ततवो निमित्तमाएसी।
निक्किव निराणुकंपो, आसुरियं भावणं कुणइ॥

अनुबद्धविग्रह, संसक्ततप करनेवाला, निमित्तादेशी, निष्कृप, निरनुकंप—वह आसुरीभावना करता है। (विस्तृत अर्थ आगे।)

१३१६.निच्चं वुग्गहसीलो, काऊण य नाणुतप्पए पच्छा।
न य खामिओ पसीयइ, सपक्ख-परपक्खओ आवि॥

जो नित्य विग्रहशील होता है—कलहकारी होता है, कलह करने के पश्चात् अनुतप्त नहीं होता, जो स्वपक्ष और परपक्ष द्वारा क्षमापना करने पर भी प्रसन्न नहीं होता, वह अनुबद्ध-विग्रह वाला होता है।

१३१७.आहार-उवहि-पूयासु जस्स भावो उ निच्चसंसत्तो।
भावोवहतो कुणइ अ, तवोवहाणं तदट्ठाए॥

जिसका परिणाम आहार, उपधि और पूजा में सदा प्रतिबद्ध रहता है, जो इस प्रकार रस-गौरव आदि के भाव से उपहत होकर आहार आदि के लिए तप-उपधान करता है, वह संसक्त तप करने वाला है।

१३१८.तिविह निमित्तं एक्केक्क छव्विहं जं तु वन्नियं पुव्विं।
अभिमाणाभिनिवेसा, वागरियं आसुरं कुणइ॥

निमित्त के तीन प्रकारों का वर्णन जो पहले किया जा चुका

१. गौरवरहितः सन् अतिशयज्ञाने सति निस्पृहवृत्त्या प्रवचनप्रभावनार्थमतानि कौतुकादीनि कुर्वन् आराधको भवति, उच्चैर्गोत्रं च कर्म बध्नाति, तीर्थोन्नतिकरणादिति। (वृ. पृ. ४०४)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, उसमें प्रत्येक के छह-छह प्रकार हैं। जो अभिमान के अभिनिवेश से निमित्त का व्याकरण करता है, वह आसुरी भावना है, अन्यथा आभियोगिक भावना है।

१३१९.चंकमणाई सत्तो, सुनिक्किवो थावराइसत्तेसु।
काउं च नाणुतप्पइ, एरिसओ निक्किवो होइ॥

जो अन्य कार्य में व्यापृत होकर दयाहीन भावों से स्थावर आदि जीवों पर चंक्रमण आदि करता है, तथा जो चंक्रमण आदि करके अनुतप्त नहीं होता, ऐसा व्यक्ति निष्कृप होता है।

१३२०.जो उ परं कंपंतं, दट्ठूण न कंपए कढिणभावो।
एसो उ निरणुकंपो, अणु पच्छाभावजोएणं॥

जो दूसरे को कंपित देखकर भी, कठिन परिणाम वाला होकर स्वयं प्रकंपित नहीं होता, वह निरनुकंप होता है। पश्चात् भाववाचक अनु शब्द से जो योग है, वह अनुकंप है। जैसे--अनु अर्थात् पश्चात्। दुःखित प्राणी के कंपन के अनन्तर जो कंपन होता है, वह है अनुकंपा। जिससे यह अनुकंपा निर्गत हो गई है, वह है निरनुकंप।

१३२१.उम्मग्गदेसणा मग्गदूसणा मग्गविप्पडीवत्ती।
मोहेण य मोहित्ता, सम्मोहं भावणं कुणइ॥

उन्मार्गदेशना, मार्गदूषणा, मार्गविप्रतिपत्ति, मोह से स्वयं मूढ़, दूसरों को मोहित करना--ऐसी होती है साम्मोही भावना (व्याख्या आगे)।

१३२२.नाणाइ अदूसिंतो, तव्विवरीयं तु उवदिसइ मग्गं।
उम्मग्गदेसओ एस आय अहिओ परेसिं च॥

जो ज्ञान आदि को अदूषित करता हुआ, ज्ञान आदि के विपरीत मार्ग का उपदेश देता है, वह उन्मार्गदिशक है। वह स्वयं और दूसरे के लिए अहित--प्रतिकूल होता है।

१३२३.नाणादि तिहा मग्गं, दूसयए जे य मग्गपडिवन्ना।
अबुहो पंडियमाणी, समुट्ठितो तस्स घायाए॥

ज्ञान, दर्शन और चारित्र--यह आराधना का त्रिविध मार्ग है। जो इनमें दूषण बताता है तथा जो मुनि इस मार्ग पर प्रस्थित हैं, उनमें दूषण बताता है वह अबुध--तत्त्वज्ञान से विकल तथा पंडितमानी व्यक्ति पारमार्थिक मार्ग के घात के लिए उद्यत होता है। यह है मार्गदूषणा।

१३२४.जो पुण तमेव मग्गं, दूसेउमपंडिओ सतक्काए।
उम्मग्गं पडिवज्जइ, अकोविअप्पा जमालीव॥

जो उसी पारमार्थिक मार्ग को दूषित कर, अपंडित--सद्बुद्धिविकल व्यक्ति अपने तर्कों के आधार पर अकोविदात्मा जमालि की भांति उन्मार्ग को स्वीकार करता है, यह मार्ग की विप्रतिपत्ति है।

१३२५.भावोवहयमईओ, मुज्झइ नाण-चरणंतराईसु।
इड्ढीओ अ बहुविहा, दट्ठुं परतित्थियाणं तु॥

जिसकी मति भाव अर्थात् शंका आदि के परिणामों से उपहत है, वह व्यक्ति ज्ञानान्तरों (विशेष ज्ञानों) में तथा चरणान्तरों आदि में व्यामूढ़ हो जाता है। वह परतीर्थिकों की अनेकविध ऋद्धियों को देखकर मोहित हो जाता है, यह है मोह।

१३२६.जो पुण मोहेइ परं, सब्भावेणं व कइअवेणं वा।
सम्मोहभावणं सो, पकरेइ अबोहिलाभाय॥

जो व्यक्ति सद्भाव से अथवा कैतव--माया से दूसरों को मोहित करता है, वह सम्मोहभावना करता है। इसका फल है--अबोधिलाभ।

१३२७.एआओ भावणाओ, भावित्ता देवदुग्गइं जंति।
तत्तो वि चुया संता, परिंति भवसागरमणंतं॥

इन भावनाओं के अभ्यास से मुनि देवदुर्गति अर्थात् कान्दर्पिकादि देवगति को प्राप्त होते हैं। वहां से च्युत होकर भी वे अनन्त भवसागर में पर्यटन करते हैं।

१३२८.तवेण सत्तेण सुत्तेण, एगत्तेण बलेण य।
तुलणा पंचहा वुत्ता, जिणकप्पं पडिवज्जओ॥

जो जिनकल्प साधना को स्वीकार करना चाहता है उसके लिए ये पांच तुलाएं हैं, भावनाएं हैं--तप, सत्त्व, श्रुत, एकत्व और बल।

१३२९.जो जेण अणब्भत्थो, पोरिसिमाई तवो उ तं तिगुणं।
कुणइ छुहाविजयट्ठा, गिरिनइसीहेण दिट्ठंतो॥

जो जिस पौरुषी आदि तप में अनभ्यस्त है वह उस तप को तीन-तीन बार करता है, जिससे कि तप आत्मसात् हो जाए। तप का मूल प्रयोजन है--क्षुधा पर विजय प्राप्त करना। इसमें 'गिरिनदीसिंह' का दृष्टांत वक्तव्य है।[1]

१३३०.एक्केक्कंताव तवं, करेइ जह तेण कीरमाणेणं।
हाणी न होइ जइआ, वि होज्ज छम्मासुवस्सग्गो॥

वह एक-एक तप तब तक करता है जब तक वह तप करने पर अपने विहित अनुष्ठान में कोई हानि नहीं होती। यदि छहमास पर्यन्त भी उपसर्ग हों तब भी वह छहमास का तप कर लेता है।

१३३१.अप्पाहारस्स न इंदियाइं विसएसु संपवत्तंति।
नेव किलम्मइ तवसा, रसिएसु न सज्जए यावि॥

अल्पाहार करने वाले मुनि की इन्द्रियां विषयों में संप्रवर्तित नहीं होती। वह मुनि तपस्या से क्लान्त नहीं होता। वह रसिक अर्थात् स्निग्ध भोजन में आसक्त नहीं होता।

१. दृष्टान्त के लिए देखें कथा परिशिष्ट, नं. ५७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१३३२.तवभावणाइ पंचिंदियाणि दंताणि जस्स वसमिंति।
इंदियजोग्गा(गा)यरिओ, समाहिकरणाइं कारयए॥

तपोभावना से जिसकी पांचों इन्द्रियां दान्त और वशवर्ती हो गई हैं वह 'इन्द्रिययोगाचार्य'[1] मुनि इन्द्रियों को समाधि करने वालीं कर देता है, जैसे-जैसे ज्ञान आदि में समाधि उत्पन्न हो, वैसे-वैसे उनको कर देता है।

१३३३.जे वि य पुव्विं निसि निग्गमेसु विसहिंसु साहस-भयाइं।
अहि-तक्कर-गोवाई, विसिंसु घोरे य संगामे॥

जो राजा प्रव्रजित हुए, उन्होंने पहले (गृहवास में) रात्रीकाल में निर्गम आदि में वीरचर्या (प्रजा के योगक्षेम का वृत्तांत जानने के लिए गुप्तरूप में घूमना) करते हुए साहस--साध्वस अर्थात् अहेतुक भय तथा सर्प, तस्कर, गोप आदि से संबंधित सहेतुक भय को सहन किया था तथा जिन्होंने घोर संग्राम में प्रवेश किया था, उनको भी जिनकल्प लेने से पूर्व सत्त्वभावना से स्वयं को भावित करना होता है।

१३३४.पासुत्ताण तुयट्टं, सोयव्वं जं च तीसु जामेसु।
थोवं थोवं जिणइ उ, भयं च जं संभवइ जत्थ॥

वे एक पार्श्व से या चितलेटने का अभ्यास करते हैं, तीन प्रहर तक शयन अथवा कारण के अभाव में तीसरे प्रहर में शयन करने की पद्धति पर धीरे-धीरे विजय प्राप्त करते हैं तथा उपाश्रय में जीव-जन्तुओं आदि के भय को जीतने का अभ्यास करते हैं।

१३३५.पढमा उवस्सयम्मी, बिइया बाहिं तइया चउक्कम्मि।
सुन्नघरम्मि चउत्थी, तह पंचमिया सुसाणम्मि॥

सत्त्वभावना के अभ्यास की ये पांच प्रतिमाएं हैं--पहली प्रतिमा है उपाश्रय में। दूसरी है उपाश्रय से बाहर। तीसरी है चतुष्कमार्ग में। चौथी है शून्यघर में। पांचवी है श्मशान में।

१३३६.भोगजढे गंभीरे, उव्वरए कोट्ठए अलिंदे वा।
तणुसाइ जागारो वा, झाणट्ठाए भयं जिणइ॥

उपाश्रय के अपरिभोग्य तथा गंभीर अर्थात् अत्यंत अंधकारयुक्त अपवरक, कोष्ठक अथवा अलिंद पर बैठ कर, अल्पनिद्रावान् अथवा जागता हुआ ध्यान में स्थित होता है। वह भय पर विजय पाने का प्रयत्न करता है। यह पहली प्रतिमा है।

१३३७.छिक्कस्स व खइयस्स व, मूसिगमाईहिं वा निसिचरेहिं।
जह सहसा न वि जायइ रोमंचुब्भेय चाडो वा॥

जो रात्री में परिभ्रमण करते हैं उन मूषकों, मार्जारों से स्पृष्ट होने पर या काटे जाने पर सहसा अर्थात् भय नहीं होता, रोमोद्गम नहीं होता तथा चाडो--पलायन नहीं होता--ऐसी सत्त्वभावना से आत्मा को भावित करना चाहिए।

१३३८.सविसेसतरा बाहिं, तक्कर-आरक्खि-सावयाईया।
सुण्णघर-सुसाणेसु य, सविसेसतरा भवे तिविहा॥

जो उपाश्रय प्रतिमा में भय होते हैं वे उपाश्रय से बाहर विशेषतर होते हैं। बाहर तस्कर, आरक्षिक तथा श्वापदों का भय विशेष होता है। शून्यगृह तथा श्मशान आदि में दिव्य, मानुष्य और तैरश्च--ये तीन प्रकार के उपसर्गरूप भय विशेषतर होते हैं। वह मुनि उनको भी करता है।

१३३९.देवेहिं भेसिओ वि य, दिया व रातो व भीमरूवेहिं।
तो सत्तभावणाए, वहइ भरं निब्भओ सयलं॥

इस प्रकार स्वयं द्वारा अभ्यस्त सत्त्वभावना से वह मुनि दिन में या रात में भयंकररूप वाले देवों से भयभीत किए जाने पर भी जिनकल्प साधना का समस्त भार निर्भय होकर वहन कर सकता है।

१३४०. जइ वि य सनाममिव परिचियं सुअं अणहिय-अहीणवन्नाई।
कालपरिमाणहेउं, तहा वि खलु तज्जयं कुणइ॥

यद्यपि अपने नाम की भांति जिसके श्रुत अनधिकाक्षर तथा अहीनाक्षर रूप में परिचित है, स्मृति में है, फिर भी वह कालपरिमाण को जानने के लिए वह श्रुत पर विजय प्राप्त करता है अर्थात् श्रुत का अभ्यास करता है।

१३४१.उस्सासाओ पाणू, तओ य थोवो तओ वि य मुहुत्तो।
मुहुत्तेहिं पोरिसीओ, जाणेइ निसा य दिवसा य॥

श्रुतपरावर्तन के अनुसार वह उच्छ्वास के परिमाण को जान लेता है। फिर प्राण अर्थात् उच्छ्वास-निःश्वास, तदनन्तर स्तोक--सात प्राणों का परिमाण, तदनन्तर मुहूर्त्त, मुहूर्त्तों से पौरुषी को जान लेता है। पौरुषी के अनन्तर वह मुनि रात और दिन के परिमाण का ज्ञान कर लेता है।

१३४२.मेहाईछन्नेसु वि, उभओकालमहवा उवस्सग्गे।
पेहाइ भिक्ख पंथे, नाहिइ कालं विणा छायं॥

आकाश मेघ से आच्छन्न होने पर भी उभयकाल अर्थात् क्रिया का प्रारंभकाल और परिसमाप्तिकाल अथवा उपसर्ग होने पर प्रतिलेखन आदि का काल तथा भिक्षाकाल और विहरणकाल--वह बिना छाया के भी इन सबको स्वयं जान जाता है।

१३४३.एगग्गया सुमह निज्जरा य नेव मिणणम्मि पलिमंथो।
न पराहीणं नाणं, काले जह मंसचक्खूणं॥

श्रुतपरावर्तन से एकाग्रता और महान् निर्जरा होती है। इस विधि से कालज्ञान होने पर छाया मापने से होने वाला

१. इन्द्रियप्रगुणनक्रियागुरुः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पलिमंथ (सूत्रार्थव्याघात) नहीं होता। उनका कालज्ञान पराधीन नहीं होता जैसे मांसचक्षुवाले अर्थात् छद्मस्थ साधुओं के होता है।

१३४४.सुयभावणाए नाणं, दंसण तवसंजमं च परिणमइ।
तो उवओगपरिण्णो, सुयमव्वहितो समाणेइ॥

श्रुतभावना से ज्ञान, दर्शन, तप और संयम की सम्यक् परिणति होती है। वह उपयोगपरिज्ञ मुनि अर्थात् श्रुतोपयोग-मात्र से कालपरिज्ञाता मुनि अव्यथित होकर श्रुतभावना का समापन करता है।

१३४५.जइ वि य पुव्वममत्तं, छिन्नं साहूहिं दारमाईसु।
आयरियाइममत्तं, तहा वि संजायए पच्छा॥

यद्यपि साधुओं ने पत्नी आदि के प्रति होने वाले गृहवास-कालभावी ममत्व का छेदन कर डाला है, फिर भी पश्चात् प्रव्रज्याकाल में आचार्य आदि विषयक ममत्व हो जाता है। (उसको कैसे तोड़ा जा सकता है?)

१३४६.दिट्ठिनिवायाऽऽलावे, अवरोप्परकारियं सपडिपुच्छं।
परिहास मिहो य कहा, पुव्वपवत्ता परिहवेइ॥
१३४७.तणुईकयम्मि पुव्वं, बाहिरपेम्मे सहायमाईसु।
आहारे उवहिम्मि य, देहे य न सज्जए पच्छा॥

गुरु के प्रति जो पहले स्निग्ध दृष्टिपात तथा आलाप-संलाप होते थे, जो परस्परोपकारिता, सप्रतिपृच्छा—सूत्रार्थ की प्रतिपृच्छा, परिहास, मिथःकथा—परस्परवार्ता—इस प्रकार सभी पूर्वप्रवृत्त चेष्टाओं का परिहार करता है तथा अपने सहायक साधुओं के प्रति बाह्य प्रेम को तनु करने के पश्चात् आहार, उपधि और देह के प्रति भी ममत्व नहीं करता।

१३४८.पुव्विं छिन्नममत्तो, उत्तरकालं वविज्जमाणे वि।
साभाविय इअरे वा, खुब्भइ दुट्ठं न संगइए॥

पहले ही उसने ममत्व का छेदन कर डाला था। उत्तर-काल अर्थात् जिनकल्प को स्वीकार करने के पश्चात् जिनकल्प का हनन करने वाले स्वाभाविक स्वजन अथवा इतर—देवनिर्मित स्वजनों को देखकर भी क्षुब्ध नहीं होता।

१३४९.पुप्फपुर पुप्फकेऊ, पुप्फुवई देवि जुयलयं पसवे।
पुत्तं च पुप्फचूलं, धूअं च सनामिअं तस्स॥
१३५०.सहवड्ढियाऽणुरागो, रायत्तं चेव पुप्फचूलस्स।
घरजामाउगदाणं, मिलइ निसिं केवलं तेणं॥
१३५१.पव्वज्जा य नरिंदे, अणुपव्वयणं च भावणेगत्ते।
वीमंसा उवसग्गे, विडेहिं समुहिं च कंदणया॥

पुष्पपुर नगर में पुष्पकेतु राजा था। उसकी रानी का नाम था पुष्पवती। उसने युगल का प्रसव किया। पुत्र का नाम पुष्पचूल और पुत्री का नाम 'सनामिक' अर्थात् पुष्पचूला रखा। दोनों साथ-साथ बढ़ रहे थे। दोनों में अनुराग बढ़ता गया। पुष्पचूल राजा बना। 'घरजमाई' को पुष्पचूला दी गई। वह अपने पति के साथ केवल रात में मिलती थी। राजा पुष्पचूल प्रव्रजित हो गया। उसके अनन्तर पुष्पचूला भी प्रव्रजित हो गई। मुनि पुष्पचूल जिनकल्प स्वीकार करने का इच्छुक था। वह एकत्वभावना से स्वयं को भावित करने लगा। एक देव ने उसकी परीक्षा के निमित्त उपसर्ग रूप में साध्वी पुष्पचूला का रूप बनाया। धूर्त्त लोग उसकी विडंबना करने लगे। मुनि पुष्पचूल उसी मार्ग से आ रहे थे। उन्हें देखकर साध्वी पुष्पचूला चिल्लाने लगी—आर्य! शरण दो, शरण दो।' मुनि ने सुना, परंतु वे तो ममत्व को मिटा चुके थे। उन्होंने सोचा—'मैं अकेला हूं। मेरा कोई नहीं है। मैं भी किसी का नहीं हूं।' इस प्रकार एकत्वभावना में लीन मुनि आगे बढ़े और अपने स्थान पर आ गए।

१३५२.एगत्तभावणाए, न कामभोगे गणे सरीरे वा।
सज्जइ वेरग्गगओ, फासेइ अणुत्तरं करणं॥

एकत्वभावना से भावित आत्मा वाला मुनि न कामभोगों में, गण में और न शरीर में ममत्व करता है, वह वैराग्य को प्राप्त होता हुआ अनुत्तर करण अर्थात् जिनकल्प की आराधना करता है।

१३५३.भावो उ अभिस्संगो, सो उ पसत्थो व अप्पसत्थो वा।
नेह-गुणओ उ रागो, अपसत्थ पसत्थओ चेव॥

भाव का अर्थ है—अभिष्वंग। वह दो प्रकार का होता है—प्रशस्त और अप्रशस्त। स्नेहजनित जो राग है, वह अप्रशस्त है तथा गुणों के प्रति जो राग है वह प्रशस्त है।

१३५४.कामं तु सरीरबलं, हायइ तव-नाणभावणजुअस्स।
देहावचए वि सती, जह होइ थिई तहा जयइ॥

हम यह मानते हैं कि तपभावना और ज्ञानभावना से युक्त मुनि का शरीरबल क्षीण होता है। उसके देह का अपचय होने पर भी अपना धृतिबल निश्चल करने के लिए वह प्रयत्न करता है।

१३५५.कसिणा परीसहचमू, जइ उद्विज्जाहि सोवसग्गा वि।
दुद्धरपहकरवेगा, भयजणणी अप्पसत्ताणं॥
१३५६.धिइधणियबद्धकच्छो, जोहेइ अणाउलो तमव्वहिओ।
बलभावणाए धीरो, संपुण्णमणोरहो होइ॥

यदि संपूर्ण परीषहरूपी सेना, जो अल्पबल वाले व्यक्तियों के लिए भय पैदा करने वाली है तथा जो मोक्षमार्ग को दुर्वह बनाने वाले वेग से युक्त है तथा जिसने दिव्य आदि उपसर्गों की सहायता प्राप्त कर ली है, वैसी सेना भी यदि सम्मुख आ जाए तो वह जिनकल्प स्वीकार करने वाला मुमुक्षु उसके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साथ युद्ध करने के लिए कटिबद्ध हो जाता है। वह धीर मुनि अत्यधिक धृति के कच्छ से बद्ध, अनाकुल, अव्यथित–निष्प्रकंप होकर बलभावना से उसके साथ युद्ध करता है, उसको पराजित कर अपने संपूर्ण मनोरथ को पूरा करता है।

१३५७.धिइ-बलपुरस्सराओ, हवंति सव्वा वि भावणा एता।
तं तु न विज्जइ सज्झं, जं धिइमंतो न साहेइ॥

ये सारी भावनाएं धृति और बल से युक्त होती हैं। ऐसा कोई साध्य नहीं है, जो धृतिमान् पुरुष सिद्ध न कर सके।

१३५८.जिणकप्पियपडिरूवी, गच्छे वसमाण दुविह परिकम्मं।
ततियं भिक्खायरिया, पंतं, लूहं अभिग्गहीया॥

इस प्रकार पांच भावनाओं से भावित मुनि जिनकल्प का प्रतिरूपी होकर गच्छ में रहता हुआ दो प्रकार का परिकर्म करता है–अभिग्रहपूर्वक तीसरे प्रहर में भिक्षाचर्या करना, उसमें भी अंत-प्रांत और रूक्ष आहार ग्रहण करना तथा अभिग्रहपूर्वक एषणा करना।

१३५९.परिणाम-जोगसोही, उवहिविवेगो य गणविवेगो य।
सिज्जा-संथारविसोहणं च विगईविवेगो य॥
१३६०.तो पच्छिमम्मि काले, सप्पुरिसनिसेवियं परमघोरं।
पच्छा निच्छयपत्थं, उवेइ जिणकप्पियविहारं॥

परिणाम अर्थात् गुरु आदि के प्रति होने वाले ममत्व के विच्छेद से, योगशोधि–आवश्यक आदि यथाकाल करने से होने वाली शुद्धि से, उपधिविवेक, गणविवेक, शय्या-संस्तारक का विशोधन, विकृतिविवेक–यह सारा उसे करना चाहिए।

तदनन्तर पश्चिम काल में गणव्यवच्छित्ति करने के पश्चात् सत्पुरुषों द्वारा परिपालित, परमघोर, भविष्य का निश्चित पथ्य–एकान्तहितकारक जिनकल्पिकविहार को स्वीकार करे।

१३६१.पाणी पडिग्गहेण व, सच्चेल निचेलओ जहा भविया।
सो तेण पगारेणं, भावेइ अणागयं चेव॥

दो प्रकार का परिकर्म है–पाणिपरिकर्म तथा प्रतिग्रह-परिकर्म। अथवा सचेलपरिकर्म और अचेलपरिकर्म। इनमें से जो पाणिपात्रधारक अथवा प्रतिग्रहधारक अथवा सचेलक या अचेलक होता है, वह भविष्य में उसी प्रकार से जीवन यापन करता है।

१३६२.आहारे उवहिम्मि य, अहवा दुविहं तु होइ परिकम्मं।
पंचसु गह दोसु अग्गह, अभिग्गहो अन्नयरियाए॥

अथवा आहार और उपधि विषयक दो प्रकार का परिकर्म होता है। सात पिंडेषणाओं में आद्य दो का अग्रहण और शेष पांच में से दो का ग्रहण अभिग्रहपूर्वक होता है। एक से भक्त का ग्रहण और एक से पानक का।[1]

१३६३.निप्फाव-चणकमाई, अंतं पंतं तु होइ वावण्णं।
नेहरहियं तु लूहं, जं वा अबलं सभावेणं॥

वल्ल (राजमाष या एक प्रकार का गेहूं), चना आदि अन्त तथा वे ही कुथित होने पर प्रान्त कहलाते हैं। स्नेहरहित रूक्ष कहलाता है अथवा जो स्वभाव से ही अबल होता है (जैसे रब्बा आदि) वह भी रूक्ष ही कहलाता है।

१३६४.उक्कुडुयासणसमुइं, करेइ पुढवीसिलाइसुववेसे।
पडिवन्नो पुण नियमा, उक्कुडुओ केइ उ भयंति॥
१३६५.तं तु न जुज्जइ जम्हा, अणंतरो नत्थि भूमिपरिभोगो।
तम्मि य हु तस्स काले, ओवग्गहितोवही नत्थि॥

जिनकल्प स्वीकार करने वाला मुनि उत्कटुक आसन का अभ्यास करता है।[2] पृथ्वी शिला आदि पर बैठ सकता है। जो जिनकल्प को स्वीकार कर चुका है वह नियमतः उत्कटुक आसन में ही बैठता है। कुछेक आचार्य इस चर्या में विकल्प मानते हैं–उत्कटुक अथवा सीधा बैठना। यह विकल्प उचित नहीं लगता, क्योंकि साधु के लिए भूमी का परिभोग अव्यवहित नहीं होना चाहिए। जिनकल्पकाल में औपग्रहिक उपधि नहीं होती। उसके अभाव में निषद्या भी नहीं होती। इसलिए उसका उत्कटुक रहना ही उचित है।

१३६६.दव्वाई अणुकूले, संघं असती गणं समाहूय।
जिण गणहरे य चउदस, अभिन्न असती य वडमाई॥

द्रव्य आदि की अनुकूलता होने पर संघ के अभाव में गण को अवश्य एकत्रित करना चाहिए। तदनन्तर तीर्थंकर या गणधर या चतुर्दशपूर्वी या अभिन्नदशपूर्वी–इनमें से किसी के पास जिनकल्प ग्रहण करे। इनके अभाव में वटवृक्ष आदि (अशोक, अश्वत्थ आदि) के नीचे स्वयं जिनकल्प को स्वीकार करे।

१३६७.गणि गणहरं ठवित्ता, खामे अगणी उ केवलं खामे।
सव्वं च बाल-वुड्ढं, पुव्वविरुद्धे विसेसेणं॥

गणी–आचार्य अपनें उत्तराधिकारी गणधर की स्थापना कर श्रमणसंघ से क्षमायाचना करते हैं। जो गणी नहीं होते, सामान्य साधु होते हैं, वे किसी की स्थापना न कर समस्त संघ से, उसके अभाव में बाल और वृद्ध मुनियों से संकुल

---

१. उपधि विषयक परिकर्म के लिए देखें–पीठिका गाथा ६१० आदि तथा ६५५ आदि। उनमें भी आद्य दो को छोड़कर शेष का ही ग्रहण। उसमें भी अभिग्रहपूर्वक।

२. समुइं–देशीवचनात्वाद् अभ्यासं करोति। (वृ. पृ. ४१४)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

केवल स्वगच्छ से क्षमायाचना करते हैं। पूर्वविराधित मुनियों से क्षमा मांगते हैं।

१३६८.जइ किंचि पमाएणं, न सुट्ठु भे वट्टियं मए पुव्विं।
तं भे खामेमि अहं, निस्सल्लो निक्कसाओ अ॥

क्षमायाचना करते हुए कहते हैं—यदि मैंने पूर्व में आप मुनियों के प्रति प्रमादवश उचित बर्ताव न किया हो तो मैं निःशल्य और निष्कषाय होकर क्षमायाचना करता हूं।

१३६९.आणंदअंसुपायं, कुणमाणा ते वि भूमिगयसीसा।
खामिंति जहरिहं खलु, जहारिहं खामिता तेणं॥

वे मुनि भी आनंद से अश्रुपात करते हुए, भूमी पर शिर टिकाए हुए यथायोग्य अपने पर्यायक्रम से उनसे क्षमायाचना करते हैं। वे आचार्य भी यथार्ह पर्यायज्येष्ठ से क्षमायाचना करते हैं।

१३७०. खामितस्स गुणा खलु, निस्सल्लय विणय दीवणा मग्गे।
लाघवियं एगत्तं, अप्पडिबंधो अ जिणकप्पे॥

जिनकल्प स्वीकार करने वाले मुनि या आचार्य के द्वारा क्षमायाचना से ये गुण निष्पन्न होते हैं—निःशल्यता, विनय की विज्ञप्ति, मार्ग की दीपना, लघुता की उपपत्ति, एकत्व की अनुभूति, प्रतिबंध के अभाव की अनुभूति।

१३७१.अह ते सबाल-वुड्ढो, गच्छो साइज्ज णं अपरितंतो।
एसो हु परंपरतो, तुमं पि अंते कुणसु एवं॥

आचार्य अपने गणधर को अनुशिष्टि देते हैं—

यह सबाल-वृद्ध गच्छ तुम्हारी निश्रा में है। तुम अपरितप्तभाव से इसका सांगोपांग पालन करना। यही शिष्य और आचार्य का क्रम है। तुम भी अंत में अव्यवच्छित्तिकारक शिष्य का निष्पादन कर अभ्युद्यत विहार स्वीकार करना।

१३७२.पुव्वपवित्तं विणयं, मा हु पमाएहिं विणयजोगेसु।
जो जेण पगारेणं, उववज्जइ तं च जाणाहिं॥

तुम विनययोग्य—'गौरवार्ह जो मुनि हैं उनके प्रति पूर्वप्रवृत्त विनय की प्रमादवश हानि मत करना। जो मुनि जिस विधि से निर्जरा के प्रति सजग होता हो उसको जानकर उन-उन मुनियों को उसीमें प्रवर्तित करना।'

१३७३.ओमो समराइणिओ, अप्पतरसुओ अ मा य णं तुब्भे।
परिभवह तुम्ह एसो, विसेसओ संपयं पुज्जा॥

इस अवसर पर आचार्य साधुओं को कहते हैं—मुनियो! ये स्थापित गणधर अवमरात्निक हैं, समरात्निक हैं, अल्पतर-श्रुतसंपन्न हैं—यह सोचकर तुम इनका पराभव मत करना। ये ही अभी तुम सबके लिए विशेषरूप से पूज्य हैं।

१३७४.पक्खीव पत्तसहिओ, सभंडगो वच्चए निरवयक्खो।
एगंतं जा तइया, तीए विहारो से नऽन्नासु॥

तदनन्तर वे मुनि गच्छ से निरपेक्ष होकर अपने भांड लेकर वहां से चल पड़ते हैं, जैसे पक्षी अपनी पांखों के साथ अन्यत्र चला जाता है। वे तृतीय पौरुषी में विहार करते हुए एकांत अर्थात् मासप्रायोग्य क्षेत्र में चले जाते हैं। उनके विहार का मर्यादाकाल है तीसरा प्रहर, अन्य प्रहरों में नहीं।

१३७५.सीहम्मि व मंदरकंदराओ नीहम्मिए तओ तम्मि।
चक्खुविसयं अइगए, अइंति आणंदिया साहू॥

जैसे सिंह मंदरकंदरा से निर्गत होता है, वैसे ही अनगार गच्छ से निर्गत होते हैं तब अन्य मुनि उनका अनुगमन करते हैं और जब वे आंखों से ओझल हो जाते हैं तब वे अनुगत मुनि आनंदित होते हुए अपनी वसति में लौट आते हैं।

१३७६.निच्चेल सचेले वा, गच्छारामा विणिग्गए तम्मि।
चक्खुविसयं अईए, अयंति आणंदिया साहू॥

गच्छरूपी आराम से सचेल अथवा अचेल अवस्था में निर्गत मुनि जब तक आंखों से ओझल नहीं हो जाता तब तक अन्य मुनि उसका अनुगमन करते हैं और फिर आनंदित होते हुए अपने स्थान पर लौट आते हैं।

१३७७.आभोएउं खेत्तं, निव्वाघाएण मासनिव्वाहिं।
गंतूण तत्थ विहरइ, एस विहारो समासेणं॥

क्षेत्र को निर्व्याघात और मासनिर्वहन योग्य जानकर जिनकल्पी मुनि वहां जाते हैं और अपनी मर्यादा के अनुसार जीवनयापन करते हैं। यह जिनकल्प मुनि के विशेष अनुष्ठानरूप विहार का संक्षिप्त विवरण है।

१३७८ इच्छा-मिच्छा-तहक्कारो, आवस्सि निसीहिया य आपुच्छा।
पडिपुच्छ छंदण निमंतणा य उवसंपया चेव॥

दस प्रकार की सामाचारी यह है—इच्छाकार, मिथ्याकार, तथाकार, आवश्यिकी, नैषेधिकी, आपृच्छा, प्रतिपृच्छा, छंदना, निमंत्रणा और उपसंपदा।

१३७९.आवसि निसीहि मिच्छा, आपुच्छुवसंपदं च गिहिएसु।
अन्ना सामायारी, न होंति से सेसिया पंच॥

इनमें से जिनकल्पी मुनि पांच सामाचारियां स्वीकार करता है—आवश्यिकी, नैषेधिकी, मिथ्याकार, आपृच्छा तथा उपसंपदा। वह इनको गृहस्थों के प्रति प्रयुक्त करता है। प्रयोजन के अभाव में शेष पांच सामाचारियों का प्रयोग नहीं होता। इस विषयक अन्य मत इस प्रकार है—

१३८०.आवासियं निसीहियं, मोत्तुं उवसंपयं च गिहिएसु।
सेसा सामायारी, न होंति जिणकप्पिए सत्त॥

जिनकल्पी मुनि के आवश्यिकी, नैषेधिकी—इन दो सामाचारियों को छोड़कर तथा उपसंपदा सामाचारी गृहस्थ-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषयक होने के कारण, शेष सात सामाचारियां जिनकल्पिक के नहीं होतीं।

१३८१.अहवा वि चक्कवाले, सामायारी उ जस्स जा जोग्गा।
सा सव्वा वत्तव्वा, सुयमाई वा इमा मेरा॥

अथवा जिनकल्पिक की दसविध चक्रवाल सामाचारी जो जिसके योग्य हो, उन सबका उल्लेख इस सामाचारी द्वार में करना चाहिए। श्रुत आदि विषयक यह मर्यादा है।

१३८२.सुय संघयणुवसग्गे, आतंके वेदणा कइ जणा य।
थंडिल्ल वसहि केच्चिरे, उच्चारे चेव पासवणे॥

१३८३.ओवासे तणफलए, सारक्खणया य संठवणया य।
पाहुडि अग्गी दीवे, ओहाण वसे कइ जणा य॥

१३८४.भिक्खायरिया पाणग, लेवालेवे तहा अलेवे य।
आयंबिल पडिमाओ, जिणकप्पे मासकप्पो य॥

ये तीनों द्वार गाथाएं हैं। इनमें जिनकल्प विषयक २७ द्वारों का उल्लेख है-

१. श्रुत	१०. उच्चार	१९. अवधान
२. संहनन	११. प्रस्रवण	२०. वसति में कितने जन रहेंगे?
३. उपसर्ग	१२. अवकाश	२१. भिक्षाचर्या
४. आतंक	१३. तृणफलक	२२. पानक
५. वेदना	१४. संरक्षणता	२३. लेपालेप
६. कितने जन?	१५. संस्थापनता	२४. अलेप
७. स्थंडिल	१६. प्राभृतिका	२५. आचाम्ल
८. वसति	१७. अग्नि	२६. प्रतिमा
९. कितना काल	१८. दीप	२७. मासकल्प।

१३८५.आयारवत्थुतइयं, जहन्नयं होइ नवमपुव्वस्स।
तहियं कालण्णाणं, दस उक्कोसेण भिन्नाइं॥

जिनकल्पी मुनि का जघन्य श्रुत प्रत्याख्यान नामक नौवें पूर्व की आचार नामक तीसरी वस्तु। इतना श्रुत पढ़ने पर ही कालज्ञान होता है। इससे न्यून ज्ञान वाला जिनकल्प को स्वीकार नहीं कर सकता। उसके उत्कर्षतः भिन्न दश पूर्वों की श्रुतपर्याय होती है। (संपूर्ण दशपूर्वधर प्रवचन की प्रभावना तथा परोपकार के द्वारा ही बहुत निर्जरालाभ कर लेता है। वह जिनकल्प स्वीकार नहीं करता।)

१३८६.पढमिल्लुगसंघयणा, धिईए पुण वज्जकुड्डसामाणा।
उप्पज्जंति न वा सिं, उवसग्गा एस पुच्छा उ॥

जिनकल्पिक प्रथम संहनन अर्थात् वज्रऋषभनाराच संहनन वाले होते हैं। उनकी धृति (मानसिक प्रणिधान) वज्रकुड्य के सदृश होती है। उनके दिव्य आदि उपसर्ग उत्पन्न होते हैं या नहीं-यह पृच्छा है।

१३८७.जइ वि य उप्पज्जंते, सम्मं विसहंति ते उ उवसग्गे।
रोगातंका चेवं, भइया जइ होंति विसहंति॥

उनके उपसर्ग होते ही हैं या नहीं, यह एकांततः नहीं कहा जा सकता। वे उत्पन्न उपसर्गों को सम्यग्रूप से सहन करते हैं, रोग और आतंक वैकल्पिक हैं अर्थात् उत्पन्न होते भी हैं और नहीं भी होते। यदि उत्पन्न होते हैं तो वे उनको सहन करते हैं।

१३८८.अब्भोवगमा ओवक्कमा य तेसि वियणा भवे दुविहा।
धुवलोआई पढमा, जरा-विवागाइ बिइएक्को॥

जिनकल्पी मुनियों के दो प्रकार की वेदना होती है-आभ्युपगमिकी और औपक्रमिकी। पहली आभ्युपगमिकी वेदना है-ध्रुवलोच आदि। ध्रुव का अर्थ है-प्रतिदिनभावी। दूसरी औपक्रमिकी वेदना है-जरा तथा विपाक-कर्मों के उदय से होने वाली।

छठा द्वार है-कितने जन? जिनकल्पी मुनि एक अर्थात् अकेले भी होते हैं।

१३८९.उच्चारे पासवणे, उस्सग्गं कुणइ थंडिले पढमे।
तत्थेव य परिजुण्णे, कयकिच्चो उज्झई वत्थे॥

वे उच्चार और प्रस्रवण का उत्सर्ग प्रथम स्थंडिल (अर्थात् अनापात-असंलोक) में करते हैं और वहीं कृतकार्य होकर जीर्ण वस्त्रों का व्युत्सर्ग कर देते हैं।

१३९०.अप्पमभिन्नं वच्चं, अप्पं लूहं च भोयणं भणियं।
दीहे वि उ उवसग्गे, उभयमवि अथंडिले न करे॥

वे अल्प और रूक्ष भोजन करते हैं अतः उनका मल अल्प और अभिन्न होता है। इसलिए शुचि नहीं लेते। यह उनका कल्प है। वे दीर्घकालीन उपसर्ग की स्थिति में भी उभय संज्ञा-उच्चार-प्रस्रवण का त्याग अस्थंडिल में नहीं करते।

१३९१.अममत्त अपरिकम्मा, नियमा जिणकप्पियाण वसहीओ।
एमेव य थेराणं, मुत्तूण पमज्जणं एक्कं॥

जिनकल्पी मुनि ममत्वरहित होते हैं। उनकी वसति नियमतः परिकर्मरहित होती है। स्थविरकल्पी मुनियों की वसति भी अपरिकर्मा होती है। केवल वहां प्रमार्जना परिकर्म होता है।

१३९२.बिले न ढक्कंति न खज्जमाणिं,
गोणाइ वारिंति न भज्जमाणिं।
दारे न ढक्कंति न वऽग्गलिंति,
दप्पेण थेरा भइआ उ कज्जे॥

जिनकल्पी मुनि वसति में रहे हुए चूहे आदि के बिलों को नहीं ढंकते और गायों द्वारा घास आदि खाए जाते हुए अथवा वसति को तोड़े जाते हुए का निवारण नहीं करते। वे द्वार को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं ढंकते, आगल नहीं लगाते। स्थविरकल्पी मुनि भी दर्प अर्थात् प्रयोजन के बिना वसति का यह परिकर्म नहीं करते और प्रयोजन होने पर करते भी हैं।

१३९३.किच्चिरकालं वसिहिह, इत्थ य उच्चारमाइए कुणसु।
इह अच्छसु मा य इहं, तण-फलए गिण्हिमे मा य॥
१३९४.सारक्खह गोणाई, मा य पडिंति उविक्खहउ भंते!।
अन्नं वा अभिओगं, नेच्छंतऽचियत्तपरिहारी॥

जिनकल्पी मुनि जब वसति की याचना करते हैं तब वसतिस्वामी पूछता है—आप यहां कितने समय तक रहेंगे? अथवा अमुक प्रदेश में उच्चार-प्रस्रवण का व्युत्सर्ग करें, अमुक प्रदेश में नहीं। अथवा यहां बैठें, यहां न बैठें। ये तृण-फलक आदि ग्रहण करें, ये न करें। भंते! आप गायों आदि पशुओं से वसति का संरक्षण करें तथा यत्र-तत्र गिरती हुई वसति की उपेक्षा न करें। ऐसे या इनके अतिरिक्त (स्वाध्याय प्रतिषेध आदि) वसतिस्वामी जिन अन्य कार्यों का अभियोग अर्थात् नियंत्रण करे तो अप्रीति का परिहार करने वाले वे मुनि उस वसति की इच्छा भी न करे।

१३९५.पाहुडिय दीवओ वा, अग्गि पगासो व जत्थ न वसन्ति।
जत्थ य भणंति ठंते, ओहाणं देह गेहे वि॥

जिस वसति में प्राभृतिका—बलि की जाती हो, दीपक जलाया जाता हो अथवा अग्नि आदि का जहां प्रकाश होता हो वहां वे मुनि नहीं रहते। जहां रहते हैं वहां यदि गृहस्थ कहे कि आप हमारे घर का भी अवधान—ध्यान रखें—ऐसे स्थान में भी वे मुनि न रहें।

१३९६. वसहिं अणुण्णविंतो, जइ भण्णइ कइ जण त्थ तो न वसे।
सुहुमं पि न सो इच्छइ, परस्स अप्पत्तियं भगवं॥

वसति की अनुज्ञा देते हुए यदि वसतिस्वामी कहे—आप यहां कितने मुनि रहेंगे? मुनि वहां न रहे। क्योंकि जिनकल्पी मुनि दूसरों की सूक्ष्म अप्रीति की भी इच्छा नहीं करते।

१३९७.तइयाइ भिक्खचरिया, पग्गहिया एसणा य पुव्वुत्ता।
एमेव पाणगस्स वि, गिण्हइ अ अलेवडे दो वि॥

जिनकल्पी मुनि तीसरे प्रहर में भिक्षाचर्या करते हैं। वे अभिग्रहयुक्त एषणा करते हैं। यह गाथा १३६२ में पहले बताया जा चुका है। इसी प्रकार पानक के विषय में ज्ञातव्य है। वे भक्त-पान—दोनों अलेपकृत ग्रहण करते हैं।

१३९८.आयंबिलं न गिण्हइ, जं च अणायंबिलं पि लेवाडं।
न य पडिमा पडिवज्जइ, मासाई जा य सेसाओ॥

ये जिनकल्पी आचाम्ल ग्रहण नहीं करते और जो अनाचाम्ल है, वह भी लेपकृत ग्रहण नहीं करते। ये मास प्रतिमाएं तथा शेष कोई भी प्रतिमा स्वीकार नहीं करते।

१३९९.कप्पे सुत्त-ऽत्थविसारयस्स संघयण-धिरियजुत्तस्स।
जिणकप्पियस्स कप्पइ, अभिगहिया एसणा निच्चं॥

जिनकल्प विषयक जो सूत्र और अर्थ में विशारद है, जो संहनन और धृति से युक्त है, ऐसे जिनकल्पी मुनि के नित्य अभिग्रहयुक्त एषणा कल्पती है।

१४००.छव्वीहीओ गामं, काउं एक्किक्कियं तु सो अडइ।
वज्जेउं होइ सुहं, अनिययवित्तिस्स कम्माई॥

जिनकल्पी मुनि जहां मासकल्प करते हैं वे उस ग्राम को छह पंक्तियों में विभाजित करके प्रतिदिन एक-एक पंक्ति में घूमते हैं। इस प्रकार अनियतवृत्ति वाले उन मुनियों के आधाकर्म आदि दोष सुखपूर्वक अर्थात् सहजरूप से वर्जित हो जाते हैं।

१४०१.अभिग्गहे दट्ठुं करणं, भत्तोगाहिमग तिन्नि पूईयं।
चोदग! एगमणेगे, कप्पो त्ति य सत्तमे सत्त॥

जिनकल्पी मुनि के अभिग्रहों को देखकर कोई श्रावक आधाकर्म आदि भोजन बना दे। वह भोजन अवगाहिम हो सकता है। तीन दिनों के पश्चात् वह पूतिक हो जाता है। शिष्य प्रश्न करता है—भंते! एक ही गांव के वे छहवीथियां क्यों करते हैं? आचार्य कहते हैं—ऐसा करना उनका कल्प है। सातवें दिन पुनः वे पहली वीथि में आते हैं। एक वसति में सात जिनकल्पी मुनि रह सकते हैं।

१४०२ दट्ठूण य अणगारं, सड्ढी संवेगमागया काइ।
नत्थि महं तारिसयं, अन्नं जमलज्जिया दाहं॥

अनगार को देखकर कोई श्राविका संवेग को प्राप्त होकर सोचती है—मैं ऐसे अनगार को भी भिक्षा नहीं दे सकती। मेरे पास ऐसा अन्न—भोजन नहीं है कि मैं अलज्जित होकर दूं।

१४०३.सव्वपयत्तेण अहं, कल्लं काऊण भोअणं विउलं।
दाहामि तुट्ठमणसा, होहिइ मे पुण्णलाभो त्ति॥

कल मैं सर्वप्रयत्न से विपुल भोजन सामग्री बनाकर प्रसन्नमन से अनगार को भिक्षा दूंगी। इससे मुझे महान् पुण्य लाभ होगा।

१४०४.केडित वीही तेहिं, अणंतवरनाण-दंसणधरेहिं।
अद्दीण अपरितंता, बिइयं च पहिंडिया तहियं॥

वे अनंतवरज्ञानदर्शनधर जिनकल्पी अनगार उस दिन उस वीथि को छोड़कर मन से अविषण्ण और अपरितान्त होते हुए दूसरी वीथि में पर्यटन करने लगे।

१४०५.पढमदिवसम्मि कम्मं, तिन्नि उ दिवसाइं पूइयं होइ।
पूतीसु तिसु न कप्पइ, कप्पइ तइओ जया कप्पो॥

अनगार के लिए जो भक्त उपस्कृत किया वह पहले दिन आधाकर्म था। तीन दिनों तक वह गृह पूति हो जाता है। उस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूतिगृह में तीन दिनों तक साधु को कुछ भी ग्रहण करना नहीं कल्पता। जब तीसरा कल्प[1] अर्थात् दिन बीत जाता है तब कल्पता है।

१४०६.बिइयदिवसम्मि कम्मं, तिन्नि उ दिवसाइं पूइयं होइ।
तिसु कप्पेसु न कप्पइ, कप्पइ तं छट्ठदिवसम्मि॥

पूर्व गाथा का स्पष्टार्थ इस प्रकार है—पहले दिन श्राविका ने अनगार को घूमते देख दूसरे दिन आधाकर्म भक्त तैयार किया। तदनन्तर तीन दिन तक पूतिक होता है, उन तीन कल्पों—दिनों तक उसका ग्रहण नहीं कल्पता। किन्तु वह छठे दिन कल्पता है।

१४०७.कल्लं से दाहामी, ओगाहिमगं न आगतो अज्ज।
तइयदिवसाइतं होइ पूइयं कप्पए छट्ठे॥

श्राविका ने मुनि के लिए अवगाहितपाक तैयार किया। उस दिन मुनि नहीं आए। उसने सोचा—मैं कल उनको यह दान दूंगी। उसने मुनि के लिए वह अवगाहिमपाक स्थापित कर दिया। वह पाक तीसरे दिन भी आधाकर्म ही होगा। तीन दिनों तक पूतिक। छठे दिन उसका ग्रहण कल्पता है।

१४०८.एमेवोगाहिमगं, नवरं तइयदिवसे वि तं कम्मं।
तिसु पूइयं न कप्पइ, कप्पइ तं सत्तमे दिवसे॥

भक्त की भांति अवगाहिम तीसरे दिन भी आधाकर्म, तदनन्तर तीन दिनों तक वह गृह पूतिक होता है। वहां उस काल में कुछ भी लेना नहीं कल्पता, किन्तु वह गृह सातवें दिन कल्पता है।

१४०९. चोयग! तं चेव दिणं, जइ वि करिज्जाहि कोइ कम्माई।
न हु सो तं न वियाणइ, एसो पुण सिं अहाकप्पो॥

शिष्य! यदि कोई उसी दिन आधाकर्म भक्त बना दे, तो ऐसी बात नहीं है कि अनगार उसको नहीं जानता, वह श्रुतोपयोग से जान लेता है। शिष्य पूछता है—यदि वे श्रुतोपयोग से जान लेते हैं तो फिर गांव के अनेक विभाग कर क्यों पर्यटन करते है? आचार्य कहते हैं—यह उनका कल्प है। वे सातवें दिन पुनः प्रथम वीथि में भक्तपान के लिए घूमते हैं।

१४१०.किं नागय त्थ तइया, असव्वओ मे कओ तुह निमित्तं।
इइ पुट्ठो सो भगवं, बिइयाएसु इमं भणइ॥

श्राविका कहती है—भंते! आप उस समय क्यों नहीं आए? मैंने आपके लिए विपुल भक्तपान तैयार किया था। इस प्रकार पूछने पर अनगार मौन रहते हैं। इस विषय में आदेशान्तर इस प्रकार है—

१४११.अनियताओ वसहीओ, भमरकुलाणं च गोकुलाणं च।
समणाणं सउणाणं, सारइआणं च मेहाणं॥

श्राविका द्वारा पूछे जाने पर अनगार कहते हैं—जैसे भ्रमरकुलों का, गोकुल का, श्रमणों का, पक्षियों का तथा शारदीय मेघों का अवस्थान और परिभ्रमण अनियत होते हैं वैसे ही हमारे वसतियां और परिभ्रमण अनियत होते हैं, अनियतवृत्ति में आधाकर्म आदि की प्रवृत्ति नहीं होती।

१४१२.एक्काए वसहीए, उक्कोसेणं वसंति सत्त जणा।
अवरोप्परसंभासं, चयंति अन्नोन्नवीहिं च॥

जिनकल्पी मुनि एक वसति में उत्कृष्टतः सात रहते हैं। वे परस्पर के संभाषण का और अन्योन्य वीथि में पर्यटन का परित्याग करते हैं अर्थात् जिस दिन जिस वीथि में एक जिनकल्पी जाता है, उसी में दूसरा मुनि नहीं जाता।

१४१३.खेत्ते काल चरित्ते, तित्थे परियाय आगमे वेए।
कप्पे लिंगे लेसा, झाणे गणणा अभिग्गहा य॥
१४१४.पव्वावण मुंडावण, मणसाऽऽवन्ने वि से अणुग्घाया।
कारण निप्पडिकम्मे, भत्तं पंथो य तइयाए॥

उन जिनकल्पी मुनियों के स्थिति संबंधी १९ विषय हैं—

१. क्षेत्र	११. ध्यान
२. काल	१२. गणना
३. चारित्र	१३. अभिग्रह
४. तीर्थ	१४. प्रव्राजना
५. पर्याय	१५. मुंडापना
६. आगम	१६. मानसिक अपराध में भी
७. वेद	अनुद्घात प्रायश्चित्त
८. कल्प	१७. कारण
९. लिंग	१८. निष्प्रतिकर्म
१०. लेश्या	१९. भक्त और पंथविहार-तीसरे प्रहर में।

१४१५.जम्मण-संतीभावेसु होज्ज सव्वासु कम्मभूमीसु।
साहरणे पुण भइयं, कम्मे व अकम्मभूमे वा॥

क्षेत्र की मार्गणा के दो प्रकार है—जन्म से तथा सद्भाव से। जन्म क्षेत्र वह है जहां जन्म होता है। सद्भाव क्षेत्र वह है जहां जिनकल्प स्वीकार किया जाता है अथवा किया गया है। दोनों प्रकार सभी कर्मभूमियों में हो सकते हैं। देवता द्वारा संहरण किए जाने पर कर्मभूमी अथवा अकर्मभूमी में हो सकता है। यह सद्भाव की अपेक्षा से है। जन्मतः तो कर्मभूमी में ही होता है।

१४१६.ओसप्पिणीइ दोसुं, जम्मणतो तीसु संतिभावेणं।
उस्सप्पिणि विवरीया, जम्मणतो संतिभावे य॥

१. कल्पशब्देनेह दिवस उच्यते। (वृ. पृ. ४२२)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१४१७.नोसप्पिणिउस्सप्पे, भवंति पलिभागतो चउत्थम्मि।
काले पलिभागेसु य, साहरणे होंति सव्वेसु॥

अवसर्पिणी काल में जन्म से दो अरों में—तीसरे-चौथे अर में तथा सद्भावतः तीन अरों में—तीसरे, चौथे और पांचवें में। उत्सर्पिणी काल में जन्मतः और सद्भाव से इससे विपरीत होता है अर्थात् जन्मतः दुःषमा, दुषमसुषमा और सुषम-दुःषमा—इन तीन अरों में जिनकल्पी का जन्म हो सकता है। जिनकल्प का स्वीकार दुःषमसुषमा और सुषम-दुःषमा—इन दो अरों में होता है। दुःषमा में जन्म लेने पर भी, तीर्थ के अभाव में, जिनकल्प की प्रतिपत्ति दुःषमसुषमा में ही होती है।

जिन क्षेत्रों में नोउत्सर्पिणी-अवसर्पिणी है अर्थात् वहां काल अवस्थित हैं उनके चार प्रतिभाग हैं—सुषमसुषमा-प्रतिभाग, सुषमाप्रतिभाग, सुषमदुःषमाप्रतिभाग और दुःषम-सुषमाप्रतिभाग। पहला प्रतिभाग देवकुरु-उत्तरकुरु में, दूसरा हरिवर्ष-रम्यक्वर्ष में, तीसरी हैमवत-ऐरण्यवत में और चौथा महाविदेह में। चौथे प्रतिभाग में जन्मतः और सद्भावतः जिनकल्पी मुनि होते हैं। 'काल' अर्थात् महाविदेहज जो जिनकल्पी होता है, संहरण की अपेक्षा वह सुषमसुषमा आदि सभी कालों में होता है। 'पलिभागों में' अर्थात् भरत-ऐरावत-महाविदेह में संहरण से संभूत जिनकल्प मुनि सभी प्रतिभागों में होते हैं।

१४१८.पढमे वा बीये वा, पडिवज्जइ संजमम्मि जिणकप्पं।
पुव्वपडिवन्नओ पुण, अन्नयरे संजमे होज्जा॥

जो पहले चारित्र—सामायिक चारित्र में अथवा दूसरे चारित्र—छेदोपस्थापनीय चारित्र में होता है, वह जिनकल्प स्वीकार करता है। (मध्यम तीर्थंकर—विदेहतीर्थकृत, तीर्थवर्ती मुनि प्रथम संयम में तथा पूर्व-पश्चिम तीर्थंकर तीर्थवर्ती मुनि दूसरे चारित्र में) पूर्वप्रतिपन्न जिनकल्पी मुनि अन्यतर संयम—सूक्ष्मसंपराय आदि संयम में हो सकता है।

१४१९.नियमा होइ सतित्थे, गिहिपरियाए जहन्न गुणतीसा।
जइपरियाए वीसा, दोसु वि उक्कोस देसूणा॥

जिनकल्पी नियमतः तीर्थ में होते हैं। जघन्य गृहस्थपर्याय उनतीस वर्ष का तथा यतिपर्याय भी जघन्य बीस वर्ष का होना चाहिए। दोनों का उत्कृष्ट पर्याय जब देशोनपूर्वकोटी प्राप्त होता है तब जिनकल्प का स्वीकार होता है।

१४२०.न करिंति आगमं तं, इत्थीवज्जो उ वेदो इक्कतरो।
पुव्वपडिवन्नओ पुण, होज्ज सवेओ अवेओ वा॥

वे आगम—अपूर्वश्रुताध्ययन नहीं करते, पूर्व अधीत श्रुत का स्मरण अवश्य करते हैं। प्रतिपत्ति काल में स्त्रीवेद को छोड़कर पुरुषवेद अथवा नपुंसकवद उनके होता है। पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा वे सवेद अथवा अवेद होते हैं।

(जिनकल्पिक को उसी भव में केवलोत्पत्ति नहीं होती। उपशमश्रेणी में वेद का उपशमन होने पर अवेद होते हैं। शेष काल में सवेद हैं।)

१४२१.ठियमट्ठियम्मि कप्पे, लिंगे भयणा उ दव्वलिंगेणं।
तिहि सुद्धाहि पढमया, अपढमया होज्ज सव्वासु॥

जिनकल्पिक प्रथम और अंतिम तीर्थंकर काल में स्थित-कल्प में तथा मध्यम तीर्थंकर तथा महाविदेह तीर्थंकर काल में अस्थितकल्प में होते हैं। लिंग के विषय में द्रव्यलिंग से भजना है।[1] प्रथमतः स्वीकार करने वाले तेजोलेश्या आदि तीन प्रशस्त लेश्याओं में होते हैं अप्रथमक सभी लेश्याओं में होते हैं।

१४२२.धम्मेण उ पडिवज्जइ, इअरेसु वि होज्ज इत्थ झाणेसु।
पडिवत्ति सयपुहुत्तं, सहसपुहुत्तं च पडिवन्ने॥

जिनकल्प का स्वीकार धर्म्यध्यान में होता है। पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा इतर ध्यानों में भी यह होता है। प्रतिपत्ति की अपेक्षा जिनकल्पिक एक समय में शतपृथक्त्व प्राप्त हो सकते हैं और पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा से सहस्रपृथक्त्व प्राप्त हो सकते हैं।

१४२३.भिक्खायरियाईया, अभिग्गहा नेव सो उ पव्वावे।
उवदेसं पुण कुणती, धुवपव्वाविं वियाणित्ता॥

उनके भिक्षाचर्या आदि के अभिग्रह नहीं होते। वे किसी को प्रव्रजित नहीं करते। वे निश्चित प्रव्रजित होने वाले को जानकर उपदेश देते हैं।

१४२४.निप्पडिकम्मसरीरा, न कारणं अत्थि किंचि नाणाई।
जंघाबलम्मि खीणे, अविहरमाणो वि नाऽऽवज्जे॥

वे शरीर का कोई परिकर्म नहीं करते। उनके कोई ज्ञान आदि का कारण—आलंबन नहीं होता जिससे वे अपवादपद का सेवन करें। जंघाबल के परिक्षीण हो जाने से विहार न करने पर भी उनके कोई दोष उत्पन्न नहीं होता।

१४२५.एसेव कमो नियमा, सुद्धे परिहारिए अहालंदे।
नाणत्ती य जिणेहिं, पडिवज्जइ गच्छ गच्छो य॥

यही क्रम नियमतः शुद्धपरिहारिक तथा यथालंदिक का जानना चाहिए। जिनकल्प के साथ शुद्धपरिहारिक का नानात्व है। तीन गच्छ इस जिनकल्प को स्वीकार करते हैं।

१४२६.तवभावणणाणत्तं, करंति आयंबिलेण परिकम्मं।
इत्तिरिय थेरकप्पे, जिणकप्पे आवकहियाओ॥

---

१. पहली बार स्वीकार करने वाला द्रव्य-भावलिंगयुक्त ही होता है। आगे नियमतः भावलिंग होता है। द्रव्यलिंग जीर्ण हो जाने पर अथवा चोरों द्वारा अपहृत किए जाने पर द्रव्यलिंग कदाचिद् नहीं भी होता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इनके तपोभावना में नानात्व होता है। वे आचाम्ल द्वारा परिकर्म–अभ्यास करते हैं। वे दो प्रकार के होते हैं–इत्वर और यावत्कथिक। जो इस कल्प के संपन्न होने पर पुनः स्थविर-कल्प स्वीकार करते हैं वे इत्वर तथा जो जिनकल्प स्वीकार करते हैं वे यावत्कथिक।

१४२७.पुण्णे जिणकप्पं वा, अइंति तं चेव वा पुणो कप्पं।
गच्छं वा इंति पुणो, तिन्नि विहाणा सिं अविरुद्धा॥

शुद्धपरिहारिककल्प पूर्ण होने पर जो जिनकल्प में आते हैं अथवा उसी परिहारिकल्प का पालन करते हैं अथवा गच्छ में पुनः आ जाते हैं। ये तीनों प्रकार के विधान उन परिहारिकों के अविरुद्ध हैं।

१४२८.इत्तरियाणुवसग्गा, आतंका वेयणा य न भवंति।
आवकहियाण भइया, तहेव छ ग्गामभागा उ॥

इत्वर शुद्धपरिहारिकों के आतंक और वेदना का उपसर्ग नहीं होता। यावत्कथिकों के इसकी भजना है अर्थात् वे जिनकल्प में स्थित होने के कारण उनकी संभावना रहती है। जैसे जिनकल्पी मुनि भिक्षाटन के लिए गांव के छह भाग करते हैं वैसे ही शुद्धपरिहारिक की भी सामाचारी है।

१४२९.खेत्ते काल चरित्ते, तित्थे परियाय आगमे वेए।
कप्पे लिंगे लेसा, झाणे गणणा अभिगहा य॥
१४३०.पव्वावण मुंडावण, मणसाऽऽवन्ने वि से अणुग्घाया।
कारण निप्पडिकम्मा, भत्तं पंथो य तइयाए॥

क्षेत्र, काल, चारित्र, तीर्थ, पर्याय, आगम, वेद, कल्प, लिंग, लेश्या, ध्यान, गणना, अभिग्रह, प्रव्राजना, मुंडापना, मानसिक दोष में भी अनुद्घात प्रायश्चित्त, कारण, निष्प्रतिकर्म, भक्त, पंथ–विहार तीसरे प्रहर में। (इनका संक्षिप्त तथा व्यासार्थ पूर्ववत् गाथा १०१३-१४ आदि-आदि में।)

१४३१.खेत्ते भरहेरवएसु होंति साहरणवज्जिया नियमा।
ठियकप्पम्मि उ नियमा, एमेव य दुविह लिंगे वि॥

ये भरत-ऐरावत–इन दो क्षेत्रों में होते हैं। इनका संहरण नहीं किया जा सकता। ये नियमतः स्थितकल्प में होते हैं तथा नियमतः ये दोनों लिंग–द्रव्य और भाव–में होते हैं।

१४३२.तुल्ल जहन्ना ठाणा, संजमठाणाण पढम-बितियाणं।
तत्तो असंख लोए, गंतुं परिहारियट्ठाणा॥
१४३३.ते वि असंखा लोगा, अविरुद्धा ते वि पढम-बिइयाणं।
उवरिं पि ततो असंखा, संजमठाणा उ दोण्हं पि॥

पहले तथा दूसरे संयमस्थानों (सामायिक तथा छेदोपस्थाप्य चारित्र) के जो जघन्य स्थान हैं, वे तुल्य होते हैं। इनसे आगे असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाण संयमस्थानों के व्यतीत होने पर परिहारविशुद्धि चारित्र के संयमस्थान होते हैं। वे भी असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाण वाले होते हैं। ये भी प्रथम और द्वितीय चारित्र की विशुद्धि की विशेष समता के कारण अविरुद्ध होते हैं। तदनन्तर परिहारविशुद्धि चारित्र के संयमस्थानों से ऊपर सामायिक, छेदोपस्थापनीय चारित्र–दोनों के संयमस्थान होते हैं अतः ये दोनों चारित्र व्यवच्छिन्न हो जाते हैं। (तदनन्तर सूक्ष्मसंपराय चारित्र के अंतर्मुहूर्त्तसमयप्रमाण वाले असंख्येय संयमस्थान होते हैं। फिर उनसे अनंतगुण यथाख्यातचारित्र का एक संयमस्थान होता है।)

१४३४.सट्ठाणे पडिवत्ती, अन्नेसे वि होज्ज पुव्वपडिवन्नो।
अन्नेसु वि वट्टंतो, तीयनयं वुच्चई पप्प॥

स्वस्थान अर्थात् परिहारविशुद्धिकचारित्र वाले संयम-स्थानों में वर्तमान मुनि परिहारकल्प की प्रतिपत्ति करता है। पूर्वप्रतिपन्न मुनि सामायिकादि अन्य संयमस्थानों में स्वसंयमस्थानों की अपेक्षा से विशुद्ध होने पर होता है। अन्य संयमस्थानों में वर्तमान भी वह अतीतनय अर्थात् व्यवहारनय की अपेक्षा से उसे परिहारविशुद्धिक कहा जाता है।

१४३५.गणओ तिन्नेव गणा, जहन्न पडिवत्ति सयसो उक्कोसा।
उक्कोस-जहन्नेणं, सतसो च्चिय पुव्वपडिवन्ना॥

गणना दो प्रकार से होती है–गणप्रमाण से तथा पुरुष-प्रमाण से। गणप्रमाण से जघन्यतः तीन गण ही इसकी प्रतिपत्ति करते हैं और उत्कर्षतः शतशः अर्थात् शतपृथक्त्व-संख्या में कल्प की प्रतिपत्ति करते हैं। जो पूर्वप्रतिपन्न हैं वे उत्कर्षतः तथा जघन्यतः शतपृथक्त्वसंख्याक होते हैं।

१४३६.सत्तावीस जहन्ना, सहस्स उक्कोसतो उ पडिवत्ती।
सयसो सहस्ससो वा, पडिवन्ना जहन्न उक्कोसा॥

जघन्यतः सत्तावीस पुरुष और उत्कर्षतः सहस्रपृथक्त्व व्यक्ति इस कल्प को स्वीकार करते हैं। पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा जघन्यतः शतपृथक्त्व तथा उत्कर्षतः सहस्रपृथक्त्व।

१४३७.पडिवज्जमाण भइया, इक्को वि उ होज्ज ऊणपक्खेवे।
पुव्वपडिवन्नया वि उ, भइया इक्को पुहुत्तं वा॥

इस कल्प में प्रतिपद्यमानक पुरुष विकल्पित होते हैं, जैसे–ऊनप्रक्षेप में एक भी हो सकता है और दो भी। पूर्वप्रतिपन्न भी विकल्पित हैं–एक भी और पृथक्त्व भी।

१४३८.लंदो उ होइ कालो, उक्कोसगलंदचारिणो जम्हा।
तं चिय मज्झ पमाणं, गणाण उक्कोस पुरिसाणं॥

लंद का अर्थ है–काल। वह तीन प्रकार का है–जघन्य,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्कृष्ट और मध्यम।[1] प्रस्तुत में उत्कृष्टलंद का प्रसंग है। उत्कृष्टलंदचारी वे होते हैं जो उत्कृष्टलंद अर्थात् पंचरात्ररूप एक ही वीथी में चरणशील होते हैं, उसका अतिक्रमण नहीं करते यह यथालंद होता है। त्रिकलक्षणप्रमाण वाला गणप्रमाण मध्यम लंदमान होता है अर्थात् तीन गण उस कल्प को स्वीकार करते हैं। वह एक-एक गण में पांच पुरुषप्रमाण वाला होने पर उत्कृष्ट लंदमान कहलाता है।

१४३९.ज च्चेव य जिणकप्पे, मेरा सा चेव लंदियाणं पि।
नाणत्तं पुण सुत्ते, भिक्खायरि मासकप्पे य॥

जो जिनकल्पिकों की मर्यादा–सामाचारी है, वही यथालंदिक मुनियों की है। उनमें नानात्व इन विषयों में है -सूत्र, भिक्षाचर्या, मासकल्प तथा प्रमाण।

१४४०.पडिबद्धा इअरे वि य, इक्किक्का ते जिणा य थेरा य।
अत्थस्स उ देसम्मी, असमत्ते तेसि पडिबंधो॥

यथालंदिक के दो प्रकार हैं–गच्छप्रतिबद्ध और गच्छमुक्त। प्रत्येक के दो-दो प्रकार हैं–जिन और स्थविर। जो यथालंद कल्प की परिसमाप्ति पर जिनकल्प स्वीकार करते हैं वे जिन कहलाते हैं तथा पुनः स्थविरकल्प में जाते हैं वे स्थविर कहलाते हैं। सूत्र के अर्थ का एकदेश अभी तक गुरु के पास समाप्त नहीं हुआ है, अर्थग्रहण पर्यन्त वे गच्छ से प्रतिबद्ध होते हैं, उनका प्रतिबंध रहता है।[2] (भिक्षाचर्या में नानात्व--गांव के छह भाग कर प्रत्येक भाग में पांच-पांच दिन पर्यटन करते हैं।)

१४४१.थेराणं नाणत्तं, अतरंतं अप्पिणंति गच्छस्स।
ते वि य से फासुएणं, करिंति सव्वं तु पडिकम्मं॥

१४४२.एक्केक्कपडिग्गहगा, सप्पाउरणा हवंति थेराओ।
जे पुण सिं जिणकप्पे, भय तेसिं वत्थ-पायाणि॥

स्थविर कल्प यथालंदिकों की यह विशेष सामाचारी है कि वे अपने ग्लान साधु को गच्छ को समर्पित कर देते हैं। गच्छवासी मुनि भी उसकी प्राशुक अन्न-पान से सारा प्रतिकर्म करते हैं। (जिनकल्प स्वीकार करने वाले यथालंदिक मुनि अपने ग्लान साधु को गच्छ को समर्पित नहीं करते।) वे स्थविरयथालंदिक प्रत्येक मुनि एक-एक पतद्ग्रह सहित होते हैं। वे सप्रावरणक–सवस्त्र होते हैं। उनमें से जो जिनकल्प ग्रहण करने वाले होते हैं, उनके वस्त्र-पात्र की भजना–विकल्प है। जिनकल्पी मुनि पाणिपात्र और वस्त्ररहित भी होते हैं और पात्रसहित तथा वस्त्रसहित भी होते हैं।

१४४३.गणमाणओ जहन्ना, तिन्नि गण सयग्गसो य उक्कोसा।
पुरिसपमाणे पनरस, सहस्ससो चेव उक्कोसा॥

गणप्रमाण के अनुसार जघन्यतः तीन गण और उत्कर्षतः शताग्रशः–शतपृथक्त्वगण। पुरुषप्रमाण के आधार पर जघन्य पन्द्रह पुरुष और उत्कर्षतः सहस्रपृथक्त्व।

१४४४.पडिवज्जमाणगा वा, एक्कादि हवेज्ज ऊणपक्खेवे।
होंति जहन्ना एए, सयग्गसो चेव उक्कोसा॥

ये प्रतिपद्यमान जघन्यतः एक आदि हो सकते हैं, न्यून-प्रक्षेप के बाद।[3] सौ व्यक्तियों का न्यूनप्रक्षेप होने पर प्रतिपद्यमानकों की उत्कृष्ट संख्या होती है।

१४४५.पुव्वपडिवन्नगाण वि, उक्कोस-जहन्नसो परीमाणं।
कोडिपुहुत्तं भणियं, होइ अहालंदियाणं तु॥

पूर्व प्रतिपन्नक यथालंदिकों का जघन्य और उत्कृष्ट परिमाण कोटिपृथक्त्व कहा गया है। (पांच महाविदेह में जघन्य परिमाण और पन्द्रह कर्मभूमियों में उत्कृष्ट परिमाण।)

१४४६.पव्वज्जा सिक्खापय, अत्थग्गहणं च अनियओ वासो।
निप्फत्ती य विहारो, सामायारी ठिई चेव॥

प्रव्रज्या, शिक्षापना, अर्थग्रहण, अनियतवास तथा शिष्य की निष्पत्ति–ये पूर्ववर्णित जिनकल्प के तुल्य हैं। विहार की स्थिति और सामाचारी इस प्रकार है।

१४४७.निप्फत्तिं कुणमाणा, थेरा विहरंति तेसिमा मेरा।
आयरिय उवज्झाया, भिक्खू थेरा य खुड्डा य॥

शिष्य की निष्पत्ति करते हुए स्थविर अर्थात् गच्छवासी मुनि अप्रतिबद्ध विहार करते हैं। विहार की यह सामाचारी है। गच्छवासी मुनि पांच प्रकार के हैं–आचार्य, उपाध्याय, भिक्षु, स्थविर और क्षुल्लक।

१४४८.धीरपुरिसपन्नत्तो, सप्पुरिसनिसेविओ अ मासविही।
तस्स पडिलेहगा पुण, सुत्तत्थविसारगा भणिया॥

धीर पुरुषों द्वारा प्रज्ञप्त तथा सत्पुरुषों द्वारा निषेवित मासकल्पविधि है। उसकी प्रतिलेखना करने वाले साधु सूत्रार्थविशारद कहे गए हैं।

१४४९.वासावासातीए, अट्ठसु चारो अतो उ सरदाई।
पडिलेह-संकमविही, ठिए अ मेरं परिकहेहं॥

---

१. जघन्यलंद–जितने समय में उदकार्द्र हाथ सूखता है, वह काल।
उत्कृष्टलंद–पांच रात-दिन एक ही वीथी में चरणशील।
मध्यमलंद–दोनों के बीच का काल।

२. शिष्य पूछता है–वे शेष अर्थदेश को समाप्त कर विवक्षित कल्प को स्वीकार क्यों नहीं करते? आचार्य कहते हैं–उसी समय ही लग्न, योग, चन्द्र आदि प्रशस्त होते हैं। अन्य ऐसे प्रशस्त लग्न आदि बहुत लंबे समय के बाद प्राप्त होंगे अथवा प्राप्त न भी हों, तो वे अर्थदश को बिना समाप्त किए ही उस कल्प को स्वीकार कर लेते हैं और गुरु द्वारा अधिष्ठित क्षेत्र से बाह्य क्षेत्र में व्यवस्थित होकर विशेष अनुष्ठान में रत रहकर उस अवशिष्ट अर्थदश को ग्रहण करते हैं।

३. अपना कोई मुनि ग्लान हो गया हो तो उसको गच्छ को सौंपने से यह न्यूनता होगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्षावास के अतीत हो जाने पर आठ मास तक विहार होता है। उसे शरदादि कहा जाता है। क्षेत्रप्रत्युपेक्षणविधि तथा क्षेत्रसंक्रमणविधि और उस क्षेत्र में स्थित मुनियों की मर्यादा कहूंगा।

१४५०.निग्गमणम्मि उ पुच्छा, पत्तमपत्ते अइच्छिए वा वि।
वाघायम्मि अपत्ते, अइच्छिए तस्स असतीए॥

वर्षावास क्षेत्र से निर्गमन विषयक यह पृच्छा होती है कि क्या कार्तिकचातुर्मासिक प्राप्त होने पर वहां से विहार करना चाहिए अथवा अप्राप्त होने पर अथवा उसके अतिक्रांत होने पर? यदि कोई व्याघात होता है तो कार्तिकचातुर्मासिक अप्राप्त होने पर अथवा अतिक्रांत होने पर भी विहार किया जा सकता है। यदि व्याघात नहीं है तो कार्तिकचातुर्मासिक के दिन (मृगशिर की प्रतिपदा) विहार करना होता है।

१४५१.पत्तमपत्ते रिक्खं, असाहगं पुण्णमासिणिमहो वा।
पडिकूल त्ति य लोगो, मा वोच्छिइ तो अईयम्मि॥

कार्तिकचातुर्मासिक दिन प्राप्त हो अथवा नहीं यदि आचार्य के विहार के लिए नक्षत्र साधक न हो, अनुकूल न हो, उस दिन पौर्णमासी का उत्सव हो तो उस दिन के अतीत होने पर ही वहां से निर्गमन करना चाहिए। अन्यथा लोग कहेंगे कि ये साधु हमारे उत्सव के प्रतिकूल हैं।

१४५२.पत्ते अइच्छिए वा, असाहगं तेण णिंति अप्पत्ते।
नाउं निग्गमकालं, पडिचरए पेसविंति तहा॥

निर्गमनकाल के प्राप्त होने पर अथवा अतिक्रांत होने पर भी नक्षत्र असाधक है, यह जानकर कार्तिक चातुर्मासिक दिन प्राप्त न होने पर भी मुनि विहार कर देते हैं। निर्गमनकाल को जानकर प्रतिचरक अर्थात् क्षेत्रप्रत्युपेक्षकों को इस प्रकार भेजते हैं कि उनके लौट आने पर ही निर्गमनकाल की घोषणा करते हैं।

१४५३.अप्पडिलेहियदोसा, वसही भिक्खं व दुल्लहं होज्जा।
बालाइ-गिलाणाण व, पाउग्गं अहव सज्झाओ॥
१४५४.तम्हा पुव्विं पडिलेहिऊण पच्छा विहीए संकमणं।
पेसेइ जइ अणापुच्छिउं गणं तत्थिमे दोसा॥

अप्रत्युपेक्षित क्षेत्र में जाने पर ये दोष आते हैं—जो पूर्व में ज्ञात वसति थी, वह गिर गई हो अथवा और किसी कारण से उपलब्ध न हो, भिक्षा वहां दुर्लभ हो, बाल तथा ग्लान मुनियों के प्रायोग्य आहार आदि प्राप्त न हो तथा स्वाध्याय यथावत् न हो पाता हो। इसलिए पहले क्षेत्र की प्रत्युपेक्षा कर तदनन्तर विधिपूर्वक संक्रमण करना चाहिए। यदि आचार्य गण को बिना पूछे क्षेत्रप्रत्युपेक्षकों को भेजते हैं तो निम्नोक्त दोष प्राप्त होते हैं।

१४५५.तेणा सावय मसगा, ओमऽसिवे सेहइत्थि पडिणीए।
थंडिल्ल वसहि उड्डाण एवमाई भवे दोसा॥

स्तेनों द्वारा उपधि का अपहरण, श्वापदों का तथा मशकों का उपद्रव, दुर्भिक्ष, अशिव—व्यन्तरकृत उपद्रव, शैक्ष मुनियों के लिए स्त्रियों का उपसर्ग, प्रत्यनिक द्वारा उपस्थापित उपद्रव, स्थंडिल भूमी का अभाव, वसति का न मिलना, गांव का उजड़ जाना—आदि अनेक दोष होते हैं।

१४५६.पच्चंत तावसीओ, सावय दुब्भिक्ख तेणपउराइं।
नियग पउट्ठद्वाणे, फेडणया हरियपत्ती य॥

वहां जाने पर ये दोष हो सकते हैं—म्लेच्छों का उपद्रव, तापसियों द्वारा संयमच्युत करने का प्रयत्न, श्वापदों का तथा दुर्भिक्ष का भय, चोरों की प्रचुरता, निज व्यक्तियों द्वारा उत्प्रव्राजन का प्रयत्न, प्रद्विष्ट व्यक्तियों का उपसर्ग, स्थान का उजड़ जाना, वसति का भंग हो जाना, हरित पत्रशाक[1] खाने की प्रचुरता।

१४५७.सीसे जइ आमंते, पडिच्छगा तेण बाहिरं भावं।
जइ इअरे तो सीसा, ते वि समत्तम्मि गच्छंति॥
१४५८.तरुणा बाहिरभावं, न य पडिलेहोवहिं न किइकम्मं।
मूलगपत्तसरिसगा, परिभूया वच्चिमो थेरा॥

यदि क्षेत्र-प्रत्युपेक्षण के निमित्त समूचे संघ को आमंत्रित नहीं करते हैं तो ये दोष प्राप्त होते हैं—

यदि आचार्य इस विषय में अपने शिष्यों को ही आमंत्रित करते हैं—पूछते हैं तो प्रतीच्छक शिष्य उससे बाह्यभाव को प्राप्त हो जाते हैं। यदि प्रतीच्छक शिष्यों को पूछते हैं तो अपने शिष्य बाह्यभाव को प्राप्त हो जाते हैं। (वे सोचते हैं—गुरु के ये प्रतीच्छक शिष्य ही कृपापात्र हैं। इस स्थिति में हम इनकी सेवा क्यों करें।) वे प्रतीच्छक भी सूत्रार्थ-ग्रहण समाप्त होने पर अपने गच्छ में चले जाते हैं।

यदि केवल वृद्ध मुनियों को आमंत्रित करते हैं तो तरुण मुनि बाह्यभाव को प्राप्त हो जाते हैं तब वे न गुरु आदि के उपकरणों का प्रत्युपेक्षण करते हैं, न स्थविरों के उपधि का वहन करते हैं और न कृतिकर्म करते हैं। यदि वे तरुण मुनियों

---

१. हरियपत्ती—इस शब्द के दो अर्थ हैं—हरितपत्रशाक अथवा उस देश में कुछेक घरों पर आर्द्रवृक्षशाखा का चिह्न किया जाता है। वहां राजा द्वारा दंडित आगंतुक पुरुष की देवता को बलि चढ़ाई जाती है। उस चिह्न के द्वारा यह पूर्वसूचित कर दिया जाता है कि यहां वध किया गया है। अतः मारने पर भी हमें कोई दोष नहीं है। चूर्णिकार के अनुसार जब वहां आगंतुक का वध कर दिया जाता है तब उसके प्रियपुच्छक हरितशाखा लेकर आते हैं। अथवा वहां विष या गरल दे दिया जाता है आदि-आदि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को आमंत्रित करते हैं तो वृद्ध मुनि सोचते हैं–हम मौलकपत्र अथवा परिपक्व पत्ते की भांति हो गए हैं अथवा हम मूलकपत्र–कंद विशेष के निस्सार पत्र की भांति हो गए हैं, इसलिए हम यहां पराभव को प्राप्त हो रहे हैं। अतः हमें गणान्तर में चले जाना चाहिए।

१४५९.जुन्नमएहिं विहूणं, जं जूहं होइ सुट्ठु वि महल्लं।
तं तरुणरहसपोइअ, मयगुम्मइअं सुहं हंतुं॥

जो मृगयूथ वृद्ध मृगों से रहित है, वह चाहे कितना ही बड़ा क्यों न हो, वह तारुण्य के वशीभूत तरुण मृगों की चंचलता से त्रस्त तथा मद से घूर्णित चेतना वाला होने के कारण, उसका सहजता से विनाश किया जा सकता है।

१४६०.आयरियअवाहरणे, मासो वाहित्तऽणागमे लहुओ।
वाहित्ताण य पुच्छा, जाणगसिट्ठे तओ गमणं॥

यदि आचार्य गण को आमंत्रित नहीं करते हैं तो उन्हें मासलघु का प्रायश्चित्त आता है तथा आमंत्रित किए जाने पर जो नहीं आते हैं तो उन्हें भी मासलघु का प्रायश्चित्त आता है। गण को आमंत्रित कर पूछना चाहिए–किस क्षेत्र की प्रत्युपेक्षा करनी चाहिए। क्षेत्रस्वरूपज्ञ जिस क्षेत्र का कथन करता है वहां प्रस्थान करना चाहिए।

१४६१.थुइमंगलमामंतण, नागच्छइ जो व पुच्छिओ न कहे।
तस्सुवरिं ते दोसा, तम्हा मिलिएसु पुच्छिज्जा॥

आमंत्रण-विधि–स्तुतिमंगल करने के पश्चात् गण को आमंत्रित करना चाहिए। आमंत्रित करने पर जो नहीं आता अथवा आने के पश्चात् पूछने पर क्षेत्र का स्वरूप नहीं बताता तो मासलघु का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। उसके पश्चात् जो दोष होते हैं (चोरों का, श्वापदों का) वे वहां जाने वालों के होंगे। इसलिए आमंत्रित सभी मुनियों को पूछना चाहिए।

१४६२.केई भणंति पुव्विं, पडिलेहिय एवमेव गंतव्वं।
तं तु न जुज्जइ वसहीफेडण आगंतु पडिणीए॥

कुछेक आचार्य कहते हैं–पूर्व-प्रत्युपेक्षित क्षेत्र में बिना प्रत्युपेक्षकों को भेजे चले जाना चाहिए। यह उचित नहीं है। संभव है वहां की वसति नष्ट हो गई हो, गिर गई हो अथवा वहां कोई प्रत्यनीक आकर रह रहा हो, इसलिए पूर्व-प्रत्युपेक्षित क्षेत्र की भी पुनः प्रत्युपेक्षा करनी चाहिए।

१४६३.कयरी दिसा पसत्था, अमुगी सव्वेसि अणुमए गमणं।
चउदिसि ति दु एक्कं वा, सत्तग पणगे तिग जहन्ने॥

गण को आमंत्रित कर आचार्य पूछे–प्रस्थान के लिए कौनसी दिशा प्रशस्त है। यदि कहे–अमुक दिशा। यदि वह दिशा सभी मुनियों द्वारा अनुमत हो तो उस दिशा में प्रस्थान कर दे। पहले चारों दिशाओं में गमन की बात सोचनी चाहिए। यदि कहीं उपद्रव ज्ञात हो तो तीन दिशाओं में, फिर दो दिशाओं में तथा अंत में एक दिशा निर्धारित करनी चाहिए। प्रत्येक दिशा में उत्कृष्टरूप में सात मुनि, उनके अभाव में पांच और जघन्यतः तीन मुनि।

१४६४.वेयावच्चगरं बाल वुड्ढ खमयं वहंतऽगीयत्थं।
गणवच्छेइअगमणं, तस्स व असती य पडिलोमं॥

वैयावृत्यकर, बालमुनि, वृद्ध, क्षपक, योगवाही और अगीतार्थ–इनको क्षेत्रप्रत्युपेक्षा के लिए नहीं भेजना चाहिए। गणावच्छेदक का गमन हो सकता है। इनके अभाव में प्रतिलोमक्रम से भेजना चाहिए। अर्थात् अगीतार्थ, योगवाही के क्रम से भेजना चाहिए।

१४६५.आइतिए चउगुरुगा, लहुओ मासो उ होइ चरिमतिए।
आणाइणो विराहण, आयरियाई मुणेयव्वा॥

यदि पहले तीन (वैयावृत्य आदि) को भेजने पर चारगुरुक का तथा अंतिम को भेजने पर लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। आज्ञा आदि दोष तथा आचार्य आदि की विराधना भी जाननी चाहिए।

१४६६.ठवणकुले व न साहइ, सिट्ठा व न दिंति जा विराहणया।
परितावणमणुकंपण, तिण्हऽसमत्थो भवे खमओ॥

यदि वैयावृत्यकर को भेजा जाता है तो वह स्थापनाकुलों की जानकारी नहीं देता। यदि वह उनकी जानकारी देता भी है तो वे कुल उसके अतिरिक्त किसी को कुछ नहीं देते। ग्लान आदि के लिए प्रायोग्य की प्राप्ति न होने पर उनकी विराधना होती है। इससे आचार्य को प्रायश्चित्त आता है। क्षपक को भेजने पर उसके परितापना होती है, उससे निष्पन्न प्रायश्चित्त भी गुरु को आता है। अथवा लोग क्षपक पर अनुकंपा कर, यह तीन गोचरचर्या अर्थात् तीन काल में भिक्षाटन करने में असमर्थ है, यह सोचकर उसे सब दे देते हैं, दूसरों को नहीं। अथवा क्षपक की सेवा में रहने वाला देवता उस पर अनुकंपा कर क्षेत्र में भी भक्त-पान का उत्पादन कर देता है।

१४६७.हीरेज्ज व खेलेज्ज व, कज्जा-ऽकज्जं न याणई बालो।
सो व अणुकंपणिज्जो, न दिंति वा किंचि बालस्स॥

यदि बालक को भेजा जाता है तो उसका कोई अपहरण कर सकता है, वह बालक अन्य बालकों के साथ खेलने लग जाता है, वह कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को नहीं जानता, वह अनुकंपनीय होता है अथवा बालक को कोई कुछ नहीं देना–अतः बालक को भेजना उचित नहीं होता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१४६८.वुड्ढोऽणुकंपणिज्जो, चिरेण न य मग्ग थंडिले पेहे।
अहवा वि बाल-वुड्ढा, असमत्था गोयरतियस्स॥

वृद्ध को भेजने पर वह वृद्ध सर्वत्र अनुकंपनीय होता है। उसकी गति मंद होती है अतः वह गंतव्य पर विलंब से पहुंचता है। न वह मार्ग की सम्यक् गवेषणा करता है और न स्थंडिल की। तथा बाल और वृद्ध त्रिकालभिक्षाटन करने में असमर्थ होते हैं।

१४६९.तूरंतो व न पेहे, गुणणालोभेण न य चिरं हिंडे।
विगइं पडिसेहेई, तम्हा जोगिं न पेसिज्जा॥

यदि योगवाही को भेजा जाता है तो वह सोचता है–'मुझे श्रुत पढ़ना है'–इसलिए वह त्वरा से मार्ग में गमन करता हुआ, मार्ग की सम्यग् प्रत्युप्रेक्षा नहीं करता। वह पठित श्रुत के परावर्तन के लोभ से भिक्षा के लिए चिरकाल तक नहीं घूमता। भिक्षा में वह विकृति का प्रतिषेध करता है। इसलिए योगी (योगवाही) को नहीं भेजना चाहिए।

१४७०.पंथं च मास वासं, उवस्सयं एच्चिरेण कालेण।
एहामो त्ति न याणइ, अगीतो पडिलोम असतीए॥

यदि अगीतार्थ को भेजा जाता है तो वह न मार्ग को जान पाता है और न मासकल्पयोग्य या वर्षावासकल्पयोग्य गांव को तथा न उपाश्रय की परीक्षा कर पाता है। शय्यातर के पूछने पर वह कह देता है–हम इतने समय के बाद यहां से चले जाएंगे। ऐसा बोलना दोष है। परन्तु वह अगीतार्थ नहीं जानता। अतः पहले गणावच्छेदक को भेजना चाहिए। उसके अभाव में प्रतिलोम के क्रम से क्षेत्र-प्रत्युपेक्षा के लिए भेजना चाहिए।

१४७१.सामायारिमग्गीए, जोगिमणागाढ खमग पारावे।
वेयावच्चे दायण, जुयल समत्थं व सहियं वा॥

अगीतार्थ को ओघसामाचारी बताकर भेजना चाहिए। अथवा अनागाढ़योगी (बाह्य योगवाही) को, उसके अभाव में क्षपक को पारणा करवाकर, उसके अभाव में वैयावृत्त्यकर को जिससे कि वह वास्तव्य साधुओं को स्थापनाकुलों की जानकारी दे सके, उसके अभाव में युगल अर्थात् बाल और वृद्ध मुनि को जो दृढ़शरीर वाले हों उनको भेजना चाहिए। अथवा उनके साथ वृषभ साधु भी हो।

(ये अपनी उपधि को वहां स्थित साधुओं को सौंप कर, परस्पर क्षमायाचना कर जाते समय पुनः गुरु को पूछकर जाएं।)

१४७२.तिन्नेव गच्छवासी, हवंतऽहालंदियाण दोन्नि जणा।
गमणे चोदगपुच्छा, थंडिलपडिलेहऽहालंदे॥

गच्छवासी जघन्यतः तीन-तीन मुनि एक-एक दिशा में जाते हैं। गच्छप्रतिबद्ध यथालंदिक दो मुनि एक दिशा में जाते हैं। शेष तीन दिशाओं के लिए आचार्य गच्छवासी मुनियों को आदेश देते हैं कि तुम यथालंदिकों के योग्य क्षेत्र की प्रत्युपेक्षा भी करना। उनके गमन, नोदक की पृच्छा और यथालंदिकों की स्थंडिल प्रत्युपेक्षा के विषय में भी कहना चाहिए।

१४७३.पंथुच्चारे उदए, ठाणे भिक्खंतरा य वसहीओ।
तेणा सावय वाला, पच्चावाया य जाणविही॥

मार्ग, उच्चारप्रस्रवणभूमी, उदकस्थान, विश्रामस्थान, भिक्षा–जिन-जिन प्रदेशों में भिक्षा प्राप्त होती है या नहीं, अन्तरा–बीच-बीच में वसति–प्रतिश्रय सुलभ हैं या नहीं, स्तेन-श्वापद और व्याल हैं या नहीं, प्रत्यपाय–जहां रात या दिन में अपाय होते हैं या नहीं–यह गमनविधि है। इसका सम्यक् निरूपण करके जाना चाहिए।

१४७४.वावारिय सच्छंदाण वा वि तेसिं इमो विही गमणे।
दव्वे खेत्ते काले, भावे पंथं तु पडिलेहे॥

आचार्य द्वारा नियुक्त तथा स्वच्छंद अर्थात् आभिग्रहिक मुनि–इन दोनों की शमनविधि यह है। वे द्रव्यतः, क्षेत्रतः, कालतः और भावतः मार्ग की प्रत्युपेक्षा करे।

१४७५.कंटग तेणा वाला, पडिणीया सावया य दव्वम्मि।
सम विसम उदय थंडिल, भिक्खायरियंतरा खेत्ते॥

१४७६.दिय राओ पच्चवाए, य जाणई सुगम-दुग्गमे काले।
भावे सपक्ख-परपक्खपेल्लणा निण्हगाईया॥

द्रव्यतः कंटक, स्तेन, व्याल, प्रत्यनीक तथा श्वापद–मार्ग में इनकी प्रत्युपेक्षा करे।

क्षेत्रतः यह प्रत्युपेक्षा करे–मार्ग सम है या विषम, उदक बहुल मार्ग है या उदकरहित, स्थंडिलभूमी, भिक्षाचर्या (सुलभ या दुर्लभ) तथा अपान्तराल में वसतियां हैं या नहीं आदि।

कालतः दिन या रात में होने वाले प्रत्यपायों की जानकारी, मार्ग सुगम है अथवा दुर्गम–यह जानना चाहिए।

भावतः यह जानकारी करे कि यह ग्राम अथवा मार्ग स्वपक्ष से अथवा परपक्ष से आक्रांत है या नहीं। स्वपक्ष है निह्नव आदि और परपक्ष है–चरक, परिव्राजक आदि। इन सब तथ्यों की प्रत्युपेक्षा करता हुआ आगे बढ़ता है।

१४७७.सुत्तत्थाणि करिंते, न व त्ति वच्चंतगाउ चोएइ।
न करिंति मा हु चोयग!, गुरूण निइआइआ दोसा॥

शिष्य ने प्रश्न किया–विहार करते हुए क्षेत्रप्रत्युपेक्षक क्या सूत्रपौरुषी और अर्थपौरुषी करते हैं या नहीं? आचार्य कहते हैं–शिष्य! नहीं करते। क्योंकि उससे गुरु को नित्यवास आदि का दोष प्राप्त होता है। (यदि सूत्रपौरुषी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करते हैं तो मासलघु और अर्थपौरुषी करते हैं तो मासगुरु का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।)

१४७८.सुत्तत्थपोरिसीओ, अपरिहवंता वयंतऽहालंदी।
थंडिल्ले उवओगं, करिंति रत्तिं वसंति जहिं॥

यथालंदिक मुनि सूत्र और अर्थ पौरुषी का हनन न करते हुए (यथासमय उनको करते हुए), विहार और भिक्षाचर्या तीसरे प्रहर में करते हुए विहार करते हैं। जहां रात रहते हैं वहां कालग्रहणादि के लिए उपयोगी स्थंडिल को ध्यान में रखते हैं।

१४७९.सुत्तत्थे अकरिंता, भिक्खं काउं अइंति अवरण्हे।
बीयदिणे सज्झाओ, पोरिसि अद्धाए संघाडो॥

सूत्रपौरुषी और अर्थपौरुषी न करते हुए गच्छवासी मुनि भिक्षाचर्या कर अपराह्न में विवक्षित क्षेत्र में प्रवेश करते हैं। (वसति में रहकर, आवश्यक कर, काल की प्रत्युपेक्षा करते हैं। फिर प्रादोषिक स्वाध्याय कर, दो प्रहर तक सोते हैं। जो नहीं सोते वे अर्द्धरात्रिक और वैरात्रिक—दोनों का काल-ग्रहण करते हैं।) दूसरे दिन यथाकाल स्वाध्याय करना चाहिए। तदनन्तर आधी पौरुषी अतिक्रांत होने पर एक संघाटक भिक्षा के लिए जाता है।

१४८०. वीयार भिक्खचरिया, वुच्छाणऽचिरुग्गयम्मि पडिलेहा।
चोयग भिक्खायरिया, कुलाइं तहुवस्सयं चेव॥

अपराह्न में पहले विचारभूमी की प्रत्युपेक्षा करनी चाहिए। रात को वहां रहने पर, सूर्य के उदित होने के बाद अर्द्धपौरुषी में भिक्षाचर्या की प्रत्युपेक्षा होती है। शिष्य ने पूछा—प्रातः भिक्षाचर्या क्यों की जाती है? आचार्य कहते हैं—भिक्षाचर्या करते हुए वे दानकुलों को तथा उपाश्रय को जान पाएंगे। (पूरी व्याख्या गाथा १४८९ में)

१४८१.बाले वुड्ढे सेहे, आयरिय गिलाण खमग पाहुणए।
तिन्नि य काले जहियं, भिक्खायरिया उ पाउग्गा॥

बाल, वृद्ध, शैक्ष, आचार्य, ग्लान, क्षपक, प्राघूर्णक (अतिथि)—इन सबके लिए तीनों काल में प्रायोग्य भिक्षा प्राप्त होती हो, वह क्षेत्र योग्य होता है।

१४८२.खेत्तं तिहा करित्ता, दोसीणे नीणितम्मि उ वयंति।
अन्नोन्ने बहुलद्धे, थोवं दल मा य रूसिज्जा॥

गोचरचर्या के लिए क्षेत्र के तीन विभाग किए जाते हैं—एक विभाग में प्रातःकाल घूमते हैं, दूसरे में मध्याह्न के समय, तीसरे में सायंकाल। जहां प्रातः भोजन का काल न हो, वहां गृहिणी ने वासी आहार (पूर्व दिन का भोजन) मुनि के लिए बाहर निकाला हो तो मुनि कहे—'अन्यान्य गृहों में भोजन बहुत प्राप्त हो चुका है, अतः थोड़ा दो। रोष मत करना कि ये मुनि लेते नहीं हैं।'

१४८३.अहव न दोसीणं चिय, जायामो देहि णे दहिं खीरं।
खीरे घय गुल गोरस, थोवं थोवं च सव्वत्थ॥

अथवा यह कहे—हम केवल पर्युषित भोजन ही नहीं लेते, उसकी ही याचना नहीं करते, तुम हमें दही, दूध भी दो। दूध प्राप्त होने पर घृत, गुड़, गोरस, की याचना करे और सभी घरों से थोड़ा-थोड़ा ग्रहण करे। (इस प्रकार भद्रककुलों की जानकारी कर बाल, वृद्ध और क्षपक के प्रायोग्य पयः आदि लेकर आए।)

१४८४. मज्झण्हे पउर भिक्खं, परितावियं पेज्ज जूस पय कढियं।
ओभद्धमणोभद्धं, लब्भइ जं जत्थ पाउग्गं॥

मध्याह्न में जहां प्रचुरमात्रा में भिक्षा प्राप्त होती हो, परितापित पदार्थ अर्थात् पक्वान्न मिलता हो, पेयायवागू, यूष—मूंग का रस, गर्म दूध तथा भाषित (विशिष्ट भोजन) या अनवभाषित (सामान्य भोजन) जो जहां जैसा प्रायोग्य प्राप्त होता हो, वह प्रशस्त क्षेत्र है।

१४८५.चरिमे परितावियं पेज्ज खीर आएस-अतरणट्ठाए।
एक्केक्कगसंजुत्तं, भत्तट्ठं एक्कमेक्कस्स॥

चरिम भिक्षाकाल में (सायंकालीन भिक्षाकाल में) परितापित पेय, क्षीर प्राप्त हो उन कुलों की अवधारणा करे। उस समय कोई प्राघूर्णक या ग्लान मुनियों के लिए उन कुलों की आवश्यकता हो सकती है। भोजन आदि लाने के लिए एक साधु दूसरे साधु से संयुक्त होकर, एक साधु के उदर-पूर्ति के लिए पर्याप्त भक्त लेकर आए।[1]

१४८६.ओसह भेसज्जाणि य, काले च कुले अ दाणसड्ढाई।
सग्गामे पेहित्ता, पेहंति तओ परग्गामे॥

औषध (हरड आदि), भेषज (पेया, त्रिफला आदि) किन-किन कुलों में और किस बेला में प्राप्त होते हैं, तथा दानाश्राद्धादि कुलों का स्वग्राम में अवधारण करता है, तदनन्तर परग्राम में उनकी खोज करता है।

१४८७.चोयगवयणं दीहं, पणीयगहणे य नणु भवे दोसा।
जुज्जइ तं गुरु-पाहुण-गिलाणगट्ठा न दप्पट्ठा॥

१४८८.जइ पुण खद्ध-पणीए, अकारणे एक्कसिं पि गिण्हेज्जा।
तहियं दोसा तेण उ, अकारणे खद्ध-निद्धाइं॥

---

१. प्रातः दो मुनि भिक्षाटन करते हैं और एक वसति की रक्षा करता है। मध्याह्न में, प्रातः जो मुनि भिक्षा के लिए गए थे, उनमें से एक वसति की रक्षा करता है और प्रातःकाल का रक्षपाल गोचरचर्या में जाता है। सायं दोनों रक्षपाल गोचरचर्या में जाते हैं और जो दो बार पर्यटन कर चुका है, वह वसति में रहता है। इस प्रकार प्रत्येक को दो-दो बार पर्यटन करना होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिज्ञासु कहता है–दीर्घकाल तक भिक्षाचर्या के लिए घूमने तथा प्रणीत आहार ग्रहण करने में सूत्रार्थपरिमंथ तथा मोहोद्भव–ये दोषे होते हैं। आचार्य कहते हैं–भद्र! प्रणीत-ग्रहण और दीर्घ भिक्षाचर्या गुरु, प्राघूर्णक और ग्लान के लिए आवश्यक है, दर्प अर्थात् अपने बल और वर्ण को बढ़ाने के लिए नहीं। यदि मुनि अकारण ही एक मुनि के लिए भी प्रचुर प्रणीत आहार ग्रहण करते हैं तो उसमें दोष है। अकारण ही प्रचुर प्रणीत आहार स्वयं के लिए लेना भी दोष होता है।

१४८९.दाणे अभिगम सड्ढे, सम्मत्ते खलु तहेव मिच्छत्ते।
मामाए अचियत्ते, कुलाइं जाणंति गीयत्था॥

दानश्राद्ध, अभिगमश्राद्ध (अणुव्रती), श्रावक, सम्यक्त्वी, मिथ्यात्वी, मामक, अप्रीतिकर–ये सब विभिन्न कुल हैं। इनको गीतार्थ मुनि जान लेता है।

१४९०.जेहिं कया उ उवस्सय, समणाणं कारणा वसहिहेउं।
परिपुच्छिया सदोसा, परिहरियव्वा पयत्तेणं॥

श्रमण पांच प्रकार के होते हैं–तापस, शाक्य, परिव्राजक, आजीवक और निर्ग्रंथ। इनके रहने के लिए जिन गृहस्थों ने वसति का निर्माण कराया है उनको पूछकर, उन्हें सदोष जानकर, प्रयत्नपूर्वक उनका परिहार करना चाहिए।

१४९१.जेहिं कया उ उवस्सय, समणाणं कारणा वसहिहेउं।
परिपुच्छिय निद्दोसा, परिभोत्तुं जे सुहं होइ (होंति)॥

जिन्होंने निर्ग्रंथों को छोड़कर शेष चार प्रकार के श्रमणों के लिए उपाश्रय का निर्माण किया है, उनको पूछकर, उपाश्रय को निर्दोष जानकर उस उपाश्रय का परिभोग सुखपूर्वक कर सकते हैं।

१४९२.जेहिं कया पाहुडिया, समणाणं कारणा वसहिहेउं।
परिपुच्छिया सदोसा, परिहरियव्वा पयत्तेणं॥

जिन्होंने श्रमणों के निवास हेतु उपाश्रयों में प्राभृतिका–उपलेपन, धवलन आदि कराया है, उन्हें पूछकर, उसे सदोष जानकर, उसका प्रयत्नपूर्वक परिहार करना चाहिए।

१४९३.जेहिं कया पाहुडिया, समणाणं कारणा वसहिहेउं।
परिपुच्छिय निद्दोसा, परिभोत्तुं जे सुहं होइ (होंति)॥

जिन्होंने निर्ग्रंथों को छोड़कर शेष श्रमणों के लिए उपाश्रयों में प्राभृतिका की है, उन्हें पूछकर, उसे निर्दोष जानकर, उसका सुखपूर्वक उपभोग कर सकते हैं।

१४९४.सिंगक्खोडे कलहो, ठाणं पुण नत्थि होइ चलणेसु।
अहिठाणे पुट्ठरोगो, पुच्छम्मि य फेडणं जाणे॥
१४९५.मुहमूलम्मि उ चारी, सिरे अ कउहे अ पूअ सक्कारो।
खंधे पट्ठीइ भरो, पुट्ठम्मि उ धायओ वसहो॥

(शिष्य ने पूछा–कैसे स्थान में वसति खोजनी चाहिए? आचार्य इस प्रसंग में वास्तु-विज्ञान के आधार पर कहते हैं–जितने क्षेत्र में वसि–वसति आक्रांत होती है उतने मात्र क्षेत्र में पूर्वाभिमुख वामपार्श्व में उपवष्टि वृषभ के आकर की परिकल्पना कर प्रशस्त स्थानों में वसति का ग्रहण करना चाहिए। किस अवयव के स्थान में प्राप्त वसति का क्या फल होता है, यह इन श्लोकों में बताया गया है।)

शृंगप्रदेश में वसति करने पर कलह होता है। पादप्रदेश में अवस्थिति नहीं होती। अधिष्ठान (अपानप्रदेश) में वसति करने से उदररोग होता है। पुच्छप्रदेश में वसति करने से अपनयन होता है। मुखमूल में वसति करने से चारी अर्थात् भोजन-संपत्ति सुलभ होती है, शृंग के मध्य भाग अथवा ककुद के स्थान पर पूजा-सत्कार की प्राप्ति, स्कंधप्रदेश तथा पृष्ठप्रदेश से आने जाने वाले साधुओं का भार होता है, उदरप्रदेश में वसति करने पर नित्य-तृप्त रहने का लाभ होता है। यह वसति संबंधी विचारणा है।

१४९६.देउलियअणुण्णवणा, अणुण्णविए तम्मि जं च पाउग्गं।
भोयण काले किच्चिर, सागरसरिसा उ आयरिया॥

सबसे पहले देवकुलिका की अनुज्ञापना करनी चाहिए। यदि देवकुलिका न हो तो गांव में प्रतिश्रय की खोज करे। स्वामी द्वारा अनुज्ञापित होने पर प्रायोग्य प्रतिश्रय का उपभोग करे। यदि वह प्रायोग्य की अनुज्ञापना न करे तो उसके समक्ष भोजन का दृष्टांत कहे (श्लोक १४९९)। यदि वह पूछे–आप कितने समय तक यहां रहेंगे तो उसे कहे–जितने काल तक तुम और गुरु चाहोगे। यदि वह पूछे–आप यहां कितने मुनि रहेंगे? उसे कहे–आचार्य समुद्र सदृश होते हैं।

१४९७.जं जं तु अणुन्नायं, परिभोगं तस्स तस्स काहिंति।
अविदिन्ने परिभोगं, जइ काहिइ तत्थिमा सोही॥

गृहस्वामी ने तृण, डगल आदि जिन-जिन वस्तुओं की अनुज्ञापना की है, उन-उनका परिभोग अपने इच्छित क्षेत्र में किया जा सकता है। यदि शय्यातर के द्वारा अननुज्ञात क्षेत्र और द्रव्य का परिभोग करेगा, उसकी शोधि (प्रायश्चित्त) इस प्रकार होगी।

१४९८.इक्कड-कढिणे मासो, चाउम्मासो अ पीढ-फलएसु।
कट्ठ-कलिंचे पणगं, छारे तह मल्लगाईसु॥

अदत्त इक्कडमय अथवा कठिनमय संस्तारक का उपभोग करने पर लघुमास तथा पीठ-फलक का परिभोग करने पर चार लघुमास का प्रायश्चित्त है। काष्ठ, किलिंच, क्षार, मल्लक आदि के परिभोग में पंचक (पांच दिन-रात) का प्रायश्चित्त है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१४९९.दव्वे तण-डगलाई, अच्छण-भाणाइधोवणा खित्ते।
काले उच्चाराई, भावि गिलाणाइ कूरुवमा॥

प्रायोग्य चार प्रकार का होता है–द्रव्यतः, क्षेत्रतः, कालतः और भावतः। द्रव्यतः–तृण, डगल आदि। क्षेत्रतः स्वाध्याय आदि के लिए अवस्थान। तथा भाजन आदि के धोने के लिए प्रतिश्रय से बाहर का क्षेत्र। कालतः–रात, दिन या अकेला में उच्चार, प्रस्रवण का व्युत्सर्ग। भावतः–ग्लान आदि के लिए विशेष अवकाश। यहां कूर अर्थात् भक्त की उपमा।

(वह इस प्रकार है–किसी ने किसी से भोजन की याचना की। उसने उसे भोजन के साथ अवगाहिम, सूप, व्यंजन आदि भी दिया। इसी प्रकार तुमने वसति की अनुज्ञापना की है तो उसके साथ-साथ मुनि के प्रायोग्य सभी की अनुज्ञापना कर दी है। इतना कहने पर यदि वह सभी प्रायोग्य की अनुज्ञा देता है तो सबका उपभोग करे तथा जहां व्युत्सर्ग का स्थान बताए वहां उत्सर्ग करे।)

१५००.उच्चारे पासवणे, लाउअनिल्लेवणे य अच्छणए।
करणं तु अणुन्नाए, अणणुन्नाए भवे लहुओ॥

उच्चार, प्रस्रवण, अलाबुनिर्लेपन (पात्रप्रक्षालन) तथा स्वाध्याय के लिए अवस्थान–इनका समाचरण शय्यातर द्वारा अनुज्ञात प्रदेश में करना चाहिए। अननुज्ञात प्रदेश में करने पर लघुमास का प्रायश्चित्त विहित है।

१५०१.जाव गुरूण य तुब्भ य, केवइया तत्थ सागरेणुवमा।
केवइ कालेणेहिह, सागार ठवंति अन्ने वि॥

शय्यातर यदि पूछे–आप कितने काल तक यहां ठहरेंगे? उसे कहे–गुरु और तुम जितना चाहोगे उतने काल तक हम रहेंगे। (निर्व्याघात होने पर एक मास और व्याघात होने पर एक मास से हीन या अधिक।) शय्यातर यदि पूछे–कितने मुनि यहां रहेंगे? उसे कहे–आचार्य को समुद्र की उपमा दी गई है। (समुद्र कभी प्रसर्पण करता है और कभी अप्रसर्पण।) यदि शय्यातर पूछे–आप यहां कितने काल के पश्चात् आएंगे? तब उसे सविकल्प वचन कहे कि अन्य क्षेत्र-प्रत्युपेक्षक भी अन्यान्य दिशाओं में गए हुए हैं। सबके निवेदन को ध्यान में रखकर, इतने दिनों के पश्चात् या पूर्व भी आ सकते हैं। निश्चित दिनों की अवधि न कहे।

१५०२.पुव्वद्दिट्ठेविच्छइ, अहव भणिज्जा हवंतु एवइआ।
तत्थ न कप्पइ वासो, असई खेत्तस्सऽणुन्नाओ॥

यदि शय्यातर अपने पूर्वदृष्ट मुनियों की ही अवस्थिति वहां देखना चाहता हो तथा वह कहे 'इतने ही साधु यहां रहें'–ऐसी स्थिति में उस वसति में रहना नहीं कल्पता। यदि अन्य कोई क्षेत्र मास प्रायोग्य न हो और अन्य वसति का अलाभ हो तो वैसी वसति में रहना अनुज्ञात है।

१५०३.सक्कारो सम्माणो, भिक्खग्गहणं च होइ पाहुणए।
जइ वसइ जाणओ तहिं, आवज्जइ मासियं लहुगं॥

अतिथि मुनि आने पर सत्कार, सम्मान, भिक्षा-ग्रहण–भिक्षा लाकर देना–ये सब करणीय होते हैं। यदि वसति परिमित मुनियों के लिए अनुज्ञात हो तो जितने अतिथि मुनि आए हैं, इतने ही वास्तव्य मुनि वहां से अन्यत्र चले जाएं। यदि नामग्राहपूर्वक परिमित साधुओं को ही वसति दी हो तो प्राघूर्णक मुनियों को वसति के स्वरूप की जानकारी दे दे। यदि वसति स्वरूप को जानने वाला वहां रहता है तो उसे लघुमास का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१५०४. किइकम्म भिक्खग्गहणे, कयम्मि जाणाविओ बहिं वसइ।
हिय-नट्ठेसुं संका, सुण्हा उब्भाम वोच्छेदो॥

कृतिकर्म और भिक्षाग्रहण करने के पश्चात् यदि वसति-स्वरूप ज्ञापित किया जाए तो रात में अतिथि मुनि बाहर रहे। यदि वह बाहर नहीं जाता है तो सागारिक हृत या नष्ट वस्तु के लिए उस अतिथि मुनि के प्रति शंका करता है। सागारिक की पुत्रवधू किसी उद्भ्रामक के साथ गई हो, परंतु उस मुनि पर ही शंका की जाती है। ऐसी स्थिति में सागारिक के द्रव्य तथा अन्य द्रव्यों की प्राप्ति का व्यवच्छेद हो जाता है।

१५०५.पडिलेहियं च खेत्तं, थंडिलपडिलेहऽमंगले पुच्छा।
गामस्स व नगरस्स व, सियाणकरणं पढम वत्थुं॥

वसति–क्षेत्र की प्रत्युपेक्षा करने के पश्चात् महास्थंडिल (शवपरिष्ठापनभूमी) की प्रत्युपेक्षा करनी चाहिए। यहां जिज्ञासु प्रश्न करता है–आप यह अमंगल क्यों करते हैं? आचार्य कहते हैं–वास्तुविज्ञान के अनुसार नए ग्राम या नगर-निर्माण से पूर्व श्मशानस्थापनायोग्य प्रथम वास्तु का निवेशन होता है। यह अमांगलिक नहीं है।

१५०६. दिस अवरदक्खिणा दक्खिणा य अवरा य दक्खिणापुव्वा।
अवरुत्तरा य पुव्वा, उत्तर पुव्वुत्तरा चेव॥

सबसे पहले महास्थंडिल के लिए पश्चिम-दक्षिण दिशा की प्रत्युपेक्षा करनी चाहिए। उसके अभाव में दक्षिण दिशा, उसके अभाव में पश्चिम, फिर दक्षिण-पूर्व, उसके अभाव में पश्चिम-उत्तर, तदनन्तर पूर्व, फिर उत्तर, उसके अभाव में पूर्व-उत्तर।

१५०७.पउरन्न-पाण पढमा, बीयाए भत्त-पाण न लहंति।
तइयाइ उवहिमाई, चउत्थी सज्झाय न करिंति॥

१५०८.पंचमियाए असंखडं, छट्ठीए गणस्स भेयणं जाण।
सत्तमिया गेलन्नं, मरणं पुण अट्ठमीए उ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन दिशाओं की गुण-दोष विचारणा इस प्रकार है–प्रथम अर्थात् पश्चिम-दक्षिण दिशा में प्रचुर अन्न-पान, दूसरी दिशा-दक्षिण में अन्न-पान का अलाभ, तीसरी दिशा अर्थात् पश्चिम में उपधि का अपहरण, चौथी दिशा अर्थात् दक्षिण-पूर्व में स्वाध्याय की हानि, पांचवीं दिशा अर्थात् पश्चिम-उत्तर में साधुओं में कलह, छठी दिशा पूर्व में गच्छ का भेद, सातवीं दिशा उत्तर में साधुओं में ग्लानत्व–रोग की प्राप्ति। आठवीं दिशा अर्थात् पूर्व-उत्तर में किसी मुनि का मरण।

१५०९.समाही य भत्त-पाणे, उवगरणे तुमंतुमा य कलहो उ।
भेदो गेलन्नं वा, चरिमा पुण कड्ढए अन्नं॥

इन दोनों गाथाओं का एक गाथा में उपसंहार इस प्रकार है–पहली दिशा में भक्त-पान की समाधि, दूसरी दिशा में भक्त-पान का अभाव, तीसरी दिशा में उपधि का अपहरण, चौथी दिशा में तुमंतुम (तू-तू-मैं-मैं) पांचवीं दिशा में कलह, छठी दिशा में गणभेद, सातवीं दिशा में ग्लानत्व, आठवीं में अन्य साधु का मरण।

१५१०.एक्केक्कम्मि उ ठाणे, चउरो मासा हवंतऽणुग्घाया।
आणाइणो अ दोसा, विराहणा जा जहिं भणिया॥

एक-एक स्थान में इन दिशाओं में प्रत्युपेक्षण का अतिक्रम करने पर चार मास का अनुद्घात प्रायश्चित्त विहित है तथा आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं तथा जिन-जिन दिशाओं में जो-जो विराधना कही गई है, वह होती है।

१५११.पडिलेहियं च खेत्तं, अह य अहालंदियाण आगमणं।
नत्थि उवस्सयवालो, सव्वेहि वि होइ गंतव्वं॥

गच्छवासी मुनियों ने एक ओर क्षेत्र की प्रत्युपेक्षा की, इतने में ही वहां दो यथालंदिक मुनियों का आगमन हो गया। वहां उनके साथ उस क्षेत्र में स्थापनायोग्य कोई उपाश्रय नहीं है। अतः सबको वहां से जाना होता है।

१५१२.पुच्छिय रुइयं खेत्तं, गच्छे पडिबद्ध बाहि पेहिंति।
जं तेसिं पाउग्गं, खेत्तविभागे य पूरिंति॥

गच्छप्रतिबद्ध यथालंदिक मुनियों ने गच्छवासी मुनियों से पूछा–क्या क्षेत्र रुचिकर है? उन्होंने कहा–हां! तब यथालंदिक मुनि बाहर के क्षेत्र की प्रत्युपेक्षा करते हैं। जो उनके लिए प्रायोग्य वसति होती है, उसी का ग्रहण करते हैं तथा वे क्षेत्रविभाग अर्थात् उसके छह विभाग कर पूरा करते हैं।

१५१३.जं पि न वच्चंति दिसिं,
तत्थ वि गच्छेल्लगा सिं पेहंति।
पग्गहियएसणाए,
विगई-लेवाडवज्जाइं॥

जिस दिशा में यथालंदिक मुनि नहीं जाते, उस दिशा में भी गच्छवासी मुनि यथालंदिकों के लिए क्षेत्र की प्रत्युपेक्षा करते हैं। वे अभिग्रह धारण कर तीसरे प्रहर में, उपरीतन एषणा पंचक में से अन्यतर ऐषणा से विकृति और लेपकृत का वर्जन कर भक्तपान ग्रहण करते हैं।

१५१४.जइ तिन्नि सव्वगमणं, एहामु त्ति लहुओ य आणाई।
परिकम्म कुड्डकरणं, नीहरणं कड्ढमाईणं॥

यदि गच्छवासी तीनों मुनियों को वहां से गुरु के पास जाते हुए देखकर शय्यातर उन्हें पूछता है–क्या आप पुनः आयेंगे या नहीं? और यदि उत्तर दिया जाता है कि हम पुनः आएंगे तो लघुमास का प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं। शय्यातर यह सोचना है कि ये अवश्य आएंगे अतः वह वसति का परिकर्म, जीर्ण भित्ति का पुनः करण, काष्ठ आदि का वहां से निष्काशन करता है।

१५१५.अद्धाणनिग्गयाई, असिवाइ गिलाणओ अ जो जत्थ।
णेहामो त्ति य लहुओ, तत्थ वि आणाइणो दोसा॥

वहां पूर्वस्थित मुनि किसी कारणवश नहीं आते और दूसरे मुनि वहां आ जाते हैं। वे दूर मार्ग से अथवा अशिव आदि कारणों से परिभ्रांत होते हुए वहां पहुंचे हैं। उनके साथ ग्लान मुनि भी है। वसतिस्वामी उन्हें वसति की अनुज्ञा यह कहकर नहीं देता कि पूर्वस्थित मुनियों ने 'हम पुनः आएंगे' यह कहकर गए हैं, अतः मैं तुम्हें वसति नहीं देता। इस स्थिति में मुनियों की परितापना से निष्पन्न प्रायश्चित्त पूर्व मुनियों को आता है। अतः 'आयेंगे' यह नहीं कहना चाहिए और 'नहीं आयेंगे' यह भी नहीं कहना चाहिए। ऐसा कहने पर मासलघु का प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं।

१५१६.वक्कइअ विक्कएण व, फेडण धन्नाइछुभणमावासे।
नीणिंते अहिकरणं, विराहणा हाणि हिंडंते॥

'साधु नहीं आयेंगे' यह सोचकर वसतिस्वामी अपने स्थान को भाड़े पर किसी को दे देता है अथवा वसति को गिरा देता है अथवा उस रिक्त स्थान में धान्य आदि भर देता है अथवा बटुक-चारणों को दे देता है। साधु उसी स्थान पर आते हैं। उनके लिए यदि बटुकों को वहां से निष्काशित करता है तो कलह होता है। वसति के अभाव में इधर-उधर घूमने पर संयम-विराधना तथा सूत्रार्थ की परिहानि होती है।

१५१७.जह अम्हे तह अन्ने, गुरु-जेट्ठमहाजणस्स अम्हे मो।
पुव्वभणिया उ दोसा, परिहरिया कुड्डमाईया॥

वसति से जाते समय साधु शय्यातर से कहे–जैसे हम यहां आए हैं वैसे ही अन्य साधु भी यहां आ सकते हैं। हम गुरु तथा ज्येष्ठ आर्यसाधु समुदाय के अधीन हैं। वे जैसा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहेंगे वैसे ही हम करेंगे। इस प्रकार कहने वाले मुनियों के पूर्वभणित कुड्यादि दोष का परिहार हो जाता है।

१५१८.जइ पंच तिन्नि चत्तारि छसु सत्तसु य पंच अच्छंति।
चोयगपुच्छा सज्झायकरण वच्चंत-अच्छंते॥

यदि पांच मुनि हों तो तीन वहीं रहते हैं, दो गुरु के पास जाते हैं, यदि छह हों तो चार वहीं रहते हैं, दो गुरु के पास और सात हों तो पांच वहीं रहते हैं और दो गुरु के पास जाते हैं। शिष्य प्रश्न करता है—क्या वहां रहने वाले मुनि तथा गुरु के पास जाने वाले मुनि स्वाध्याय करते हैं अथवा नहीं?

१५१९.वच्चंतकरण अच्छंतअकरणे लहुओ मासो गुरुओ उ।
जावइकालं गुरुणो, न इंति सव्वं अकरणाए॥

आचार्य कहते हैं—जाने वाले यदि सूत्रपौरुषी करते हैं तो लघुमास का प्रायश्चित तथा अर्थपौरुषी करते हैं तो गुरुमास का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है और यदि वहां रहने वाले मुनि सूत्रपौरुषी नहीं करते तो लघुमास और अर्थपौरुषी नहीं करते तो गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। जब तक गुरु के पास वे नहीं पहुंच जाते तब तक सारा अर्थात् सूत्र-अर्थपौरुषी अकरणीय है।

१५२०.जइ वि अणंतर खेत्तं, गयाओ तह वि अगुणंतगा एंति।
नियया‌ई मा गच्छे, इतरत्थ य सिज्जवाघाओ॥

यद्यपि अनन्तर (अव्यवहित) क्षेत्र में गए हैं, फिर भी वे सूत्रार्थपौरुषी न करते हुए जाते हैं। क्योंकि नित्यवास आदि दोष गच्छ में न हों, इसलिए वे वैसा करते हैं। तथा प्रत्युपेक्षित क्षेत्र में विलंब से आने पर शय्या—उपाश्रय का व्याघात होता है।

१५२१.ते पत्त गुरुसगासं, आलोएंती जहक्कमं सव्वे।
चिंता वीमंसा या, आयरियाणं समुप्पन्ना॥

वे क्षेत्रप्रत्युपेक्षक गुरु के पास आकर सभी यथाक्रम से क्षेत्र के स्वरूप की आलोचना करते हैं। आलोचना सुनकर आचार्य के मन में किस दिशा में जाएं—यह चिंतन तथा बीमंसा (मीमांसा)—शिष्यों के अभिप्राय की विचारणा होती है।

१५२२.गंतूण गुरुसगासं, आलोएत्ता कहिंति खेत्तगुणे।
न य सेसकहण मा होज्जऽसंखडं रत्ति साहंति॥

वे क्षेत्रप्रत्युपेक्षक गुरु के पास जाकर, गमनागमन की आलोचना कर, क्षेत्र के गुणों का वर्णन करते हैं। वे आचार्य के अतिरिक्त शेष साधुओं को नहीं कहते। शेष साधुओं को कहने पर परस्पर कलह हो सकता है। अतः वे रात्री में सारी बात कहते हैं।

१५२३.पढमाए नत्थि पढमा, तत्थ य घय-खीर-कूर-दधिमाई।
बिइयाए बीय तइयाए दो वि तेसिं च धुव लंभो॥

१५२४.ओभासिय धुव लंभो, पाउग्गाणं चउत्थिए नियमा।
इहरा वि जहिच्छाए, तिकाल जोगं च सव्वेसिं॥

आचार्य आवश्यक संपन्न कर एकत्रित साधुओं को क्षेत्र विषयक अपने विचारों को प्रकट करने के लिए कहते हैं। तब वे प्रत्युपेक्षक रत्नाधिक के क्रम से कहते हैं। एक कहता है—पूर्व दिशा में हमने क्षेत्र की प्रत्युपेक्षणा की। वहां प्रथम अर्थात् सूत्रपौरुषी नहीं हो सकती क्योंकि उसी में भिक्षाटन करना होता है। वहां घृत, दूध, कूर, दही आदि की प्रचुरता है। दूसरा क्षेत्रप्रत्युपेक्षक कहता है—मेरे द्वारा प्रत्युपेक्षित क्षेत्र में द्वितीया अर्थात् अर्थपौरुषी नहीं हो सकती, क्योंकि वहां वही भिक्षावेला है। तीसरा बोला—मेरे द्वारा निरीक्षित क्षेत्र में दोनों पौरुषियां हो सकती हैं। वहां घृत, दूध आदि की प्राप्ति निश्चित होती है। चौथा बोला—मेरे द्वारा प्रत्युपेक्षित क्षेत्र में प्रायोग्य—अवभाषित द्रव्यों (घृत दूध आदि) की प्राप्ति अवश्य होती है तथा वहां दोनों पौरुषियां नियमतः होतीं हैं। वहां तीनों समय पूर्वाह्न, मध्याह्न और अपराह्न—में यथेष्ठ सामान्य भोजन-पानी प्राप्त हो जाता है। (आचार्य क्षेत्र के गुण-दोष सुनकर तीन दिशाओं को छोड़कर चौथी दिशा में जाने का निश्चय करते हैं।)

१५२५.इच्छागहणं गुरुणो, कत्थ वयामो त्ति तत्थ ओअरिया।
खुड्डिया भणंति पढमं, तं चिय अणुओगतत्तिल्ला॥

१५२६.बिइयं सुत्तग्गाही, उभयग्गाही य तइयगं खेत्तं।
आयरिओ उ चउत्थं, सो उ पमाणं हवइ तत्थ॥

गुरु शिष्यों का अभिप्राय जानने के लिए पूछते हैं—हम किस ओर जाएं? जो शिष्य औदरिक—प्रथम प्रहर में पर्याप्त आहार करना चाहते हैं, वे संभ्रांत होकर कहते हैं—हमें पूर्व दिशा में जाना चाहिए जहां प्रचुर अन्न-पान सुलभ होता है। अनुयोगग्रहण में तत्पर शिष्य भी उसी दिशा में जाना चाहते हैं जहां अर्थग्रहण में कोई व्याघात नहीं होता। सूत्रग्राही शिष्य दूसरी दिशा में जाना चाहते हैं। उभयग्राही सूत्र और अर्थ—दोनों का ग्रहण करने वाले शिष्य तीसरी दिशा में जाने का अभिप्राय व्यक्त करते हैं। आचार्य चौथी दिशा वाले क्षेत्र में जाना चाहते हैं। आचार्य वहां सभी के मध्य प्रमाण होते हैं।

१५२७.मोहुब्भवो उ बलिए, दुब्बलदेहो न साहए अत्थं।
तो मज्झबला साहू, दुट्ठस्से होइ दिट्ठंतो॥

आचार्य सोचते हैं—प्रचुर स्निग्ध आहार की प्राप्ति से शरीर बलवान् होता है। बलवान् के अवश्य मोहोद्भव होता है। जहां भक्तपान की अप्राप्ति होती है वहां रहने से मुनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ--ज्ञान, दर्शन, चारित्र की साधना निर्व्याघातरूप से नहीं कर सकते। जो मध्य बल वाले साधु हैं, अथवा मध्यम क्षेत्र में जाते हैं। यहां दुष्ट अश्व का दृष्टांत है।[1]

१५२८.पणपन्नगस्स हाणी, आरेणं जेण तेण वा धरइ।
जइ तरुणा नीरोगा, वच्चंति चउत्थगं ताहे॥

पचपन तथा उससे अधिक आयु वाले मनुष्य की विशिष्ट आहार के बिना बल की हानि होती है। इस आयु से पूर्व मनुष्य जैसे-तैसे आहार से निर्वाह कर लेता है। अतः जो तरुण मुनि हैं वे चौथी दिशा वाले क्षेत्र में जाते हैं।

१५२९.जइ पुण जुन्ना थेरा, रोगविमुक्का व असहुणो तरुणा।
ते अणुकूलं खेत्तं, पेसिंति न यावि खग्गूडे॥

यदि जीर्ण अर्थात् पचपन वर्ष से अधिक आयुवाले स्थविर मुनि तथा सद्यः रोगमुक्त तरुण मुनि, जो असहिष्णु हैं, उनको अनुकूल क्षेत्र में भेजना चाहिए। जो 'खग्गूड'[2] अर्थात् आलसी और रसलोलुप हों उन्हें वहां नहीं भेजना चाहिए।

१५३०.एग पणगऽद्धमासं, सट्ठी सुण-मणुय-गोण-हत्थीणं।
राइंदिएहिं उ बलं, पणगं तो एक्क दो तिन्नि॥

क्षीण शरीर वाले कुत्ते एक दिन में, मनुष्य पांच दिन में, बैल पन्द्रह दिनों में, हाथी साठ दिनों में बल प्राप्त कर लेते हैं। जो वृद्ध आदि मुनि हैं उनको प्रथम क्षेत्र में एक पंचक, दो या तीन पंचक तक रखना चाहिए, फिर चौथे क्षेत्र में ले जाना चाहिए।

१५३१.सागारिय आपुच्छण, पाहुडिया जह य वज्जिया होइ।
के वच्चंते पुरओ, उ भिक्खुणो उदाहु आयरिया॥

क्षेत्रान्तर गमन से पूर्व शय्यातर को इस प्रकार पूछना चाहिए जिससे प्राभृतिका--हरियाली के छेदन आदि का वर्जन हो सके। गमन करते समय कौन आगे चले, भिक्षु अथवा आचार्य?

१५३२.सागारिअणापुच्छण, लहुओ मासो उ होइ नायव्वो।
आणाइणो य दोसा, विराहण इमेहिं ठाणेहिं॥

१५३३.सागारिअपुच्छगमणम्मि बाहिरा मिच्छगमण कयनासी।
अन्नस्स वि हिय-नट्ठे, तेणगसंका य जं चऽन्नं॥

यदि शय्यातर को पूछे बिना साधु जाते हैं तो उन्हें एक लघुमास का प्रायश्चित्त आता है तथा आज्ञाभंग आदि दोष और इन स्थानों में विराधना होती है। शय्यातर सोचता है--ये लोकधर्म से भी बाह्य हैं। इनका मिथ्यागमन है, ये कृतनाशी--कृतघ्न हैं। शय्यातर अथवा अन्य किसी की वस्तु अपहृत या नष्ट हो जाने पर मुनियों पर चोर की शंका होती है तथा वसति आदि का व्यवच्छेद भी हो जाता है।

१५३४.वसहीए वोच्छेदो, अभिधारिंताण वा वि साहूणं।
पव्वज्जाभिमुहाणं, तेणेहि व संकणा होज्जा।

वह शय्यातर सोचता है--अब आगे से मैं 'साधु' नामधारी व्यक्तियों को कभी वसति नहीं दूंगा। इस प्रकार वसति का व्यवच्छेद हो जाता है। इससे प्रव्रज्याभिमुख व्यक्तियों के प्रति स्तेन की शंका हो सकती है।

१५३५.अविहीपुच्छणे लहुओ, तेसिं मासो उ दोस आणाई।
मिच्छत्त पुव्वभणियं, विराहण इमेहिं ठाणेहिं॥

पृच्छा दो प्रकार की होती है--विधिपृच्छा और अविधिपृच्छा। अविधिपृच्छा करने पर आचार्य को लघुमास का प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोष, पूर्वकथित मिथ्यात्व और इन स्थानों में विराधना होती है।

१५३६.सहसा दट्ठुं उग्गाहिएण सिज्जायरी उ रोविज्जा।
सागारियस्स संका, कलहे य सएज्झिखिंसणया॥

अविधिपृच्छा का स्वरूप यह है--उपकरणों को लेकर विहार करने के लिए प्रस्थित होते हुए शय्यातर को पूछना कि हम विहार कर रहे हैं। अकस्मात् उपकरणों को लेकर प्रस्थित मुनियों को देखकर शय्यातरी रोने लग सकती है। यह देखकर शय्यातर के मन में अनेक प्रकार की शंका हो सकती है। कलह होने पर पड़ोसिन आकर शय्यातरी की खिंसना कर सकती है।

१५३७.हरियच्छेअण छप्पइअथिच्चणं किच्चणं च पुत्ताणं।
गमणं च अमुगदिवसे, संखडिकरणं विरूवं वा॥

यदि मुनि कहे--'हम अमुक दिन जाएंगे' तो यह भी अविधिपृच्छा है। क्योंकि उस दिन बालक अथवा पुत्रवधूएं वहां हरित का छेदन कर सकती हैं अथवा परस्पर जूं आदि का थेच्चण--उपमर्दन या किच्चण--कर्त्तन कर सकती हैं। वस्त्रों का प्रक्षालन कर सकती हैं। अथवा 'अमुक दिन हम जाएंगे' यह कहने पर शय्यातर आदि जीमनवार कर सकते हैं अथवा विरूव अर्थात् भींत आदि को पोतना आदि कर सकते हैं।

१५३८.जत्तो पाए खेत्तं, गया उ पडिलेहगा ततो पाए।
सागारियस्स भावं, तणुइंति गुरू इमेहिं तु॥

शिष्य पूछता है--पूछने की विधि क्या है? आचार्य कहते

---

१. दुष्ट अश्व अर्थात् गर्दभ। उसे प्रचुर अन्न-पान मिलता था। वह कुछ ही दिनों में दर्पित हो गया। कुंभकार उस पर बर्तन लादकर ले जाता। वह बीच मार्ग में मद से कूद-फांदकर उन बर्तनों को गिरा देता। कुंभकार ने उसको भोजन देना बंद कर दिया। वह दुर्बल हो गया। अब वह भार वहन करने में असमर्थ था। कुंभकार उसे मध्यम आहार देने लगा। अब वह भार ढोने में समर्थ हो गया। उसका मद विलीन हो गया। यही बात साधु के विषय में भी समझनी चाहिए।

२. अलसाः स्निग्धमधुराहारलम्पटाः खग्गूडा उच्यन्ते। (टीका)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं—जिस दिन क्षेत्रप्रत्युपेक्षक गए हैं उसी दिन से प्रारंभ कर गुरु सागारिक के प्रतिबंध को निम्न विधि से न्यून करने लग जाते हैं।

१५३९.उच्छू वोलिंति वइं, तुंबीओ जायपुत्तभंडाओ।
वसहा जायत्थामा, गामा पव्वायचिक्खल्ला॥
१५४०.अप्पोदगा य मग्गा, वसुहा वि य पक्कमट्टिया जाया।
अन्नोक्कंता पंथा, विहरणकालो सुविहियाणं॥

गुरु शरदकाल के आधार पर कहते हैं—इक्षु इतने बढ़ गए हैं कि वे अपनी वृति (बाड़) का भी अतिक्रमण कर रहे हैं। तुम्बियां जातपुत्रभांड अर्थात् पूर्णरूप से तुंबे हो चुके हैं। वृषभ बल संपन्न हो गए हैं। गांवों का कीचड़ सूख गया है। मार्ग का पानी भी सूख गया है। सारी पृथ्वी भी पक्व मिट्टी की भांति कठोर हो चुकी है। अन्यान्य पथिकों से मार्ग क्षुण्ण हो चुके हैं। अतः सुविहित मुनियों के लिए यह उत्तम काल है। (यह बात आचार्य शय्यातर के सुनते हुए कहते हैं। बार-बार इसको दोहराने से शय्यातर का स्नेहानुबंध कम हो जाता है।

१५४१.आवासगकयनियमा, कल्लं गच्छामु तो उ आयरिया।
सपरिजणं सागरियं, वाहेउं दिंति अणुसट्ठिं॥

आवश्यक—प्रतिक्रमण अनुष्ठान करने के नियम वाले वे आचार्य कल अर्थात् प्रभात में हम विहार कर जाएंगे यह मानकर प्रतिक्रमण करने के पश्चात् सपरिवार शय्यातर को बुलाकर अनुशिष्टि—धर्मकथा करते हैं।

१५४२.पव्वज्ज सावओ वा, दंसणसड्ढो जहन्नओ वसहिं।
जोगम्मि वट्टमाणे, अमुगं वेलं गमिस्सामो॥

धर्मकथा सुनकर शय्यातर अथवा अन्य सदस्य प्रव्रज्या ग्रहण कर सकता है अथवा श्रावक या दर्शनश्राद्ध—अविरत-सम्यक्दृष्टि हो सकता है। इतना भी न करने पर जघन्यतः उसे साधुओं को वसति-दान देने की प्रेरणा देनी चाहिए। फिर उसे कहे—जो योग वर्तमान है, उसमें अमुक वेला में हम यहां से विहार कर देंगे।

१५४३.तदुभय सुत्तं पडिलेहणा य उग्गयमणुग्गए वा वि।
पडिच्छाहिगरण तेणे, नद्वे खग्गूड संगारो॥

वे सूत्रपौरुषी और अर्थपौरुषी—दोनों सम्पन्न कर विहार करते हैं। क्षेत्र दूर है तो सूत्रपौरुषी करके, दूरतर हो तो पात्र-प्रत्युपेक्षणा करके, दूरतम हो तो सूर्य के उदित होते ही और यदि अतिदूर हो तो सूर्योदय से पहले ही चल पड़ते हैं। रात्री में विहरण करते समय प्रतिश्रय के बाहर परस्पर प्रतीक्षा करते हैं अन्यथा अधिकरण की संभावना होती है। पीछे आने वाले मुनि अग्रेतन साधुओं से विलग हो जाने के कारण उन्हें चोरों का उपद्रव हो सकता है। कोई खग्गूड़ अर्थात् आलसी मुनि को कोई संकेत देकर उसे संघ से पराङ्मुख कर विपरिणत कर देता है।

१५४४.पडिलेहंत च्चिय वेंटियाउ काउं कुणंति सज्झायं।
चरिमा उग्गाहेउं, सोच्चा मज्झण्हि वच्चंति॥

मुनि प्रभात में प्रत्युपेक्षा करते हुए ही वस्त्रों की विण्टिका कर लेते हैं। फिर चरमा—पादोनपौरुषी तक स्वाध्याय करते हैं। फिर पात्रों को बांधकर, अर्थ सुनकर मध्याह्न में विहार करते हैं।

१५४५.तिहि-करणम्मि पसत्थे, णक्खत्ते अहिवईण अणुकूले।
घेत्तूण णिंति वसभा, अक्खे सउणे परिक्खंता॥

आचार्य के अनुकूल नक्षत्र और प्रशस्त तिथि तथा कारण में अक्ष अर्थात् गुरु के उपधि को लेकर वृषभ मुनि—गीतार्थ मुनि शकुनों की परीक्षा करते हुए वहां से विहरण करते हैं।

१५४६.वासस्स य आगमणं, अवसउणे पट्ठिया नियत्ता य।
ओभावणा उ एवं, आयरिया मग्गओ तम्हा॥

वे प्रस्थित वृषभ मुनि वर्षा के आ जाने पर अथवा अपशकुन होने पर पुनः निवृत्त हो जाते हैं, उनकी अपभ्राजना नहीं होती। यदि आचार्य निवर्तित होते हैं तो लोग यह कहते हुए अपभ्राजना करते हैं कि ये आचार्य सामान्य ज्योतिष की बात भी नहीं समझते हैं तो फिर दूसरी बात क्या समझेंगे। अतः आचार्य बाद में जाते हैं, पहले नहीं।

१५४७.मइल कुचेले अब्भंगियल्लए साण खुज्ज वडभे या।
एए तु अप्पसत्था, हवंति खित्ताउ णिंतस्स॥

शरीर और वस्त्रों से मलिन, जीर्ण परिधान वाला व्यक्ति, तैल आदि से अभ्यंगित शरीर वाला, कुत्ते का वाम पार्श्व से दक्षिण पार्श्व में जाना, कुब्ज और वामन व्यक्ति का सामने मिलना—ये क्षेत्र से प्रस्थित होने वाले व्यक्ति के लिए अप्रशस्त होते हैं, अपशकुन होते हैं।

१५४८.रत्तपड चरग तावस, रोगिय विगला य आउरा वेज्जा।
कासायवत्थ उद्धूलिया य जत्तं न साहंति॥

रक्तपट (बौद्ध भिक्षु), चरक, तापस, रोगी, विकल (शरीर के अंगों से रहित), आतुर—विविध दुःखों से व्याकुल, वैद्य, काषायवस्त्रवाले, उद्धूलित (भस्मलिप्त शरीर वाले)—क्षेत्र से प्रस्थित होते समय ये मिलते हैं तो यात्रा सफल नहीं होती। प्रस्तुत दो श्लोकों में अपशकुन बताए गए हैं।

१५४९.नंदीतूरं पुण्णस्स दंसणं संख-पडहसद्दो य।
भिंगार-छत्त-चामर-वाहण-जाणा पसत्थाइं॥
१५५०.समणं संजयं दंतं, सुमणं मोयगा दधिं।
मीणं घंटं पडागं च, सिद्धमत्थं वियागरे॥

(प्रस्तुत दो श्लोकों में शुभशकुन बताए गए हैं।)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नंदीतूर्य–बारह प्रकार के तूर वाद्यों का एक साथ बजना, पूर्णकलश का दर्शन, शंख और पटह का शब्द सुनाई देना, भृंगार–झारी, छत्र, चामर, वाहन–हाथी, घोड़े आदि तथा यान–शिबिका आदि–ये सारे प्रशस्त होते हैं।

श्रमण, संयत, दांत, पुष्प, मोदक, दही, मत्स्य, घंटा, पताका देखकर या सुनकर जानना चाहिए या कहना चाहिए कि यात्रा का प्रयोजन सिद्ध होगा।

१५५१.सिज्जायरेऽणुसासइ, आयरिओ सेसगा चिलिमिलिं तु।
काउं गिण्हंतुवहिं, सारवियपडिस्सया पुव्विं॥

शुभ शकुन होने पर आचार्य वहां से प्रस्थान करने से पूर्व शय्यातर को अनुशिष्टि–धर्मकथन करते हैं। वे कहते हैं–हम विहार कर रहे हैं। धर्म-कर्म में अप्रमत्त रहना आदि। शेष साधु चिलिमिली से अन्तरित होकर उपधि ग्रहण करते हैं। वे इससे पूर्व–पहले प्रतिश्रय को सम्मार्जित कर देते हैं।

१५५२.बालाईया उवहिं, जं वोढु तरंति तत्तियं गिण्हे।
जहण्णेण अहाजायं, सेसं तरुणा विरिंचंति॥

बाल, वृद्ध तथा राजप्रव्रजित मुनि जितनी उपधि वहन कर सकते हों, उतनी उपधि ही वे ग्रहण करते हैं। यदि सर्वथा उपधि का भार वहन नहीं कर सकते तो जघन्यतः यथाजात–मुंहपत्ती, रजोहरण आदि उपधि ग्रहण करते हैं। शेष तरुण मुनि उपधि का विभाजन कर ग्रहण कर लेते हैं।

१५५३.आयरिओवहि बालाइयाण गिण्हंति संघयणजुत्ता।
दो सोत्ति उण्णि संथारए य गहणेक्कपासेणं॥

आचार्य तथा बालमुनियों की उपधि संहननयुक्त अर्थात् समर्थ साधु ग्रहण कर लेते हैं। दो सौत्रिक कल्प, एक ऊनी कल्प तथा संस्तारक–ये सारे एक कंधे पर उठाते हैं और दूसरे कंधे पर अपने उपकरण रखते हैं।

१५५४.रत्तिं न चेव कप्पइ, नीयदुवारे विराहणा दुविहा।
पण्णवण बहुतर गुणा, अणिच्छ बीओ व उवही वा॥

किसी ने कहा–मुनि को रात्री में विहार करना नहीं कल्पता। क्योंकि भगवान् ने कहा है–'**नीयदुवारं तमसं.....**' दिन में भी नीचे द्वार वाले कोठे में मुनि को जाना नहीं कल्पता और जाने पर दो प्रकार की विराधना–संयम-विराधना और आत्मविराधना होती है, तो फिर रात्री में विहार करना कैसे कल्प सकता है? इस प्रकार कहने वाले को कहना चाहिए कि दूरतमक्षेत्र में जाने के लिए रात्री में विहरण करने में बहुत गुण होते हैं। इतना कहने पर भी यदि वह रात्री में विहार करना नहीं चाहता तो उसे एक सहयोगी मुनि को देना चाहिए तथा उसे जीर्ण या उपहृत उपधि देनी चाहिए।

१५५५.वच्चंतेहि य दिट्ठो, गामो रमणिज्जभिक्ख-सज्झाओ।
जं कालमणुन्नाओ, अणणुन्नाए भवे लहुओ॥

विहरण करते हुए साधुओं ने एक रमणीय और भिक्षा तथा स्वाध्याय के लिए उपयुक्त गांव को देखा। वहां रहने की जितने काल की अनुज्ञा प्राप्त हो, उतने समय तक रहने में कोई प्रायश्चित्त नहीं है। अननुज्ञात काल में रहने पर लघुमास का प्रायश्चित्त आता है।

१५५६.तवसोसिय उव्वाया, खुल लुक्खाहारदुब्बला वा वि।
एग दुग तिन्नि दिवसे, वयंति अप्पाइया वसिउं॥

अथवा जो मुनि तपस्या से कृशकाय हैं, अत्यंत परिश्रान्त हैं, जो 'खुल' अर्थात् कर्कश क्षेत्र से आए हैं, अथवा जो रूक्षाहार करने के कारण दुर्बल हो गए हैं–ऐसे मुनि उस गांव में एक, दो, तीन दिन रहकर मनोज्ञाहार से स्वस्थ होकर वहां से विहार कर सकते हैं।

१५५७.पढमदिणे समणुण्णा, सोहीवुड्ढी अकारणे परतो।
तिन्नि व (वि) समणुन्नाया, तओ परेणं भवे सोही॥

पहले दिन वे मुनि वहां के वास्तव्य मुनियों के लिए समनोज्ञ होते हैं। दूसरे आदि दिनों में वहां निष्कारण रहने पर शोधि अर्थात् प्रायश्चित्त में वृद्धि होती है। कारण (पूर्व गाथोक्त) से तीन दिन रहने पर भी वे समनोज्ञ ही होते हैं। तीन दिनों के पश्चात् प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१५५८.सत्तरत्तं तवो होइ, तओ छेओ पहावई।
छेएणऽच्छिन्नपरियाए, तओ मूलं तओ दुगं॥

सात दिनों तक तप, उसके पश्चात् छेद, छेद के द्वारा अच्छिन्न पर्यायवाले मुनि को मूल, तदनन्तर द्विक अर्थात् अनवस्थाप्य और पारांचिक प्रायश्चित्त का विधान है।

१५५९.मासो लहुओ गुरुओ,चउरो लहुया य होंति गुरुगा य।
छम्मासा लहु गुरुगा, छेओ मूलं तह दुगं च॥

पहले दिन समनोज्ञ होते हैं दूसरे दिन वहां रहने पर लघुक मास, तीसरे दिन गुरुक, चौथे दिन चार लघु, पांचवें दिन चार गुरु, छठे दिन छह मासलघु, सातवें दिन सात मास गुरु, आठवें दिन छेद, नौवें दिन मूल, दसवें दिन अनवस्थाप्य, ग्यारहवें दिन पारांचिक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।[1]

१५६०.अणणुण्णाए निक्कारणे व गुरुमाइणं चउण्हं पि।
गुरुगा लहुगा गुरुगो, लहुओ मासो य अच्छंते॥

अननुज्ञात तीन दिन के पश्चात् तथा निष्कारण गुरु आदि

१. प्रायश्चित्त विषयक विशेषचूर्णि और बृहद्भाष्य में भिन्न मत है। (वृ. पृ. ४५८)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चार प्रकार के मुनियों के रहने पर भिन्न-भिन्न प्रायश्चित्त का विधान है। वह इस प्रकार है—आचार्य को चार गुरुमास, वृषभ को चार लघुमास, अभिषेक को एक गुरुमास तथा भिक्षु को एक लघुमास।

१५६१.नेहामु त्ति य दोसा, जे पुव्वं वण्णिया कइयमादी।
ते चेव अणट्ठाए, अच्छंते कारणे जयणा॥

'हम नहीं आयेंगे'—इस प्रकार कहने वाले मुनियों के जो पूर्वोक्त अर्थात् क्रयित आदि-वसति को किराए पर दे देना, विक्रयिक द्रव्यों से वसति को भर देना—दोष होते हैं। प्रयोजन के बिना ऐसा कहने पर ये, उस ग्राम में रहने पर प्राप्त होते हैं। कारण से वहां रहना पड़े तो यतनापूर्वक एक, दो, तीन दिन रहकर अपने गन्तव्य की ओर प्रस्थान कर देना चाहिए।

१५६२.भत्तट्ठिया व खमगा, पुव्विं पविसंतु ताव गीयत्था।
परिपुच्छिय निद्दोसे, पविसंति गुरू गुणसमिद्धा॥

यदि क्षपक मुनि भक्तार्थी होकर उस गांव में प्रवेश करना चाहते हैं तो वहां पहले गीतार्थ मुनि प्रवेश करें। वे शय्यातर को पूछकर निर्दोष उपाश्रय का निश्चय कर लें, तदनन्तर गुणसमृद्ध गुरु प्रवेश करें।

१५६३.बाहिरगामे वुच्छा, उज्जाणे ठाण वसहिपडिलेहा।
इहरा उ गहियभंडा, वसहीवाघाय उड्डाहो॥

रात्री में गांव के बाहर रहकर, प्रातःकाल गांव के उद्यान में ठहरें। फिर मुनियों को वसति को प्रत्युपेक्षा करने के लिए गांव में भेजें। यदि वसति की प्रत्युपेक्षा किए बिना जाते हैं और यदि वह वसति किसी को किराए पर दे दी गई हो तो मुनि अपने वस्त्र-पात्रों को लिए-लिए वसति की गवेषणा में घूमते हैं तो लोगों में उड्डाह होता है।

१५६४.तम्हा पडिलेहिय साहियम्मि पुव्वगत असति सारविए।
फड्डगफड्ड पवेसो, कहणा न य उड्ढऽणायरिए॥

इसलिए वसति की प्रत्युपेक्षा कर शय्यातर को कहे—आचार्य आ गए हैं। यह कहकर यदि वसति पहले समागत क्षेत्र प्रत्युपेक्षकों द्वारा प्रमार्जित हो तो उचित है। अन्यथा स्वयं उसका सम्मार्जन करे। एक धर्मकथिक मुनि को वसति में छोड़कर शेष मुनि आचार्य को निवेदन करे। आचार्य वहां कुछ साधुओं के साथ आएं। शेष साधु पृथक्-पृथक् रूप से वहां प्रवेश करे। वह धर्मकथिक मुनि आचार्य के आने पर उठे, शेष मुनियों के आने पर न उठे, क्योंकि धर्मकथा में व्याघात होता है।

१५६५.मइल कुचेले अब्भंगियल्लए साण खुज्ज वडभे या।
एयाइं अप्पसत्थाइं होंति गामं अइंताणं॥

शरीर और वस्त्रों से मलिन, जीर्ण परिधान वाला व्यक्ति, तैल आदि से अभ्यंगित शरीर वाला, कुत्ते का वाम पार्श्व से दक्षिण पार्श्व में जाना, कुब्ज और वामन व्यक्ति का सामने मिलना—ये क्षेत्र में प्रवेश होने वाले व्यक्ति के लिए अप्रशस्त होते हैं, अपशकुन होते हैं।

१५६६.रत्तपड चरग तावस,रोगिय विगला य आउरा वेज्जा।
कासायवत्थ उद्धूलिया य कज्जं न साहिंति॥

रक्तपट (बौद्ध भिक्षु), चरक, तापस, रोगी, विकल (शरीर के अंगों से रहित), आतुर—विविध दुःखों से व्याकुल, वैद्य, काषायवस्त्रवाले, उद्धूलित (भस्मलिप्त शरीर वाले)—क्षेत्र में प्रवेश होते समय ये मिलते हैं तो यात्रा सफल नहीं होती। प्रस्तुत दो श्लोकों में अपशकुन बताए गए हैं।

१५६७.नंदीतूरं पुण्णस्स दंसणं संख-पडहसद्दो य।
भिंगार-छत्त-चामर-वाहण-जाणा पसत्थाइं॥
१५६८.समणं संजयं दंतं, सुमणं मोयगा दधिं।
भीणं घंटं पडागं च, सिद्धमत्थं वियागरे॥

(प्रस्तुत दो श्लोकों में शुभशकुन बताए गए हैं।) नंदीतूर्य—बारह प्रकार के तूर वाद्यों का एक साथ बजना, पूर्णकलश का दर्शन, शंख और पटह का शब्द सुनाई देना, भृंगार—झारी, छत्र, चामर, वाहन—हाथी, घोड़े आदि तथा यान—शिबिका आदि—ये सारे प्रशस्त होते हैं।

श्रमण, संयत, दांत, पुष्प, मोदक, दही, मत्स्य, घंटा, पताका देखकर या सुनकर जानना चाहिए या कहना चाहिए कि प्रवेश का प्रयोजन सिद्ध होगा।

१५६९.पविसंते आयरिए, सागरिओ होइ पुव्व दट्ठव्वो।
अदट्ठूण पविट्ठो, आवज्जइ मासियं लहुयं॥

वसति में प्रवेश करने से पूर्व आचार्य को चाहिए कि वे शय्यातर को देख लें। सागारिक को देखे बिना प्रवेश करने पर आचार्य को लघुमास का प्रायश्चित्त आता है।

१५७०.आयरियअणुट्ठाणे, ओभावण बाहिरा अदक्खिन्ना।
कहणं तु वंदणिज्जा, अणालवंते वि आलावो॥

आचार्य के आने पर यदि धर्मकथी मुनि नहीं उठता है तो आचार्य की लघुता होती है। शिष्यों के प्रति लोग कहते हैं—ये लोक व्यवहार से बाह्य हैं, गुरु के प्रति इनकी अनुकूलता नहीं है। धर्मकथी मुनि शय्यातर को यह कहे कि गुरु को वंदना करो। तदनन्तर गुरु शय्यातर के न बोलने पर भी उससे आलाप करे। यदि आलाप नहीं करते हैं तो ये दोष होते हैं—

१५७१.थद्धा निरोवयारा, अग्गहणं लोकजत्त वोच्छेदो।
तम्हा खलु आलवणं, सयमेव य तत्थ धम्मकहा॥

शय्यातर सोचता है—ये आचार्य आत्माभिमानी हैं,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निरुपकार–कृतघ्न हैं, अग्रहण–मेरे प्रति इनके मन में कोई आदरभाव नहीं है, लोकयात्रा–लोक व्यवहार को भी ये नहीं जानते। शय्यातर रुष्ट होकर अन्यान्य द्रव्यों का व्यवच्छेद कर देता है। इसलिए आचार्य को चाहिए कि वे शय्यातर से आलाप करें और स्वयं ही धर्मकथा करे।

१५७२.वसहिफलं धम्मकहा, कहणमलद्धीओ सीस वावारे।
पच्छा अइंति वसहिं, तत्थ य भुज्जो इमा मेरा॥

धर्मकथा करते हुए आचार्य वसति के फल का निरूपण करते हैं। यदि धर्मकथालब्धि से संपन्न न हों तो वे धर्मकथा-लब्धिसंपन्न शिष्य को इस कार्य में व्यापृत करते हैं। तदनंतर वसति में प्रवेश करते हैं। वहां पुनः यह मर्यादा–सामाचारी है।

१५७३.मज्जाया-ठवणाणं, पवत्तगा तत्थ होंति आयरिया।
जो उ अमज्जाइल्लो, आवज्जइ मासियं लहुयं॥

मर्यादा अर्थात् सामाचारी और दान आदि कुलों की स्थापना के प्रवर्तक आचार्य होते हैं। जो इन मर्यादाओं का पालन नहीं करता उसे लघुमासिक का प्रायश्चित्त आता है।

१५७४.पडिलेहण संथारग, आयरिए तिन्नि सेस एक्केक्कं।
विंटियउक्खेवणया, पविसइ ताहे य धम्मकही॥
१५७५.उच्चारे पासवणे, लाउअनिल्लेवणे अ अच्छणए।
करणं तु अणुन्नाए, अणणुन्नाए भवे लहुओ॥

संस्तारकभूमी की प्रत्युपेक्षा करते हैं। आचार्य के तीन संस्तारकभूमियां होती हैं–निवात, प्रवात, निवात-प्रवात। शेष साधुओं के एक-एक संस्तारकभूमी होती है। तब सभी मुनि अपनी-अपनी संस्तारकभूमी में अपनी-अपनी विंटिका का उत्क्षेपण करते हैं। जब धर्मकथी मुनि प्रतिश्रय के भीतर प्रवेश करता है तब क्षेत्रप्रत्युपेक्षक शय्यातर द्वारा अनुज्ञात उच्चार, प्रस्रवण, अलाबू के कल्प करने योग्य, निर्लेपन–पुनप्रक्षालन योग्य, स्वाध्याय करने वालों के बैठने योग्य–इन सभी भूमियों को दिखाता है और कहता है–इन-इन भूमियों में तद्-तद् कार्य करने हैं। अननुज्ञात भूमी में करने पर मासलघु का प्रायश्चित्त है। यह मर्यादा–सामाचारी है।

१५७६.भत्तट्ठिया व खमगा, अमंगलं चोयणा जिणाहरणं।
जइ खमगा वंदंता, दाइंतियरे विहिं वोच्छं॥

क्षेत्र में प्रवेश करने वाले साधु भक्तार्थी अथवा क्षपक होते हैं। यदि क्षपक होते हैं तो जिज्ञासु कहता है–यह तो प्रारंभ से ही अमंगल हो गया क्योंकि उपवास आदि कर प्रवेश कर रहे हैं। आचार्य यहां जिनेश्वरदेव का उदाहरण कहते हैं। जिनदेव तपस्या में ही निष्क्रमण करते हैं। उनका अमंगल नहीं है तो यहां भी अमंगल नहीं होता। यदि क्षपक चैत्यवंदन के लिए जाते हैं तो उन्हें उसी समय स्थापनाकुल दिखा देते हैं। अब भक्तार्थियों की विधि बताऊंगा।

१५७७.सव्वे दट्ठुं उग्गाहिएण ओयरिय भय समुप्पज्जे।
तम्हेक्क दोहि तिहिं वा, उग्गाहिय चेइए वंदे॥

चैत्यवन्दन के समय सभी साधुओं को पात्र के साथ आते हुए देखकर श्रावक सोचता है–ये सभी औदरिक–पेटू हैं। उसके मन में यह भय पैदा हो जाता है कि मैं इतने साधुओं को भोजन कैसे दूंगा? इसलिए एक, दो या तीन साधु पात्रों को लेकर तथा शेष बिना पात्र साथ लिए आचार्य के साथ चैत्यवंदन के लिए जाएं।

१५७८.सद्धाभंगोऽणुग्गाहियम्मि ठवणाइया भवे दोसा।
घरचेइय आयरिए, कयवयगमणं च गहणं च॥

यदि एक भी साधु पात्र को लेकर नहीं जाता है तो भक्तपान का निमंत्रण देने वाले श्रावक की श्रद्धा टूट जाती है तथा यदि उसको यह कहा जाता है कि हम पात्र लेकर आते हैं तो स्थापना आदि दोष हो सकते हैं। पात्रोद्वाहक कुछेक साधुओं के साथ आचार्य गृहचैत्यवंदन के लिए जाए। श्रावक यदि भक्तपान के लिए निमंत्रित करे तो वहां प्रासुक भक्तपान ग्रहण करें।

१५७९.दाणे अभिगम सड्ढे, सम्मत्ते खलु तहेव मिच्छत्ते।
मामाए अचियत्ते, कुलाइं दाइंति गीयत्था॥
१५८०.दाणे अभिगम सड्ढे, सम्मत्ते खलु तहेव मिच्छत्ते।
मामाए अचियत्ते, कुलाइं ठाविंति गीयत्था॥
१५८१.दाणे अभिगम सड्ढे, सम्मत्ते खलु तहेव मिच्छत्ते।
मामाए अचियत्ते, कुलाइं अठविंति चउगुरुगा॥

गीतार्थ मुनि सभी साधुओं को दानश्राद्ध, अभिगमश्राद्ध (सम्यग्दृष्टि अणुव्रती), अविरतसम्यग्दृष्टिश्राद्ध, आभिग्रहिक मिथ्यादृष्टि, मामक तथा अचियत्त[1]–अप्रीतिकर–इनके कुलों की जानकारी देते हैं।

गीतार्थ इन सभी कुलों की स्थापना करते हैं अर्थात् इन कुलों में जाना है और इन कुलों में नहीं–ऐसी व्यवस्था करते हैं।

इन कुलों की व्यवस्थापना न करने पर चार गुरुक का प्रायश्चित्त विहित है।

१५८२.कयउस्सग्गाऽऽमंतण,अपुच्छणे अकहिएगयर दोसा।
ठवणकुलाण य ठवणं, पविसइ गीयत्थसंघाडो॥

स्थान पर आकर सभी साधु कायोत्सर्ग करे। फिर गीतार्थ मुनि सभी साधुओं को गुरुपादमूल में आने के लिए निमंत्रित करे। आचार्य क्षेत्रप्रत्युपेक्षकों को पूछे कि कौन-कौन

१. यस्त्वीर्ष्यालुतयैव साधुषु गृहं प्रविशत्सु महदप्रीतिकं स्वचेतसि करोति वाचा न किमपि ब्रूते एष देशीभाषया अचियत्तः। (वृ. पृ. ४६३)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से कुलों में प्रवेश करना है और कौन-कौन से कुलों में प्रवेश निषिद्ध है? यदि आचार्य न पूछे अथवा क्षेत्रप्रत्युपेक्षक न बताए तो आचार्य को अथवा क्षेत्रप्रत्युपेक्षकों को संयम-विराधना तथा आत्मविराधना आदि दोष प्राप्त होते हैं। फिर आचार्य प्रवेश करने योग्य स्थापनाकुलों की तथा प्रवेश न करने योग्य स्थापनाकुलों की स्पष्ट स्थापना करते हैं। फिर आचार्य कहते हैं—प्रवेष्टव्य स्थापनाकुलों में भी एक ही गीतार्थ संघाटक प्रवेश करे।

१५८३.गच्छम्मि एस कप्पो, वासावासे तहेव उडुबद्धे।
गाम-नगर-निगमेसुं, अइसेसी ठावए सड्ढी॥

वर्षावास तथा ऋतुबद्धकाल में गच्छ का यह कल्प है कि गांव, नगर और निगम में जो अतिशायी कुल हों, जैसे दानश्रद्धावाले आदि की स्थापना करे।

१५८४.किं कारणं चमढणा,दव्वक्खओ उग्गमो वि य न सुज्झे।
गच्छम्मि नियय कज्जं, आयरिय-गिलाण-पाहुणए॥

शिष्य ने पूछा—क्या कारण है कि स्थापनाकुलों में एक ही संघाटक जाए? आचार्य कहते हैं—अनेक संघाटक जाने पर 'चमढणा' अर्थात् गृहस्वामी के मन में उद्वेलन होता है। द्रव्यों—स्निग्ध-मधुर आदि द्रव्यों का क्षय होता है, उद्गम दोष की भी शुद्धि नहीं होती। गच्छ में निश्चित ही प्रायोग्य द्रव्यों का प्रयोजन होता है। क्योंकि गच्छ में आचार्य, ग्लान, प्राघूर्णक के लिए उन द्रव्यों का प्रयोजन होता है।

१५८५.पुव्विं पि वीरसुणिया, भणिया भणिया पहावए तुरियं।
सा चमढणाए सिग्गा, निच्छइ दट्ठुं पि गंतुं जे॥

एक शिकारी के पास शुनिका थी। वह शिकारी बिना शस्त्रास्त्र के शिकार करता था। इसलिए वह वीर कहलाता है। उसकी शुनिका वीरशुनिका कहलाती थी। वह वीर-शुनिका पहले श्वापद न देखने पर भी 'छीत्कृत छीत्कृत' करने पर शीघ्र ही इतस्ततः दौड़ती थी। कई बार वह निरर्थक ही उद्वेजित की गई। अतः वह श्रान्त हो गई। अब वह प्रत्यक्षतः श्वापद को देखने पर भी, 'छीत्कृत छीत्कृत' करने पर भी जाना नहीं चाहती थी।

१५८६.एवं सड्ढकुलाइं, चमढिज्जंताइं अन्नमन्नेहिं।
नेच्छंति किंचि दाउं, संतं पि तहिं गिलाणस्स॥

इसी प्रकार अन्यान्य मुनियों द्वारा श्राद्धकुलों को उद्वेजित कर दिए जाने पर वे वस्तुओं के होने पर भी कुछ भी देना नहीं चाहते। परिणामस्वरूप ग्लान मुनियों को परितापना होती है। उससे निष्पन्न प्रायश्चित्त आता है।

१५८७.अन्नो चमढण दोसो,दव्वक्खओ उग्गमो वि य न सुज्झे।
खीणे दुल्लभदव्वे, नत्थि गिलाणस्स पाउग्गं॥

'चमढण'—उद्वेजन का अन्य दोष यह है। अन्यान्य मुनियों द्वारा ले लिए जाने पर द्रव्य की क्षीणता हो जाती है और उद्गम (वस्तुओं को निष्पन्न करना) भी शुद्ध नहीं होता। दुर्लभद्रव्य के क्षीण हो जाने पर, ग्लान के लिए आवश्यक वह प्रायोग्य द्रव्य नहीं मिलता।

१५८८.दव्वक्खएण पंतो, इत्थिं घाइज्ज कीस ते दिन्नं।
भद्दो हट्ठपहट्ठो, करेज्ज अन्नं पि साहूणं॥

एक प्रान्तव्यक्ति की भार्या श्राविका थी। उसने अनेक मुनियों को अनेक प्रकार की वस्तुएं दे दीं। द्रव्यक्षय को जानकर उस प्रान्त व्यक्ति ने पत्नी को पीटते हुए कहा—तूने उन साधुओं को सारी वस्तुएं क्यों दे दी?

इसी प्रकार एक भद्र व्यक्ति ने साधुओं को दी गई वस्तुओं को जानकर, बहुत हृष्ट-प्रहृष्ट हुआ और साधुओं के लिए अन्य अवगाहिम आदि द्रव्य भी करवाए—देने की व्यवस्था की।

१५८९.जड्डे महिसे चारी, आसे गोणे य जे य जावसिया।
एएसिं पडिवक्खे, चत्तारि उ संजया होंति॥

(प्राघूर्णक आने पर उनके स्वभावानुकूल आतिथ्य करे।) जैसे—हाथी, महिष, अश्व और बैल—ये यावसिक होते हैं। मुद्ग, माष आदि से तथा अनुकूल चारी से इनका पोषण होता है। इनके प्रतिपक्ष[1]—सदृशपक्ष वाले चार प्रकार के संयत होते हैं।

१५९०.जड्डो जं वा तं वा, सुकुमालं महिसओ महुरमासो।
गोणो सुगंधिदव्वं, इच्छइ एमेव साहू वि॥

हाथी 'यह वह'—सब कुछ खा लेता है। महिष सुकुमाल द्रव्य खाता है। अश्व मधुर द्रव्य और बैल सुगंधित द्रव्य खाने की इच्छा करता है। इसी प्रकार साधु भी चार प्रकार के आहार की आकांक्षा करते हैं—(एक कहता है—ठंडा या गरम, जैसा भी मिले वैसा आहार ले आना। मुझे पेट भरना है। दूसरा कहता है—स्नेहरहित पूपलिका, जो सुकुमाल हो, वह ले आना। तीसरा कहता है—मधुर आहार ले आना। चौथा कहता है—अन्न-पान जो निष्प्रतिगंध वाला हो, वह ले आना। प्राघूर्णक साधुओं के लिए इस प्रकार का आहार स्थापना-कुलों में ही प्राप्त हो सकता है, अन्यत्र नहीं।)

१५९१.एवं च पुणो ठविए, अप्पविसंते इमे भवे दोसा।
वीसरण संजयाणं, विसुक्कगोणीइ आरामे॥

इस प्रकार 'चमढणा' के दोष कहे गए हैं। यदि स्थापना-कुलों सर्वथा स्थापित हो जाते हैं, और साधु उनमें नहीं जाते

१. प्रतिरूपः पक्षः प्रतिपक्षः—सदृशपक्षः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं तो ये दोष होते हैं—संयतों का विस्मरण हो जाता है तथा भिक्षा दातव्य है—इस नियम का अभाव होने के कारण श्रावक भिक्षा देना भूल जाते हैं। यहां दो दृष्टांत हैं—विशुष्क गाय[1] तथा आराम।[2]

१५९२.अलसं घसिरं सुविरं,खमगं कोह-माण-माय-लोहिल्लं।
कोऊहल पडिबद्धं, वेयावच्चं न कारिज्जा॥

स्थापनाकुलों में प्रवेश करने वाले मुनि आलसी, बहुभक्षी, निद्रालु, क्षपक, क्रोधी, अहंकारी, मायी, लोभी, कुतूहली, प्रतिबद्ध—सूत्रार्थग्रहण करने में आसक्त, हों तो आचार्य इनको उन कुलों में न भेजें, इनसे वैयावृत्ति न कराए।

१५९३.तिसु लहुओ तिसु लहुया,
गुरुओ गुरुया य लहुग लहुगो य।
पेसग-करिंतगाणं,
आणाइ विराहणा चेव॥

उपरोक्त दोषों से युक्त व्यक्ति को जो आचार्य अपनी वैयावृत्ति में व्यापृत करता है अथवा जो इन दोषों से युक्त हो वह वैयावृत्ति करता है तो प्रेषक और कारक दोनों को प्रायश्चित्त आता है। तीन अर्थात् आलसी, बहुभक्षी और निद्रालु—लघुमास, तीन— क्षपक, क्रोधी और मानी—गुरुमास, मायावी—गुरुमास, लोभी—चार गुरुमास, कुतूहली—चारलघु, सूत्रार्थप्रतिबद्ध— लघुमास तथा आज्ञाभंग और संयम तथा आत्मविराधना— दोनों होती हैं।

१५९४.ता अच्छइ जा फिडिओ,
सइकालो अलस-सोविरे दोसा।
गुरुमाई तेण विणा,
विराहणुस्सक्क-ठवणादी॥

आलसी और निद्रालु को इस कार्य में नियोजित करने पर भिक्षा का उपयुक्त काल अतिक्रांत हो जाता है और तब वे भिक्षा के अतिक्रांत काल में भिक्षा के लिए घूमते हैं और जो कुछ प्राप्त होता है वह ले आते हैं। प्रायोग्य द्रव्य नहीं मिलता। उसके बिना गुरु आदि (बाल, वृद्ध, ग्लान आदि) की विराधना होती है। श्रावक प्रायोग्य का उत्ष्वष्कण कर देते हैं। तथा उपस्कृत अन्न-पान की स्थापना करने पर स्थापनादोष होता है।

१५९५.अप्पत्ते वि अलंभो, हाणी ओसक्कणा य अइभद्दे।
अणहिंडंतो य चिरं, न लहइ जं किंचि वाऽऽणेइ॥

भिक्षा के लिए अप्राप्त काल में घूमने पर कुछ भी प्राप्त नहीं होता। तब आचार्य आदि की हानि होती है, उन्हें भूखा रहना पड़ता है। अतिभद्रक गृहपति अवष्वष्कण—विवक्षित काल से पहले ही भक्त का निष्पादन कर देता है। अथवा वह मुनि भिक्षा के लिए बहुत समय तक नहीं घूमता। इसलिए उसे कुछ नहीं मिलता। तब वह यत्किंचित् लेकर आ जाता है। उसे खाने पर गुरु आदि के ग्लानत्व हो जाता है।

१५९६.गिण्हामि अप्पणो ता, पज्जत्तं तो गुरूण घिच्छामि।
घेत्तुं च तेसि घिच्छं, सीयल-ओसक्क-ओमाई॥

बहुभक्षी मुनि को भिक्षा के लिए स्थापनाकुलों में व्यापृत करने पर वह सोचता है—मैं अपने लिए पर्याप्त भोजन ग्रहण कर लूं, तदनन्तर गुरु के लिए ले लूंगा। अथवा गुरु के योग्य भिक्षा ग्रहण कर फिर मैं मेरे लिए भोजन ग्रहण करूंगा। यह सोचकर यदि वह पहले गुरु के लिए सामग्री लेता है फिर अपने लिए तो गुरु का प्रायोग्य आहार शीतल हो जाता है। अथवा स्थापनाकुलों में भिक्षाटनवेला से पूर्व प्रवेश करने पर 'अवष्वष्कण' आदि दोष होते हैं। यदि वेलातिक्रम के भय से पहले जाता है तो अवम—न्यूनता होती है, उदरपूर्ति नहीं होती।

१५९७.परितावेज्जइ खमओ,अह गिण्हइ अप्पणो इयरहाणी।
अविदिन्ने कोहिल्लो, रूसइ किं वा तुमं देसि॥

क्षपक यदि भिक्षाटन करता हुआ गुरु के प्रायोग्य भिक्षा ग्रहण करता है तो स्वयं परितप्त होता है और यदि स्वयं के लिए ग्रहण करता है तो इतर अर्थात् आचार्य आदि के हानि—परितापना होती है। क्रोधी भिक्षाटन करता है तो भिक्षा न देने पर वह गृहपति पर रुष्ट हो जाता है और कहता है—तुम क्या-कितना दोगे?

१५९८.ऊणाणुट्ठमदिन्ने, थद्धो न य गच्छए पुणो जं च।
माई भद्दगभोई, पंतेण व अप्पणो छाए॥

अभिमानी मुनि यदि भिक्षा के लिए जाता है, वह गृहिणी द्वारा कम दिए जाने पर, अभ्युत्थान आदि न करने पर अथवा कुछ भी न देने पर वह पुनः उस घर में नहीं जाता। उस घर में प्रवेश के बिना प्रायोग्य द्रव्य नहीं मिलते। इससे परितापना होती है। मायावी मुनि भद्रक-भद्रक द्रव्य स्वयं खाकर, अन्त-प्रान्त लेकर आता है। अथवा वह प्रान्त आहार से अपने योग्य भद्रक आहार को आच्छादित कर लाता है।

१५९९.ओभासइ खीराई, दिज्जंते वा न वारई लुद्धो।
जेऽणेगविसणदोसा, एगस्स वि ते उ लुद्धस्स॥

लोलुप मुनि यदि भिक्षाटन करता है तो वह दूध आदि मांग कर लेता है अथवा गृहस्थ द्वारा दिए जाने वाले स्निग्ध आदि पदार्थों की वह वर्जना नहीं करता। अनेक संघाटक यदि स्थापनाकुलों में प्रवेश करते हैं तो जो चमढ़ण आदि अनेक

१-२. दृष्टान्त के लिए देखें कथा परिशिष्ट, नं. ६२,६३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दोष पहले वर्णित किए हैं वे सारे दोष अकेले लोलुप व्यक्ति के भिक्षाटन करने पर होते हैं।

१६००.नडमाई पिच्छंतो, ता अच्छइ जाव फिट्टई वेला।
सुत्तत्थे पडिबद्धो, ओसक्क-ऽहिसक्कमाईया॥

भिक्षा के लिए प्रस्थित कुतूहली मुनि मार्गगत नट आदि के करतबों को देखता हुआ तब तक वहां रहता है कि भिक्षावेला अतिक्रांत हो जाती है। सूत्रार्थप्रतिबद्ध मुनि को यदि भिक्षाटन के लिए भेजा जाता है तो वह भिक्षा की अवेला या अतिक्रांत वेला में जाता है। ऐसी स्थिति में अवष्वष्कण–काल मर्यादा से पहले करना तथा अभिष्वष्कण–विवक्षित काल का संवर्धन करना आदि दोष होते हैं।

१६०१.एयद्दोसविमुक्कं, कडजोगिं नायसीलमायारं।
गुरुभत्तिमं विणीयं, वेयावच्चं तु कारिज्जा॥

इसलिए उपरोक्त दोषों से विमुक्त मुनि को भिक्षाटन में व्यापृत करना चाहिए। जो कृतयोगी है, जिसका शील और आचार ज्ञात है, जो गुरु के प्रति भक्तिमान् है, जो विनीत है–ऐसे शिष्य से यह वैयावृत्त्य–भिक्षाटन आदि कराना चाहिए।

१६०२.साहंति य पियधम्मा, एसणदोसे अभिग्गहविसेसे।
एवं तु विहिग्गहणे, दव्वं वड्ढंति गीयत्था॥

प्रियधर्मा गीतार्थ मुनि म्रक्षित-निक्षिप्त आदि एषणा दोषों तथा जिनकल्प-स्थविरकल्प संबंधी अभिग्रहों की जानकारी देते हैं। इस विधि से स्थापनाकुलों में भिक्षा ग्रहण करते हुए वे मुनि श्रद्धा को वृद्धिंगत करते हैं तथा द्रव्यों की भी वृद्धि करते हैं।

१६०३.एसणदोसे व कए, अकए वा जइगुणे विकत्थिंता।
कहयंति असढभावा, एसणदोसे गुणे चेव॥

एषणा दोष कृत है अथवा अकृत इस स्थिति में भी वे मुनि यतिगुणों की प्रशंसा करते हैं, अशठभाव से एषणादोषों को बताते हैं तथा साधुओं को प्रासुक भक्तपान देने से होने वाले गुणों का वर्णन करते हैं।

१६०४.बालाई परिचत्ता, अकहिंतेऽणेसणाइगहणं वा।
न य कहपबंधदोसा, अह य गुणा साहिया होंति॥

यदि गीतार्थ मुनि अभिग्रहविशेष की बात गृहस्थों को नहीं बताएंगे तो संभव है वे स्निग्ध-मधुर आहार देना ही बंद कर देंगे। इससे बालमुनि, ग्लान, वृद्ध आदि को वे प्रायोग्य पदार्थ नहीं मिलेंगे। यदि वे मुनि एषणादोष की अवगति नहीं देंगे तो अनेषणीय आदि का ग्रहण होते रहेंगे। इसमें कथाप्रबंधन आदि दोष नहीं होते। प्रत्युत इस प्रकार कहने वाले गीतार्थ मुनियों के गुण से (बाल-वृद्ध के उपष्टंभ, गुरुभक्ति आदि) साधित होते हैं।

१६०५.ठाणं गमणाऽऽगमणं, वावारं पिंडसोहिमुल्लोगं।
जाणंताण वि तुज्झं, बहुवक्खेवाण कहयामो॥

स्थान तीन प्रकार के होते हैं–आत्मोपघातवर्जित, प्रवचनोपघातवर्जित तथा संयमोपघातवर्जित। गीतार्थ भिक्षु यह बताना चाहते हैं कि भिक्षा दायक गृहस्थ तथा ग्राहक मुनि ऐसे स्थान पर स्थित होकर भिक्षा दे-ले। दायक भिक्षा लाने तथा भीतर गमन करते समय अथवा आगमन के समय उपयुक्त होकर गमनागमन करे। व्यापार अर्थात् कर्त्तन-कंडन-पेषण आदि की सम्यग् जानकारी देनी चाहिए। वे मुनि गृहपति को उपरोक्त तथ्यों के साथ-साथ पिंडशुद्धि के लेशोद्देश–पिंडशुद्धि के उल्लोक–नियम-उपनियम भी बताए तथा उनसे कहे–तुम इस साधुधर्म को जानते ही हो, फिर भी तुम्हारे जीवन में बहुत विक्षेप आते हैं, इसलिए यह साधुधर्म विस्मृत हो सकता है, इसलिए हम तुम को पुनः स्मृति कराते हैं।

१६०६.केसिंचि अभिग्गहिया,अणभिग्गहिएसणा उ केसिंचि।
मा हु अवण्णं काहिह, सव्वे वि हु ते जिणाणाए॥

पुनः उनसे कहे–कुछ मुनि अभिग्रहधारी होते हैं, जैसे जिनकल्पी मुनि और कुछ मुनि अभिग्रहरहित होते हैं, जैसे स्थविरकल्पी मुनि। उन दोनों की भक्तपान ग्रहण-विधि भिन्न-भिन्न होती है। उसे देखकर तुम अवज्ञा मत करना। वे सभी जिनाज्ञा में हैं।

१६०७.संविग्गभावियाणं, लुद्धगदिट्ठंतभावियाणं च।
मुत्तूण खेत्त-काले, भावं च कहिंति सुद्धुंछं॥

श्रावकों के समक्ष इन दो के एषणा दोषों का कथन करना चाहिए–संविग्नभावितों के तथा लुब्धकदृष्टांत[1] भावितों के। इन दोनों प्रकार के श्रावकों के समक्ष शुद्धउंछ का कथन करते हैं। तथा क्षेत्र-काल और भाव के प्रसंग में वे उन्हें अपवादपद की भी जानकारी देते हैं।

१६०८.संथरणम्मि असुद्धं, दोण्ह वि गिण्हंत-दिंतयाणऽहियं।
आउरदिट्ठंतेणं, तं चेव हियं असंथरणे॥

यदि प्रासुक-एषणीय आहार से संस्तरण हो सकता हो तो अशुद्ध देने वाले और लेने वाले दोनों के अहित–अपथ्य होता है। असंस्तरण की स्थिति में वही अशुद्ध अशन-पान

---

१. पार्श्वस्थ श्रावकों को वे इस प्रकार कहते हैं–किसी हरिण के पीछे एक लुब्धक दौड़ता है, उसका पलायन श्रेयस्कर है। लुब्धक का भी हरिण के पीछे दौड़ना श्रेय है। इसी प्रकार अनेषणीय ग्रहण करने से साधु को पलायन करना उचित है। श्रावक को भी एषणीय-अनेषणीय का (अपवाद में) दान देना युक्त है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हितकारी हो जाता है। यहां आतुर—रोगी का दृष्टांत है। (रोगी के किसी अवस्था में अन्न-औषधि आदि अपथ्य हो जाती है और कभी वही पथ्य बन जाती है।)

१६०९.संचइयमसंचइयं, नाऊण असंचयं तु गिण्हंति।
संचइयं पुण कज्जे, निब्बंधे चेव संतरियं॥

प्रायोग्य द्रव्य दो प्रकार के होते हैं—संचयिक और असंचयिक। संचयिक अर्थात् घृत, गुड़, मोदक आदि, तथा असंचयिक अर्थात् दूध, दही, शालि आदि। असंचयिक द्रव्य स्थापनाकुलों में प्रचुरमात्रा में हैं—यह जानकर वे उसे ग्रहण करते हैं तथा संचयिक द्रव्य प्रयोजन उत्पन्न होने पर ही ग्रहण करते हैं। श्रावकों का अति आग्रह होने पर ग्लान आदि के प्रयोजन के बिना भी सामान्य मुनि भी उसे लेते हैं, परंतु सान्तरित-एकांतरित उसे ग्रहण करते हैं।

१६१०.अहवण सद्धा-विभवे, कालं भावं च बाल-वुड्ढाई।
नाउ निरंतरगहणं, अछिन्नभावे य ठायंति॥

'अहवण'—यह प्रकारान्तर द्योतक अव्यय है। प्रकारान्तर से कहा गया है—श्रावक की श्रद्धा, वैभव, काल और भाव को जानकर बाल-वृद्ध आदि मुनि परितृप्त हों—ऐसा सोचकर संचयिक द्रव्य भी निरंतर ग्रहण किया जा सकता है। वे प्रतिदिन उसे तब ले सकते हैं जब तक दायक का दानभाव अच्छिन्न रहता है। अवसर देखकर वे मुनि दानभाव को अच्छिन्न स्थिति में ही दीयमान संचयिक द्रव्य लेने का प्रतिषेध कर देते हैं।

१६११.दव्वप्पमाण गणणा, खारिय फोडिय तहेव अद्धा य।
संविग्ग एगठाणे, अणेगसाहूसु पन्नरस॥

स्थापनाकुलों में भिक्षा-ग्रहण की सामाचारी—

स्थापनाकुलों के प्रत्येक गृह में पकने वाले द्रव्यों का प्रमाण, घृत आदि के पलों की गणना, क्षारित अर्थात् यहां व्यंजन कितनी मात्रा में होता है, स्फोटित—मिर्च, जीरक आदि 'कटुभांड' से संस्कृत द्रव्य कितने प्रमाण में होते हैं तथा अद्धा अर्थात् किस प्रहर में यहां भिक्षावेला होती है—यह सारा जानकर संविग्नमुनि का एक संघाटक उस घर में भिक्षा के लिए प्रवेश करे। अनेक साधुओं का वहां प्रवेश करने पर पन्द्रह दोष होते हैं। (आधाकर्म से अनिसृष्ट तक उदगम दोष होते हैं।)

१६१२.असणाइदव्वमाणे, दसपरिमिय एगभत्तमुव्वरइ।
सो एगदिणं कप्पइ, निच्चं तु अज्झोयरो इहरा॥

अशन आदि का द्रव्य प्रमाण जानना चाहिए। जहां दस व्यक्तियों के लिए भोजन उपस्कृत होता है वहां एक व्यक्ति के लिए भोजन शेष रह सकता है। वह एक दिन कल्प सकता है। यदि दूसरे दिन आदि उसे ग्रहण करते हैं तो श्रावक उसे नित्यभक्त मानते हैं, अतः उसके निमित्त अध्यवपूरक करते हैं।

१६१३.अपरिमिए आरेण वि, दसण्हमुव्वरइ एगभत्तट्ठो।
वंजण-समिइम-पिट्ठे-वेसणमाईसु य तहेव॥

जहां अपरिमित भोजन बनता है, वहां दस आदि मनुष्यों अथवा नौ-आठ आदि मनुष्यों के लिए बने भोजन में भी एक मनुष्य के योग्य भक्त बच जाता है। वह प्रतिदिन लेना कल्पता है। तथा व्यंजन, समितिमा—कणिका से निष्पन्न मंडक, पूपलिका आदि, पिष्ट—सत्तू आदि, वेसण—मिर्च, मसाले आदि—इनका परिमाण भी अशन जैसा ही समझना चाहिए।

१६१४.सतिकालद्धं नाउं, कुले कुले ताहि तत्थ पविसंति।
ओसक्कणाइदोसा, अलंभे बालाइहाणी वा॥

जिस देश-काल में भिक्षा का जो समय है, उसे जानकर उस देश-काल में कुलों में भिक्षा के लिए प्रवेश करते हैं। अतिक्रांतकाल अथवा अकाल में प्रवेश करने पर प्रायोग्य द्रव्य नहीं मिलता और उससे वृद्ध, बाल आदि मुनियों के हानि होती है, परिताप होता है।

१६१५. एगो व होज्ज गच्छो,दोन्नि व तिन्नि व ठवणा असंविग्गे।
सोही गिलाणमाई, असई य दवाइ एमेव॥

यह एक गच्छ को लक्ष्य कर विधि बतलाई गई है। जहां दो-तीन आदि गच्छ हों, जहां संविग्न मुनि जिन कुलों में प्रवेश करते हों, वहां अन्य मुनि न जाएं। यदि जाते हैं तो प्रायश्चित्त के भागी होते हैं। यदि वे ग्लान आदि के लिए जाते हैं और शुद्ध भक्तपान ग्रहण करते हैं तो कोई दोष नहीं। अन्यत्र द्रव पदार्थ न मिलने पर, वह द्रव पदार्थ असंविग्न-भावित कुलों से उसे प्राप्त किया जा सकता है।

१६१६.संविग्गमणुन्नाए, अइंति अहवा कुले विरिंचंति।
अन्नाउंछं व सहू, एमेव य संजईवग्गे॥

वहां वास्तव्य संविग्न मुनियों द्वारा अनुज्ञात होने पर वे आगंतुक संविग्न मुनि उन स्थापनाकुलों में जा सकते हैं। अथवा स्थापनाकुलों का विभाग कर देते हैं। यदि आगंतुक मुनि समर्थ होते हैं तो वे अज्ञात उंछ की गवेषणा करते हैं। संयतिवर्ग में भी यही विधि है।

१६१७.एवं तु अन्नसंभोइआण संभोइआण ते चेव।
जाणित्ता निब्बंधं, वत्थव्वेणं स उ पमाणं॥

यह विधि अन्य सांभोगिक मुनियों की बताई गई है। जो सांभोगिक हैं, उनके आने पर वास्तव्य सांभोगिक मुनि भक्त-पान लाकर देते हैं। अथवा श्रावकों का अति आग्रह जानकर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वास्तव्य संघाटक उस आगंतुक संघाटक को लेकर उन कुलों में जाए। वास्तव्य संघाटक ही उसका प्रमाण होता है।

१६१८.असइ वसहीए वीसुं, रायणिए वसहि भोयणाऽऽगम्म।
असहू अपरिणया वा, ताहे वीसुंऽसहू वियरे॥

विस्तीर्ण वसति के अभाव में, अन्य पृथक् वसति में स्थित मुनियों में, आगंतुक अथवा वास्तव्य मुनि रत्नाधिक हो तो उसकी वसति में अवम रात्निक उसको भोजन कराए। यदि एक या दोनों गच्छों में साधु असहिष्णु अथवा अपरिणत हों तो दोनों गच्छों के आचार्यों को पृथक् वसति में भोजन कराए। (यह दो गच्छों की विधि बतलाई गई है।)

१६१९.तिण्हं एक्केण समं, भत्तट्ठं अप्पणो अवट्ठं तु।
पच्छा इयरेण समं, आगमण विरेगु सो चेव॥

एक वास्तव्य आचार्य हो। दो आगंतुक आचार्य आने पर जो रत्नाधिक हो उसके वैयावृत्तकर साधु के साथ वास्तव्य आचार्य का वैयावृत्तकर साधु जाए और आगंतुक के लिए श्राद्धकुलों से पूरा आहार और स्वयं के लिए आधा आहार लाए। तदनन्तर दूसरे आगंतुक आचार्य के वैयावृत्तकर साधु को लेकर जाए और पूर्ववत् मात्रा में ग्रहण करे। यदि तीन-चार-पांच आदि आचार्यों का आगमन हो तो इसी प्रकार विभाग करे।

१६२०.अतरंतस्स उ जोगासईए इयरेहिं भाविए विसिउं।
अन्नमहाणसुवक्खड, जं वा सन्नी सयं भुंजे॥

ग्लान मुनि के लिए प्रायोग्य द्रव्य की अप्राप्ति होने पर इतर अर्थात् असंविग्नभावित कुलों में प्रवेश कर उस महानस में जाए जहां अध्यवपूरक आदि दोष रहित भोजन पक रहा हो अथवा 'सन्नी' अर्थात् श्रावक गृहपति स्वयं वहां भोजन करता हो, वहां से ग्लान प्रायोग्य आहार ग्रहण करे।

१६२१.असतीए व दवस्स व,परिसित्तिय-कंजि-गुलदवाईणि।
अत्तट्ठियाइं गिण्हइ, सव्वालंभे विमिस्साइं॥

यदि ग्लान के प्रायोग्य द्रव–पानक की प्राप्ति न हो तो परिषिक्तपानक (गर्म पानी से दही के बर्त्तन आदि धोना), कांजी, गुड़ के बर्तन का पानक, इमली का पानक, जो गृहस्थ ने स्वयं के लिए बनाए हैं, उन्हें ग्लान के प्रयोजन के लिए ग्रहण करे। यदि ग्लान और गच्छ के प्रायोग्य पानक की अप्राप्ति हो तो विमिश्र अर्थात् असंविग्न श्रावकों के लिए अचित्तीकृत पानक लिया जा सकता है।

१६२२.पाणट्ठा व पविट्ठो, विसुद्धमाहार छंदिओ गिण्हे।
अद्धाणाइ असंथरि, जइउं एमेव जदसुद्धं॥

पानक के लिए प्रविष्ट मुनि को यदि गृहपति विशुद्ध आहार ग्रहण करने के लिए निमंत्रित करे, तो मुनि वह आहार ग्रहण करे। तथा अध्वनिर्गत साधुओं के लिए अथवा अवमौदर्य–अशिव आदि में पूरा आहार प्राप्त न हो तो इसी प्रकार अर्थात् ग्लान के लिए ग्रहण करने की विधि से शुद्ध आहार की गवेषणा करे। उसकी प्राप्ति न हो तो अशुद्ध आहार भी ग्रहण कर सकता है।

१६२३. इच्छा मिच्छा तहक्कारे,आवस्सि निसीहिया य आपुच्छा।
पडिपुच्छ छंदण निमंतणा य उवसंपया चेव॥

दस प्रकार की सामाचारी यह है–इच्छाकार, मिथ्याकार, तथाकार, आवश्यिकी, नैषेधिकी, आपृच्छा, प्रतिपृच्छा, छंदना, निमंत्रणा और उपसंपदा।

१६२४.सुय संघयणुवसग्गे, आतंके वेयणा कति जणा य।
थंडिल्ल वसहि किच्चिर, उच्चारे चेव पासवणे॥
१६२५.ओवासे तणफलए, सारक्खणया य संठवणया य।
पाहुडि अग्गी दीवे, ओहाण वसे कइ जणा य॥
१६२६.भिक्खायरिया पाणग, लेवालेवे तहा अलेवे य।
आयंबिल पडिमाओ, गच्छम्मि उ मासकप्पो उ॥

ये तीनों द्वार गाथाएं हैं। इनमें स्थविरकल्पिक मुनियों की सामाचारी के २७ द्वारों का उल्लेख हैं–

१. श्रुत	१०. उच्चार	१९. अवधान
२. संहनन	११. प्रस्रवण	२०. वसति में कितने जन रहेंगे?
३. उपसर्ग	१२. अवकाश	२१. भिक्षाचर्या
४. आतंक	१३. तृणफलक	२२. पानक
५. वेदना	१४. संरक्षणता	२३. लेपालेप
६. कितने जन?	१५. संस्थापनता	२४. अलेप
७. स्थंडिल	१६. प्राभृतिका	२५. आचाम्ल
८. वसति	१७. अग्नि	२६. प्रतिमा
९. कितना काल	१८. दीप	२७. मासकल्प।

इनमें से कुछेक की विस्तृत व्याख्या गाथा १६२७ से १६३३ तक हैं। १६३२वीं गाथा की टीका में शेष द्वारों की संक्षिप्त व्याख्या भी प्राप्त है।

१६२७.ओहेण दसविहं पि य, सामायारिं न ते परिहवंति।
पवयणमाय जहन्ने, सव्वसुयं चेव उक्कोसे॥

स्थविरकल्पी मुनि सामान्यतः दसविध सामाचारी का परिहार नहीं करते। गच्छवासियों के जघन्यतः श्रुत है आठ प्रवचन माताएं और उत्कृष्ट है–सर्वश्रुतज्ञान अर्थात् चतुर्दशपूर्व।

१६२८.सव्वेसु वि संघयणेसु होंति धिइदुब्बला व बलिया वा।
आतंका उवसग्गा, भइया विसहंति व न व त्ति॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थविरकल्पी सभी छहों संहननों में होते हैं। धृति से वे दुर्बल अथवा बली—दोनों प्रकार के होते हैं। जब आतंक और उपसर्ग उत्पन्न होते हैं तब उनको सहन करने की भजना है—वे उन्हें सहन करते भी हैं और नहीं भी करते। सहन न कर सकने के कारण वे उसकी चिकित्सा करवाते हैं।

१६२९.दुविहं पि वेयणं ते, निक्कारणओ सहंति भइया वा।
अममत्त अपरिकम्मा, वसही वि पमज्जणं मोत्तुं॥

वे दोनों प्रकार की वेदनाओं—आभ्युपगमिकी और औपक्रमिकी को निष्कारण सहन करते भी हैं और नहीं भी करते। उनका वसति के प्रति ममत्व नहीं होता और न वे उसका प्रमार्जन को छोड़कर परिकर्म ही करते हैं।

१६३०.तिगमाईया गच्छा, सहस्स बत्तीसई उसभसेणे।
थंडिल्लं पि य पढमं, वयंति सेसे वि आगाढे॥

स्थविरकल्पी मुनियों के गच्छ तीन-चार आदि पुरुष-प्रमाणवाले होते हैं। यह जघन्य परिमाण है। भगवान् ऋषभदेव के प्रथम गणधर ऋषभसेन के गच्छ का उत्कृष्ट परिमाण था बत्तीस हजार मुनियों का। स्थविरकल्पी मुनि प्रथम स्थंडिल में जाते हैं। वह है—अनापात-असंलोक। आगाढ़ कारण उत्पन्न होने पर शेष स्थंडिलों में भी जाते हैं।

१६३१. किच्चिर कालं वसिहिह, न ठंति निक्कारणम्मि इइ पुट्ठा।
अन्नं वा मग्गंती, ठविंति साहारणमलंभे॥

'तुम मुनि इस वसति में कितने काल तक ठहरोगे' इस प्रकार पूछने पर मुनि उस वसति में बिना कारण न रहे, अन्य वसति की मार्गणा करे। अन्य वसति न मिलने पर साधारण वचन कहे कि व्याघात न होने पर मास पर्यन्त ठहर सकते हैं और व्याघात होने पर कम या अधिक दिन भी रह सकते हैं।

१६३२.एमेव सेसएसु वि, केवइया वसिहिह त्ति जा नेयं।
निक्कारण पडिसेहो, कारण जयणं तु कुव्वंति॥

इसी प्रकार शेष द्वारों—उच्चार-प्रस्रवण आदि में भी 'कितने दिन निवास करेंगे' इस द्वार की भांति ही समझना चाहिए। निष्कारण इनमें भी प्रतिषेध है। कारण में यतना करते हैं।[1]

१६३३.नियताऽनियता भिक्खायरिया पाणऽन्न लेवऽलेवाडं।
अंबिलमणंबिलं वा, पडिमा सव्वा वि अविरुद्धा॥

स्थविरकल्पी मुनि की भिक्षाचर्या नियत (कदाचित् आभिग्रहिकी), अनियत (कदाचित् अनाभिग्रहिकी), पान और अन्न लेपकृत अथवा अलेपकृत, आचाम्ल अथवा अनाचाम्ल तथा सभी प्रतिमाएं अविरुद्ध हैं।

१६३४.खित्ते काल चरित्ते, तित्थे परियाय आगमे वेए।
कप्पे लिंगे लेसा, झाणे गणणा अभिगहा य॥

१६३५.पव्वावण मुंडावण, मणसाऽऽवन्ने उ नत्थि पच्छित्तं।
कारण पडिकम्मम्मि उ, भत्तं पंथो य भयणाए॥

स्थितिद्वार के द्वार हैं—

क्षेत्र, काल, चारित्र, तीर्थ, पर्याय, आगम, वेद, कल्प, लिंग, लेश्या, ध्यान और गणना—इनकी स्थिति कहनी चाहिए। अभिग्रह, प्रव्राजना, मुंडापना, मन से होने वाले पाप का प्रायश्चित्त नहीं है, कारण तथा प्रतिकर्म में स्थिति, भक्त-पान और पथ में भजना है। (इन सबका विवरण आगे है)

१६३६.पन्नरसकम्मभूमिसु, खेत्तऽद्धोसप्पिणीइ तिसु होज्जा।
तिसु दोसु य उस्सप्पे, चउरो पलिभाग साहरणे॥

क्षेत्र के संबंध में स्थविरकल्पी मुनि जन्म और सद्भाव से पन्द्रह कर्मभूमियों में होते हैं। काल की अपेक्षा से वे अवसर्पिणी कालचक्र में जन्म और सद्भाव से तीसरे, चौथे और पांचवें—इन तीन अरकों में होते हैं और उत्सर्पिणी में जन्म से वे तीन अरकों—दूसरे, तीसरे और चौथे में तथा सद्भाव से तीसरे और चौथे—इन दो अरकों में होते हैं। नो अवसर्पिणी और नो उत्सर्पिणी काल में जन्म और सद्भाव से दुःषमसुषमा प्रतिभाग में होते हैं और संहरण की अपेक्षा चारों प्रतिभागों में होते हैं। वे चार हैं—सुषमसुषमाप्रतिभाग, सुषमप्रतिभाग, सुषमदुःषमाप्रतिभाग और दुःषमसुषमा-प्रतिभाग।

१६३७.पढम-बिइएसु पडिवज्जमाण इयरे उ सव्वचरणेसु।
नियमा तित्थे जम्मऽट्ठ जहन्ने कोडि उक्कोसे॥

१६३८.पव्वज्जाए मुहुत्तो, जहन्नमुक्कोसिया उ देसूणा॥
आगमकरणे भइया, ठियकप्पे अट्ठिए वा वि॥

प्रतिपद्यमान की अपेक्षा से वे प्रथम चारित्र सामायिक में अथवा दूसरे चारित्र छेदोपस्थानीय चारित्र में होते हैं। इतर अर्थात् पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा से वे सभी चारित्रों में होते हैं। नियमतः ये तीर्थ में होते हैं। उनका गृहीपर्याय जन्म से आठ वर्ष और उत्कृष्ट पूर्वकोटि। प्रव्रज्यापर्याय जघन्यतः अंतर्मुहूर्त्त तथा उत्कृष्टतः देशोनपूर्वकोटी। आगम अर्थात् अपूर्व-श्रुताध्ययन के विषय में विकल्प है—वे करते भी हैं और नहीं भी करते। वे स्थितकल्प अथवा अस्थितकल्प में होते हैं। (प्रतिपत्तिकाल की अपेक्षा तीन वेद और प्रतिपन्नक की अपेक्षा से अवेद भी।)

१६३९.भइया उ दव्वलिंगे, पडिवत्ती सुद्धलेस-धम्मेहिं।
पुव्वपडिवन्नगा पुण, लेसा झाणे अ अन्नयरे॥

१. वृत्ति में यतना विषयक विशेष जानकारी उपलब्ध है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिपद्यमानक तथा पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा से द्रव्यलिंग में विकल्पनीय होते हैं। भावलिंग तो सदा होता ही हैं। प्रतिपत्ति शुद्धलेश्या और धर्म्यध्यान में होती है। पूर्व प्रतिपन्नक छहों लेश्याओं में से किसी एक में तथा चारों प्रकार के ध्यानों में किसी एक ध्यान में होते हैं।[1]

१६४०.झाणेण होइ लेसा, झाणंतरओ व होइ अन्नयरी।
अज्झवसाओ उ दढो, झाणं असुभो सुभो वा वि॥

भावलेश्या ध्यान अथवा ध्यानान्तर से होती है।[2] ध्यान दृढ़ अध्यवसाय है। वह शुभ अथवा अशुभ होता है। दृढ़ अध्यवसाय अंतर्मुहूर्त्तकाल तक ही रहता है। निरंतर वह नहीं होता। सारा अदृढ़ अध्यवसाय चिंता कहलाता है।

१६४१.झाणं नियमा चिंता, चिंता भइया उ तीसु ठाणेसु।
झाणे तदंतरम्मि उ, तव्विवरीया व जा काइ॥

ध्यान नियमतः चिंता है। चिंता की तीन स्थानों में भजना है। ध्यान में, ध्यानान्तर में, अथवा तद्विपरीत अर्थात् विप्रकीर्ण चिन्तचेष्टा जो ध्यान में या ध्यानान्तरिका में अवतरित नहीं होती। इसलिए जब दृढ़ अध्यवसाय से चिंतन किया जाता है तब चिंता और ध्यान का एकत्व होता है, अन्यथा अन्यत्व।

१६४२.कायादि तिहिक्किक्कं, चित्तं तिव्व मउयं च मज्झं च।
जह सीहस्स गतीओ, मंदा य पुता दुया चेव॥

दृढ़ अध्यवसायात्मक चित्त तीन प्रकार का होता है—कायिक, वाचिक और मानसिक। (कायिक जैसे—काया की प्रवृत्ति के व्याक्षेपों का परिहार करता हुआ भंगों की चारणिका करता है अथवा कूर्म की भांति अंगोपांगों को संलीन करता है। वाचिक—मुझे निरवद्य भाषा बोलनी है, सावद्य भाषा नहीं अथवा विकथा को छोड़ श्रुत परावर्तन करना चाहिए। मानसिक—एक वस्तु में चित्त की एकाग्रता।) ये तीनों तीन-तीन प्रकार के होते हैं—तीव्र, मृदु और मध्य। जैसे सिंह की गति तीन प्रकार की होती है—मन्द, द्रुत और प्लुत।

१६४३.अन्नतरझाणऽतीतो, बिइयं झाणं तु सो असंपत्तो।
झाणंतरम्मि वट्टइ, बिपहे व विकुंचियमईओ॥

ध्यानान्तरिका किसे कहते हैं?

किसी एक वस्तुविषयक ध्यान से उपरत होकर जब तक वह दूसरे ध्यान को असंप्राप्त होता है, तब तक वह ध्यानान्तरिका में वर्तन करता है। जैसे एक ध्यान से उपरत होकर वह सोचता है अब मैं किस वस्तु पर ध्यान करूं—इस प्रकार का विमर्श ध्यानान्तरिका कहलाती है। दो गांवों में जाने के दो मार्ग देखकर पथिक 'विकुंचितमतिक' अर्थात् किस मार्ग से जाऊं, इस प्रकार विमर्श से आकुल मतिवाला होकर अपान्तराल में रहता है। यह ध्यानान्तर है। यही स्वरूप है ध्यानान्तरिका का।

१६४४.वण्ण-रस-गंध-फासा इट्ठाऽणिट्ठा विभासिया सुत्ते।
अहिक्किच्च दव्वलेसा, ताहि उ साहिज्जई भावो॥

सूत्र (प्रज्ञापना आदि) में द्रव्य लेश्या के इष्ट-अनिष्ट वर्ण, रस, गंध और स्पर्श का अनेक प्रकार से वर्णन प्राप्त है। उन द्रव्य लेश्याओं से शुभ-अशुभ अध्यवसायरूप भाव सिद्ध होते हैं, जाने जाते हैं।

१६४५.पत्तेयं पत्तेयं, वण्णाइगुणा जहोदिया सुत्ते।
तारिसओ च्चिय भावो, लेस्साकाले वि लेस्सीणं॥

कृष्ण आदि प्रत्येक लेश्याओं में से एक-एक द्रव्यलेश्या के वर्ण आदि गुण जैसे सूत्र में बतलाए गए हैं वैसे ही भाव लेश्याकाल में लेश्यी (लेश्यावान् व्यक्ति) के होते हैं।

१६४६.जं चिज्जए उ कम्मं, जं लेसं परिणयस्स तस्सुदओ।
असुभो सुभो व गीतो, अपत्थ-पत्थऽन्न उदओ वा॥

जिस कृष्ण आदि लेश्या में परिणत जीव का जो शुभ-अशुभ कर्म बंधता है, उसका उदय भी शुभ-अशुभ ही होता है—ऐसा तीर्थंकरों ने कहा है। यहां अपथ्य-पथ्य भोजन का दृष्टांत दिया गया है। जैसे पथ्य भोजन उदय काल में शुभ होता है और अपथ्य भोजन उदय काल में रोग आदि का जनक होता है।

१६४७.पडिवज्जमाण भइया, एगो व सहस्ससो व उक्कोसा।
कोडिसहस्सपुहत्तं, जहन्न-उक्कोसपडिवन्ना॥

स्थविरकल्प साधना के प्रतिपद्यमानक विवक्षित काल में होते भी हैं और नहीं भी होते। यदि होते हैं तो एक, दो आदि और उत्कर्षतः सहस्रपृथक्त्व। पूर्वप्रतिपन्नक जघन्यतः कोटि-सहस्रपृथक्त्व और उत्कर्षतः भी कोटिसहस्रपृथक्त्व।

१६४८.लेवडमलेवडं वा, अमुगं दव्वं च अज्ज घिच्छामि।
अमुगेण व दव्वेणं, अह दव्वाभिग्गहो नाम॥

अभिग्रह चार प्रकार से होता है—द्रव्यतः, क्षेत्रतः, कालतः और भावतः। द्रव्यतः—लेपकृत अथवा अलेपकृत, आज मैं अमुक द्रव्य लूंगा, अमुक साधन से दिया जाने वाला द्रव्य लूंगा। यह द्रव्य अभिग्रह है।

---

१. लेश्या—जीव का शुभ-अशुभ परिणाम। यह चल अथवा अचल दोनों प्रकार का होता है।
ध्यान—आत्मा का शुभ-अशुभ परिणाम। यह अचल ही होता है।

२. ध्यानान्तर—अदृढ़ अध्यवसाय रूप चिंतन अथवा ध्यान-ध्यान की अन्तरिका।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१६४९.अट्ठ उ गोयरभूमी, एलुगविक्खंभमित्तगहणं च।
सग्गाम परग्गामे, एवइय घरा य खित्तम्मि॥

क्षेत्रअभिग्रह–गोचरभूमियां आठ हैं–ऋज्वी, गत्वा-प्रत्यागतिका गोमूत्रिका, पतंगवीथिका, पेडा, अर्द्धपेडा, अभ्यन्तरशम्बूका, बहिःशम्बूका।[1] भिक्षा के लिए गमनागमन के ये आठ प्रकार हैं। मैं देहली मात्र का उल्लंघन कर भिक्षा ग्रहण करूंगा। मैं स्वग्राम और परग्राम में इतने घरों से भिक्षा लूंगा–यह क्षेत्रतः अभिग्रह है।

१६५०.काले अभिग्गहो पुण, आई मज्झे तहेव अवसाणे।
अप्पत्ते सइ काले, आई बिइओ अ चरिमम्मि॥

काल-अभिग्रह इस प्रकार है–भिक्षावेला के आधार पर काल अभिग्रह तीन प्रकार का होता है–आदि, मध्य और अवसान। अप्राप्त भिक्षाकाल में पर्यटन करना आद्यभिक्षा-कालविषयक प्रथम अभिग्रह है। भिक्षाकाल में पर्यटन करना मध्यभिक्षाकालविषयक द्वितीय अभिग्रह है। अतिक्रांत भिक्षा-काल में पर्यटन करना अवसानविषयक तीसरा अभिग्रह है।

१६५१.दिंतग-पडिच्छगाणं,हविज्ज सुहुमं पि मा हु अचियत्तं।
इअ अप्पत्ते अइए, पवत्तणं मा ततो मज्झे॥

भिक्षादाता और प्रतीच्छक–दोनों के सूक्ष्मरूप से भी अप्रीतिक न हो, इसलिए अप्राप्त अथवा अतिक्रांत भिक्षाकाल में पर्यटन श्रेयस्कर है। पुरःकर्म और पश्चात्कर्म का प्रवर्तन न हो इसलिए मध्य अर्थात् भिक्षाकाल में पर्यटन करना श्रेयस्कर है।

१६५२.उक्खित्तमाइचरगा, भावजुया खलु अभिग्गहा होंति।
गायंतो व रुदंतो, जं देइ निसन्नमादी वा॥

उत्क्षिप्तचरक, निक्षिप्तचरक, संख्यादत्तिक, दृष्टलाभिक, पृष्टलाभिक आदि भाव अभिग्रह वाले होते हैं। जो गाता हुआ, रोता हुआ, बैठा हुआ, प्रस्थित होता हुआ देगा, वह मैं ग्रहण करूंगा–ये सारे भाव अभिग्रह हैं।

१६५३.ओसक्कण अहिसक्कण, परम्मुहाऽलंकिएयरो वा वि।
भावन्नयरेण जुओ, अह भावाभिग्गहो नाम॥

इसी प्रकार अपसरण करता हुआ, सम्मुख आता हुआ, पराङ्मुख होकर, अलंकृत पुरुष, अनलंकृत पुरुष यदि देगा तो मैं ग्रहण करूंगा। इन भावों से किसी अन्यतर भाव से देना भी अभिग्रह है।

१६५४. सच्चित्तदवियाकप्पं, छव्विहमवि आयरंति थेरा उ।
कारणओ असहू वा, उवएसं दिंति अन्नत्थ॥

स्थविरकल्पी मुनि छह प्रकार के सचित्तद्रव्यकल्प का आचरण करते हैं। वे छह कल्प ये हैं–प्रव्राजना, मुंडापना, शिक्षापना, उपस्थापना, संभुंजना और संवासना। किसी कारणवश अथवा असमर्थता के कारण वे प्रव्राजना आदि लेने वाले को अन्यत्र गच्छान्तर में गीतार्थ आचार्य के पास जाने के लिए उपदेश देते हैं।

१६५५.जीवो पमायबहुलो, पडिवक्खे दुक्करं ठवेउं जे।
केत्तियमित्तं वोज्झिति, पच्छित्तं दुग्गयरिणी वा॥

जीव प्रमादबहुल होता है। उसको अप्रमाद में स्थापित करना दुष्कर होता है। जैसे दुर्गतऋणिक अर्थात् दरिद्र कर्जदार की भांति वह प्रमादबहुल जीव कितना प्रायश्चित्त वहन कर सकेगा। इसलिए स्थविरकल्पिकों के मन से किए अपराध का कोई तपः प्रायश्चित्त नहीं होता, आलोचना, प्रतिक्रमण–यह प्रायश्चित्त तो होता ही है। श्लोक १६३५ के अंतिम दो चरण **'कारण पडिकम्मम्मि उ, भत्तं पंथो य भयणाए॥'** का भावार्थ यह है–कारण अर्थात् अशिव, अवमौदर्य होने पर अपवाद पद का सेवन किया जा सकता है। कारण में शरीर का परिकर्म भी मान्य है। सामान्यतः तीसरे प्रहर में भिक्षाटन और विहार किया जाता है। अपवाद में इन दोनों में भी भजना है, विकल्प है।

१६५६.गच्छम्मि उ एस विही, नायव्वो होइ आणुपुव्वीए।
जं एत्थं नाणत्तं, तमहं वोच्छं समासेणं॥

गच्छवासी मुनियों की यह विधि परिपाटी से ज्ञातव्य है। इसमें जो नानात्व है–विशेष है, वह मैं संक्षेप में कहूंगा।

१६५७.सामायारी पुणरवि, तेसि इमा होइ गच्छवासीणं।
पडिसेहो व जिणाणं, जं जुज्जइ वा तगं वोच्छं॥

गच्छवासी मुनियों की पुनः वक्ष्यमाण यह सामाचारी होती है। जिनकल्पी मुनियों के इसी सामाचारी का प्रतिषेध है। उनके भी जो प्रत्युपेक्षणा आदि आवश्यक है, वह मैं बताऊंगा।

१६५८.पडिलेहण निक्खमणे,पाहुडिया भिक्ख कप्पकरणे य।
गच्छ सतिए अ कप्पे, अंबिल भरिए य ऊसित्ते॥
१६५९.परिहरणा अणुजाणे, पुरकम्मे खलु तहेव गेलन्ने।
गच्छपडिबद्धऽहालंदि उवरि दोसा य अववादे॥

ये दोनों द्वारगाथाएं हैं। इनका पूरा विवरण आगे की अनेक गाथाओं में है।

प्रतिलेखन, निष्क्रमण, प्राभृतिका, भिक्षा, कल्पकरण, शतिकगच्छ (सौ मुनियों वाला गच्छ), कल्प्य, अम्ल, भरण, उत्सिक्त, परिहरण, अनुयान, पुरःकर्म, ग्लानत्व, गच्छप्रतिबद्ध यथालंदिक, मासकल्प के अधिक रहने से दोष, अपवाद....।

१. इन गृह-पंक्तियों में भिक्षाटन करने का विस्तार से वर्णन टीका में है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१६६०.पडिलेहणा उ काले, अपडिलेह दोस छसु वि काएसु।
पडिगहनिक्खेवणया, पडिलेहणिया सपडिवक्खा॥

यह भी द्वार गाथा है। काल में प्रत्युपेक्षणा करना। अप्रत्युपेक्षा। सदोष प्रत्युपेक्षा। छह जीवनिकाय पर प्रतिष्ठित। पतद्ग्रह का निक्षेपण। प्रतिलेखना सप्रतिपक्षा (सापवाद) होती है। (व्याख्या आगे)

१६६१.सूरुग्गए जिणाणं पडिलेहणियाए आढवणकालो।
थेराणऽणुग्गयम्मी, ओवहिणा सो तुलेयव्वो॥

जिनकल्पी मुनियों के लिए प्रत्युपेक्षणा का आरंभकाल है सूर्योदय। स्थविरकल्पी मुनियों के लिए उसका आरंभकाल है अनुद्गतसूर्य। उसको उपधि से तोलना चाहिए।[1] (उपधि से तोलने का तात्पर्य है—पांच यथाजात, तीन कल्प (एक ऊनी, दो सौत्रिक), संस्तारकपट्ट, उत्तरपट्ट तथा दंड—इन ग्यारह उपकरणों की प्रतिलेखना करते-करते जब सूर्य उदित होता है।)

१६६२.लहुगा लहुगो पणगं, उक्कोसादुवहिअपडिलेहाए।
दोसेहि उ पेहंते, लहुओ भिन्नो य पणगं च॥

उत्कृष्ट उपधि की प्रतिलेखना न करने पर चार लघुक, मध्यम में मासलघु और जघन्य में पंचक का प्रायश्चित्त आता है। यदि वह दोषदृष्ट प्रतिलेखना करता है तो उत्कृष्ट उपधि के मासलघु, मध्यम के भिन्नमास और जघन्य के पांच दिन-रात।

१६६३.काएसु अप्पणा वा, उवही व पइट्ठिओऽत्थ चउभंगो।
मीस सचित्त अणंतर-परंपरपइट्ठिए चेव॥

प्रतिलेखना करते समय स्वयं या उपधि छह कायों पर प्रतिष्ठित हो—इस विषय में चतुर्भंगी होती है। षट्काय मिश्र अथवा सचित्त हो सकती है। इन पर साधु अथवा उपधि अनन्तर या परंपररूप से प्रतिष्ठित हो सकती है।

१६६४.आयरिए य परिन्ना, गिलाण सरिसखमए य चउगुरुगा।
उडु अधरऽबंध लहुओ, बंधण धरणे य वासासु॥

आचार्य, परिज्ञावान्—अनशन में संलग्न, ग्लान तथा ग्लान के सदृश क्षपक—तपस्वी—इन चारों की यदि प्रत्युपेक्षा न की जाए तो चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। यदि ऋतुबद्ध काल में प्रतिग्रह और मात्रक धारण नहीं किया जाता अथवा उपकरण को बांधा न जाए तो मासलघु का प्रायश्चित्त विहित है। वर्षा ऋतु में उपधि को बांधा जाता है या दोनों भाजनों को धारण किया जाता है तो मासलघु का प्रायश्चित्त आता है।

१६६५.असिवे ओमोयरिए, सागार भए व राय गेलन्ने।
जो जम्मि जया जुज्जइ, पडिवक्खो तं तहा जोए।

अशिव, अवमौदर्य, सागारिक के देखते, स्तेन आदि के भय से, प्रत्यनीक राजा के कारण, ग्लानत्व हो जाने पर—इन कारणों से उपधि आदि की प्रत्युपेक्षा नहीं की जाती। इन स्थितियों में जहां जैसा योग हो वहां वैसा प्रतिपक्ष अर्थात् अपवाद का आलंबन लिया जा सकता है।

१६६६.तस-बीयरक्खणट्ठा, काएसु वि होज्ज कारणे पेहा।
नदिहरणपुत्तनायं, तणू य थूरे य पुत्तम्मि॥
१६६७.जइ से हवेज्ज सत्ती, उत्तारिज्जा तओ दुवग्गे वि।
थूरो पुण तणुअतरं, अवलंबंतो वि बोलेइ॥

कारणवश षट्काय पर प्रतिष्ठित होकर त्रस तथा बीजों की रक्षा के लिए प्रत्युपेक्षा की जाती है। शिष्य प्रश्न करता है कि क्या वह दोषभाग् नहीं होता? आचार्य कहते हैं—यहां नदीहरणोपलक्षितपुत्र का उदाहरण ज्ञातव्य है। एक व्यक्ति के दो पुत्र थे—एक स्थूल और एक कृश। एक बार वह दोनों पुत्रों को साथ ले गामान्तर जा रहा था। बीच में एक नदी आ गई। वह ऊंडी और विस्तृत थी। यदि उसमें शक्ति होती तो वह दोनों को नदी के पार पहुंचा देता। इतनी शक्ति न होने पर उसने कृश पुत्र को लेकर नदी पार की। यदि वह स्थूल पुत्र को लेकर जाता तो दोनों डूब जाते। अतः उसकी उपेक्षा की।[2]

१६६८.अंगारखड्डपडियं दट्ठूण सुयं सुयं बिइयमन्नं।
पवलित्ते नीणिंतो, किं पुत्ते नो कुणइ पायं॥

इसी अर्थ की पुष्टि के लिए यह दूसरा दृष्टांत है—एक व्यक्ति के दो पुत्र थे। एक दिन घर में आग लग गई। एक पुत्र

१. प्राभातिक प्रतिलेखना संबंधी अनेक आदेश हैं—जब कुक्कुट अथवा कौए बोले तब, सूर्य उदित होने पर, जब प्रकाश हो जाए, जब उपाश्रय में प्रव्रजित मुनि एक दूसरे को दीखने लग जाए अथवा पहचानने लग जाए, जब हाथ की रेखाएं दीखने लगे। आचार्य कहते हैं—ये सारे अनादेश हैं। प्रतिलेखना का वास्तविक काल है—आवश्यक करने के पश्चात् तीन स्तुतियां के पूर्ण होने पर प्रतिलेखना का काल होता है। आवश्यक कर लेने के पश्चात् इन निम्नोक्त दस वस्तुओं की प्रतिलेखना कर लेने के बाद सूर्य उदित हो। वे दस वस्तुएं ये हैं—मुंहपत्ति, रजोहरण, दो निषद्याएं, एक चुल्लपट्ट, संस्तारक, उत्तरपट्ट, तीन कल्प। आवश्यक के पश्चात् इन दसों की प्रतिलेखना कर लेने पर सूर्य उदित होता है। (वृ. पृ. ४८८, ४८९)

२. पितृस्थानीयः साधुः, पुत्रद्वयस्थानीयाः स्थिराऽस्थिरसंहननिः पृथिवीकायादयः, ततः साधुना प्रथमतो निर्विशेषं षडपि कायाः स्थिरसंहननोऽस्थिरसंहननिनश्च रक्षणीयाः। अथान्यतरेषां विराधनामन्तरेणाध्वगमनादिषु प्रत्युपेक्षणादीनां प्रवृत्तिरेव न घटामञ्चति ततः स्थिरसंहननां पृथिव्यादीनां विराधनामभ्युपेत्याप्यस्थिरसंहननस्त्रसादयो रक्षणीया इति। (वृ. पृ. ४९१)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

घर से दौड़ा और रास्ते में अंगारों से भरे गढ़े में गिर गया। वह गृहपति दूसरे पुत्र को लेकर उस प्रदीप्त गृह से निकला। उसने देखा, एक पुत्र उस अंगारों से भरे गढ़े में गिरा पड़ा है। क्या वह गढ़े में गिरे पुत्र के सिर पर पैर रखकर उस अंगारभूत गढ़े को पार नहीं करेगा? अवश्य करेगा।

१६६९.तं वा अणक्कमंतो, चयइ सुयं तं च अप्पगं चेव।
नित्थिण्णो हु कदाई, तं पि हु तारिज्ज जो पडिओ॥

यदि वह गर्ता में पतित पुत्र के सिर पर पैर रखकर उस गर्ता को पार नहीं करता है तो वह स्वयं का और अपने साथ वाले पुत्र का भी नाश कर डालता है। यदि वह स्वयं पुत्र के साथ निस्तीर्ण हो जाता है तो कदाचित् वह उस गढ़े में गिरे पुत्र का भी उद्धार कर सकता है।

१६७०.निरवेक्खो तइयाए, गच्छे निक्कारणम्मि तह चेव।
बहुवक्खेवदसविहे, साविक्खे निग्गमो भइओ॥

जो मुनि निरपेक्ष अर्थात् जिनकल्पी, प्रतिमाप्रतिपन्न हैं वे तीसरे प्रहर में उपाश्रय से विहरण करते हैं। गच्छवासी मुनि भी, कोई प्रयोजन न होने पर तीसरे प्रहर में ही विहार करते हैं। यदि गच्छ में दस प्रकार के वैयावृत्त्य में बहुत विक्षेप होता हो तो सापेक्ष अर्थात् गच्छवासी मुनि के निर्गमन की भजना है अर्थात् वह पहले, दूसरे अथवा चौथे प्रहर में भी विहार कर सकता है।

१६७१.अतरंत-बाल-वुड्ढे, तवस्सि-आएसमाइकज्जेसु।
बहुसो वि होज्ज विसणं, कुलाइकज्जेसु य विभासा॥

निरपेक्ष मुनि तीसरे प्रहर में भिक्षाटन कर, भोजन ग्रहण कर, खाकर, आवश्यक अर्थात् कायिकी संज्ञा से निवृत्त होकर जिस प्रहर में गए थे उसी प्रहर में उपाश्रय में लौट आते हैं। इसी प्रकार क्षेत्रसंक्रमण भी उसी प्रहर में होता है।

१६७२.गहिए भिक्खे भोत्तुं, सोहिय आवास आलयमुवेइ।
जहिं निग्गओ तहिं चिय, एमेव य खेत्तसंकमणे॥

१६७३.उच्चार-विहारादी, संभम-भय-चेइवंदणाईया।
आयपरोभयहेउं, विणिग्गमा वण्णिया गच्छे॥

गच्छवासी मुनि को ग्लान, बाल, वृद्ध, तपस्वी तथा प्राघूर्णक आदि के कार्यों के लिए तथा कुल, संघ आदि के प्रयोजन से उपाश्रय से बाहर गृहस्थों के घर में अनेक बार जाना होता है। इसी प्रकार उच्चार-प्रस्रवण के लिए, स्वाध्याय के निमित्त निर्गमन करना पड़े, संभ्रम, भय, चैत्यवंदन आदि तथा अपने या पराए के लिए जो भी कार्य हों उनके लिए उपाश्रय से निर्गमन करने की बात कही गई है।

१६७४.पाहुडिया वि य दुविहा, बायर सुहुमा य होइ नायव्वा।
एक्केक्का वि य एत्तो, पंचविहा होइ नायव्वा॥

प्राभृतिका—(वसति का छादन-लेपन आदि) दो प्रकार की होती है। उसे बादर और सूक्ष्म जाननी चाहिए। प्रत्येक के पांच-पांच प्रकार ज्ञातव्य हैं। यह आगे बताया जा रहा है।

१६७५.विद्धंसण छायण लेवणे य,भूमीकम्मे पडुच्च पाहुडिया।
ओसक्कण अहिसक्कण, देसे सव्वे य नायव्वा॥

बादर प्राभृतिका के पांच प्रकार ये हैं—विध्वंसन, छादन, लेपन, भूमीकर्म तथा प्रतीत्यकरण—साधुओं के निमित्त छोटा गृह बनाना अथवा अपना गृह साधुओं को निवासार्थ देकर दूसरे घर का निर्माण करना। इन पांचों के दो-दो प्रकार और हैं—अवष्वष्कण और अभिष्वष्कण।[1] विध्वंसन आदि पांचों प्रकारों के दो-दो प्रकार ये हैं—देशतः और सर्वतः।

१६७६.अच्छंतु ताव समणा, गएसु भंतूण पच्छ काहामो।
ओभासिए व संते, न एंति जा भंतुणं कुणिमो॥

एक गृहपति ने यह निश्चय किया कि मैं अपने इस घर को ज्येष्ठमास में तुड़वा कर नया भवन तैयार करूंगा। इधर ज्येष्ठमास में मुनि वहां आए और उस घर में मासकल्प के लिए ठहर गए। अब वह सोचता है—मुनि यहां रह रहे हैं। उनके जाने के बाद मैं नया भवन बना लूंगा। (यह अभिष्वष्कण है।) क्षेत्र प्रत्युपेक्षकों को अवभाषित अर्थात् वसति दे देने पर गृहपति सोचता है—जब तक यहां साधु न आएं तब तक इस मकान को तुड़वा कर नया बना लूं। (यह अवष्वष्कण है।)

१६७७.एसेव कमो नियमा, छज्जे लेवे य भूमिकम्मे य।
तेसाल चाउसालं, पडुच्चकरणं जईनिस्सा॥

यही क्रम नियमतः छादन, लेपन और भूमीकर्म के विषय में है। प्रतीत्यकरण का यह उदाहरण है—त्रिशाल वाले गृह का निर्माण कराने का इच्छुक गृहपति यतियों की निश्रा के कारण चतुःशाल वाले गृह का निर्माण कराता है।

१६७८.पुव्वघरं दाऊण व, जईण अन्नं करिंति सड्ढाए।
काउमणा वा अन्नं, ण्हाणाइसु कालमोसक्के॥

गृहपति अपने पूर्वगृह के श्रमणों को रहने के लिए देकर अपने लिए नया घर बनाता है। (यह भी प्रतीत्यकरण है।) अथवा कोई श्रावक अपने लिए अन्य गृह का निर्माण कराने का इच्छुक है, परंतु स्नानोत्सव आदि के कारण वह काल का ह्रस्वीकरण कर, उस अवसर पर मकान बना लेता है। यह अवष्वष्करण प्रतीत्यकरण है।

१. अवष्वष्कण—विध्वंसन आदि कालमर्यादा से पहले कर देना। अभिष्वष्कण—विवक्षित काल का संवर्धन करना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१६७९.एमेव य ण्हाणाइसु सीयलकज्जट्ठ कोइ उस्सक्के।
मंगलबुद्धी सो पुण, गएसु तहियं वसिउकामो॥

इसी प्रकार कोई श्रावक सोचता है–वैशाख मास में यहां स्नानोत्सव, रथयात्रा आदि होंगे–ऐसा सोचकर वह शीतलता के प्रयोजन से स्नानोत्सव आदि के सन्निकट काल में, काल का अभिष्वष्कण कर, नवगृह का निर्माण करता है तो यह अभिष्वष्कण से प्रतीत्यकरण है। वह गृहपति मंगलबुद्धि से अवष्वष्कण और अभिष्वष्कण करता है और यह सोचता है कि नवगृह में पहले श्रमण निवास करेंगे और उनके जाने के पश्चात् मैं वहां निवास करूंगा।

१६८०.सव्वम्मि उ चउलहुया, देसम्मी बायराए लहुओ उ।
सव्वम्मि मासियं खलु, देसे भिन्नो य सुहुमाए॥

सर्वतः बादर प्राभृतिकाओं में रहने पर चार लघुमास का और देशतः रहने पर मासलघु का प्रायश्चित्त आता है। सूक्ष्म प्राभृतिका में सर्वतः रहने पर मासलघु तथा देशतः रहने पर भिन्नमास का प्रायश्चित्त विहित है।

१६८१.संमज्जण आवरिसण, उवलेवण सुहुम दीवए चेव।
ओसक्कण अहिसक्कण, देसे सव्वे य नायव्वा॥

सूक्ष्म प्राभृतिका के पांच प्रकार ये हैं–संमार्जन, आवर्षण (पानी का छिटकाव करना), उवलेपन, सूक्ष्म[1] अर्थात् पुष्प उनकी रचना करना, दीपक जलाना, मुनियों के निमित्त देशतः या सर्वतः अवष्वष्कण या अभिष्वष्कण करना।

१६८२.जाव न मंडलिवेला, ताव पमज्जामो होइ ओसक्का।
उट्ठेंतु ताव पढिउं, उस्सक्कण एव सव्वत्थ॥

जब तक मंडलीवेला–स्वाध्यायमंडली का काल नहीं आ जाता, उससे पूर्व हम वसति का प्रमार्जन कर लें, यह सोचकर प्रमार्जन करता है तो वह अवष्वष्कण है। अथवा वह सोचता है–ये मुनि जब पढ़कर (स्वाध्याय कर) उठ जायेंगे तब प्रमार्जन करूंगा और वह वैसे ही करता है तो वह अभिष्वष्कण होता है। ऐसा सर्वत्र अर्थात् आवर्षण, उलेपन आदि में जानना चाहिए।

१६८३.छिन्नमछिन्ना काले, पुणो य नियया य अनियया चेव।
निद्दिट्ठाऽनिद्दिट्ठा, पाहुडिया अट्ठ भंगा उ॥

सूक्ष्म प्राभृतिका के दो प्रकार हैं–छिन्नकालिका और अच्छिन्नकालिका। प्रत्येक के दो-दो भेद हैं–नियत और अनियत। प्रत्येक के दो-दो भेद हैं–निर्दिष्ट और अनिर्दिष्ट। इस प्रकार प्राभृतिका के आठ भंग होते हैं।

१६८४.मासे पक्खे दसरायए य पणए अ एगदिवसे य।
वाघाइमपाहुडिया, होइ पवाया निवाया य॥

जो प्राभृतिका मास के अन्त में, पक्ष या दस अहोरात्र के अन्त में, अथवा पांच रात-दिन के अंत में अथवा एकान्तरित दिन में या प्रतिदिन होती है, वह छिन्नकालिका कहलाती है और जो अनिश्चित काल में होती है वह अच्छिन्नकालिका कहलाती है। व्याघातिम प्राभृतिका सूत्र और अर्थ की पौरुषी वेला में होती है। दो प्राभृतिकाएं और हैं–प्रवाता और निवाता। (इनकी व्याख्या १६८८वें श्लोक में।)

१६८५.पुव्वण्हे अवरण्हे, सूरम्मि अणुग्गए व अत्थमिए।
मज्झंतिए व वसही, सेसं कालं पडिक्कुट्ठा॥

पूर्वाह्न अर्थात् सूर्य के उदय से पूर्व, अपराह्न अर्थात् सूर्यास्त होने के बाद, मध्याह्न–इन कालों में जो प्राभृतिका की जाती है, उस वसति में रहना अनुज्ञात है, शेष वसतियों में रहना प्रतिक्रुष्ट है।

१६८६.पुरिसज्जाओ अमुगो, पाहुडियाकारओ उ निद्दिट्ठो।
सेसा उ अनिद्दिट्ठा, पाहुडिया होइ नायव्वा॥

जिस प्राभृतिका में अमुक पुरुष प्राभृतिका कारक है–यह निर्दिष्ट होता है, वह निर्दिष्टा प्राभृतिका होती है और शेष सारी प्राभृतिकाएं अनिर्दिष्टा होती हैं।

१६८७.काऊण मासकप्पं, वयंति जा कीरई उ मासस्स।
सा खलु निव्वाघाया, तंवेलारेण निंताणं॥

मासान्तिक प्राभृतिका में पहले प्रविष्ट होकर मासकल्प कर प्राभृतिका करणवेला से पहले विहार कर जाते हैं, वह प्राभृतिका निर्व्याघात कहलाती है। क्योंकि उसमें सूत्रार्थ का व्याघात नहीं होता। उसमें रहना कल्पता है।

१६८८.अवरण्हे गिम्ह करणे, पवाय सा जेण नासयइ घम्मं।
पुव्वण्हे जा सिसिरे, निव्वाय निवाय सा रत्तिं॥

ग्रीष्म ऋतु के अपराह्न में जिसमें उपलेपन किया जाता है, वह प्रवाता प्राभृतिका होती है। वह रात्री में ग्रीष्म-ऋतुसंभव ताप का नाश कर देती है। शिशिर ऋतु के पूर्वाह्न में उपलेपन करने पर निवाता प्राभृतिका रात्री में शुष्क हो जाती है। वह निवाता प्राभृतिका होती है। इनमें कारणवश रहना कल्पता है।

१६८९.पुव्वण्हे अपट्ठविए, अवरण्हे उट्ठिएसु य पसत्था।
मज्झण्ह निग्गएसु य, मंडलिसुत-पेहऽवाघाया॥

जिस प्राभृतिका में पूर्वाह्न में स्वाध्याय की प्रस्थापना न

---

१. सूक्ष्माणि–समयभाषया पुष्पाणि। दशवैकालिक निर्युक्ति में पुष्पों के एकार्थक शब्द–

पुप्फा य कुसुमा चेव, फुल्ला य कुसुमा वि य।
सुमणा चेव सुहुमा य, सुहुमकाइया वि य॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किए जाने पर तथा अपराह्न में भोजन से निवृत्त हो जाने पर तथा मध्याह्न में साधुओं के भिक्षाचर्या के लिए निर्गत होने पर जो प्राभृतिका की जाती है वह प्रशस्त प्राभृतिका है। यह प्रशस्त इसलिए है कि इसमें श्रुतमंडली और उपधि प्रेक्षण में कोई व्याघात उत्पन्न नहीं होता।

१६९०.तं वेल सारविंती, पाहुडियाकारगं च पुच्छंति।
मोत्तूण चरिम भंगं, जयंति एमेव सेसेसु॥

जिस वेला में प्राभृतिका की जाती है उस वेला में उपकरणों का संगोपन किया जाता है। वे प्राभृतिकारक को पूछते हैं–तुम किस समय संमार्जन आदि करोगे? आठ विकल्पों में चरम भंग को छोड़कर शेष भंगों में यतना करनी चाहिए।

१६९१.चरमे वि होइ जयणा, वसंति आउत्तउवहिणो निच्चं।
दक्खे य वसहिपाले, ठविंति थेरा पुणित्थीसु॥

अच्छिन्नकालिका, अनियता और अनिर्दिष्टा प्राभृतिका में आगाढ़ कारण में रहने पर चरम भंग में भी यतना हो सकती है। वह नित्य उपधि में आयुक्त–सावधान रहता है। वसतिपाल के रूप में दक्ष मुनि को स्थापित करता है। यदि प्राभृतिकारक स्त्रियां हों तो वसतिपाल के रूप में स्थविरों की स्थापना की जाए।

१६९२.जिणकप्पिअभिग्गहिएसणाए पंचण्हमन्नतरियाए।
गच्छे पुण सव्वाहिं, सावेक्खो जेण गच्छो उ॥

जिनकल्पिक मुनि अभिगृहीत पांच प्रकार की एषणाओं में से किसी एक एषणा से भक्त और किसी दूसरी एषणा से पानक ग्रहण करते हैं। गच्छवासी मुनि सभी प्रकार की एषणाओं से भक्तपान ले सकते हैं। क्योंकि गच्छवासी साधु सापेक्ष होते हैं।

१६९३.बाले वुड्ढे सेहे, अगीयत्थे नाण-दंसणप्पेही।
दुब्बलसंघयणम्मि य, गच्छि पइन्नेसणा भणिया॥

बाल, वृद्ध, शैक्ष, अगीतार्थ, ज्ञानार्थी, दर्शनार्थी, दुर्बल-संहननवाले–इन सबके अनुग्रह के लिए प्रकीर्ण–अनियत एषणा कही गई है।

१६९४.तिक्खछुहाए पीडा, उड्डाह निवारणम्मि निक्किवया।
इय जुवल-सिक्खगेसुं, पओस भेओ य एक्कतरे॥

१६९५.सुचिरेण वि गीयत्थो,
न होहिई न वि सुयस्स आभागी।
पग्गहिएसणचारी,
किमहीउ धरेउ बा अबलो॥

अभिगृहीत एषणा होने पर भक्त-पान न मिलने अथवा अपर्याप्त प्राप्त होने पर बाल, वृद्ध आदि मुनियों के तीव्र क्षुधा के कारण पीड़ा होती है अथवा उड्डाह होता है, अन्य एषणाओं का निवारण करने पर मुनि सोचते हैं कि यहां के मुनि अकृपालु हैं, इनमें दया नहीं है–इन कारणों से बाल-वृद्ध इस युगल में अथवा शैक्ष में प्रद्वेष के कारण शरीरभेद अर्थात् मरण या चारित्रभेद हो सकता है।

अगीतार्थ व्यक्ति लंबे समय में भी गीतार्थ नहीं होगा और वह श्रुतज्ञान का ग्राहक भी नहीं होता क्योंकि उसकी एषणा अभिग्रहयुक्त होती है, उसे उपष्टंभकारक भक्तपान की उपलब्धि नहीं होती। क्या अबल–दुर्बलसंहनन वाला व्यक्ति सूत्रार्थ को धारण करने या अध्ययन करने में समर्थ हो सकता है?

१६९६.पमाणे काले आवस्सए य संघाडगे य उवगरणे।
मत्तग काउस्सग्गो, जस्स य जोगो सपडिवक्खो॥

प्रकीर्णक एषणा की विधि–

प्रमाण अर्थात् कितनी बार पिंड-पान के लिए जाना चाहिए? कौन से काल में भिक्षा करनी चाहिए? आवश्यक अर्थात् शौचक्रिया से निवृत्त होकर जाना चाहिए। अकेले अथवा संघाटक–दो मुनियों के साथ जाना चाहिए। उपकरण साथ लेकर भिक्षाचर्या के लिए जाना चाहिए। मात्रक लेकर जाना चाहिए। कायोत्सर्ग करना चाहिए। भिक्षाचर्या में सचित्त (शैक्ष आदि) अथवा अचित्त (भक्तपान) का लाभ होगा, वह भी मैं ग्रहण करूंगा–इन प्रमाण आदि को सापवाद जानना चाहिए।

१६९७.दोन्नि अणुन्नायाओ, तइया आवज्ज मासियं लहुयं।
गुरुगो उ चउत्थीए, चाउम्मासो पुरेकम्मे॥

चतुर्थभक्तिक मुनि के लिए दो बार गोचरचर्या करना अनुज्ञात है। तीसरी बार जाने पर लघुमास का तथा चौथी बार जाने पर गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। तीन-चार बार जाने पर गृहिणी पुरःकर्म आदि करती हैं तो चार लघुमास का प्रायश्चित्त विहित है।

१६९८.सइमेव उ निग्गमणं,चउत्थभत्तिस्स दोन्नि वि अलद्धे।
सव्वे गोयरकाला, विगिट्ठ छट्ठऽट्ठमे बि-तिहिं॥

चतुर्थभक्तिक मुनि के लिए एक बार ही निर्गमन अनुज्ञात है, अलाभ होने पर दो बार जाया जा सकता है। विकृष्ट-भक्तिक–दस-बारह की तपस्या करने वाले के लिए सभी गोचरकाल अनुज्ञात हैं। षष्ठभक्तिक के लिए दो गोचरकाल तथा अष्टमभक्तिक के लिए तीन गोचरकाल अनुज्ञात हैं।

१६९९.संखुन्ना जेणंता, दुगाइ छट्ठादिणं तु तो कालो।
भुत्तणुभुत्ते अ बलं, जायइ न य सीयलं होइ॥

छट्ठ आदि तपस्या के कारण जिसकी आंतें संकुचित हो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गई हों उसके लिए दो आदि गोचरकाल अनुज्ञात हैं। जो तपस्वी बार-बार लाता है, खाता है उसे पुनः तपस्या करने का बल प्राप्त हो जाता है। और उसे शीतभोजन भी नहीं खाना पड़ता।

१७००.बहुदेवसिया भत्ता, एगदिणेणं तु जइ वि भुंजेज्जा।
तह वि य चाग-तितिक्खा-एगग्ग-पभावणाईया॥

बेले-बेले, तेले-तेले आदि की तपस्या करने वाला मुनि यदि अनेक दैवसिक भक्तों (भोजन) को एक दिन में ही खा जाता है, फिर भी तपस्या करने के कारण त्याग, तितिक्षा, एकाग्रता तथा प्रभावना आदि होती है।[1] (दूसरों में तपस्या के प्रति श्रद्धा और तपस्वी को देखकर प्रव्रज्या लेने की भावना उत्पन्न होती है।)

१७०१.जह एस एत्थ वुड्ढी, ओअरमाणस्स दसहि सपदं च।
सेसेसु वि जं जुज्जइ, तत्थ विवड्ढी उ सोहीए॥

जैसे दो-तीन बार आदि गोचरी के लिए जाने पर प्रायश्चित्त की वृद्धि कही गई है और वह बढ़ते-बढ़ते दसवें स्थान पारांचिक तक पहुंच जाती है, वैसे ही शेष चतुर्थ-भक्तिक आदि के लिए भी होनी चाहिए, प्रायश्चित्त की वृद्धि होनी चाहिए।[2]

१७०२.एगाणियस्स दोसा, साणे इत्थी तहेव पडिणीए।
भिक्खविसोहि महव्वय, तम्हा सबिइज्जए गमणं॥

भिक्षा के लिए एकाकी पर्यटन करने के ये दोष हैं—कुत्ता काट सकता है, कोई प्रोषितभर्तृका स्त्री अथवा विधवा स्त्री उपद्रव कर सकती है, प्रत्यनीक उसको उत्पीड़ित कर सकता है, भिक्षा की पूर्ण शोधि नहीं हो सकती, महाव्रतों की विराधना हो सकती है।[3] इसलिए दो मुनियों को साथ जाना चाहिए।

१७०३.गारविए काहीए, माइल्ले अलस लुद्ध निद्धम्मे।
दुल्लह अत्ताहिट्ठिय, अमणुन्ने या असंघाडो॥

मुनि एकाकी क्यों घूमना चाहता है? इसके कारण हैं—अहंकार, कथा कहकर भिक्षा प्राप्त करना (काथिक), मायावी, आलसी, लुब्ध, निर्धर्मा, दुर्लभभैक्षकाल में भिक्षा प्राप्त करना, आत्मार्थिक (अपनी लब्धि से प्राप्त आहार ही करने वाला), अमनोज्ञ होने के कारण (सबके लिए कलहकारी)।

१७०४.लहुया य दोसु गुरुओ, अ तइअए चउगुरू य पंचमए।
सेसाण मासलहुओ, जं वा आवज्जई जत्थ॥

गौरविक और काथिक को चार लघुमास, तीसरे अर्थात् मायावी को गुरुमास, पांचवें लुब्धक को चार गुरुमास, शेष मुनियों को लघुमास का तथा विराधना आदि का जिसको जितना प्रायश्चित्त प्राप्त होता है, उतना दिया जाता है।

१७०५.भाणस्स कप्पकरणे, अलेवडे नत्थि किंचि कायव्वं।
तम्हा लेवकडस्स उ, कायव्वा मग्गणा होइ॥

पात्र के कल्पकरण के विषय में यह विचार है कि अलेपकृत द्रव्य हो तो पात्र का कल्प नहीं किया जाता। लेपकृत द्रव्य हो तो पात्र का कल्प अवश्य करना होता है, अतः इनकी मार्गणा करनी चाहिए।

१७०६.कंजुसिण-चाउलोदे, संसट्ठा-ऽऽयाम-कट्ठमूलरसे।
कंजियकढिए लोणे, कुट्ठा पिज्जा य नित्तुप्पा॥

१७०७.कंजिय-उदगविलेवी, ओदण कुम्मास सत्तुए पिट्ठे।
मंडग समिउस्सिन्ने, कंजियपत्ते अलेवकडे॥

कांजी, उष्णोदक, चावल का धोवन, गोरस से संसृष्ट भाजन का पानी (अवश्रावण), काष्ठमूलरस (चने, चवला आदि द्विदल के रस से भावित पानक), कांजी से क्वथित, लवणयुक्त, इमली, पेय तथा अचुपड़ी रोटी आदि, कांजिक-विलेपिका, उदकविलेपिका, ओदन, कुल्माष, सक्तुक—भुंजे हुए यवों का आटा, पिष्ट—मूंग आदि का चूर्ण, समित—गेहूं का आटा, उत्स्विन्न (उंडेरक आदि), कांजिकपत्र—कांजी के पानी से वाष्पित अरणिका आदि का शाक—ये सारे अलेपकृत हैं।

१७०८.विगई विगइअवयवा, अविगइपिंडरसएहिं जं मीसं।
गुल-दहि-तेल्लावयवे, विगडम्मि य सेसएसुं च॥

दूध, दही आदि विकृतियां, विकृतियों के अवयव से मिश्रित, अविकृतिरूप पिंडरसों—खर्जूर आदि से मिश्रित—ये सारे लेपकृत हैं। गुड़-दही-तैल आदि के अवयव तथा विकट—मद्य के अवयव, तथा शेष अर्थात् घृत आदि के अवयव—इनमें कुछ विकृतियां हैं और कुछ अविकृतियां।

१७०९.दहिअवयवो उ मंथू, विगई तक्कं न होइ विगई उ।
खीरं तु निरावयवं, नवणीओगाहिमा चेव॥

---

१. इसीलिए बेले-बेले आदि की तपस्या करने वालों के लिए दो-तीन आदि गोचरकाल अनुज्ञात हैं। नित्यभक्तिक यदि दूसरी बार गोचरी जाता है तो लघुमास, तीन बार जाने पर गुरुमास, चार बार जाने पर चतुर्लघु, पांच बार जाने पर चतुर्गुरु, छह बार जाने पर षड्लघु, सात बार जाने पर षड्गुरु, आठ बार जाने पर छेद, नौ बार जाने पर मूल, दस बार जाने पर अनवस्थाप्य, ग्यारह बार पर पारांचिक।
(वृ. पृ. ५००)

२. वृत्तिकार ने इस प्रसंग में कालद्वार और आवश्यकद्वार का पूरा विवरण दिया है।

३. (१) वह जीवों की हिंसा कर सकता है। (२) कुण्टल-विण्टल आदि कर सकता है। (३) घर में खुले घड़े हिरण्य आदि ले सकता है। (४) स्त्री की प्रतिसेवना कर सकता है। (५) भिक्षा के साथ समापतित स्वर्ण आदि ले सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१७१०.घयघट्टो पुण विगई, वीसदण मो य केइ इच्छंति।
तेल्ल-गुलाण अविगई, सूमालिय-खंडमाईणि॥
१७११.महुणो मयणमविगई, खोलो मज्जस्स पोग्गले पिउडं।
रसओ पुण तदवयवो, सो पुण नियमा भवे विगई॥

दही का अवयव मंथु विकृति नहीं है। तक्र विकृति नहीं है। दूध अवयवरहित होता है। नवनीत और अवगाहिम–पक्वान्न अवयवरहित होते हैं। घृतघट्ट–घी का किट्ट विकृति है। विस्पंदन–आधे जले घृत को कई आचार्य विकृति मानते हैं। तैल और गुड़ से निष्पन्न सुकुमारिका[1] खंड आदि अविकृति है। मधु का अवयव मदन अविकृति है। मद्य का खोल अर्थात् किट्ट विशेष तथा मांस का पिटक–उज्झ अथवा अस्थि–ये भी विकृति नहीं है। मांस का अवयव जो रक्षक है (वसा, मेद आदि) नियमतः विकृति है।

१७१२.अंबंबाड-कविट्ठे, मुद्दीया माउलिंग कयले य।
खज्जूर-नालिएरे, कोले चिंचा य बोधव्वा॥

आम्र, आम्रातक, कपित्थ, द्राक्षा, मातुलिंग–बीजपूरक, कयल–कदलीफल, खर्जूर, नारियल, कोल–बदरीचूर्ण, इमली–ये सारे पिंडरसद्रव्य हैं।

१७१३.खज्जूर-मुद्दिया-दाडिमाण पीलुच्छु-चिंचमाईणं।
पिंडरस न विगईओ, नियमा पुण होंति लेवाडा॥

खर्जूर, मुद्रिका, दाडिम, पीलु, इक्षु, इमली–इनसे संबंधित जो पिंडरस होता है, वह विकृति नहीं होती, किन्तु ये नियमतः लेपकृत हैं।

१७१४.कुट्टिमतलसंकासो,भिसिणीपुक्खलपलाससरिसो वा।
सामास धुवण सुक्खावणा य सुहमेरिसे होति॥

पात्र का लेप कुट्टिमतलसदृश होना चाहिए अर्थात् पात्र के चारों ओर समरूप में लेप होना चाहिए। तथा पद्मिनी के विस्तीर्ण पत्र के सदृश होना चाहिए जिससे कि सूक्ष्म सिक्थ भी वहां टिका न रह सके। इस प्रकार के लेपकृत पात्र का समास–संलेखन, धावन तथा सुखाना–ये सारी क्रियाएं सुखपूर्वक की जा सकती हैं।

१७१५.आउत्तो सो भगवं, चोक्खं सुइयं च तं कयं पत्तं।
निस्सील-निव्वयाणं, पत्तस्स य दायणा भणिया॥
१७१६.ओभामिओ उ मरुओ, पत्तो साहू जसं च कित्तिं च।
पच्छाइआ य दोसा, वण्णो य पभाविओ तहियं॥

(एक मुनि ने वृक्ष के नीचे बैठकर आहार करने से पूर्व चारों ओर देखा। वृक्ष पर एक ब्राह्मण चढ़ा हुआ था। उसने साधु को आहार करते देख लिया। उसको वृक्ष से नीचे उतरते हुए साधु ने देख लिया। वह ब्राह्मण गांव में गया और लोगों को कहा कि साधु आहार कर रहे हैं।)

साधु ब्राह्मण को वृक्ष से उतरते देख और उसके अभिप्राय को भांप कर सावचेत हो गए। उन्होंने पात्र को पोंछकर, धोकर, पूर्णरूप से साफ कर रख दिया। ग्रामीण लोग वहां आए और पात्र को देखने का आग्रह किया। तब मुनि ने उन निःशील और निव्रती ग्रामीणों को पात्र दिखाते हुए कहा–यह देखो मेरा पात्र। इससे तुम्हारा कुतूहल शांत हो जाएगा।' पात्र को देखकर ग्रामीणों ने उस ब्राह्मण की भर्त्सना की। साधु की कीर्ति और यश वृद्धिंगत हुआ। पात्र में भोजन करने के कारण अन्यान्य दोष आच्छादित हो गए। मुनि के कारण प्रवचन की प्रशंसा हुई। (यह गुण है अच्छे लेपकृत पात्र का)।

१७१७.लेवाड विगइ गोरस, कढिए पिंडरस जहन्न उब्भज्जी।
एएसिं कायव्वं, अकरणे गुरुगा य आणाई॥

ये लेपकृत द्रव्य हैं–सभी विकृतियां, गोरस–तक्र आदि, क्वथित–तीमनादि, पिंडरस–खर्जूर आदि यावत् जघन्यतः उब्भज्जि–कोद्रवआउलक, इनके लेप का कल्प करना चाहिए। कल्प न करने पर चार गुरुमास का प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोष तथा संयमविराधना और आत्मविराधना का प्रसंग।

१७१८.संचयपसंगदोसा, निसिभत्तं लेवकुच्छणमगंधं।
दव्वविणासुड्डादी, अवण्ण संसज्जणाऽऽहारे॥

लेपकृतपात्र का कल्प न करने पर संचयप्रसंग (सूक्ष्म सिक्थ आदि अवयव के कारण) ये दोष होते हैं–उसको रात्रीभोजन का दोष लगता है। लेप क्वथित हो जाता है, भाजन अतीव दुर्गन्धित हो जाता है। वैसे पात्र में गृहीत द्रव्य का विनाश होता है और खाने से वमन आदि होते हैं, प्रवचन का उड्डाह होता है। दुर्गन्धित आहार में पनक, कुंथु आदि प्राणी संशक्त हो जाते हैं।

१७१९.लेवकडे कायव्वं, परवयणे तिन्नि वार गंतव्वं।
एवं अप्पा य परो, य पवयणं होंति चत्ताइं॥

लेपकृत भाजन का कल्प करना चाहिए। शिष्य कहता है–कल्पप्रायोग्यपानक के ग्रहण के लिए तीन बार गृहपति के घर में जाना चाहिए। आचार्य कहते हैं–ऐसा करने पर स्वयं, पर तथा प्रवचन–ये तीनों परित्यक्त हो जाते हैं।

१७२०.गोउल विरूवसंखडि, अलंभे साधारणं च सव्वेसिं।
गहियं संती य तहिं, तक्कुच्छुरसादि लग्गट्ठा॥

१. सुकुमारिका–तैल का किट्ट विशेष।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गच्छ बड़ा है। अनेक साधु हैं। वे भिक्षा के लिए घूमते हुए गोकुल में गए। वहां उन्हें प्रचुर दूध-दही की प्राप्ति हुई। उसी प्रकार विरूपसंखडी में उन्हें अनेक प्रकार के भक्ष्य-भोज्य पदार्थ प्राप्त होते हैं। उन्होंने सोचा—अन्यत्र ये द्रव्य दुर्लभ हैं। सभी साधारण मुनियों के लिए ये द्रव्य उपष्टंभ कारक हैं, ऐसा सोचकर उन्होंने अपने सभी पात्र उन भोज्य द्रव्यों से भर लिए। उपाश्रय में आए। पानक के बिना आहार कैसे किया जाए। उनके पास तक्र, इक्षु आदि रस हैं। आहार करते समय गले में कुछ अटक जाने पर वे बीच में तक्र, इक्षुरस आदि पी सकते हैं।

१७२१.मंडलितक्की खमए, गुरुभाणेणं व आणयंति दवं।
अपरीभोगऽतिरित्ते, लहुओऽणाजीविभाणे य॥

जो क्षपक मंडली का उपजीवक है, उसके भाजन में अथवा गुरु के भाजन में द्रव अर्थात् पानक ले आते हैं। यदि अपरिभोग्य भाजनों में अथवा अतिरिक्त भाजन में अथवा मंडली के अनुपजीवी क्षपक के भाजन में पानक लाते हैं तो लघुमास का प्रायश्चित्त आता है।

१७२२.भणइ जइ एस दोसो, तो आइमकप्पमाण संलिहिउं।
अन्नेसि तगं दाउं, तो गच्छइ बिइय-तइयाणं॥

दूसरा कहता है—यदि यह दोष है तो पात्र का अंगुलियों से संलेखन कर फिर पात्रों के प्रथम कल्प करने योग्य पानक लाए और उसे अन्यान्य साधुओं को देकर स्वयं भी अपने पात्र को साफ करे। फिर पात्र के दूसरे-तीसरे कल्प के लिए पानक लाने के लिए दूसरी-तीसरी बार जाए और दूसरी बार उतना ही पानक लाए जिससे पात्र का दूसरी बार कल्प हो सके और तीसरी बार भी उतना ही पानक लाए, जिससे तीसरी बार का कल्प हो सके।

(आचार्य कहते हैं—इस प्रकार करने से स्वयं, पर तथा प्रवचन—तीनों परित्यक्त हो जाते हैं। जैसे—)

१७२३.संदंसणेण बहुसो, संलाव-ऽणुराग-केलि आउभया।
देंती णु कंजियं णुं, जइस्स इट्ठो त्ति य भणंति॥

एक ही घर में बार-बार आते-जाते मुनि संदर्शन से गृहस्वामिनी के साथ संलाप, अनुराग, क्रीड़ाभाव—परिहास आदि आत्मोभयसमुत्थ दोष हो सकते हैं। देखने वालों को यह संदेह होता है कि क्या इस मुनि को पानक देने वाली स्त्री इष्ट है अथवा कांजी इष्ट है?

१७२४.आयपरोभयदोसा, चउत्थ-तेणट्ठसंकणा णीए।
दोच्चं णु चारिओ णुं, करेइ आयट्ठ गहणाई॥

स्व और पर से होने वाले दोष ये हैं। गृहस्वामिनी के निजकों के मन में चौथे व्रत संबंधी तथा स्तैन्य संबंधी शंका उत्पन्न होती है। वे सोचते हैं—यह प्रव्रजित मुनि बार-बार यहां आता है तो क्या यह मैथुन संबंधी दूतत्व करता है अथवा चोरों का चर बनकर आता है अथवा यह स्वयं के लिए ही इस प्रकार कर रहा है। इस आशंका से गृहस्थ उसको पकड़ते हैं, उसका आकर्षण आदि करते हैं।

१७२५.गिण्हंति सिज्झियाओ, छिद्दं जाउग सवत्तिणीओ अ।
सुत्तत्थे परिहाणी, निग्गमणे सोहिवुड्ढी य॥

कांजिक देने वाली स्त्री अथवा गृहस्वामिनी के ये सभी लोग छिद्र देखते हैं—पड़ोसिन, जेठ-देवर, सौत आदि। वे पति के पास शिकायत करते हैं। इससे हानि होती है। तथा सूत्रार्थ की परिहानि होती है। बार-बार निर्गमन करने पर प्रायश्चित्त की वृद्धि होती है।

(ये सारे दोष होते हैं। अतः एकाकी मुनि को बार-बार नहीं जाना चाहिए।)

१७२६.संघाडएण एगो, खमए बिइयपय वुड्ढमाइण्णे।
पुव्वुद्धि (द्दि)एण करणं, तस्स व असई य उस्सित्ते॥

अतः संघाटक के साथ भावितकुलों में जाए। द्वितीयपद अर्थात् अपवादरूप में क्षपक अथवा वृद्ध मुनि एकाकी भी आकीर्ण कुलों में जा सकता है। जो पानक पहले ही उदवृत्त पृथक् रखा हुआ हो वह ग्रहण करे, उससे पात्र का कल्प करे। यदि पहले पृथक् निकाला हुआ न हो तो उसका उत्सेचन करा दे।

१७२७.भावितकुलेसु धोवित्तु भायणे आणयंति सेसट्ठा।
तव्विहकुलाण असई, अपरीभोगादिसु जयंति॥

भावितकुलों से पानक लाकर अपने पात्रों को धोकर शेष मुनियों के लिए भी पानक भावितकुलों से ले आए। यदि उस प्रकार के कुल न हों तो अपरिभोग्य कुलों से वह पानक लाने का प्रयत्न करते हैं।

१७२८.ओअत्तंतम्मि वहो, पाणाणं तेण पुव्वउस्सित्तं।
असती वुस्सिंचणिए, जं पेक्खइ वा असंसत्तं॥

जो सौवीर उत्पाद्यमान हो, उसकी गंध से अनेक प्राणी वहां एकत्रित हो जाते हैं। उसको ग्रहण करने पर उन प्राणियों के बाधा होती है, इसलिए पूर्वोत्सिक्त पानक ही लेना चाहिए। यदि पूर्वोत्सिक्त न मिले तो उत्सिञ्चनिका से यतनापूर्वक उत्सिंचित कराकर यतनापूर्वक लिया जा सकता है। यदि उत्सिञ्चनिका न हो तो पार्श्वों को जीवों से असंसक्त देखकर, प्रातिहारिक गृहस्थ भाजन में पानक लेकर पात्र का कल्प करे।

१७२९.गिहिसंति भाण पेहिय, कयकप्पा सेसगं दवं घेत्तुं।
धोअण-पियणस्सट्ठा, अह्व थोवं गिण्हए अन्नं॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गृहस्थ के भाजन की प्रत्युपेक्षा कर, उसमें पानक लाकर पात्रों का कल्प करे तथा शेष द्रव से अन्य मुनियों के पात्रों को धोकर, बचे हुए पानक को पीने के लिए काम में लिया जा सकता है। यदि पानक थोड़ा प्राप्त हो तो अन्य गृहों से लिया जा सकता है।

१७३०.जा भुंजइ ता वेला, फिट्टइ तो खमग थेरओ वाऽऽणे।
तरुणो व नायसीलो, नीयल्लग-भावियादीसु॥

साधु जब तक आहार करे तब तक पानक की वेला बीत जाती है अतः क्षपक अथवा स्थविर एकाकी जाकर पानक ले आए। अथवा तरुण मुनि जो ज्ञातशील अर्थात् दृढ़धर्मा और निर्विकार हो वह भी एकाकी अपने स्वजनों के घरों से अथवा भावित आदि कुलों से पानक ले आए।

१७३१.बिइयपय मोय गुरुगा, ठाण निसीयण तुयट्ट धरणं वा।
गोब्बरपुंछण ठवणा, धोवण छड्डे य दव्वाइं॥

अपवादपद में यदि मोक–प्रस्रवण से आचमन करते हैं तो चार गुरुमास का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। शिष्य प्रश्न करता है–यदि मोक से आचमन करने पर दोष होता है तो रात्री में स्थान, निषीदन, शयन करते हुए क्या संसृष्ट भाजन को धारण करे? आचार्य कहते हैं–ऐसा करने पर आत्म-विराधना और संयमविराधना होती है। ऐसी स्थिति में पात्र को उपल से पोंछकर रखे। यदि दूसरे दिन उसमें पानक लाना हो तो पहले उसका कल्पत्रय से धोए। यदि भक्त लाना हो तो धोने की आवश्यकता नहीं है। शिष्य ने कहा–बिना धोए यदि पात्र में भक्त लाया जाता है तो उस पात्र में जो द्रव्य के सिक्थ लगे हुए हैं, वे पर्युषित होने के कारण, उनसे रात्रीभोजन व्रत का अतिक्रमण होता है।

१७३२.वइगा अद्धाणे वा, दव असईए विलंबि सूरे वा।
जइ मोएणं धोवइ, सेहऽन्नह भिक्ख गंधाई॥

व्रजिका–गोकुल में गए हुए अथवा मार्गगत मुनियों को पानक की अप्राप्ति होने पर अथवा सूर्य के अस्तंगतप्रायः होने पर पानक न हो तो मोक से पात्र का धावन करना चाहिए। शिष्य द्वारा यह कहने पर आचार्य कहते हैं–मोक से पात्र का आचमन करने पर शैक्ष के मन में अन्यथा भाव आ सकता है और दूसरे दिन उस पात्र में भिक्षा लाने पर गंध के कारण प्रवचन की अवहेलना होती है। इससे श्रावक विपरिणत हो जाते हैं।

१७३३.भणइ जइ एस दोसो,
तो ठाण निसियण तुअट्ट धरणं वा।
भण्णइ तं तु न जुज्जइ,
दु दोस पादे अ हाणी य॥

शिष्य पुनः कहता है–यदि पूर्व गाथोक्त दोष होते हैं तो अच्छा है कि पात्र को मोक से न धोया जाए। इस स्थिति में पात्र को हाथ में ले पूरी रात खड़ा रहे अथवा पात्र को लेकर बैठे अथवा पात्र को हाथ में रख सोए। आचार्य कहते हैं–शिष्य! यह आवश्यक नहीं है, क्योंकि इससे दो दोष उत्पन्न होते हैं–आत्मविराधना और संयमविराधना। अथवा पात्र के गिरने-से वह टूट जाता है, उसकी हानि होती है।

१७३४.निद्धमनिद्धं निद्धं, गोब्बरपुट्ठं ठविंति पेहित्ता।
जइ य दवं घेत्तव्वं, बिइयदिणे धोइउं गिण्हे॥

लेपकृत पात्र स्निग्ध हो अथवा अस्निग्ध, उसे उपल से पोंछकर, प्रत्युपेक्षित कर, रात्री में स्थापित करे। यदि दूसरे दिन उस पात्र में द्रव–पानक लाना हो तो उस पात्र को धोकर उसमें पानक ग्रहण करे।

१७३५.जइ ओदणो अधोए, घिप्पइ तो अवयवेहिं निसिभत्तं।
तिन्नि य न होंति कप्पा, ता धोवसु जाव निग्गंधं॥

१७३६.तम्हा गुब्बरपुट्ठं, संलीढं चेव धोविउं हिंडे।
इहरा भे निसिभत्तं, ओअविअं चेव गुरुमादी॥

शिष्य ने कहा–यदि दूसरे दिन उस अधौतपात्र में ओदन लिया जाता है तो उसमें लगे हुए भोजन के अवयवों के कारण, उस ओदन को खाने वाले के रात्रीभोजन का दोष लगता है। शुद्धि के लिए आप तीन कल्प की बात करते हैं, वह पर्याप्त नहीं है, क्योंकि गंध तो मिटती नहीं अतः उस पात्र को इतना धोना चाहिए कि गंध मिट जाए। इसलिए उस पात्र को उपल से रगड़ कर साफ करना चाहिए। यह सस्निग्ध पात्र के लिए है। जो पात्र अस्निग्ध हो उसको भलीभांति चारों ओर से साफ कर, धोकर, फिर उसमें भिक्षा लें। अन्यथा आपके निशिभक्त का दोष लगता है। अकल्पकृतपात्र में भक्त लेने पर वह ओअविय–उच्छिष्ट हो जाता है। उस भक्त को गुरु आदि को देने पर महान् आशातना होती है।

१७३७.भण्णइ न अण्णगंधा, हणंति छट्ठं जहेव उग्गारा।
तिन्नि य कप्पा नियमा, जइ वि य गंधो जहा लोए॥

इस प्रकार शिष्य के कहने पर आचार्य कहते हैं–अन्न के गंध मात्र से छठा व्रत–रात्रीविरमणव्रत का भंग नहीं होता। जैसे रात्री में अन्न की डकार या उगाली आने से छठा व्रत नहीं टूटता। इसलिए पात्र में यदि गंध भी आती है तो नियमतः तीन बार कल्प करने की विधि है। लोक में भी पात्रों के शोधन के लिए मृत्तिका आदि का विधान है।

१७३८.वारिखलाणं बारस, मट्टीया छ च्च वाणपत्थाणं।
मा एत्तिए भणाही, पडिमा भणिया पवयणम्मि॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वारिखल परिव्राजकों के बारह मृत्तिकालेप से, वानप्रस्थ तापसों के छह मृत्तिकालेप से भाजन शोधन माना जाता है। इसलिए शिष्य ऐसा मत कहो कि पात्र का शोधन तब तक करना चाहिए जब तक कि वह निर्गन्ध न हो जाए। प्रवचन में मोक प्रतिमा का भी प्रतिपादन है। मोक पीकर भी मुनि शुचि रहता है।

१७३९.पिह सोयाइं लोए, अम्हं पि अलेवगं अगंधं च।
मोएण वि आयमणं, दिट्ठं तह मोयपडिमाए॥

जैसे लोक में पृथक्-पृथक् अनेक शौचसाधन प्रचलित हैं वैसे ही हमारे भी तीन कल्प कर देने पर पात्र अलेपकृत तथा अगंध हो जाता है। तथा मोकप्रतिमा में मोक से आचमन करना भी दृष्ट है।

१७४०.जइ निल्लेवमगंधं, पडिकुट्ठं तं कहं नु जिणकप्पे।
तेसिं चेव अवयवा, रुक्खासि जिणा न कुव्वंति॥

शिष्य कहता है—यदि निर्लेपन और अगंध शौच है तो फिर जिनकल्प में यह प्रतिकुष्ट क्यों है? आचार्य कहते हैं—जिनकल्पिक मुनि रूक्ष भोजन करते हैं। उनके पुरीष (वर्चस्) के सूक्ष्म अवयव नहीं लगते। अतः वे शौच से निवृत्त होने के पश्चात् निर्लेपन नहीं करते।

१७४१.थंडिल्लाण अनियमा, अभाविए इड्ढि जुयलमुड्डुयरे।
सज्झाए पडिणीए, न ते जिणे जं अणुप्पेहे॥

स्थविरकल्पी मुनियों के लिए निर्लेपन (शौच) अनिवार्य है क्योंकि उनकी स्थंडिल भूमियां अनियत होती हैं। अभावित—अपरिणत शिष्य शौच न करने पर विपरिणत हो जाता है तथा ऋद्धिमान् प्रव्रज्या लेने पर, वह शौचकरण-भावित होने के कारण शौच अवश्य करणीय हो जाता है। तथा युगल अर्थात् बाल मुनि और वृद्ध मुनि प्रायः भिन्नवर्चस्क होते हैं, अतः शौच आवश्यक है। 'उड्डुयर' अर्थात् भोजन करते हुए संज्ञा का उत्सर्जन करने वाला चपलता से हाथ आदि को भी संज्ञा से लिप्त कर देता है। स्थविरकल्पिकों को निर्लेपन किए बिना स्वाध्याय वाणी से करना नहीं कल्पता। निर्लेपन न करने पर प्रत्यनीक व्यक्ति उड्डाह कर सकता है। जिनकल्पिकों के ये दोष नहीं होते। वे स्वाध्याय मन से ही कर लेते हैं, वाणी से नहीं। स्थविरकल्पी मन से स्वाध्याय करने पर लंबे काल में भी सूत्र और अर्थ से परिचित नहीं हो सकते।

१७४२.एमेव अप्पलेवं, सामासेउं जिणा न धोवंति।
तं पि य न निरावयवं, अहाठिईए उ सुज्झंति॥

इसी प्रकार जिनकल्पिक मुनि अलेपकृत भाजन का सम्यक् संलेखन करते हैं, धोते नहीं। वह पात्र निरावयव नहीं होता फिर भी यथास्थिति—अपने कल्प का अनुपालन करने से वे शुद्ध होते हैं।

१७४३.मन्नंतो संसट्ठं, जं इच्छसि धोवणं दिणे बिइए।
इत्थ वि सुणसु अपंडिय!, जहा तयं निच्छए तुच्छं॥

पात्र को संसृष्ट मानते हुए भी यदि दूसरे दिन उसके कल्प करने की इच्छा रखते हो तो हे अपंडित शिष्य! सुनो, तुम्हारा कथन निश्चय अर्थात् परमार्थरूप से तुच्छ है, असारभूत है।

१७४४.सव्वं पि य संसट्ठं, नत्थि असंसट्ठिएल्लयं किंचि।
सव्वं पि य लेवकडं, पाणगजाए कहं सोही॥

यदि गंधमात्र से भक्त उच्छिष्ट होता है तो संसार में सारा संसृष्ट—उच्छिष्ट है। यहां किंचित्मात्र भी असंसृष्ट नहीं है। इस प्रकार सारा लेपकृत है। वह पानकजात से शुद्ध कैसे होगा?

१७४५.खीरं वच्छुच्छिट्ठं, उदगं पि य मच्छ-कच्छभुच्छिट्ठं।
चंदो राहुच्छिट्ठो, पुप्फाणि य महुअरगणेहिं॥
१७४६.रंधंतीओ बोट्टिंति वंजणे खल-गुले य तक्कारी।
संसट्ठमुहा य दवं, पियंति जइणो कहं सुज्झे॥

दूध बछड़े द्वारा उच्छिष्ट है। पानी भी मत्स्य—कच्छप द्वारा उच्छिष्ट है। चन्द्रमा राहु द्वारा उच्छिष्ट है तथा फूल भ्रमरों द्वारा उच्छिष्ट है। रसोई बनाने वाली स्त्रियां शाक आदि को चखती है, खल-गुड़ आदि बनाने वाले उसको उच्छिष्ट करते हैं। मुनि उच्छिष्ट मुंह से पानी आदि पीते हैं। उस पात्र का शोधन कैसे हो सकता है? (अतः गंधमात्र से ही पात्र उच्छिष्ट नहीं होता।)

१७४७.एक्किक्कम्मि उ ठाणे, वितह करिंतस्स मासियं लहुअं।
तिगमासिय तिगपणगा, य होंति कप्पं कुणइ जत्थ॥

एक-एक स्थान में वितथ सामाचारी का आचरण करने वाले मुनि के प्रत्येक के लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। जहां कल्प किया जाता है वहां तीन मासिक और तीन पंचक प्रायश्चित्त आता है।

१७४८.भुत्ते भुंजंतम्मि य, जम्हा नियमा दवस्स उवओगो।
समहियतरो पयत्तो, कायव्वो पाणए तम्हा॥

भोजन कर लेने के पश्चात् अथवा भोजन करते समय नियमतः पानक का उपयोग होता है। इसलिए पानक को लाने का सबसे अधिक प्रयत्न किया जाता है।

१७४९.पाणगजाइणियाए, आहाकम्मस्स होइ उप्पत्ती।
पूती य मीसजाए, कडे य भरिए य ऊसित्ते॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पानक की याचना में आधाकर्म की उत्पत्ति हो सकती है। इसी प्रकार पूतिकर्म, मिश्रजात, कृत, भरित, उत्सिक्त आदि होते हैं। यह द्वारगाथा है। व्याख्या आगे।

१७५०.अन्नत्थ दवोभासण, सदेसा पुन्न बेइ घरसामी।
कल्लं ठवेहि अन्नं, महल्ल सोवीरिणिं गेहे॥

कोई गृहपति अन्यान्य साधु संघाटकों को द्रव–पानक की अप्राप्ति विषयक बातचीत करते हुए देखकर, पहले आने वाले मुनि पानक ले गए हैं, ऐसा सुनकर मुनि कहता है–गृहस्वामिनी! तुमको पुण्य होगा यदि तुम पानक दोगी। तब गृहपति गृहस्वामिनी को कहता है–कल तुम अत्यधिक कांजी बनाकर रखना जिससे सभी साधुओं को पानक दिया जा सके।

१७५१.मा काहिसि पडिसिद्धो, जइ बूया कुणसु दाणमन्नेसिं।
ते वुद्दिट्ठविवज्जी, न यावि निच्चं अहिवडंति॥

मुनि कहता है–साधु के लिए बनाया हुआ हमें ग्रहण करना नहीं कल्पता। ऐसा प्रतिषेध करने पर गृहस्वामी अपनी पत्नी को कहता है–ये मुनि नहीं लेते, दूसरे साधुओं का दान दे देना। तब मुनि उनसे कहे–वे मुनि भी उद्दिष्ट का विवर्जन करने वाले हैं। वे भी प्रतिदिन पानक के लिए नहीं आते।[1]

१७५२.अम्ह वि होहिइ कज्जं, घिच्छंति बहू य अन्नपासंडा।
पत्तेयं पडिसेहो, साहारे होइ जयणा उ॥

इस प्रकार कहने पर गृहपति यह कहे–कांजिक हमारे काम भी आ जायेगी। अथवा अन्य पाषंडी भी उसको ले लेंगे। वहां साधारणरूप से यह यतना करनी चाहिए–हमें वह लेना नहीं कल्पता। प्रत्येक निर्ग्रंथ के लिए बना पानक, साधु को लेना नहीं कल्पता।

१७५३.आहाकम्मिय सघर
पासंडमीसए जाव कीयपूई अत्तकडे।
एक्केक्कम्मि य सत्त उ,
कए य कारावि‌ए चेव॥

इतना कहने पर भी कोई गृहपति सात प्रकार की सौवीरिणी की स्थापना कर दे, जैसे–(१) आधाकर्मिका (२) अपने लिए तथा साधु के लिए कृत (३) अपने लिए तथा पाषंडियों के लिए कृत (४) अन्य गृहस्थों तथा पाषंडियों के लिए कृत (५) क्रीतकृत (६) पूर्तिकर्मिका (७) आत्मकृत–अपने लिए कृत। प्रत्येक के सात-सात भरण–भेद होते हैं। प्रत्येक के कृत और कारापित–ये दो-दो भेद और होते हैं। इस प्रकार सारे भेद ९८ होते हैं–(७×७×२)।

१७५४.कम्म घरे पासंडे, जावंतिय कीय-पूइ-अत्तकडे।
भरणं सत्तविकप्पं, एक्केक्कीए उ रसिणीए॥

प्रत्येक रसीनी–सौवीरिणी के ये सात-सात भेद होते हैं–

(१) आधाकर्मिक (५) क्रीतकृत
(२) स्वगृह-यतिमिश्र (६) पूतिकर्मिक
(३) स्वगृह-पाषंडीमिश्र (७) आत्मार्थकृत।
(४) यावदर्थिकमिश्र

१७५५.सत्त त्ति नवरि नेम्मं, उग्गमदोसा हवंति अन्ने वि।
संजोगा कायव्वा, सत्तहि भरणेहिं रसिणीणं॥

यह सात की संख्या नेम्म–उपलक्षण से कही गई है। औद्देशिक आदि दोष अन्य भी हो सकते हैं। उनके संयोग–विकल्प करने चाहिए–इन सातों रसीनियों–सौवीरिणियों के साथ भंग करने चाहिए।

१७५६.जावइया रसिणीओ, तावइया चेव होंति भरणा वि।
अउणापन्नं भेया, सयग्गसो यावि णेयव्वा॥

जितनी रसीनियां होती हैं उतनी ही संख्या में भरण होते हैं। इस प्रकार ७×७=४९ भेद–विकल्प हुए। इसी प्रकार सैकड़ों भेद हो सकते हैं।

१७५७.मूलभरणं तु बीया, तहिं छम्मासा न कप्पए जाव।
तिन्नि दिणा कड्ढियए, चाउलउदए तहाऽऽयामे॥

मूलभरण का अर्थ है–प्रासुक अम्लिनी–सौवीरिणी में राई आदि बीज मुनि के लिए प्रक्षिप्त करना, वह छह महीनों तक ग्रहण करना नहीं कल्पता। उसमें से राई आदि निकाल कर तंदुल धावन और अवस्रावण प्रक्षिप्त करने पर वह पूतिकर्म होने के कारण तीन दिन तक नहीं कल्पता।

१७५८.एमेव सघर-पासंडमीस जाव कीय-पूइ-अत्तकडे।
कय कीयकडे ठविए, तहेव वत्थाइणं गहणं॥

इसी प्रकार आधाकर्मिक की भांति स्वगृहमिश्र, पाषंड-मिश्र, यावदर्थिकमिश्र, क्रीतकृत, पूर्तिकर्म तथा आत्मार्थकृत भरण को जानना चाहिए। इसी प्रकार श्रमण के लिए निष्पादित वस्त्र, क्रीतकृत तथा स्थापित वस्त्र के ग्रहण संबंधी नियम पानक की तरह जानना चाहिए।

१७५९.जेण असुद्धा रसिणी,
भरणं वुभयं व तत्थ जाऽऽरुवणा।
सुद्धुभय लहूसित्ते,
कम्ममजीवे वि मुणिभरणे॥

जहां रसिनी अशुद्ध हो अथवा भरण अशुद्ध हो अथवा दोनों अशुद्ध हो वहां आरोपणा प्रायश्चित्त वक्तव्य है। यदि

---

१. दातुरुन्नतचित्तस्य, गुणयुक्तस्य चार्थिनः।
दुर्लभः खलु संयोगः, सुबीज-क्षेत्रयोरिव॥ (बृ. पृ. ५१६)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दोनों-रसिनी और भरण शुद्ध हों, परंतु श्रमण के लिए उत्सिक्त हों, तो लघुमास का प्रायश्चित्त है। मुनि के लिए भरण, प्रासुक होने पर भी, उसे आधाकर्म मानना चाहिए।

१७६०.तिन्नेव य चउगुरुगा, दो लहुगा गुरुग अंतिमो सुद्धो।
एमेव य भरणे वी, एक्केक्कीए उ रसिणीए॥

आधाकर्म, स्वगृहमिश्र तथा पाषंडमिश्र–इन तीनों में प्रत्येक के चार गुरुमास तथा यावदर्थिक और क्रीतकृत–इन दो में प्रत्येक के चार लघुमास का प्रायश्चित्त विहित है। अंतिम अर्थात् आत्मार्थकृत शुद्ध है। इस प्रकार एक-एक रसिनी विषयक तथा भरण में भी ज्ञातव्य है।

१७६१.संजयकडे य देसे, अप्फासुग फासुगे य भरिए अ।
अत्तकडे वि य ठविए, लहुगो आणाइणो चेव॥

केवल संयतों के किया गया आधाकर्म होता है। देशकृत अर्थात् संयत और आत्मार्थकृत तथा अप्रासुक या प्रासुक से भरण भी आधाकर्म है। आत्मार्थकृत परन्तु श्रमण के लिए स्थापित, वह भी ग्रहण करने योग्य नहीं है। यदि लिया जाता है तो लघुमास का प्रायश्चित्त तथा आज्ञा आदि के भंग का दोष आता है।

१७६२.देसकडा मज्झपदा, आदिपदं अंतिमं चं पत्तेयं।
उग्गमकोडी व भवे, विसोहिकोडी व जो देसो॥

जो मध्यपद–स्वगृहमिश्र, पाषंडमिश्र, यावदर्थिकमिश्र, क्रीतकृत, पूतिकर्म–हैं, वे सारे देशकृत हैं। जो आदिपद अर्थात आधाकर्म है तथा जो अंतिमपद अर्थात् आत्मार्थकृत है--ये प्रत्येक एकपक्षविषयक हैं। जो देशविषयक है–स्वगृह-मिश्र आदि दोष वह उद्गमकोटि होता है अथवा विशोधि-कोटि होता है।

१७६३.जं जीवजुयं भरणं, तदफासुं फासुयं तु तदभावा।
तं पि य हु होइ कम्मं, न केवलं जीवघाएण॥

जो जीवयुक्त भरण है वह अप्रासुक है जो जीवरहित भरण है वह प्रासुक है। निर्जीव भरण भी यदि निश्चितरूप से संयतार्थ किया जाता है तो वह भी आधाकर्म है, केवल जीवघात से निष्पन्न ही आधाकर्म नहीं होता।

१७६४.समणे घर पासंडे, जावंतिय अत्तणो य मुत्तूणं।
छट्ठो नत्थि विकप्पो, उस्सिंचणमो जयट्ठाए॥

सौवीरिणी से कांजी को बाहर निकालना उत्सिक्त कहलाता है। उसके पांच प्रकार हैं–१. श्रमणार्थ, २. स्वगृहयतिमिश्र, ३. यावदर्थिकमिश्र, ४. पाषंडिमिश्र ५. आत्मार्थकृत। इन पांचों के अतिरिक्त छठा विकल्प नहीं है। गृहस्थ ने जो स्वयं के लिए उत्सिंचन किया है, वही लिया जा सकता है।

१७६५.तत पाइयं वियं पि य, वत्थं एक्केक्कगस्स अट्ठाए।
पाउब्भिन्नं निक्कोरियं च जं जत्थ वा कमइ॥

उपधि विषयक विधि–

वस्त्र के तीन घटक होते हैं–ताना (तत), बाना (वितत), और पाई (पायित) वस्त्र एक-एक के लिए होता है। यहां चतुर्भंगी की गई है–

१. संयत के लिए तत, वितत और पायित।
२. संयत के लिए तत, पायित और स्वयं के लिए वितत।
३. संयत के लिए तत, वितत और स्वयं के लिए पायित।
४. संयत के लिए तत, स्वयं के लिए वितत और पायित।

इसी प्रकार स्वयं के लिए तत के भी चार भंग होते हैं। दोनों के आठ भंग हुए। आठवां भंग शुद्ध है क्योंकि तीनों (तत, वितत और पायित) स्वयं के लिए हैं; इसलिए पात्र विषयक दो घटक हैं–उद्भिन्न और उत्कीर्ण। इसके चार भंग ये हैं–(१) संयत के लिए उद्भिन्न और उत्कीर्ण (२) संयत के लिए उद्भिन्न और आत्मार्थ उत्कीर्ण (३) आत्मार्थ उद्भिन्न संयतार्थ उत्कीर्ण (४) दोनों आत्मार्थ। यह भंग शुद्ध है। 'यद् वा क्रमते'.....क्रीतकृत, स्थापित आदि वस्त्र या पात्र जहां जो प्रासंगिक हो वहां उसका सम्यग् योजन करे। यहां तनन, वितनन अविशोधिकोटि के तथा पावन विशोधिकोटि का है–यह आचार्य का मत है। जिज्ञासु कहता है–तनन और वितनन विशोधिकोटि के हैं, पावन अविशोधिकोटि में हैं, क्योंकि वह कन्द आदि जीवोपघातनिष्पन्न होता है। सूरी कहते हैं–हम आधाकर्म में जीवोपघात ही मुख्य नहीं मानते, वहां मुख्यता है श्रमण के लिए बनाना।

१७६६.अत्तट्ठियतंतूहिं, समणट्ठ ततो उ पाइय वुतो अ।
किं सो न होइ कम्मं, फासूण विपज्जिओ जो उ॥
१७६७.जइ पज्जणं तु कम्मं, इतरमकम्मं स कप्पऊ धोओ।
अह धोओ वि न कप्पइ, तणणं विणणं च तो कम्मं॥

अपने लिए निष्पादित तंतुओं से श्रमण के लिए जो वस्त्र तत वितत–व्यूत है तथा प्रासुक खलिका द्रव्य के संभार से पायित है, वह क्या आधाकर्म नहीं होता?

यदि पायन ही आधाकर्म है और इतर–तनन, वितनन आधाकर्म नहीं है तो उस वस्त्र को धोना तो आपके कथन से कल्पता है? धोने पर भी वह वस्त्र नहीं कल्पता। इसका तात्पर्यार्थ है कि तनन और वितनन भी आधाकर्म है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१७६८.चोअग जिणकालम्मिं,
किह परिहरणा जहेव अणुजाणे।
अइगमणम्मि य पुच्छा,
निक्कारण कारणे लहुगा॥

जिज्ञासु पूछता है—यदि सौ साधुओं वाले गच्छों में आधाकर्म आदि दोष होते हैं तो फिर तीर्थंकरों के समय में हजारों साधु वाले गच्छों में आधाकर्म आदि दोषों का परिहरण कैसे होता था? आचार्य कहते हैं—जैसे अनुयान—रथयात्रा में आज भी इन दोषों का परिहार किया जाता है। शिष्य पूछता है—क्या रथयात्रा में प्रवेश करना चाहिए या नहीं? आचार्य कहते हैं—यदि बिना प्रयोजन अतिगमन—प्रवेश करता है तो चतुर्लघु का प्रायश्चित्त आता है और प्रयोजनवश प्रवेश न करने पर भी चतुर्लघु का प्रायश्चित्त है।

१७६९.ण्हाणा-ऽणुजाणमाइसु,
जतंति जह संपयं समोसरिया।
सतसो सहस्ससो वा,
तह जिणकाले विसोहिंसु॥

स्नात्रपर्व, रथयात्रा आदि के समय आज भी सैकड़ों, हजारों साधु एकत्रित होते हैं और वे आधाकर्म आदि दोषों का शोधन करते हैं, वैसे ही तीर्थंकरों के समय में भी मुनि उन दोषों का शोधन करते थे।

१७७०.पच्चक्खेण परोक्खं, साहिज्जइ नेव एस हीणुवमा।
जं पुरिसजुगे तइए, वोच्छिन्नो सिद्धिमग्गो उ॥

प्रत्यक्ष उपमान वस्तु के द्वारा परोक्ष उपमेय वस्तु को सिद्ध (समर्थन) किया जाता है। यह हीन उपमा नहीं है। तीन पुरुष युगों—महावीर, सुधर्मा और जम्बू—तक सिद्धिमार्गगमन होता रहा। तदनन्तर मोक्षमार्ग व्यवच्छिन्न हो गया।

१७७१.आणाइणो य दोसा, विराहणा होइ संजमा-ऽऽयाए।
एवं ता वच्चंते, दोसा पत्ते अणेगविहा॥

निष्कारण अनुयान अर्थात् रथयात्रा में जाने से आज्ञाभंग आदि दोष तथा आत्मविराधना और संयमविराधना—दोनों होते हैं। इस प्रकार मार्ग में जाते हुए भी अनेक दोष प्राप्त होते हैं।

१७७२.महिमाउस्सुयभूए, रीयादी न विसोहए।
तत्थ आया य काया य, न सुत्तं नेव पेहणा॥

भगवत् महिमा को देखने की उत्सुकता के कारण ईर्या-समिति आदि का पूरा शोधन नहीं होता। इससे आत्म-विराधना और शरीरविराधना होती है। त्वरा के कारण वह न सूत्र का परावर्तन कर सकता है और न प्रतिलेखना ही कर सकता है।

१७७३.चेइय आहाकम्मं, उग्गमदोसा य सेह इत्थीओ।
नाडग संफासण तंतु खुड्ड निद्धम्मकज्जा य॥

उन उत्सवों में जाने पर जो दोष होते हैं, वे ये हैं—चैत्यों के स्वरूप का वर्णन आधाकर्म, उद्गम आदि दोष, शैक्षों का पार्श्वस्थों के पास गमन, स्त्रीदर्शन से समुत्थ दोष, नाटक तथा संस्पर्शन से उत्थित दोष, तन्तु—कोलिक-जाल संबंधी दोष, क्षुल्ल के दर्शन से होने वाले दोष, निर्धर्मा—लिंगियों के कार्यों से उत्थित दोष। (यह द्वारगाथा है। विवरण आगे की गाथाओं में।)

१७७४.साहम्मियाण अट्ठा, चउव्विहे लिंगओ जह कुडुंबी।
मंगल-सासय-भत्तीइ जं कयं तत्थ आदेसो॥

चैत्य चार प्रकार के हैं—साधर्मिकचैत्य, मंगलचैत्य, शाश्वतचैत्य और भक्तिचैत्य। साधर्मिकों के लिए निर्मितचैत्य साधर्मिकचैत्य कहलाता है। साधर्मिक के दो प्रकार हैं-लिंग से तथा प्रवचन से। यहां लिंग से साधर्मिक का ग्रहण किया गया है। वह जैसे कुटुम्बी। कुटुम्बी अर्थात् अत्यधिक परिचारकों से परिवृत तथा लिंगधारी। घरों में मंगल के निमित्त निर्मित चैत्य—मंगलचैत्य होता है। देवलोक आदि में होने वाला शाश्वत चैत्य तथा भक्ति के लिए निर्मित चैत्य भक्तिचैत्य कहलाता है। यहां इसी का आदेश—अधिकार है, क्योंकि इसीमें अनुयान आदि महोत्सव संभव होते हैं।

१७७५.वारत्तगस्स पुत्तो, पडिमं कासी य चेइयहरम्मि।
तत्थ य थली अहेसी, साहम्मियचेइयं तं तु॥

वारत्तपुर में अभयसेन वारत्त नाम का महर्षि रहता था। उसके पुत्र ने पितृभक्ति से प्रभावित होकर एक चैत्यगृह बनवाया। उसमें रजोहरण, मुखवस्त्रिका और पात्र सहित पिता की मूर्ति स्थापित की और वहां एक स्थली—सत्रशाला प्रवर्तित की। वह साधर्मिक चैत्य था।[1]

१७७६.अरहंतपइट्ठाए, महुरानयरीए मंगलाइं तु।
गेहेसु चच्चरेसु य, छन्नउईगामअद्धेसु॥

मथुरा नगरी में, नए घर के निर्माण में पहले अर्हत् की प्रतिमा का प्रतिष्ठापन किया जाता है। यह मंगल के निमित्त होता है, अन्यथा वह घर गिर जाता है—ऐसी किंवदन्ती थी। इसलिए नगरी के घरों में तथा चौराहों पर प्रतिमा की प्रतिष्ठापना होती थी। मथुरा नगरी से प्रतिबद्ध ९६ ग्रामार्ध थे। (उत्तरापथ में ग्रामार्ध का अर्थ है—ग्राम। यह वहीं की संज्ञा थी।)[2]

१७७७.निइयाइं सुरलोए, भत्तिकयाइं तु भरहमाईहिं।
निस्सा-ऽनिस्सकयाइं, जहिं आएसो चयसु निस्सं॥

१. आवश्यक, योगसंग्रह निर्युक्ति गा. १३०३।

२. इहोत्तरापथानां ग्रामस्य ग्रामार्द्ध इति संज्ञा। (वृ. पृ. ५२४)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुरलोक में नित्य अर्थात् शाश्वतचैत्य होते हैं। भरत आदि के द्वारा कृत चैत्य भक्तिचैत्य कहलाते हैं। जहां भक्ति-चैत्य से आदेश प्रकृत है, वह दो प्रकार का है—निश्राकृत और अनिश्राकृत। निश्राकृत अर्थात् संघप्रतिबद्ध और अनिश्राकृत अर्थात् गच्छसाधारण से बद्ध। निश्रीकृत का परिहार कर अनिश्राकृत कल्पता है।

१७७८.जीवं उद्दिस्स कडं, कम्मं सो वि य जया उ साहम्मी।
सो वि य तइए भंगे, लिंगादीणं न सेसेसु॥

जीव को उद्दिष्ट कर जो किया जाता है वह भी यदि जीव है तो जो साधर्मिक है वह भी साधर्मिक लिंग से अथवा प्रवचन से साधर्मिक की मीमांसा में तृतीय भंगवर्ती (लिंग से और प्रवचन से) साधर्मिक होता है, शेष भंगवर्ती नहीं।

१७७९.संवट्टमेह-पुप्फा, सत्थनिमित्तं कया जइ जईणं।
न हु लब्भा पडिसिद्धुं, किं पुण पडिमट्ठमारब्धं॥

शास्ता—तीर्थंकर के निमित्त देवताओं द्वारा समवसरण में कृत संवर्तक मेघ तथा पुष्पवृष्टि मुनियों के लिए प्रतिषेध का विषय नहीं होता है, वे वहां समवसरण में बैठते हैं तो फिर अजीव प्रतिमाओं के लिए किया हुआ आरंभ कैसे प्रतिषिद्ध होगा?

१७८०.तित्थयरनाम-गोयस्स खयट्ठा अवि य दाणि साभव्वा।
धम्मं कहेइ सत्था, पूयं वा सेवई तं तु॥

तीर्थंकर नामकर्म और गोत्रकर्म के क्षय के लिए धर्म का उपदेश देते हैं तथा पूर्वोक्त पूजा महिमा का आसेवन करते हैं। यह उनका 'साभव्व'—स्वभाव है।[1]

१७८१.खीणकसाओ अरिहा,
कयकिच्चो अवि य जीयमणुयत्ती।
पडिसेवंतो वि अओ,
अदोसवं होइ तं पूयं॥

अर्हत् क्षीणकषाय होते हैं। वे कृतकृत्य और जीतकल्प का अनुवर्तन करते हैं। वे पूजा का सेवन करते भी अदोषी होते हैं।

१७८२.साहम्मिओ न सत्था, तस्स कयं तेण कप्पइ जईणं।
जं पुण पडिमाण कयं, तस्स कहा का अजीवत्ता॥

तीर्थंकर किसी के साधर्मिक नहीं होते। इसलिए उनके लिए कृत मुनियों के लिए कल्पता है। तो फिर अजीव प्रतिमाओं के लिए किए हुए की बात ही क्या?

१७८३.ठाइमठाई ओसरण मंडवा संजयट्ठ देसे वा।
पेढी भूमीकम्मे, निसेवतो अणुमई दोसा॥

समवसरण में अनेक मुनि आयेंगे—यह सोचकर श्रावक स्थायी अथवा अस्थायी मंडप बनाते हैं। वे भी दो प्रकार के होते हैं—संयतों के लिए निर्मित तथा देशतः निर्मित—साधुओं के लिए तथा स्वयं के लिए। इसी प्रकार बैठने के लिए पेढी—पीठिका का निर्माण, भूमीकर्म—ऊबड़-खंड भूमी को सम-करना—इन सबका सेवन करने से अनुमति का दोष लगता है। ये सदोष हैं।

१७८४.ठवियग-संछोभादी, दुसोहया होंति उग्गमे दोसा।
वंदिज्जंते दट्ठुं, इयरे सेहा तहिं गच्छे॥

'संछोभ' आदि—ऐसे कुल जिनमें अनेषणीय भक्त-पान की आशंका नहीं की जा जाती थी, वे कुल संयतों के लिए भक्त-पान स्थापित कर देते थे। उद्गम दोष वहां दुःशोध्य होते थे। पार्श्वस्थ आदि मुनियों की पूजा-वंदना करते हुए लोगों को देखकर शैक्ष मुनि उन पार्श्वस्थ मुनियों के पास जाने के इच्छुक हो जाते हैं।

१७८५.इत्थी विउव्वियाओ, भुत्ता-ऽभुत्ताण दट्ठु दोसा उ।
एमेव नाडइज्जा, सविब्भमा नच्चिय-पगीया॥

वस्त्र, अलंकार आदि से विभूषित स्त्रियों को देखकर भुक्त-अभुक्त मुनियों में दोष उद्भूत हो सकते हैं। इसी प्रकार नाटकीय—नाट्यस्त्रियों को सविभ्रम और नृत्य करते हुए तथा गीत गाते हुए देखकर-सुनकर भुक्त-अभुक्त आदि में उत्पन्न दोष होते हैं।

१७८६.थी-पुरिसाण उ फासे, गुरुगा लहुगा सई य संघट्टे।
आया-संजमदोसा, ओभावण-पच्छकम्मादी॥

समवसरण में स्त्रियों का स्पर्श होने पर गुरुमास का और पुरुषों का स्पर्श होने पर चार लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। स्मृति और संघट्टन होने पर भुक्तभोगियों के कौतुक होता है। इससे आत्मविराधना और संयमविराधना होती है। संघट्टन आदि से मुनियों की अपभ्राजना और पश्चात्कर्म होता है।

१७८७.लूया कोलिगजालग, कोत्थलकारीय उवरि गेहे य।
साडिंतमसाडिंते, लहुगा गुरुगा अभत्तीए॥

चैत्य का प्रमार्जन न करने पर प्रतिमाओं पर ये हो सकते हैं—मकड़ी, मकड़ी के जाल, भ्रमरी के घर आदि। इनको हटाने पर चार लघुमास का प्रायश्चित्त आता है और हटाने

---

१. (क) 'दाणि'—वाक्यालंकार में प्रयुक्त निपात।
(ख) साभव्व—त्ति स्वो भावः स्वभावः....तस्स भावः स्वाभाव्यं।
(ग) उदए जस्स सुराऽसुर-नरवइनिवहेहिं पूइओ लोए।
तं तित्थयरं नामं, तस्स विवागो हु केवलिणो॥
(बृहत्कर्म. वि. गा. १४९)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर भक्ति नहीं होती। उस स्थिति में चार गुरुमास का प्रायश्चित्त विहित है।

१७८८.घट्टाइ इयरखुड्डे, दट्ठुं ओगुंडिया तहिं गच्छे।
उक्कुट्ठघर-धणाईववहारा चेव लिंगीणं॥

१७८९.छिंदंतस्स अणुमई,
अमिलंत अछिंदओ य उक्खिवणा।
छिद्दाणि य पेहंती,
नेव य कज्जेसु साहिज्जं॥

पार्श्वस्थ मुनियों के क्षुल्लकों को घृष्ट-मृष्ट (सजे-संवरे हुए) देखकर संविग्नक्षुल्लक जो मैले-कुचैले हैं, वे उन क्षुल्लकों के पास चले जाते हैं। वहां उनके बीच परस्पर उत्कृष्ट घर, धन आदि विषयक व्यवहार–विवाद होता है। और विवाद को निपटाने के लिए संविग्नों को बुलाया जाता है। यदि उनके विवाद का समाधान किया जाता है तो समाधान देने वाले को गृह, धन आदि के अनुमोदन का दोष लगता है। यदि वे परस्पर नहीं मिलते और विवाद का अन्त नहीं आता है तो साधुओं को संघ से निकाल दिया जाता है। वे साधुओं के छिद्र देखते हैं। वे साधुओं के कार्य में सहायक नहीं होते। इसलिए रथयात्रा आदि में बिना प्रयोजन नहीं जाना चाहिए।

१७९०.चेइयपूया रायानिमंतणं सन्नि वाइ खमग कही।
संकिय पत्त पभावण, पवित्ति कज्जाइं उड्डाहो॥

निम्न कारणों से रथयात्रा आदि में अवश्य जाना चाहिए–चैत्यपूजा के लिए राजा का नियंत्रण प्राप्त होने पर, कोई श्रावक प्रतिष्ठा आदि कराने का इच्छुक हो, जहां वादी, क्षपक, धर्मकथी का आगमन होता हो, सूत्रार्थगत शंकाओं का समाधान करने के लिए, पात्र–वहां योग्य शिष्य की प्राप्ति हो सकती है, संघ की प्रभावना होती है, आचार्य आदि की कुशलक्षेमवार्ता वहां प्राप्त होती है, कुल आदि के कार्य संपादित करने के लिए तथा उड्डाह आदि के निवारण के लिए।

१७९१.सद्धावुड्ढी रन्नो, पूयाए थिरत्तणं पभावणया।
पडिघातो य अणत्थे, अत्था य कया हवइ तित्थे॥

कोई राजा रथयात्रा महोत्सव करने का इच्छुक होकर यत्र-तत्र निमंत्रण भेजता है, उस निमंत्रण पर आनेवाले मुनि राजा की श्रद्धा में वृद्धि करते हैं। चैत्यपूजा से स्थिरता और तीर्थ की प्रभावना होती है। जैनशासन के प्रत्यनीकों का प्रतिघात होता है। तीर्थ के प्रति आस्था पैदा होती है।

१७९२.एमेव य सन्नीण वि, जिणाण पडिमासु पढमपट्ठवणे।
मा परवाई विग्घं, करिज्ज वाई अओ विसइ॥

इसी प्रकार जो श्रावक पहली बार प्रतिमा-प्रतिष्ठा कराने का इच्छुक हो और उसमें मुनिगण की उपस्थिति होने पर उसकी श्रद्धा वृद्धिंगत होती है। वहां वादी इसलिए प्रवेश करता है कि प्रतिवादी उसमें विघ्न पैदा न कर सके।

१७९३.नवधम्माण थिरत्तं, पभावणा सासणे य बहुमाणो।
अभिगच्छंति य विदुसा, अविग्घ पूया य सेयाए॥

नये श्रावकों का स्थिरीकरण होता है। जिनशासन की प्रभावना और बहुमान होता है। तत्रस्थ विद्वान् व्यक्ति उस वादी को सुनने आते हैं। पूजा भी विघ्नरहित संपन्न होती है और वह सबके श्रेयस् के लिए होती है।

१७९४.आयाविंति तवस्सी, ओभावणया परप्पवाईणं।
जइ एरिसा वि महिमं, उविंति कारिंति सड्ढा य॥

समागत तपस्वी मुनि विविध तपस्याएं करते हैं। यह देखकर अन्य तीर्थिकों को अपने-आप में लघुता का अनुभव होता है। श्रावक सोचते हैं–ऐसे-ऐसे महान् तपस्वी भी चैत्य-पूजा की महिमा देखने आते हैं तो वे श्राद्ध विशेष श्रद्धाभाव से पूजा आदि कराते हैं।

१७९५.आय-परसमुत्तारो, तित्थविवड्ढी य होइ कहयंते।
अन्नोन्नाभिगमेण य, पूया थिरया य बहुमाणो॥

धर्मकथी द्वारा धर्मकथा करने पर स्व और पर का संसार सागर से निस्तरण होता है। तीर्थ की विवृद्धि होती है। अन्यान्यश्रावकों का अवबोध से पूजा में स्थिरता और बहुमान होता है।

१७९६.निस्संकियं च काहिइ, उभए जं संकियं सुयहरेहिं।
अव्वोच्छित्तिकरं वा, लब्भिहि पत्तं दुपक्खाओ॥

वहां आने वाला मुनि सूत्र और अर्थ विषयक शंकाओं को श्रुतधर से समाधान प्राप्तकर निःशंकित हो जाता है। वहां अव्यवच्छित्तिकारक द्विपक्ष आधृत–गृहस्थपक्ष अथवा संयत-पक्ष–शिष्य की प्राप्ति हो सकती है।

१७९७.जाइ-कुल-रूव-धण-बलसंपन्ना इड्ढिमंतनिक्खंता।
जयणाजुत्ता य जई, समेच्च तित्थं पभाविंति॥

जाति, कुल, रूप, धन तथा बल से संपन्न–ऐसे राजपुत्र आदि अभिनिष्क्रमण करने वाले तथा यतनायुक्त मुनि वहां आकर तीर्थ की प्रभावना करते हैं।

१७९८.जो जेण गुणेणऽहिओ,
जेण विणा वा न सिज्झए जं तु।
सो तेण तम्मि कज्जे,
सव्वत्थामं न हावेइ॥

जो मुनि जिस गुण से अधिक है, अतिशायी है, जिसके बिना जो कार्य सिद्ध नहीं होता, वह उस कार्य की संपन्नता में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपनी शक्ति का सर्वथा गोपन नहीं करता, किन्तु पूर्ण शक्ति लगाकर कार्य संपन्न करता है।

(प्रावचनी धर्मकथी, वादी नैमित्तिकस्तपस्वी च।
जिनवचनज्ञश्च कविः, प्रवचनमुद्भावयन्त्येते॥)

प्रवचनकार, धर्मकथा करनेवाला, वाद-विवाद में निपुण, नैमित्तिक, तपस्वी, जिनवाणी का मर्मज्ञ, तथा कवि—ये सात व्यक्ति प्रवचन—जिनशासन की प्रभावना करते हैं।

१७९९.साहम्मि-वायगाणं, खेम-सिवाणं च लब्भिइ पवित्तिं।
गच्छिहिति जहिं ताइं, होहिंति न वा वि पुच्छइ वा॥

वहां जाने पर दूरदेश से समागत साधर्मिक मुनियों की तथा वाचक—आचार्य की गतिविधियों की जानकारी प्राप्त होती है। क्षेम-शिव अर्थात् सुभिक्ष-दुर्भिक्ष आदि की अवगति होती है। अथवा जिस क्षेत्र में स्वयं जाता है वहां साधर्मिकों को पूछकर क्षेम-शिव आदि के विषय में जान लेता है।

१८००.कुलमादीकज्जाइं, साहिस्सं लिंगिणो य सासिस्सं।
जे लोगविरुद्धाइं, करेंति लोगुत्तराइं च॥

वहां जाकर मैं कुल, गण आदि के कार्यों को संपादित करूंगा। जो लिंगी—पार्श्वस्थ आदि मुनि लोकविरुद्ध लोकोत्तर कार्य कर रहे हैं, उनको शिक्षा दूंगा।

१८०१.एएहिं कारणेहिं, पुव्वं पडिलेहिऊण अइगमणं।
अद्धाणनिग्गयादी, लग्गा सुद्धा जहा खमओ॥

इन कारणों से रथयात्रा आदि में जाना है, यह सोचकर जाने से पूर्व वहां की प्रत्युपेक्षा कर पश्चात् अतिगमन करना चाहिए। जो मुनि यात्रा में प्रस्थित हैं और किसी क्षेत्र में अपूर्व उत्सव का योग प्राप्त हो जाए तो पूर्व प्रत्युपेक्षा के बिना भी उस क्षेत्र में जाए और अशुद्ध भक्त-पान ग्रहण का दोष हो जाने पर भी वे शुद्ध हैं। जैसे—क्षपक।[1]

१८०२.नाऊण य अइगमणं, गीए पेसिंति पेहिउं कज्जे।
उवसय भिक्खायरिया, बाहिं उब्भामगादीया॥

१८०३.सब्भाविक इयरे वि य, जाणंती मंडवाइणो गीया।
सेहादीण य थेरा, वंदणजुत्तिं बहिं कहए॥

चैत्यपूजा आदि कार्य उत्पन्न होने पर क्षेत्र-प्रत्युपेक्षा के लिए गीतार्थ मुनियों को भेजा जाता है। उनसे क्षेत्र-स्वरूप की जानकारी प्राप्त कर अतिगमन करना चाहिए। प्रत्युपेक्षा के ये विषय हैं—मूलगांव में उपाश्रय है या नहीं। वहां भिक्षाचर्चा, विचारभूमी कैसी है। बाह्य गांव में उद्भ्रामक भिक्षाचर्या है या नहीं। गीतार्थ मुनि जान जाते हैं कि मंडपों का निर्माण स्वाभाविक है अथवा ये संयतों के लिए किए हुए हैं। इस प्रकार प्रत्युपेक्षित क्षेत्र की जानकारी प्राप्त कर आचार्य अपने गच्छ के साथ उस अनुयानक्षेत्र में जाते हैं। स्थविर मुनि बाहर रहते हुए भी शैक्ष मुनियों को वंदनयुक्ति का कथन करते हैं—पार्श्वस्थ मुनियों की वंदनाविधि के विषय में बताते हैं। जिससे कि शैक्षों का मन विपरिणत न हो।

१८०४.निस्सकडमनिस्से वा, वि चेइए सव्वहिं थुई तिन्नि।
वेलं च चेइयाणि य, नाउं एक्किक्किया वा वि॥

निश्राकृत (गच्छप्रतिबद्ध) अथवा अनिश्राकृत चैत्य में सर्वत्र तीन स्तुतियां दी जाती हैं। चैत्य अधिक हों और वेला का अतिक्रमण होता हो तो प्रत्येक चैत्य में एक-एक स्तुति दी जा सकती है।

१८०५.निस्सकडे ठाइ गुरू, कइवयसहिएयरा वए वसहिं।
जत्थ पुण अनिस्सकडं, पूरिंति तहिं समोसरणं॥

निश्राकृत चैत्य में आचार्य कुछेक परिणत शिष्यों के साथ रहते हैं और आचार्य की आज्ञा से वे शिष्य वहां से वसति में जा सकते हैं, बिना आज्ञा नहीं। जहां अनिश्राकृत चैत्य हो, वहां आचार्य समवसरण पूर्ण कर धर्मकथा करते हैं।

१८०६.संविग्गेहि य कहणा, इयरेहिं अपच्चओ न ओवसमो।
पव्वज्जाभिमुहा वि य, तेसु वए सेहमादी वा॥

संविग्न मुनियों को धर्मकथा करनी चाहिए क्योंकि असंविग्न मुनियों के प्रति विश्वास नहीं होता और न उनसे उपशम अर्थात् सम्यग्दर्शन आदि की प्राप्ति होती है। प्रव्रज्या ग्रहण करने के इच्छुक शैक्ष उन असंविग्नों के प्रति आकृष्ट हो जाते हैं।

१८०७.पूरिंति समोसरणं, अन्नासइ निस्सचेइएसुं पि।
इहरा लोगविरुद्धं, सद्धाभंगो य सड्ढाणं॥

असंविग्न मुनियों के न होने पर निश्राकृत चैत्यों में भी समवसरण पूरा कर धर्मदेशना देते हैं, अन्यथा लोकापवाद होता है। इससे श्रावकों का श्रद्धाभंग होता है।

१८०८.पुव्वविट्ठेहिं समं, हिंडंती तत्थ ते पमाणं तु।
साभाविअभिक्खाओ, विदंतऽपुव्वा य ठवियादी॥

जो क्षेत्र की प्रत्युपेक्षा के लिए पहले वहां गए हुए हैं,

---

१. एक तपस्वी था। वह शुद्ध भक्त-पान की गवेषणा करता हुआ नगरी में घूम रहा था। बहुत प्रयत्न करने पर भी उसे भक्त-पान की प्राप्ति नहीं हुई। इतने में उसने देखा कि एक श्राविका वन्दना कर भक्त-पान ग्रहण करने के लिए प्रार्थना कर रही है। मुनि ने पूर्ण यतनापूर्वक, पूछताछ कर भक्त-पान ग्रहण किया। परंतु यथार्थ में वह श्राविका नहीं थी। उसने मुनि को छलने के लिए ही श्राविका का रूप बनाया था और आधाकर्मिक आहार-पानी मुनि को दिया था। इस स्थिति में भी मुनि अशुद्ध परिणामों वाली दात्री से गृहीत भक्त-पान शुद्ध है।
(पिंडनिर्युक्ति २०९,१०,११)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उनके साथ भिक्षाचर्या के लिए घूमते हुए, वे मुनि ही प्रमाणभूत होते हैं। क्योंकि वे ही जान सकते हैं कि यह भिक्षा स्वार्थनिष्पादित है—स्वयं के लिए की हुई है और यह अपूर्व भिक्षा है—संयतों के लिए स्थापित है।

१८०९.वंदेण इंति निंति व, जुव मज्झे थेर इत्थिओ तेणं।
ठंति न य नाडएसुं, अह ठंति न पेह रागादी॥

स्त्रीसंकुल स्थानों में मुनि समूह में जाते-आते हैं। जो युवा मुनि हैं उनको मध्य में रखा जाता है। जिस ओर स्त्रियां होती हैं, उस ओर स्थविर रहते हैं। जहां नाटक आदि होते हैं, वहां वे नहीं ठहरते। यदि कारणवश वहां रुकना पड़ता है तो वे वहां नर्तकी आदि का रूप नहीं देखते। यदि दृष्टि उस ओर सहसा चली जाए तो राग आदि नहीं करते।

१८१०.सीलेह मंखफलए, इयरे चोयंति तंतुमादीसु।
अभिजोयंति सवित्तिसु, अणिच्छि फेडंतऽदीसंता॥

इतर अर्थात् असंविग्न देवकुलिक। उनको वे साधु तन्तुजाल-मकड़ी के जाल आदि को साफ करने के लिए प्रेरित करते हैं। वे कहते हैं—मंखफलक की भांति देवकुल का परिमार्जन करो। वे देवकुलिक सवृत्तिक होते हैं। वे साधु उनकी निर्भर्त्सना करते हैं। यदि वे तन्तुजाल आदि को हटाना न चाहें तो किसी के न देखते हुए स्वयं मुनि उनका अपनयन करते हैं।

१८११.उज्जलवेसे खुड्डे, करिंति उव्वट्टणाइचोक्खे अ।
न य मुच्चंतऽसहाए, दिंति मणुन्ने य आहारे॥

वे मुनि क्षुल्लक मुनियों को उज्ज्वलवेष धारण करवाते हैं, उद्वर्तन आदि से उनके शरीर को सुन्दर बना देते हैं, उन क्षुल्लकों को वे एकाकी नहीं छोड़ते और उनको मनोज्ञ आहार आदि लाकर देते हैं।

१८१२.आतुरचिण्णाइं एयाइं, जाइं चरइ नंदिओ।
सुक्कत्तेणेहि जावेहि, एयं दीहाउलक्खणं॥

गाय ने वत्स से कहा—वत्स! इस नंदिक (मेष) को जो मनोज्ञ आहार आदि दिया जा रहा है, वह सारा आतुरचीर्ण है अर्थात् मरणासन्न रोगी को दिए जाने वाले पथ्य-अपथ्य आहार की भांति है। इसलिए हे वत्स! तू शुष्क तृणों से अपने शरीर का निर्वाह कर। यह दीर्घ आयुष्य का लक्षण है।[1] इसी प्रकार ये जो असंविग्नक्षुल्लक मनोहर आहार आदि से लालित-पालित हो रहे हैं यह सारा नन्दिक (मेष) के लालन-पालन की तरह ही है।)

१८१३.न मिलंति लिंगिकज्जे, अच्छंति व मेलिया उदासीणा।
बिंति य निब्बंधम्मिं, करेमु तिव्वं खु भे दंडं॥

ये लिंगी—अन्यलिंगी मुनि अपने गृह, धन आदि के विवादास्पद कार्यों के लिए एकत्र नहीं मिलते और यदि मिलते हैं तो उदासीन ही रहते हैं। परस्पर बातचीत कर विवाद को नहीं निपटाते। वे आकर संविग्न मुनियों को कहते हैं—हमारे विवाद का समाधान करो। इस प्रकार निर्बन्ध करने पर साधु कहते हैं—हम विवाद का समाधान कर देंगे, परंतु आपके दोनों पक्षों को तीव्र दंड देंगे।

१८१४.अद्धाणनिग्गयादी, थाणुप्पाइयमहं व सोऊण।
गेलन्न-सत्थवसगा, महाणदी तत्तिया वा वि॥

मार्ग में जाते हुए सहसा उस गांव को प्राप्त हो गए अथवा स्थानौत्पातिकमह—वहां के श्रावकों ने कोई अपूर्व उत्सवविशेष करना प्रारंभ कर दिया अथवा उत्सवविशेष की बात सुनकर या किसी ग्लान मुनि की सेवा में व्यापृत हो गए या किसी सार्थ के परवश होने के कारण या मार्गगत महानदी आ जाने पर—इन कारणों से अथवा इनमें से किसी भी कारण से क्षेत्रप्रत्युपेक्षकों को नहीं भेजा जाता। अतः अप्रत्युपेक्षित क्षेत्र में प्रवेश करना भी अनुचित नहीं है।

१८१५.समणुन्नाऽसइ अन्ने, वि पुच्छिउं दाणमाइ वज्जिंति।
दव्वाई पेहंता, जइ लग्गंती तह वि सुद्धा॥

यदि उस क्षेत्र में पूर्वप्रविष्ट समनोज्ञ मुनि हों तो उनके साथ भिक्षा के लिए जाए। वहां समनोज्ञ मुनि न हों और अन्य सांभोगिक मुनि हों तो उन्हें पूछकर दानश्राद्धकुलों को छोड़कर शेष कुलों में भिक्षाटन करे। शेष कुलों में द्रव्यतः क्षेत्रतः और भावतः शुद्ध एषणा करे। यदि वहां स्थापना आदि दोष लगते हैं, फिर भी उनकी एषणा शुद्ध है।

१८१६.पुरकम्मम्मि य पुच्छा,
किं कस्साऽऽरोवणा य परिहरणा।
एएसिं तु पयाणं,
पत्तेयपरूवणं वोच्छं॥

पुरःकर्म विषयक पृच्छा करनी चाहिए। पुरःकर्म क्या है? किसका पुरःकर्म होता है? पुरःकर्म की आरोपणा क्या है? पुरःकर्म का परिहरण कैसे किया जाता है?—इन चारों पदों की, प्रत्येक की, मैं प्ररूपणा करूंगा।

१८१७.जइ जं पुरतो कीरइ, एवं उद्धाण-गमणमादीणि।
होंति पुरेकम्मं ते, एमेव य पुव्वकम्मं वि॥

१८१८.एवं फासुमफासुं, न विज्जए न वि य काइ सोही ते।
हंदि हु बहूणि पुरतो, कीरंति कयाणि पुव्वं च॥

जिज्ञासु कहता है—साधु भिक्षा के लिए घर में आ गए। उनके आगे दान देने के लिए उठना, चलना-फिरना आदि करना ये सारे पुरःकर्म होते हैं। इसी प्रकार पुरःकर्म को

१. देखें कथा परिशिष्ट, नं. ६६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समझना चाहिए। इस संदर्भ में भी पूर्वार्थवाचक पुरः शब्द है। इसका तात्पर्य है कि साधु के आगमन से पूर्व उसके निमित्त किए जाने वाले कर्म पुरःकर्म हैं। इस विधि में प्रासुक-अप्रासुक नहीं जाना जाता। इसकी शोधि–प्रायश्चित्त भी नहीं हो सकता। भंते! बहुत सारी प्रवृत्तियां दायक पहले करता है, दायक ने पहले बहुत प्रवृत्तियां की हैं–ये सारी प्रवृत्तियां पुरःकर्म के अंतर्गत आयेंगी।

१८१९.कामं खलु पुरसद्दो, पच्चक्ख-परोक्खतो दुहा होइ।
तह वि य न पुरेकम्मं, पुरकम्मं चोदग! इमं तु॥

आचार्य कहते हैं–पुरः शब्द प्रत्यक्ष और परोक्ष–दोनों अर्थ देता है, यह अनुमत है। फिर भी वे क्रियाएं पुरःकर्म नहीं होतीं। हे वत्स! पुरःकर्म की व्याख्या यह है।

१८२०.हत्थं वा मत्तं वा, पुव्विं सीतोदएण जं धोवे।
समणट्ठाए दाया, पुरकम्मं तं विजाणाहि॥

श्रमण को भिक्षा से पूर्व दाता हाथ और पात्र को सचित्त जल से धोता है, उसे पुरःकर्म जानना चाहिए।

१८२१.कस्स त्ति पुरेकम्मं, जइणो तं पुण पभू सयं कुज्जा।
अहवा पभुसंदिट्ठो, सो पुण सुहि पेस बंधू वा॥

यह पुरःकर्म किसके होता है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि यह साधु के लिए होता है। वह पुरःकर्म गृहस्वामी स्वयं करता है अथवा गृहस्वामी द्वारा संदिष्ट दूसरा कोई करता है। गृहस्वामी द्वारा संदिष्ट के तीन प्रकार हैं–सुहृद्, दास-दासी अथवा माता, भगिनी आदि।

१८२२.दमए पमाणपुरिसे,जाए पंतीए ताण मोत्तूणं।
सो पुरिसो तं वऽन्नं, तं दव्वं अन्नो अन्नं वा॥

द्रमक–भोजन परोसने के लिए नियुक्त कर्मकर, प्रमाण-पुरुष देयद्रव्यस्वामी–इन्होंने पंक्ति–भोज्य में पुरःकर्म किया है, उसको छोड़कर, वे अन्य पंक्ति में चले जाते हैं और वे यदि परिणत हस्त हों तो उनसे लेना कल्पता है। वह पुरुष उस पंक्ति में अथवा अन्य पंक्ति में, वह द्रव्य अथवा अन्य द्रव्य–प्रत्येक के चार-चार विकल्प होते हैं।

१८२३.सो तं ताए अन्नाए बिइअओ अन्न तीए दो वऽन्ने।
एमेव य अन्नेण वि, भंगा खलु होंति चत्तारि॥

अष्ट भंगों की रचना इस प्रकार है–

(१) वह पुरुष, वह द्रव्य और उस पंक्ति में।
(२) वह पुरुष, वह द्रव्य, अन्य पंक्ति में।
(३) वह पुरुष, अन्य द्रव्य, उस पंक्ति में।
(४) वह पुरुष, अन्य द्रव्य, अन्य पंक्ति में।

इसी प्रकार अन्य पुरुष के आधार पर भी चार विकल्प होते हैं–

(५) अन्य पुरुष, वह द्रव्य, उस पंक्ति में।
(६) अन्य पुरुष, वह द्रव्य, अन्य पंक्ति में।
(७) अन्य पुरुष, अन्य द्रव्य, उस पंक्ति में।
(८) अन्य पुरुष अन्य द्रव्य, अन्य पंक्ति में।

१८२४.कप्पइ समेसु तह सत्तमम्मि तइयम्मि छिन्नवावारे।
अत्तट्ठियम्मि दोसुं, सव्वत्थ य भयसु कर-मत्ते॥

इन विकल्पों में से सम विकल्प अर्थात् दूसरे, चौथे, छठे तथा आठवें विकल्प में लेना कल्पता है। सातवें विकल्प में भी कल्पता है, क्योंकि पुरुषान्तर से अन्य द्रव्य दिया जा रहा है। तीसरे विकल्प में छिन्नव्यापार होने के कारण कल्पता है। जैसे साधु को दान देने के लिए हाथ धोए, वह यदि अन्य प्रवृत्ति में लग जाता है तो कल्पता है। दो विकल्पों–प्रथम और पंचम–में यदि वह द्रव्य आत्मार्थित होता है तो वह कल्पता है। सर्वत्र अर्थात् आठों विकल्पों में हस्त और मात्रक उदकार्द्र हो तो नहीं कल्पता, अन्यथा कल्पता है।

१८२५.अच्चुसिण चिक्कणे वा, कूरे धुविउं पुणो पुणो देइ।
आयमिऊणं पुव्वं, दइज्ज जइणं पढमयाए॥

दाता जब यह देखता है कि कूर अत्युष्ण तथा चिकना है तो वह बार-बार हाथ धोकर मुनि को कूर देता है, तब पुरःकर्म होता है। अथवा पहले आचमन कर, हस्त या पात्र धोकर पहले साधुओं को देता है, फिर दूसरों को परोसता है तब भी पुरःकर्म होता है।

१८२६.दाऊण अन्नदव्वं, कोई दिज्जा पुणो वि तं चेव।
अत्तट्ठिय-संकामियगहणं गीयत्थसंविग्गे॥

पंक्ति में दूसरों को अन्य द्रव्य देकर उसी अनेषणाकृत द्रव्य को साधु को देता है, इस प्रकार पूर्व प्रवृत्ति के छिन्न हो जाने पर, आत्मार्थित हो जाने पर वह द्रव्य कल्पता है। अनेषणीय द्रव्य भी संक्रामित हो जाने पर उसका ग्रहण कल्पता है। गीतार्थ इसे ग्रहण कर सकता है। ग्रहण करने पर भी वह संविग्न है।

१८२७.गीयत्थग्गहणेणं, अत्तट्ठियमाइ गिण्हई गीतो।
संविग्गग्गहणेणं, तं गिण्हंतो वि संविग्गो॥

गीतार्थ मुनि के ग्रहण करने पर यह ज्ञात हो जाता है कि यह आत्मार्थित द्रव्य है। संक्रामित द्रव्य को भी गीतार्थ ही ग्रहण कर सकता है। संविग्न के ग्रहण से यह ज्ञात होता है कि आत्मार्थित आदि द्रव्य लेने वाला गीतार्थ संविग्न ही होता है, असंविग्न नहीं।

१८२८.पुरतो वि हु जं धोयं, अत्तट्ठाए न तं पुरेकम्मं।
तं उदउल्लं ससिणिद्धगं व सुक्खे तहिं गहणं॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधु के समक्ष भी अपने लिए धौत हस्त या पात्र भी पुरःकर्म नहीं होता, उदकार्द्र और सस्निग्ध होता है। सूख जाने पर उनसे लेना पुरःकर्म नहीं होता।

१८२९.तुल्ले वि समारंभे, सुक्के गहणेक्क एक्क पडिसेहो।
अन्नत्थ छूढ तावित, अत्तट्ठे होइ खिप्पं तु॥

उदकार्द्र और पुरःकर्म में अप्काय समारंभ तुल्य होने पर भी एक-एक उदकार्द्र में शुष्क होने पर ग्रहण करना कल्पता है, परन्तु एक-एक पुरःकर्म में शुष्क होने पर भी ग्रहण करने का निषेध है। हाथ या मात्रक को अपने स्व के लिए प्रासुक द्रव्य में डाल दे अथवा तापित कर दे तो शीघ्र ही ग्रहण किया जा सकता है।

१८३०.चाउम्मासुक्कोसे, मासिय मज्झे य पंचग जहन्ने।
पुरकम्मे उदउल्ले, ससिणिद्धाऽऽरोवणा भणिया॥

उदक समारंभ पुरःकर्म का उत्कृष्ट अपराधपद है, उदकार्द्र मध्यम तथा सस्निग्ध जघन्य अपराधपद है। उत्कृष्ट में प्रायश्चित्त है चार लघुमास, मध्यम में लघुमास और जघन्य में पांच रात-दिन। इस प्रकार पुरःकर्म उदकार्द्र और सस्निग्ध की आरोपण कही गई है।

१८३१.परिहरणा वि य दुविहा,
विहि-अविहीए अ होइ नायव्वा।
पढमिल्लुगस्स सव्वं,
बिइयस्स य तम्मि गच्छम्मि॥

१८३२.तइयस्स जावजीव, चउत्थस्स य तं न कप्पए दव्वं।
तद्दिवस एगगहणे, नियट्टगहणे य सत्तमए॥

परिहरणा भी दो प्रकार की जाननी चाहिए–विधि परिहरणा और अविधिपरिहरणा। अविधिपरिहरणा के सात प्रकार हैं–

(१) पहले के समस्त द्रव्य यावज्जीवन अकल्पनीय होना है।
(२) दूसरे के उसी गच्छ में यावज्जीवन।
(३) तीसरे के उसी एक के सारा द्रव्य अकल्पनीय होता है यावज्जीवन।
(४) चौथे के वह द्रव्य यावज्जीवन।
(५) पांचवे के उस दिन सब द्रव्य।
(६) छठे के वह द्रव्य अकल्पनीय होता है।
(७) सातवें में निवृत्त साधु को परिणत हाथ से ग्रहण कल्पता है।

१८३३.पढमो जावज्जीवं, सव्वेसिं संजयाण सव्वाणि।
दव्वाणि निवारेई, बीओ पुण तम्मि गच्छम्मि॥

१८३४.तइओ जावज्जीवं, तस्सेवेगस्स सव्वदव्वाइं।
वारेइ चउत्थो पुण, तस्सेवेगस्स तं दव्वं॥

१८३५.सव्वाणि पंचमो तद्दिणं तु तस्सेव छट्ठो तं दव्वं।
सत्तमओ नियट्टंतो, गिण्हइ तं परिणयकरम्मि॥

पहला कहता है–जिसने जिसके लिए पुरःकर्म किया है, दोनों जब तक जीवित हैं तब तक स्वगच्छ-परगच्छ के सभी साधुओं के लिए सारे द्रव्यों का निवारण किया जाता है। दूसरा उसी गच्छ में सभी साधुओं के लिए यावज्जीवन सारे द्रव्य का निवारण करता है। तीसरा कहता है–जिसके लिए पुरःकर्म किया उस अकेले को सारे द्रव्य अकल्पनीय होते हैं। चौथा कहता है–वह द्रव्य अकेले उसके लिए परिहरणीय है। पांचवा कहता है–उसके घर में एक दिन तक सभी द्रव्य अकल्पनीय हैं। छठा कहता है–वह द्रव्य उस दिन न लिया जाए। सातवां कहता है–दाता का हाथ परिणत हो जाने पर, भिक्षा करके निवर्तमान मुनि उससे ग्रहण कर सकता है।

१८३६.एगस्स पुरेकम्मं, वत्तं सव्वे वि तत्थ वारिंति।
दव्वस्स य दुल्लभता, परिचत्तो गिलाणओ तेहिं॥

जहां एक साधु के लिए पुरःकर्म किया है वहां सभी द्रव्यों का वारण किया जाता है। इससे द्रव्य की दुर्लभता हो जाने पर उन मुनियों द्वारा ग्लान मुनि परित्यक्त हो जाता है।

१८३७.जेसिं एसुवएसो, आयरिया तेहि ऊ परिच्चत्ता।
खमगा पाहुणगा वि य, सुव्वत्तमजाणगा ते उ॥

यह उपदेश उन यथाच्छंदवादियों के लिए है क्योंकि उनकी इस प्रवृत्ति के द्वारा आचार्य, क्षपक और प्राघूर्णक परित्यक्त हो जाते हैं। उन्हें अपने प्रायोग्य दुर्लभ द्रव्य की प्राप्ति नहीं होती। वे यथाच्छंदवादी स्पष्टरूप से अज्ञ–अजानकार होते हैं।

१८३८.अद्धाणनिग्गयाई, उब्भामग खमग अक्खरे रिक्खा।
मग्गण कहण परंपर, सुव्वत्तमजाणगा ते वि॥

जो मुनि अध्वनिर्गत अर्थात् अन्यत्र गए हुए हों, उद्भ्रामक–बहिर्ग्राम में भिक्षा के लिए गए हुए हों वे उस गृह में प्रवेश न कर दें जहां पुरःकर्म किया गया है, इसकी जानकारी देने के लिए तत्रस्थ मुनि एक क्षपक को वहां बिठा देते हैं। क्षपक के न होने पर उस घर की दीवार पर ये अक्षर लिख दे–'इस घर में पुरःकर्म किया है, कोई यहां से भिक्षा न ले।' ये अक्षर न लिख सके तो उस घर की दीवार पर रेखाएं खींच दे। उसके अभाव में साधुओं की मार्गणा कर, एकत्रित कर, उनको उस घर की जानकारी दे। वे साधु भी परम्परा से अन्य साधुओं को यह बात

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बताएं–इस प्रकार जो कहते हैं, करते हैं, वे स्पष्टरूप से अज्ञ हैं–ऐसा आचार्य का कथन है।

१८३९.उब्भामग-ऽणुब्भामग-सगच्छ-परगच्छजाणणट्ठाए।
अच्छइ तहियं खमओ, तस्सऽसइ स एव संघाडो॥

१८४०.जइ एगस्स वि दोसा,
अक्खर न उ ताइं सव्वतो रिक्खा।
जइ फुसण संकदोसा,
हिंडंता चेव साहंति॥

उद्भ्रामक–बहिर्ग्राम में भिक्षाटन करने वाले, अनुद्भ्रामक–मूल ग्राम में भिक्षाटन करने वाले, स्वगच्छ तथा परगच्छ–इन सब साधुओं को जानकारी देने के लिए उस घर के आगे एक क्षपक बैठा रहता है। क्षपक के अभाव में जो संघाटक वहां आता है, वह बैठ जाता है। यदि उस संघाटक में से एक मुनि वहां नहीं बैठ सकता तो दूसरा मुनि अकेला वहां बैठता है। यदि उस अकेले मुनि के समक्ष कोई स्त्रीसमुत्थ दोष आता है तो वह पुरःकर्म सूचक अक्षर उस घर की भींत पर लिख कर अपने उपाश्रय में चला जाता है। यदि उन अक्षरों को लिखने में असमर्थ हो तो साधुजन-सांकेतिकी रेखा कर दे। उस रेखा की स्पर्शना की आशंका ये दोष जान पड़े तो वे ही मुनि भिक्षाटन करते हुए अन्यान्य मुनियों को बताएं।

१८४१.एसा अविही भणिया, सत्तविहा खलु इमा विही होइ।
तत्थाई चरिमदुए, अत्तट्ठियमाइ गीयस्स॥

यह सात प्रकार की अविधिपरिहरणा बताई गई है। विधिपरिहरणा इस प्रकार है। वह आठ प्रकार की है। उसमें प्रथम और अंतिम–ये दो प्रकार आत्मार्थित आदि होने पर गीतार्थ का ग्रहण होता है। (स्पष्टार्थ आगे की गाथा में)

१८४२.एगस्स बीयगहणे, पसज्जणा तत्थ होइ कब्बड्डी।
वारण ललियासणिओ, गंतूणं कम्म हत्थ उप्फोसे॥

वे आठ प्रकार ये हैं–(१) एक द्वारा किये पुरःकर्म का दूसरे के हाथ से ग्रहण। (२) प्रसजना वहां होती है। (३) कल्पस्थिका। (४) कारण ललिताशनिक। (५) जाकर। (६) कर्म। (७) हस्त। (८) उप्फोस–उत्स्पर्शन। (व्याख्या आगे की गाथाओं में)।

१८४३.एगेण समारद्धे, अन्नो पुण जो तहिं सयं देइ।
जयऽजाणगा भवंती, परिहरियव्वं पयत्तेण॥

किसी एक दायक ने पुरःकर्म किया, यदि दूसरा व्यक्ति उस द्रव्य को स्वयं देता है और यदि साधु अज्ञ हों तो वे प्रयत्नपूर्वक उसका परिहार करे, न ले।

१८४४.समणेहिं अभणंतो, गिहिभणिओ अप्पणो व छंदेणं।
मोत्तु अजाणग मीसे, गिण्हंति उ जाणगा साहू॥

दूसरे व्यक्ति को श्रमणों ने कहीं कहा कि हमें वह द्रव्य दो, परंतु वह अन्य गृहस्थ के द्वारा कहे जाने पर अथवा अपने स्वयं के अभिप्राय से वह द्रव्य देता है तो अज्ञ अर्थात् अगीतार्थ अथवा अगीतार्थ मिश्र मुनियों को छोड़कर ज्ञायक–गीतार्थ मुनि उस आत्मार्थित द्रव्य को ग्रहण करता है।

१८४५.अम्हट्ठसमारद्धे तद्दव्वऽण्णेण किह णु निद्दोसं।
सविसन्नाहरणेणं, मुज्जइ एवं अजाणंतो॥

साधुओं के लिए बनाया हुआ वह द्रव्य यदि दूसरा देता है तो वह निर्दोष कैसे हो सकता है? यहां विषयुक्त आहार का उदाहरण है। किसी के लिए विषमिश्रित आहार बनाया गया, वह स्वयं दाता न देकर, यदि कोई दूसरा व्यक्ति उस भोजन को देता है तो क्या वह सदोष नहीं होगा? परन्तु अगीतार्थ उसमें मूढ़ हो जाता है।

१८४६.एगेण समारद्धे, अन्नो पुण जो तहिं सयं देइ।
जइ जाणगा उ साहू, परिभोत्तुं जे सुहं होइ॥

एक ने पुरःकर्म किया और दूसरा व्यक्ति यदि स्वयं उस द्रव्य को मुनि को देता है तो ज्ञायक है, गीतार्थ मुनि है, वह उसका सुखपूर्वक परिभोग कर सकता है।

१८४७.गीयत्थेसु वि भयणा, अन्नो अन्नं व तेण मत्तेणं।
विप्परिणयम्मि कप्पइ, ससिणिद्धुदउल्लु पडिकुट्ठा॥

गीतार्थ मुनियों के लिए भी भजना है। अन्य पुरुष अथवा अन्य द्रव्य को पुरःकर्मकृत मात्रक से देता है और यदि वह मात्रक अप्काय आदि से विपरिणत हो तो कल्पता है। दायक का हाथ सस्निग्ध या उदकार्द्र हो तो वह भिक्षा प्रतिकृष्ट है, उसे लेना नहीं कल्पता।

१८४८.तरुणीउ पिंडियाओ, कंदप्पा जइ करे पुरेकम्मं।
पढम-बिइयासु मोत्तुं, सेसे आवज्ज चउलहुगा॥

कुछ तरुण युवतियां एकत्रित हुईं। साधु को भिक्षा के लिए आते देख कंदर्प के वशीभूत होकर एक युवति ने पुरःकर्म किया। साधु भिक्षा लिए बिना लौटने लगा। तब दूसरी युवति बोली–कुछ ठहरें। मैं आपको भिक्षा दूंगी। साधु के पुनः आने पर उसने भी पुरःकर्म कर दिया। साधु के निवर्तित होने पर तीसरी युवति यदि पुनः आने के लिए कहती है तो जानना चाहिए कि ये मेरा उपहास कर रही हैं। पहली, दूसरी युवति को छोड़कर शेष युवतियां यदि मुनि को प्रतिनिवर्तन के लिए कहती हैं और मुनि यदि प्रतिनिवर्तन करता है तो उसे चार लघुमास का प्रायश्चित्त आता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१८४९.पुरकम्ममि कयम्मी, जइ भण्णइ मा तुमं इमा देउ।
संकापदं व होज्जा, ललितासणिओ व सुव्वत्तं॥

पुरःकर्म किए जाने पर यदि साधु दात्री को कहे कि 'तुम मत दो, यह देगी।' दात्री के मन में शंका हो सकती है। वह मुनि को कहती है—तुम स्पष्टरूप से ललिताशनिक हो, क्योंकि तुम अपनी इष्ट देने वाली को चाहते हो।

१८५०.गंतूण पडिनियत्तो, सो वा अन्नो व से तयं देइ।
अन्नस्स व दिज्जिहिई, परिहरियव्वं पयत्तेणं॥

पुरःकर्म कर साधु को भिक्षा देने के लिए उद्युक्त दाता को प्रतिषिद्ध कर मुनि चला गया। दाता ने सोचा, मुनि प्रतिनिवृत्त होने पर मैं भिक्षा दूंगा। वह दाता अथवा अन्य व्यक्ति उस द्रव्य की भिक्षा देता है तो वह भिक्षा लेना नहीं कल्पता। दाता सोचता है—यह मुनि भिक्षा नहीं लेता तो मैं दूसरे मुनि को दे दूंगा। दूसरे मुनि को भी उस भिक्षा का प्रयत्नपूर्वक परिहार करना चाहिए।

१८५१.पुरकम्ममि कयम्मी,
पडिसिद्धो जइ भणिज्ज अन्नस्स।
दाहं ति पडिनियत्ते,
तस्स व अन्नस्स व न कप्पे॥

पुरःकर्म ग्रहण करने का प्रतिषेध करने पर यदि दाता कहता है—दूसरे मुनि को दूंगा। वह भिक्षा प्रतिनिवृत्त उस मुनि को अथवा अन्य किसी मुनि को ग्रहण करना नहीं कल्पता।

१८५२.भिक्खयरस्सऽन्नस्स व, पुव्वं दाऊण जइ दए तस्स।
सो दाया तं वेलं, परिहरियव्वो पयत्तेणं॥

पुरःकर्म कर साधु को देने से पूर्व अन्य भिक्षाचरों को देकर मुनि को भिक्षा दे तो उस वेला का प्रयत्नपूर्वक परिहार करे, उस समय न ले।

१८५३.अन्नस्स व दाहामी,अण्णस्स व संजयस्स न वि कप्पे।
अत्तट्ठिए व चरगाइणं च दाहं ति तो कप्पे॥

यदि दाता यह संकल्प करे कि मैं यह भिक्षा दूसरे साधु को दूंगा तो वह भिक्षा साधु को लेना नहीं कल्पता। वह यदि अपने लिए अथवा चरक आदि परिव्राजकों के लिए संकल्पित करता है तो उस भिक्षा का ग्रहण कल्पता है।

१८५४.दव्वेण य भावेण य, चउक्कभयणा भवे पुरेकम्मे।
सागरिय भावपरिणय, तइओ भावे य कम्मे य॥
१८५५.सुन्नो चउत्थ भंगो, मज्झिल्ला दोण्णि वी पडिकुट्ठा।
संपत्तीइ वि असती, गहणपरिणते पुरेकम्मं॥

द्रव्य और भाव के आधार पर पुरःकर्म के चार विकल्प हैं—(१) द्रव्यतः पुरःकर्म न भावतः। (२) भावतः पुरःकर्म, न द्रव्यतः। (३) द्रव्य और भाव दोनों से पुरःकर्म। (४) न द्रव्यतः और न भावतः पुरःकर्म।

सागारिक के भय से पुरःकर्म लेना और उसका परिष्ठापन कर देना, यह द्रव्यतः पुरःकर्म है। 'मैं पुरःकर्म लूंगा'—इस भाव से परिणत होकर यदि पुरःकर्म नहीं भी मिलता, फिर भी वह भावतः पुरःकर्म है। तीसरा विकल्प भावतः पुरःकर्म लेना है। चौथा विकल्प शून्य है। मध्यवर्ती दोनों भंग (दूसरा और तीसरा) प्रतिकृष्ट हैं, प्रतिषिद्ध हैं। पुरःकर्म की प्राप्ति न होने पर भी, उसके ग्रहण में परिणत मुनि के वह पुरःकर्म होता है।

१८५६.पुरकम्ममि कयम्मी जइ गिण्हइ जइ य तस्स तं होइ।
एवं खु कम्मबंधो, चिट्ठइ लोए व बंभवहो॥

पुरःकर्म करने पर यदि ग्रहण करता है अथवा उसके ग्रहण के भाव में परिणत होता है तो वह तीसरे भंग में आता है। तब दायक और ग्राहक के कर्मबंध तटस्थ ही रहता है, जैसे लौकिक व्यवहार में ब्राह्मण का वध।[1]

१८५७.संपत्तीइ वि असती, कम्मं संपत्तिओ वि य अकम्मं।
एवं खु पुरेकम्मं, ठवणामित्तं तु चोएइ॥

द्वितीय भंग के अनुसार संप्राप्ति न होने पर भी साधु के पुरःकर्म होता है। यदि संप्राप्ति होने पर भी पहले भंग में पुरःकर्म नहीं होता तो मन में प्रतिष्ठित पुरःकर्म केवल स्थापनामात्र होता है। यह सारा कथन अपर व्यक्ति का है।

१८५८.इंदेण बंभवज्झा, कया उ भीओ अ तीए नासंतो।
तो कुरुखेत्त पविट्ठो, सा वि बहि पडिच्छए तं तु॥
१८५९.निग्गय पुणो वि गिण्हे, कुरुखेत्तं एव संजमो अम्हं।
जाहे ततो नीइ जीवो, घेप्पइ तो कम्मबंधेणं॥

१. उडंक ऋषि की पत्नी रूपवती थी। इन्द्र उसमें आसक्त होकर उसके साथ समागम कर जाने लगा। ऋषि ने यह देखकर उसे शाप देते हुए कहा—तुमने अगम्य ऋषिपत्नी के साथ समागम किया है, इसलिए तुम्हारे लिए ब्रह्मवध्या उपस्थित हुई है। इन्द्र भयभीत होकर कुरुक्षेत्र में चला गया। वह ब्रह्मवध्या भी कुरुक्षेत्र के आसपास घूमने लगी। इन्द्र उसके भय से बाहर नहीं निकलता था। इन्द्र के बिना इन्द्रलोक सूना हो गया। देवताओं ने इन्द्र को इन्द्रलोक में आने की प्रार्थना की। इन्द्र ने कहा—मैं यहां से निकलूंगा तो मुझे ब्रह्मवध्या लग जाएगी। तब देवताओं ने उस ब्रह्मवध्या को चार भागों में विभक्त कर डाला—एक विभाग स्त्रियों के ऋतुकाल में स्थित हो गया, दूसरा विभाग पानी में कायिकी (मूत्र) का विसर्जन करने वाले के, तीसरा विभाग ब्राह्मण के सुरापन में और चौथा विभाग गुरु पत्नी के साथ समागम करने वाले में। वह ब्रह्मवध्या इन चारों में अवस्थित हो गई। इन्द्र देवलोक में चला गया। इसी प्रकार जिसने पुरःकर्म किया उसका कर्मबंध दोष भी ब्रह्मवध्या की भांति व्यर्थ हो गया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य कहते हैं–प्रेरक! तुम्हारे द्वारा प्रस्तुत इन्द्र के दृष्टांत से हम अपना मत प्रस्तुत करते हैं–

इन्द्र ने ब्रह्महत्या की। उससे भयभीत होकर वह कुरुक्षेत्र में प्रविष्ट हो गया। ब्रह्महत्या बाहर स्थित होकर इन्द्र की प्रतीक्षा करने लगी। उसने सोचा–'यहां से निकलने पर मैं इन्द्र को पुनः ग्रहण कर लूंगी।' इसी प्रकार हमारा भी संयम कुरुक्षेत्र है। जब जीव संयम से बाहर निकलता है तब वह कर्मबंध से गृहीत हो जाता है। (वहां से निर्गत न होने पर पहले और चौथे भंग में वह गृहीत नहीं होता।)

१८६०.जे जे दोसाययणा, ते ते सुत्ते जिणेहिं पडिकुट्ठा।
ते खलु अणायरंतो, सुद्धो इहरा उ भइयव्वो॥

दोषों के जो जो आयतन हैं, वीतराग भगवान् ने सूत्रों में उनका निषेध किया है। जो उन स्थानों का आचरण नहीं करता वह शुद्ध है। जो इनका आचरण करता है उसके विकल्प है।

१८६१.का भयणा जइ कारणि,
जयणाए अकप्प किंचि पडिसेवे।
तो सुद्धो इहरा पुण,
न सुज्झए दप्पओ सेवं॥

वह विकल्प क्या है? जो कारणवश पुरःकर्म आदि किंचिद् अकल्प्य की यतनापूर्वक प्रतिसेवना करता है वह शुद्ध है। जो दर्प से अयतनापूर्वक प्रतिसेवना करता है वह शुद्ध नहीं होता।

१८६२.समणुन्नापरिसंकी, अवि य पसंगं गिहीण वारिंता।
गिण्हंति असढभावा, सुविसुद्धं एसियं समणा॥

समनुज्ञापरिशंकी वे मुनि होते हैं–जो पुरःकर्म के दोष से भीत होकर उसका परिहार करते हैं। पुरःकर्म भिक्षा लेने पर गृहस्थ के पुनः पुरःकर्म करने का प्रसंग आता है। अतः उसका निवारण करते हुए, अशठभाव के कारण, सुविशुद्ध एषणीय का ग्रहण करते हैं।

१८६३.किं उवघातो हत्थे, मत्ते दव्वे उदाहु उदगम्मि।
तिन्नि वि ठाणा सुद्धा, उदगम्मि अणेसणा भणिया॥

शिष्य प्रश्न करता है–पुरःकर्म करने पर क्या हाथ का उपघात–अनेषणीयता होती है अथवा मात्रक की अथवा द्रव्य की अथवा उदक की। आचार्य कहते हैं–तीनों स्थान अर्थात् हाथ, मात्रक और द्रव्य शुद्ध हैं, अनेषणीय नहीं हैं। किन्तु उदक में अनेषणीयता कही गई है।

१८६४.जम्हा तु हत्थ-मत्तेहिं कप्पती तेहिं चेव तं दव्वं।
अत्तट्ठिय परिभुत्तं, परिणत तम्हा दगमणेसिं॥

जो द्रव्य आत्मार्थित होने पर भुक्तशेष है, अप्काय के परिणत हो जाने पर उसको उन्हीं हाथ और पात्र से लेना कल्पता है। अतः वे अनेषणीय नहीं हैं। केवल उदक ही अनेषणीय है।

१८६५.किं उवघातो धोए, रत्ते चोक्खे सुइम्मि व कयम्मि।
अत्तट्ठिय-संकामियगहणं गीयत्थसंविग्गे॥

शिष्य वस्त्रविषयक प्रश्न करता है–क्या मुनि के लिए वस्त्र को धोने, रंगने, उज्ज्वल करने अथवा शुचि करने में उपघात–अनेषणीयता है? आचार्य कहते हैं–इन चारों में से किसी में भी उपघात नहीं है, केवल उदक में उपघात है। वही वस्त्र यदि आत्मार्थित हो अथवा संक्रामित हो–दूसरों को दे दिया गया हो, उसे गीतार्थ या संविग्न मुनि ही ग्रहण कर सकता है, अन्य नहीं।

१८६६.गीयत्थग्गहणेणं, अत्तट्ठियमाइ गिण्हई गीतो।
संविग्गग्गहणेणं, तं गिण्हंतो वि संविग्गो॥

गीतार्थ द्वारा ग्रहण करना यह सूचित करता है कि आत्मार्थित अथवा संक्रामित वस्त्र गीतार्थ ग्रहण करता है, अगीतार्थ नहीं। संविग्न द्वारा ग्रहण करना यह सूचित करता है कि संविग्न–मोक्षाभिलाषी ही उसे ग्रहण करता है, असंविग्न नहीं।

१८६७.एमेव य परिभुत्ते, नवे य तंतुग्गए अधोयम्मि।
उप्फुसिऊणं देंते, अत्तट्ठिय सेविए गहणं॥

जो वस्त्र गृही पहन लेता है वह परिभुक्त कहलाता है। जो नया है, तन्तुदगतमात्र है–ये अधौत हों, उदक के केवल छींटे दिए हुए हों, तो उन्हें ग्रहण करना नहीं कल्पता। वे यदि स्वयं द्वारा भुक्त हों तो उनका ग्रहण किया जा सकता है।

१८६८.संसट्ठमसंसट्ठे, य सावसेसे य निरवसेसे य।
हत्थे मत्ते दव्वे, सुद्धमसुद्धे तिगट्ठाणा॥

संसृष्ट, असंसृष्ट, सावशेष, निरवशेष–इनसे हस्त, मात्रक और द्रव्य विषय में आठ भंग–विकल्प होते हैं। तीन भंग शुद्ध होते हैं और शेष अशुद्ध। आठ भंग ये हैं–

(१) संसृष्ट हस्त, संसृष्ट मात्रक सावशेष द्रव्य।
(२) संसृष्ट हस्त, संसृष्ट मात्रक निरवशेष द्रव्य।
(३) संसृष्ट हस्त, असंसृष्ट मात्रक सावशेष द्रव्य।
(४) संसृष्ट हस्त, असंसृष्ट मात्रक निरवशेष द्रव्य।

इसी प्रकार संसृष्ट हाथ से भी चार भंग होते हैं।

१८६९.पढमे भंगे गहणं, सेसेसु य जत्थ सावसेसं तु।
अन्नेसु उ अग्गहणं, अलेव-सुक्खेसु ऊ गहणं॥

इन आठ विकल्पों में पहला भंग तीनों पदों से शुद्ध होने के कारण उसमें ग्रहण करना शुद्ध है। शेष भंगों में भी जिन में द्रव्य सावशेष है, उसमें ग्रहण कल्पता है। निरवशेष पदयुक्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भंगों में ग्रहण नहीं कल्पता। अलेपकृत तथा शुष्क द्रव्यों से संबंधित निरवशेष में भी ग्रहण कल्पता है।

१८७०.सग्गामे सउवस्सए, सग्गामे परउवस्सए चेव।
खेत्तंतो अन्नगामे, खेत्तबहि सगच्छ परगच्छे॥
१८७१.सोऊण ऊ गिलाणं, उम्मग्गं गच्छ पडिवहं वा वि।
मग्गाओ वा मग्गं, संकमई आणमाईणि॥

अपने ग्राम में, अपने उपाश्रय में, स्वग्राम के अन्य के उपाश्रय में, स्वक्षेत्र में अथवा ग्रामान्तर में भिक्षाचर्या के लिए जाते समय, क्षेत्र के बाहर जाते समय—इन स्थानों में रहते हुए अपने गच्छ वाले अथवा परगच्छ वाले किसी मुनि को 'ग्लान है'—ऐसा सुने और सुनकर भी यदि मुनि उन्मार्ग से या प्रतिमार्ग से या गृहीत मार्ग से अन्य मार्ग से संक्रामित होकर जाता है तो उस मुनि के आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं।

१८७२.सोऊण ऊ गिलाणं, पंथे गामे य भिक्खवेलाए।
जइ तुरियं नागच्छइ, लग्गइ गरुए स चउमासे॥

मुनि मार्ग में जाते हुए, नगर में प्रवेश करते हुए अथवा भिक्षाचर्या में घूमते हुए यदि 'अमुक मुनि ग्लान है' ऐसा सुने तो सभी कार्य छोड़कर वह ग्लान के पास पहुंचे। यदि ऐसा नहीं करता है तो उसे चतुर्गुरु मास का प्रायश्चित्त आता है।

१८७३.जह भमर-महुयरिगणा,
निवतंती कुसुमियम्मि चूयवणे।
इय होइ निवइअव्वं,
गेलन्ने कइयवजढेणं॥

जिस प्रकार भ्रमरगण तथा मधुकरीगण कुसुमित आम्रखंड में मकरंद के लोभ से आते हैं वैसे ही मुनि भी निर्जरा लाभ का आकांक्षी होकर मायारहित हो ग्लान की परिचर्या के लिए तत्काल उसके पास पहुंचे।

१८७४.सुद्धे सद्धी इच्छकारे, असत्त सुहिय ओमाण लुद्धे य।
अणुअत्तणा गिलाणे, चालण संकामणा तत्तो॥

शुद्ध, श्रद्धी, इच्छाकार, अशक्त, सुखित, अपमान, लुब्ध तथा अनुवर्तना, चालना, संक्रामणा—ये ग्लानविषयक कहने चाहिए। यह द्वार गाथा है। व्याख्या आगे।

१८७५.सोऊण ऊ गिलाणं, जो उवयारेण आगओ सुद्धो।
जो उ उवेहं कुज्जा, लग्गइ गुरुए सवित्थारे।

जो ग्लान के विषय में सुनकर उपचार से ग्लान के पास आ जाता है, वह शुद्ध है। जो उपेक्षा करता है, वह ग्लानारोपणा से युक्त चार गुरुमास के प्रायश्चित्त का भागी होता है।

१८७६.उवचरइ को णऽतिन्नो, अहवा उवचारमित्तगं एइ।
उवचरइ व कज्जत्थी, पच्छित्तं वा विसोहेइ॥

उपचार पद की व्याख्या—जहां ग्लान है वहां जाकर पूछता है—आपमें कौन अतिन्न अर्थात् ग्लान है? अथवा उपचारमात्र—लोकोपचार निभाने के लिए ग्लान के पास जाता है अथवा प्रयोजनवश ग्लान की सेवा करता है अथवा ग्लान के पास न जाने पर प्रायश्चित्त आएगा, अतः प्रायश्चित्त की विशोधि के लिए वह ग्लान के पास जाता है। यह सारा उपचार है।

१८७७.सोऊण ऊ गिलाणं, तूरंतो आगओ दवदवस्स।
संदिसह किं करेमी, कम्मि व अट्ठे निउज्जामि॥
१८७८.पडिचरिहामि गिलाणं, गेलन्ने वावडाण वा काहं।
तित्थाणुसज्जणा खलु, भत्ती य कया हवइ एवं॥

ग्लान की सेवा करने से मुझे महान् निर्जरा का लाभ मिलेगा। ऐसा सोचने वाला श्रद्धावान् होता है। वह ग्लान के विषय में सुनकर सारे कार्य छोड़कर, त्वरित गति से शीघ्र ही ग्लान के पास पहुंचता है और वहां के उपचारकों से अथवा आचार्य से पूछता है—भंते! मुझे आदेश दें कि मैं ग्लान के विषय में क्या करूं? ग्लान से संबंधित किस प्रयोजन में आप मुझे नियुक्त करना चाहेंगे? मैं इसी प्रयोजन से यहां आया हूं। मैं ग्लान की प्रतिचर्या करूंगा। अथवा ग्लान की सेवा में व्यापृत मुनियों की वैयावृत्त्य करूंगा। इस प्रकार करने पर तीर्थ की अनुवर्तना और भगवान् की भक्ति होती है।

१८७९.संजोगदिट्ठपाढी, तेणुवलद्धा व दव्वसंजोगा।
सत्थं व तेणऽधीयं, वेज्जो वा सो पुरा आसि॥

ग्लान की परिचर्या के लिए जाने वाला वह मुनि संयोग-दृष्टपाठी—औषधद्रव्यों के मिश्रण-योग का ज्ञाता हो, द्रव्य-संयोगों का ज्ञान विशिष्ट वैद्यकशास्त्रों के ज्ञाता से प्राप्त किया हो अथवा चरक-सुश्रुत आदि वैद्यक शास्त्र उसने पढ़े हों। अथवा गृहस्थाश्रम में वह वैद्य रहा हुआ हो, इसलिए वहां के वास्तव्य मुनि उसे विसर्जित न करें।

१८८०.अत्थि य से योगवाही,
गेलन्नतिगिच्छणाए सो कुसलो।
सीसे वावारेत्ता,
तेगिच्छं तेण कायव्वं॥

यदि आगन्तुक मुनि के गच्छ में योगवाही मुनि हैं, वह स्वयं ग्लान की चिकित्सा में कुशल है, तो वह शिष्यों को सूत्रार्थ पौरुषी के कार्य में व्यापृत कर स्वयं को चिकित्सा-कार्य में लगा दे।

१८८१.दाऊणं वा गच्छइ, सीसेण व वायएहि वा वाए।
तत्थऽन्नत्थ व काले, सोहिए सव्वुद्दिसइ हट्ठे॥

सूत्र और अर्थ की दोनों पौरुषियों को संपन्न कर वह ग्लान के समीप जाता है और उसकी चिकित्सा करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यदि ग्लान का उपाश्रय दूर हो तो सूत्रपौरुषी संपन्न कर अर्थपौरुषी शिष्य से दिलाते हैं। यदि वह प्रतिश्रय बहुत दूर हो तो दोनों पौरुषियां शिष्य से दिलाते हैं। आगाढ़योगवाही मुनि ग्लान वाले क्षेत्र में या अन्यत्र हों तो आचार्य उन्हें कहते हैं—आर्य! काल का शोधन करो। वे यथावत् काल ग्रहण कर, जितने दिनों का कालशोधन किया है उतने दिनों के उद्देशनकालों को आचार्य उस ग्लान के स्वस्थ हो जाने पर उसे एक दिन में ही उद्दिष्ट कर देते हैं।

१८८२.निग्गमणे चउभंगो, अद्धा सव्वे वि निंति दोण्हं पि।
भिक्खु-वसहीइ असती, तस्साणुमए ठविज्जा उ॥

क्षेत्र से निर्गमन की चतुर्भंगी है—

१. वास्तव्य मुनियों का संस्तरण होता है, आगंतुकों का नहीं।
२. आगंतुक मुनियों का संस्तरण होता है, वास्तव्य का नहीं।
३. दोनों का संस्तरण नहीं होता।
४. दोनों का संस्तरण होता है।

संस्तरण न होने की स्थिति में वास्तव्य और आगंतुक मुनियों में से आधे-आधे निर्गमन करते हैं। तृतीय भंग में दोनों के आधे-आधे अथवा सभी निर्गमन कर देते हैं। यह सारा निर्गमन भिक्षा तथा वसति के अभाव में जानना चाहिए। वहां ग्लान की सन्निधि में ग्लान द्वारा अनुमत मुनियों को रखना चाहिए।

१८८३.अभणितो कोइ न इच्छइ, पत्ते थेरेहिं होउवालंभो।
दिट्ठंतो महिड्ढीए, सवित्थरारोवणं कुज्जा॥
१८८४.बहुसो पुच्छिज्जंता, इच्छाकारं न ते मम करिंति।
पडिमुंडणा य दुक्खं, दुक्खं च सलाहिउं अप्पा॥

कोई मुनि बिना कहे ग्लान की वैयावृत्त्य करने के लिए उद्यत नहीं होता। एक बार कुलस्थविर, गणस्थविर या संघस्थविर किसी कारणवश वहां आए और उस मुनि को उपालंभ देते हुए कहा—तुम प्रत्यासन्न ग्राम में ग्लान की प्रतिचर्या के लिए क्यों नहीं गए? उस मुनि ने कहा—मैंने बार-बार वहां के साधुओं को पूछा। परन्तु उन्होंने मेरा इच्छाकार नहीं किया—वैयावृत्त्य की मेरी इच्छा होते हुए भी मुझे नहीं बुलाया। दूसरी बात है कि मैं बिना उनके बुलाए वहां गया, परन्तु उन्होंने मेरी प्रतिमुंडना कर दी—मुझे वैयावृत्त्य करने का निषेध कर डाला। प्रतिमुंडना से मुझे महद् दुःख होता है। 'मैं ग्लान की जैसी वैयावृत्त्य करता हूं, वैसी वैयावृत्त्य करना दूसरा नहीं जानता'—इस प्रकार आत्मा की श्लाघा करना दुःखप्रद होता है, दुष्कर होता है। अतः बिना बुलाए मैं कैसे जा सकता हूं।

स्थविरों ने इस प्रसंग में महर्द्धिक राजा का दृष्टांत[1] दिया और मुनि को सविस्तार चतुर्गुरु की आरोपणारूप प्रायश्चित्त दिया।

स्थविर बोले—जैसे वह ब्राह्मण राजा द्वारा बुलाए जाने की प्रतीक्षा में मिलने वाले धन से वंचित रह गया, वैसे ही हे मुने! तुम भी अभ्यर्थना की प्रतीक्षा में महान् निर्जरा लाभ से वंचित हो जाओगे।

१८८५.किं काहामि वराओ, अहं खु ओमाणकारओ होहं।
एवं तत्थ भणंते, चाउम्मासा भवे गुरुगा॥

मैं सर्वथा वराक—अशक्त हूं तो वहां ग्लान-परिचर्या में जाकर क्या करूंगा? मैं वहां जाकर अवमानारक ही होऊंगा। इस प्रकार स्थविरों के सामने जो कहता है, उसको चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है।

१८८६.उव्वत्त-खेल-संथार-जग्गणे पीस-भाणधरणे य।
तस्स पडिजग्गयाण व, पडिलेहेउं पि सि असत्तो॥

स्थविर कहते हैं—आर्य! तुम ऐसा क्यों कहते हैं। क्या तुम ग्लान का उद्वर्तन करना, खेलमल्ल को भस्म से भरना, संस्तारक बिछाना, रात्री में जागरण करना, औषध आदि पीसना, भोजन-भाजनों को धारण करना, ग्लान तथा उसके परिचारकों की उपधि आदि की प्रत्युपेक्षा करना—क्या तुम ये सारे कार्य करने में भी अशक्त हो?

१८८७.सुहिया मो त्ति य भणती,
अच्छह वीसत्थया सुहं सव्वे।
एवं तत्थ भणंते,
पायच्छित्तं भवे तिविहं॥

ग्लान की परिचर्या का प्रसंग आने पर यदि कोई कहता है—हम इस क्षेत्र में सुखपूर्वक रह रहे हैं। सभी यहां विश्वस्त होकर सुखपूर्वक निवास करें। वहां जाकर अपने आपको दुःखी क्यों करना चाहते हो? जो इस प्रकार कहता है उसको तीन प्रकार का प्रायश्चित्त आता है। (यदि आचार्य इस प्रकार कहते हैं तो उन्हें चतुर्गुरु, उपाध्याय कहे तो उन्हें चतुर्लघु और भिक्षु कहे तो मासगुरु का प्रायश्चित्त आता है।)

१८८८.भत्तादिसंकिलेसो, अवस्स अम्हे वि तत्थ न तरामो।
काहिंति केत्तियाणं, तेणं चिय तेसु अहन्ना॥
१८८९.अम्हेहिं तहिं गएहिं, ओमाणं उग्गमाइणो दोसा।
एवं तत्थ भणंते, चाउम्मासा भवे गुरुगा॥

ग्लान-परिचर्या की बात सुनकर कुछ मुनि यह कहें कि

१. दृष्टांत के लिए देखें कथा परिशिष्ट, नं. ६७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वहां तो और अनेक मुनि आए हुए होंगे। वहां भक्तपानी का अवश्य ही संक्लेश होगा। हम भी वहां अपना निर्वाह नहीं कर सकेंगे। वहां के वास्तव्य मुनि उस ग्लान के कार्य में आकुलीभूत होकर आगंतुक कितने मुनियों का आतिथ्य कर पायेंगे? हम भी वहां अवमान, उद्गम आदि दोषों के भागी होंगे अर्थात् ये दो वहां होंगे। वहां इस प्रकार कहने वालों के चार मास का गुरुक प्रायश्चित्त आता है।

१८९०. अम्हे मो निज्जरट्ठी, अच्छह तुब्भे वयं से काहामो।
अत्थि य अभाविया णे, ते वि य णाहिंति काऊण॥

ग्लान वाले क्षेत्र को प्रचुर अन्न-पान, वाला जानकर कुछेक लोलुप संत वहां जाते हैं और वहां के मुनियों को कहते हैं—हम निर्जरार्थी हैं। हम ग्लान की वैयावृत्त्य करेंगे। इसलिए आप उस वैयावृत्त्य से निवृत्त हो जाएं। हमारे साथ अभावित शैक्ष मुनि भी हैं। वे भी हमें वैयावृत्त्य करते हुए देखकर, वैयावृत्त्य करना जानेंगे।

१८९१.एवं गिलाणलक्खेण संठिया पाहुण त्ति उक्कोसं।
मग्गंता चमढिंती, तेसिं चारोवणा चउहा॥

इस प्रकार ग्लान के मिष से वहां संस्थित होकर प्राघूर्णक रूप में जानकर लोग उन्हें उत्कृष्ट भक्त-पान देते हैं। वे अन्य-अन्य उत्कृष्ट द्रव्य की मार्गणा करते हुए वहां रहते हैं और उस क्षेत्र को बिगाड़ देते हैं। अब ग्लान-प्रायोग्य द्रव्य मिलना भी कठिन हो जाता है। उन मुनियों के ये चार प्रकार की आरोपणा प्राप्त होती है—द्रव्यतः, क्षेत्रतः, कालतः और भावतः।

१८९२.फासुगमफासुगे वा, अचित्त चित्ते परित्तऽणंते य।
असिणेह-सिणेहकए, अणहारा-ऽऽहार लहु-गुरुगा॥

क्षेत्र की उद्वेजना के कारण ग्लान प्रायोग्य द्रव्य की प्राप्ति नहीं होती। तब मुनि यदि प्रासुक—एषणीय अथवा अप्रासुक—अनेषणीय भक्त-पान का अथवा अचित्त, सचित्त, परित्त-वनस्पति, अनंत वनस्पति, अस्नेह, सस्नेह, अनाहार, आहार आदि भक्त-पान के लिए अवभाषण करता है या रातवासी रखता है, तो वह अनेक गुरु-लघु प्रायश्चित्तों का भागी होता है। (प्रासुक की अवभाषणा आदि में चार लघुक, अप्रासुक के चार गुरुक, अचित्त में चार लघु, सचित्त में चार गुरुक, परित्त में चार लघुक, अनन्त में चार गुरुक, अस्नेह में चार लघुक, सस्नेह भी चार गुरुक, अनाहार में चार लघुक और आहार में चार गुरुक—ये प्रायश्चित्त आते हैं।) यह द्रव्य निष्पन्न प्रायश्चित्त है।

१८९३.लुद्धस्सऽब्भंतरतो, चाउम्मासा हवंति उग्घाता।
बहिया य अणुग्घाया, दव्वालंभे पसज्जणया॥

लोलुपता के वशीभूत होकर जो क्षेत्र को उद्वेजित कर देता है और उस मुनि को यदि क्षेत्र के अभ्यन्तर में ग्लान प्रायोग्य द्रव्य नहीं मिलता तो उस मुनि को चार उद्घात अर्थात् चार लघुमास का और यदि क्षेत्र के बाहर भी वह द्रव्य प्राप्त नहीं होता तो उसे चार अनुद्घात अर्थात् गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। यहां ग्लान प्रायोग्य द्रव्य की अप्राप्ति के कारण 'पसजना' अर्थात् प्रायश्चित्त की वृद्धि होती है।

१८९४.खेत्तबहि अद्धजोअण, वुड्ढी दुगुणेण जाव बत्तीसा।
चउगुरुगादी चरिमं, खेत्ते काले इमं होइ॥

क्षेत्र के बाहर अर्द्धयोजन से आरंभ कर क्षेत्र की दुगुने परिमाण से वृद्धि बत्तीस योजन तक करे। इनमें चतुर्गुरु आदि प्रायश्चित्त से चरम अर्थात् पारांचिक तक प्रायश्चित्त प्राप्त हो जाता है। यह क्षेत्रविषयक प्रायश्चित्त है। कालविषयक प्रायश्चित्त इस प्रकार का है।

१८९५.अंतो बहिं न लब्भइ,
ठवणा फासुग महय मुच्छ किच्छ कालगए।
चत्तारि छ च्च लहु-गुरु,
छेदो मूलं तह दुगं च॥

प्रकारान्तर से क्षेत्रविषयक प्रायश्चित्त—

जब क्षेत्र के भीतर और बाहर ग्लान-प्रायोग्य द्रव्य नहीं मिलता तब प्रासुक की स्थापना की जाती है। इसका प्रायश्चित्त है चार लघु। उससे ग्लान की अनागाढ़ परितापना होती है तो चार गुरु, महती दुःखासिका हो तो षडलघु, मूर्च्छा हो जाने पर षड्गुरु, प्राण कृच्छ्र हो जाएं तो छेद, उच्छ्वास कृछ्र हो जाए तो मूल, मारणांतिक समुद्घात होने पर अनवस्थाप्य और ग्लान के कालगत हो जाने पर पारांचिक।

१८९६.पढमं राइ ठविंते, गुरुगा बिइयादिसत्तहिं चरिमं।
परितावणाइ भावे, अप्पत्तिय-कूवणाईया॥

कालविषयक प्रायश्चित्त—स्थापना की पहली रात में चतुर्गुरु, दूसरी से सातवीं रात्री तक प्रायश्चित्त की वृद्धि होते होते अंतिम प्रायश्चित्त पारांचिक तक बढ़ जाता है। परितापन आदि भाव से निष्पन्न प्रायश्चित्त भी होता है। परितापित होकर वह ग्लान अप्रीतिक करता है, कूजन आदि करता है तो चतुर्गुरुक का प्रायश्चित्त है।

१८९७.अंतो बहिं न लब्भइ,
परितावण महय मुच्छ किच्छ कालगए।
चत्तारि छ च्च लहु-गुरु,
छेदो मूलं तह दुगं च॥

जब क्षेत्र के भीतर और बाहर ग्लान-प्रायोग्य द्रव्य नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मिलता तब अनागाढ़ परितापना होती है। उसका प्रायश्चित्त है चतुर्लघु। आगाढ़ परितापना होती है तो चतुर्गुरु, महती दुःखासिका हो तो षड्लघु, मूर्च्छा होने पर षड्गुरु, प्राण कृच्छ्र होने पर छेद, उच्छ्वास कृच्छ्र होने पर मूल, मारणांतिक समुद्घात होने पर अनवस्थाप्य और ग्लान के कालगत हो जाने पर पारांचिक।

१८९८.अंतो बहिं न लब्भइ,
संथारग महय मुच्छ किच्छ कालगए।
चत्तारि छ च्च लहु-गुरु,
छेदो मूलं तह दुगं च॥

अंति उद्वेजित क्षेत्र के भीतर और बाहर ग्लान-प्रायोग्य संस्तारक नहीं मिलता तब ग्लान के अनागाढ़ परितापना में चतुर्लघु, आगाढ़ में चतुर्गुरु.....शेष यावत् पारांचिक तक पूर्ववत्।

१८९९.परिताव महादुक्खे, मुच्छामुच्छे य किच्छपाणगते।
किच्छुस्सासे य तहा, समुघाए चेव कालगते॥

पूर्व गाथाओं में परितापनपद तथा समुद्घातपद नहीं हैं। इसलिए प्रस्तुत गाथा में वे पद दे दिए गए हैं—लोलुपतावश कोई मुनि क्षेत्र को उद्वेजित कर देता है, तब क्षेत्र के भीतर या बाहर ग्लान-प्रायोग्य द्रव्य नहीं मिलता। तब अनागाढ़ परितापना होती है। इसमें चतुर्लघु, आगाढ़ परितापना में चतुर्गुरु, महती सुखासिका में षड्लघु, मूर्च्छा में षड्गुरु, कृच्छ्र प्राण में छेद, कृच्छ्र उच्छ्वास में मूल, मारणांतिक समुद्घात में अनवस्थाप्य और ग्लान के प्राणान्त में पारांचिक।

१९००.अणुयत्तणा गिलाणे, दव्वट्ठा खलु तहेव विज्जट्ठा।
असतीइ अन्नओ वा, आणेउं दोहि वी कुज्जा॥

द्रव्य के प्रयोजन से जैसे ग्लान की अनुवर्तना की जाती है, वैसे ही वैद्य की भी अनुवर्तना करनी चाहिए। यदि स्वग्राम में ग्लानप्रायोग्य द्रव्य न हो और वैद्य की प्राप्ति न हो तो दूसरे ग्राम से भी दोनों की अनुवर्तना करनी चाहिए।

१९०१.जायंते उ अपत्थं, भणंति जायामो तं न लब्भइ णे।
विणियट्टणा अकाले, जा वेल न बेंति उ न देमो॥

यदि ग्लान अपथ्य द्रव्य की याचना करे तब उसे साधु कहे—हम उसकी याचना कर ला देते परन्तु कहीं भी हमें उस द्रव्य की प्राप्ति नहीं हुई। अथवा ग्लान के आगे पात्रों को लेकर जाए और कुछ काल पश्चात् विनिवर्तना—प्रत्यागमन कर कहे—हम गए थे, परन्तु वह द्रव्य नहीं मिला। अथवा अभी अकाल है, वेला होने पर हम ला देंगे। परंतु यह न कहें कि हम नहीं देंगे।

१९०२.तत्थेव अन्नगामे, वुत्थंतरऽसंथरंत जयणाए।
असंथरणेसणमादी, छन्नं कडजोगि गीयत्थे॥

ग्लान-प्रायोग्य द्रव्य की उसी गांव में अन्वेषणा करे। वहां प्राप्त न होने पर अन्य ग्राम में उसकी अनुवर्तना करे। यदि वह अन्यग्राम दूर हो तो बीच वाले गांव में रात रहकर दूसरे दिन वह ले आए। यदि वह अपर्याप्त हो तो यतनापूर्वक एषणादोषों के आधार पर पंचक परिहानि से ग्लान प्रायोग्य द्रव्य की गवेषणा करे। प्रतिदिन यदि ग्लान प्रायोग्य द्रव्य लाना पड़े तो कृतयोगी मुनि अप्रकटरूप से वह ले आए।

१९०३.पडिलेह पोरुसीओ, वि अकाउं मग्गणा उ सग्गामे।
खित्तंतो तद्दिवसं, असइ विणासे व तत्थ वसे॥

प्रतिलेखना करके सूत्रार्थ पौरुषियों को बिना किए ही अपने ग्राम में ग्लान प्रायोग्य द्रव्य की मार्गणा करे। वहां न मिलने पर क्षेत्रान्त परग्राम में जाकर मार्गणा करे। उस द्रव्य को लेकर उसी दिन लौट आए। यदि क्षेत्र दूर हो और उसी दिन न आया जा सके और वह विनाशी द्रव्य हो तो वहीं रहे और दूसरे दिन आ जाए।

१९०४.खित्तबहिया व आणे, विसोहिकोडिं वतिच्छितो काढे।
पइदिवसमलब्भंते, कम्मं समइच्छिओ ठवए॥

क्षेत्र के बाहर से भी ग्लान-प्रायोग्य द्रव्य ले आए। इस प्रकार जब प्रायश्चित्त के अनुलोम से क्रीतकृत, अभ्याहृत आदि विशोधिकोटि को व्यतिक्रांत कर देते हैं तब ग्लान के लिए औषध का काढ़ा स्वयं करे या दूसरों से कराए। यदि प्रतिदिन वह प्राप्त न हो और आधाकर्म भी समतिक्रांत हो जाता है तो शुद्ध-अशुद्ध द्रव्य का उत्पादन कर ग्लान के लिए उसे स्थापित कर दे।

१९०५.उव्वरगस्स उ असती,
चिलिमिणि उभयं च तं जह न पासे।
तस्सऽसइ पुराणादिसु,
ठविंति तद्दिवस पडिलेहा॥

उस द्रव्य की स्थापना किसी अपवरक में करे। अपवरक न हो तो चिलिमिलि बांधकर ऐसे स्थान में रखें जहां से ग्लान और अगीतार्थ मुनि उसे न देख सके। यदि यह भी शक्य न हो तो पुराण अर्थात् पश्चात्कृत आदि के घर में उसे स्थापित करे और उसका प्रतिदिन[1] प्रत्युपेक्षा करे।

१९०६.फासुगमफासुगेण व, अच्चित्तेतर परित्तऽणंतेणं।
आहार-तद्दिणेतर, सिणेह इअरेण वा करणं॥

१. तद्दिवस—तद्दिवसं नाम प्रतिदिनम्। देशी शब्द तद्दिवसं अणुदिअहे (देशी ५।८)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रासुक-अप्रासुक, सचित्त-अचित्त, परित्त-अनंत, आहार-अनाहार, तद्दिवसक-परिवासित, सस्नेह-अस्नेह–ये ग्लान के करण अनुज्ञात हैं।

१९०७.विज्जं न चेव पुच्छह, जाणंता बिंति तस्स उवदेसो।
दट्ठ-पिलगाइएसु व, अजाणगा पुच्छए विज्जं॥

यदि ग्लान कहे–आप वैद्य को न पूछें, अपने आप परिचर्या करें। यदि साधु चिकित्सा में कुशल हों तो वे कहते हैं–हम जो कर रहे हैं वह वैद्य के उपदेश के अनुसार ही कर रहे हैं। सर्प आदि द्वारा दष्ट, फोड़े-फुंसी की चिकित्सा के जानकार हों तो मुनि स्वयं चिकित्सा करें और यदि जानकर न हों तो वैद्य को पूछे।

१९०८.किह उप्पन्नो गिलाणो, अद्धम उण्होदगाइया वुड्ढी।
किंचि बहु भागमद्धे, ओमे जुत्तं परिहरंतो॥

शिष्य ने आचार्य से पूछा–ग्लान होने का हेतु क्या है? आचार्य कहते हैं–रोग और आतंक से ग्लानत्व उत्पन्न होता है। यदि ज्वर आदि रोग हो तो जघन्यतः अष्टम–तेला कराना चाहिए। रोग से मुक्ति पाने के लिए उष्णोदक आदि की वृद्धि करनी चाहिए। यदि रोगी उपवास करने में समर्थ न हो तो उष्ण पानी में थोड़े मर्दित अथवा अमर्दित चावल डाल कर एक दिन या सात दिन तक देने चाहिए। फिर 'किंचि' अर्थात् उल्लण–उष्णपानी में थोड़ा मीठा दही डालकर दूसरे सप्ताह तक या दूसरे दिन देना चाहिए। फिर 'बहु' अर्थात् बहुत मधुरोल्वण उष्णपानी में डालकर तीसरे सप्ताह या तीसरे दिन देना चाहिए। तदनन्तर 'भागि'–चौथे सप्ताह में या चौथे दिन तीन भाग मधुरोल्वण और दो भाग उष्ण जल, 'अद्धे'–पांचवे सप्ताह में या पांचवे दिन आधा भाग मधुरोल्वण और आधा भाग उष्णजल, 'ओमे'–छठे सप्ताह या छठे दिन तीन भाग मधुरोल्वण और एक भाग उष्णोदक, 'जुत्ते'–सातवें सप्ताह या सातवें दिन थोड़ा उष्णोदक और सारा मधुरोल्वण दिया जाता है। उसके पश्चात् अवगाहिम आदि का पूरा परिहार करता है।

१९०९.जाव न मुक्को ता अणसणं तु मुक्के वि ऊ अभत्तट्ठो।
असहुस्स अट्ठ छट्ठं, नाऊण रुयं व जं जोगं॥

जब तक ज्वर आदि से मुक्त नहीं होता तब तक अनशन–अभक्तार्थ करे। मुक्त होने पर एक दिन अभक्तार्थ करे। यदि वह लंबे समय तक अभक्तार्थ करने में समर्थ न हो तो एक बार अष्टम–तेला या षष्ठ–बेला करे। रोग को जानकर, उसके उपशमन के लिए जो योग्य उपाय हो वह करे।

१९१०.एवं पि कीरमाणे, विज्ज पुच्छे अठायमाणम्मि।
विज्जाण अट्ठगं दो, अणिड्ढि इड्ढी अणिड्ढियरे॥

यदि इस प्रकार करने पर भी रोग उपशांत नहीं होता है तो वैद्य को पूछे। वैद्य आठ प्रकार के होते हैं। इनमें दो प्रकार के वैद्य ऋद्धिरहित होते हैं। शेष छह प्रकार के वैद्य ऋद्धि-रहित और ऋद्धिसहित–दोनों होते हैं।

१९११.संविग्गमसंविग्गे, दिट्ठत्थे लिंगि सावए सण्णी।
अस्सण्णि इड्ढि गइरागई य कुसलेण तेगिच्छं॥

वैद्य के आठ प्रकार हैं–१. संविग्न, २. असंविग्न, ३. लिंगी, ४. श्रावक, ५. संज्ञी, ६. असंज्ञी–अनभिगृहीत-मिथ्यादृष्टि, ७. अभिगृहीतमिथ्यादृष्टि, ८. परतीर्थिक। दृष्टार्थ का अर्थ है–गीतार्थ। संविग्न, असंविग्न, लिंगी, श्रावक तथा संज्ञी–ये गीतार्थ भी होते हैं और अगीतार्थ भी। शेष तीन नियमतः अगीतार्थ ही होते हैं। संविग्न-असंविग्न–ये ऋद्धिमान् नहीं होते। शेष ऋद्धिमान् और अऋद्धिमान्–दोनों होते हैं। गइरागइ–ऋद्धिमान् वैद्यों की गति-आगति में महान् अधिकरण होता है। सभी वैद्यों को छोड़कर कुशल वैद्य से चिकित्सा करानी चाहिए।

१९१२.संविग्गेतर लिंगी, वइ अवइ अणागाढ आगाढे।
परउत्थिय अट्ठमए, इड्ढी गइरागई कुसले॥

दूसरे आचार्य की परंपरा के अनुसार आठ प्रकार के वैद्य ये हैं–

१. संविग्न	५. अव्रती–अविरतसम्यग्दृष्टि
२. असंविग्न	६. अनागाढ–अनभिगृहीतदर्शनी
३. लिंगी	७. आगाढ–अभिगृहीतमिथ्यादर्शन
४. व्रती	८. परयूथिक–शाक्य, परिव्राजक आदि।

ऋद्धि, गइरागइ तथा कुशल–इनकी व्याख्या पूर्व श्लोकवत् जान लेनी चाहिए।

१९१३.वोच्चत्थे चउलहुगा,अगीयत्थे चउरो मासऽणुग्घाया।
चउरो य अणुग्घाया, अकुसले कुसलेण करणं तु॥

संविग्न गीतार्थ वैद्य को छोड़कर यदि असंविग्न अगीतार्थ वैद्य से चिकित्सा कराता है–इस प्रकार चिकित्सा कराने में व्यत्यय करता है तो उस चतुर्लघु का प्रायश्चित्त आता है। गीतार्थ को छोड़कर अगीतार्थ से चिकित्सा कराने पर तथा कुशल वैद्य को छोड़कर अकुशल वैद्य से चिकित्सा कराने पर चार-चार अनुद्घात मास का प्रायश्चित्त आता है।

१९१४.चोयगपुच्छा गमणे, पमाण उवगरण सउण वावारे।
संगारो य गिहीणं, उवएसो चेव तुलणा य॥

शिष्य की पृच्छा, गमन, प्रमाण, उपकरण, शकुन, व्यापार, संगार–संकेत गृहस्थों के उपदेश और तुलना। (विस्तृत अर्थ अगली गाथाओं में)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१९१५.पाहुडिय त्ति य एगो, नेयव्वो गिलाणओ उ विज्जघरं।
एवं तत्थ भणंते, चाउम्मासा भवे गुरुगा॥

(शिष्य पूछता है—क्या ग्लान को वैद्य के पास ले जाना चाहिए अथवा वैद्य को ग्लान के पास लाना चाहिए?) कोई एक कहता है—वैद्य को ग्लान के पास लाने पर प्राभृतिका—देनी होती है, इसलिए ग्लान को ही वैद्य के घर पर ले जाना चाहिए। इस प्रकार जो कहे उसे चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है।

१९१६.रह-हत्थि-जाण-तुरए-अणुरंगाईहिं इंति कायवहो।
आसण मट्टिय उदए, कुरुकुय सघरे उ परजोगो॥

वैद्य के लिए की जाने वाली प्राभृतिका यह है—रथ, हाथी, यान—शिविका आदि, अश्व, अनुरंग—गाड़ी आदि—वैद्य इन साधनों से रोगी मुनि के पास आता है तब पृथ्वीकाय आदि कायों का वध होता है। वैद्य को बैठने के लिए आसन देना होता है। वैद्य के परामर्श से रोगी के शरीर पर कुरुकुच—मिट्टी का लेप आदि करने पर मिट्टी और उदक के जीवों का वध होता है। स्वगृह में परयोग होता है—अर्थात् परप्रयोग से सब कुछ हो जाता है, साधुओं के कोई अधिकरण नहीं होता।

१९१७.लिंगत्थमाइयाणं, छण्हं वेज्जाण गम्मऊ मूलं।
संविग्गमसंविग्गे, उवस्सगं चेव आणेज्जा॥

लिंगस्थ आदि छह प्रकार के वैद्यों के घर पर ग्लान को ले जाना चाहिए। उन्हें उपाश्रय में नहीं बुलाना चाहिए। संविग्न और असंविग्न—इन दो प्रकार के वैद्यों को उपाश्रय में ही लाना चाहिए।

१९१८.वाता-ऽऽतवपरितावण,
मयपुच्छा सुण्ण किं सुसाणकुडी।
स च्चेव य पाहुडिया,
उवस्सए फासुया सा उ॥

रोगी वैद्य के घर ले जाते समय वायु से, आतप से परिताप का अनुभव करता है। रोगी को ले जाते हुए देखकर लोग पूछते हैं—'क्या यह मृत है, जो इस प्रकार ले जा रहे हो?' रोगी रास्ते में मर गया। वैद्य रोगी को मृत देखकर कहता है—क्या मेरा घर श्मशानकुटी है जो मरे हुए को यहां लाए हो? वैद्य यह सोचकर स्नान आदि करता है कि मैंने शव का स्पर्श किया है अथवा गोबर के पानी का घर में छिड़काव करता है—इस सारी प्राभृतिका का निमित्त होता है मुनि। उपाश्रय में प्रासुक पानी आदि से वह की जाती है, इसलिए कोई विराधना नहीं होती।

१९१९.उग्गह-धारणकुसले, दक्खे परिणामए य पियधम्मे।
कालन्नू देसन्नू, तस्साणुमए अ पेसिज्जा॥

ग्लान के निमित्त वैद्य के पास भेजा जाने वाला व्यक्ति अवग्रह और धारणाकुशल हो, दक्ष, परिणामक, प्रियधर्मा, कालज्ञ और देशज्ञ होना चाहिए तथा वह ग्लान अथवा वैद्य द्वारा अनुमत होना चाहिए।

१९२०.एअगुणविप्पमुक्के, पेसिंतस्स चउरो अणुग्घाया।
गीयत्थेहि य गमणं, गुरुगा य इमेहिं ठाणेहिं॥

जो उपरोक्त गुणों से विप्रमुक्त हो, उसको वैद्य के पास भेजने पर चार अनुद्घात मास का प्रायश्चित्त है। वहां गीतार्थ मुनियों को जाना चाहिए। निम्नोक्त स्थानों के आचरण में चतुर्गुरुक का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। वे ये हैं—

१९२१.एक्कग दुगं चउक्कं, दंडो दूया तहेव नीहारी।
किण्हे नीले मइले, चोल रय निसिज्ज मुहपत्ती॥

यदि वैद्य के पास एक मुनि को भेजा जाता है तो वैद्य उसे यमदंड, दो को भेजा जाए तो यमदूत और यदि चार को भेजा जाता है तो शव को कंधा देने वाले मानता है। इतनों को भेजने पर चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। उपकरण जैसे चोलपट्टक, रजोहरण, निषद्या, मुंहपत्ती आदि काले, नीले और मलिन हों और उनसे ग्लान को प्रावृत किया जाए तो चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१९२२.मइल कुचेले अब्भंगियल्लए साण खुज्ज वडभे य।
कासायवत्थ उल्लूलिया य कज्जं न साहंति॥

शरीर और वस्त्रों से मलिन, जीर्ण परिधान वाला व्यक्ति, तैल आदि से अभ्यंगित शरीर वाला, कुत्ते का वामपार्श्व से दक्षिण-पार्श्व में जाना, कुब्ज और वामन व्यक्ति का सामने मिलना, काषायवस्त्रवाले तथा भस्मलिप्त शरीर वालों का सामने मिलना—इनसे प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

१९२३.नंदीतूरं पुण्णस्स, दंसणं संख-पडहसद्दो य।
भिंगार छत्त चामर, एवमादी पसत्थाइं॥

नंदीतूर्य (बारह प्रकार के तूर्य वाद्यों का एक साथ बजना), पूर्णकलश का दर्शन, शंख और पटह का शब्द सुनाई देना, भृंगार, छत्र चामर आदि—ये सारे प्रशस्त होते हैं।

१९२४.आवडणमाइएसुं, चउरो मासा हवंतऽणुग्घाया।
एवं ता वच्चंते, पत्ते य इमे भवे दोसा॥

प्रस्थान करते हुए यदि आपतन—शिर आदि कहीं टकरा जाता है (गिर पड़ना या स्खलित हो जाना, पीछे से कोई वस्त्र खींच कर पूछता है 'कहां जा रहे हो?') आदि अपशकुनों के होने पर भी जो जाता है उसे चार अनुद्घात मास का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। वैद्य के घर जाकर इन दोषों का परिहार करना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१९२५.साड-ऽब्भंगण-उव्वलण-
लोय-छारु-क्कुरुडे य छिंद-भिंदंतो।
सुहआसण रोगविहिं,
उवएसो वा वि आगमणं॥

घर में यदि वैद्य एक शाटक पहने हुए हो, तैल आदि से अभ्यंगन करा रहा हो, उद्वर्तन कर रहा हो, शिरो मुंडन आदि करा रहा हो, राख या उकरडी के पास बैठा हो, कुछ छेदन, भेदन कर रहा हो उस समय उसे कुछ भी नहीं पूछना चाहिए। जब वैद्य सुखासन में बैठा हो, वैद्यशास्त्र पढ़ रहा हो अथवा किसी की चिकित्सा कर रहा हो अथवा वैद्य के पूछने पर बताए या वैद्य को ग्लान के समीप ले जाए।

१९२६.पच्छाकडे य सन्नी, दंसणऽहाभद्द दाणसड्ढे य।
मिच्छदिट्ठि संबंधिए अ परतित्थिए चेव॥

पश्चात्कृत मुनि–चारित्र से भ्रष्ट होकर गृहवास को प्रतिपन्न मुनि, संज्ञी–अणुव्रती, दर्शन–अविरतसम्यग्दृष्टि, यथाभद्रक–सम्यक्त्वरहित किन्तु निर्ग्रंथों के प्रति आदरवान्, दानश्राद्ध–दानरुचि, मिथ्यादृष्टि–अन्य साधु-संन्यासी, संबंधी–ग्लान के परिजन और परतीर्थिक–इनको संकेत देते हुए कहना चाहिए–हम वैद्य के पास जा रहे हैं। आप वहां रहें और वैद्य जो कहे उसे स्वीकार करें।

१९२७.वाहि नियाण विकारं, देसं कालं वयं च धातुं च।
आहार अग्गि-धिइबल, समुइं च कहिंति जा जस्स॥

वैद्य के पास पहुंच कर मुनि ग्लान की व्याधि, उसका कारण, विकार, रोगोत्पत्ति का काल, ग्लान की अवस्था, उसमें किस धातु की उत्कटता है, आहार कैसा है, इसकी पाचक अग्नि इस प्रकार की है, इसका धृतिबल ऐसा है, इसकी प्रकृति यह है–ग्लान संबंधी ये सारी बातें वैद्य को बताएं।

१९२८.कलमोदणो य खीरं, ससक्करं तूलियाइयं दव्वे।
भूमिघरेट्ठग खेत्ते, काले अमुगीइ वेलाए॥

१९२९.इच्छाणुलोम भावे,न य तस्सऽहिया जहिं भवे विसया।
अहवण दित्तादीसुं, पडिलोमा जा जहिं किरिया॥

ग्लान आदि की सारी बातें सुनकर वैद्य कहता है–इस ग्लान को कलमोदन तथा शर्करायुक्त दूध भोजन के रूप में देना, तूलिका में ग्लान को सुलाना है। ये सारे द्रव्यसंबंधी निर्देश हैं। क्षेत्रसंबंधी–इस ग्लान को भूमिगृह में अथवा पक्की ईंटों के घर में रखें। कालतः जैसे–इस ग्लान को अमुक वेला में भोजन आदि दें, अन्य वेला में नहीं। ग्लान के भाव के अनुकूल ही सारे कार्य करने चाहिए। ग्लान को ऐसे स्थान में स्थापित करना चाहिए जहां उसके इन्द्रियों के विषय अनिष्ट न हों। अथवा दृप्त आदि मुनियों के लिए प्रतिलोम क्रिया करनी चाहिए।[1]

१९३०.अपडिहणंता सोउं, कयजोगाऽलंभि तस्स किं देमो।
जहविभवा तेगिच्छा, जा लंभो ताव जूहंति॥

वैद्य के वचनों को सुनकर उनके अनुसार औषधि या पथ्य की व्यवस्था करनी चाहिए। यदि प्रयत्न करने पर भी सारी वस्तुएं न मिलें तो वैद्य को पूछना चाहिए कि हम ग्लान को क्या दें? वैद्यक शास्त्रों में भी कहा है–'यथाविभवा चिकित्सा'–धन के अनुसार चिकित्सा होती है। जो कुछ सहज प्राप्त हो मुनि उसे याचित लाते हैं।[2]

१९३१.नियएहिं ओसहेहिं, कोइ भणेज्जा करेमऽहं किरियं।
तस्सऽप्पणो य थामं, नाउं भावं च अणुमन्ना॥

ग्लान का कोई संबंधी वैद्य यह कहता है–मैं अपनी निजी औषधियों से इसकी चिकित्सा करूंगा। ऐसी स्थिति में ग्लान सोचे कि क्या यह वैद्य मेरी औषधियों की पूर्ति करने में समर्थ होगा? क्या यह मेरा उत्क्रमण करना चाहता है अथवा मैं धृति से बलवान् हूं या नहीं? इन सारी स्थिति को तोलकर वह उस चिकित्सा को मान्य करे।

१९३२.जारिसयं गेलन्नं, जा य अवत्था उ वट्टए तस्स।
अद्दट्ठूण न सक्का, वोत्तुं तं वच्चिमो तत्थ॥

मुनिगण! जिस प्रकार के ग्लान मुनि का तुमने वर्णन किया है, उसकी अभी जो अवस्था है, उसको देखे बिना किसी औषधि का निर्देश नहीं दिया जा सकता। इसलिए हमें वहां चलना चाहिए।

१९३३.अब्भुट्ठाणे आसण, दायण भद्दे भती य आहारो।
गिलाणस्स य आहारे, नेयव्वो आणुपुव्वीए॥

वैद्य के प्रतिश्रय में आने पर जिस विधि का आचरण किया जाता है उसकी द्वार गाथा यह है–अभ्युत्थान, आसन, दर्शन, भद्र, भृति, आहार तथा वैद्य का वेतन, ग्लान का आहार–इनका विस्तार क्रमशः कहा जा रहा है।

१९३४.अब्भुट्ठाणे गुरुगा, तत्थ वि आणाइणो भवे दोसा।
मिच्छत्त रायमादी, विराहणा कुल गणे संघे॥

वैद्य के आने पर यदि आचार्य उठते हैं तो चार गुरुमास का प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं।

---

१. जैसे दृप्तचित्त वाले मुनि का उन्माद अपमान आदि करने से शांत हो जाता है। क्षिप्तचित्त वाले की क्षिप्तता भी अपमान से नष्ट हो जाती है। यक्षाविष्ट व्यक्ति का यथायोग्य सम्मानना और अपमानना से आवेश नष्ट हो जाता है। (वृ. पृ. ५६२)

२. जूहंति–देशीपदमेतद् आनयन्ति इत्यर्थः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजा आदि मिथ्यात्व को प्राप्त हो जाते हैं तथा वह आचार्य, कुल, गण और संघ की विराधना कर सकता है।

१९३५.अणब्भुट्ठाणे गुरुगा, तत्थ वि आणाइणो भवे दोसा।
मिच्छत्त सो व अन्नो, गिलाणमादीविराहणया॥

यदि आचार्य नहीं उठते हैं तो चार गुरुक का प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं। इससे वैद्य मिथ्यात्व को प्राप्त हो सकता है तथा ग्लान आदि की विराधना होती है।

१९३६.गीयत्थे आणयणं, पुव्विं उट्ठित्तु होइ अभिलावो।
गिलाणस्स दावणं धोवणं च चुन्नाइगंधे य॥

वैद्य को लाने के लिए गीतार्थ मुनि जाएं। वैद्य के आने से पूर्व ही आचार्य आसन से उठकर खड़े हो जाएं। आचार्य वैद्य से बात करें। वैद्य को दिखाने से पूर्व ग्लान के शरीर और उपकरणों को धोकर शुचीभूत कर, वहां यदि दुर्गंध हो तो वहां कोई सुगंधित चूर्ण चारों ओर बिखेर देना चाहिए।

१९३७.चउपादा तेगिच्छा, को भेसज्जाइं दाहिई तुब्भं।
तहियं च पुव्वपत्ता, भणंति पच्छाकडादऽम्हे॥

चिकित्सा चतुष्पादा होती है—रोगी, परिचारक, वैद्य और भेषज। वैद्य रोगी के साथ आए व्यक्तियों को पूछता है—तुम लोगों में से ग्लान को योग्य औषधि कौन देगा? तब वहां आए हुए पश्चात्कृत आदि लोग कहते हैं—हम देंगे।

१९३८.कोई मज्जणगविहिं, सयणं आहार उवहि केवडिए।
गीयत्थेहि य जयणा, अजयण गुरुगा य आणाई॥

कोई कोई वैद्य कहता है—मैं चिकित्सा करूंगा किन्तु मुझे मज्जनगविधि—तैलाभ्यंगआदि प्रक्रियापूर्वक स्नान करने की सुविधा तथा मेरे लिए शयन, भोजन, वस्त्र तथा रुपयों[1] की व्यवस्था कौन करेगा? पश्चात्कृत व्यक्ति यह सब स्वीकार करे। उनके अभाव में गीतार्थ यतनापूर्वक सब स्वीकार कर लें। यदि अयतनापूर्वक निषेध या स्वीकार किया जाता है तो चार गुरुकमास का प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं।

१९३९.एयस्स नाम दाहिह, को मज्जणगाइ दाहिई मज्झं।
ते चेव णं भणंती, जं इच्छसि अम्हे तं सव्वं॥

इसी रोगी के नामोल्लेखपूर्वक जो-जो औषधियां हैं, वे सारी इन्हें दें। मुझे मज्जनविधि कौन देगा? तब वे पश्चात्कृत आदि कहते हैं—तुम जो चाहोगे वह हम सब देंगे।

१९४०.जं एत्थ अम्हे सव्वं, पडिसेहे गुरुग दोस आणादी।
एएसिं असईए, पडिसेहे गुरुग आणादी॥

जो यह कहते हैं कि 'हम आपकी सारी आवश्यकताएं पूरी करेंगे'—जो इस कथन का प्रतिषेध करते हैं उनको चार गुरुकमास का प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं। यदि वहां पश्चात्कृत आदि न हों और वहां यदि कोई वैद्य का प्रतिषेध करता है कि 'हम आपको मज्जनादि नहीं दे पाएंगे'—उसको भी चतुर्गुरुक और आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं।

१९४१.जुत्तं सयं न दाउं, अन्ने दिंते वि ऊ निवारिंति।
न करिज्ज तस्स किरियं, अवप्पओगं व से दिज्जा॥

वैद्य सोचता है—'ये मुनि निष्कंचन है। ये यदि कुछ भी न दें तो यह युक्त है, किन्तु जो दूसरे देते हों, उनको निवारित करना उपयुक्त नहीं है।' इस प्रकार वह वैद्य प्रद्विष्ट होकर उस ग्लान की चिकित्सा नहीं करता अथवा वह अपप्रयोग करता है, जिससे ग्लान की अवस्था और अधिक खराब हो जाती है।

१९४२.दाहामो त्ति य गुरुगा, तत्थ वि आणाइणो भवे दोसा।
संका व सूयएहिं, हिय नट्ठे तेणए वा वि॥

यदि गृहस्थों के अभाव में साधु वैद्य को यह कहे कि 'हम तुमको सब कुछ देंगे'—तो साधुओं को प्रायश्चित्त स्वरूप चार गुरुमास और आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं। तथा किसी गृहस्थ का हिरण्य—सुवर्ण नष्ट हो गया या उसका अपहरण कर लिया गया हो तो मुनियों पर ही शंका होती है कि संभवतः इन्होंने ने ही यह लिया हो? अथवा सूचक—आरक्षिक राजा के पास शिकायत करते हैं कि ये श्रमण चोर हैं (क्योंकि इन्होंने वैद्य को स्वर्ण आदि देने का वादा किया है।)

१९४३.पडिसेह अजयणाए, दोसा जयणा इमेहिं ठाणेहिं।
भिक्खण इड्ढी बिइयपद रहिय जं भाणिहिसि जुत्तं॥

वैद्य को अयतनापूर्वक प्रतिषेध करने पर चार गुरुमास का प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं। इन स्थानों से यतना करनी चाहिए। वे वैद्य से कहे—हम भिक्षा करके देंगे। हम धनवानों से लाकर देंगे। अपवादपद में हमें यदि कभी स्वर्ण लाना पड़े तो उसमें से कुछ देंगे। 'रहित' अर्थात् पश्चात्कृत रहित होने पर ऐसे कहते हैं—वैद्य तुम जो कहते हो, उसकी पूर्ति हम यथाशक्ति करेंगे अथवा जैसे उपयुक्त होगा वैसा करेंगे।'

१९४४.अहिरण्णग त्थ भगवं! सक्खी ठावेह जे ममं देंति।
धंतं[2] पि दुद्धकंखी, न लभइ दुद्धं अधेणूतो॥

तब वैद्य कह सकता है—भगवन्! आप अहिरण्यक हैं, अतः आप साक्षी की स्थापना करें, जिससे मैं आपसे न मिलने पर उससे प्राप्त कर सकूं। कोई व्यक्ति अत्यंत दुग्ध का

१. केविडया त्ति रूपकाः। (वृ. पृ. ५६५)।
२. धंतं—ति देशीवचनात् अतिशयेन। (वृ. पृ. ५६६)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आकांक्षी होने पर भी अधेनु के पास से कभी दूध प्राप्त नहीं कर सकता।

१९४५.पच्छाकडाइ जयणा, दावणकज्जेण जा भणिय पुव्विं।
सद्धा-विभवविहूणा, ति च्चिय इच्छंतगा सक्खी॥

वैद्य के इस प्रकार कहने पर जो पहले पश्चात्कृत द्वारा वैद्य को मज्जन आदि दिलाने के विषय की यतना कही गई है वही यहां मंतव्य है। जो पश्चात्कृत आदि श्रद्धा और विभव से विहीन हैं, वे यदि चाहें तो साक्षी रूप में रखे जा सकते हैं।

१९४६.पंचसयदाण-गहणे, पलाल-खेलाण छड्डणं व जहा।
सहसं व सयसहस्सं, कोडी रज्जं व अमुगं वा॥
१९४७.एवं ता गिहवासे, आसी य इयाणि किं भणीहामो।
जं तुब्भऽम्ह य जुत्तं, तं उग्गाढम्मि काहामो॥

(यदि वे साक्षी बनना न चाहें तो कोई प्रव्रजित धनी मुनि यह कहे–) देखो, हम जब गृहवास में थे तब जैसे पलाल और श्लेष्म को फेंका जाता है, वैसे ही पांच सौ रुपयों का दान देना और पांच सौ रुपयों का अर्जन करना हमारे लिए साधारण काम था। इसी प्रकार हजार, लाख, करोड़, राज्य अथवा अमुक–अनिर्दिष्ट संख्या तक द्रव्य दान देना और कमाना हमारे लिए सामान्य था। गृहवास में हमारे पास इतनी विभूति थी। अब हम अकिंचन हैं। क्या कहें? फिर भी ग्लान के स्वस्थ हो जाने पर तुम्हारे और हमारे लिए जो उपयुक्त होगा, वह हम करेंगे।

(यह स्वग्राम के वैद्य विषयक यतना है। आगे परग्राम से आने वाले वैद्य के विषय की यतना कही जा रही है।)

१९४८.पाहिज्जे नाणत्तं, बाहिं तु भईए एस चेव गमो।
पच्छाकडाइएसुं, अरहिय रहिए उ जो भणिओ॥

वैद्य विषयक पाथेय–वैद्य को दिए जाने वाला यात्राव्यय, भोजनव्यय आदि, में नानात्व होता है, विशेष होता है। बहिर् ग्राम से आए हुए वैद्य के लिए वेतन आदि का यही गम है जो पश्चादकृत से रहित होने या सहित होने से युक्त कहा गया है।

१९४९.मज्जणगादिच्छंते, बाहिं अब्भिंतरे व अणुसट्ठी।
धम्मकह-विज्ज-मंते, निमित्त तस्सऽट्ठ अन्नो वा॥

ग्रामान्तर से आने वाला वैद्य यदि मार्ग में स्नान करना चाहे या स्थान पर आकर स्नान करना चाहे तो उसकी व्यवस्था वे पश्चात् आदि व्यक्ति करें। वे न हों तो वैद्य को शिक्षा दें कि मुनि ऐसी व्यवस्थाएं कर नहीं सकते। यदि न माने तो धर्मकथा कहे। उससे भी बात न बने तो विद्या, मंत्र, निमित्त से उसको आवर्जित करना चाहिए। यदि वह भी न हो सके तो किसी अन्य व्यक्ति को तंत्र-मंत्र के द्वारा वश में करके वैद्य की मांगे पूरे कराए।

१९५०.तह से कहिंति जह होइ संजओ सन्नि दाणसड्ढो वा।
बहिया उ अण्हायंते, करिंति खुड्डा इमं अंतो॥

मुनि धर्मकथा करे, जिससे वह वैद्य मुनि, श्रावक, दान-श्राद्ध या दानशीलश्रावक बने। ऐसा न हो तो बाहर स्नान करे, इस प्रकार प्रयत्न करे। यदि वह स्नान करने के लिए बाहर जाना न चाहे तो उसे यह कहते हुए प्रतिश्रय के अन्तर ले जाए–

१९५१.उसिणे संसट्ठे वा, भूमी-फलगाइ भिक्ख चड्डाई।
अणुसट्ठी धम्मकहा, विज्ज-निमित्ते य अंतो बहिं॥

उसे उष्ण, संसृष्ट (छाछ मिश्रित जल), अथवा अन्य प्रासुक जल स्नान करने के लिए प्रस्तुत करे। उसके शयन की व्यवस्था भूमी, फलक पर करे। उसे भोजन भिक्षा में प्राप्त द्रव्यों से चड्ड (कमढकमयपात्र) या कांस्यपात्र में कराए। यदि गांववैद्य या आगंतुकवैद्य रुपये आदि मांगे तो अनुशासन, धर्मकथा, विद्या, निमित्त आदि का प्रयोग करे।

१९५२.तेल्लुव्वट्टण ण्हावण, खुड्डाऽसति वसभ अन्नलिंगेणं।
पट्टदुगादी भूमी, अणिच्छि जा तूलि-पल्लंके॥

क्षुल्लक मुनि उस वैद्य का तैलाभ्यंगन तथा उद्वर्तन कर प्रासुक पानी से स्नान कराए। यदि व न करा सकें तो गण के वृषभ अन्यलिंगी–गृहस्थ आदि से वैद्य को स्नान करवाए। यदि वैद्य सोना चाहे तो पट्टदुग–संस्तारकपट्ट और उत्तरपट्ट– दोनों बिछाकर उसे सुलाए। यदि वह इस प्रकार सोना न चाहे तो अन्यान्य प्रकार कर उसे सुलाए और अन्त में पल्यंक और गादी पर सोना चाहे तो उसकी व्यवस्था करे।

१९५३.समुदाणिओदणो मत्तओ वऽणिच्छंति वीसु तवणा वा।
एवं पऽणिच्छमाणे, होइ अलंभे इमा जयणा॥

भिक्षा में सामुदायिक ओदन प्राप्त होता है। उसमें से पहले वैद्य को देना चाहिए। वह न चाहे तो पात्र को बदल कर अन्य पात्र में केवल उसके लिए ग्रहण करना चाहिए। वह भी न चाहे तो ओदन अलग और व्यंजन अलग ग्रहण कर देना चाहिए। वह ठंडा है ऐसा कहकर वह इन्कार करे तो उसे यतनापूर्वक तपा कर देना चाहिए। इस प्रकार भी न चाहे और द्रव्य न मिले तो यह यतना है।

१९५४.तिगसंवच्छर तिग दुग, एगमणेगे य जोणिघाए अ।
संसट्ठमसंसट्ठे, फासुयमप्फासुए जयणा॥

तीन वार्षिक तंदुक (तीन वर्षों में जिनकी योनी ध्वस्त हो जाती है, वे धान्य), तीन, दो, एक, अनेक आदि वर्षों से विध्वस्तयोनि वाले धान्य तथा जिनकी योनि विध्वस्त कर दी गई हो वैसे धान्य तथा संसृष्ट, असंसृष्ट प्रासुक या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अप्रासुक पानक—यतनापूर्वक ग्रहण करे (व्याख्या आगे की गाथाओं में।)

१९५५.वक्कंतजोणितिच्छडदुएक्कछडणे वि होइ एस गमो।
एमेव जोणिघाए, तिगाइ इतरेण रहिए वा॥

जो धान्य त्रिच्छटित हों, दो या एक घटित हो, व्युत्क्रान्तयोनिक हो, उन्हें ग्रहण करे। यही गम योनिघात विषयक धान्यों के प्रति है। अव्यक्तलिंग या पश्चात्कृत गृहस्थों से रहित होने पर प्रागुक्त यतना का अनुपालन करना चाहिए।

१९५६.पुव्वाउत्ते अवचुल्लि चुल्लि
सुक्ख-घण-मज्झुसिर-मविद्धे।
पुव्वकय असइ दाणे,
ठवणा लिंगे य कल्लाणे॥

उन धान्यों के उपस्कार की विधि—

जो अवचुल्ली पहले से तपी हुई है, उस पर धान का उपस्कार करे। उसके अभाव में मूल चुल्ली पर। यदि वह पूर्व तप्त न मिले तो उसमें शुष्क, सघन, अशुषिर तथा अविद्ध (घुणों द्वारा अखादित)—इस प्रकार का इंधन, जो प्रमाणोपेत तथा पूर्वकृत हो, उसे ग्रहण करे। वैसा प्रमाणोपेत उपलब्ध न हो तो स्वयं उनको वैसा करे। वैद्य को रुपये भी दान में दे। प्रश्न होता है कैसे? शैक्ष मुनि ने प्रव्रजित होते समय जो धन रखा था, उसका दान करे। लिंग धारण कर अर्थ का उपार्जन करे और फिर दे। जो परिचारक रहे हैं उनको पांच-पांच कल्याणक दे।

१९५७.हत्थद्धमत्त दारुग,
निच्छल्लिय अघुणिया अहाकडगा।
असईइ सयंकरणं,
अघट्टणोवक्खडमहाउं॥

चुल्ली में डाले जाने वाले इंधन का परिमाण—आधा हाथ अर्थात् बारह अंगुल लंबा छालरहित, घुणों से अविद्ध तथा यथाकृत होना चाहिए। यदि यथाकृत प्राप्त न हों तो स्वयं उस प्रकार का इंधन करे। ओदन आदि उपस्कृत हो जाने पर अधजली लकड़ियों का घट्टन नहीं करना चाहिए। वे अग्नि के जीव अपनी आयुष्क के अनुसार स्वयं नष्ट हो जायेंगे।

१९५८.कंजिय-चाउलउदए, उसिणे संसट्ठमेतरे चेव।
ण्हाण-पियणाइपाणग, पादासइ वार दद्दरए॥

वैद्य के द्वारा पानी मांगे जाने पर कांजिक अथवा चावलों का धावन अथवा गर्म पानी अथवा संसृष्टपानक अथवा सजीव जल अथवा कपूरवासित जल दे। उसे स्नान, पान आदि के लिए ऐसा जल दे। वह जल पहले ही पात्र में स्थापित कर देना चाहिए और उस पात्र के मुख को सघन कपड़े से बांध दे।

१९५९.चडुग सराव कंसिय, तंबक रयए सुवन्न मणिसेले।
भोत्तुं स एव धोवइ, अणिच्छि किढि खुड्ड वसभा वा॥

वैद्य को कमढक अथवा शराव अथवा कांस्य पात्र अथवा ताम्र या चांदी या स्वर्ण अथवा मणि-शैलमय भाजन में भोजन कराए। वैद्य स्वयं उस भाजन को धोता है। यदि वह धोना न चाहे तो स्थविरा श्राविका या क्षुल्लक मुनि या वृषभ मुनि उसे धोए।

१९६०.पूयाईणि वि मग्गइ, जह विज्जो आउरस्स भोगट्ठी।
तह विज्जे पडिकम्मं, करिंति वसभा वि मुक्खट्ठा॥

जैसे भोगार्थी वैद्य रोगी के मवाद आदि का अपनयन करता है, वैसे ही मोक्षार्थी वृषभ भी वैद्य का परिकर्म करता है।

१९६१.तेइच्छियस्स इच्छाणुलोमगं जो न कुज्ज सइ लाभे।
अस्संजमस्स भीतो, अलस पमादी व गुरुगा से॥

(शिष्य ने पूछा—असंयमी वैद्य का वैयावृत्त्य संयमी मुनि क्यों करें?) चिकित्सा से लाभ होने पर भी जो चिकित्सक की इच्छा के अनुकूल असंयम से भीत होकर या आलस्य या प्रमादवश प्रतिकर्म नहीं करता उसे चार गुरुमास का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१९६२.लोगविरुद्धं दुप्परिचओ उ कयपडिकिई जिणाणा य।
अतरंतकारणेते, तदट्ठ ते चेव विज्जम्मि॥

ग्लान का वैयावृत्त्य करने के ये कारण हैं—ग्लान का वैयावृत्त्य न करने पर वह प्रवृत्ति लोकविरुद्ध मानी जाती है. ग्लान के साथ का संबंध अपरित्याज्य होता है, उसकी वैयावृत्त्य करने पर प्रत्युपकार करने जैसा होता है, और जिनेश्वरदेव की आज्ञा का पालन करने जैसा होता है। ये ही कारण वैद्य के वैयावृत्त्य करने के पक्ष में हैं।

१९६३.एसेव गिलाणम्मि वि,गमो उ खलु होइ मज्जणाईओ।
सविसेसो कायव्वो, लिंगविवेगेण परिहीणो॥

मज्जन आदि का यही गम—प्रकार ग्लान के विषय में होता है। सविशेष अर्थात् भक्ति-बहुमान आदि विशेष से सहित वह लिंगविवेक से रहित रूप से सारा करना चाहिए।

१९६४.को वोच्छिइ गेलन्ने, दुविहं अणुअत्तणं निरवसेसं।
जह जायइ सो निरुओ, तह कुज्जा एस संखेवो॥

रोग होने पर जो दो प्रकार की अनुवर्त्तना है—ग्लान-विषयक तथा वैद्यविषयक—उसकी संपूर्ण अवगति कौन देगा? क्योंकि वह बहुत विस्तृत है। इसलिए ग्लान जिस विधि से नीरोग हो, उस विधि को अपनाए। यह संक्षेप कथन है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१९६५.आगंतु पउण जायण, धम्मावण तत्थ कइयदिट्ठंतो।
पासादे कूवादी, वत्थुक्कुरुडे तहा ओही॥

ग्लान मुनि के स्वस्थ हो जाने पर आगंतुक (दूसरे गांव से आया हुआ) वैद्य यदि दक्षिणा मांगे तो उसे यह कहे–हम निर्धन हैं। हमारा यह धर्म आपण है–धर्म के व्यवहरण का हट्ट है, यहां धन नहीं, धर्म का उपदेश ही मिलता है। उसको क्रयिक का दृष्टांत कहे–'एक ग्राहक गंधी (गंध द्रव्यों का व्यापारी) की दुकान पर जाकर रुपयों से कुछ गंधद्रव्य खरीदे। कालान्तर में वह उसी दुकान पर गया और मद्य खरीदना चाहा। दुकानदार ने कहा–'मेरी दुकान पर गंधद्रव्य ही मिलते हैं, मद्य नहीं।' इसी प्रकार हमारे यहां धर्म की बात ही मिलती है, धन नहीं। इतने पर भी वैद्य न माने तो उसे प्रासाद, कूप आदि अथवा वास्तूत्कुरुट (खंडहर) आदि में गड़े हुए निधान को अवधिज्ञानी आदि ज्ञानी पुरुषों से जानकर, वहां से धन लाकर दे।

१९६६.वत्थव्व पउण जायण, धम्मादाणं पुणो अणिच्छंते।
स च्चेव होइ जयणा, रहिए पासायमाईया॥

ग्लान के स्वस्थ हो जाने पर यदि वास्तव्य (उसी गांव का) वैद्य भी दक्षिणा की याचना करे तो उसे भी धर्म रूपी धन ही देने की बात कहे। बार-बार कहने पर भी वह न माने तो उसे पश्चात्कृत व्यक्तियों से धन दिलाए। उनके न होने पर पूर्व श्लोकोक्त प्रासाद आदि से द्रव्य प्राप्तकर उसे दे।

१९६७.उवहिम्मि पडगसाडग, संवरणं वा वि अत्थुरणगं वा।
दुगभेदादाहिंडणऽणुसट्ठि परलिंग हंसाई॥

(वास्तव्य और आगंतुक–दोनों प्रकार के वैद्य वस्त्रों की याचना करें तो उसकी विधि यह है–)

उपकरणों में पटशाटक–पहनने का वस्त्र, संवरण–शरीर ढंकने का वस्त्र आस्तरण–बिछाने का वस्त्र–वैद्य इनकी याचना करे तो उसे अपनी निर्ग्रंथता की बात कहे। वह न माने तो दो साधुओं के साथ घूमकर उन वस्त्रों की प्राप्ति करे। यदि प्राप्त न हो तो अनुशिष्टि–धर्मकथा आदि से समझाए। वह न समझे तो परलिंग धारण कर हंस आदि के प्रयोग से उन वस्त्रों का उत्पादन कर वैद्य को दे।

१९६८.बिइयपदे कालगए, देसुद्दाणे व बोहिगाईसु।
असिवाई असईइ व, ववहारऽपमाण अदसाई॥

द्वितीयपद में ग्लान के अथवा वैद्य के कालगत हो जाने पर वस्त्र आदि न दे। अथवा देश के उजड़ जाने पर, म्लेच्छ आदि का आतंक होने पर, अशिव, दुर्भिक्ष आदि होने पर, वस्त्रों का अभाव होने पर वैद्य को वस्त्र न दे। वह वैद्य यदि उसके लिए न्यायालय में जाए तो उसे जीत ले। अथवा न्यायालय से वस्त्र देने का आदेश हो तो प्रमाणहीन या बिना किनारी के वस्त्र उसे देने का प्रयत्न करे।

१९६९.कवड्डगमादी तंबे, रुप्पे पीते तहेव केवडिए।
हिंडण अणुसट्ठादी, पूइयलिंगे तिविह भेदो॥

वैद्य यदि रुपये आदि मांगे तो उसकी विधि यह है–तब मुनि कौड़ियों के सिक्के, तांबे, चांदी या स्वर्ण के सिक्के अथवा 'केतर' नाम का नाणक की याचना से प्राप्त कर उसे दे।[1] इनको प्राप्त करने के लिए दो साधुओं के समूह में घूमे। प्राप्त न होने पर वैद्य को अनुशिष्टि–धर्म कथा से समझाए। न समझने पर उस क्षेत्र में जो अर्चित लिंग हो, उसे धारण कर अर्थजात का उत्पादन करे। लिंग के तीन प्रकार हैं–स्वलिंग, गृहीलिंग तथा कुलिंग।

१९७०.बिइयपदे कालगए, देसुद्दाणे व बोहियादीसु।
असिवादी असईइ व, ववहारऽहिरण्णगा समणा॥

अपवादपद में ग्लान या वैद्य के कालगत हो जाने पर, बोधिक आदि के भय से देश के उजड़ जाने पर, अशिव आदि के कारण अर्थजात सर्वथा अप्राप्त होने पर वैद्य को अर्थजात न दे। वैद्य यदि उसके लिए व्यवहार करे–न्यायालय में जाए तो कहे–श्रमण सर्वथा अहिरण्यक होते हैं, यह सर्वत्र विदित है।

१९७१.पउणम्मि य पच्छित्तं, दिज्जइ कल्लाणगं दुवेण्हं पि।
वूढे पायच्छित्ते, पविसंती मंडलिं दो वि॥

ग्लान के नीरोग हो जाने पर ग्लान और प्रतिचारक दोनों को 'कल्याणक' का प्रायश्चित्त दिया जाता है। (ग्लान को पांच कल्याणक और प्रतिचारक को एक कल्याणक) प्रायश्चित्त को वहन कर लेने के पश्चात् दोनों–ग्लान और प्रतिचारक मुनियों की भोजन आदि मंडली में प्रवेश पा सकते हैं।

१९७२.अणुयत्तणा उ एसा, दव्वे विज्जे य वत्तिया दुविहा।
इत्तो चालणदारं, वुच्छं संकामणं चुभओ॥

ग्लान के प्रायोग्य द्रव्यविषयक तथा वैद्यविषयक–इन दो प्रकार की अनुवर्त्तना का वर्णन किया जा चुका है। अब आगे चालनाद्वार और संक्रमणद्वार को द्रव्य और वैद्य–इन दो विषयों में कहूंगा।

१९७३.विज्जस्स व दव्वस्स व, अट्ठा इच्छंते होइ उक्खेवो।
पंथो य पुव्वदिट्ठो, आरक्खिओ पुव्वभणिओ उ॥

यदि ग्लान वैद्य के लिए या औषध आदि द्रव्य के लिए

१. ताम्रमय नाणक–काकिणी दक्षिणापथ में, रूप्यमय नाणक द्रम्म भिल्लमाले, सुवर्णमय नाणक दीनार, पूर्वदेश में, केतर नामक नाणक पूर्व देश में। (वृ. पृ. ५७३,५७४)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रामान्तर जाना चाहे तो उसका उत्क्षेप अर्थात् चालना करनी चाहिए। रात्री में जाना हो तो मार्ग का निरीक्षण पहले ही कर लेना चाहिए। तथा आरक्षिकों को पहले ही सूचित कर देना चाहिए। (कि हम ग्लान को लेकर रात्री में गमन करेंगे। आम चोर आदि की आशंका न करें।)

१९७४.चउपाया तेगिच्छा,
इह विज्जा नत्थि न वि य दव्वाइं।
अमुगत्थ अत्थि दोन्नि वि,
जइ इच्छसि तत्थ वच्चामो॥

परिचारक ग्लान को कहे–चिकित्सा चतुष्पादा होती है। इस क्षेत्र में न वैद्य है और न औषधद्रव्य। अमुक क्षेत्र में दोनों हैं। यदि तुम चाहो तो वहां चलें।

१९७५.किं काहिइ मे विज्जो, भत्ताइ अकारयं इहं मज्झं।
तुब्भे वि किलेसेमि य, अमुगत्थ महं हरह खिप्पं॥

ग्लान परिचारकों को उत्तर देता है–आर्यो! मेरे विषय में वैद्य क्या करेगा? यहां मेरे लिए भक्त आदि अकारक हैं। मैं आप सब को भी उसी कारण से क्लेश दे रहा हूं। आप मुझे शीघ्र ही अमुक क्षेत्र में ले जाएं जहां मेरे लिए भक्त आदि कारक हो।

१९७६.साणुप्पगभिक्खट्ठा, खीणे दुद्धाइयाण वा अट्ठा।
अब्भिंतरेतरा पुण, गोरससिंभुदय-पित्तट्ठा॥

सानुप्रगभिक्षा[1] के निमित्त ग्लान को अन्य ग्राम में ले जाते हैं। अथवा जहां दूध आदि की प्राप्ति दुर्लभ हो गई हो वहां से आभ्यन्तर अर्थात् नगर के वास्तव्य साधु ग्लान को ग्रामान्तर ले जाते हैं। और इतर अर्थात् ग्रामीण ग्लान परिचायक मुनि ग्लान को दूध आदि से कफ कुपित हो गया हो अथवा किसी कारण से पित्त उग्र हो गया हो तो उनके उपशमन के लिए गांव से ग्लान को नगर में ले जाते हैं।

१९७७.परिहीणं तं दव्वं, चमढिज्जंतं तु अन्नमन्नेहिं।
कालाइक्कंतेण य, वाही परिवड्ढिओ तस्स॥
१९७८.उक्खिप्पऊ गिलाणो, अन्नं गामं वयं तु नेहामो।
नेऊण अन्नगामं, सव्वपयत्तेण कायव्वं॥

नगर में जो स्थापनाकुल आदि होते हैं वे यदि अन्यान्य ग्लान संघाटकों द्वारा बार-बार उनमें द्रव्यों को लाने के लिए जाने पर परेशान हो गए हों तथा ग्लान-प्रायोग्य द्रव्यों की उनमें क्षीणता हो गई हो तथा अन्यत्र द्रव्यों की प्राप्ति में कालातिक्रांत होने पर ग्लान की व्याधि बढ़ती हो तो वे परस्पर विचार-विमर्श करते हैं कि ग्लान का उत्क्षेप कर हम उसे अन्य ग्राम में ले जायेंगे। यह विचार कर ग्लान को अन्य ग्राम में ले जाकर उसकी समस्त प्रयत्नपूर्वक परिचर्या करनी चाहिए।

१९७९.सो निज्जई गिलाणो, अंतर सम्मेलणा य संछोभो।
नेऊण अन्नगामं, सव्वपयत्तेण कायव्वं॥

जो ग्लान नगर से ग्राम में ले जाया जा रहा है और जो ग्लान ग्राम से नगर की ओर आ रहा है, दोनों का बीच में सम्मेलन हो रहा हो तो परस्पर वंदना-व्यवहार कर दोनों का 'संछोभं–संक्रामण करते हैं (नगरवासी ग्रामीण ग्लान का और ग्रामीण लोग नगर के ग्लान का)। ग्लान को अन्य ग्राम में संक्रमित कर उसकी सर्वप्रयत्नपूर्वक परिचर्या करनी चाहिए।

१९८०.जारिस दव्वे इच्छह, अम्हे मुत्तूण ते न लब्भिहिह।
इयरे वि भणंतेवं, नियत्तिमो नेह अतरंते॥

जब दोनों ओर के परिचारक मिलते हैं तब वे एक दूसरे से कहते हैं–नगरवासी ग्रामवासियों को कहते हैं–ग्लान के लिए जैसे तिक्त, कटु आदि द्रव्य आप चाहते हैं, वैसे द्रव्य हमारे बिना आपको नहीं मिलेंगे। ग्रामवासी नगरवासियों को कहते हैं–ग्लान के लिए दूध आदि द्रव्य हमारे बिना आपको नहीं मिलेंगे। तब दोनों ओर के परिचारक परस्पर कहते हैं–यदि ऐसा है तो हम निवर्तित होते हैं–संक्रामणा करते हैं–तुम हमारे ग्लान को और हम तुम्हारे ग्लान को ले जाते हैं क्योंकि दोनों उन-उन द्रव्यों के बिना रह नहीं सकते।

१९८१.देवा हु णे पसन्ना, जं मुक्का तस्स णे कयंतस्स।
सो हु अइतिक्खरोसो, अहिगं वावारणासीलो॥
१९८२.तेणेव साइया मो, एयस्स वि जीवियम्मि संदेहो।
पउणो वि न एसऽम्हं, ते वि करिज्जा न व करिज्जा॥

(परस्पर संक्रामणा करके न ऐसा चिंतन करे और न ऐसे कहे–) 'देवता हम पर प्रसन्न हुए हैं कि हम इस कृतान्तरूपी[2] ग्लान से मुक्त हो गए। वह अत्यंत क्रोधी, अत्यधिक कार्यों में नियुक्त करने वाला है, उसके द्वारा ही हम खिन्न होते रहे हैं, इसकी हम परिचर्या करें परन्तु इसके जीवित रहने में भी संदेह है, यह ग्लान नीरोग होने पर भी हमारा नहीं होगा, यह हमारी परिचर्या करेगा अथवा नहीं, इसलिए हम भी इसकी परिचर्या क्यों करें?

१९८३.जो उ उवेहं कुज्जा, आयरिओ केणई पमादेणं।
आरोवणा उ तस्सा, कायव्वा पुव्वनिद्दिट्ठा॥

आचार्य यदि ऐसे सोचने या कहने वालों की किसी प्रमादवश उपेक्षा करते हैं तो उनको पूर्वनिर्दिष्ट आरोपणा का प्रायाश्चित्त–चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है।

१. सानुप्रगभिक्षा अर्थात् प्रत्यूषवेला में प्राप्त होने वाली भिक्षा।

२. कृत्तान्त का अर्थ है–कृतघ्न अथवा यमराज।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१९८४.उवेहऽप्पत्तिय परितावण महय मुच्छ किच्छ कालगए।
चत्तारि छ च्च लहु-गुरु, छेओ मूलं तह दुगं च॥

ग्लान की उपेक्षा करने पर आचार्य आदि को चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त आता है। तथा ग्लान में अप्रीति उत्पन्न होती है, उसका प्रायश्चित्त है चार गुरुमास, अनागाढ़ परिताप होने पर चतुर्लघु, आगाढ़ परिताप में चतुर्गुरु, महान् दुःख होने पर षड्लघु, मूर्च्छा होने पर षड्गुरु, कृच्छ्रप्राण होने पर छेद, कृच्छ्रोच्छ्वास होने पर मूल, समवहत होने पर अनवस्थाप्य तथा कालगत हो जाने पर पारांचिक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१९८५.उवेहोभासण परितावण महय मुच्छ किच्छ कालगए।
चत्तारि छ च्च लहु-गुरु, छेओ मूलं तह दुगं च॥

यदि ग्लान स्वयं जाकर गृहस्थों के सामने अपनी चिकित्सा की निन्दा करता है तो चतुर्लघु का प्रायश्चित्त आता है तथा परितापन आदि में पूर्वोक्त श्लोक में कथित प्रायश्चित्त आता है।

१९८६.उवेहोभासण ठवणे,
परितावण महय मुच्छ किच्छ कालगए।
चत्तारि छ च्च लहु गुरु,
छेदो मूलं तह दुगं च॥

ग्लान की उपेक्षा करने पर वह स्वयं चिकित्सा की निंदा कर भक्त-पान-औषध आदि लाकर उनकी स्थापना (संग्रह) करता है तो चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त आता है। उस पर्युषित अन्न-पान के भोजन से परितापन आदि होते हैं तो प्रायश्चित्त गाथा १९८४ वत्।

१९८७.उवेहोभासण करणे,
परितावण महय मुच्छ किच्छ कालगए।
चत्तारि छ च्च लहु-गुरु,
छेदो मूलं तह दुगं च॥

उपेक्षित ग्लान यदि अवभाषण कर स्वयं चिकित्सा करता है (अथवा गृहस्थों से करवाता है) तो चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त आता है तथा परितापन आदि होने पर गाथा १९८४ वत् परिचारक प्रायश्चित्त के भागी होते हैं।

१९८८.वेहाणस ओहाणे सलिंगपडिसेवणं निवारिंते।
गुरुगा अनिवारिंते, चरिमं मूल च जं जत्थ॥

ग्लान की देखभाल न होने पर वह यदि वैहायस मरण से मृत्यु को प्राप्त हो जाता है तो पारांचिक प्रायश्चित्त, अवधावन करने पर मूल, अपने स्वलिंग में रहकर यदि प्रतिसेवना करता है तो चतुर्गुरु, प्रतिसेवना से निवारित करने पर भी चतुर्गुरु तथा अनिवारित करने पर भी तत् तत् संबंधी प्रायश्चित्त आता है।

१९८९.संविग्गा गीयत्थाऽसंविग्गा खलु तहेव गीयत्था।
संविग्गमसंविग्गा, नवरं पुण ते अगीयत्था॥
१९९० संविग्ग संजईओ, गीयत्था खलु तहेवऽगीयत्था।
गीयत्थ अगीयत्था, नवरं पुण ता असंविग्गा॥

संयत चार प्रकार के हैं–

१. संविग्न गीतार्थ
२. असंविग्न गीतार्थ
३. संविग्न अगीतार्थ
४. असंविग्न अगीतार्थ।

इसी प्रकार संयतियों के भी चार प्रकार हैं।

१९९१.चउरो लहुगा गुरुगा, छम्मासा होंति लहुग गुरुगा य।
छेदो मूलं च तहा, अणवट्ठप्पो य पारंची॥

इन आठ स्थानों में ग्लान का परित्याग करने पर निम्नोक्त प्रायश्चित्त है–

प्रथम स्थान चतुर्लघु, दूसरा स्थान चतुर्गुरु, तीसरा स्थान षड्लघु, चौथा स्थान षड्गुरु, पांचवां स्थान छेद, छठा स्थान मूल, सातवां स्थान अनवस्थाप्य और आठवां स्थान पारांचिक।

१९९२.संविग्ग नीयवासी, कुसील ओसन्न तह य पासत्था।
संसत्ता विंठाया, अहछंदा चेव अट्ठमगा॥
१९९३.चउरो लहुगा गुरुगा, छम्मासा होंति लहुग गुरुगा य।
छेदो मूलं च तहा, अणवट्ठप्पो य पारंची॥

ये आठ स्थान और हैं–(१) संविग्न (२) नित्यवासी (३) कुशील (४) अवसन्न (५) पार्श्वस्थ (६) संसक्त (७) वैण्ठक (८) यथाच्छंद।

इनका प्रायश्चित्त क्रमशः इस प्रकार है–(१) चतुर्लघु (२) चतुर्गुरु (३) षड्लघु (४) षड्गुरु (५) छेद (६) मूल (७) अनवस्थाप्य (८) पारांचिक।

१९९४.संविग्गा सिज्जातर, सावग तह दंसणे अहाभद्दे।
दाणे सड्ढी परतित्थिगे य परतित्थिगी चेव॥
१९९५.चउरो लहुगा गुरुगा, छम्मासा होंति लहुग गुरुगा य।
छेदो मूलं च तहा, अणवट्ठप्पो य पारंची॥

अथवा आठ स्थान ये हैं तथा प्रायश्चित्त यह है–

(१) संविग्न (२) शय्यातर (३) श्रावक (४) दर्शन–अविरति सम्यग्दृष्टि, (५) यथाभद्रक (६) दानश्राद्ध (७) परतीर्थिक (८) परतीर्थिकी। इन स्थानों में ग्लान का परित्याग करने पर क्रमशः गा. १९९३वें की भांति प्रायश्चित्त।

१९९६.उवस्सय निवेसण साही, गाममज्झे य गामदारे य।
उज्जाणे सामाए, सीममइक्कामइत्ताणं॥
१९९७.चउरो लहुगा गुरुगा,छम्मासा होंति लहुगा गुरुगा य।
छेदो मूलं च तहा, अणवट्ठप्पो य पारंची॥

आचार्य आदि क्षेत्रान्तर जाते हुए ग्लान को यदि उपाश्रय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में छोड़कर जाते हैं तो चतुर्लघु, निवेशन तक लाकर छोड़ने पर चतुर्गुरु, गली में छोड़े तो षड्लघु, ग्राममध्य में छोड़े तो षड्गुरु, ग्रामद्वार पर छोड़े तो छेद, उद्यान में छोड़े तो मूल, गांव की सीमा पर छोड़े तो अनवस्थाप्य, ग्राम की सीमा से आगे छोड़े तो पारांचिक।

१९९८.छम्मासे आयरिओ, गिलाण परियट्टई पयत्तेणं।
जाहे न संथरेज्जा, कुलस्स उ निवेदणं कुज्जा॥

ग्लान की प्रतिचर्या करने का काल–

आचार्य छह मास तक ग्लान की प्रयत्नपूर्वक परिचर्या करे। यदि छह मास में भी ग्लान नीरोग न हो तो आचार्य कुल को निवेदन कर, उसे सौंप दे।

१९९९.संवच्छराणि तिन्नि य, कुलं पि परियट्टई पयत्तेणं।
जाहे न संथरिज्जा, गणस्स उ निवेदणं कुज्जा॥

कुल भी पूरे तीन संवत्सरों तक प्रयत्नपूर्वक परिचर्या करे, फिर भी यदि ग्लान नीरोग नहीं होता है तो कुल गण को निवेदन करे और ग्लान को उसे सौंप दे।

२०००.संवच्छरं गणो वी, गिलाण परियट्टई पयत्तेणं॥
जाहे न संथरिज्जा, संघस्स निवेयणं कुज्जा॥

गण में संवत्सर तक उस ग्लान की प्रयत्नपूर्वक परिचर्या करने पर भी यदि ग्लान नीरोग न हो तो गण संघ को निवेदन करे। संघ उस ग्लान की यावज्जीवन तक परिचर्या करे।

२००१.छम्मासे आयरिओ, कुलं तु संवच्छराइं तिन्नि भवे।
संवच्छरं गणो वी, जावज्जीवाय संघो उ॥

आचार्य छह मास तक ग्लान की परिचर्या करे, कुल तीन संवत्सरों तक और गण भी एक संवत्सर तक तथा संघ यावज्जीवन तक परिचर्या करे।

(यह सारा उस ग्लान मुनि के लिए है जो भक्तप्रत्याख्यान नहीं कर सकता। जो भक्तप्रत्याख्यान कर सकता है वह अठारह महीनों तक परिचर्या कराए। उससे भी यदि स्वस्थ न हो तो भक्तप्रत्याख्यान कर दे। यदि रोग असाध्य हो जाए अथवा अन्यान्य अपरिहार्य कारण उत्पन्न हो जाने पर ग्लान की वैयावृत्त्य न भी करे अथवा उसका परित्याग कर दे।) (वृ. पृ. ५८०)

२००२.असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भये व गेलन्ने।
एएहिं कारणेहिं, अहवा वि कुले गणे संघे॥
२००३.एएहिं कारणेहिं, तह वि वहंती न चेव छड्डिंति।
असहू वा उवगरणं, छड्डिंति न चेव उ गिलाणं॥

अशिव, अवमौदर्य, राजाद्विष्ट हो जाने पर भय के कारण अथवा सारा गण ग्लान हो जाने पर–इन कारणों से अथवा कुल, गण या संघ को समर्पित कर देने पर इन कारणों से ग्लान का परित्याग किया जा सकता है, फिर भी परित्याग न कर उसको वहन किया जाता है। यदि वे उसके उपकरण वहन करने में समर्थ न हों तो उपकरणों का परित्याग कर दे, ग्लान का नहीं।

२००४.अहवा वि सो भणेज्जा, छड्डेउ ममं तु गच्छहा तुब्भे।
होउ त्ति भणिय गुरुगा, इणमन्ना आवई बिइया॥

अथवा वह ग्लान कहे–मुझको छोड़कर तुम सब चले जाओ। ऐसा कहने पर यदि कोई कहे–ठीक है, ऐसा ही हो तो उसको चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त आता है। यह दूसरे प्रकार की आपदा है।

२००५.पच्चंतमिलक्खेसुं, बोहियतेणेसु वा वि पडिएसु।
जणवय-देसविणासे, नगरविणासे य घोरम्मि॥
२००६.बंधुजणविप्पओगे, अमायपुत्ते वि वट्टमाणम्मि।
तह वि गिलाण सुविहिया, वच्चंति वहंतगा साहू॥

प्रत्यंतदेशवासी म्लेच्छों और बोधिकस्तेन–मनुष्यों का हरण करने वालों का आक्रमण हो जाने पर, जनपद अथवा उसके एक भाग का विनाश हो जाने पर अथवा नगर का घोर विनाश हो जाने पर, बंधुजनों का विप्रयोग हो जाने पर अथवा अमातापुत्र की स्थिति उत्पन्न हो जाने पर अर्थात् ऐसी स्थिति जिसमें सभी अपने-अपने जीवितव्य की चिंता करते हैं, न मां का स्मरण करती है और न पुत्र माता की स्मृति करता है–इन सारी स्थितियों में भी सुविहित मुनि ग्लान को वहन करते हैं, छोड़ते नहीं।

२००७.तारेह ताव भंते!, अप्पाणं किं मएल्लयं वहह।
एगालंबणदोसेण मा हु सव्वे विणस्सिहिह॥

तब ग्लान उन्हें कहता है–भदंत! आप अपने आपको सुखासिका में रखें। आप मेरे जैसे मृतप्राय व्यक्ति का वहन क्यों कर रहे हैं? मेरे एक आलंबन के दोष से आप सब अपने आपका विनाश क्यों कर रहे हैं? क्यों अपने आपको कष्ट में डाल रहे हैं?

२००८.एवं च भणियमेत्ते, आयरिया नाण-चरणसंपन्ना।
अचवलमणलिय हितयं, संताणकरिं वइमुदासी॥
२००९.सव्वजगज्जीवहियं, साहुं न जहामो एस धम्मो णे।
जति य जहामो साहुं, जीवियमित्तेण किं अम्हं॥

ग्लान के इस प्रकार कहने मात्र से ज्ञान-चारित्र संपन्न आचार्य अचपल, सत्य, हितकारी तथा संत्राणकारी–परित्राण देनेवाली वाणी में कहते हैं–वत्स! हमारा यह धर्म है कि हम समस्त जीवों के लिए कल्याणकर साधु का परित्याग नहीं कर सकते। यदि हम साधु का परित्याग करते हैं तो हमारे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस जीवन का क्या प्रयोजन? हमारे जीवित रहने मात्र से क्या?

२०१०.तं वयणं हिय मधुरं, आसासंकुरसमुब्भवं सयणो।
समणवरगंधहत्थी, बेइ गिलाणं परिवहंतो॥

उनका यह हितकर, मधुर वचन आश्वासन के अंकुर को उत्पन्न करने वाला होता है। वे आचार्य ग्लान के स्वजनरूप होते हैं तथा वे श्रमणों के वरगंधहस्ती की भांति होते हैं। वे ग्लान का वहन करते हुए ऐसे वचन कहते हैं। (जैसे गंधहस्ती विपदा में फंसे हुए अपने कलभ का परित्याग नहीं करता, वैसे ही ये आचार्य ग्लानत्व की आपदा में फंसे अपने शिष्य का परित्याग नहीं करते।)

२०११.जइ संजमो जइ तवो, दढमित्तित्तं जहुत्तकारित्तं।
जइ बंभं जइ सोयं, एएसु परं न अन्नेसुं॥

यदि संयम है, यदि तप है, यदि दृढ़मैत्रिकत्व है, यथोक्त-कारित्व है, यदि ब्रह्मचर्य है, यदि शौच--अनासक्ति है—ये सारे निर्ग्रंथ मुनियों में ही पाए जाते हैं, अन्य साधुओं में नहीं।

२०१२ अच्चागाढे व सिया,
निक्खित्तो जइ वि होज्ज जयणाए।
तह वि उ दोण्ह वि धम्मो,
रिजुभावविचारिणो जेणं॥

अत्यागाढ़--अत्यंत भयप्रद स्थिति होने पर, कदाचित् यतनापूर्वक ग्लान को आपत्तिरहित स्थान में रखा जाए, फिर भी वह ग्लान तथा परिचारक--दोनों का धर्म है, क्योंकि वे दोनों ऋजुभाव--मोक्षमार्ग में विचरण करने वाले हैं।

२०१३.पत्तो जसो य विउलो,मिच्छत्त विराहणा य परिहरिया।
साहम्मियवच्छल्लं, उवसंते तं विमग्गंति॥

जो आचार्य और मुनि ऐसी भयंकर स्थिति में भी ग्लान का परित्याग नहीं करते उन्हें विपुल यश प्राप्त होता है। ऐसी स्थिति में मिथ्यात्व तथा विराधना का परिहार होता है। साधर्मिक वात्सल्य का पालन होता है। जब वह भय उपशांत हो जाता है तब ग्लान की विमार्गणा करते हैं—शोधन करते हैं।

२०१४.पडिबद्धे को दोसो, आगमणेगाणियस्स वासासु।
सुय-संघयणादीओ, सो चेव गमो निरवसेसो॥

यथालंदिक मुनियों के गच्छप्रतिबद्धता में कौन सा दोष है? जब आचार्य क्षेत्र के बाहर जाने में असमर्थ हों तो एकाकी यथालंदिक मुनि आचार्य के पास आते हैं। वर्षाकाल में (जब जान लेते हैं कि वर्षा नहीं आएगी तो) वे एकाकी आचार्य के पास आते हैं। श्रुत-संहनन आदि के विषय में जिनकल्पिक मुनियों की भांति सारे विकल्प संपूर्णरूप से कहने चाहिए।

२०१५.सुत्तत्थ सावसेसे, पडिबंधो तेसिमो भवे कप्पो।
आयरिए किइकम्मं, अंतर बहिया व वसहीए॥

सूत्र और अर्थ का ग्रहण अभी पूरा नहीं हुआ है तो वे यथालंदिक मुनि गच्छ का प्रतिबंध स्वीकार करते हैं। उनका यह कल्प--मर्यादा है। वे केवल आचार्य का ही कृतिकर्म--वंदनक देते हैं, अन्य मुनियों को वंदना नहीं करते। यदि आचार्य नहीं जा सके तो वसति के मध्य या बाहर यथालंदिक को वाचना दे।

२०१६.नमणं पुव्वब्भासा, अणमणे दुस्सील थप्पगासंका।
आयट्ठ कुक्कुड त्ति य, वातो लोगे ठिई चेव॥

(शिष्य पूछता है--आचार्य जहां रहते हैं वहां यथालंदिक रहते हैं तो क्या दोष हैं?) आचार्य ने कहा--

यथालंदिक मुनि आचार्य के अतिरिक्त किसी मुनि को वंदना नहीं करते, यह उनका कल्प है। साथ रहने से पूर्व अभ्यास के कारण साधुओं को नमन भी कर लेते हैं। यथालंदिक मुनि जब गच्छवासियों को प्रतिनमन नहीं करते तो लोग कहते हैं—ये गच्छवासी मुनि दुःशील हैं इसीलिए ये प्रतिनमन नहीं करते। लोगों के मन में यह स्थाप्यक— दृढ़मूल आशंका हो जाती है कि गच्छवासी मुनि अवश्य ही दुःशील हैं, इसीलिए ये मुनि उनके लिए अवंदनीय हैं। अथवा ये गच्छवासी आत्मार्थिक हैं क्योंकि ये प्रतिनमन न करने वालों को भी नमन करते हैं। अथवा ये 'कौत्कुटिक' हैं—मायाचार करने वाले हैं। ये लोगों में विश्वास जमाने के लिए वंदना करते हैं। ऐसा वाद लोगों में प्रचलित हो जाता है। इसलिए यथालंदिक मुनि गांव के बाहिर भाग में रहते हैं। यह उनका कल्प--मर्यादा है।

२०१७.दोन्नि वि दाउं गमणं, धारणकुसलस्स खेत्तबहि देइ।
किइकम्म चोलपट्टे, ओवग्गहिया निसिज्जा य॥

आचार्य गच्छवासी मुनियों को सूत्र और अर्थ--दोनों पौरुषियां देकर, यथालंदिक मुनियों के समीप जाते हैं। वहां जाकर अर्थ की वाचना देते हैं। यदि आचार्य न जा सके तो यथालंदिक मुनियों के मध्य जो धारणाकुशल मुनि हो, वह क्षेत्र के बाहर जाता है और आचार्य वहां जाकर उसको अर्थ की वाचना देते हैं। वह आचार्य को वंदना करता है और चोलपट्ट सहित औपग्रहिक निषद्या पर बैठकर अर्थ सुनता है।

२०१८.अत्थं दो व अदाउं, वच्चइ वायावए व अन्नेणं।
एवं ता उडुबद्धे, वासासु य काउमुवओगं॥

यदि आचार्य दोनों पौरुषियों को संपन्न कर जाने में असमर्थ हों तो अर्थ पौरुषी को न देकर जाएं। यदि उसे देकर जाने में भी असमर्थ हों तो दोनों पौरुषियों की वाचना न देकर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाएं। अथवा अपने शिष्यों को वाचना देने के लिए किसी दूसरे शिष्य को नियुक्त कर जाते हैं। यह सारा ऋतुबद्धकाल की अपेक्षा से है। वर्षाऋतु में वह स्वयं उपयोग लगाकर (वर्षा आयेगी या नहीं) आचार्य के पास आता है।

२०१९.संघाडो मग्गेणं, भत्तं पाणं च नेइ उ गुरूणं।
अच्चुण्हं थेरा वा, तो अंतरपल्लिए एइ॥

यथालंदिक मुनि के पास आचार्य गए हुए हों तो दो मुनि गुरु के प्रायोग्य भक्त-पान लेकर पीछे से जाएं। यदि वेला अत्युष्ण हो, आचार्य स्थविर हों तो धारणासंपन्न यथालंदिक मुनि अन्तरपल्ली में आ जाता है। गुरु भी वहीं जाकर वाचना देकर, शिष्यों द्वारा लाया हुआ भक्त-पान ग्रहण कर संध्या समय में अपने स्थान पर लौट जाएं।

२०२०.अंतर पडिवसभे वा, बिइयंतर बाहि वसभगामस्स।
अन्नवसहीए तीए, अपरीभोगम्मि वाएइ॥

यदि गुरु अन्तरपल्ली में भी जाने में असमर्थ हों तो प्रतिवृषभ ग्राम के अपान्तराल में जाकर यथालंदिक मुनि को वाचना दे। वहां जाने में भी अशक्त हो तो दूसरे क्षेत्र के अंतराल में जाकर वाचना दे। वहां भी न जा सके तो वृषभग्राम अर्थात् मूलक्षेत्र के बाहर एकांत में वाचना दे। वहां भी न जा सके तो मूलक्षेत्र में ही अन्य वसति में वाचना दे। वहां भी न जा सके तो मूल वसति में ही अपरिभोग्य स्थान में बैठकर वाचना दे।

२०२१.तस्स जई किइकम्मं, करिंति सो पुण न तेसि पकरेइ।
जा पढइ ताव गुरुणो, करेइ न करेइ उ परेणं॥

गच्छवासी मुनि यथालंदिक मुनि का कृतिकर्म करते हैं। यथालंदिक मुनि उनका कृतिकर्म नहीं करते। यथालंदिक मुनि जब तक गुरु से वाचना लेते हैं तब तक उनका कृतिकर्म करते हैं। उसके पश्चात् गुरु का भी कृतिकर्म नहीं करते।

२०२२.एक्को वा सवियारो, हवंतऽहालंदियाण छ ग्गामा।
मासो विभज्जमाणो, पणगेण उ निट्ठिओ होइ॥

यदि गुरु के अधिष्ठित क्षेत्र के बाहर एक सविचार-सविस्तृत ग्राम हो तो यथालंदिक मुनि उस ग्राम के छह विभाग करे और प्रत्येक वीथि में पांच-पांच अहोरात्र के अनुसार एक मास का विभाजन करने पर वह पूरा हो जाता है। यदि ऐसा विस्तीर्ण ग्राम न हो तो मूलक्षेत्र के पास में जो लघुतर छह ग्राम हों, उनमें प्रत्येक ग्राम में पांच-पांच दिन घूमकर मास की पूर्ति करे।

२०२३.मासस्सुवरिं वसती, पायच्छित्तं च होंति दोसा य।
बिइयपदं च गिलाणे, वसही भिक्खं च जयणाए॥

एक वसति में एक मास से अधिक रहने पर प्रायश्चित्त प्राप्त होता है तथा अनेक दोष होते हैं। अपवादरूप में ग्लान आदि के लिए मास से अधिक भी रहा जा सकता है। उस स्थिति में वसति और भिक्षा विषयक यतना का पालन करना चाहिए।

२०२४.परिसाडिमपरिसाडी, संथाराऽऽहार दुविह उवहिम्मि।
डगलग-सरक्ख-मल्लग-मत्तगमादीण पच्छित्तं॥

२०२५.ओवासे संथारे, वीयारुच्चार वसहि गामे य।
मास-चउम्मासाधिगवसमाणे होइमा सोही॥

दो प्रकार के संस्तारक—परिशाटी (तृणमय), अपरिशाटी (पट्ट आदि), दो प्रकार की उपधि—औधिक और औपग्रहिक, आहार, डगलक, क्षार—राख, मल्लक, मात्रक आदि उसी ग्राम में अथवा आहार आदि उन्हीं कुलों से जहां मास कल्प अथवा चातुर्मास किया है, लेने पर प्रायश्चित्त का विधान है। तथा प्रतिश्रय, संस्तारकभूमि—ये पूर्वभुक्त का ही पुनः भोग करते हैं, विचार—प्रस्रवण, उच्चार—ये उसी स्थंडिल में परिष्ठापित करते हैं, उसी वसति का उपभोग करते हैं, उस ग्राम पर ममत्व करते हैं, मासकल्प में मास से अधिक तथा चातुर्मास में चार मास से अधिक रहते हैं—इन सभी प्रवृत्तियों के लिए प्रायश्चित्त विहित है।

२०२६.उक्कोसोवहि-फलए, वासातीए अ होंति चउलहुगा।
डगलग सरक्ख मल्लग, पणगं सेसेसु लहुओ उ॥

उत्कृष्ट उपधि जैसे वर्षाकल्प आदि का तथा फलक का ग्रहण वहीं करने पर, वर्षा के बीत जाने पर उसका प्रायश्चित्त है—चतुर्लघु। डगलक, राख, मल्लक का प्रायश्चित्त है पांच रात-दिन। शेष (२०२४, २०२५ में उल्लिखित) वस्तुओं का लघुमास।

२०२७.संवासे इत्थिदोसा, उग्गमदोसा व नेहतो कुज्जा।
चमढण गिलाणदुल्लभ, वारत्तिसिभासियाहरणं॥

काल-मर्यादा से अधिक एक स्थान में रहने पर स्त्री संबंधी दोष, गृहस्थों के स्नेह के कारण उद्गम आदि दोषों की संभावना होती है, अन्य गृहस्थों के मन में अधिक रहने वाले मुनियों के प्रति अवमानना का भाव उत्पन्न होता है, ग्लान आदि के प्रायोग्य आहार की प्राप्ति दुर्लभ हो जाती है। यहां ऋषिभाषित ग्रंथ (२७वें अध्ययन) में वर्णित वारत्तक महर्षि का उदाहरण ज्ञातव्य है।

२०२८.बहुदोसे वऽतिरित्तं, जइ लब्भे वेज्ज-ओसहाणि बहिं।
चउभाग तिभागऽद्धे, जयंतऽणिच्छे अलंभे वा॥

ग्लान के निमित्त काल-मर्यादा से अतिरिक्त भी रहा जा सकता है। यदि वह क्षेत्र बहु दोषयुक्त हो तो ग्लान को अन्यत्र ले जाए, जहां वैद्य और औषधियों की प्राप्ति होती हो। यदि ग्लान जाना न चाहे अथवा वैद्य और औषधि की प्राप्ति होती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो तो उसी ग्राम के चार विभाग, तीन विभाग या दो विभाग कर यतनापूर्वक भिक्षा करे।

२०२९.ओमा-ऽसिव-दुद्वेसुं, चउभागादि न करिंति अच्छंता।
पोरुसिमाईवुड्ढी, करिंति तवसो असंथरणे॥

यदि दुर्भिक्ष हो, अशिव हो या राजा द्वेषी हो गया हो तो वहां रहते हुए भी मुनि ग्राम के चार, तीन आदि विभाग नहीं करते। यदि आहार की प्राप्ति पर्याप्त न हो तो पौरुषी आदि तपस्या की वृद्धि करते हैं।

२०३०.मासे मासे वसही, तण-डगलादी य अन्न गिण्हंति।
भिक्खायरिय-वियारा, जहिं ठिया तत्थ नऽन्नासु॥

प्रत्येक मास के अंत में दूसरी वसति की गवेषणा करते हैं तथा तृण, डगलक आदि भी दूसरे ग्रहण करते हैं। परंतु वे जहां मासकल्प के लिए स्थित थे वहीं भिक्षा करते हैं और वहीं विचारभूमी में जाते हैं।

२०३१.अट्ठाइ जाव एक्कं, करिंति भागं असंथरे गामं।
अट्ठाइ च्चिय वसही, जयंति जा मूलवसही उ॥

कदाचित् एक ग्लान को आठ ऋतुबद्धमासों तक एक ही गांव में रहना पड़ता है। ऐसी स्थिति में गांव के आठ भाग करने चाहिए और प्रत्येक मास में एक-एक भाग में वसति, तृण, डगलक, आहार आदि का उपभोग करना चाहिए। यदि उस एक भाग से पूर्ति न हो तो ७,६,५ आदि भागों से पूर्ति करनी चाहिए। यदि ऐसा न हो तो गांव के सात, छह, पांच आदि भाग करे। दूसरी बात है कि आठ मास के लिए आठ वसतियां ग्रहण करनी चाहिए। उसके अभाव में सात, छह, पांच वसतियां ग्रहण करे। अंततः मूल वसति में रहे।

२०३२.इत्थं पुण संजोगा, एक्किक्कस्स उ अलंभे लंभे य।
णेगा विहाणगुणिया, तुल्ला-तुल्लेसु ठाणेसु॥

प्रत्येक वसति के विभाग में भिक्षाचर्या की प्राप्ति, अप्राप्ति के आधार पर तुल्य (समानसंख्यावाले) अथवा अतुल्य (विषमसंख्यावाले) स्थान, उनके विधान से गुणित[1] होने पर अनेक संयोग—भंग होते हैं।

२०३३.एक्काइ वि वसहीए, ठिया उ भिक्खयरियाए पयतंति।
वसहीसु वि जयणेवं, अवि एक्काए वि चरियाए॥

इन भंगों के आधार पर प्राप्त एक ही वसति में रहकर भिक्षाचर्या के लिए प्रयत्न करते हैं। एक ही भिक्षाचर्या में पर्यटन करते हुए तथा वसति में भी यतना करनी चाहिए।

से गामंसि वा जाव रायहाणिंसि वा सपरिक्खेवंसि सबाहिरियंसि कप्पइ निग्गंथाणं हेमंत-गिम्हासु दो मासे वत्थए। अंते एगं मासं, बाहिं एगं मासं। अंतो वसमाणाणं अंतो भिक्खायरिया, बाहिं वसमाणाणं बाहिं भिक्खायरिया॥

(सूत्र ७)

२०३४.एसेव कमो नियमा, सपरिक्खेवे सबाहिरीयम्मि।
नवरं पुण नाणत्तं, अंतो मासो बहिं मासो॥

यही (प्रथम सूत्रोक्त) क्रम सपरिक्षेप तथा सबाहिरिक ग्राम के विषय में नियमतः वक्तव्य है। यहां विशेष यह है—प्राकार के भीतर एक मास तथा बाहर भी एक मास तक रहा जा सकता है।

२०३५.पुण्णम्मि मासकप्पे, बहिया संकमण तं पि तह चेव।
नवरं पुण नाणत्तं, तणेसु तह चेव फलएसु॥

अभ्यन्तर में मास कल्प पूर्ण होने पर बाहर संक्रमण कर एक मास वहां रहे। इसमें विशेष है—तृणविषयक और फलक-विषयक। बाहरिका में तृण-फलक मिले तो वहीं ले और वहां प्राप्त न हो तो आभ्यन्तरिका से वे तृण-फलक ले जाए जा सकते हैं।)

२०३६.अन्नउवस्सयगमणे, अणपुच्छा नत्थि किंचि नेयव्वं।
जइ नेइ अणापुच्छा, तत्थ उ दोसा इमे होंति॥

दूसरे मासकल्प में बाहरिका में, अन्य उपाश्रय में जाते हुए बिना पूछे तृण-फलक न ले जाएं। यदि बिना पूछे ले जाते हैं तो ये दोष प्राप्त होते हैं।

२०३७.ताइं तण-फलगाइं, तेणाहडगाइं अप्पणो वा वि।
निज्जंतय-गहियाइं, सिट्ठाइं तहा असिट्ठाइं॥

जिसने वे तृण-फलक साधुओं को दिए हैं वे स्तेनाहृत्य भी हो सकते हैं और आत्मसंबंधी भी हो सकते हैं। जो अन्य उपाश्रय में तृण-फलक ले जाए जा रहे हैं, गृहीत हैं, वे शिष्ट हैं अथवा अशिष्ट।

२०३८.कस्सेते तण-फलगा, सिट्ठे अमुकस्स तस्स गहणादी।
निण्हवइ व सो भीओ, पच्चंगिर लोगमुड्डाहो॥

पूछने पर कि ये तृण-फलक किसके हैं और वह मुनि यह कहे कि ये अमुक गृहस्थ के हैं तो संभव है वे उस मूल

---

१. चारणकविधि से गुणित का क्रम यह है—(१) आठ वसतियां आठ भिक्षाचर्या, (२) आठ वसतियां सात भिक्षाचर्या—आदि। इसी प्रकार (१) सात वसतियां आठ भिक्षाचर्या (२) सात वसतियां सात भिक्षाचर्या आदि। इस प्रकार प्रत्येक के आठ-आठ भंग होते हैं। सारे भंग ८×८=६४ होते हैं। (वृ. पृ. ५८८)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वामी का निग्रह कर सकते हैं। (यदि वे स्तेनाहृत हों तो)। यदि मुनि भय से मूल स्वामी का नाम छुपाता है तो प्रत्यंगिरादोष–चौर्यकरणलक्षण दोष होता है तथा लोक में उड्डाह होता है।

२०३९.नयणे दिट्ठे सिट्ठे, गिण्हण कड्ढण ववहारमेव ववहरिए।
लहुओ लहुगा गुरुगा, छम्मासा छेय मूल दुगं॥

बाहरिका में तृणों को ले जाते देख लेने पर चतुर्लघु, पूछने पर अमुक व्यक्ति से लाये हैं, यह कहने पर चतुर्गुरु, उस व्यक्ति का निग्रह करने पर चतुर्गुरु, राजकुल में उसको ले जाने पर षड्लघुमास, गृहीत गृहस्थ उन ले जाने वालों का प्रतिकूल आकर्षण करता है तो षड्गुरुक, यदि उस पर व्यवहार–केस किया जाता है तो छेद, व्यवहृत होने पर यदि वह गृहस्थ पश्चात्कृत है तो मूल, हाथ पैर आदि काटे जाने पर अनवस्थाप्य, मृत्युदंड दिए जाने पर अथवा देश से निकाल दिए जाने पर पारांचिक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। ये सारे प्रायश्चित्त संयत को प्राप्त होते हैं।

२०४०.अहवा वि असिट्ठम्मी, एसेव उ तेण संकणे लहुगा।
नीसंकियम्मि गुरुगा, एगमणेगे य गहणादी॥

अथवा वह मुनि पूछने पर भी नहीं बताता, तो उसी के प्रति चोर होने की आशंका होती है, तो चतुर्लघु का प्रायश्चित्त आता है। निःशंकित होने पर चतुर्गुरु का। तदनन्तर एक या अनेक साधुओं का ग्रहण आदि दोष होते हैं।

२०४१.नयणे दिट्ठे गहिए, कड्ढण ववहारमेव ववहरिए।
उड्डहणे य विरुंगण, उद्दवणे चेव निव्विसए॥

२०४२.लहुओ लहुया गुरुगा, छल्लहु छग्गुरुग छेय मूलं च।
अणवट्ठप्पो दोसु अ, दोसु अ पारंचिओ होइ॥

तृणों को बिना पूछे प्रतिश्रय के भीतर ले जाने पर लघुमास, राजपुरुषों के देख लेने पर चतुर्लघु, साधु को पूछने पर यदि वह स्वामी का नाम नहीं बताता तो राजपुरुष उसको पकड़ते हैं तब चतुर्लघु, उसको चोर मानकर राजकुल के अभिमुख ले जाने पर छह लघुमास, राजपुरुष और साधु के बीच कर्षाकर्षण होने पर छह गुरुमास, व्यवहार प्रारंभ हो जाने पर छेद, व्यवहार में यदि साधु को पश्चात्कृत गृहस्थ बना देने पर मूल, उद्दहन और हाथ-पैर व्यंगित करने पर अनवस्थाप्य तथा मृत्युदंड और देश से निष्कासन करने पर पारांचिक प्रायश्चित्त है।

२०४३.दंतपुरे आहरणं, तेनाहड बब्बगादिसु तणेसु।
छायण मीराकरणे, अत्थिरफलगं च चंपादी॥

स्तेनाहृत तृण के विषय में दंतपुरविषयक उदाहरण वक्तव्य है।[1] 'बब्बक' (वल्वज) आदि तृणों से ग्लान आदि का छादन होता है, अथवा उपाश्रय का मीराकरण[2] किया जाता है। चंपक पट्ट आदि अस्थिर फलक माने जाते हैं। ये भी स्तेनाहृत होते हैं।

२०४४.अतेणाहडाण नयणे, लहुओ लहुया य होंति सिट्ठम्मि।
अप्पत्तियम्मि गुरुगा, वोच्छेद पसज्जणा सेसे॥

अस्तेनाहृत तृणों को बिना आज्ञा बाहर ले जाने पर लघुमास का प्रायश्चित्त आता है तथा दूसरे किसी ने तृणस्वामी को कहा कि मुनि तुम्हारे तृण बाहर ले जा रहे हैं तो चतुर्लघु, यदि उस गृहस्वामी में अप्रीति उत्पन्न हो तो चतुर्गुरु। वह तृणस्वामी पुनः उस मुनि को तृण देने का व्यवच्छेद कर दे अथवा शेष द्रव्यों का देना भी बंद कर दे। उस मुनि को ही नहीं, अन्य साधुओं को भी अशन-पानक आदि द्रव्यों का व्यवच्छेद भी कर दे।

२०४५.एसेव गमो नियमा, फलएसु वि होइ आणुपुव्वीए।
नवरं पुण नाणत्तं, चउरो मासा जहन्नपदे॥

यही प्रायश्चित्त का गम–प्रकार आनुपूर्वी से फलक के विषय में भी जानना चाहिए। विशेष यह है–जघन्यपद में चार मास का प्रायश्चित्त है। (जैसे तृण के ले जाने पर जघन्य है एक मास तो इसमें है चारमास।)

२०४६.दोण्हं उवरिं वसती, पायच्छित्तं च होंति दोसा य।
बिइयपदं च गिलाणे, वसही भिक्खं च जयणाए॥

दो मास से अधिक यदि बाहरिका वसति में रहता है तो प्रागुक्त प्रायश्चित्त तथा वे ही दोष उत्पन्न होते हैं। ग्लान-विषयक अपवाद पद भी उसी प्रकार है। वहां रहते हुए वसति और भिक्षाचर्या में यतना बरतनी चाहिए।

से गामंसि वा जाव रायहाणिंसि वा सपरिक्खेवंसि अबाहिरियंसि कप्पइ निग्गंथीणं हेमंत-गेम्हासु दो मासा वत्थए॥

(सूत्र ८)

२०४७.एसेव कमो नियमा, निग्गंथीणं पि होइ नायव्वो।
जं एत्थं नाणत्तं, तमहं वोच्छं समासेणं॥

यही क्रम नियमतः निर्ग्रंथीयों के लिए भी जानना चाहिए। जो इसमें नानात्व है वह भी संक्षेप में कहूंगा।

---

१. दृष्टांत के लिए देखें कथा परिशिष्ट, नं. ६९।

२. मीराकरण–कटैः द्वारादेराच्छादनम्–इस तृण से बनी चटाइयों से द्वार आदि का आच्छादन किया जाता है। अथवा ग्लान के लिए संस्तारक भी किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२०४८.निग्गंथीणं गणहरपरूवणा खेत्तमग्गणा चेव।
वसही वियार गच्छस्स आणणा वारए चेव॥
२०४९.भत्तट्ठणाए य विही, पडिणीए भिक्खनिग्गमे चेव।
निग्गंथाणं मासो, कम्हा तासिं दुवे मासा॥

निर्ग्रंथी के गणधर की प्ररूपणा, क्षेत्र की प्ररूपणा, वसति तथा विचारभूमियां, संयतीगण की आनयना, वारक, भक्तार्थता की व्यवस्था, प्रत्यनीक का निवारण, भिक्षा के लिए निर्गमन, निर्ग्रंथों के एक मास क्यों और निर्ग्रंथियों के दो मास क्यों? ये सारे द्वार आगे की गाथाओं में व्याख्यात हैं।

२०५०.पियधम्मे दढधम्मे, संविग्गेऽवज्ज ओय-तेयस्सी।
संगहुवग्गहकुसले, सुत्तत्थविऊ गणाहिवई॥

संयतियों का गणधर कैसा हो? प्रियधर्मा और दृढ़धर्मा हो, संविग्न और पापभीरू हो, ओजस्वी और तेजस्वी हो, संघ के लिए संग्रह और उपग्रह में कुशल, सूत्रार्थविद्—ऐसा व्यक्ति आर्यिकाओं का गणाधिपति हो सकता है।

२०५१.आरोह-परीणाहा चियमंसो इंदिया य पडिपुण्णा।
अह ओओ तेओ पुण, होइ अणोतप्पया देहे॥

ओजस्वी वह होता है जिसका शरीर आरोह और परिणाह युक्त हो। आरोह का अर्थ है—शरीर से न अधिक लंबा और न ठिगना और परिणाह का अर्थ है—दोनों भुजाओं की समानता। वह मांसल हो। वह इन्द्रियों से परिपूर्ण हो। तेजस्वी वह होता है जो शरीर से अलज्जनीय हो।

२०५२.खित्तस्स उ पडिलेहा, कायव्वा होइ आणुपुव्वीए।
किं वच्चई गणहरो, जो चरई सो तणं वहइ॥

क्षेत्रमार्गणा—साध्वियों के लिए प्रायोग्य क्षेत्र की क्षेत्र प्रत्युपेक्षा के लिए गणधर क्यों जाए? जो बैल चारा चरता है उसे ही चारी वहन करना होता है। इसी प्रकार जो साध्वियों का आधिपत्य करता है उसे ही उनकी सारी चिंताओं का भार वहन करना होता है।

२०५३.संजइगमणे गुरुगा,आणादी सउणि पेसि पिल्लणया।
(उव) लोभे तुच्छा आसियावणाइणो भवे दोसा॥

यदि साध्वियां क्षेत्र प्रत्युपेक्षा के लिए जाती हैं तो आचार्य को चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोषों का भागी होना पड़ता है। जैसे पक्षिणी श्येन के लिए गम्य होती है तथा मांसपेशी या आम्रपेशी जैसे सबके अभिलषणीय होती है वैसे ही ये स्त्रियां भी सबके अभिलषणीय होती हैं। इसीलिए वे विषयार्थियों से प्रेरित होती हैं। वे तुच्छ होती हैं, इसीलिए किसी आहार आदि के प्रलोभन से असियावण—इनका अपहरण कर लिया जाता है। ये दोष होते हैं।

२०५४.तुच्छेण वि लोभिज्जइ, भरुयच्छाहरण नियडिसड्ढेणं।
णंतनिमंतण वहणे, चेइय रूढाण अक्खिवणं॥

वे साध्वियां तुच्छ आहार आदि के लोभ से लुब्ध हो जाती हैं। यहां भृगुकच्छ के निकृतिश्राद्ध का उदाहरण है। उसने वस्त्रों का निमंत्रण देकर, प्रवहण के प्रस्थान के समय मंगलपाठ सुनने के बहाने, चैत्यवंदन के लिए यान-वाहन में आरूढ़ संयतियों का आक्षेपण—अपहरण कर लिया।[1]

२०५५.एएहिं कारणेहिं, न कप्पई संजईण पडिलेहा।
गंतव्व गणहरेणं, विहिणा जो वण्णिओ पुव्विं॥

इन कारणों से साध्वियों को क्षेत्र प्रत्युपेक्षा के लिए जाना नहीं कल्पता। जो पहले विधि कही गई है उसके अनुसार गणधर को ही क्षेत्र-प्रत्युपेक्षा के लिए जाना चाहिए।

२०५६.जत्थाहिवई सूरो, समणाणं सो य जाणइ विसेसं।
एतारिसम्मि खेत्ते, समणाणं होइ पडिलेहा॥
२०५७.जहियं दुस्सीलजणो, तक्कर-सावयभयं व जहि नत्थि।
निप्पच्चवाय खेत्ते, अज्जाणं होइ पडिलेहा॥

जिस क्षेत्र का अधिपति शूरवीर हों, जो श्रमणों के विषय में विशेष रूप से जानता हो—श्रमणियों के लिए ऐसी क्षेत्र की प्रत्युपेक्षा श्रमण करे। तथा जहां दुःशील व्यक्ति न हों, जहां तस्कर तथा श्वापदभय न हो, जो क्षेत्र निष्प्रत्यपाय है, वैसा क्षेत्र आर्याओं के लिए प्रत्युपेक्षणीय है।

२०५८.गुत्ता गुत्तदुवारा, कुलपुत्ते सत्तमंत गंभीरे।
भीयपरिस मद्दविए, ओभासण चिंतणा दाणे॥

श्रमणियों के लिए जो वसति हो वह गुप्त अर्थात् जिसके चारों ओर बाड़ या दीवार हो, जिसके द्वार पर कपाट लगे हुए हों, जिसका स्वामी (कुलपुत्र) शक्तिशाली, और गंभीर हो, जिससे जनता डरती हो, जो मृदु हो—ऐसे उपाश्रय की अवभाषणा—अनुज्ञा लेनी चाहिए, तथा जो कुलपुत्र श्रमणियों को अपनी पुत्रियों की भांति चिंता करना स्वीकार कर वसति का दान करता है, तब वैसे वसति की अनुज्ञा लेनी चाहिए।

२०५९.घणकुड्डा सकवाडा, सागारियमाउ-भगिणिपेरंता।
निप्पच्चवाय जोग्गा, विच्छिन्नपुरोहडा वसही॥

अन्य आचार्य के अनुसार वसति का स्वरूप—श्रमणियों के लिए वसति घनकुड्य अर्थात् पक्की ईंटों से युक्त भींतवाली, कपाटयुक्त द्वारों वाली तथा जिसके पास में गृहस्थ उपासकों तथा माता-भगिनी के घर हों जो प्रत्यपायरहित हो, जिसका पश्चात्भाग विस्तीर्ण हो, ऐसी वसति श्रमणियों के लिए योग्य होती है।

१. उदाहरण के लिए देखें कथा परिशिष्ट, नं. ७०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२०६०.नासन्ने नातिदूरे, विहवापरिणयवयाण पडिवेसे।
मज्झत्थ-ऽवियाराणं, अकुऊहल-भावियाणं च॥

श्रमणियों की वसति वहां हो, जिसके न अति निकट और न अति दूर ऐसा पड़ौसी हो जहां की विधवाएं और परिणत-वयवाली तथा मध्यमवयवाली स्त्रियां अविकारयुक्त,अकुतूहल बुद्धिवाली तथा भावित अर्थात् साधु समाचारी से वासित अन्तःकरणवाली हों।

२०६१.भोइय-महतरगादी, बहुसयणो पिल्लओ कुलीणो य।
परिणतवओ अभीरू, अणभिग्गहिओ अकुतूहली॥
२०६२.कुलपुत्त सत्तमंतो, भीयपरिस भद्दओ परिणओ अ।
धम्मट्ठी य विणीओ, अज्जासेज्जायरो भणिओ॥

अन्य आचार्य के अनुसार शय्यातर का स्वरूप–जिस कुलपुत्र–शय्यातर के भोजिक–नगरप्रधान, महत्तर–विशेष व्यक्ति आदि बहुस्वजन हों, प्रेरक अर्थात् जो अपने घर में दुराचारियों को आने नहीं देता, जो कुलीन है, जो परिणतवया–प्रौढ़ है, जो अभीरू है, जो मिथ्यात्वरहित है, अकुतूहली है, सत्ववान् है, भीतपर्षत् है, भद्रक और परिपक्व बुद्धिवाला है, धर्मार्थी है तथा विनीत है–ऐसा व्यक्ति श्रमणियों का शय्यातर होने योग्य होता है।

२०६३.अणावायमसंलोगा, अणावाया चेव होइ संलोगा।
आवायमसंलोगा, आवाया चेव संलोगा॥

स्थंडिलभूमी के चार प्रकार हैं-

१. अनापात असंलोक	३. आपात असंलोक
२. अनापात संलोक	४. आपात संलोक

२०६४.वीयारे बहि गुरुगा, अंतो वि य तइयवज्जि ते चेव।
तइए वि जत्थ पुरिसा, उवेंति वेसित्थियाओ अ॥

यदि पुरोहडयुक्त (पिछवाड़ायुक्त) वसति हो और श्रमणियां ग्राम के बाहर विचारभूमी (स्थंडिल) में जाती हैं तो चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त आता है। तथा ग्राम के आभ्यन्तर में भी तीसरे स्थंडिल–आपात-असंलोक का वर्जन कर शेष तीन स्थंडिलों में जाती हैं तो भी चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त आता है। तथा तीसरे प्रकार के स्थंडिल में जहां पुरुष और वेश्याएं आती हैं, वहां जाने पर भी वही चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त आता है।

२०६५.जत्तो दुस्सीला खलु, वेसित्थि नपुंस हेट्ठ तेरिच्छा।
सा उ दिसा पडिकुट्ठा, पढमा बिइया चउत्थी य॥

जिस दिशा में पहली, दूसरी और चौथी स्थंडिल भूमी हो वह दिशा भी प्रतिकुष्ट है, वर्जित है क्योंकि उस दिशा में दुःशील पुरुष, वेश्या स्त्रियां, नपुंसक, हेट्ठ–अधोनापित, तिर्यञ्च–वानर आदि आते हैं।

२०६६.चारभड घोड मिंठा, सोलग तरुणा य जे य दुस्सीला।
उब्भामित्थी वेसिय, अपुमेसु उ इंति उ तदट्ठा॥

चारभट–राजपुरुष, घोट–चट्ट (विद्यार्थी?), महावत, सोल–अश्वचिन्तक–इत्यादि तरुण युवक दुःशील होते हैं। वे उद्भ्रामक स्त्रियों, वेश्याओं तथा नपुंसकों के साथ प्रतिसेवना करने के लिए पहले और दूसरे प्रकार के स्थंडिल में आते हैं। इसलिए इनका वर्जन किया गया है। (चौथे प्रकार का स्थंडिल इसलिए वर्जित है कि वह खुला होता है, दुःशील आदि दुर्जन लोग वहां श्रमणियों को जाते देखते हैं। श्रमणियां उनको देखती हैं।)

२०६७.हेट्ठउवासणहेउं, णेगागमणम्मि गहण उड्डाहो।
वानर-मयूर-हंसा, छाला सुणगादि तेरिच्छा॥

अधस्तादुपासनं–अधोलोचकर्म के लिए अनेक मनुष्यों का वहां आगमन होता है। वहां वे मनुष्य संयतियों को पकड़ लेते हैं। इससे उड्डाह होता है। तथा वहां वानर, मयूर, हंस, बकरे, कुत्ते आदि तिर्यंच पशु भी आते हैं और वे संयतियों को उपद्रुत करते हैं।

२०६८.जइ अंतो वाघाओ, बहिया तासि तइया अणुन्नाया।
सेसा नाणुन्नाया, अज्जाण वियारभूमीतो॥

ग्राम के आभ्यन्तर यदि पुरोहड का व्याघात हो–अभाव हो तो श्रमणियों के लिए बाहर तीसरे प्रकार का स्थंडिल अनुज्ञात है। शेष अनापात-असंलोक आदि विचारभूमियां आर्याओं के लिए अनुज्ञात नहीं हैं।

२०६९.पडिलेहियं च खेत्तं, संजइवग्गस्स आणणा होइ।
निक्कारणम्मि मग्गतो, कारणे समगं व पुरतो वा॥

ऐसे प्रत्युपेक्षित क्षेत्र में संयतिवर्ग को लाया जाता है। यदि मार्ग निष्कारण–निर्भय हो तो साधु आगे चलते हैं और मार्गतः अर्थात् पीछे साध्वियां आती हैं। यदि कारण अर्थात् भय हो तो साध्वियां साधुओं के आस-पास अथवा आगे चलती हैं।

२०७०.निप्पच्चवाय संबंधि भाविए गणहरऽप्पबिइ-तइओ।
नेइ भए पुण सत्थेण सद्धि कयकरणसहितो वा॥

उपद्रव के अभाव में साध्वियों के संबंधी तथा सम्यक्-भावित मुनियों के साथ गणधर आत्मद्वितीय या आत्मतृतीय रूप में साध्वियों को विवक्षित क्षेत्र में ले जाता है। यदि भय हो तो किसी सार्थ के साथ अथवा कृतकरण अर्थात् धनुर्विद्या में निपुण मुनि को साथ ले साध्वियों को निर्धारित क्षेत्र में पहुंचाता है।

२०७१.उभयट्ठाइनिविट्ठं, मा पेल्ले वइणि तेण पुर एगे।
तं तु न जुज्जइ अविणय विरुद्ध उभयं च जयणाए॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कायिकी तथा संज्ञा निवृत्ति के लिए अथवा अन्य किसी प्रयोजन से साधु को बैठा देखकर कोई साध्वी प्रेरित न करे, इसलिए साध्वियां आगे चलती हैं—ऐसा कोई आचार्य मानते हैं। यह मानना अयुक्त है। साध्वियों का आगे चलना अविनय का द्योतक है तथा लोकविरुद्ध है इसलिए मुनि कायिकी तथा संज्ञानिवृत्ति यतनापूर्वक करे। (शिष्य ने पूछा—यतना क्या है? आचार्य कहते हैं—जहां एक मुनि कायिकी या संज्ञा निवृत्ति के लिए ठहरता है, वहां अन्य सभी मुनि ठहर जाएं। यह देखकर साध्वियां उनको लांघकर आगे नहीं जायेंगी। वे भी शरीरचिंता से पीछे रहकर ही निवृत्त हो जायेंगी।)

२०७२.जहियं च अगारिजणो, चोक्खब्भूतो सुईसमायारो।
कुडमुहदद्दरएणं, वारगनिक्खेवणा भणिया॥

जिस ग्राम के लोग चोक्षभूत—तथा शौचवादी हों वहां वारक—मात्रक (घट) का ग्रहण करना चाहिए तथा प्रस्रवण आदि उसमें करके, उसके मुख पर वस्त्र बांधकर उसका निक्षेपण करे, यह भगवदाज्ञा है।

२०७३.थीपडिबद्धे उवस्सए, उस्सग्गपदेण संवसंतीओ।
वच्चंति काइभूमिं, मत्तगहत्था न याऽऽयमणं॥

उत्सर्गपद में साध्वियां स्त्री-प्रतिबद्ध उपाश्रय में रहें और मात्रक को हाथ में लेकर कायिकीभूमी में जाएं परन्तु आचमन न करें।

२०७४.दुक्खं विसुयावेउं, पणगस्स य संभवो अलित्तम्मि।
संदंते तसपाणा, आवज्जण तक्कणादीया॥

वारक अन्तर्लिप्त रखना चाहिए। अलिप्त वारक को साफ करना दुष्कर होता है तथा उसमें पनक की संभावना बनी रहती है। अलिप्त वारक में पानक डालने से पानक उससे चूने लग जाता है और तब चींटी आदि त्रसप्राणी आ सकते हैं तथा आवज्जण—अनन्तकायिक तथा विकलेन्द्रियों के संघट्टन से प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। वारक के चूने वाले पानक में मक्षिकाएं गिरती है। उनको निगलने के लिए छिपकली दौड़ती है। उसको खाने के लिए मार्जारी। इस प्रकार तर्कणा—एक दूसरे को खाने के लिए प्रस्तुत होते हैं। इनका प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२०७५.सागारिए परम्मुह, दगसद्दमसंफुसंतिओ नित्तं।
पुलएज्ज मा य तरुणी, ता अच्छ दवं तु जा दिवसो॥

गृहस्थ हों तो उनसे पराङ्मुख होकर कायिकी करें। तत्पश्चात् नेत्र—मूत्रेन्द्रिय का स्पर्श न करती हुई पानक से प्रक्षालनानुमापक शब्द करने का आभास कराए। तरुण स्त्रियां इस जिज्ञासा से कि क्या पानी है या नहीं, वे वारक को देखती हैं। अतः वारक में साफ पानी रखे और संध्या समय में उसे फेंक दे।

२०७६.मंडलिठाणस्सऽसती, बला व तरुणीसु अहिवडंतीसु।
पत्तेय कमढभुंजण, मंडलिथेरी उ परिवेसे॥

यदि स्थान गृहस्थों से रहित हो तो मंडली में भोजन करें। यदि मंडली का स्थान न हो और तरुण स्त्रियां बलपूर्वक या प्रेमवश वहां आती हों तो प्रत्येक साध्वी कमढक (पात्रविशेष) में भोजन करे। मंडलिस्थविरा साध्वी सबको भोजन परोसे।

२०७७.ओगाहिमाइविगई, समभाग करेइ जत्तिया समणी।
तासिं पच्चयहेउं, अणहिक्खट्ठा अकलहो अ॥

जितनी साध्वियां हों उन सबको समभाग में पक्वान्न तथा विकृति (घृत आदि) दे। उन सभी साध्वियों के प्रत्यय के लिए न अधिक और न कम—अविषमतया सबको परोसे। इससे कलह का वर्जन होता है।

२०७८.निव्वीइय एवइया, व विगइओ लंबणा व एवइया।
अण्णगिलायंबिलिया, अज्ज अहं देह अन्नासिं॥

भोजन मंडली में बैठी हुई साध्वियों में से एक साध्वी कहती है—आज मैं निर्विकृतिक हूं। दूसरी कहती है—आज मुझे इतनी ही विकृतियां खानी हैं, शेष का त्याग है। तीसरी कहती है—आज मुझे इतने ही कवल लेने हैं। चौथी कहती है—आज मुझे वासी अन्न ही खाना है। पांचवी कहती है—आज मुझे आचाम्ल करना है, अतः ये विकृतियां अन्य साध्वियों को दे दें। इस प्रकार सबको यथेष्ट भोजन करा दिया जाता है। (सभी अपना-अपना भोजनपात्र साफ करती हैं। प्रवर्तिनी का भोजनपात्र छोटी साध्वी साफ करती है।)

२०७९.दट्ठूण निहुयवासं, सोयपयत्तं अलुद्धयत्तं च।
इंदियदमं च तासिं, विणयं च जणो इमं भणइ॥

आर्यिकाओं का सौहार्दपूर्ण एकत्र अवस्थिति, शौचप्रयत्न (वारकग्रहणरूप), अलुब्धत्व, इन्द्रियदमन तथा परस्पर विनय-व्यवहार देखकर लोग कहते हैं—

२०८०.सच्चं तवो य सीलं, अणहिक्खाओ अ एगमेगस्स।
जइ बंभं जइ सोयं, एयासु परं न अन्नासु॥
२०८१.बाहिरमलपरिछुद्धा, सीलसुगंधा तवोगुणविसुद्धा।
धन्नाण कुलुप्पन्ना, एआ अवि होज्ज अम्हं पि॥

इन आर्यिकाओं में जैसी कथनी-करनी की सत्यता है, तप, शील, अनधिकस्वाद—अस्वादवृत्ति, परस्परता, ब्रह्मचर्य तथा शौच है, वह परम है, संन्यासिनियों में वैसा नहीं है। यद्यपि ये बाह्यमल से उपेत हैं परंतु शील से सुगंधित तथा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तपोगुण से विशुद्ध हैं। इनका जिन कुलों में जन्म हुआ है, वे धन्य हैं। हमारे कुल की बहु-बेटियां भी ऐसी हों।

२०८२.एवं तत्थ वसंतीणुवसंतो सो य सिं अगारिजणो।
गिण्हेति य सम्मत्तं, मिच्छत्तपरम्मुहो जाओ॥

इस प्रकार उन आर्यिकाओं के रहने से वह (वसति-स्वामी) गृहस्थ भी उपशांत अर्थात् प्रतिबुद्ध होकर, मिथ्यात्व से पराङ्मुख हो सम्यक्त्व को ग्रहण कर लेता है।

२०८३.तरुणीण अभिद्दवणे, संवरितो संजतो निवारेइ।
तह वि य अठायमाणे, सागारिओ तत्थुवालभइ॥

प्रत्यनीक व्यक्ति द्वारा तरुणी साध्वी को अभिद्रुत करने पर, संयतवेशधारी मुनि उसे निवारित करता है। यदि वह नहीं मानता है तो शय्यातर उसको उपालंभ देता है, उसका निग्रह करता है।

२०८४.गणिणिअकहणे गुरुगा,
सा वि य न कहेइ जइ गुरूणं पि।
सिट्ठम्मि य ते गंतुं,
अणुसट्ठी मित्तमाईहिं॥

इस प्रकार उपद्रुत होने पर यदि साध्वियां गुरुणी को नहीं कहती हैं तो चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त आता है। यदि गुरुणी आचार्य को नहीं कहती है तो चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं। गुरुणी द्वारा निवेदन करने पर आचार्य उस व्यक्ति के पास जाकर, साध्वियों के प्रति किए जाने वाले अभद्र व्यवहार के दारुण विपाक की बात उसे समझाते हैं। इतने पर भी वह यदि शांत नहीं होता है तो उसके मित्रों या परिजनों को बात बताते हैं। इतने पर वह शांत हो जाता है तो ठीक है।

२०८५.तह वि य अठायमाणे, वसभा भेसिंति तहवि य अठंते।
अमुगत्थ घरे एज्जह, तत्थ य वसभा वतिणिवेसा॥
२०८६.सागारिए असंते, किच्चकरे भोइयस्स व कहिंति।
अण्णत्थ ठाण णिंती, खेत्तस्सऽसति णिवे चेव॥

वह यदि अपनी कुचेष्टा नहीं रोकता तो वृषभ मुनि उसे डराते हैं। यदि वह न माने तो धनुर्विद् कोई मुनि संयती का वेश धारण कर उसे कहता है--अमुक व्यक्ति के घर पर मिलने आ जाना। वहां अनेक वृषभ मुनि साध्वियों का वेश बनाकर उसे समझाते हैं। वह समझ जाए तो अच्छा है, अन्यथा गृहस्थ को कहते हैं। यदि कोई गृहस्थ न हो तो कृतकर--ग्रामचिंता के लिए नियुक्त भोजिक को कहते हैं। उससे भी यदि वह उपशांत नहीं होता तो संयती को अन्य स्थान--क्षेत्र में ले जाते हैं। यदि उपयुक्त क्षेत्र न हो तो राजा को निवेदन करना चाहिए। राजा उस प्रत्यनीक का निग्रह करता है।

२०८७.दो थेरि तरुणि थेरी,
दोन्नि य तरुणीउ एक्किया तरुणी।
चउरो अ अणुग्घाया,
तत्थ वि आणाइणो दोसा॥

यदि दो स्थविराएं अथवा एक तरुणी और एक स्थविरा, अथवा दो तरुणियां अथवा एक स्थविरा अथवा एक तरुणी--ये यदि भिक्षा के लिए इस प्रकार निर्गमन करती हैं तो चार अनुद्घात (गुरु) मास का प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं। शिष्य प्रश्न करता है--क्यों?

२०८८.चउकण्णं होज्ज रहं, संका दोसा य थेरियाणं पि।
कुट्टिणिसहिता बितिए, तइय-चउत्थीसु धुत्ति त्ति॥

रहस्य चार कानों तक रहस्य रह सकता है। दोनों स्थविरा साध्वियां भिक्षा के लिए जाती हैं तो लोगों को शंका हो सकती है कि ये किसी व्यक्ति द्वारा दूति-कार्य के लिए नियुक्त हों। एक तरुणी और एक स्थविरा साथ हो तो लोग कहते हैं--यह कुट्टिणी के साथ घूम रही है। दो तरुण साध्वियां हों तो लोग कहते हैं--ये दूतियां हैं। एक स्थविरा भी दूती मानी जाती है और एक तरुणी साध्वी भी तर्कणीय होती है।

२०८९.पुरतो य मग्गतो या, थेरीओ मज्झ होंति तरुणीओ।
अइगमणे निग्गमणे, एस विही होइ कायव्वो॥

साध्वियों की गमनविधि यह है--

आगे और पीछे स्थविरा साध्वियां हों, मध्य में तरुण साध्वियां हों--यह विधि गृहस्थ के घर में प्रवेश करने और निर्गमन के समय की है।

२०९०.तिगमादसंकणिज्जा,
अतक्कणिज्जा य साण-तरुणाणं।
अन्नोन्नरक्खणेसण,
वीसत्थपवेसकिरिया य॥

तीन आदि साध्वियां अशंकनीय होती हैं तथा श्वान, तरुणों के लिए अनभिलषणीय होती हैं। परस्पर वे अपनी रक्षा भी कर सकती हैं, एषणा की शुद्धि कर सकती हैं तथा विश्वस्त होकर गृहस्थ के घर में प्रवेश और निर्गमन कर सकती हैं।

२०९१.थेरी कोट्ठगदारे, तरुणी पुण होइ तीए णादूरे।
बिइय किढी ठाइ बहिं, पच्चत्थियरक्खणट्ठाए॥

एक स्थविर साध्वी कोठे के द्वार पर, तरुणी साध्वी उससे अधिक दूरी पर न जाए। एक स्थविर साध्वी कोठे के द्वार से बाहर खड़ी रहे। यह इसलिए कि प्रत्यनीक से तरुण साध्वी की रक्षा की जा सके। यदि प्रत्यनीक कुछ अभद्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यवहार करता है तो वह सुखपूर्वक चिल्ला कर लोगों को इकट्ठा कर सकती है।

२०९२.जाणंति तव्विह कुले, संबुद्धीए चरिज्ज अन्नोन्नं।
ओराल निच्च लोयं, खुज्ज तवो आउल सहाया॥

वे वैसे कुलों को जानती हैं जहां उपद्रव संभव होता है, जानकर वे उसे पहले ही छोड़ देती हैं। वे परस्पर सम्मत होकर भिक्षाचर्या में पर्यटन करती है। जो रूपवती साध्वी हो, वह प्रतिदिन अपना लुंचन करे। उसके पीछे कुब्जा की स्थापना करे और उस साध्वी को तपस्या कराए और जनाकीर्ण स्थानों में अनेक साध्वियों के साथ उसे भिक्षा के लिए भेजे।

२०९३.तिप्पभिइ अडंतीओ, गिण्हंतऽन्नन्नहिं चिमे तिन्नि।
संजम-दव्वविरुद्धं, देहविरुद्धं च जं दव्वं॥

तीन आदि के समूह में भिक्षा के लिए जाने पर ये तीन प्रकार के द्रव्य वे पृथक्-पृथक् पात्रों में ले सकती हैं—संयम-विरुद्ध, द्रव्यविरुद्ध और देहविरुद्ध जो द्रव्य हो उसे।

२०९४.पालंक-लट्ठसागा, मुग्गकयं चाऽऽमगोरसुम्मीसं।
संसज्जती उ अचिरा, तं पि य नियमा दुदोसाय॥

महाराष्ट्र देश में प्रसिद्ध पालंकशाक, लट्ठाशाक—कौसुंभ-शालनक—इनको परस्पर मिलाने से सूक्ष्मजंतु उत्पन्न हो जाते हैं। मुद्गकृत अथवा द्विदल का शाक कच्चे दूध के साथ मिलाने पर, उसमें शीघ्र की सूक्ष्म जंतु उत्पन्न हो जाते हैं। जन्तुओं से संसक्त होने पर नियमतः दो दोष होते हैं—संयमोपघात और आत्मोपघात।

२०९५.दहि-तेल्लाई उभयं, पय-सोवीराउ होंति उ विरुद्धा।
देहस्स विरुद्धं पुण, सी-उण्हाणं समाओगो॥

दही और तैल, दूध और कांजी—परस्पर मिलाने पर विरुद्ध होते हैं—यह द्रव्यविरुद्ध है। शीत और उष्ण द्रव्यों का परस्पर समायोग देहविरुद्ध होता है। इन द्रव्यों को पृथक्-पृथक् लेने पर संयमादि के उपघात के लिए नहीं होते।

२०९६.नत्थि य मामागाइं, माउग्गामो य तासिमब्भासे।
सी-उण्हगिण्हणाए, सारक्खण एक्कमेक्कस्स॥

वहां कोई मामक कुल—मेरे घर में प्रवेश न करें, ऐसा निषेध करने वाले कुल—नहीं है। मातृग्राम[1]—स्त्रीवर्ग ही प्रायः भिक्षा देता है अतः साध्वियों के साथ उनका संबंध निकटता का होता है। तीन आदि साध्वियों का साथ में भिक्षाटन करने से शीत तथा उष्ण द्रव्य लेने में तथा उनका संरक्षण करने में परस्पर सहयोग हो जाता है।

२०९७.एगत्थ सीयमुसिणं, च एगहिं पाणगं च एगत्था।
दोसीणस्स अगहणे, चिराडणे होज्जिमे दोसा॥

एक पात्र में शीत अर्थात् पर्युषित भक्त लेती हैं और एक में उष्ण। एक पात्र में पानक ग्रहण करती हैं। अतः तीन साध्वियों का साथ घूमना उचित है। यदि दोषान्न का ग्रहण नहीं किया जाता है तो चिरकाल तक घूमते रहने से ये दोष होते हैं।

२०९८.थी पुरिसो अ नपुंसो, वेदो तस्स उ इमे पगारा उ।
फुंफुम-दवग्गिसरिसो, पुरदाहसमो, भवे तइओ॥

वेद तीन प्रकार का होता है—स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद। इन तीनों के क्रमशः ये प्रकार हैं—फुंफुमाग्नि-तुल्य—करीषाग्निसदृश, दवाग्निसदृश, पुरदाहसम—तीसरा होता है। (करीषाग्नि अन्तर् में धग् धग् जलती है, न स्पष्टरूप से जलती है और न बुझती है। चालित होने पर तत्काल उद्दीप्त हो जाती है—ऐसा होता है स्त्रीवेद। जैसे दवाग्नि इंधन के योग से जलती है, अन्यथा बुझ जाती है—ऐसा होता है पुरुषवेद। जैसे नगरदाह सर्वत्र दीप्त होता है, वैसे ही नपुंसकवेद भी स्त्री या पुरुष—सर्वत्र उद्दीप्त होता है।)

२०९९.जह फुंफुमा हसहसेइ
घट्टिया एवमेव थीवेदो।
दिप्पइ अवि किढियाण वि,
आलिंगण-छे (छं) दणाईहिं॥

जैसे फुंफुकाग्नि चालित होने पर हसहसेइ—दीप्त होती है, इसी प्रकार स्त्रीवेद भी आलिंगन, निमंत्रण आदि से दीप्त होता है। स्थविर स्त्री के भी वह दीप्त होता है तो तरुण स्त्री की तो बात ही क्या!

२१००.न वओ इत्थ पमाणं, न तवस्सित्तं सुयं न परियाओ।
अवि खीणम्मि वि वेदे, थीलिंगं सव्वहा रक्खं॥

वेदोदय के लिए न अवस्था प्रमाण है, न तपस्या, न श्रुत और न संयमपर्याय। वेद के सर्वथा क्षीण हो जाने पर भी स्त्रीलिंग की सर्वथा रक्षा करनी चाहिए। (इसीलिए स्त्रीकेवली भी आर्यिका के प्रायोग्य प्रावरण आदि को धारण करती है।)

२१०१.कामं तवस्सिणीओ, ण्हाणुव्वट्टणविकारविरयाओ।
तह वि य सुपाउआणं, अपेसणाणं चिमं होइ॥

शिष्य पूछता है—आर्यिकाएं इतनी यतना क्यों करती है? आचार्य कहते हैं—यह अनुमत है कि तपस्विनी आर्यिकाएं स्नान, उद्वर्तन आदि नहीं करतीं और वे विकार से रहित होती हैं, फिर भी वे उचितरूप से आच्छादित रहती

१. माउग्गामो त्ति समयपरिभाषया स्त्रीवर्गः। (वृ. पृ. ६०४)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। वे अव्यापृत होती हैं, फिर भी उनका यह सौन्दर्य होता है–

२१०२.रूवं वन्नो सुकुमारया य निद्धच्छवी य अंगाणं।
होंति किर सन्निरोहे, अज्जाण तवं चरंतीणं॥

रूप, वर्ण, कोमलस्पर्श तथा उनके शरीर के अवयवों की स्निग्ध चमड़ी होती है। अनेक उपकरणों से आच्छादित होने पर भी तथा तपस्या करते रहने पर भी यह रूप, लावण्य आदि होता है, अतः वह यतना युक्त है।

२१०३.जइ वि य महव्वयाइं, निग्गंथीणं न होंति अहियाइं।
तह वि य निच्चविहारे, हवंति दोसा इमे तासिं॥

(शिष्य ने पूछा साधुओं को एकत्र एक मास और साध्वियों को दो मास रहने की अनुज्ञा क्यों? क्या उनके महाव्रत अधिक हैं?) आचार्य कहते हैं–यद्यपि आर्यिकाओं के महाव्रत अधिक नहीं होते, फिर भी नित्यविहार अर्थात् प्रत्येक मास में क्षेत्र-संक्रमण से ये दोष होते हैं–

२१०४.मंसाइपेसिसरिसी, वसही खेत्तं च दुल्लभं जोग्गं।
एएण कारणेणं, दो दो मासा अवरिसासु॥

आर्यिकाएं मांसादि पेशी के सदृश होती हैं। उनके प्रायोग्य क्षेत्र और वसति दुर्लभ होती है। इन कारणों से चातुर्मास के सिवाय अन्य काल में एकत्र निवास के दो-दो मास की अनुज्ञा है।

२१०५.दोण्हं उवरि वसंती, पायच्छित्तं च होंति दोसा य।
बिइयपयं च गिलाणे, वसही भिक्खं च जयणाए॥॥

यदि आर्यिकाएं दो मास से एक स्थान में अधिक रहती हैं तो प्रायश्चित्त आता है तथा अनेक दोष होते हैं। अपवाद पद में ग्लान के प्रति वसति और भिक्षा यतनापूर्वक लेनी चाहिए।

से गामंसि वा जाव रायहाणिंसि वा सपरिक्खेवंसि सबाहिरियंसि कप्पइ निग्गंथीणं हेमंत-गिम्हासु चत्तारि मासा वत्थए–अंतो दो मासे, बाहिं दो मासे। अंतो वसमाणीणं अंतो भिक्खायरिया, बाहिं वसमाणीणं बाहिं भिक्खायरिया॥

(सूत्र ९)

२१०६.एसेव कमो नियमा, सपरिक्खेवे सबाहिरीयम्मि।
नवरं पुण नाणत्तं, अंतो बाहिं चउम्मासा॥

यही पूर्व सूत्रोक्त क्रम नियमतः सपरिक्षेप तथा सबाहरिका क्षेत्र में रहने वाली आर्यिकाओं के लिए है। विशेष यह है कि वे अभ्यन्तर और बाहिरिका दोनों में चार मास पूरा करें।

२१०७.चउण्हं उवरि वसंती, पायच्छित्तं च होंति दोसा य।
नाणत्तं असईए उ, अंतो वसही बहिं चरइ॥

यदि चार मास से अधिक निवास होता है तो वही पूर्वोक्त प्रायश्चित्त और दोष प्राप्त होते हैं। अपवादपद भी पूर्वोक्त ही है। नानात्व अर्थात् विशेष यह है–यदि बाहिरिका में शय्यातर और वसति प्रायोग्य न हो तो उसके अभाव में आभ्यन्तर वसति में रहे और भिक्षाचर्या बाहिरिका में ही करे।

२१०८.जोग्गवसहीइ असई, तत्थेव ठिया चरिंति बाहिं तु।
पुव्वगहिए विगिंचिय, तत्तो च्चिय मत्तगादी वि॥

बाहिरिका में साध्वियों के प्रायोग्य वसति के अभाव में आभ्यन्तर वसति में रहकर बाहिरिका में भिक्षाचारी करे। पूर्वगृहीत मात्रक, डगलक, तृण आदि का परित्याग कर, बाहिरिका से ही दूसरे मात्रक, तृण आदि लाने चाहिए।

२१०९.गच्छे जिणकप्पम्मि य,
दोण्ह वि कयरो भवे महिड्ढीओ।
निप्फायग-निप्फन्ना,
दोन्नि वि होंती महिड्ढीया॥

शिष्य ने पूछा–गच्छ और जिनकल्पी मुनि के मध्य कौन महर्द्धिक होता है? आचार्य ने कहा–निष्पादक और निष्पन्न की अपेक्षा दोनों महर्द्धिक हैं। गच्छ सूत्रार्थ का प्रदाता है। उसी के आधार पर जिनकल्प होता है। गच्छ जिनकल्पत्व का निष्पादक होने के कारण महर्द्धिक है। जिनकल्प ज्ञान-दर्शन-चारित्र में परिनिष्ठित होता है, इसलिए वह महर्द्धिक है।

२११०.दंसण-नाण-चरित्ते, जम्हा गच्छम्मि होइ परिवुड्ढी।
एएण कारणेणं, गच्छो उ भवे महिड्ढीओ॥

गच्छ में दर्शन, ज्ञान और चारित्र की परिवृद्धि होती है। इसलिए गच्छ महर्द्धिक है।

२१११.पुरतो व मग्गतो वा, जम्हा कत्तो वि नत्थि पडिबंधो।
एएण कारणेणं, जिणकप्पीओ महिड्ढीओ॥

आगे या पीछे जिसके कोई प्रतिबंध नहीं होता, जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से प्रतिबंधमुक्त होते हैं–इन कारणों से जिनकल्प महर्द्धिक होता है।

२११२.दीवा अन्नो दीवो, पइप्पई सो य दिप्पइ तहेव।
सीसो च्चिस सिक्खंतो, आयरिओ होइ नऽन्नत्तो॥

एक दीपक से दूसरा दीपक जलाया जाता है और पूर्व दीपक भी प्रद्योतित रहता है, इसी प्रकार शिक्षमाण शिष्य ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य होता है, अन्य प्रकार से नहीं। अतः स्थविरकल्पिक मुनि ही तपः आदि भावनाओं से भावित होता हुआ क्रमशः जिनकल्प को स्वीकार करता है, अन्यथा नहीं।

२११३.दिट्ठंतो गुहासीहे, दोन्नि य महिला पया य अपया य।
गावीण दोन्नि वग्गा, सावेक्खो चेव निरवेक्खो॥

पूर्वोक्त गाथा के समर्थन में तीन दृष्टांत हैं—

१. गुफावासी सिंह।

२. दो महिलाएं—एक पुत्रवती, दूसरी निःसंतान।

३. गायों के दो वर्ग—एक सापेक्ष और दूसरा निरपेक्ष।

२११४.सीहं पालेइ गुहा, अविहाडं तेण सा महिड्ढीया।
तस्स पुण जोव्वणम्मिं, पओअणं किं गिरिगुहाए॥

सिंहशिशु[1] का पालन—रक्षण गुफा करती है, इसलिए गुफा महर्द्धिक है। जब सिंहशिशु यौवन को प्राप्त कर पूर्ण शक्तिसंपन्न हो जाता है तब उस गिरिगुफा का क्या प्रयोजन। अब सिंह महर्द्धिक है।

२११५.दव्वावइमाईसुं, कुसीलसंसग्गि-अन्नउत्थीहिं।
रक्खइ गणीपुरोगो, गच्छो अविकोवियं धम्मे॥

शक्तिसंपन्न आचार्य द्वारा पालित गच्छ सभी प्रकार की द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावगत आपत्तियों से मुनिजन का रक्षा करता है, कुशील तथा अन्यतीर्थिकों के संसर्ग से बचाता है, धर्म में अप्रतिबुद्ध शिष्यों को प्रतिबुद्ध करता है, इसलिए गच्छ महर्द्धिक होता है।

२११६.आणा-इस्सरियसुहं, एगा अणुभवइ जइ वि बहुतत्ती।
देहस्स य संठप्पं, भोगसुहं चेव कालम्मि॥

२११७.परवावारविमुक्का, सरीरसक्कारतप्परा निच्चं।
मंडणए वक्खित्ता, भत्तं पि न चेयई अपया॥

एक महिला सप्रसवा है। वह प्रसवकाल में बहुत कष्टों का अनुभव करती है और संतान के पालन-पोषण में भी उसे निरंतर व्यापृत रहना होता है। परंतु गृहस्वामिनी बनकर वह आज्ञा और ऐश्वर्य का अनुभव करती है और कालान्तर में देह का संस्थापन कर भोगसुख को प्राप्त होती है।

दूसरी निःसंतान महिला परव्यापार अर्थात् संतान के पालन-पोषण आदि चिंता से विप्रमुक्त रहती हुई निरंतर शरीर के संस्कार में तत्पर रहती है तथा शरीर के मंडन आदि में व्यस्त रहती हुई भोजन करना भी भूल जाती है।

२११८.वेयावच्चे चोयण-वारण-वावारणासु य बहूसु।
एमादीवक्खेवा, सययं झाणं न गच्छम्मि॥

गच्छ भी सप्रसवा स्त्री की भांति अनेक कार्यों में व्यापृत रहता है। वैयावृत्त्य में व्यापृत होना होता है। मुनिचर्या में स्खलना करने वाले को नोदना—प्रेरणा देना, अकृत्य की प्रतिसेवना करने वाले को वर्जना, अनेक प्रवृत्तियों में व्यापारणा करनी होती है। ये सब व्याक्षेप हैं। इसलिए गच्छ में सतत ध्यान नहीं हो सकता।

२११९.सद्दूलपोइयाओ, नस्संतीओ वि णेव धेणूओ।
मोत्तूणं तण्णगाइं, दवंति सपरक्कमाओ वि॥

२१२०.न वि वच्छएसु सज्जंति वाहिओ नेव वच्छमाऊसु।
सबलमगूहंतीओ, नस्संति भएण वग्घस्स॥

नई ब्याई हुई गायें व्याघ्र से त्रस्त होने पर भी, इधर-उधर होती हुई भी अपने लघु वत्सों को छोड़कर, समर्थ होने पर भी शीघ्र पलायन नहीं करती, क्योंकि वे अपत्यसापेक्ष हैं। जो धेनू वंध्या होती है, वह न वत्सों में और न वत्सों की माताओं में ममत्व करती है। वह अपने बल का गोपन न कर व्याघ्र के भय से पलायन कर जाती हैं। वह निरपेक्ष होती है।

२१२१.आयसरीरे आयरिय-बाल-वुड्ढेसु आवि सावेक्खा।
कुल-गण-संघेसु तहा, चेइयकज्जाइएसुं च॥

इसी प्रकार गच्छवासी मुनि अपने शरीर के प्रति, आचार्य, बाल, वृद्ध तथा कुल, गण, संघ तथा चैत्य-कार्यों में सापेक्ष होते हैं।

२१२२.रयणायरो उ गच्छो, निप्फादओ नाण-दंसण-चरित्ते।
एएण कारणेणं, गच्छो उ भवे महिड्ढीओ॥

गच्छ रत्नाकर होता है। वह ज्ञान, दर्शन और चारित्र का निष्पादक होता है। इन कारणों से गच्छ महर्द्धिक होता है।

२१२३.रयणेसु बहुविहेसुं, नीणिज्जंतेसु नेव नीरयणो।
अतरो तीरइ काउं, उप्पत्ती सो य रयणाणं॥

२१२४.इय रयणसरिच्छेसुं, विणिग्गएसुं पि नेव नीरयणो।
जायइ गच्छो कुणइ य, रयणब्भूते बहू अन्ने॥

जिसको तैरा नहीं जा सकता, वह अतर होता है। वह है रत्नाकर। अनेक प्रकार के रत्नों को निकालने पर भी उसको रत्नरहित नहीं किया जा सकता क्योंकि वह रत्नों का उत्पादक है।

इसी प्रकार गच्छरूपी रत्नाकर भी रत्नसदृश जिनकल्पिकों के विनिर्गत होने पर भी नीरत्न—रत्नरहित नहीं हो जाता क्योंकि बाद में भी वह दूसरे मुनियों को रत्नभूत बनाता रहता है।

---

१. अविहाडं—देशीभाषया बालकः। (वृ. पृ. ६०८)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एगत्तवासविधिनिसेध-पदं

से गामंसि वा जाव रायहाणिंसि वा एगवगडाए एगदुवाराए एगनिक्खमण-प्पवेसाए नो कप्पइ निग्गंथाण य निग्गंथीण य एक्कतओ वत्थए॥

(सूत्र १०)

२१२५.गाम-नगराइएसुं, तेसु उ खेत्तेसु कत्थ वसियव्वं।
जत्थ न वसंति समणीमब्भासे निग्गमपहे वा॥

पूर्व सूत्रोक्त ग्राम-नगर आदि क्षेत्रों में कहां रहना चाहिए? सूत्रकार कहते हैं—जहां उपाश्रय के निकट तथा निर्गमपथ में श्रमणियां न रहती हों, वहां रहना चाहिए।

२१२६.अहवा निग्गंथीओ, दट्ठु ठिया तेसु गाममाईसु।
मा पिल्लेही कोई, तेणिम सुत्तं समुदियं तु॥

अथवा श्रमणियों को वहां ग्राम आदि में स्थित देखकर कोई आचार्य आदि आकर मुनियों को वहां से निकाल दे—इस भावना से यह सूत्र प्राप्त है।

२१२७.वगडा उ परिक्खेवो, पुव्वुत्तो सो उ दव्वमाईओ।
दारं गामस्स मुहं, सो चेव य निग्गम-पवेसो॥

वगड़ा का अर्थ है—ग्राम आदि का परिक्षेप। वह द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आधार पर चार प्रकार का होता है। वह पहले बताया जा चुका है। (देखें गाथा ११२३ आदि)। द्वार का अर्थ है—गांव का मुंह अर्थात् प्रवेश। वही निर्गम और प्रवेश कहलाता है।

२१२८.दारस्स वा वि गहणं, कायव्वं अहव निग्गमपहस्स।
जइ एगट्ठा दुन्नि वि, एगयरं बूहि मा दो वि॥

शिष्य कहता है—भंते! द्वार पद का ग्रहण करना चाहिए अथवा निर्गम-प्रवेशपथ का ग्रहण करना चाहिए। यदि दोनों पद एकार्थक हैं तो इन दोनों में से किसी एक का कथन करना चाहिए, दो का नहीं।

२१२९.एगवगडेगदारा, एगमणेगा अणेग एगा य।
चरिमो अणेगवगडा, अणेगदारा य भंगो उ॥

शिष्य के इस प्रकार कथन करने पर आचार्य कहते हैं—प्रस्तुत में वगडा और द्वार के चार विकल्प हैं।

१. एक वगडा एक द्वार। जैसे—पर्वत से परिक्षिप्त कोई ग्राम।
२. एक वगडा अनेक द्वार। जैसे—प्राकार से परिक्षिप्त चार द्वार वाला नगर।
३. अनेक वगडा एक द्वार। जैसे—पद्मसरोवर आदि से परिक्षिप्त बहुपाटक ग्राम आदि।
४. अनेक वगडा अनेक द्वार। जैसे—पुष्पवाटिकाओं से परिक्षिप्त गृहवाले ग्राम।

२१३०.तइयं पडुच्च भंगं, पउमसराईहिं संपरिक्खित्ते।
अन्नोन्नदुवाराण वि, हवेज्ज एगं तु निक्खमणं॥

इन चार भंगों में से तीसरे भंग के आधार पर पद्मसर आदि से परिक्षिप्त ग्राम आदि में अनेक पाटकों के भिन्न-भिन्न द्वार होने पर भी एक ही निष्क्रमण होता है। तात्पर्य है कि तीनों दिशाओं में पद्मसर आदि के व्याघात के कारण एक ही दिशा में निष्क्रमण-प्रवेश होता है।

२१३१.तत्थ वि य होंति दोसा, वीयारगयाण अहव पंथम्मि।
संकादीए दोसे, एगवियाराण वोच्छिहिई॥

तीसरे भंग में भी संज्ञाभूमी में जाते अथवा उसी एक ही मार्ग से प्रवेश-निष्क्रमण करते अनेक दोष होते हैं। एक ही संज्ञा भूमी में जाने वाले श्रमण-श्रमणी के होने वाले शंका आदि दोषों के विषय में स्वयं आचार्य आगे कहेंगे।

२१३२.एगवगडं पडुच्चा, दोण्ह वि वग्गाण गरहितो वासो।
जइ वसइ जाणओ ऊ, तत्थ उ दोसा इमे होंति॥

एक वगडा अथवा एक द्वार वाले ग्राम आदि में दोनों वर्गों—श्रमणवर्ग और श्रमणीवर्ग का रहना गर्हित है, निषिद्ध है। जो वर्ग जानबूझकर वहां रहता है तो ये दोष होते हैं।

२१३३.एगवगडेगदारे, एगयर ठियम्मि जो तहिं ठाइ।
गुरुगा जइ वि य दोसा, न होज्ज पुट्ठो तह वि सो उ॥

एक वगडा और एक द्वार वाले क्षेत्र में पहले एक वर्ग—श्रमणीवर्ग अथवा श्रमणवर्ग स्थित हों और वहां बाद में आकर कोई ठहरता है उसे चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त आता है। यद्यपि वक्ष्यमाण दोष न भी हों, फिर भी उसे भावतः उन दोषों से स्पृष्ट मानना चाहिए।

२१३४.सोऊण य समुदाणं, गच्छं आणित्तु देउले ठाइ।
ठायंतगाण गुरुगा, तत्थ वि आणाइणो दोसा॥

जहां पहले से ही श्रमणीवर्ग स्थित है और वहां समुदान अर्थात् भिक्षा की सुलभता है, यह सुनकर कोई आचार्य गच्छ को लेकर उस क्षेत्र में आकर देवकुल आदि स्थान में ठहर जाते हैं तो उन्हें चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं।

२१३५.फड्डगपइपेसविया, दुविहोवहि-कज्जनिग्गया वा वि।
उवसंपज्जिउकामा, अतिच्छमाणा व ते साहू॥

२१३६.संजइभावियखेत्ते, समुदाणेऊण बहुगुणं नच्चा।
संपुन्नमासकप्पं, बिंति गणिं पुट्ठऽपुट्ठा वा॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किसी स्पर्द्धकपति (अग्रगामी) ने अपने साधुओं को क्षेत्र-प्रत्युपेक्षण के लिए भेजा। अथवा दो प्रकार की उपधि—औधिक और औपग्रहिक—लाने के लिए अथवा कुल-गण-संघ संबंधी कार्य के लिए भेजा। वे मार्ग को पार करते हुए वहां पहुंचे जहां कुछ व्यक्ति उपसंपदा ग्रहण करने वाले थे। वह क्षेत्र श्रमणी भावित था। उन्होंने भिक्षाचर्या में घूमकर जान लिया कि यह क्षेत्र बहुत गुणों वाला है। वे आचार्य के पास आए। आचार्य का मासकल्प संपूर्ण हो चुका था। आचार्य द्वारा पूछे जाने पर या बिना पूछे ही वे कहते हैं—

२१३७.तुब्भ वि पुण्णो कप्पो, न य खेत्तं पेहियं भे जं जोग्गं।
जं पि य रुइयं तुब्भं, न तं बहुगुणं जइ इमं तु॥

भंते! आपका भी मासकल्प पूरा हो गया है। आपके योग्य क्षेत्र की प्रत्युपेक्षा नहीं की गई है। जो क्षेत्र आपको अभिप्रेत है, वह बहुगुण संपन्न नहीं है। हमने जिस क्षेत्र की प्रत्युपेक्षा की है वह बहुगुण संपन्न है।

२१३८.एगोऽत्थ नवरि दोसो,मं पइ सो वि य न बाहए किंचि।
न य सो भावो विज्जइ, अदोसवं जो अनिययस्स॥

परंतु वहां एक दोष है जो मेरे अभिप्राय से किंचित् भी बाधा उपस्थित नहीं करेगा। जगत् में ऐसा एक भी पदार्थ नहीं है जो अनुद्यमी व्यक्ति के लिए दोषवान् न हो।

२१३९.अहवण किं सिट्ठेणं, सिट्ठे काहिह न वा वि एयं ति।
खुड्डमुहा संति इहं, जे कोविज्जा जिणवइं पि॥

अथवा हमारा इस प्रकार कहने का भी क्या प्रयोजन? हमारे इस प्रकार कहने पर भी करेंगे या नहीं, हम नहीं जानते। इस गच्छ में मधुमुख—मधुर बोलने वाले आपके प्रिय शिष्य हैं जो जिनवचन को भी अन्यथा कर देते हैं।

२१४०.इइ सपरिहास निब्बंधपुच्छिओ बेइ तत्थ समणीओ।
बलियपरिग्गहियाओ, होह दढा तत्थ वच्चामो॥

इस प्रकार उसके परिहासयुक्त वचन को सुनकर आचार्य ने आग्रहपूर्वक पूछा और कहा बोलो—'दोष क्या है?' शिष्य ने कहा—वहां श्रमणियां हैं जो बलशाली आचार्य द्वारा परिगृहीत हैं। परंतु आप दृढ़ रहें। हम वहां चलें।

२१४१.भिक्खू साहइ सोउं,
व भणइ जइ वच्चिमो तहिं मासो।
लहुगा गुरुगा वसभे,
गणिस्स एमेवुवेहाए॥

यदि भिक्षु ऐसा कहता है अथवा सुनकर भिक्षु ही बोलता है—अच्छा, हम वहां चलें। तो लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। यदि ऋषभ ऐसा कहता है या स्वीकार करता है तो चतुर्लघु और आचार्य स्वयं ऐसा कहते हैं या स्वीकार करते हैं तो चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त है। उपेक्षा करने पर यही प्रायश्चित्त है।

२१४२.सामत्थण परिवच्छे, गहणे पयभेद पंथ सीमाए।
गामे वसहिपवेसे, मासादी भिक्खुणो मूलं॥

यदि सामत्थण[1]-पर्यालोचन करते हैं कि वहां जाना चाहिए या नहीं—तो मासलघु का तथा परिवच्छ[2]—जाने का निर्णय कर लेते हैं तो मासगुरु का प्रायश्चित्त है। निर्णय कर यदि उपधि ग्रहण करता है तो चतुर्लघु, चल पड़ता है चतुर्गुरु, मार्गगमन में षड्लघु, ग्राम की सीमा में जाने से षड्गुरु, गांव में जाने पर छेद, वसति में प्रवेश करने पर मूल। इस प्रकार भिक्षु के लिए प्रायश्चित्त विहित है।

२१४३.गणि आयरिए सपदं,अहवा वि विसेसिया भवे गुरुगा।
भिक्खूमाइचउण्हं, जइ पुच्छसि तो सुणसु दोसे॥

गणी—उपाध्याय के गुरुमास से प्रारंभ कर स्वपदपर्यन्त अनवस्थाप्य तथा आचार्य के चतुर्लघु से प्रारंभ कर स्वपदपर्यन्त पारांचिक प्रायश्चित्त है। अथवा भिक्षु-वृषभ-उपाध्याय और आचार्य इन चारों के तप और काल से विशेषित चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त विहित है। वहां रहने पर क्या दोष होते हैं—यह तुम पूछते हो तो सुनो।

२१४४.अन्नतरस्स निओगा, सव्वेसि अणुप्पिएण वा ते तु।
देउल सभ सुन्ने वा, निओयपमुहे ठिया गंतुं॥

भिक्षु या वृषभ—किसी के कथन से अथवा सभी साधुओं की अनुमति से आचार्य उस गांव में जाकर देवकुल, सभागृह, शून्यगृह अथवा ग्राम के मुख—प्रवेश पर रहते हैं तो आने जाने वाले श्रमण-श्रमणियों के परस्पर दर्शन से अनेक दोष होते हैं।

२१४५.दुविहो य होइ अग्गी, दव्वग्गी चेव तह य भावग्गी।
दव्वग्गिम्मि अगारी, पुरिसो व घरं पलीवेंतो॥

अग्नि के दो प्रकार हैं—द्रव्याग्नि और भावाग्नि। स्त्री या पुरुष द्रव्याग्नि को प्रदीप्त कर घर को जलाता हुआ अपना सर्वस्व जला डालता है, इसी प्रकार साधु-साध्वी परस्पर मदनाग्नि में अपना सर्वस्व जला डालते हैं।

२१४६.तत्थ पुण होइ दव्वे, डहणादीणेगलक्खणो अग्गी।
नामोदयपच्चइयं, दिप्पइ देहं समासज्ज॥

दोनों अग्नियों के मध्य द्रव्याग्नि की परिभाषा यह है—जो दहन आदि लक्षण वाली होती है वह द्रव्य अग्नि है। देह

१. सामत्थण—देशीशब्दत्वात् पर्यालोचनं।
२. परिवच्छ—देशीशब्दोऽयं निर्णयार्थे॥ (वृ. पृ. ६१५)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् इन्धन को प्राप्त कर, नामोदय के उदय से जो दीप्त होती है वह द्रव्य अग्नि है।

२१४७.दव्वाइसन्निकरिसा, उप्पन्नो ताणि चेव डहमाणो।
दव्वग्गि त्ति पवुच्चइ, आदिमभावाइजुत्तो वि॥

द्रव्य तथा पुरुष के पराक्रम के समायोग से उत्पन्न तथा काष्ठ आदि द्रव्यों को जलाने वाली द्रव्याग्नि होती है। यद्यपि वह आदिमभाव अर्थात् औदयिकभाव अग्निनामकर्मोदय तथा पारिणामिक भाव से युक्त होती है, फिर भी वह द्रव्य अग्नि कहलाती है। (द्रव्य से उत्पन्न अथवा द्रव्यों का दहन करने वाली–द्रव्याग्नि।)

२१४८.सो पुण इंधणमासज्ज दिप्पती सीदती य तदभावा।
नाणत्तं पि य लभए, इंधण-परिमाणतो चेव॥

वह द्रव्याग्नि इंधन को प्राप्त कर दीप्त होती है, और उसके अभाव में बुझ जाती है। इंधन और उसके परिमाण के आधार पर वह विशेषता को प्राप्त होती है। (इंधन से जैसे–तृणाग्नि, काष्ठाग्नि आदि और परिमाण से जैसे–महान् तृण के आधार पर महान् अग्नि और अल्प के आधार पर अल्प अग्नि।)

२१४९.भावम्मि होइ वेदो, इत्तो तिविहो नपुंसगादीओ।
जइ तासि तयं अत्थी, किं पुण तासिं तयं नत्थी॥

वेद भावाग्नि है। वह तीन प्रकार का है–नपुंसक वेद आदि। यदि साध्वियों में वह हो तो अग्नि का दृष्टांत सफल होता है। परंतु उनमें वह नहीं होता तो फिर वह दृष्टांत कैसे लागू होगा।

२१५०.उदयं पत्तो वेदो, भावग्गी होइ तदुवओगेणं।
भावो चरित्तमादी, तं डहई तेण भावग्गी॥

यदि स्त्रीवेद का उदय हो और उसका उपयोग अर्थात् पुरुष की अभिलाषारूप निमित्त मिले तो वह भावाग्नि होती है। भाव है चारित्र आदि का परिणाम। उस भाव को वह जलाती है, इसलिए भावाग्नि कही जाती है।

२१५१.जह वा सहीणरयणे, भवणे कासइ पमाय-दप्पेणं।
डज्झंति समादित्ते, अणिच्छमाणस्स वि वसूणि॥
२१५२.इय संदंसण-संभासणेहिं संदीविओ मयणवण्ही।
बंभादीगुणरयणे, डहइ अणिच्छस्स वि पमाया॥

रत्नों से परिपूर्ण अपने स्वाधीन भवन में प्रमाद या दर्प से अग्नि प्रदीप्त हो जाती है तो गृहस्वामी के न चाहने पर भी रत्न जल जाते हैं। इसी प्रकार परस्पर अवलोकन, बातचीत से मदनाग्नि प्रदीप्त हो जाती है और साधु-साध्वी के न चाहने पर भी प्रमादवश वह अग्नि ब्रह्मचर्य आदि गुणरत्नों को जला डालती है।

२१५३.सुक्खिंधण-वाउबलाऽभिदीवितो दिप्पतेऽहियं वण्ही।
दिट्ठिंधण-रागानिलसमीरितो ईय भावग्गी॥

जैसे शुष्क इन्धन वाली अग्नि वायुबल से अभिदीप्त होकर अधिक दीप्त हो जाती है, वैसे ही दृष्टिरूपी इन्धन वाली अग्नि रागरूप अनिल के द्वारा उद्दीपित होकर भावाग्नि भी अत्यधिक दीप्त हो जाती है।

२१५४.लुक्खमरसुण्हमनिकामभोइणं देहभूसविरयाणं।
सज्झाय-पेहमादिसु, वावारेसुं कओ मोहो॥

शिष्य का प्रश्न था कि जो साधु-साध्वी रूक्ष, अरस, अनुष्ण तथा परिमित भोजन करने वाले होते हैं और वे शरीर की भूषा से विरत तथा स्वाध्याय और प्रत्युपेक्षण आदि कार्यों में व्यापृत होते हैं, उनके मोह-वेद का उदय कैसे संभव हो सकता है?

२१५५.नियणाइलुणणमद्दण, वावारे बहुविहे दिया काउं।
सुक्ख सुढिया वि रत्तिं, किसीवला किं न मोहंति॥

कृषक दिन में निदान, लवन, मर्दन आदि बहुविध कार्यों में व्यापृत होते हैं। वे शुष्क और श्रान्त हो जाते हैं। क्या वे रात्री में मोहग्रस्त नहीं होते? होते ही हैं।

२१५६.जइ ताव तेसि मोहो, उप्पज्जइ पेसणेहिं सहियाणं।
अव्वावारसुहीणं, न भविस्सइ किह णु विरयाणं॥

यदि विविध कार्यों से युक्त कृषक भी मोहग्रस्त होते हैं तो विरत व्यक्तियों–मुनियों के जो व्यापार से मुक्त हैं, सुखी हैं, उनके मोह का उदय क्यों नहीं होगा?

२१५७.कोई तत्थ भणिज्जा, उप्पन्ने रुंभिउं समत्थो त्ति।
सो उ पभू न वि होई, पुरिसो व घरं पलीवंतो॥

कोई कह सकता है कि मोह के उदित होने पर भी मैं उसका निरोध कर सकता हूं। गुरु कहते हैं–समय पर वह निरोध करने में समर्थ न हो तो पुरुष की भांति वह अपने घर को जला डालता है।

२१५८.कामं अखीणवेदाण होइ उदओ जहा वदह तुब्भे।
तं पुण जिणामु उदयं, भावण-तव-नाणवावारा॥
२१५९.उप्पत्तिकारणाणं, सब्भावम्मि वि जहा कसायाणं।
न हु निग्गहो न सेओ, एमेव इमं पि पासामो॥

शिष्य ने कहा–भंते! आपने जो कहा, हमने उसे अवधारित कर लिया। अपने कहा कि जिनका वेद क्षीण नहीं हुआ है, उनके मोहोदय होता है। हम भावना, तप तथा ज्ञान की प्रवृत्तियों से मोहोदय पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। मोहोदय के उत्पत्ति कारणों के सद्भाव में भी, जैसे कषायों का निग्रह श्रेयान् नहीं है–ऐसा नहीं है किन्तु वह श्रेयस्कर ही है, इसी प्रकार प्रस्तुत प्रसंग को भी देखते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२१६०.पहरण-जाणसमग्गो,सावरणो वि हु छलिज्जई जोहो।
वालेण य न छलिज्जइ, ओसहहत्थो वि किं गाहो॥

जैसे युद्धस्थल में शस्त्रों तथा वाहन आदि से सुसज्जित तथा कवच आदि से सुरक्षित योद्धा भी क्या शत्रु योद्धा से नहीं छला जाता? किन्तु छला जाता है, मारा जाता है। क्या औषधियों से युक्त ग्राह–गारुडिक दुष्ट सर्प से नहीं छला जाता? छला जाता है। वैसे ही मुनिचर्या में संलग्न मुनि भी स्त्रीदर्शन आदि से मोहग्रस्त होकर छला जाता है।

२१६१.उदगघडे वि करगए, किमोगमादीवितं न उज्जलइ।
अइइद्धो वि न सक्कइ, विनिव्ववेउं कुडजलेणं॥

एक व्यक्ति के हाथ में पानी से भरा हुआ घड़ा है। फिर भी क्या अग्नि से प्रज्वलित गृह नहीं जलेगा? अतिदीप्त वह अग्नि एक घड़े पानी से नहीं बुझ पाएगी।

२१६२.रीढासंपत्ती वि हु, न खमा संदेहियम्मि अत्थम्मि।
नायकए पुण अत्थे, जा वि विवत्ती स निद्दोसा॥

जिस अर्थ–प्रयोजन की निष्पत्ति संदेहास्पद हो, वहां रीढा–यथेष्ट संपत्ति भी श्रेयस्कर नहीं होती। प्रस्तुत प्रसंग में संयतीक्षेत्र में जाना अश्रेयस्कर होता है। वहां जाने का प्रयोजन संदिग्ध है, अतः वहां जाना श्रेयस्कर नहीं हो सकता। अर्थ-प्रयोजन निर्दोष रूप से ज्ञात हो और वहां कोई विपत्ति भी आ जाए तो वह निर्दोष ही मानी जाती है।

२१६३.दूरेण संजईओ, अस्संजइआहि उवहिमाहारो।
जइ मेलणाए दोसो, तम्हा रन्नम्मि वसियव्वं॥

शिष्य ने कहा–दूर अर्थात् पृथग् वसति में रहने वाली साध्वियों का परिहार किया जा सकता है। परंतु गृहणियों के संसर्ग का परित्याग नहीं किया जा सकता, क्योंकि उनसे ही उपधि और आहार की प्राप्ति होती है। यदि संसर्ग का ही दोष है तो मुनियों को अरण्य में वास करना चाहिए।

२१६४.रन्ने वि तिरिक्खीतो, परिन्न दोसा असंतती यावि।
लब्भीय कूलवालो, गुणमगुणं किं व सगडाली॥

आचार्य बोले–वत्स! अरण्य में भी तिर्यंच स्त्रियां रहती हैं। परिज्ञा–भक्तप्रत्याख्यान के दोष होते हैं। प्रव्राजना के अभाव में शिष्य-प्रशिष्य आदि नहीं होते। कूलबाल अरण्य में रहता हुआ कौन से गुण को प्राप्त किया? शाकटालि–स्थूलभद्रस्वामी गणिका के घर में रहता हुआ भी कौन से अगुण का प्राप्त कर डाला?

२१६५.कस्सइ विवित्तवासे, विराहणा दुन्नए अभेदो वा।
जह सगडालि मणो वा, तह बिइओ किं न रुंभिंसु॥

किसी-किसी मुनि के एकान्तवास में रहते हुए भी ब्रह्मचर्य की विराधना हो जाती है और किसी के दुर्नय–स्त्री-संसक्त प्रतिश्रय में रहते हुए भी ब्रह्मचर्य का भेद नहीं होता। जैसे शाकटालि–स्थूलभद्रस्वामी ने स्त्रीसंसर्ग में रहते हुए भी अपने मन का निरोध किया, वैसे द्वितीय–सिंहगुफावासी मन का निरोध क्यों नहीं कर सका?

२१६६.होज्ज न वा वि पभुत्तं, दोसाययणेसु वट्टमाणस्स।
चूयफलदोसदरिसी, चूयच्छायं पि वज्जेइ॥

दोष लगने के स्थानों में भी रहते हुए किसी का मन के निरोध में सामर्थ्य हो या न हो, फिर भी उन स्थानों का वर्जन करना चाहिए। जैसे आम्रफल के भक्षण में दोष देखने वाला आम्र की छाया का भी वर्जन करता है।[1]

२१६७.इत्थीणं परिवाडी, कायव्वा होइ आणुपुव्वीए।
परिवाडीए गमणं, दोसा य सपक्खमुप्पन्ना॥

स्त्रियों (तिर्यंच स्त्रियों) की परिपाटी, आनुपूर्वी से करनी चाहिए। परिपाटी में गमन। दोष स्वपक्ष से उत्पन्न होते हैं। (इसका विस्तृत अर्थ आगे।)

२१६८.एगखुर-दुखुर-गंडी-सणप्फइत्थीसु चेव परिवाडी।
बद्धाण चरंतीणं, जत्थ भवे वग्गवग्गेसु॥

२१६९.तत्थऽन्नतमो मुक्को, सजाइमेव परिधावई पुरिसो।
पासगए वि विवक्खे, चरइ सपक्खं अवेक्खंतो॥

एक खुरा–घोड़ी आदि, द्विखुरा–गाय, भैंस आदि, गंडीपदा–हथिनी आदि, सनखपदा–कुत्ती आदि–ये सब पृथक्-पृथक् समूह में बंधी हुई हैं अथवा चर रही हैं, वहां इनमें से किसी पशुजाति के पुरुष को मुक्त किया जाए तो वह इन सबमें से स्वजाति की स्त्री के पास ही जाएगा। विपक्ष की पशुस्त्री के पार्श्वस्थित होने पर भी वह पशु-पुरुष स्वपक्ष स्त्री की अपेक्षा रखता हुआ चरता है, परन्तु विपक्ष पशुस्त्री की ओर नहीं दौड़ता। (इसी प्रकार श्रमण भी श्रमणियों से निःशंक होकर संसर्ग करता है, गृहिणियों से नहीं।)

२१७०.आगंतुयदव्वविभूसियं च ओरालियं सरीरं तु।
असमंजसो उ तम्हाऽगारित्थिसमागमो जइणो॥

स्त्रियों के शरीर आगंतुकद्रव्य–अर्थात् वस्त्र, आभूषण आदि से अलंकृत होता है तथा वह औदारिक होता है अर्थात् स्नान, विलेपन आदि परिकर्म से रूपातिशय वाला होता है, अतः मुनियों का उन गृहिणी स्त्रियों के साथ समागम असमंजसवाला होता है।

१. दृष्टान्त के लिए देखें कथा परिशिष्ट, नं. ७१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२१७१.अविभूसिओ तवस्सी,
निक्कामोऽकिंचणो मयसमाणो।
इयऽगारीसुं समणे,
लज्जा भय संथवो न रहो॥

संयमी मुनि अविभूषित होता है। वह तपस्वी, निष्काम, अकिंचन, मृत के समान होता है। अतः ऐसे श्रमण के प्रति स्त्रियों की अवज्ञा होती है। श्रमण गृहस्थ स्त्रियों से लज्जा तथा भय रखते हैं। अतः वह उनसे संस्तव नहीं रख सकता, एकांत में उनसे मिल नहीं सकता।

२१७२.निब्भयया य सिणेहो, वीसत्थत्तं परोप्पर निरोहो।
दाणकरणं पि जुज्जइ, लग्गइ तत्तं च तत्तं च॥

मुनि की साध्वियों से निर्भयता होती है। दोनों में परस्पर स्नेह होता है, परस्पर विश्वसनीयता होती है, दोनों में निरोध–वस्तिनिग्रह होता है, दोनों में परस्पर वस्त्र-पात्र आदि का लेन-देन चलता है, अतः जैसे तप्त लोहे से तप्त लोहा संबंधित हो जाता है, वैसे ही साधु-साध्वी भी निरोध से संतप्त होकर परस्पर संबंधित हो जाते हैं।

२१७३.वीयार-भिक्खचरिया-विहार-जइ-चेइवंदणादीसुं।
कज्जेसुं संपडिताण होंति दोसा इमे दिस्स॥

विचारभूमी में जाते-आते, भिक्षाचर्या, विहार, यति और चैत्यवंदन आदि कार्य के लिए जाते परस्पर साधु-साध्वी के मिलने से, एक दूसरे को देखने से ये दोष होते हैं।

२१७४.दूरम्मि दिट्ठि लहुओ,अमुगो अमुगि त्ति चउलहू होंति।
किइकम्मम्मि य गुरुगा, मिच्छत्त पसज्जणा सेसे॥

साधु-साध्वी यदि दूर से भी एक दूसरे को देख ले तो लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। यदि परस्पर एक-दूसरे को पहचान लेते हैं कि वह अमुक-अमुक है तो चतुर्लघु का प्रायश्चित्त आता है। यदि साध्वी वंदना करती है तो चतुर्गुरु शैक्ष मुनि यह देखकर मिथ्यात्व को प्राप्त होता है। शेष–अन्य विशेष व्यक्ति शंकाविष्ट हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में प्रायश्चित्त की वृद्धि होती है।

२१७५.दिट्ठे संका भोइय, घाडिय नाई य गाम बहिया य।
चत्तारि छ च्च लहु गुरु, छेदो मूलं तह दुगं च॥

साध्वी को साधु के प्रति कृतिकर्म करते हुए देखकर शंका होती है। भोजिक–ग्रामरक्षक अपनी भार्या को कहता है तो चतुर्लघु, घाटिक–मित्र को कहता है तो चतुर्गुरु, ज्ञाति-जनों को कहने पर षड्लघु, अज्ञातीजनों को कहने पर षड्गुरु, ग्राम में कहने पर छेद, गांव के बाहर कहने पर मूल, ग्राम की सीमा में कहने पर अनवस्थाप्य और सीमा के बाहर कहने पर पारांचिक प्रायश्चित्त आता है।

२१७६.कुवियं नु पसादेती, आओ सीसेण जायए विरहं।
आओ तलपन्नविया, पडिच्छई उत्तिमंगेणं॥

यह तर्कणा होती है कि क्या यह साध्वी कुपित साधु को प्रसन्न करना चाहती है? अथवा मस्तक झुका कर यह एकांत की याचना कर रही है? अथवा इस साधु द्वारा चुटकी बजाकर प्रज्ञापित किए जाने पर साध्वी शिर नमाकर उसको स्वीकार कर रही है?

इन शंकाओं के होने पर चतुर्गुरु, यदि निर्विशंकरूप से यह निश्चित हो जाता है कि साध्वी का कृतिकर्म साधु को प्रसन्न करने के लिए है तो दोनों को मूल प्रायश्चित्त आता है। भोजिक आदि के निकटतम संबंधी के जान लेने पर शोधि है लघुकतर तथा मित्र या ज्ञाति के जान लेने पर वही प्रायश्चित्त गुरुतर हो जाता है।

२१७७.इइ संकाए गुरुगा, मूलं पुण होइ निव्विसंके तु।
सोही वाऽसन्नतरे, लहुगतरी गुरुतरी इयरे॥

२१७८.विस्ससइ भोइ-मित्ताइएसु तो नायओ भवे पच्छा।
जह जह बहुजणनायं, करेइ तह वड्ढए सोही॥

वह भोजिक, मित्र आदि में विश्वास करता है अतः कुछ भी गोपनीय नहीं रखता। ज्ञातिजनों को बाद में ज्ञापित करता है। जैसे-जैसे यह बात बहुत जनों को ज्ञात करता है, वैसे-वैसे प्रायश्चित्त बढ़ता है।

२१७९.पडिसेहो जम्मि पदे, पायच्छित्तं तु ठाइ पुरिमपए।
निस्संकियम्मि मूलं, मिच्छत्त पसज्जणा सेसे॥

भोजिक ने भोजिका से कहा तब भोजिका उसका प्रतिषेध करती हुई कहती है–ऐसा नहीं हो सकता तो प्रायश्चित्त भी उपरत हो जाता है। भोजिका आदि पद में जो प्रतिषेध है, उससे पूर्वपद–शंका आदि में प्रायश्चित्त रहता है। कुपित को प्रसन्न करने के लिए ही कृतिकर्म करती है, यह निःशंकित हो जाने पर मूल प्रायश्चित्त आता है। शेष में मिथ्यात्व आदि की प्राप्ति होती है।

२१८०.किइकम्मं तीए कयं, मा संक असंकणिज्जचित्ताइं।
न वि भूयं न भविस्सइ, एरिसगं संजमधरेसुं॥

भोजिका आदि प्रतिषेध यह कह कर करती है–साध्वी ने अमुक प्रयोजन से साधु का कृतिकर्म किया–ऐसी आशंका अशंकनीयचित्त में नहीं करनी चाहिए। संयमधारी साधु-साध्वियों में न ऐसा कभी हुआ, न होता है और न होगा।

२१८१.पढम-बिइयातुरो वा,सइकाल तवस्सि मुच्छ संतो वा।
रच्छामुहाइ पविसं, निंतो व जणेण दीसिज्जा॥

कोई मुनि पहले और दूसरे परीषह से–क्षुधा और पिपासा से आकुल होकर गांव के रथ्यामुख आदि स्थानों में प्रवेश

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करे, अथवा कोई तपस्वी मुनि विश्राम करने के लिए वहां प्रवेश करे, अथवा कोई मूर्च्छा को दूर करने के लिए वहां जाए, या कोई भिक्षाटन में थक कर विश्राम करने के लिए वहां जाए तो वे मुनि वहां जाते या लौटते हुए उसको कोई साध्वी देख लेती है अथवा इन्हीं प्रयोजनों से वहां जाती हुई या निर्गमन करती हुई साध्वी को साधु देख लेता है।

२१८२.संजओ दिट्ठो तह संजई य दोण्णि वि तहेव संपत्ती।
रच्छामुहे व होज्जा, सुन्नघरे देउले वा वि॥

यहां चतुर्भंगी इस प्रकार होती है–

१. वहां प्रवेश करते हुए साधु को देखा, साध्वी को नहीं।
२. साध्वी को देखा, साधु को नहीं।
३. दोनों को देखा।
४. दोनों को नहीं देखा।

जिन कारणों से साधु वहां गया है, उन्हीं कारणों से साध्वी भी वहां गई है। वह स्थान रथ्यामुख या शून्यगृह या देवकुल हो सकता है।

२१८३.वइणी पुव्वपविट्ठा, जेणायं पविसते जई इत्थ।
एमेव भवति संका, वइणिं दट्ठूण पविसंतिं॥

देखने वाले को यह शंका होती है–पहले यहां व्रतिनी–साध्वी प्रविष्ट हुई है इसलिए मुनि इसमें प्रवेश कर रहा है। इसी प्रकार साध्वी को वहां प्रवेश करते हुए देखकर भी यही शंका होती है।

२१८४.उभयं वा दुदुवारे, दट्ठुं संगारउ त्ति मन्नंति।
ते पुण जइ अन्नोन्नं, पासंता तत्थ न विसंता॥

दो द्वार वाले देवकुल में दोनों को प्रवेश करते हुए देखकर, गृहस्थ के मन में यह शंका होती है–इन दोनों का परस्पर कोई संकेत किया हुआ है। यदि वे परस्पर एक दूसरे को देख लेते तो प्रवेश नहीं करते।

२१८५.एमेव ततो णिंते, भंगा चत्तारि होंति नायव्वा।
चरिमो तुल्लो दोसु वि, अदिट्ठभावेण तो सत्त॥

इसी प्रकार उन स्थानों से निकलते हुए साधु-साध्वी विषयक चतुर्भंगी होती है–

५. वहां से निकलते हुए साधु को देखा, साध्वी को नहीं।
६. साध्वी को देखा, साधु को नहीं।
७. दोनों को देखा।
८. दोनों को नहीं देखा।

दोनों के अदृष्टभाव के आधार पर अंतिम भंग, दोनों में अर्थात् प्रवेश और निर्गमन में, समान है।

२१८६.एक्किक्कम्मि य भंगे, दिट्ठाईया य गहणमादीया।
सत्तमभंगे मासो, आउभयाई अ सविसेसा॥

प्रत्येक भंग में दृष्ट आदि में शंका आदि दोष होते हैं। दोनों को वहां प्रविष्ट करते हुए देखकर राजपुरुषों द्वारा ग्रहण और आकर्षण होता है, यह दोष है। सातवें भंग में मासलघु तथा आत्म-पर समुत्थ विशेष दोष होते हैं।

२१८७.चरमे पढमे बिइए, तइए भंगे य होइमा सोही।
मासो लहुओ गुरुओ, चउलहु-गुरुगा य भिक्खुस्स॥

(इस विषयक पांच आदेश हैं–) यह पहला आदेश है। चरम भंग अर्थात् जिसमें दोनों–साधु-साध्वी दृष्ट नहीं हैं, प्रथम भंग में साधु दृष्ट है, द्वितीय भंग में साध्वी दृष्ट है, तृतीय भंग में दोनों दृष्ट हैं। इन भंगों में यथाक्रम यह शोधि है–लघुमास, गुरुमास, चतुर्लघु और चतुर्गुरु।

२१८८.वसभे य उवज्झाए, आयरिए एगठाणपरिवुड्ढी।
मासगुरुं आरब्भा, नायव्वा जाव छेदो उ॥

वृषभ, उपाध्याय और आचार्य–इनके एक-एक स्थान की वृद्धि करनी चाहिए। मासगुरु से आरंभ कर छेद पर्यन्त प्रायश्चित्त स्थान जानने चाहिए।

(वृषभ के चतुर्थ भंग में मासगुरु, प्रथम में चतुर्लघु, द्वितीय में चतुर्गुरु और तृतीय में षड्लघु। उपाध्याय के चतुर्लघु से प्रारंभ कर षड्गुरुक पर्यन्त और आचार्य के चतुर्गुरु से प्रारंभ कर छेद पर्यन्त।)

२१८९.अहवा चरिमे लहुओ, चउगुरुगं सेसएसु भंगेसु।
भिक्खुस्स दोहि वि लहू, काल तवे दोहि वी गुरुगा॥

(दूसरा आदेश)–

अथवा चरम भंग में लघुमास, शेष तीन भंगों में चतुर्गुरु। ये प्रायश्चित्त भिक्षु के लिए दोनों अर्थात् तप और काल से लघु होते हैं, वृषभ के काल से गुरु, उपाध्याय के तप से गुरु और आचार्य के दोनों से गुरु होते हैं।

२१९०.मासो विसेसिओ वा, तइयादेसम्मि होइ भिक्खुस्स।
गुरुगो लहुगा गुरुगा, विसेसिया सेसगाणं तु॥

(तीसरा आदेश)–

अथवा भिक्षु के लिए चारों भंगों में लघुमास, काल और तप से विशेषित प्रायश्चित्त है। शेष अर्थात् वृषभ, उपाध्याय और आचार्य के क्रमशः गुरुमास, चार लघुमास और चार गुरुमास–यह भी काल और तप से विशेषित होता है।

२१९१.अहवा चउगुरुग च्चिय,
विसेसिया हुंति भिक्खुमाईणं।
मासाइ जाव गुरुगा,
अविसेसा हुंति सव्वेसिं॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(चौथा आदेश)–

अथवा भिक्षु आदि सभी के तप और काल से विशेषित चतुर्गुरु प्रायश्चित्त है। अथवा मास आदि से प्रारंभ कर चतुर्गुरुक पर्यन्त प्रायश्चित्त आता है। सभी भंगों में यह प्रायश्चित्त तप और काल से अविशेषित होता है।

२१९२.दिट्ठोभास पडिस्सुय, संथार तुअट्ट चलणउक्खेवे।
फंसण पडिसेवणया, चउलहुगाई उ जा चरिमं॥

प्रविष्ट होकर संयत-संयती एक दूसरे को देखते हैं तो चतुर्लघु, परस्पर बोलते हैं तो चतुर्गुरु, स्वीकार करने पर षड्लघु और संस्तारक करने पर षड्गुरु, सोने पर छेद, पैर का उत्क्षेप करने पर मूल, स्पर्श करने पर अनवस्थाप्य और प्रतिसेवना करने पर पारांचिक प्रायश्चित्त का विधान है।

२१९३.पविसंते जा सोही, चउसु वि भंगेसु वन्निया एसा।
निक्खममाणे स च्चिय, सविसेसा होइ भंगेसु॥

संयती-संयत के प्रवेश करने पर जो शोधि–प्रायश्चित्त कहा है, वही शून्यगृह आदि से निर्गमन करने के चारों भंगों में सविशेष प्रायश्चित्त आता है।

२१९४.अंतो वियार असई, अचियत्त सगार दुज्जणवते वा।
बाहिं तु वयंतीणं, अपत्त-पत्ताणिमे दोसा॥

ग्राम के अभ्यन्तर में विचारभूमी के अभाव में, अप्रीतिक शय्यातर की भूमी में अथवा वह पुरोहड दुर्जनमनुष्यों द्वारा परिवृत है तो वहां से ग्राम बाहर जाते हुए स्थंडिल भूमी को प्राप्त या अप्राप्त के विषय में ये दोष होते हैं।

२१९५.वीयाराभिमुहीओ, साहुं दट्ठूण सन्नियत्ताओ।
लहुओ लहुया गुरुगा, छम्मासा छेद मूल दुगं॥

विचारभूमी के अभिमुख जाती हुई साध्वियां साधु को देखकर यदि निवर्तित होती है तो लघुमास, आगाढ़ परितापना होने पर चतुर्गुरु, महादुःख होने पर षड्लघु, मूर्च्छा होने पर षड्गुरु, दुःख पाने पर छेद, श्वास कृच्छ्र हो जाए तो मूल, समुद्घात होने पर अनवस्थाप्य और मृत्यु हो जाने पर पारांचिक प्रायश्चित्त विहित है।

२१९६.एसो वि तत्थ वच्चइ, नियत्तिमो आगयम्मि गच्छामो।
लहुओ य होइ मासो, परितावणमाइ जा चरिमं॥

'यह मुनि भी उसी विचार भूमी में जा रहा है'–यह सोचकर यदि साध्वियां निवर्तित हो जाती हैं और सोचती हैं मुनि के लौट जाने पर हम जाएंगी तो लघुमास का प्रायश्चित्त आता है और संज्ञानिरोध से होने वाला अनागाढ़, परितापन आदि में पूर्व श्लोकोक्त चरम–पारांचिक पर्यन्त प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२१९७.गड्ढा कुडंग गहणे, गिरिदरि उज्जाण अपरिभोगे वा।
पविसंते य पविट्ठे, निंते य इमा भवे सोही॥

अथ साधुओं को देखकर वे साध्वियां गढ़े में, कुडंग–बांस की जालियों में, बहुत वृक्षाच्छादित निकुंज में, पर्वत कन्दरा में, उद्यान में अथवा अपरिभोग्य स्थान में प्रवेश करती हुई, प्रविष्ट तथा निकलने पर ये प्रायश्चित्त साधुओं को आते हैं।

२१९८.दूरम्मि दिट्ठे लहुओ, अमुई अमुओ त्ति चउगुरू होंति।
ते चेव सत्त भंगा, वीयारगए कुडंगम्मि॥

दूर से साधु यदि साध्वी को और साध्वी को साधु देख लेते हैं तो लघुमास, अमुक साध्वी है या अमुक साधु है–इस प्रकार पहचान लेने पर चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त आता है। कोई संयत कुडंग में विचारार्थ पूर्व प्रविष्ट है, उससे संबंधित सात भंग, पूर्ववत् होते हैं।

२१९९.आभीराणं गामो, गामद्दारे य देउलं रम्मं।
आगमण भोइयस्स य, ठाइ पुणो भोइओ तहियं॥

एक आभीरों का गांव था। ग्राम के द्वार पर एक रम्य देवकुल था। एक बार भोजिक वहां आया। वह भोजिक उस देवकुल में ठहर गया।

२२००.महिलाजणो य दुहितो,
निक्खमण पवेसणं च सिं दुक्खं।
सामत्थणा य तेसिं,
गो-माहिससन्निरोधो य॥

आभीर की औरतें बहुत दुःखी हो जाती हैं। इस स्थिति में साध्वियों के निष्क्रमण और प्रवेश दुष्कर हो जाता है। पर्यालोचन हुआ कि महिलाजनों को बाधा होती है। अतः किसी उपाय से इस भोजिक को अन्यत्र भेज देना चाहिए। अतः उन्होंने वहां गाय और भैंस आदि को बांधकर निरोध कर डाला।

२२०१.विगुरुव्वियबोंदीणं, खरकम्मीणं तु लज्जमाणीओ।
भंजंति अणिंतीओ, गोवाड-पुरोहडे महिला॥
२२०२.इति ते गोणीहिं समं, धिइमलभंता उ बंधिउं दारं।
गामस्स विवच्छाओ, बाहिं ठाविंसु गावीओ॥

भोजिक के कर्मकर जो वस्त्राभूषणों से अलंकृत थे, उनसे लज्जा करती हुई स्त्रियां बाहर न जाती हुई गोवाटक तथा पुरोइड में ही शंका से निवृत्त होने लगी।

यह सोचकर आभीरी स्त्रियां धैर्य को प्राप्त न करती हुई अपने साथ बिना बछड़ों के केवल गायों को लेकर बाहर आईं और गांव के द्वार पर उन्हें बांध दिया। वे गाएं अपने बछड़ों के लिए सारी रात जोर-जोर से चिल्लाने लगी और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गांव में वे बछड़े अपनी माताओं से बिछुड़ कर शब्द करने लगे।

२२०३.वच्छग-गोणीसद्देण असुवणं भोइए अहणि पुच्छा।
सब्भावे परिकहिए, अन्नम्मि ठिओ निरुवरोहे॥

गायों के और बछड़ों के शब्दों से भोजिक को नींद नहीं आई। प्रातःकाल उसने पूछा कि गाएं और बछड़े क्यों चिल्ला रहे थे। तब आभीरी ने यथार्थ बात बताई। तब भोजिक अन्यत्र निर्व्याघात स्थान में जाकर ठहर गया।

२२०४.एवं चिय निरविक्खा,वइणीण ठिया निओगपमुहम्मि।
जा तासि विराधणया, निरोधमादी तमावज्जे॥

इसी प्रकार कुछ निरपेक्ष साधु-साध्वियों से संबंधित गांव के निर्गम-प्रवेश द्वार पर ठहर गए। उससे साध्वियों को निरोध परितापना आदि विराधना सहन करनी होती है। उस विराधना से निष्पन्न प्रायश्चित्त साधुओं को आता है।

२२०५.अहवण थेरा पत्ता, दट्ठुं निक्कारणट्ठियं तं तु।
भोइयनायं काउं, आउट्टि विसोहि निच्छुभणा॥

अथवा उसी गांव में कुल स्थविर आदि आ गए और नगरद्वार पर स्थित आचार्य आदि से वहां ठहरने का कारण पूछा। यदि निष्कारण ही वहां ठहरे हैं तो उनको भोजिक का दृष्टांत कहे। यदि वे वहां से निवृत्त हो जाएं तो प्रायश्चित्त दे और उस क्षेत्र से निष्कासन करने के लिए कह दे।

२२०६.एवं ता दप्पेणं, पुट्ठो व भणिज्ज कारण ठिओ मि।
तहियं तु इमा जयणा, किं कज्जं का य जयणाओ॥

इस प्रकार जो दर्प से–बिना कारण ऐसे स्थान में रहते हैं उनके दोष बताए हैं। कुल स्थविर द्वारा पूछने पर यदि कहे कि हम कारणवश यहां ठहरे हैं तो उनके लिए यह यतना है। शिष्य ने पूछा–क्या कार्य अर्थात् कारण और क्या यतना?

२२०७.अद्धाणनिग्गयाई, अग्गुज्जाणे भवे पवेसो य।
पुन्नो ऊणो व भवे, गमणं खमणं च सव्वासिं॥

मुनि यात्रा में प्रस्थित हैं। उन्हें ठहरना है। वह क्षेत्र संयतीभावित है। वे ग्राम के अग्र उद्यान में ठहरें और गीतार्थ को साध्वी के स्थान पर भेजें। वे यतनापूर्वक वहां प्रवेश करें। यदि साध्वियों का मासकल्प पूरा हो गया हो तो गांव में गमन करे। यदि न्यून हो और साधु वहां रहे तो सभी साध्वियों को क्षपण करना होता है।

२२०८.उव्वाया वेला वा, दूरुट्ठियमाइणो व परगामे।
इय थेरऽज्जासिज्जं, विसंतऽणाबाहपुच्छा य॥

अध्वनिर्गत वे साधु संयतिक्षेत्र में पहुंचे हैं। वे अत्यंत परिश्रान्त हो गए हों, भिक्षावेला अतिक्रांत हो रही है, परग्राम दूरस्थित हो, वहां जाना संभव नहीं है, ऐसे सोचकर गांव के उद्यान में ठहर जाए। फिर स्थविर अर्थात् गीतार्थ मुनि साध्वियों के प्रतिश्रय में प्रवेश करे और साध्वियों को आचार्यवचन से संयमयोग निराबाध हैं? (सुखसाता) पूछे।

२२०९.अमुगत्थ गमिस्सामो, पुट्ठाऽपुट्ठा व ईय वोत्तूणं।
इह भिक्खं काहामो, ठवणाइघरे परिकहेह॥

उनके पूछने या न पूछने पर हम वहां जाएंगे यह कहकर उन्हें बताए–हम गांव में भिक्षा करेंगे। हमें स्थापनागृहों की जानकारी दें। साध्वियों के उत्तर देने पर–

२२१०.सामायारिकडा खलु, होइ अवड्ढा (ड्ढे) य एगसाहीय।
सीउण्हं पढमादी, पुरतो समगं व जयणाए॥

हे आर्ये! क्या आपने सामाचारी संपन्न कर ली या नहीं? गांव के आधे भाग में मुनि भिक्षा के लिए जायेंगे और अन्य आधे भाग में साध्वियां। एक गली में साधु और दूसरी गली में साध्वियां घूमेंगी। वे शीत या उष्ण, प्रथमालिका आदि ग्रहण करेंगे। संयतियों से पहले या साथ-साथ यतनापूर्वक भिक्षा के लिए पर्यटन करेंगे। (इसका विस्तृत अर्थ आगे।)

२२११.कडमकड त्ति य मेरा, कडमेरा मित्ति बिंति जइ पुट्ठा।
ताहे भणंति थेरा, साहह कह गिण्हिमो भिक्खं॥

स्थविर मुनि साध्वियों को पूछते हैं–आर्या! क्या आप मर्यादा सामाचारी को जानती हैं अथवा नहीं? यदि वे कहें–हमने मर्यादा समाचारी करली है, विधि को हम जानती हैं। तब स्थविर उनको कहे–आप कहें हम भिक्षा कैसे ग्रहण करें।

२२१२.ता बेंति अम्ह पुण्णो, मासो वच्चामु अहव खमणं णे।
संपत्थियाउ अम्हे, पविसह वा जा वयं नीमो॥

तब आर्यिका कहती है–हमारा मासकल्प पूरा हो गया है। हम अन्यत्र चली जाएंगी। यदि पूर्ण न भी हुआ है तो हम सभी के क्षपण–तपस्या है। यदि क्षपण न हो तो कहती हैं–हम भिक्षाटन के लिए प्रस्थित हैं अथवा हम जाएं उससे पूर्व आप भिक्षा कर लें।

२२१३.विच्छिन्नो य पुरोहडो, अंतो भूमी य णे वियारस्स।
सागारिओ व सन्नी, कुणइ अ सारक्खणं अम्हं॥

पुरोहड विस्तीर्ण है। हमारे विचारभूमी गांव के आभ्यन्तर में है। जो हमारा सागारिक है–शय्यातर है वह संज्ञी–श्रावक है। वह हमारा संरक्षण करता है।

२२१४.उभयस्सऽकारगम्मी, दोसीणे अहव तस्स असईए।
संथरे भणंति तुम्हे, अडिएसु वयं अडीहामो॥

साधु और साध्वी–दोनों के दोषान्न अकारक हो तो अथवा दोषान्न के अभाव में संस्तरण होने पर साध्वियां कहती हैं–आर्य! पहले आप भिक्षाचर्या के लिए घूमें, पश्चात् हम घूमेंगीं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२२१५.तुब्भे गिण्हह भिक्खं, इमम्मि पउरन्न-पाण गामद्धे।
वाडग साहीए वा, अम्हे सेसेसु घेच्छामो॥

साध्वियां कहती हैं–प्रचुर अन्न-पान वाले इस ग्रामार्द्ध में आप भिक्षा ले लें और उस ग्रामार्द्ध में हम भिक्षा ग्रहण करेंगी। अथवा इस पाटक में या इस गली में आप भिक्षा ग्रहण कर लें, हम शेष घरों में भिक्षा ग्रहण कर लेंगे।

२२१६.ओली निवेसणे वा, वज्जेत्तु अडंति जत्थ व पविट्ठा।
न य वंदणं न नमणं, न य संभासो न वि य दिट्ठी॥

अथवा ओली–गांव के गृहों की एक पंक्ति या निवेशन में जहां साध्वियां भिक्षा के लिए जाती हैं उसको छोड़कर साधु अन्य ओली या निवेशन में भिक्षा करे। ऐसी स्थिति में भी जहां दोनों–साधु-साध्वी का मिलन हो तो न वंदना, न नमन, न संभाषण और न एक दूसरे को देखे।

२२१७.पुव्वभणिए य ठाणे, सुन्नोगादी चरंति वज्जेंता।
पढम-बिइयातुरा वा, जयणा आइन्न धुवकम्मी॥

पूर्वकथित जो शंकास्थान हैं–शून्यगृह आदि उनकी दूर से ही वर्जना कर विहरण करे। यदि प्रथम और द्वितीय परीषह से आक्रांत हो जनाकीर्ण, ध्रुवकर्मिक काष्ठकार, लोहकार जहां देख रहे हों, वहां यतनापूर्वक कलेवा करे अथवा पानक आदि ग्रहण करे।

२२१८.दोन्नि वि ससंजईया, एगग्गाममि कारणेण ठिया।
तासिं च तुच्छयाए, असंखडं तत्थिमा जयणा॥

वास्तव्य तथा आगंतुक साधु–दोनों के साथ साध्वियां हों और कारणवश एक ही ग्राम में रहना पड़े और साध्वियों की तुच्छता के कारण परस्पर कलह हो जाए जो यह यतना है–

२२१९.चुण्णाइ-विंटलकए, गरहियसंथवकए य तुब्भाहिं।
ताइं अजाणंतीओ, फव्वीहामो कहं अम्हे॥

शिष्य ने पूछा–यतना रहने दें। कलहोत्पत्ति का कारण क्या है? वास्तव्य साध्वियों को पूछा–क्या आपको यथेष्ट भक्तपान मिला या नहीं? वे बोलीं–आपने अपना यह क्षेत्र वशीकरण चूर्ण, विंटल तथा गर्हित पूर्व-पश्चात् संस्तव से भावित कर रखा है। हम चूर्ण आदि करना नहीं जानतीं, तो हमें यहां यथेष्ट भक्तपान कैसे प्राप्त हो सकेगा?

२२२०.सेणाणुमाणेण परं जणोऽयं,
ठावेइ दोसेसु गुणेसु चेव।
पावस्स लोगो पडिहाइ पावो,
कल्लाणकारिस्स य साहुकारी॥

तब वास्तव्य साध्वियां उत्तर देती हैं–मनुष्य अपने ही अनुमान से दूसरे को गुणी या दोषी ठहराता है। यह सही है कि पापकर्म करने वाले को सारा लोक पापकर्मकारी प्रतीत होता है। और कल्याणकारी व्यक्ति को सारा जगत् कल्याण करने वाला प्रतीत होता है। इसीलिए

२२२१.नूणं न तं वट्टइ जं पुरा भे,
इमम्मि खेत्ते जइभावियम्मि।
अवेयवच्चाण जतो करेहा,
अम्हाववायं अइपंडियाओ॥

आपने निश्चित ही पहले कुंटल-विंटल आदि किया है। यह क्षेत्र यतिभावित है। आपने यह कैसे जाना कि हमने यहां कुंटल-वेंटल किया है। आप अपेतावाच्य–जनप्रवाद रहित हैं, अतः आप अतिपंडित होने के कारण हम पर झूठा आरोप लगा रही हैं।

२२२२.तत्थेव अणुवसंते, गणिणीइ कहिंति तह वि हु अठंते।
गणहारीण कहेंती, सगाण गंतूण गणिणीओ॥

इस प्रकार कलह हो जाने पर उसका वहीं उपशमन कर लेना चाहिए। यदि उपशांत न हो तो अपनी-अपनी गणिनी को कहना चाहिए। प्रवर्तिनी के द्वारा भी उपशांत न हो तो उन प्रवर्तिनियों को अपने-अपने गणधर को कहना चाहिए।

२२२३.उप्पन्ने अहिगरणे, गणहारिनिवेदणं तु कायव्वं।
जइ अप्पणा भणेज्जा, चाउम्मासा भवे गुरुगा॥

अधिकरण–कलह उत्पन्न होने पर एक गणधर दूसरे गणधर को निवेदन करे। वह गणधर स्वयं जाकर दूसरे गणधर की साध्वी को कुछ कहता है, (उपालंभ देता है) तो चतुर्मास गुरुक का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२२२४.वतिणी वतिणिं वतिणी,
व परगुरुं परगुरू व जइ वइणिं।
जंपइ तीसु वि गुरुगा,
तम्हा सगुरूण साहेज्जा॥

यदि साध्वी साध्वी को कहती है–उपालंभ देती है, या साध्वी परगुरु से कहती है या परगुरु उस साध्वी को कहते हैं–इन तीनों अवस्थाओं में चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त आता है। इसलिए अपने गुरु को ही कहना चाहिए।

२२२५.जाणामि दूमियं भे, अंगं अरुयम्मि जत्थ अक्कंता।
को वा एअं न मुणइ, वारेहिह कित्तिया वा वि॥

परव्रतिनी को उपालंभ देने पर वह कहती है–मैं जानती हूं आपके पीड़ित अंग को–मर्म की बात को। मैंने आपके साध्वी को कुछ कहा तो आपने मेरे पर ही आक्रमण कर डाला। इस मर्म की बात को कौन नहीं जानता? आप किन-किन को, यह तथ्य प्रगट न करने के लिए निवारित करेंगे? मैं निवारित होने पर यह रहस्य प्रगट नहीं करूंगी, परन्तु दूसरे प्रगट कर देंगे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२२२६.निग्गंधं न वि वायइ, अलाहि किं वा वि तेण भणिएणं।
छाएउं च पभायं, न वि सक्का पडसएणावि॥

बिना कुछ हुए बात नहीं फैलती। वायु में गंध है तो अवश्य ही उसका कारण है। निर्गंध वायु नहीं चलती। (अतः आपका इस व्रतिनी के प्रति जो पक्षपात है, वह असंबंध में नहीं हो सकता।) अथवा आप और अधिक न कहें। उस प्रकार का वचन कहने से क्या प्रयोजन? प्रभात को सैंकड़ों पटों से भी आच्छादित नहीं किया जा सकता। (इसी प्रकार उसके द्वारा लगाया गया झूठा आरोप जल में गिरे तैल बिन्दु की भांति सर्वत्र प्रसरणशील होकर आचार्य के प्रभाव को दूषित करता है।)

२२२७.मज्झत्थं अच्छंतं, सीहं गंतूण जो विबोहेइ।
अप्पवहाए होई, वेयालो चेव दुज्जुत्तो॥

जैसे–उदासीन बैठे हुए सिंह के पास जाकर कोई उसको जगाता है तो वह सिंह उसी को मार डालता है। अथवा दुष्प्रयुक्त वैताल साधक को ही मार डालता है, इसी प्रकार यह व्रतिनी भी निवारित किए जाने पर आचार्य के प्रभाव की घात करने वाली होती है।

२२२८.उप्पन्ने अहिगरणे, गणहारि पवत्तिणिं निवारेइ।
अह तत्थ न वारेई, चाउम्मासा भवे गुरुगा॥

इसलिए अधिकरण के उत्पन्न होने पर गणधारी या प्रवर्तिनी निवारण करती है। यदि गणधारी निवारण नहीं करते हैं तो चतुर्गुरुक मास का प्रायश्चित्त आता है।

२२२९.पाहुन्नं ताणं कयं, असंखडं देह तो अलज्जाओ।
पुव्वट्ठिय इय अज्जा, उवालभंताऽणुसासंति॥

आगंतुक आर्यिकाओं का अच्छा आतिथ्य किया कि वे बेशर्म होकर इस प्रकार कलह करती हैं। पूर्वस्थित आचार्य (वास्तव्य आचार्य) अपनी आर्यायों को उपालंभ देते हुए, इस प्रकार अनुशासित करते हैं।

२२३०.एगं तासिं खेत्तं, मलेह बिइयं असंखडं देह।
आगंतू इय दोसं, झवंति तिक्खाइ-महुरेहिं॥

आगंतुक संयतियों के उपशमन का यह अन्य उपाय है–आचार्य कहते हैं–यह क्षेत्र वास्तव्य साध्वियों का है। इसका विनाश कर रहे हैं। दूसरी बात है कि इनके साथ कलह भी कर रहे हैं। आगंतुक आचार्य अधिकरण उत्पन्न करने वाले इन दोषों को तीक्ष्ण और मधुरवचनों से उपशांत कर देते हैं।

२२३१.अवराह तुलेऊणं, पुव्ववरद्धं च गणधरा मिलिया।
बोहित्तुमसागारिए दिंति विसोहिं खमावेउं॥

दोनों गणधर मिलकर अपराध को तोलते हैं। जितना जिसका अपराध है उसको परस्पर के संवाद से निश्चित कर, पहले किसने अपराध किया, उस साध्वी को एकांत में प्रतिबोध देकर दूसरी साध्वी से क्षमायाचना करानी चाहिए। दोनों के परस्पर क्षमायाचना हो जाने पर विशोधि–प्रायश्चित्त देना चाहिए।

२२३२.अभिनिदुवार(ऽभि)निक्खमणपवेसे एगवगडि ते चेव।
जं इत्थं नाणत्तं, तमहं वोच्छं समासेणं॥

एक गांव है। उसमें प्रवेश और अभिनिष्क्रमण के अनेक द्वार हैं परन्तु एक वगड–परकोटा वाला है। यहां रहने से जो दोष होते हैं, वे प्रथम भंग में कहे जा चुके हैं। उनमें जो नानात्व–विशेष है, वह मैं संक्षेप में कहूंगा।

२२३३.तह चेव अन्नहा वा, वि आगया ठंति संजईखेत्ते।
भोइयनाए भयणा, सेसं तं चेविमं चउन्नं॥

तथैव अर्थात् गाथा २१३४ के अनुसार अथवा अन्यथा संयती के क्षेत्र में आकर संत ठहर जाते हैं। उनके साथ भोजिक के उदाहरण की भजना है। शेष प्रायश्चित्त आदि प्रथम भंगोक्त के अनुसार ही है। यह अन्य है।

२२३४.एगा व होज्ज साही, दाराणि व होज्ज सपडिदुत्ताणि।
पासे व मग्गओ वा, उच्चे नीए व धम्मकहा॥

अनेक द्वार तथा एक वगडे वाले गांव में साधु-साध्वियों के प्रतिश्रय के एक ही सही–गृहपंक्ति हो। द्वार एक दूसरे के अभिमुख हो। साध्वियों के प्रतिश्रय के पास में, पीछे, ऊंचे, नीचे स्थान में साधु स्थित हों और कोई धर्मकथा करता हो–यह इस निर्युक्ति गाथा का संक्षेपार्थ है। विस्तार आगे।

२२३५.वइअंतरियाणं खलु,दोण्ह वि वग्गाण गरहिओ वासो।
आलावे संलावे, चरित्तसंभेइणी विकहा॥

वृत्ति द्वारा अंतरित स्थान में भी साधु-साध्वियों–दोनों वर्गों का एकत्र वास गर्हित है। उनका परस्पर आलाप, संलाप होने पर चारित्रसंभेदिनी विकथा हो सकती है।

२२३६.उभयेगयरट्ठाए, व निग्गया दट्ठु एक्कमेक्कं तु।
संका निरोहमादी, पबंध आतोभया वाऽऽसु॥

दोनों प्रकार की कायिकी संज्ञा में से किसी एक संज्ञा की निवृत्ति के लिए साधु-साध्वी बाहर निर्गमन करते हैं। वहां परस्पर एक-दूसरे को देखकर शंका होती है। निरोध आदि भी हो सकता है। कथा-प्रबंध भी हो सकता है। उससे आत्मसमुत्थ और परसमुत्थ दोनों प्रकार के दोष होते हैं और उनसे शीघ्र ही संयमविराधना होती है।

२२३७.पस्सामि ताव छिद्दं, वन्न पमाणं व ताव से दच्छं।
इति छिड्डेहि कुमारा, झायंती कोउहल्लेणं॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुमार अवस्था में प्रव्रजित कोई मुनि कुतूहल वश सोचते हैं–अमुक साध्वी का वर्ण और शारीरिक परिमाण देखें, इसलिए वे किसी छिद्र में से देखते हैं। इससे संयमच्युत होने की संभावना रहती है।

२२३८.दुब्बलपुच्छेगयरे, खमणं किं तं ति मोहभेसज्जं।
तह वि य वारियवामो, बलियतरं बाहए मोहो॥

साधु-साध्वी परस्पर मिलने पर एक-दूसरे को दुर्बलतर देखकर साध्वी साधु को पूछती है–दुर्बल क्यों? साधु कहता है–मैं तपस्या कर रहा हूं। तपस्या क्यों? मोह की चिकित्सा के लिए। फिर भी मोह निवारित न होकर और अधिक प्रतिकूल हो रहा है। मोह मुझे अधिक बाधित कर रहा है।

२२३९.मूलतिगिच्छं न कुणह,न हु तण्हा छिज्जए विणा तोयं।
अम्हे वि वेयणाओ, खइया एआ न वि पसंतो॥

साध्वी कहती है–आप मूल चिकित्सा नहीं कर रहे हैं। पानी के बिना प्यास नहीं मिटती। हमने भी तपस्या आदि की वेदनाओं का सहन किया है फिर भी मोह उपशांत नहीं हुआ है।

२२४०.मोहग्गिआहुइनिभाहि ईय वायाहिं अहियवायाहिं।
धंतं पि धिइसमत्था, चलंति किमु दुब्बलधिईया॥

इस प्रकार की वाणी मोहरूपी अग्नि में आहुतितुल्य होती है। वह अत्यधिक अहितकर अर्थात् नरक में ले जाने वाली होती है। अत्यंत धृतिसंपन्न व्यक्ति भी चलित हो जाते हैं तो दुर्बल धृति वाले व्यक्तियों का तो कहना ही क्या!

२२४१.सपडिदुवारे उवस्सए, निग्गंथीणं न कप्पई वासो।
दट्ठूण एक्कमेक्कं, चरित्तभासुंडणा सज्जो॥

यदि साध्वियों के उपाश्रय का द्वार अभिमुखद्वार वाला हो तो वहां साधुओं को रहना नहीं कल्पता। क्योंकि एक-दूसरे को देखने से शीघ्र ही चारित्र की भ्रंशना[1] होती है।

२२४२.घम्मम्मि पवायट्ठा, निंता दट्ठुं परोप्परं दो वि।
लज्जा विसंति निंति य, संका य निरिक्खणे अहियं॥

ग्रीष्म ऋतु में गर्मी से पीड़ित होकर मुनि वायु के निमित्त बाहर जाता है और साध्वी भी इसी निमित्त से बाहर निकलती है। दोनों परस्पर एक-दूसरे को देखकर, लज्जावश दोनों भीतर चले जाते हैं। फिर दोनों बाहर आते हैं फिर भीतर चले जाते हैं। इस प्रकार दो-तीन बार करने से शंका होती है तथा एक दृष्टि से देखने पर अत्यधिक शंका होती है।

२२४३.वीसत्थऽवाउडऽन्नोन्नदंसणे होइ लज्जवोच्छेदो।
ते चेव तत्थ दोसा, आलावुल्लावमादीया॥

अभिमुखद्वारवाले उपाश्रय में साधु-साध्वी विश्वस्त होकर कदाचित् निर्वस्त्र हो जाते हैं। एक-दूसरे को देखने पर लज्जा का व्यवच्छेद हो जाता है। फिर आलाप-उल्लाप आदि होने लगता है। ये दोष उत्पन्न होते हैं।

२२४४.एमेव य एक्कतरे, ठियाण पासम्मि मग्गओ वा वि।
वइअंतर एगनिवेसणे य दोसा उ पुव्वुत्ता॥

इसी प्रकार साध्वी के प्रतिश्रय के पास या पीछे वृत्ति से अंतरित तथा एक निवेशन में दोनों के लिए पूर्वोक्त दोष उत्पन्न होते हैं।

२२४५.उच्चे नीए व ठिआ, दट्ठूण परोप्परं दुवग्गा वि।
संका व सईकरणं, चरित्तभासुंडणा चयई॥

ऊंचे, नीचे या स्थान में स्थित यदि दोनों वर्ग हों तो एक-दूसरे को देखने पर शंका होती है, पूर्वभुक्त भोगों की स्मृति आती है, चारित्र का नाश होता है अथवा सर्वथा संयम से च्युत हो जाता है।

२२४६.माले सभावओ वा, उच्चम्मि ठिओ निरिक्खई हेट्ठं।
बेट्ठो व निवन्नो वा, तत्थ इमं होइ पच्छित्तं॥

कदाचित् मुनि वसति के ऊपर के माले (भाग) में स्थित हो, या स्वभावतः ऊंचे देवकुल आदि में स्थित हो और साध्वियां नीचे रहती हों और वह मुनि बैठे-बैठे या खड़े-खड़े नीचे साध्वी को देखता हो तो यह प्रायश्चित्त आता है।

२२४७.संतर निरंतरं वा, निरिक्खमाणे सई पकामं वा।
काल-तवेहिं विसिट्ठो, भिन्नो मासो तुयट्टम्मि॥

मुनि नीचे स्थित साध्वी को सांतर–किसी सहारे से ऊंचा होकर देखता है या निरंतर–स्वभावतः उसे देखता है, या सोते-सोते एक बार देखता है या बार-बार देखता है तो काल और तप से विशेषित भिन्नमास का प्रायश्चित्त आता है।

२२४८.एसेव गुरु निविट्ठे, ठियम्मि मासो लहू उ भिक्खुस्स।
एक्केक्क ठाण वुड्ढी, चउगुरुअंतं च आयरिए॥

यदि बैठा-बैठा निरंतर या सांतर देखता है तो वही भिन्नमास का प्रायश्चित्त, तप और काल से गुरु, का आता है और खड़े-खड़े देखता है तो वही प्रायश्चित्त तप और काल से लघु होता है। इसी प्रकार वृषभ, उपाध्याय और आचार्य के यथाक्रम एक-एक स्थान की वृद्धि करनी चाहिए। आचार्य के चतुर्गुरुक जैसे–वृषभ के गुरुभिन्नमास से प्रारब्ध गुरुमास, उपाध्याय के मासलघुक से प्रारब्ध चतुर्लघुक और

१. चरित्तभासुंडणा–चारित्रभ्रंशना सद्यो भवति। (चूर्णि)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य के गुरुमास से प्रारब्ध चतुर्गुरुक पर्यन्त। यह पहला आदेश है।

२२४९.दोहि वि रहिय सकामं, पकाम दोहिं पि पेक्खई जो उ।
चउरो य अणुग्घाया, दोहि वि चरिमस्स दोहि गुरु॥

दूसरा आदेश यह है–

दोनों आंखों से देखना, 'अरहित' कहलाता है और एक आंख से देखना वह 'रहित' कहलाता है। दोनों के दो-दो प्रकार हैं–सकाम (एक बार) और प्रकाम (अनेक बार)। दोनों से जो देखता है उसे चार अनुद्घात मास का प्रायश्चित्त आता है। यह प्रायश्चित्त भी तप और काल से गुरु होता है। चरम भंग वाले के तप और काल से गुरु होते हैं।

२२५०.पायठिओ दोहिं नयणेहि पिच्छई रहिय मोत्तु एक्केणं।
तं पुण सइं सकामं, निरंतरं होइ उ पकामं॥

यदि मुनि खड़ा-खड़ा दोनों आंखों से देखता है, वह अरहित है। एक आंख को छोड़कर एक से देखता है, वह रहित है। जो एक बार देखता है वह सकाम और बार-बार देखता है, निरंतर देखता है वह प्रकाम है।

२२५१.अहवण समतलपादो, दोहिं वि रहिअं तु अग्गपाएहिं।
इट्टालादी विरहं, एक्केक्क सकामग पकामं॥

अथवा समतलपाद से जो देखता है वह अरहित और अग्रपाद से स्थित होकर देखता है वह रहित है। अथवा ईंटों आदि पर चढ़कर देखता है वह अरहित है और इतर रहित है। दोनों सकाम और प्रकाम के भेद से द्विधा हैं।

२२५२.अहवण उच्चावेउं, कर-विंटय-पीढगादिसुं काउं।
ताइं वा वि पमोत्तुं, रहियं बिट्ठो पुण निसिज्जं॥

अथवा शिर या शरीर को ऊंचा कर देखना या हाथ, विंटिका, पीढे पर सिर ऊंचाकर देखना अरहित है अथवा हाथ, विंटिका आदि को छोड़कर देखना रहित है। अथवा बैठा-बैठा निषद्या को छोड़कर देखना रहित है।

२२५३.दिट्ठीसंबंधो वा, दोण्ह वि रहियं तु अन्नतरगत्ते।
अप्पो दोसो रहिए, गुरुकतरो उभयसंबंधे॥

अथवा एक-दूसरे की आंख का संबंध हो तो वह अरहित और एक-दूसरे का शरीर देखे तो रहित है। एक का दृष्टि-संबंध अल्प दोष वाला होता है, वह रहित है। दोनों का दृष्टिसंबंध अरहित होता है, गुरुतर दोष वाला होता है।

२२५४.दोहिं वि अरहिय रहिए, एक्केक्क सकामए पकामे य।
गुरुगा दोहि वि लहुगा, लहु गुरुग तवेण दोहिं पि॥

दोनों–अरहित और रहित अनेक प्रकार के होते हैं। प्रत्येक सकाम और प्रकाम–इन दो भेदों से विभक्त है। सकाम का प्रायश्चित्त है चतुर्गुरु। तप और काल से लघु। प्रकाम का प्रायश्चित्त है चतुर्गुरु और तप से लघु। रहित सकाम में चतुर्गुरु, तप से गुरु। प्रकाम में चतुर्गुरु और तप और काल से भी गुरु।

२२५५.एक्केक्काए पयाओ, साहीमाईसु ठायमाणाणं।
निक्कारणट्ठियाणं, सव्वत्थ वि अविहिए दोसा॥

अरहित, रहित, सकाम, प्रकाम निरीक्षण आदि एक-एक पद से गली में या प्रति मुखद्वार वाले उपाश्रय, आगे, पीछे, ऊपर, नीचे–इन सबमें निष्कारण रहने या कारणवश अयतनापूर्वक रहने से ये दोष होते हैं।

२२५६.दिट्ठा अवाउडा हं, भयलज्जा थद्ध होज्ज खित्ता वा।
पडिगमणादी व करे, निच्छक्काओ व आउभया॥

कोई साध्वी विचारभूमी में गई। मुनि को आते हुए देखकर सोचती है–मुनि ने मुझे अपावृत देख लिया है। अतः वह लज्जा से, भय से स्तब्ध होकर क्षिप्तचित्त वाली हो जाती है। कोई साध्वी इससे प्रतिगमन आदि कर लेती है। कोई निर्लज्ज हो जाती है। उससे आत्मसमुत्थ और परसमुत्थ–दोनों प्रकार के दोष हो सकते हैं।

२२५७.तासिं कक्खंतर-गुज्झदेस-कुच-उदर-ऊरुमादीए।
निग्गहियइंदियस्स वि, दट्ठुं मोहो समुज्जलति॥

साध्वियों के कक्षांतर, गृह्यप्रदेश, कुच, उदर, ऊरु आदि शरीरावयवों को देखकर निगृहीतेन्द्रिय व्यक्ति के भी मोह का उदय हो जाता है, दूसरे की तो बात ही क्या।

२२५८.चिंता य दट्ठुमिच्छइ, दीहं नीससइ तह जरो दाहो।
भत्तअरोयग मुच्छा, उम्मत्तो न याणई मरणं॥

उससे वे दस प्रकार के कामवेग उत्पन्न होते हैं–चिंता, देखने की इच्छा, दीर्घनिःश्वास, ज्वर, दाह, भोजन की अरुचि, मूर्च्छा, उन्मत्तता, कुछ न जानने की स्थिति और मरण।

२२५९.पढमे सोयइ वेगे, दट्ठुं तं इच्छई बिइयवेगे।
नीससइ तइयवेगे, आरुहइ जरो चउत्थम्मि॥
२२६०.डज्झइ पंचमवेगे, छट्ठे भत्तं न रोयए वेगे।
सत्तमगम्मि य मुच्छा, अट्ठमए होइ उम्मत्तो॥
२२६१.नवमे न याणइ किंची, दसमे पाणेहिं मुच्चई मणूसो।
एएसिं पच्छित्तं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए॥

पहले कामवेग में उसकी संप्राप्ति की चिंता रहती है। दूसरे में उसे देखने की इच्छा होती है। तीसरे में वह दीर्घ निःश्वास लेता है। चौथे में वह ज्वरग्रस्त हो जाता है। पांचवें में शरीर जलने लगता है। छठे में भक्तपान के प्रति अरुचि उत्पन्न हो जाती है। सातवें में वह मूर्च्छा से ग्रस्त होता है। आठवें में वह उन्मत्त, नौवें में वह निश्चेष्ट और दसवें में वह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनुष्य प्राणों से वियुक्त हो जाता है—मर जाता है। इन दसों वेगों का मैं क्रमशः प्रायश्चित्त कहूंगा।

२२६२.मासा लहुओ गुरुओ,चउरो मासा हवंति लहु-गुरुगा।
छम्मासा लहु-गुरुगा, छेदो मूलं तह दुगं च॥

प्रथम वेग में लघुमास, दूसरे में गुरुमास, तीसरे में चार लघुमास, चौथे में चार गुरुमास, पांचवें में छह लघुमास, छठे में छह गुरुमास, सातवें में छेद, आठवें में मूल, नौवें में अनवस्थाप्य और दसवें में पारांचिक।

२२६३.एक्कम्मि दोसु तीसु व, ओहाविंतेसु तत्थ आयरिओ।
मूलं अणवट्ठप्पो, पावइ पारंचियं ठाणं॥

यदि मोहोदय से प्रताडित होकर एक मुनि उत्प्रव्रजित हो जाता है तो आचार्य को 'मूल' का प्रायश्चित्त आता है। दो मुनियों के अवधावन से अनवस्थाप्य और तीन मुनियों के अवधावन से पारांचिक प्रायश्चित्त आता है।

२२६४.धम्मकहासुणणाए, अणुरागो भिक्खसंपयाणे य।
संगारे पडिसुणणा, मोक्ख रहे चेव खंडीए॥

मुनि द्वारा प्रदत्त धर्मकथा सुनकर साध्वी के मन में अनुराग उत्पन्न होता है और तब वह भिक्षा आदि लाकर मुनि को देती है। फिर संकेत का आदान-प्रदान होता है। संकेत यह होता है—अमुक दिन रथयात्रा निकलेगी। उस दिन हमारी रक्षा करने वालों से हम मुक्त हो जाएगी। छंडिका का द्वार रात्री में खुला रहेगा।

२२६५.असुभेण अहाभावेण वा वि रत्तिं निसंतपडिसंते।
वत्तेइ किन्नरो इव कोई पुच्छा पभायम्मि॥

कोई श्रमण अशुभ भावना से प्रेरित होकर अथवा यथाभाव से रात्री में जब सारे लोग अपने-अपने घरों में विश्राम करते हैं तब वह मुनि उस किन्नर की भांति मधुर वाणी में धर्मकथा करता है, उसको सुनकर कोई साध्वी प्रभातकाल में पूछती है—

२२६६.कतरो सो जेण निसिं, कन्ना णे पूरिया व अमयस्स।
सो मि अहं अज्जाओ!, आसि पुरा सुस्सरो किं वा॥

आपमें से किस साधु ने रात्री में प्रवचन कर हमारे कानों को अमृत से भर दिया था। तब धर्मकथाकारक मुनि सामने आकर कहता है—आर्या! वह मैं था। पहले मेरा स्वर बहुत सुन्दर था। अब मेरा स्वर इतना मीठा नहीं रहा।

२२६७.रुक्खासणेण भग्गो, कंठो मे उच्चसद्दपढओ य।
संथुय कुलम्मि नेहं, दावेमि कए पुणो पुच्छा॥

रूक्ष आहार करने के कारण मेरा कंठ भग्न हो गया है। ऊंचे स्वर से पढ़ने के कारण भी मेरा कंठ भग्न हो गया। यह सुनकर कोई साध्वी कहती है—मैं भावितकुल से घी आदि आपको दिलाऊंगी। कुछ दिनों के बाद उस साध्वी ने पूछा—आर्य! आप दुर्बल कैसे दीख रहे हैं।

२२६८.संदंसणेण पीई, पीईउ रई रईउ वीसंभो।
वीसंभाओ पणओ, पंचविहं वड्ढए पिम्मं॥

दोनों के परस्पर देखने से प्रीति होती है, प्रीति से रति—चित्त की विश्रान्ति, रति से विश्रंभ—विश्वास होता है, विश्वास से प्रणय—अशुभ राग पैदा होता है—इन पांच प्रकारों से प्रेम बढ़ता है।

२२६९.जह जह करेसि नेहं, तह तह नेहो मे वड्ढइ तुमम्मि।
तेण नडिओ मि बलियं, जं पुच्छसि दुब्बलतरो त्ति॥

मुनि कहता है—जैसे-जैसे तुम घी की व्यवस्था करती हो वैसे-वैसे तुम्हारे प्रति मेरा स्नेह बढ़ता जाता है। उस स्नेह से मैं विडंबित हो रहा हूं। जो तुम मेरी दुर्बलता के विषय में पूछती हो कि मैं दुर्बलतर क्यों हूं, इसी कारण से मैं दुर्बल हूं।

२२७०.अमुगदिणे मुक्ख रहो,होहिइ दारं व वोज्झिहिइ रत्तिं।
तइया णे पूरिस्सइ, उभयस्स वि इच्छियं एयं॥

वह साध्वी कहती है—अमुक दिन रथयात्रा है। उस दिन साधु-साध्वियों के चले जाने पर रक्षा करने वालों से हमारी मुक्ति हो जाएगी। उस दिन रात्री में दरवाजा खुला रहेगा। उस समय हम दोनों की यह इच्छा पूरी होगी। (इस प्रकार प्रतिसेवना कर, स्वयं को भग्नव्रत वाला जानकर अवधावन कर लेते हैं।)

२२७१.एगम्मि दोसु तीसु व, ओहावंतेसु तत्थ आयरिओ।
मूलं अणवट्ठप्पो, पावइ पारंचियं ठाणं॥

एक, दो, तीन मुनियों का अवधावन होने पर आचार्य को क्रमशः मूल, अनवस्थाप्य और पारांचिक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२२७२.अद्धाणनिग्गयाई, तिक्खुत्तो मग्गिऊण पडिलोमं।
गीयत्था जयणाए, वसंति तो अभिदुवाराए॥

मार्ग में प्रस्थित मुनि अथवा अशिव आदि के कारण से वे अकस्मात् संयतीक्षेत्र में आ गए। वे निरुपहत वसति की तीन बार मार्गणा करते हैं, फिर भी यदि वह नहीं मिलती है तो प्रतिलोम के क्रम से गीतार्थ मुनि अनेकद्वार वाले संयतीक्षेत्र में यतनापूर्वक रहते हैं।

२२७३.सिंगारवज्ज बोले, अह एगो विज्जपाढऽणुच्चं च।
सड्ढादीनिब्बंधे, कहिए वि न ते परिकहिंति॥

वहां धर्मकथा करते हुए शृंगार रस का वर्जन करते हुए समूह में धर्मकथा करे जिससे किसी एक का व्यक्त स्वर उपलक्षित नहीं होता। अकेला यदि करे तो वैद्यपाठ की भांति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वरवर्जित की तरह मंद-मंद पाठ करे। वह यथास्वर से ही धर्मकथा करे, क्योंकि मधुर स्वरों में धर्मकथा करने पर श्रावक आदि बहुत बंध जाते हैं। मधुर स्वर में धर्मकथा करने पर प्रातः संयती के पूछने पर साधु यह न बताएं कि अमुक साधु ने धर्मकथा की थी।

२२७४.कडओ व चिलिमिली वा, तत्तो थेरा य उच्च नीए वा।
पासे ततो न उभयं, मत्तग जयणाऽऽउल ससद्दा॥

उस वसति में रहते हुए यदि प्रवेश और निर्गमन में साधु-साध्वी परस्पर दीखते हों तो वहां बांस से बनी हुई सघन चटाई अथवा चिलिमिली बांध दे। एक ओर स्थविर मुनि और दूसरी ओर क्षुल्लिका साध्वियां बैठ जाएं। ऊपर के भाग में या नीचे के भाग में बैठने की भी यही यतना है। यदि पास में या पीछे प्रतिश्रय हो तो दोनों एक ही दिशा में उत्सर्ग के लिए न जाएं। वैसी स्थंडिल भूमी न मिले तो मात्रक का उपयोग करे अथवा आकुल होकर शब्द करते हुए वहां जाएं।

२२७५.पिहदारकरण अभिमुह,
चिलिमिलि वेला ससद्द बहु निंति।
साहीए अन्नदिसिं,
निंती न य काइयं तत्तो॥

परस्पर अभिमुखद्वार वाली वसति में रहना पड़े तो द्वार पर चिलिमिली डाल दे तथा संज्ञा विसर्जन की वेला हो तो अनेक मुनि सशब्द करते हुए निकलें। जहां एक ही गली हो तो अन्य दिशा में द्वार वाले प्रतिश्रय में रहे। जिस ओर साध्वियों का प्रतिश्रय हो उस ओर कायिकी भूमी में न जाएं।

२२७६.जत्थऽप्पतरा दोसा, जत्थ य जयणं तरंति काउं जे।
तत्थ वसंति जयंता, अणुलोमं किं पि पडिलोमं॥

जिस उपाश्रय में अल्पतर दोष हों और जहां यतना का पालन किया जा सकता है, वहां मुनि यतनापूर्वक रहें। वह उपाश्रय अनुकूल हो या प्रतिकूल, परंतु पूर्ण यतना रखें।

२२७७.आय-समणीण नाउं, किढि कप्पट्ठी समाणयं वज्जे।
बहुपाडिवेसियजणं, च खमयरं एरिसे होइ॥

स्वयं का तथा श्रमणी वर्ग को जानकर उचित यतना करे। स्थविर साध्वियों को तथा क्षुल्लक साध्वियों को दोनों ओर करके, समान वय वाली साध्वियों के संदर्शन का वर्जन करे। जो वसति अनेक पड़ौसियों से युक्त हो वह रहने योग्य होती है।

२२७८.पउमसर वियरगो वा, वाघातो तम्मि अभिनिवगडाए।
तम्मि वि सो चेव गमो, नवरं पुण देउले मेलो॥

जिस गांव के अनेक वगड़ा और प्रवेश-निर्गमन द्वार हो और पद्मसरोवर या कोई गर्त्ता व्यवधानरूप हो तो वहां भी वही यतना ज्ञातव्य है। केवल देवकुल में दृष्टि आदि के कारण साधु-साध्वियों का संगम होता है।

२२७९.अंतो वियार असई, अज्जाण हविज्ज तइयभंगम्मि।
संकिट्ठगवीयारे, व होज्ज दोसा इमं नायं॥

तीसरे भंग वाली अर्थात् आपात-असंलोक वाली विचारभूमी भीतर न हो तो साध्वियां बाहर जाती हैं, वहां संक्लिष्ट विचारभूमी के दोष होते हैं। अर्थात् एक द्वार के कारण अन्य संज्ञाभूमी न होने के कारण मुनि भी वहीं आते हैं। आते-जाते दोनों का मिलना होता है। यहां यह दृष्टांत है।

२२८०.वासस्स य आगमणं, महिला कुड णंतगे व रत्तट्ठी।
देउलकोणे व तहासंपत्ती मेलणं होज्जा॥
२२८१.गहिओ अ सो वराओ, बद्धो अवओडओ दवदवस्स।
संपाविओ रायकुलं, उप्पत्ती चेव कज्जस्स॥
२२८२.जाणंता वि य इत्थिं, दोसवइं तीए नाइवग्गस्स।
पच्चयहेउं सचिवा, करेंति आसेण दिट्ठंतं॥
२२८३.वम्मिय कवइय वलवा, अंगणमज्झे तहेव आसो य।
वलवाए अवंगुणणं, कज्जस्स य छेदणं भणियं॥

कोई महिला कुसुंभरक्तवस्त्र युगल को पहन कर पानी लाने निकलती है। वर्षा आ जाती है तब महिला यह सोचती है कि वर्षा के पानी से कुसुंभरक्तवस्त्रों का रंग न मिट जाए, इसलिए वह दोनों वस्त्रों को घड़े में डालकर स्वयं अप्रावृत होकर देवकुल में प्रवेश करती है। वहां पहले से ही एक अनगार देवकुल के कोणे में स्थित है। उसने उस महिला को अप्रावृत अवस्था में देख लिया। ऐसे संयोग में दोनों का मिलन हुआ। राजपुरुष ने देख लिया। वह उस अनगार को पकड़ लेता है, उसे बांधकर, उसकी ग्रीवा को पीछे की ओर मोड़कर, हाथों को पीछे बांध शीघ्र ही राजकुल में ले आता है। वहां कारणिक–धर्माधिकारी के द्वारा पूछने पर वह यथार्थ बात कह देता है। यह जानते हुए भी कि स्त्री दोषवती है, वह धर्माधिकारी उस स्त्री के ज्ञातिजनों के विश्वास के लिए अश्व का दृष्टांत कहता है–एक घोड़ी राजा के आंगन में है। वह वर्मित अर्थात् लघु तनुत्राणयुक्त है तथा कवचित अर्थात् कवच पहने हुए है। उसी आंगन में एक अश्व भी है। वह अश्व उससे सहवास करने के लिए दौड़ता है, परंतु सहवास कर नहीं सकता। यदि घोड़ी को अप्रावृत कर दिया जाए तो दोनों का सहवास सुकर हो सकता है। इसी प्रकार यदि यह स्त्री अप्रावृत नहीं होती तो यह अनर्थ घटित नहीं होता। कारणिक–धर्माधिकारी ने तब यह निर्णय दिया कि स्त्री ही अपराधकारिणी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२२८४.एवं खु लोइयाणं, महिला अवराहि न पुण सो पुरिसो।
इह पुण दोण्ह वि दोसो, सविसेसो संजए होइ॥

इस प्रकार वह लौकिक महिला अपराधिनी मानी गई, पुरुष नहीं। लोकोत्तर प्रसंग में संयत और संयती—दोनों का दोष माना जाता है, फिर भी विशेष दोष संयत का होता है, मुनि का होता है।

२२८५.पुरिसुत्तरिओ धम्मो, पुरिसे य थिई ससत्तया चेव।
पेलव परज्झ इत्थी, फुंफुग-पेसीए दिट्ठंतो॥

क्योंकि पुरुषोत्तर धर्म है। पुरुष में धृति—मानसिक स्वस्थता तथा सत्त्व की संपन्नता होती है। इस स्थिति में यदि वह प्रतिसेवना करता है तो विशेष दोषी है। स्त्री निःसत्त्व और परवश होती है। यहां फुंफुक और पेशी का दृष्टांत वक्तव्य है। (जैसे करीषाग्नि को चालित करने से वह उद्दीप्त होती है, उसी प्रकार स्त्रीवेद भी। जैसे पेशी सभी के द्वारा अभिलषणीय होती है, वैसे ही स्त्री भी।)

२२८६.जइ वि य होज्ज वियारो,अंतो अज्जाण तइयभंगम्मि।
तत्थ वि विकिंचणादीविनिग्गयाणं तु ते दोसा॥

यदि तीसरे विकल्प के अनुसार आर्यायों के आपात-असंलोक वाली विचारभूमी भीतर में प्राप्त हो, फिर भी परिष्ठापन आदि के लिए निर्गत होने पर पूर्वोक्त दोष हो सकते हैं।

२२८७.एते तिन्नि वि भंगा, पढमे सुत्तम्मि जे समक्खाया।
जो पुण चरिमो भंगो, सो बिइए होइ सुत्तम्मि॥

प्रथम वगडा सूत्र में ये तीनों भंग—(१) एक वगडा, एक द्वार (२) एक वगडा अनेक द्वार (३) अनेक वगडा, एक द्वार—समाख्यात हैं। जो चरम भंग है—अनेक वगडा, अनेक द्वार—वह दूसरे सूत्र में व्याख्यात है।

से गामंसि वा जाव रायहाणिंसि वा अभि-निव्वगडाए अभिनिदुवाराए अभिनिक्खमण-प्पवेसाए कप्पइ निग्गंथाण य निग्गंथीण य एगयओ वत्थए॥

(सूत्र ११)

२२८८.एयद्दोसविमुक्के, विच्छिन्न वियारथंडिलविसुद्धे।
अभिनिव्वगड-दुवारे, वसंति जयणाए गीयत्था॥

जो क्षेत्र प्रथम सूत्रोक्त दोषों से विप्रमुक्त हो, विस्तीर्ण हो, विचार और स्थंडिलभूमी से विशुद्ध हो अर्थात् भिक्षाचर्या और संज्ञाभूमी से दोषमुक्त हो, इस प्रकार के अभिनिवगडा और अभिनिद्वार वाली वसति में, संयतीक्षेत्र में गीतार्थ यतनापूर्वक रहते हैं।

२२८९.पिहगोअर-उच्चारा,जे अब्भासे वि होंति उ निओया।
वीसुं वीसुं वुत्तो, वासो तत्थोभयस्सावि॥

मूल क्षेत्र के निकट अन्य नियोग—गांव होते हैं, वे पृथक् गोचरचर्या वाले तथा पृथक् उच्चारभूमी वाले होते हैं। ऐसे क्षेत्रों में साधु-साध्वियों को पृथग्-पृथग् उपाश्रय में निवास किया जा सकता है।

२२९०.तं नत्थि गाम-नगरं, जत्थियरीओ न संति इयरे वा।
पुणरवि भणामु रन्ने, वस्सउ जइ मेलणे दोसा॥

ऐसा कोई ग्राम और नगर नहीं है जहां पार्श्वस्थ आदि संप्रदाय की साध्वियां न हों अथवा इतर—पार्श्वस्थ आदि न हों। तो हम पुनः कहते हैं कि परस्पर मेलना का दोष होता हो तो वन में निवास करना चाहिए।

२२९१.दिट्ठंतो पुरिसपुरे, मुरुंडदूतेण होइ कायव्वो।
जह तस्स ते असउणा, तह तस्सितरा मुणेयव्वा॥

यहां पुरुषपुर में मुरुण्डदूत का दृष्टांत कहना चाहिए। उस दूत के लिए रक्तपट वाले अशकुन होते थे। उसी प्रकार मुनि के पार्श्वस्थ आदि की संयतियां दोषकरी नहीं होती।

२२९२.पाडलि मुरुंडदूते, पुरिसपुरे सचिवमेलणाऽऽवासो।
भिक्खू असउण तइए, दिणम्मि रन्नो सचिवपुच्छा॥
२२९३.निग्गमणं च अमच्चे, सब्भावाऽऽइक्खिए भणइ दूयं।
अंतो बहिं च रच्छा, नऽरहिंति इहं पवेसणया॥

पाटलिपुत्र नगर में मुरुंड नाम का राजा था। एक बार उसका दूत पुरुषपुर में गया। सचिव से वह मिला। सचिव ने उसे आवासस्थल दिया। वह राजा को देखने-मिलने के लिए प्रस्थान करता, परंतु रक्तपट वाले भिक्षुओं का अपशकुन होता। वह लौट आता। तीसरे दिन राजा ने सचिव से पूछा।

अमात्य अपने स्थान से प्रस्थित हुआ। दूत के आवास पर आया और राजभवन में न आने का कारण पूछा। दूत ने यथार्थ बात अमात्य को बता दी। अमात्य तब दूत से बोला—इन रक्तपट भिक्षुओं का मार्ग के भीतर या बाहर अपशकुन नहीं होता, क्योंकि यह नगर इनसे भरा पड़ा है। यह सुनकर दूत राज भवन में प्रवेश कर गया।

२२९४.जह चेव अगारीणं, विवक्खबुद्धी जईसु पुव्वुत्ता।
तह चेव य इयरीणं, विवक्खबुद्धी सुविहिएसु॥

जैसे यह कहा जा चुका है (गाथा २१७०) कि स्त्रियों की मुनियों के प्रति विपक्षबुद्धि होती है वैसे ही पार्श्वस्थ संयतियों का भी सुविहित साधुओं के प्रति विपक्षबुद्धि होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आवणगिहादिसु वासविधिनिसेध-पदं

नो कप्पइ निग्गंथीणं आवणगिहंसि वा रच्छामुहंसि वा सिंघाडगंसि वा तियंसि वा चउक्कंसि वा चच्चरंसि वा अंतरावणंसि वा वत्थए॥

(सूत्र १२)

२२९५.एयारिसखेत्तेसुं, निग्गंथीणं तु संवसंतीणं।
केरिसयम्मि न कप्पइ, वसिऊण उवस्सए जोगो॥

ऐसे क्षेत्रों में अर्थात् पृथग् वगडा और पृथग् द्वारवाले क्षेत्रों में रहने वाली साध्वियों को कैसे उपाश्रय में रहना नहीं कल्पता? यह सूत्र से योग है–संबंध है।

२२९६.दिट्ठमुवस्सयगहणं, तत्थऽज्जाणं न कप्पइ इमेहिं।
वुत्ता सपक्खओ वा, दोसा परपक्खिया इणमो॥

पहले सूत्र से यह ज्ञात होता है कि उपाश्रय का ग्रहण कैसे किया जाये? साध्वियों को इन उपाश्रयों में रहना नहीं कल्पता वह इस सूत्र में प्रतिपादित है। अथवा स्वपक्ष वाले साधु-साध्वियों के परस्पर दोष बताए गए हैं। अब परपाक्षिक अर्थात् गृहस्थों से होने वाले ये दोष बताये जा रहे हैं।

२२९७.आवणगिह रच्छाए, तिए चउक्कंतरावणे तिविहे।
ठायंतिगाण गुरुगा, तत्थ वि आणाइणो दोसा॥

आपणगृह, रथ्यामुख, त्रिक, चतुष्क, तीन प्रकार के अन्तरापणों में रहने वाली साध्वियों के, प्रत्येक में रहने से, चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं।

२२९८.जं आवणमज्झम्मी, जं च गिहं आवणा य दुहओ वि।
तं होइ आवणगिहं, रच्छामुह रच्छपासम्मि॥

जो गृह आपणों के मध्य में हो अर्थात् चारों ओर आपण हों या जिस गृह के दोनों ओर आपण हों, वह आपणगृह होता है। रथ्यामुख अर्थात् रथ्या के पार्श्व में होने वाला गृह।

२२९९.तं पुण रच्छमुहं वा, बाहिमुहं वा वि उभयतोमुहं वा।
अहवा जत्तो पवहइ, रच्छा रच्छामुहं तं तु॥

रथ्या के पास वाला गृह, रथ्या के अभिमुख वाला गृह, वह गृह जिसके पीछे रथ्या हो, अथवा उभयतोमुख वाला गृह–एक द्वार रथ्या के पराङ्मुख में खुलता हो, एक द्वार रथ्या के अभिमुख खुलता हो, अथवा जिस गृह से रथ्या जाती हो वह रथ्यामुख कहलाती है।

२३००.सिंघाडगं तियं खलु, चउरच्छसमागमो चउक्कं तु।
छण्हं रच्छाण जहिं, पवहो तं चच्चरं बिंती॥

जहां तीन मार्ग मिलते हों, वह शृंगाटक कहलाता है। जहां चार मार्गों का समागम होता है वह चतुष्क और जहां छह मार्गों का निर्गम होता है वह चत्वर कहलाता है।

२३०१.अह अंतरावणो पुण, वीही सा एगओ व दुहओ वा।
तत्थ गिह अंतरावण, गिहं तु सयमावणो चेव॥

जिस गृह के एक ओर अथवा दोनों ओर वीथी हो–हट्टमार्ग हो, वह गृह अंतरापण कहलाता है। अथवा जो गृह स्वयं आपण का कार्य संपादित करता है वह गृह अंतरापण कहलाता है।

२३०२.आवण रच्छगिहे वा, तिगाइ सुत्तंतरावणुज्जाणे।
चउगुरुगा छल्लहुगा, छग्गुरुगा छेय मूलं च॥

साध्वियां यदि आपणगृह में रहती हैं तो चतुर्गुरु, रथ्यामुख में रहती हों तो षड्लघु, त्रिक-चतुष्क-चत्वर में रहने पर षड्गुरु, शून्यगृह और अंतरापण में रहने पर छेद और उद्यान में रहने पर मूल प्रायश्चित्त आता है। (यह प्रायश्चित्त का विधान सामान्य भिक्षुणियों के लिए है। प्रवर्तिनी, गणावच्छेदिनी आदि के लिए विशेष प्रायश्चित्त का विधान टीका में प्राप्त है।)

२३०३.सव्वेसु वि चउगुरुगा,भिक्खुणिमाईण वा इमा सोही।
चउगुरुविसेसिया खलु, गुरुगादि व छेदनिट्ठवणा॥

अथवा सभी आपणगृह आदि में चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त है अथवा भिक्षुणी आदि के लिए यह शोधि–प्रायश्चित्त है–चतुर्गुरु, तप और काल से विशेषित। अथवा चतुर्गुरु से प्रारंभ कर छेद पर्यन्त–जैसे भिक्षुणी के सभी स्थानों में चतुर्गुरुक, अभिषेका के षड्लघुक, गणावच्छेदिनी के षड्गुरुक और प्रवर्तिनी के छेद।

२३०४.तरुणे वेसित्थि विवाह रायमादीसु होइ सइकरणं।
इच्छमणिच्छे तरुणा, तेणा उवहिं व ताओ वा॥

आपणगृह आदि में ठहरी हुई साध्वियां तरुण व्यक्तियों को, वेश्याओं को, विवाह को तथा राजा आदि को देखकर भुक्त-भोगों का स्मरण कर सकती हैं। यदि वे तरुणों से समागम की इच्छा करती हैं तो संयमविराधना होती है और यदि इच्छा नहीं करती हैं तो तरुण उड्डाह आदि करते हैं। स्तेन उनकी उपधि का अथवा उनका अपहरण कर लेते हैं।

२३०५.चउहालंकारविउव्विए तहिं दिस्स सललिए तरुणे।
लडहपयंपिय-पहसिय-विलासगइ-णेगविहकिड्डे॥

चार प्रकार के अलंकार–वस्त्र, पुष्प, गंध तथा आभरण–से अलंकृत तथा सललित तरुणों को देखकर और उनकी मनोज्ञ वाणी, हास्य-विलासयुक्त गति तथा अनेक प्रकार की क्रीड़ाओं को देखकर मोहोदय होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२३०६.दट्ठुं विउव्वियाओ, कुलडा धुत्तेहिं संपरिवुडाओ।
बिब्बोय-पहसियाओ, आलिंगणमाइया मोहो॥

इसी प्रकार अलंकृत और धूर्तों से सपरिवृत कुलटाओं–वेश्याओं जो बिल्बोक और प्रहसितयुक्त हैं तथा उनके द्वारा किए जाने वाले आलिंगन आदि को देखकर मोह का उदय हो सकता है।

२३०७.तत्थ चउरंतमादी, इब्भविवाहेसु वित्थरा रइया।
भूसियसयणसमागम, रह-आसादीय निव्वहणा॥

वहां आपणगृह आदि में स्थित साध्वियां धनी व्यक्तियों के विवाह विस्तर में रचित चतुरंत अर्थात् चतुरिका तथा वंदन, कलश, तोरण आदि को देखकर, तथा वहां विवाह में सम्मिलित होने वाले वस्त्राभूषणों से अलंकृत होकर आने वाले स्वजनों को देखती हैं तथा वधू को रथ, अश्व, शिविका आदि से निर्वहण–श्वसुरगृह में ले जाते देखकर भुक्तभोगिनी साध्वियों के मोहोदय होता है और वे संयमपथ से च्युत हो जाती हैं।

२३०८.बलसमुदयेण महया, छत्तसिया वियणि-मंगलपुरोगा।
दीसंति रायमादी, तत्थ अतिंता य निंता य॥

वे साध्वियां सफेद छत्र धारण किए हुए राजा आदि को महान् सेना के साथ नगर में प्रवेश करते हुए या निर्गमन करते हुए देखती हैं। राजा के आगे-आगे चामर तथा दर्पण, पताका आदि को लेकर अन्य कर्मकर चलते हैं।

२३०९.ते नक्खि-वालि-मुहवासि-
जंघिणो दिस्स अद्धियाऽणट्ठी।
होसुं णे एरिसगा,
न य पत्ता एरिसा इतरी॥

अन्यान्य उन्नत और स्निग्ध नखवाले, श्यामल केशवाले, सुवासित मुखवाले, सुरूप जंघावाले, पुरुष जो मैथुनार्थी हैं या स्वाभाविकरूप से वहां आए हैं, उनको देखकर भुक्तभोगिनी साध्वियां सोचती हैं–हमारे पति भी ऐसे ही थे। कई सोचती हैं, हमें ऐसे पति प्राप्त नहीं हुए थे। ये दोष उत्पन्न होते हैं।

२३१०.एयारिसए मोत्तुं, एरिसयविवाहिता य सइ भुत्ते।
इयरीण कोउहल्लं, निदाण-गमणादयो सज्जं॥

पूर्वावस्था में भुक्तभोगिनी संयतियां सोचती हैं–इन सदृश पतियों को छोड़कर हमने दीक्षा ग्रहण की है, इनके सदृश तरुणों से हम भी विवाहिता थीं–इस प्रकार पूर्व की स्मृति होती हैं। अभुक्तभोगिनियों संयतियों के मन में कुतूहल होता है। उस अवस्था में दोनों के निदान हो सकता है अथवा पुनः गृहवास की ओर लौटना हो सकता है।

२३११.आयाणनिरुद्धाओ, अकम्मसुकुमालविग्गहधरीओ।
तेसिं पि होइ दट्ठुं, वइणीओ समुब्भवो मोहे॥

उन श्रमणियों की इन्द्रियां निरुद्ध होती हैं तथा क्रिया न करने के कारण सुकुमार शरीरवाली उन श्रमणियां को देखकर उन तरुणों के मन में भी मोह का उदय होता है।

२३१२.संजमविराहणा खलु,
इच्छाए अणिच्छयं व बहि गिण्हे।
तेणोवहिनिप्फन्ना,
सोही मूलाइ जा चरिमं॥

यदि तत्रस्थित श्रमणियां उन तरुणों की वांछा करती हैं तो संयम की विराधना होती है। यदि वांछा नहीं करती हैं तो श्रमणियों को बाहर खींच लाते हैं। एकांत में स्थित उन श्रमणियों की उपधि स्तेन चुरा लेते हैं। उससे प्रायश्चित्त निष्पन्न होता है। संयती का अपहरण हो जाने पर आचार्य को मूल आदि चरम प्रायश्चित्त आता है।

२३१३.ओभावणा कुलघरे, ठाणं वेसित्थि-खंडरक्खाणं।
उड्डंसणा पवयणे, चरित्तभासुंडणा सज्जो॥

वहां रहने वाली श्रमणियों के कुलगृह का तिरस्कार होता है। आपणगृह आदि वेश्यास्त्रियों का और आरक्षिकों का स्थान होता है। उससे प्रवचन की हीनता होती है तथा सद्य चारित्र से परिभ्रंशना होती है।

२३१४.ससिपाया वि ससंका, जासिं गायाणि सन्निसेविंसु।
कुलफुंसणीउ ता भे, दोन्नि वि पक्खे विधंसिंति॥

आपणगृहों में स्थित साध्वियों को देखकर कोई ज्ञातिजन उनके कुटुंबियों को जाकर कहता है–आपके पुत्रियों और पुत्र-वधूओं के कोमल शरीर को चन्द्रमा की किरणें सशंक होकर स्पर्श करती थीं, वे अभी आपणगृह में रह रही हैं। इस प्रकार के निवास से वे आपके कुल को कलंकित करने वाली तथा दोनों पक्षों को–पैतृक पक्ष और श्वसुर पक्ष का विध्वंस करने वाली हैं।

२३१५.छिन्नाइबाहिराणं, तं ठाणं जत्थ ता परिवसंति।
इय सोउं दट्ठूण व, सयं तु ता गेहमाणिंति॥

जहां वे रहती हैं वह छिन्नाल, वेश्या, खंडरक्ष आदि शिष्टव्यक्तियों से बाह्यभूत जनों के लिए है। यह सुनकर, देखकर ज्ञातिजन अपनी संबंधिनी साध्वी को घर ले आते हैं।

२३१६.पेच्छह गरहियवासा, वइणीउ तवोवणं किर सियाओ।
किं मन्ने एरिसओ, धम्मोऽयं सत्थगरिहा य॥
२३१७.साहूणं पि य गरिहा, तप्पक्खीणं च दुज्जणो हसइ।
अभिमुहपुणरावत्ती, वच्चंति कुलप्पसूयाओ॥

वहां स्थित साध्वियों को देखकर कोई कहता है–देखो!

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ये साध्वियां तपोवन में रहने वाली इस गर्हित स्थान में स्थित हैं। क्या यह मानें कि तीर्थंकर ने ऐसा धर्म कहा है? इस प्रकार वे शास्ता की गर्हा करते हैं।

साधुओं की भी गर्हा होती है। लोग कहते हैं–इन्होंने अपनी साध्वियों को यहां ठहराया है। साधु पक्ष वाले श्रावकों के समक्ष दुर्जन व्यक्ति उपहास करते हैं। यह देखकर प्रव्रज्याभिमुख साध्वियां भी संयम से निवर्तित हो जाती हैं। तथा कुलप्रसूत साध्वियां भी घर चली जाती हैं।

२३१८.तरुणादीए दट्ठुं, सइकरणसमुब्भवेहिं दोसेहिं।
पडिगमणादी व सिया, चरित्तभासुंडणा वा वि॥

तरुणों को देखकर स्मृतिकरण से उत्पन्न अनेक दोष होते हैं। उनके कारण से साध्वियां प्रतिगमन कर देती हैं, अथवा चारित्रभ्रंश की भी स्थिति बन जाती है।

२३१९.एए चेव य दोसा, सविसेसतरा हवंति सेसेसु।
रच्छामुहमादीसुं, थिरा-थिरेहिं थिरे अहिया॥

ये ही सारे दोष शेष रथ्यामुख, शृंगाटक, त्रिक-चतुष्क मार्ग के आवास में रहने से सविशेष होते हैं। तरुण दो प्रकार के होते हैं–स्थिर–वहीं के वास्तव्य और अस्थिर–अन्यत्र रहने वाले। स्थिर तरुणों से ही अधिक दोष होते हैं।

२३२०.अद्धाणनिग्गयादी, तिक्खुत्तो मग्गिऊण असईए।
रच्छामुहे चउक्के, आवण अंतो दुहिं बाहिं॥

जो मार्ग में प्रस्थित हैं, वे मुनि निर्दोष वसति की तीन बार गवेषणा करे, प्राप्त न होने पर साध्वियों को पहले रथ्यामुख वाले गृह में स्थापित करें। उसमें भी अंतर्मुखवाली रथ्या में, उसके न मिलने पर द्विधामुख वाले रथ्यागृह में और उसकी प्राप्ति न होने पर बहिर्मुखवाले रथ्यागृह में रखें। रथ्यामुखगृह की अप्राप्ति होने पर आपणगृह, उसके अभाव में शृंगाटक गृह या त्रिकगृह या चतुष्कगृह या चत्वर गृह में, उसके अभाव में अन्तरापण में साध्वियां ठहरें।

२३२१.अंतोमुहस्स असई, उभयमुहे तस्स बाहिरं पिहए।
तस्सऽसइ बाहिरमुहे, सइ ठइए थेरिया बाहिं॥

अंतर्मुख वाले रथ्यामुख के अभाव में उभयमुख वाले रथ्यागृह में रहे। उसका जो बहिर् द्वार है उसको ढक दे। उसके अभाव में बहिर्मुख वाले रथ्यागृह में रहे और वह द्वार सदा ढका रहे। स्थविर साध्वियां बाहर वाले द्वार के निकट बैठे।

२३२२.जत्थऽप्पयरा दोसा, जत्थ य जयणं तरंति काउं जे।
निच्चमवि जंतियाणं, जंतियवासो तहिं वुत्तो॥

जहां अल्पतर दोष होते हों और जहां यतना करना शक्य हो वहां नियंत्रित मुनियों का यंत्रितवास नित्य भी हो सकता है, ऐसा कहा है।

२३२३.बोलेण झायकरणं, ठाणं वत्थुं व पप्प भइयं तु।
वंदेण इंति निंति व, अविणीयनिहोडणा चेव॥

यतना क्या है? साथ में उच्चस्वर से स्वाध्याय करना चाहिए। स्थान या वस्तु को प्राप्त कर लेने पर स्वाध्याय की भजना है। संज्ञा व्युत्सर्जन करने जाना हो तो समूह में जाए और साथ आए। अविनीत अर्थात् दुःशील तरुणों को वहां प्रवेश न करने दें।

२३२४.एएसिं असईए, सुन्ने बहि रक्खियाउ वसहेहिं।
तेसऽसती गिहिनीसा, वइमाइसु भोइए नायं॥

इन आपणगृहों आदि के अभाव में वृषभों–समर्थ मुनियों द्वारा रक्षित शून्य उपाश्रय में साध्वियां रह सकती हैं। वृषभों के अभाव में गृहस्थों के निश्रा में वृत्ति आदि से सुगुप्त उपाश्रय में रहे और भोजिक–ग्रामस्वामी को वह बता दे।

कप्पइ निग्गंथाणं नो आवणगिहंसि वा रच्छामुहंसि वा सिंघाडगंसि वा तियंसि वा चउक्कंसि वा चच्चरंसि वा अंतरावणंसि वा वत्थए॥

(सूत्र १३)

२३२५.एसेव कमो नियमा, निग्गंथाणं पि नवरि चउलहुगा।
सुत्तनिवातो अंतोमुहम्मि तह चेव जयणाए॥

नियमतः यही क्रम मुनियों के लिए भी है। आपण गृह आदि में रहने पर ये दोष होते हैं। उनका प्रायश्चित्त है चतुर्लघु। यदि अन्य उपाश्रय न मिले तो रथ्यागृह में यतनापूर्वक रहा जा सकता है। यहां प्रकृतसूत्र का निपात है।[1] उस स्थान के अभाव में अन्य स्थानों में यतनापूर्वक रहा जा सकता है।

अवंगुयदुवार-उवस्सय-पदं

नो कप्पइ निग्गंथीणं अवंगुयदुवारिए उवस्सए वत्थए। एगं पत्थारं अंतो किच्चा एगं पत्थारं बाहिं किच्चा ओहाडिय-चिलिमिलियागंसि एवण्हं कप्पइ वत्थए॥

(सूत्र १४)

१. यह कारणिक सूत्र अपवाद सूत्र है। अन्य उपाश्रय न मिलने पर आपणगृह आदि में रहा जा सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२३२६.पडिसिद्धविवक्खेसुं, उवस्सएहिं उ संवसंतीणं।
बंभवयगुत्ति पगए, वारिंतऽन्नेसु वि अगुत्तिं॥

प्रतिषिद्ध आपणगृह आदि के प्रतिपक्ष उपाश्रयों में रहनेवाली साध्वियों के ब्रह्मचर्यगुप्ति की बात कही गई है। उन उपाश्रयों में भी अपावृतद्वारतारूप अगुप्ति का निषेध किया गया है।

२३२७.दारे अवंगुयम्मी, निग्गंथीणं न कप्पए वासो।
चउगुरु आयरियाई, तत्थ वि आणाइणो दोसा॥

उद्घाटित द्वारवाले उपाश्रय में साध्वियों को रहना नहीं कल्पता। यदि आचार्य प्रवर्तिनी को नहीं कहते हैं तो चतुर्गुरु, प्रवर्तिनी यदि साध्वियों को नहीं कहती हैं तो चतुर्गुरु आर्यिका यदि स्वीकार नहीं करती है तो मासलघु। न कहने और स्वीकार न करने पर आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं।

२३२८.दारे अवंगुयम्मी, भिक्खुणिमादीण संवसंतीणं।
गुरुगा दोहि विसिट्ठा, चउगुरुगादी व छेदंता॥

उद्घाटित द्वारवाले उपाश्रय में रहने वाली भिक्षुणी आदि साध्वियों के चतुर्गुरु आदि प्रायश्चित्त तप और काल से विशिष्ट प्रायश्चित्त आता है। और वह वृद्धिंगत होते होते छेद पर्यन्त चला जाता है। (देखें टीका)

२३२९.तरुणे वेसित्थीओ, विवाहमादीसु होइ सइकरणं।
इच्छमणिच्छे तरुणा, तेणा ताओ व उवहिं वा॥

आपणगृह आदि में ठहरी हुई साध्वियां तरुणों को, वेश्याओं को, विवाह को तथा राजा आदि को देखकर भुक्तभोगों की स्मृति कर सकती हैं। यदि वे तरुणों की इच्छा करती हैं तो संयमविराधना होती है और यदि इच्छा नहीं करती हैं तो तरुण उड्डाह करते हैं। स्तेन उनकी उपधि का अथवा साध्वियों का अपहरण कर लेते हैं।

२३३०.अन्ने वि होंति दोसा, सावय तेणे य मेहुणट्ठी य।
वइणीसु अगारीसु य, दोच्चं संछोभणादीया॥

अन्य दोष भी वहां उद्भूत होते हैं। अपावृत द्वार वाले उपाश्रय में श्वापद, चोर, मेथुनार्थी लोग प्रवेश कर सकते हैं। कोई व्रतिनी मोहोद्भव के कारण किसी गृहस्थ को चाह रही हो और वह गृहस्थ रात्री में दूती के रूप में किसी स्त्री को वहां खुले उपाश्रय में भेजता है। गृहिणियों के मध्य कोई गृहिणी संछोमण–परिवर्तन कर देती हैं। वह साध्वी का वेश पहन कर साध्वी के शयन पर सो जाती है और वह साध्वी उसके वस्त्र पहन कर जहां जाना हो चली जाती है। ये सारे दोष होते हैं।

२३३१.पत्थारो अंतो बहि, अंतो बंधाहिं चिलिमिलिं उवरिं।
पडिहारि दारमूले, मत्तग सुवणं च जयणाए॥

यदि अपवादरूप में वहां रहना पड़े तो यह विधि है–उपाश्रय के भीतर और बाहर दो प्रस्तार[1]–बांस की चटाई बांधनी चाहिए। भीतर वाले प्रस्तार के ऊपर एक चिलिमिली बांध कर उसे नियंत्रित करना चाहिए। फिर प्रतिहारी द्वार के पास बैठ जाती है। मात्रक–प्रस्रवण और स्वपन यतनापूर्वक करना चाहिए।

२३३२.असई य कवाडस्सा,बिदलकडादी अ दो कडा उभओ।
फरमुद्दियस्स सरिसो, बाहिरकडयम्मि बंधो उ॥

२३३३.सुत्ताइरज्जुबंधो, दुछिड्ड अब्भिंतरिल्लकडयम्मि।
हेट्ठा मज्झे उवरिं, तिन्नि व दो वा भवे बंधा॥

यदि उपाश्रय के कपाट न हों तो द्वार के दोनों ओर द्विदलकट–बांस की दो चटाईयां दोनों ओर बांधनी चाहिए। फिर स्फरक की मुष्टि (?) के सदृश बंध भीतर से बाहर के कट के बंध देना चाहिए। वह बंध सूत्रमय, वल्कलमय, ऊर्णामय या दवरकमय हो सकता है। अभ्यंतरकट में दो छिद्र करने चाहिए। वे नीचे और ऊपर समश्रेणी में हों और उनमें से दवरक को प्रविष्ट कर मजबूती से बांध देना चाहिए। ऐसे तीन या दो बंध बांधने चाहिए।

२३३४.काएण उवचिया खलु, पडिहारी संजईण गीयत्था।
परिणय भुत्त कुलीणा, अभीरु वायामियसरीरा॥

२३३५.आवासगं करित्ता, पडिहारी दंडहत्थ दारम्मि।
तिन्नि उ अप्पडिचरिउं, कालं घेत्तूण य पवेए॥

प्रतिहारी कैसी हो? आचार्य कहते हैं–वह शरीर से उपचित, गीतार्था, परिणत, भुक्तभोगिनी, कुलीन, अभीरु, व्यायामित–शरीरवाली अर्थात् कष्टों को सहन करने में समर्थ–साध्वियों के ऐसी प्रतिहारी होनी चाहिए। उसका कार्य है कि वह प्रतिक्रमण कर, हाथ में दंड लेकर मुख्यद्वार पर बैठ जाए। तीन साध्वियां अघोषित रूप से कालग्रहण कर प्रवर्तिनी को निवेदन करे। निवेदन करने के पश्चात् स्वाध्याय की प्रस्थापना की जाती है। तब सभी साध्वियां स्वाध्याय करती हैं।

२३३६.ओहाडियदाराओ, पोरिसि काऊण पढमए जामे।
पडिहारि अग्गदारे, गणिणी उ उवस्सयमुहम्मि॥

चिलिमिली से ढंके हुए द्वार में स्थित वे साध्वियां प्रथम प्रहर में सूत्रपौरुषी करती हैं, प्रतिहारी उस समय भी अग्र-द्वार पर बैठी रहती है। गणिनी–प्रवर्तिनी उपाश्रय के मूल द्वार पर स्थित होकर स्वाध्याय करती है।

२३३७.उभयविसुद्धा इयरी, पविसंतीओ पवत्तिणी छिवइ।
सीसे गंडे वच्छे, पुच्छइ नामं च का सि त्ति॥

१. प्रस्तारः–कटः, स च द्विदलकटादिः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जब उभयसंज्ञा से निवृत्त होकर अन्य साध्वियां वहां प्रवेश करती हैं, तब प्रवेश करते ही प्रवर्तिनी उनके शिर, कपोल और वक्षस्थान को छूती है और तुम्हारा नाम क्या है–यह पूछती है। (स्पर्श यह जानने के लिए करती है कि आगंतुक साध्वी है या नहीं?)

२३३८.किं तुज्झ इक्कियाए, धम्मो दारं न होइ इत्तो उ।
न य निद्दुरं पि भन्नइ, मा जियगद्दत्तणं हुज्जा॥

विलंब से आने पर प्रवर्तिनी कहती है–क्या तुम्हारे अकेली का ही यह धर्म है कि विलंब से आना? इधर द्वार नहीं होता (अर्थात् बिलंब से आने पर स्थान नहीं है। यह अन्यव्यपदेश से मधुर वचनों में कहे) वह निर्लज्ज न हो जाए इसलिए उसे निष्ठुर वचनों से न कहे।

२३३९.सव्वासु पविट्ठासुं, पडिहारि पविस्स बंधए दारं।
मज्झे य ठाइ गणिणी, सेसाओ चक्कवालेणं॥

सभी साध्वियों के प्रवेश कर लेने पर प्रतिहारी प्रवेश का द्वार को पूर्ववत् बांध देती है। गणिनी मध्य में आकर बैठ जाती है, अर्थात् बिछौना बिछाकर सो जाती है। और शेष साध्वियां चक्रवाल के रूप में प्रवर्तिनी के चारों ओर अपना अपना संस्तारक बिछाकर, एक दूसरे को संघट्टन न करती हुई सो जाती हैं।

२३४०.सइकरण कोउहल्ला,
फासे कलहो य तेण तं मुत्तुं।
किढि तरुणी किढि तरुणी,
अभिक्ख छिवणा य जयणाए॥

प्रश्न होता है कि एक दूसरे का संघट्टन क्यों नहीं? एक दूसरे का स्पर्श होने पर भुक्त-अभुक्त भोगों की स्मृति तथा कुतूहल पैदा होता है। परस्पर कलह हो सकता है। इसलिए उस स्पर्श–संघट्टन को टालने के लिए स्थविरा साध्वी पहले बिछौना करे, उसके पास तरुण साध्वी, फिर स्थविरा साध्वी, उसके पास तरुण साध्वी–इसी क्रम से शयनविधि करे। तरुण साध्वियों का बार-बार स्पर्श न हो, इस प्रकार यतनापूर्वक शयन करे। प्रतिहारी द्वारमूल पर बिछौना करे।

२३४१.तणुनिद्दा पडिहारी, गोविय घेत्तुं च सुवइ तं दारं।
जग्गंति वारएण व, नाउं आमोस-दुस्सीले॥

प्रतिहारी की निद्रा स्वल्प होती है। वह मूल को बांधकर उसके डोरे की ग्रंथि को गुप्त रख, डोरे को अपने हाथ में रखकर सोती है, जिससे कि अन्य साध्वियां उस द्वार को खोल न सके। वह चोर, दुःशील आदि व्यक्तियों से रक्षा के लिए समय-समय पर रात्री में जागती रहती है।

२३४२.कुडमुह डगलेसु व काउ मत्तगं इट्टगाइदुरुढाओ।
लाल सराव पलालं, व छोदु मोयं तु मा सद्दो॥

घटकंठक अथवा डगलक पर मात्रक को स्थापित कर, उस पर एक शराव रखे, उसके मध्य में छिद्र कर, उस छिद्र में वस्त्र की एक लंबी लीरी अथवा पलाल उसमें डाले जिससे कि प्रस्रवण करते समय उसका शब्द न हो। उसके दोनों पार्श्वों में ईंटें रखें और उस पर आरूढ़ होकर साध्वियां प्रस्रवण करें।

२३४३.सोऊण दोन्नि जामे, चरिमे उज्झेत्तु मोयमत्तं तु।
कालपडिलेह झातो, ओहाडियचिलिमिली तम्मि॥

दो प्रहरों तक सोकर, चरम याम में जाग कर मोक का विसर्जन कर, काल की प्रतिलेखना करे और यतनापूर्वक स्वाध्याय करे और केवल चिलिमिलि से द्वार को ढंका रखे, कटद्वय को हटाले।

२३४४.संकापदं तह भयं, दुविहा तेणा य मेहुणट्ठी य।
देह-धिइदुब्बलाओ, कालमओ ता न जग्गंति॥

यदि वे साध्वियां काल को ग्रहण कर प्रतिश्रय में आकर जागती रहती है तो लोगों को शंका होती है अथवा भय के कारण वे जागती है। दो प्रकार के स्तेन होते हैं। वे साध्वियों को अथवा उपधि की चोरी कर लेते हैं। अथवा मैथुनार्थी साध्वियों को उपसर्गित करते हैं। शरीर और धृति से दुर्बल होने के कारण वे काल-ग्रहण कर पुनः सो जाती हैं, जागृत नहीं रहतीं।

२३४५.कम्मेहिं मोहियाणं, अभिद्दवंताण को त्ति जा भणइ।
संकापदं व होज्जा, सागारिअ तेणए वा वि॥

मोह कर्म से मूढ व्यक्ति साध्वियों को शीलच्युत करने के लिए उपाश्रय में आता है। उस उपद्रुत करने वाले व्यक्ति को यदि साध्वी कहे–कौन?। ऐसा कहने पर उसे प्रायश्चित्त आता है। स्तेन और सागारिक को यह शंका हो सकती है।

२३४६.अन्नो वि नूणमभिपडइ इत्थ वीसत्थया तदट्ठीणं।
सागारि सेज्झगा वा, सइत्थिगाओ व संकेज्जा॥

आगन्तक स्तेन या मैथुनार्थी यह सोचता है–इस साध्वी ने 'कौन' यह पूछा है, इसका तात्पर्य है कि यहां निश्चित ही कोई अन्य भी आता है, अतः वे विश्वस्त हो जाते हैं, भयभीत नहीं होते। सागारिक–शय्यातर अथवा सेज्झग–पड़ौसी, अकेले अथवा सस्त्रीक, इनके मन में यह शंका होती है कि इन साध्वियों के कोई उद्भ्रामक व्यक्ति यहां आता है।

२३४७.तेणियरं व सगारो, गिण्हे मारेज्ज सो व सागरियं।
पडिसेह छोभ झामण, काहिंति पदोसतो जं च॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'कौन' यह सुनकर शय्यातर उठकर स्तेन या मैथुनार्थी को पकड़कर पीटेगा अथवा वह स्तेन या मैथुनार्थी उस शय्यातर को पकड़कर पीटेंगे। यह देखकर शय्यातर के ज्ञातिजन स्तेन के द्रव्य अथवा अन्य द्रव्य का व्यवच्छेद कर देंगे। अथवा वे स्तेन साध्वियों पर छोभ–झूठा आरोप लगायेंगे और प्रद्वेषवश शय्यातर का गृह या उस उपाश्रय में आग लगा देंगे। वे द्वेषवश और कुछ भी कर सकते हैं, अतः 'कौन है' ऐसा नहीं पूछना चाहिए।

२३४८.संकियमसंकियं वा, उभयट्ठिं नच्च बेंति अहिलिंतं।
छु त्ति हडि त्ति अणाहा!, नत्थि ते माया पिया वा वि॥

चोरी के लिए अथवा मैथुन के लिए अथवा दोनों के लिए प्रतिश्रय में आए हुए को, चाहे शंकित हो या अशंकित, छुपने की कोशिश करते हुए को कहे–'छुछु, हडि, अनाथ! क्या तेरे माता पिता नहीं है कि तू इस समय इस प्रकार गलियों में घूम रहा है–'

२३४९.भंजंतुवस्सयं णे, छिन्नाल जरग्गगा सगोरहगा।
नत्थि इहं तुह चारी, नस्ससु किं खाहिसि अहन्ना!॥

तुम्हारे जैसे छिन्नाल बूढ़े बैल, अथवा तरुण बैल हमारे उपाश्रय को तोड़ रहे हैं। तुम्हारे योग्य यहां चारि नहीं है। यहां से भाग जाओ। हे अधन्य! निर्भागी! तुम यहां क्या खाओगे।

२३५०.अद्धाण निग्गयादी, तिक्खुत्तो मग्गिऊण असईए।
दव्वस्स व असईए, ताओ व अपच्छिमा पिंडी॥

अध्वनिर्गत साध्वियां तीन बार उपयुक्त वसति की मार्गणा करे। न मिलने पर खुले द्वार वाले उपाश्रय में रहे। द्रव्य–कपाट के न होने पर, अन्य वस्तुओं से द्वार बंद कर दे। अंतिम यतना यह है कि वे सभी पिंडीभूत होकर परस्पर कर बांध कर बैठ जाएं।

२३५१.अन्नत्तो व कवाडं,कंटिय दंड चिलिमिलि बहिं किढिया।
पिंडीभवंति सभए, काऊणऽन्नोन्नकरबंधं॥

उपाश्रय में कपाट के अभाव में अन्यत्र से भी कपाट लाकर द्वार बंद कर दे। वह न मिलने पर बांस का कट, कंटकशाखा से बंद करे अथवा दंडे को तिरछा रख चिलिमिली बांध दे। बाहर के द्वार पर स्थविरा साध्वी बैठ जाए। उपसर्ग के समय सभी परस्पर करबंध कर एकत्रित होकर बैठ जाएं।

२३५२.अंतो हवंति तरुणी, सद्दं दंडेहि ते पतालिंति।
अह तत्थ होंति वसभा, वारिंति गिही व ते होउं॥

मध्य में तरुण साध्वियां हाथ में दंड लेकर बैठ जाएं और जोर-जोर से शब्द करें। कोई उपद्रवकारी आए तो उसे दंडों से प्रताडित करे। यदि पास में कोई वृषभ मुनि हों, और उन्हें ज्ञात हो जाए तो वे गृहस्थ वेश में आकर उन आगंतुक चोरों आदि को निवारित करें।

कप्पइ निग्गंथाणं अवंगुयदुवारिए उवस्सए वत्थए॥

(सूत्र १५)

२३५३.निग्गंथदारपिहणे, लहुओ मासो उ दोस आणादी।
अइगमणे निग्गमणे, संघट्टणमाइ पलिमंथो॥

साधु यदि उपाश्रय के द्वार को ढंकते हैं तो उन्हें लघुमास का प्रायश्चित्त आता है और आज्ञाभंग आदि दोष लगता है। वहां इस प्रकार की विराधना होती है–बाहर जाते या आते समय संघट्टन, परितापन आदि हो सकता है तथा सूत्रार्थ का व्याघात (कपाट खोलने-बंद करने में जो समय लगता है)–परिमंथ होता है।

२३५४.घरकोइलिया सप्पे, संचाराई य होंति हिट्ठुवरिं।
ढक्किंत वंगुरिंते, अभिघातो निंत-इंताणं॥

द्वार के नीचे या ऊपर छुछुंदरी, सर्प, संचारिम–कीटिका, कुन्थु, कसारी आदि जीव होते हैं। इसलिए आते-जाते द्वार को ढंकने या खोलने में उन जीवों का अभिघात विनाश होता है।

२३५५.सिय कारणे पिहिज्जा,
जिण जाणग गच्छि इच्छिमो नाउं।
आगाढकारणम्मि उ,
कप्पइ जयणाइ उ ठएउं॥

कारण में कदाचित् द्वार को बंद किया जा सकता है। जिनकल्पी मुनि कारण को जानते हैं, परंतु वे कपाट बंद नहीं करते। शिष्य ने पूछा–गच्छवासी हम मुनि इसकी विधि जानना चाहते हैं। आचार्य ने कहा–आगाढ़ कारण में यतनापूर्वक द्वार बंद करना कल्पता है।

२३५६.जाणंति जिणा कज्जं, पत्ते वि उ तं न ते निसेवंति।
थेरा वि उ जाणंती, अणागयं केइ पत्तं तु॥

जिन अर्थात् जिनकल्पिक मुनि द्वार बंद करने के कारणों के ज्ञाता होते हैं, फिर भी कारण प्राप्त होने पर भी वे द्वार बंद नहीं करते, क्योंकि उनकी यह चर्या निरपवाद होती है। स्थविरकल्पी कई मुनि अनागत कारणों को भी जानते हैं और कई कारण उपस्थित होने पर ही जान पाते हैं।

२३५७.अहवा जिणप्पमाणा, कारणसेवी अदोसवं होइ।
थेरा वि जाणग च्चिय, कारण जयणाए सेवंता॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथवा कारणवंश द्वारपिधानसेवी अदोषवान् होता है। क्योंकि इसमें तीर्थंकर ही प्रमाण है। जिनभगवान् का यह कथन है कि स्थविरकल्पिक भी ज्ञायक ही होते हैं। कारणवश यतनापूर्वक द्वारपिधान के वे ज्ञाता होते हैं।

२३५८.पडिणीय तेण सावय, उब्भामग गोण साणऽणप्पज्झे।
सीयं च दुरधियासं, दीहा पक्खी व सागरिए॥

उद्घाटित द्वार में प्रत्यनीक, स्तेन, श्वापद, उद्भ्रामक, बैल, कुत्ता आदि प्रवेश कर सकते हैं। अनात्मवश—क्षिप्तचित्त आदि व्यक्ति बाहर निकल जाते हैं। शीत को सहन करना कष्टप्रद हो जाता है। दीर्घ—सर्प, पक्षी तथा कोई सागारिक प्रवेश कर सकता है।

२३५९.एक्केक्कम्मि उ ठाणे, चउरो मासा हवंति उग्घाया।
आणाइणो य दोसा, विराहणा संजमा-ऽऽयाए॥

पूर्वोक्त एक-एक स्थान में चार उद्घात—लघु का प्रायश्चित्त आता है तथा आज्ञाभंग आदि दोष तथा संयम-विराधना और आत्मविराधना होती है।

२३६०.अहि-सावय-पच्चत्थिसु,
गुरुगा सेसेसु होंति चउलहुगा।
तेणे गुरुगा लहुगा,
आणाइ विराहणा दुविहा॥

सर्प, श्वापद, प्रत्यनीक के प्रवेश कर देने पर चतुर्गुरु और शेष के प्रवेश करने पर चतुर्लघु का प्रायश्चित्त आता है। स्तेन का प्रवेश करने पर—शरीरस्तेन का चतुर्गुरु और उपधि-स्तेन के चतुर्लघु का प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोष और दोनों प्रकार की विराधना—आत्मविराधना तथा संयमविराधना होती है।

२३६१.उक्कोगं हेट्ठुवरिं, काऊण ठवितऽवंगुरंते अ।
पेहा जत्थ न सुज्झइ, पमज्जिउं तत्थ सारिंति॥

कपाट के ऊपर, नीचे, उसको खोलते-ढंकते समय, उपयोगपूर्वक निरीक्षण करना चाहिए। जहां प्रेक्षा शुद्ध नहीं होती है वहां रजोहरण से प्रमार्जन कर कपाट खोलना-बंद करना चाहिए।

घडीमत्तय-पदं

कप्पइ निग्गंथीणं 'अंतोलित्तयं घडिमत्तयं' धारित्तए वा परिहरित्तए वा॥
(सूत्र १६)

२३६२.ओहाडियचिलिमिलिए,
दुक्खं बहुसो अइंति निंति वि य।
आरंभो घडिमत्ते,
निसिं व वुत्तं इमं तु दिवा॥

चिलिमिली से ढंके हुए द्वार से रात्री में मात्रक लेकर बाहर जाने-आने में साध्वियों को बहुत कष्ट होता है। इसलिए घटीमात्रकसूत्र का न्यास किया जाता है। अथवा रात में कायिकी मात्रक में की जाती है, यह सूत्र दिन में मात्रकविधि का दिग्दर्शन कराता है।

२३६३.घडिमत्तंतो लित्तं, निग्गंथीणं अगिण्हमाणीणं।
चउगुरुगाऽऽयरियादि, तत्थ वि आणाइणो दोसा॥

जो साध्वी लेप से लिप्त घटीमात्रक (घटी के संस्थान वाल मिट्टी का भाजन विशेष) को ग्रहण नहीं करती, उसे चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त आता है। यदि आचार्य आदि इस सूत्र का कथन नहीं करते हैं तो उन्हें प्रायश्चित्त आता है तथा आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं।

२३६४.अपरिस्साई मसिणो,
पगासवदणो स मिम्मओ लहुओ।
सुइ-सिय-दद्दरपिहणो,
चिट्ठइ अरहम्मि वसहीए॥

वह घटीमात्रक अपरिस्रावी, चिकना, चौड़े मुंह वाला, मृन्मय और हल्का होता है। वह पवित्र, श्वेत और वस्त्रमय पिधान वाला होता है। ऐसा मात्रक प्रकाशप्रदेशवाली वसति में रहता है।

नो कप्पइ निग्गंथाणं अंतोलित्तयं घडिमत्तयं धारित्तए वा परिहरित्तए वा॥
(सूत्र १७)

२३६५.साहू गिण्हइ लहुगा, आणाइ विराहणा अणुवहि त्ति।
बिइयं गिलाणकारण, साहूण वि सोअवादीसु॥

साधु घटीमात्रक को ग्रहण करता है तो चतुर्लघु का प्रायश्चित्त, आज्ञाभंग आदि दोष और दोनों प्रकार की विराधना (आत्मविराधना, संयमविराधना) होती है। यह साधु की उपधि[1] नहीं होती।

२३६६.दुविहपमाणतिरेगे, सुत्तादेसेण तेण लहुगा उ।
मज्झिमगं पुण उवहिं, पडुच्च मासो भवे लहुओ॥

प्रमाण दो प्रकार का है—गणना और प्रमाण। अतिरिक्त

१. उपकरण की परिभाषा—जं जुज्जइ उवयारे, उवगरणं तं सि होइ उवगरणं। अइरेगं अहिगरणं। (ओघ. नि. ७३१)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मध्यम उपधि में सूत्रादेश से चतुर्लघु प्रायश्चित्त है। क्योंकि मध्यमउपधि है घटीमात्रक। इसलिए यहां लघुमास का प्रायश्चित्त विहित है।

२३६७.धारणया उ अभोगो, परिहरणा तस्स होइ परिभोगो।
दुविहेण वि सो कप्पइ, परिहारेणं तु परिभोत्तुं॥

परिहरणा के दो प्रकार हैं—धारणा और परिहरणा। धारणा का अर्थ है—अभोग, अपनी निश्रा में उसे स्थापित किए रखना, उपभोग नहीं करना और परिहरणा का अर्थ है उसका उपभोग करना। इस प्रकार साध्वियों को दोनों परिहार से घटीमात्रक रखना कल्पता है।

२३६८.उड्डाहो वोसिरणे, गिलाणआरोवणा य धरणम्मि।
बिइयपयं असईए, भिन्नोऽवह अद्धलित्तो वा॥

साध्वियां यदि घटीमात्रक नहीं रखती हैं तो उन्हें कायिकी का व्युत्सर्ग बाहर करना पड़ता है। उससे प्रवचन का उड्डाह होता है। वेग को धारण करने से ग्लान की आरोपणा होती है। अपवाद में यदि घटीमात्रक न हो अथवा वह टूट गया हो, अर्द्धलिप्त हो, काम में लेने योग्य न हो तो बाहर यतनापूर्वक कायिकी का व्युत्सर्जन करे।

२३६९.लाउय असइ सिणेहो, ठाइ तहिं पुव्वभाविय कडाहो।
सेहे व सोयवायी, धरंति देसिं व ते पप्प॥

अलाबुपात्र का अभाव होने पर 'स्निग्ध' अर्थात् पूर्वभावित कटाहक या घटीमात्रक ग्रहण करे, जिसमें घृत भी ठहर सके, परिस्रावित न हो। कोई शैक्ष शौचवादी हो वह शौचार्थ घटीमात्रक को ले जाता है। अथवा देश विशेष (गोल्ल देश) में घटीमात्रक को धारण करते हैं।

२३७०.गहणं तु अहागडए, तस्सऽसई होइ अप्पपरिकम्मे।
तस्सऽसइ कुंडिगादी, घेत्तुं नाला विउज्जंति॥

सबसे पहले यथाकृत घटीमात्रक ले। उसके अभाव में अल्पकर्मिक, उसके अभाव में कुंडिका—कमंडलु आदि ग्रहण कर उसकी नालिका को निकाल दे, उससे वियुक्त कर दे।

चिलिमिलिया-पदं

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा चेलचिलिमिलियं धारित्तए वा परिहरित्तए वा॥

(सूत्र १८)

२३७१.सागारिपच्चयट्ठा, जह घडिमत्तो तहा चिलिमिली वि।
रत्तिं व हेट्ठऽणंतर, इमा उ जयणा उभयकाले॥

सागारिक—गृहस्थ के विश्वास के लिए जैसे घटीमात्रक का ग्रहण है वैसे ही चिलिमिलिका का भी ग्रहण जानना चाहिए। पहले सूत्र में रात्री में चिलिमिलिका की यतना के विषय में कहा गया था, प्रस्तुत सूत्र में उभयकाल—रात और दिन—में यतना का निर्देश है।

२३७२.धारणया उ अभोगो, परिहरणा तस्स होइ परिभोगो।
चेलं तु पहाणयरं, तो गहणं तस्स नऽन्नासिं॥

धारणा का अर्थ है—अभोग अर्थात् उपभोग न करना और परिहरणा का अर्थ है—उपभोग करना। वस्त्र कई दृष्टियों से प्रधानतर द्रव्य है। इसलिए सूत्र में उसीका ग्रहण किया गया है, अन्य द्रव्यों का नहीं।

२३७३.भेदो य परूवणया, दुविहपमाणं च चिलिमिलीणं तु।
उवभोगो उ दुपक्खे, अगहणऽधरणे य लहु दोसा॥

चिलिमिलिका के ये द्वार हैं—भेद, प्ररूपणा, दो प्रकार के प्रमाण, दोनों पक्ष (साधु-साध्वी) में उसका उपभोग, अग्रहण, अधारण से लघु प्रायश्चित्त और आज्ञाभंग आदि दोष। (विस्तार आगे की गाथाओं में।)

२३७४.सुत्तमई रज्जुमई, वागमई दंड-कडगमयई य।
पंचविह चिलिमिली पुण, उवग्गहकरी भवे गच्छे॥

गच्छ में पांच प्रकार की चिलिमिली उपग्रहकारी होती है। वे पांच प्रकार हैं—सूत्रमयी, रज्जुमयी, वल्कमयी, दंडकमयी और कटकमयी। ये चिलिमिली के भेद हैं।

उनकी प्ररूपणा इस प्रकार है—

(१) सूत से बनी हुई—सूत्रमयी (वस्त्रमयी या कंबलमयी।)
(२) रज्जु से बनी हुई—रज्जुमयी (ऊन आदि से निष्पन्न)।
(३) वल्क से बनी हुई—वल्कमयी (शण से निष्पन्न)।
(४) दंडक से बनी हुई—दंडमयी (बांस, बेत्र आदि की यष्टि से निष्पन्न)।
(५) कट से बनी हुई—कटमयी (बांस आदि से निष्पन्न)।

२३७५.हत्थपणगं तु दीहा, तिहत्थ रुंदोत्तिया असइ खोमा।
एत प्पमाण गणणेक्कमेक्क गच्छं व जा वेढे॥

सूत्रमयी चिलिमिलिका पांच हाथ लंबी और तीन हाथ चौड़ी[1] हो। उसके अभाव में क्षौमिकी चिलिमिलिका ले। वल्कमयी चिलिमिलिका का भी यही प्रमाण है। गणनाप्रमाण के आधार पर एक-एक साधु के लिए एक-एक चिलिमिलिका अथवा जितनी गच्छ को वेष्टित करती हैं, उतनी ले।

१. रुन्दा—विस्तीर्णा। (वृ. पृ. ६७३)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२३७६.असतोण्णि खोमिरज्जू, एक्कपमाणेण जा उ वेढेइ।
कडहूवागादीहिं, पोत्तऽसइ भए व वागमई॥

रज्जु चिलिमिलिका पहले और्णिक दवरक वाली ले। उसके अभाव में क्षौमिकदवरक वाली ग्रहण करे। प्रत्येक के लिए एक-एक। वही पांच हाथ लंबी और तीन हाथ चौड़ी। 'कडहू' वृक्ष आदि के वल्क से बनी हुई चिलिमिलिका ग्रहण करे। वस्त्र की चिलिमिली न होने पर स्तेन आदि का भय होने पर वह वल्कमयी चिलिमिलिका ली जा सकती है।

२३७७.देहऽहिओ गणणेक्को, दुवारगुत्ती भये व दंडमई।
संचारिमा य चउरो, भय माणे कडमसंचारी॥

शरीर के प्रमाण से चार अंगुल वाला दंडक, प्रत्येक साधु को, एक-एक कल्पता है। भय की स्थिति में उन दंडकों से द्वार का स्थगन किया जाता है। यह दंडमयी चिलिमिलिका है। पूर्वोक्त चारों प्रकार की चिलिमिलिकाएं संचारिम होती हैं, एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में ले जाई जा सकती हैं। कटकमयी चिलिमिलिका असंचारिम होती है। इसका प्रमाण नहीं होता। जितनी चिलिमिलिकाओं का प्रयोजन हो उतनी ली जा सकती हैं।

२३७८.सागारिय सज्झाए, पाणदय गिलाण सावयभए वा।
अद्धाण-मरण-वासासु चेव सा कप्पए गच्छे॥

गृहस्थ के देखते स्वाध्याय करते समय, प्राणदया, ग्लान के लिए, श्वापद का भय होने पर, मार्ग में, मरण के समय तथा वर्षा में गच्छवासी साधुओं को चिलिमिलिका का परिभोग कल्पता है।

२३७९.पडिलेहोभयमंडलि, इत्थी-सागारियट्ठ सागरिए।
घाणा-ऽऽलोग ज्झाए, मच्छिय-डोलाइपाणेसु॥

प्रत्युपेक्षण करते समय, भोजनमंडली और स्वाध्याय-मंडली के समय, स्त्रियों से प्रतिबद्ध वसति में, सागारिक द्वार से संबंधित विषय में तथा स्वाध्याय के समय जहां दुर्गंध आती हो, जहां से रक्त, चर्बी आदि दिखती हो, जहां अनेक लोगों का दृष्टिपात होता हो, मक्षिका–डोला–तिड्डी आदि प्राणियों की बहुलता हो तो चिलिमिलिका का उपयोग किया जा सकता है।

२३८०.उभओसहकज्जे वा, देसी वीसत्थमाइ गेलन्ने।
अद्धाणे छन्नासइ, भओवही सावए तेणे॥

दोनों संज्ञाओं के व्युत्सर्जन के समय, औषधी लेते समय, जिस देश में शाकिनी का उपद्रव हो वहां–इन में ग्लान को चिलिमिलिका से आच्छन्न रखना चाहिए जिससे कि वह विश्वस्त रह सके।

२३८१.छन्न-वहणट्ठ मरणे, वासे उज्झक्खणी य कडओ य।
उल्लुवहि विरल्लिंति व, अंतो बहि कसिण इतरं वा॥

मृत्यु हो जाने पर जब तक शव का परिष्ठापन नहीं किया जाता तब तक उसको चिलिमिलिका से ढंक कर रखना चाहिए तथा दंडक और चिलिमिलिका से मृतक को उठाकर वहन करना चाहिए। वर्षा बरस रही हो, पवन से प्रेरित जलकणिकाएं आ रही हों तो कटक चिलिमिलीका काम में लेनी चाहिए। वर्षा में भीगे वस्त्रों को सुखाने के लिए रज्जु चिलिमिलिका का उपयोग करना चाहिए। उसमें भी कृत्स्न–बहुमूल्य उपधि को मध्य में और दूसरी उपधि को बाहर सुखानी चाहिए। (इन पांच प्रकार की चिलिमिलिकाओं का ग्रहण न करने तथा उपभोग न करने पर चतुर्लघुमास का प्रायश्चित्त तथा संयम और आत्मविराधना से निष्पन्न प्रायश्चित्त भी आता है।)

२३८२.बंभव्वयस्स गुत्ती, दुहत्थसंघाडिए सुहं भोगो।
वीसत्थचिट्ठणादी, दुरहिगमा दुविह रक्खा य॥

उपाश्रय में निवास करने वाली साध्वियां सदा चिलिमिलिका का उपयोग करती हैं। इससे ब्रह्मचर्य की गुप्ति तथा हाथ विस्तार वाली संघाटी में सुखपूर्वक रहा जा सकता है। वे विश्वस्त होकर बैठ-सो सकती हैं। दुःशील व्यक्तियों के लिए वे दुरधिगम्य होती हैं तथा आत्मरक्षा और संयमरक्षा भी सुखपूर्वक होती है।

दगतीर-पदं

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा दगतीरंसि चिट्ठित्तए वा निसीइत्तए वा तुयट्टित्तए वा निद्दाइत्तए वा पयलाइत्तए वा, असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहारेत्तए, उच्चारं वा पासवणं वा खेलं वा सिंघाणं वा परिट्ठवित्तए, सज्झायं वा करेत्तए 'धम्मजागरियं वा जागरित्तए' काउस्सग्गं वा ठाणं ठाइत्तए॥

(सूत्र १९)

२३८३.मा मं कोई दच्छिइ, दच्छं व अहं ति चिलिमिली तेणं।
दगतीरे वि न चिट्ठइ, तदालया मा हु संकेज्जा॥

मुझे कोई गृहस्थ न देखे और मैं भी किसी गृहस्थ का न देखूं, इसलिए चिलिमिलिका का उपयोग किया जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसलिए नदी आदि के तट पर भी नहीं रहना चाहिए ताकि दकतीर के आश्रय में रहने वाले प्राणी शंकित न हों।

२३८४.दगतीर चिट्ठणादी, जूयग आयावणा य बोधव्वा।
लहुओ लहुया लहुया, तत्थ वि आणाइणो दोसा॥

दकतीर पर बैठने, सोने आदि करने पर प्रत्येक में लघुमास, यूपक में रहने पर चतुर्लघु तथा आतापना लेने पर चतुर्लघु प्रायश्चित्त का विधान है और आज्ञाभंग आदि दोष भी होते हैं।

२३८५.नयणे पूरे दिट्ठे, तडि सिंचण वीइमेव पुट्ठे य।
अच्छंते आरण्णा, गाम पसु-मणुस्स-इत्थीओ॥

दकतीर विषयक अनेक परिभाषाएं हैं–(१) जहां से पानी ले जाया जाता है वह (२) जितना स्थान नदी के प्रवाह से आप्लावित होता है वह (३) जहां स्थित व्यक्ति पानी को देख सकता है वह (४) नदी का तट वह (५) जहां स्थित रहकर पानी सींचा जाता है वह (६) जितने भूभाग का लहरें स्पर्श करती हैं वह (७) जितना भूभाग जल से स्पष्ट होता है वह। आचार्य कहते हैं–ये सारी दकतीर की परिभाषाएं नहीं हैं। अरण्यक पशु, ग्रामीण व्यक्ति, गांव के पशु-मनुष्य अथवा स्त्रियां पानी के लिए आती हैं और साधु को वहां बैठे देखकर ठहरती हैं या चली जाती हैं, वह दकतीर है।

२३८६.सिंचण-वीई-पुट्ठा, दगतीरं होइ न पुण तम्मत्तं।
ओतरिउत्तरिउमणा, जहि दट्ठु तसंति तं तीरं॥

पूर्वोक्त सात आदेशों में से अंतिम तीन–सिंचन, तरंगस्पृष्ट भूभाग तथा जल से स्पृष्ट भूभाग–भी दकतीर की परिभाषाएं नहीं हैं किन्तु जहां मनुष्य और पशु पानी पीने के लिए उतरते हैं और पानी पीकर बाहर निकल जाते हैं तथा वहां साधु को स्थित देखकर भयभीत होते हैं, वह दकतीर है।

२३८७.अहिगरणमंतराए, छेदण ऊसास अणहियासे अ।
आहणण सिंच जलचर-खह-थलपाणाण वित्तासो॥

दकतीर पर साधु को बैठे देखकर अधिकरण, अंतराय, छेदन, उच्छ्वास, अनधिसह, आहनन, सिंचन, जलचर-खेचर तथा स्थलचर प्राणियों को विभास होता है (विस्तार आगे की गाथाओं में)।

२३८८.दट्ठूण वा नियत्तण, अभिहणणं वा वि अन्नतूहेणं।
गामा-ऽऽरन्नपसूणं, जा जहि आरोवणा भणिया॥

साधु को दकतीर पर बैठा देखकर वहां पानी के लिए आने वाले प्राणी लौट जाते हैं। उनका परस्पर अभिहनन होता है। अन्य घाट पर वे पानी पीने उतरते हैं। आरण्यक पशुओं तथा ग्रामीण पशुओं का निवर्तन होने पर छह कायों का मर्दन हो सकता है। वहां आरोपणा प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२३८९.पडिपहनियत्तमाणम्मि अंतरायं च तिमरणे चरिमं।
सिग्घगइतन्निमित्तं, अभिघातो काय-आयाए॥

साधु को वहां देखकर पशु प्रतिपथ से निवर्तित होते हैं तब प्यासे प्राणियों के अंतराय होती है और यदि कोई प्यास से मर जाता है तो क्रमशः चरम प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। साधु से भयत्रस्त होकर वे शीघ्र गति से पलायन करते हुए परस्पर अभिघात करते हैं, छह काय की विराधना होती है तथा वे पशु साधु का भी घात कर सकते हैं। (वृत्तिकार ने एक, दो, तीन आदि पशुओं के मरने पर प्रायश्चित्त की क्रमशः वृद्धि का संकेत दिया है।)

२३९०.अतड-पवातो सो चेव य मग्गो अपरिभुत्त हरियादी।
ओवग कूडे मगरा, जइ घुंटे तसे य दुहतो वि॥

यदि पशु अतट अर्थात् अतीर्थ से पानी पीने उतरते हैं या किसी अन्य स्थान पर कूदते हैं या वही अभिनव मार्ग है जिसका उपयोग नहीं किया गया है, उससे जाते हुए हरियाली का छेदन होता है, अथवा अतीर्थ से प्रवेश करने पर वे गढ़े में गिर सकते हैं अथवा किसी शिकारी के द्वारा स्थापित कूट में वे फंस सकते हैं अथवा वहां कोई मगरमच्छ आदि हो तो उनको खा सकता है अथवा अन्य त्रस प्राणी रहित तीर्थ में उतरकर वे पशु जितनी घूंट पानी पीते हैं, उतने चतुर्लघु प्रायश्चित्त अथवा जहां पानी भी सचित्त है और उसमें त्रसकाय भी है, उस पानी की जितनी घूंट पीते हैं, उतने ही प्रमाण में प्रायश्चित्त की वृद्धि होती जाती है।

२३९१.गामेय कुच्छियाऽकुच्छिया य एक्केक्क दुट्ठऽदुट्ठा य।
दुट्ठा जह आरण्णा, दुगुंछियऽदुगुंछिया नेया॥

ग्रामीण पशु दो प्रकार के होते हैं–कुत्सित–गर्दभ आदि और अकुत्सित–गाय आदि। प्रत्येक के दो प्रकार और हैं–दुष्ट और अदुष्ट। अरण्यक पशु भी दुष्ट-अदुष्ट, जुगुप्सित-अजुगुप्सित होते हैं।

२३९२.भुत्तियरदोस कुच्छिय, पडिणीय च्छोभ गिण्हणादीया।
आरण्णमणुय-थीसु वि, ते चेव नियत्तणाईया॥

जिस साधु ने गृहस्थ अवस्था में जुगुप्सित तिर्यक् स्त्री का सेवन किया था, उसको वहां आई देखकर स्मृति हो सकती है, कोई अन्य साधु हो तो उसके मन में कुतूहल हो सकता है। इस प्रकार भुक्त-अभुक्त दोष होते हैं। प्रत्यनीक तिर्यक् स्त्री को क्षोभ हो सकता है। उसमें ग्रहण-आकर्षण आदि दोष होते हैं। आरण्यक मनुष्यों और स्त्रियों में निवर्तन, अंतराय आदि दोष होते हैं।

२३९३.पायं अवाउडाओ, सबराईओ तहेव नित्थक्का।
आरियपुरिस कुतूहल, आउभयपुलिंद आसुवहो॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आरण्यक शबरी (भील स्त्री) आदि स्त्रियां प्रायः वस्त्रविरहित और निर्लज्ज होती हैं। साधु को वहां देखकर 'यह आर्य पुरुष है' ऐसा सोचकर कुतूहल से पास आती हैं। उनको देखकर साधु के संयमविराधना और आत्मविराधना—दोनों दोष होते हैं। साधु और शबरी को पास में देखकर पुलिन्द क्रोधवश दोनों का वध कर सकता है।

२३९४.थी-पुरिसअणायारे, खोभो सागारियं ति वा पहणे।
गामित्थी-पुरिसेहि वि, ते च्चिय दोसा इमे अन्ने॥

अथवा पुलिन्द पुलन्द्रि के साथ अनाचार सेवन करता है, यह देखकर उसका मन क्षुब्ध हो जाता है। अथवा पुलिन्द साधु को सागारिक मानकर उसका वध कर सकता है। ये दोष ग्रामीण तथा आरण्यक स्त्री-पुरुषों से संबंधित दोष हैं। ये अन्य दोष भी होते हैं।

२३९५.चंकमणं निल्लेवण, चिट्ठित्ता तम्मि चेव तूहम्मि।
अच्छंते संकापद, मज्जण दट्ठुं सतीकरणं॥

कोई गृहस्थ वहां दकतीर पर चंक्रमण या स्नान करने का इच्छुक हो और वहां साधु को देखकर वह अन्यत्र जाता है या साधु के पास बैठकर गोष्ठी करता है या वहीं साधु के समीप ही घाट में उतरकर स्नान आदि करता है। वह जब साधु के पास बैठता तब गृहस्थ को शंका होती है। गृहस्थ के स्नान को देखकर साधु की भी स्मृति उभर आती है।

२३९६.अन्नत्थ व चंकमती, आयमणऽण्णत्थ वा वि वोसिरइ।
कोनाली चंकमणे, परकूलाओ वि तत्थेइ॥

चंक्रमण के लिए आया हुआ कोई गृहस्थ साधु को वहां बैठा देखकर अन्यत्र चला जाता है। स्नान करने का इच्छुक व्यक्ति, व्युत्सर्जन करने का इच्छुक व्यक्ति अन्यत्र जाकर ये क्रियाएं करता है। कोई साधु के साथ गोष्ठी करने के लिए परकूल से भी वहां आता है। इसमें जीवों की विराधना होती है।

२३९७.दग मेहुणसंकाए, लहुगा, गुरुगा उ मूल निस्संके।
दगतूर कोंचवीरग, पघंस केसादलंकारे॥

दकतीर पर साधु को देखकर गृहस्थ को यह शंका हो सकती है—यह मैथुनार्थी किसी की प्रतीक्षा कर रहा है अथवा स्नान करने या पानी पीने का इच्छुक है। उदक पान की शंका होने पर चतुर्लघु, निःशंकित होने पर चतुर्गुरु और मैथुन की शंका में चतुर्गुरु और निःशंकित होने पर मूल का प्रायश्चित्त है। कोई गृहस्थ मज्जन करते समय पानी में दगतूर—मुख में पानी भरकर तूर्य का-सा शब्द करता है अथवा क्रोंचवीरक[1]—जलयान विशेष से पानी में घूमता है, स्नान कर कोई सुगंधित द्रव्य लगाता है, केशों को संवारता है, अन्य अलंकार आदि धारण करता है—यह देखकर साधु के मन में पूर्वस्मृति उभर आती है।

२३९८.मज्जणवहणट्ठाणेसु अच्छते इत्थिणं ति गहणादी।
एमेव कुच्छितेतर, इत्थि सविसेस मिहुणेसु॥

सामान्यतः स्त्रियों के स्नान करने के अथवा जल ले जाने के स्थान में साधु को बैठा देखकर, स्त्री के ज्ञातिजन उस पर शंका कर उसका ग्रहण-आकर्षण आदि कर सकते हैं। अथवा जो स्त्रियां कुत्सित अथवा अकुत्सित जाति की हैं, उनसे दोष उत्पन्न हो सकते हैं। दंपतियों को वहां क्रीडारत देखकर विशेष दोषों का उद्भव होता है।

२३९९.चिट्ठण निसीयणे या, तुयट्ट निद्दा य पयल सज्झाए।
झाणाऽऽहार वियारे, काउस्सग्गे य मासलहू॥

दकतीर पर ये दस प्रवृत्तियां करने पर प्रत्येक के लिए लघुमास का प्रायश्चित्त है—(१) खड़े रहना (२) बैठना (३) विश्राम करना (४) निद्रा लेना (५) प्रचला नींद लेना (६) स्वाध्याय करना (७) ध्यान करना (८) आहार करना (९) उत्सर्ग करना तथा (१०) कायोत्सर्ग करना।

२४००.सुहपडिबोहो निद्दा, दुहपडिबोहो उ निद्दनिद्दा य।
पयला होइ ठियस्सा, पयलापयला य चंकमओ॥

जिससे सुखपूर्वक जागरण होता है वह है नींद, जो महान् प्रयत्न करने पर टूटती है वह है निद्रानिद्रा, जो बैठे या खड़े-खड़े नींद आती है वह है प्रचला और जो चलते हुए नींद आती है वह है प्रचला-प्रचला।

२४०१.संपाइमे असंपाइमे व
दिट्ठे तहेव अदिट्ठे।
पणगं लहु गुरु लहुगा,
गुरुग अहालंद पोरुसी अहिया॥

दकतीर के दो प्रकार हैं—संपातिम और असंपातिम। दृष्ट या अदृष्टरूप में वहां साधु यथालंद[2] अर्थात् पौरुषी तक अथवा अधिक बैठता है तो पंचक (पांच दिन-रात), लघु, गुरुमास, चतुर्लघु, चतुर्गुरु मास का प्रायश्चित्त आता है।

२४०२.जलजा उ असंपाती, संपातिम सेसगा उ पंचिंदी।
अहवा मुत्तु विहंगे, होंति असंपातिमा सेसा॥

जो जलज प्राणियों से युक्त हो वह असंपातिम दकतीर

---

१. क्रोंचवीरको नाम पेटासदृशो जलयानविशेषः। (वृ. पृ. ६८१)

२. यथालंद के तीन प्रकार हैं—(१) जघन्य यथालंद—एक युवती का गीला हाथ जितने समय में सूखे वह काल (२) उत्कृष्ट यथालंद—पूर्व कोटिप्रमाण (३) मध्यम यथालंद—इनके बीच का काल। (वृ. पृ. ६८२)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है। शेष अर्थात् पंचेन्द्रिय स्थलचर, खेचर प्राणियों से युक्त दकतीर संपातिम होता है। अथवा पक्षी जहां आकर रहते हैं वह है संपातिम, उनको छोड़कर स्थलचर, जलचर आदि शेष प्राणियों से युक्त दकतीर असंपातिम है।

२४०३.असंपाइ अहालंदे,
अद्दिट्ठे पंच दिट्ठि मासो उ।
पोरिसि अदिट्ठि दिट्ठे,
लहु गुरु अहि गुरुओ लहुआ उ॥

असंपातिम दकतीर पर जघन्य यथालंद तक अदृष्टरूप में रहता है उसका प्रायश्चित्त है पांच दिन-रात और दृष्टरूप में रहता है, उसका प्रायश्चित्त है लघुमास। वहां पौरुषी काल तक अदृष्ट रहता है तो लघुमास, दृष्ट रहता है तो गुरुमास, पौरुषी से अधिक अदृष्ट रहता है तो मासगुरु और दृष्ट रहता है तो चतुर्लघु।

२४०४.संपाइमे वि एवं, मासादी नवरि ठाइ चउगुरुए।
भिक्खू-वसभाऽऽयरिए, तव-कालविसेसिया अहवा॥

संपातिम दकतीर में भी यही प्रायश्चित्त है। वह प्रायश्चित्त लघुमास से प्रारंभ होकर चतुर्गुरु पर्यन्त जाता है। अथवा ये प्रायश्चित्त भिक्षु, वृषभ तथा आचार्य के तप और काल से विशेष हो जाते हैं।

२४०५.अहवा भिक्खुस्सेयं वसभे लहुगाइ ठाइ छल्लहुए।
अभिसेगे गुरुगादी, छग्गुरु लहु छेदो आयरिए॥

अथवा यह प्रायश्चित्त भिक्षु का जानना चाहिए। वृषभ का मासलघु से प्रारंभ होकर षड्लघुक पर्यन्त, अभिषेक अर्थात् उपाध्याय का मासगुरु से षड्लघुक पर्यन्त, आचार्य का चतुर्गुरु से छेद पर्यन्त होता है।

२४०६.अहवा पंचण्हं संजईण समणाण चेव पंचण्हं।
पणगादी आरद्धं, णेयव्वं जाव चरिमपदं॥

अथवा पांचों प्रकार की साध्वियों तथा पांचों प्रकार के श्रमणों का पांच दिन-रात से प्रारब्ध प्रायश्चित्त चरमपद अर्थात् पारांचिक पर्यन्त जानना चाहिए।

२४०७.संजइ संजय जह संपऽसंप अहलंद पोरिसी अहिया।
चिट्ठाई अद्दिट्ठे, दिट्ठे पणगाइ जा चरिमं॥

साध्वियां–क्षुल्लिका, स्थविरा, भिक्षुणी, अभिषेका और प्रवर्तिनी–ये पांच तथा साधु-क्षुल्लक, स्थविर, भिक्षुक, उपाध्याय और आचार्य–ये पांच संपातिम और असंपातिम दकतीर, यथालंदकाल, पौरुषी काल तथा पौरुषी से अधिक काल, ठहरना आदि दस पद, दृष्ट-अदृष्ट इनमें पांच दिन-रात से प्रारब्ध प्रायश्चित्त चरम प्रायश्चित्त पर्यन्त ले जाना चाहिए।

२४०८.पण दस पनरस वीसा, पणवीसा मास चउर छ च्चेव।
लहु गुरुगा सव्वेते, छेदो मूलं दुगं चेव॥

पांच दिन-रात, दस-पन्द्रह-बीस-पचीस दिन-रात, मास, चार मास, छह मास–ये सब लघु और गुरु–दोनों होते हैं। छेद, मूल, तथा दो–अनवस्थाप्य और पारांचिक–ये बीस प्रायश्चित्त स्थान हैं।

२४०९.पणगाइ असंपाइम, संपाइमऽदिट्ठमेव दिट्ठे य।
चउगुरुए ठाइ खुड्डी, सेसाणं वुड्ढि एक्केक्कं॥

इन सभी प्रायश्चित्तों की चारणिका, पंचविध साध्वियों के संदर्भ में वृत्तिकार ने दी है।

पांच दिन-रात आदि। असंपातिम, संपातिम दकतीर, दृष्ट-अदृष्ट रूप में, ठहरना आदि, क्षुल्लिका साध्वी का प्रायश्चित्त वर्णन है। शेष साध्वियों के एक-एक स्थान की प्रारंभ में वृद्धि और अधस्तन में एक-एक स्थान की हानि होती है। जैसे स्थविरा साध्वी के गुरु पंचक से प्रारंभ कर षड्लघुक पर्यन्त आदि।

२४१०.छल्लहुए ठाइ थेरी,
भिक्खुणि छग्गुरुए छेद गणिणी उ।
मूले पवत्तिणी पुण,
जह भिक्खुणि खुड्डए एवं॥

स्थविरा साध्वी के षड्लघु पर्यन्त, भिक्षुणी के षड्गुरु पर्यन्त और गणिनी के छेद पर्यन्त और प्रवर्तिनी के मूल पर्यन्त प्रायश्चित्त आता है। भिक्षुणी की जो प्रायश्चित्त विधि है, वही क्षुल्लक की है।

२४११.गणिणिसरिसो उ थेरो,
पवत्तिणिविभागसरिसओ भिक्खू।
अद्धोक्कंती एवं,
सपदं सपदं गणि-गुरूणं॥

गणिनी के सदृश होता है स्थविर, प्रवर्तिनी के सदृश होता है भिक्षु। अर्द्धापक्रांति से (अधस्तन के एक पद के ह्रास से तथा उपरितन के एक की वृद्धि से) गणी–उपाध्याय गुरु–आदि का प्रायश्चित्त जानना चाहिए। गणी और आचार्य के स्वपद-स्वपद तक प्रायश्चित्त जानना है। गणी का स्वपद अर्थात् अनवस्थाप्य पर्यन्त और आचार्य का स्वपद अर्थात् पारांचिक पर्यन्त।

२४१२.एवं तु चिट्ठणादिसु, सव्वेसु पदेसु जाव उस्सग्गो।
पच्छित्ते आदेसा, इक्किक्कपयम्मि चत्तारि॥

इसी प्रकार स्थान-निषीदन आदि कायोत्सर्ग पर्यन्त सभी पदों के प्रायश्चित्त विषयक चार आदेश हैं। प्रत्येक पद में चार-चार हैं। एक है औघिक प्रायश्चित्त, दूसरा है वही तप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और काल से विशेषित, तीसरा है छेदान्त और चौथा है चारणिका प्रायश्चित्त।

२४१३.संकम जूवे अचले, चले य लहुगो य हुंति लहुगा य।
तम्मि वि सो चेव गमो, नवरि गिलाणे इमं होइ॥

यूपक–वेटक नाम का जलमध्यवर्ती तट। वहां देवकुलिका या अन्य गृह हो सकता है। यूपक पर सेतु अथवा जल से आना-जाना हो सकता है। संक्रम–सेतु चल और अचल दोनों प्रकार के होते हैं। चल से जाने पर चतुर्लघु, अचल से जाने पर मासलघु। यूपक में भी दकतीर जैसी ही वक्तव्यता है। ग्लान में कुछ अधिक दोष होते हैं।

२४१४.दट्ठूण व सइकरणं, ओभासण विरहिए य आइयणं।
परितावण चउगुरुगा, अकप्प पडिसेव मूल दुगं॥

ग्लान पानी को देखकर पुरानी स्मृति में खो जाता है। वह पानी मांगता है। पानी देने पर संयमविराधना होती है और न देने पर वह टूट जाता है। प्रतिश्रय में साधु न रहने पर वह पानी पी लेता है। न पीने पर परितापना होती है। पी लेता है तो चतुर्गुरुक का प्रायश्चित्त आता है। अकल्प्य का सेवन करने पर मूल। यदि एक ग्लान मुनि पलायन कर जाता है तो आचार्य को मूल प्रायश्चित्त आता है। द्विक–गृहिलिंग अथवा अन्यतीर्थिक लिंग में ग्लान अप्काय का सेवन करता है तो उसे मूल प्रायश्चित्त आता है।

२४१५.आउक्काए लहुगा, पूयरगादीतसेसु जा चरिमं।
जे गेलन्ने दोसा, धिइदुब्बले सेहे ते चेव।

अप्काय का प्रतिसेवन करने पर चतुर्लघुक तथा पूतरक आदि त्रसकाय का सेवन करने पर चरम अर्थात् पारांचिक पर्यन्त प्रायश्चित्त है। ग्लान विषयक जो दोष हैं, वे ही धृतिदुर्बल शैक्ष के लिए भी हैं।

२४१६.आयावण तह चेव उ, नवरि इमं तत्थ होइ नाणत्तं।
मज्जण सिंचण परिणाम वित्ति तह देवया पंता॥

दकतीर अथवा यूपक पर आतापना आदि लेने पर वे ही दोष हैं। उनमें नानात्व यही है कि कोई साधु वहां आतापना लेता है और कोई गृहस्थ मुनि का मज्जन, सिंचन आदि करता है तो मुनि का स्नान आदि विषयक परिणाम हो सकता है, ब्राह्मणों की आजीविका का छेदन हो सकता है तथा प्रान्त देवता उपसर्ग कर सकता है।

२४१७.मज्जंति व सिंचंति व, पडिणीयऽणुकंपया व णं केई।
तण्हुण्हपरिगयस्स व, परिणामो ण्हाण-पियणेसु॥

आतापना लेते हुए मुनि को देखकर कोई शत्रुता से अथवा अनुकंपा वश उसको स्नान करा देता है अथवा उसका सिंचन कर देता है अथवा आतापना लेने वाला मुनि तृषा से आकुल या आतप से आकुल परिणाम वाला होकर स्नान और पान का इच्छुक हो सकता है।

२४१८.आउट्ट जणे मरुगाण अदाणे खरि-तिरिक्खिछोभादी।
पच्चखदेवपूयण, खरियाऽऽवरणं व खित्ताई॥

आतापना से प्रभावित होकर जनता ब्राह्मणों को दान नहीं देती। उनको दान न देने पर वे मुनि पर दासी या तिरश्ची संबंधी मिथ्या आरोप लगा सकते हैं। यह प्रत्यक्ष देवता हैं–यह सोचकर उस मुनि की पूजा करते हैं, मूल देवता का पूजन छोड़ देते हैं तब देवता दासी को साध्वी का वेष धारण करवा कर मुनि को प्रतिसेवना करते हुए दिखाता है, अथवा उसको क्षिप्तचित्त कर देता है।

२४१९.आयावण साहुस्सा, अणुकंपं तस्स्स कुणइ गामो उ।
मरुयाणं च पओसो, पडिणीयाणं च संका य॥

आतापना लेने वाले साधु को देखकर ग्रामजन उस पर अनुकंपा करते हैं, पारणा के दिन विशेष भक्तपान लाकर देते हैं, ब्राह्मणों को दान न मिलने पर वे प्रद्वेषवश मुनि पर मिथ्या आरोप लगाते हैं अथवा जो मुनि के प्रत्यनीक होते हैं वे मिथ्या आशंका करते हैं कि मुनि यहां क्यों आतापना लेता है। क्या यह स्तेनार्थी या मैथुनार्थी है?

२४२०.पढमे गिलाणकारण, बीए वसहीए असइए वसइ।
रायणियकज्जकारण, तइए बिइयपय जयणाए॥

अपवाद पद–दकतीर पर ग्लान के लिए रहा जा सकता है। निर्दोष वसति की प्राप्ति न होने पर यूपक में रहा जा सकता है। रायणिय अर्थात् राजा से संबंधित कोई कार्य हो तो वहां यतनापूर्वक रहा जा सकता है। ये तीन आपवादिक कारण हैं।

२४२१.विज्ज-दवियट्ठयाए,
निज्जंतो गिलाणो असति वसहीए।
जोग्गाए वा असती,
चिट्ठे दगतीरऽणोयारे॥

ग्लान को वैद्य के पास ले जाते समय अथवा औषधी के लिए ले जाते समय योग्य वसति के अभाव में दकतीर पर ग्लान ठहर सकता है परंतु वह मनुष्य और पशुओं के अप्रवेशमार्ग को छोड़ दे।

२४२२.उदगंतेण चिलिमिणी, पडियरए मोत्तु सेस अन्नत्थ।
पडियर पडिसंलीणा, करिज्ज सव्वाणि वि पयाणि॥

वहां ठहरने वालों की यह यतना है–वहां उदकांत में चिलिमिलि बांध दे। ग्लान के प्रतिचारकों को छोड़कर शेष सभी बाहर ठहरे। प्रतिचारक भी गुप्तरूप में बैठें, जिससे कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राणियों को भय न हो। यतनापूर्वक स्थान, निषीदन आदि सभी पद वहां किए जा सकते हैं।

२४२३.अद्धाणनिग्गयादी, संकम अप्पाबहुं असुन्नं च।
गेलन्न-सेहभावो, संसट्ठसिणं व निव्वविउं॥

अध्वनिर्गत साधु अन्य वसति के अभाव में यूपक पर रह सकता है। अल्प-बहुत्व का चिंतन कर संक्रम का उपयोग करे। रात और दिन में वसति को शून्य कर दे। वहां रहने पर ग्लान और शैक्ष को पानी पीएं—ऐसा अशुभ भाव उत्पन्न हो तो उनको समझाए या संसृष्ट उष्ण उदक को सुशीतल कर उन्हें पिलाए।

२४२४.ओलोयण निग्गमणे, ससहाओ दगसमीवे आयावे।
उभयदढो भोगजढे, कज्जे आउट्ट पुच्छणया॥

राजा को आकृष्ट करने के लिए मुनि ऐसे दकतीर पर आतापना ले जो दकतीर राजा के अवलोकनपथ या निर्गमनपथ पर हो, मुनि अकेला न हो, कोई साथ में हो और जो धृति और संहनन—दोनों से दृढ़ हो तथा मनुष्य और पशुओं के उपभोग स्थान को छोड़कर आतापना ले। राजा उस मुनि से आकृष्ट होकर पास में आकर पूछ सकता है—महाराज! मैं आपकी क्या सेवा करूं? तब मुनि उसे अपना कार्य कहे।

२४२५.भाविय करणो तरुणो, उत्तर-सिंचणपहे य मुत्तूणं।
मज्जणमाइनिवारण, न य हिंडइ पुप्फ वारेइ॥

वह सहायक भावित, कृतकरण तथा तरुण हो। आतापना लेने वाला मुनि दकतीर पर तिर्यंच और मनुष्यों के उत्तरण पथ और सिंचन पथ को छोड़कर आतापना ले। ऐसा करने पर भी यदि कोई आतापना लेने वाले मुनि को स्नान कराता है, सिंचन करता है तो वह सहायक उसका निवारण करे। वह आतापक भिक्षा के लिए नहीं घूमता। आतापक पर कोई फूल चढ़ाता है तो भी वह सहायक निवारण करता है।

चित्तकम्म-पदं

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा सचित्तकम्मे उवस्सए वत्थए॥

(सूत्र २०)

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अचित्तकम्मे उवस्सए वत्थए॥

(सूत्र २१)

२४२६.पढम-चउत्थवयाणं, अतिचारो होज्ज दगसमीवम्मि।
इह वि य हुज्ज चउत्थे, सचित्तकम्मेस संबंधो॥

पूर्व सूत्र में मुनि-साध्वी के पानी के समीप रहने-बैठने आदि से प्रथम और चतुर्थ महाव्रत में होने वाले अतिचारों का वर्णन था। प्रस्तुत सूत्र में सचित्र उपाश्रय में रहने पर होने वाले चतुर्थ महाव्रत के अतिचारों का वर्णन है।

२४२७.नो कप्पइ जागरिया, चिट्ठणमाई पया य दगतीरे।
चित्तगयमाणसाणं, जागरि-झाया कुतो अहवा॥

दकतीर पर जागरिका—धर्मध्यान आदि तथा स्थान—निषीदन आदि करना नहीं कल्पता। प्रस्तुत सूत्र में सचित्र उपाश्रय में रहने पर चित्र में लीन मन वाले साधु-साध्वियों के जागरिका और स्वाध्याय कैसे संभव हो सकता है? यह सूत्र से दूसरा संबंध है।

२४२८.निद्दोस सदोसे वा, सचित्तकम्मे उ दोस आणादी।
सइकरणं विकहा वा, बिइयं असतीए वसहीए॥

निर्दोष अथवा सदोष चित्रकर्म वाले उपाश्रय में रहने पर आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं। वहां रहने पर स्मृतिकरण तथा विकथा का प्रसंग होता है। अपवादस्वरूप वसति के न मिलने पर वहां रहा जा सकता है।

२४२९.तरु गिरि नदी समुद्दो, भवणा वल्ली लयावियाणा य।
निद्दोस चित्तकम्मं, पुन्नकलस-सोत्थियाई य॥

वह चित्रकर्म वाला उपाश्रय निर्दोष है जिसमें वृक्ष, पहाड़, नदी, समुद्र, भवन, वल्ली, लताओं का निकुरम्ब, पूर्णकलश, स्वस्तिक आदि भित्तिचित्र हों।

२४३०.तिरिय-मणुय-देवीणं, जत्थ उ देहा भवंति भित्तिकया।
सविकार निव्विकारा, सदोस चित्तं हवइ एयं॥

वह चित्रकर्म वाला उपाश्रय सदोष है जिसमें पशुस्त्रियों, नारियों तथा देवियों के सविकार और निर्विकार शरीरों को चित्रित किया गया हो।

२४३१.लहु गुरु चउण्ह मासो,
विसेसितो गुरुगो आदि छल्लहुगा।
चउलहुगादी छग्गुरु,
उभयस्स वि दुविहचित्तम्मि॥

निर्दोष चित्रकर्म वाले उपाश्रय में रहने पर चारों—आचार्य, उपाध्याय, वृषभ और भिक्षुक के तपःकाल विशेषित लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। प्रवर्तिनी, गणावच्छेदिनी, अभिषेका और भिक्षुणी—इन चारों के तपःकाल से विशेषित गुरुमास का प्रायश्चित्त है। सदोष चित्रकर्म वाले उपाश्रय में रहने पर निर्ग्रंथों के गुरुमास आदि में और षड्लघुक आदि पर्यन्त में। निर्ग्रंथिनियों के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चतुर्लघु आदि में और षड्गुरुक अन्त में। इस प्रकार द्विविध चित्रकर्मवाले उपाश्रय में दोनों वर्गों के प्रायश्चित्त का विधान है।

२४३२.दिट्ठं अन्नत्थ मए, चित्तं तं सोभणं न एअं ति।
इति विकहा पलिमंथो, सज्झायादीण कलहो य॥

चित्रकर्म वाले उपाश्रय में चित्रकर्म को देखकर कोई साधु कहता है—अन्यत्र मैंने जो चित्र देखा था वह सुन्दर था, यह वैसा नहीं है। दूसरा इसका प्रतिवाद करता है। यह विकथा है, स्वाध्याय का परिमंथ है। इससे परस्पर कलह भी होता है।

२४३३.अद्धाणनिग्गयाई, तिपरिरया असइ अन्नवसहीए।
तरुणा करिंति दूरे, निच्चावरिए य ते रूवे॥

अध्वनिर्गत मुनि अन्य वसति के लिए तीन बार परिभ्रमण करते हैं। वसति प्राप्त न होने पर वे सचित्रकर्म वाले उपाश्रय में ठहरते हैं। तरुण साधु-साध्वियों को उनसे दूर रखते हैं। वे उन चित्रों को सदा चिलिमिलिका से आवृत रखते हैं।

सागारिय-निस्सा-पदं

नो कप्पइ निग्गंथीणं सागारिय-अनिस्साए वत्थए॥

(सूत्र २२)

कप्पइ निग्गंथीणं सागारिय-निस्साए वत्थए॥

(सूत्र २३)

२४३४.एरिसदोसविमुक्कम्मि आलए संजईण नीसाए।
कप्पइ जईण भइओ, वासो अह सुत्तसंबंधो॥

इस प्रकार के दोषमुक्त आलय में सागारिकनिश्रा में साध्वियों को रहना कल्पता है। साधु के लिए ऐसा निवास विकल्पित है अर्थात् वे सागारिक की निश्रा या अनिश्रा में भी वे रह सकते हैं। यह प्रस्तुत सूत्र से संबंध है।

२४३५.सागारियं अनीसा, निग्गंथीणं न कप्पए वासो।
चउगुरु आयरियादी, दोसा ते चेव तरुणादी॥

सागारिक अर्थात् शय्यातर की निश्रा के बिना साध्वियों को निवास नहीं कल्पता। यदि यह सूत्र आचार्य प्रवर्तिनी को नहीं कहते तो उन्हें चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त आता है। वे ही तरुण आदि दोष (गाथा २३०४ वत्) प्राप्त होते हैं।

२४३६.सागारियं अनिस्सा, भिक्खुणिमादीण संवसंतीणं।
गुरुगा दोहिं विसिट्ठा, चउगुरुगाई व छेदंता॥

यदि भिक्षुणियां आदि अनिश्रा में रहती हैं तो उन्हें तप और काल—दोनों से विशिष्ट चतुर्गुरुक का प्रायश्चित्त आता है। अथवा चतुर्गुरुक से प्रारंभ कर छेदान्त पर्यन्त प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२४३७.कंपइ वाएण लया,
अणिस्सिया निस्सिया उ अक्खोभा।
इय समणी अक्खोभा,
सगारिनिस्सेयरा भइया॥

अनिश्रित लता वायु से प्रकंपित होती है और निश्रित लता अक्षोभ्य होती है। इसी प्रकार सागारिकनिश्रित श्रमणी अक्षोभ्य होती है और अनिश्रित श्रमणी की भजना है—यदि वह स्वयं धृति-बलयुक्त है तो अक्षोभ्य होती है और यदि धृति-दुर्बल होती है तो क्षोभ्य होती है।

२३३८.दोहि वि पक्खेहिं सुसंवुयाण
तह वि गिहिनीसमिच्छंति।
बहुसंगहिया अज्जा,
होइ थिरा इंदलट्ठी वा॥

यद्यपि आर्यायें आचार्य और प्रवर्तिनी—इन दोनों पक्षों से सुसंवृत होती हैं, फिर भी सागारिक की निश्रा वांछित है। जिस प्रकार इन्द्रयष्टि अनेक यष्टियों से बद्ध होकर ही निष्कंप होती है, वैसे ही आचार्य आदि चिंतकों से परिगृहीत आर्या ही निष्प्रकंप होती है।

२४३९.पत्थिंतो वि य संकइ, पत्थिज्जंतो वि संकती बलिणो।
सेणा वहू य सोभइ, बलवइगुत्ता तहऽज्जा वि॥

समर्थ सागारिक की निश्रा में रहने वाली आर्या की प्रार्थना करने वाला सशंक—भयभीत होता है और आर्या भी समर्थ सागारिक के कारण सशंक होती है। जैसे सेना सेनापति से और वधू बलवान् श्वसुरपक्ष और पितृपक्ष से गुप्त रहकर शोभित होती है, वैसे ही आर्या भी बलवान् शय्यातर से परिगृहीत होने पर ही शोभित होती हैं।

२४४०.सुन्ना पसुसंघाया, दुब्बलगोवा य कस्स न वितक्का।
इय दुब्बलनिस्साऽनिस्सिया व अज्जा वितक्काओ॥

जो पशुओं का समूह शून्य अथवा दुर्बल रक्षपाल से परिगृहीत होता है वह किसके लिए अभिलषणीय नहीं होता? इसी प्रकार दुर्बल निश्रा वाली अथवा अनिश्रावाली आर्या किसके लिए वितर्क्य—अभिलषणीय नहीं होती?

२४४१.अइया कुलपुत्तगभोइया उ पक्कन्नमेव सुन्नम्मि।
इच्छमणिच्छे तरुणा, तेणा उवहिं व ताओ वा॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बकरी, कुलपुत्र की महिला और पक्वान्न—ये यदि शून्य में रहते हैं; किसी के निश्रा में नहीं रहते वे प्रत्येक के लिए स्पृहणीय हो जाते हैं। यदि आर्यायें तरुणों द्वारा प्रार्थना किए जाने पर स्पृहा करती हैं तो ब्रह्मव्रत का भंग होता है, और यदि स्पृहा नहीं करती तो तरुण बलात् उनका ग्रहण कर लेते हैं। स्तेन आर्यायों का या उनकी उपधि का अपहरण कर लेते हैं।

२४४२. उच्छुय-घय-गुल-गोरस-एलालुग-माउलिंगफलमादी।
पुप्फविही गंधविही, आभरणविही य वत्थविही॥

इक्षु, घृत, गुड़, गोरस, ककड़ी, बीजपूरक फल आदि तथा पुष्पविधि, गंधविधि, आभरणविधि और वस्त्रविधि—ये शून्य अथवा दुर्बल परिगृहीत होने पर सबके लिए स्पृहणीय होते हैं। वैसे ही आर्यिकाएं भी अपरिगृहीत होने पर तरुणों के लिए स्पृहणीय होती हैं।

२४४३. अद्धाणनिग्गयादी, तिक्खुत्तो मग्गिऊण असईए।
संवरणं वसभा वा, ताओ व अपच्छिमा पिंडी॥

अध्वनिर्गत साध्वियां परिगृहीत वसति की तीन बार गवेषणा करें। यदि वह प्राप्त न हो तो सागारिक के अनिश्रित वसति में भी रह सकती हैं। उसको कपाट से बंद रखें। कपाट न मिलने पर वृषभ मुनि गृहस्थ का वेश पहन कर साध्वियों की रक्षा करें। यदि वृषभ न हों तो वे साध्वियां ही हाथ में दंड धारण कर, पिंडीभूत होकर रहें। यह अपश्चिम यतना है।

२४४४. भोइय-महत्तरगाई, समागयं वा भणंति गामं तु।
निवगुत्ताणं वसही, दिज्जउ दोसा उ भे उवरिं॥

गांव में भोजिक, महत्तर आदि को अथवा जहां गांववासी एकत्रित होते हैं उस सभा में जाकर साधु कहे—'हम नृप के द्वारा रक्षित रहकर ही अपने व्रतों का सम्यग् पालन कर सकते हैं। आप हमें उपयुक्त वसति दें। अन्यथा शून्य उपाश्रय में रहने वाली साध्वियों के जो उपद्रव आदि दोष होंगे, वे सब आप पर आयेंगे।' यह कहने पर वे उपयुक्त वसति की व्यवस्था कर देते हैं।

२४४५. कयकरणा थिरसत्ता, गीया संबंधिणो थिरसरीरा।
जियनिद्दिंदिय दक्खा, तब्भूमा परिणयवया य॥

साध्वियों की रक्षा के निमित्त जो वृषभ हों वे कृत-करण—धनुर्वेद के अभ्यासी, स्थिर सत्त्ववाले, गीतार्थ, साध्वियों के ही संबंधी, शरीरबलयुक्त, नींद तथा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त, दक्ष, उसी भूमी में रहने वाले तथा अवस्था प्राप्त हों।

कप्पइ निग्गंथाणं सागारिय-निस्साए वा अनिस्साए वा वत्थए॥

(सूत्र २४)

२४४६. साहू निस्समनिस्सा,
कारणि निस्सा अकारणि अनिस्सा।
निक्कारणम्मि लहुगा,
कारणे गुरुगा अनिस्साए॥

साधु सागारिक की निश्रा या अनिश्रा में रह सकते हैं। कारण होने पर निश्रा में और अकारण में अनिश्रा में रहा जा सकता है। अकारण में निश्रा में रहने पर चतुर्लघु और कारण में अनिश्रा में रहने पर चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त आता है।

२४४७. उड्डेंत निवेसिंते, भोजण-पेहासु सारि मोए अ।
सज्झाय बंभगुत्ती, असंगता तित्थऽवण्णो य॥

निष्कारण सागारिक की निश्रा में रहने पर ये दोष होते हैं—कोई साधु उठते-बैठते नग्न हो जाता है, भोजन करते समय प्रत्युपेक्षा करते समय सागारिक उड्डुंचक (मजाक) करते हैं, रात्री में कायिकी से आचमन करने पर वे उड्डाह करते हैं। स्वाध्याय करते समय मजाक तथा स्त्रियों के अंग-प्रत्यंग को देखने से ब्रह्मचर्य की अगुप्ति होती है। लोग कहते हैं—ये असंगत हैं, इनको स्त्रीरहित उपाश्रय में रहना चाहिए। इस प्रकार तीर्थ की अवमानना होती है।

सागारिय-उवस्सय-पदं

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा सागारिए उवस्सए वत्थए॥

(सूत्र २५)

२४४८. तेण सावय मसगा, कारण निक्कारणे य अहिगरणं।
एएहिं कारणेहिं, वसंति नीसा अनीसा वा॥

जहां स्तेन, श्वापद और मशकों का उपद्रव हो वहां मुनि को निश्रा में रहना चाहिए। निष्कारण रहने पर अधिकरण होता है। इन कारणों से निश्रा या अनिश्रा में रहा जा सकता है।

२४४९. निस्स ति अइपसंगेण मा हु सागारियम्मि उ वसिज्जा।
ते चेव निस्सदोसा, सागारिए निवसतो मा हु॥

साध्वियों को सागारिक के निश्रा में ही रहना कल्पता है और साधुओं को कारण में निश्रा में रहना कल्पता है—यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहने पर अतिप्रसंग दोष से सागारिक प्रतिश्रय में भी रह सकते हैं, ऐसा न मान लिया जाए क्योंकि सागारिक उपाश्रय में रहने पर वे निश्रा दोष होते हैं, अतः सागारिक सूत्र का प्रारंभ किया गया है।

२४५०.सागारियनिक्खेवो, चउव्विहो होइ आणुपुव्वीए।
नामं ठवणा दविए, भावे य चउव्विहो भेदो॥

'सागारिक' शब्द का निक्षेप अनुपूर्वी से चार प्रकार का है—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव।

२४५१.रूवं आभरणविही, वत्थालंकार भोयणे गंधे।
आउज्ज नट्ट नाडग, गीए सयणे य दव्वम्मि॥

रूप, आभरणविधि, वस्त्र, अलंकार, भोजन, गंध, आतोद्य, नृत्त, नाटक, गीत, शयन—ये सारे द्रव्य सागारिक हैं। (व्याख्या आगे।)

२४५२.जं कट्ठकम्ममाइसु, रूवं सट्ठाणे तं भवे दव्वं।
जं वा जीवविमुक्कं, विसरिसरूवं तु भावम्मि॥

जो काष्ठकर्म (चित्रकर्म और लेप्यकर्म) में पुरुष और स्त्री के रूप का निर्माण किया जाता है वह स्वस्थान में द्रव्य-सागारिक है। (स्वस्थान का अर्थ है—निर्ग्रंथों का पुरुषरूप और साध्वियों का स्त्रीरूप। जो विसदृशरूप होता है वह भावसागारिक है—निर्ग्रंथों का स्त्रीरूप और साध्वियों का पुरुषरूप। जो जीव विप्रमुक्त पुरुषशरीर या स्त्रीशरीर है वह भी स्वस्थान में द्रव्यसागारिक है, परस्थान में भाव सागारिक है)।

२४५३.नट्टं होइ अगीयं, गीयजुयं नाडयं तु नायव्वं।
आभरणादी पुरिसोवभोग दव्वं तु सट्ठाणे॥

गीतरहित नृत्य होता है और गीतयुक्त होता है नाटक। जो पुरुषों के उपभोगयोग्य आभरण आदि होता है वह स्वस्थान में द्रव्य-सागारिक है। भोजन, गंध, आबोद्य तथा शयन—ये साधु-साध्वी के समान होने के कारण द्रव्यसागारिक हैं और शेष साधु-साध्वियों के स्वस्थानयोग्य हों तो द्रव्यसागारिक और परस्थानयोग्य हों तो भावसागारिक।

२४५४.एक्किक्कम्मि य ठाणे, भोअणवज्जे य चउलहू हुंति।
चउगुरुग भोअणम्मिं, तत्थ वि आणाइणो दोसा॥

रूप, आभरण आदि प्रत्येक स्थान में चतुर्लघु प्रायश्चित्त है। इसमें भोजन वर्ज्य है। भोजनसागारिक में चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त है। वहां भी आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं।

२४५५.को जाणइ को किरिसो, कस्स व माहप्पया समत्थत्ते।
धिइदुब्बला उ केई, डेविंति तओ अगारिजणं॥

कौन जानता है कौन साधु किस परिणाम वाला है? किसकी कैसी महात्मता और समर्थता है? कुछेक साधु धृति से दुर्बल होते हैं, वे स्त्रियों के पास जाते हैं, उनका परिभोग करते हैं।

२४५६.केइत्थ भुत्तभोगी, अभुत्तभोगी य केइ निक्खंता।
रमणिज्ज लोइयं ति य, अम्हं पेतारिसा आसी॥
२४५७.एरिसओ उवभोगो,
अम्ह वि आसि एह इण्हि उज्जल्ला।
दुक्कर करेमु भुत्ते,
कोउगमियरस्स दट्ठूणं॥

गच्छ में कुछ जन भोगों को भोग कर निष्क्रमण करते हैं और कुछ भोगों को भोगे बिना ही। भुक्तभोगी और अभुक्त-भोगी—दोनों ही सोचते हैं कि यह लौकिक चरित रमणीय है। हम भी जब गृहस्थी में थे तब हमारे भी ऐसे ही भोग थे। ऐसा ही उपभोग था। अब हम अत्यंत मलिन शरीर वाले हैं और हम दुष्कर—केशलुंचन, भूमीशयन आदि कर रहे हैं। यह भुक्तभोगी का चिंतन है। अभुक्तभोगी रूप-आभरण आदि देखकर कुतूहल से भर जाता है।

२४५८.सति-कोउगेण दुण्णि वि,
परिहिज्ज लइज्ज वा वि आभरणं।
अन्नेसिं उवभोगं,
करिज्ज वाएज्ज वुड्डाहो॥

स्मृति और कुतूहल से अभिभूत दोनों—भुक्तभोगी और अभुक्तभोगी वस्त्र आदि पहन लें, आभूषण आदि धारण कर लें तथा अन्य—गंध आदि का भी उपभोग कर लें, वादित्र बजाने लग जाएं। यह सारा देखकर गृहस्थ उड्डाह करने लग जाते हैं।

२४५९.तच्चित्ता तल्लेसा, भिक्खा-सज्झायमुक्कतत्तीया।
विकहा-विसुत्तिथमणा, गमणुस्सुय उस्सुयब्भूया॥

वैसे मुनि तच्चित्त और तल्लेश्य होकर भिक्षाचर्या और स्वाध्याय की तप्ति—प्रवृत्ति से मुक्त हो जाते हैं। वे विकथा में लीन हो जाते हैं तथा वे चित्तविप्लुति के शिकार होकर संन्यास से पलायन करने के लिए उत्सुक होकर उत्प्रव्रजित हो जाते हैं, गृहस्थाश्रम में चले जाते हैं।

२४६०.सुट्ठु कयं आभरणं,विणासियं न वि य जाणसि तुमं पि।
सुट्ठुड्डाहो गंधे, विसुत्तिया गीयसद्देसु॥

साधु परस्पर विकथा करते हुए कहते हैं—यह आभरण अच्छा बना है। दूसरा कहता है—इसका तो विनाश कर डाला। तुम कुछ नहीं जानते। कोई शरीर पर गंध द्रव्य लगाता है तो उड्डाह करते हैं। आतोद्य आदि के शब्दों से विस्रोतसिका होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२४६१.निच्चं पि दव्वकरणं, अवहियहिययस्स गीयसद्देहिं।
पडिलेहण सज्झाए, आवासग भुंज वेरत्ती॥

जो मुनि गीत आदि के शब्दों में लवलीन होते हैं उनके सदा प्रत्युपेक्षण, स्वाध्याय, आवश्यक, भोजनक्रिया, वैरात्रिक तथा प्राभातिक क्रियाएं द्रव्यक्रियाएं होती हैं, भावक्रियाएं नहीं।

मणसहिएण उ काएण कुणइ वायाए भासई जं च।
एअं तु भावकरणं, मणरहितं तं दव्वकरणं तु॥

(आ. नि. १४८६)

२४६२.ते सीदितुमारद्धा, संजमजोगेसु वसहिदोसेणं।
गलइ जतुं तप्पंत्तं, एव चरित्तं मुणेयव्वं॥

वे मुनि वसति के दोषों से दुःख पाते हैं और उनके संयमयोग अस्त-व्यस्त हो जाते हैं। जैसे लाख अग्नि से तप्त होकर पिघल जाता है वैसे ही राग से संतप्त मुनियों का चारित्र भी परिगलित हो जाता है, यह जानना चाहिए।

२४६३.उन्निक्खंता केई, पुणो वि सम्मेलणाए दोसेणं।
वच्चंति संभरंता, भंतूण चरित्तपागारं॥

कुछेक मुनि उपाश्रय में स्त्रीरूप आदि के सम्मेलन के दोषों से प्रभावित होकर उत्प्रव्रजित हो जाते हैं, और चारित्ररूपी प्राकार को तोड़कर उन स्त्रीरूपों का स्मरण करते हुए पुनः गृहवास में चले जाते हैं।

२४६४.एगम्मि दोसु तीसु व, ओहाविंतेसु तत्थ आयरिओ।
मूलं अणवट्ठप्पो, पावइ पारंचियं ठाणं॥

इस प्रकार एक साधु के उत्प्रव्रजित होने पर आचार्य को मूल, दो होने पर अनवस्थाप्य और तीन के होने पर पारांचिक स्थान प्राप्त होता है। अथवा जिनके अधीन वे साधु हों उनको यह प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२४६५.अट्ठारसविहऽबंभं, भावउ ओरालियं च दिव्वं च।
मण-वयस-कायगच्छण, भावम्मि य रूव संजुत्तं॥

अब्रह्मचर्य अठारह प्रकार का है। उसके दो मूल भेद हैं—औदारिक और दिव्य। इनके मन, वचन और काया के आधार पर नौ-नौ भेद होते हैं। यह अठारह प्रकार का अब्रह्म भाव सागारिक है अथवा रूपसहगत जो अब्रह्म है वह भी भाव सागारिक है।

२४६६.अहव अबंभं जत्तो, भावो रूवाउ सहगयाओ वा।
भूसण-जीवजुयं वा, सहगय तव्वज्जियं रूवं॥

अथवा रूप से या रूपसहगत भाव से अब्रह्म की उत्पत्ति होती है, वह भावसागारिक है। जो स्त्रीशरीर भूषित है अथवा अभूषित, परंतु जीवयुक्त है उसे रूपसहगत कहा जाता है। जो स्त्रीशरीर भूषणविरहित तथा जीवविमुक्त है उसे रूप कहा जाता है।

२४६७.तं पुण रूवं तिविहं, दिव्वं माणुस्सयं तिरिक्खं च।
पायावच्च-कुडुंबिय-दंडियपारिग्गहं चेव॥

वह रूप तीन प्रकार का है—दिव्य, मानुष्य और तैरश्च। पुनः एक-एक के तीन-तीन प्रकार हैं—प्राजापत्यपरिगृहीत (प्राजापत्या—सामान्यलोकाः), कौटुम्बिकपरिगृहीत और दंडिकपरिगृहीत। इन सबके जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद से तीन-तीन प्रकार हैं।

२४६८.वाणंतरिय जहन्नं, भवणवई जोइसं च मज्झिमगं।
वेमाणिय उक्कोसं, पगयं पुण ताण पडिमासु॥

दिव्यरूपों में वानमंतरिकरूप जघन्य, भवनपति और ज्योतिष्क मध्यम और वैमानिकरूप उत्कृष्ट होता है। प्रस्तुत प्रसंग में सागारिक उपाश्रय में वानमंतरियों की जो प्रतिमाएं हैं उन्हीं का यहां अधिकार है।

२४६९.कट्ठे पुत्थे चित्ते, जहन्नयं मज्झिमं च दंतम्मि।
सेलम्मि य उक्कोसं, जं वा रूवाउ निप्फन्नं॥

प्रकारान्तर से दिव्य प्रतिमाओं के जघन्य आदि प्रकार ये हैं—काष्ठकर्म में, पुस्तकर्म में तथा चित्रकर्म में जो दिव्यरूप उत्कीर्ण होते हैं वे जघन्य, जो हाथीदांत पर होते हैं वे मध्यम तथा जो पत्थर पर, मणि आदि पर उत्कीर्ण होते हैं वे उत्कृष्ट माने जाते हैं। अथवा जो रूप से निष्पन्न है वह जघन्य, मध्यम आदि होती है।

२४७०.ठाण-पडिसेवणाए, तिविहे वी दुविहमेव पच्छित्तं।
लहुगा तित्रि विसिट्ठा, अपरिगहे ठायमाणस्स॥

तीनों प्रकार की दिव्य प्रतिमा वाले उपाश्रय में रहने पर दो प्रकार का प्रायश्चित्त आता है—स्थाननिष्पन्न और प्रतिसेवनानिष्पन्न। अपरिगृहीत दिव्य प्रतिमायुत उपाश्रय में रहने पर स्थाननिष्पन्न प्रायश्चित्त यह है—जघन्य में चार लघु तप और काल से भी लघु, मध्यम में चार लघु काल से गुरु, उत्कृष्ट में वही तपोगुरु।

२४७१.चत्तारि य उग्घाया, पढमे बिइयम्मि ते अणुग्घाया।
छम्मासा उग्घाया, उक्कोसे ठायमाणस्स॥
२४७२.पायावच्चपरिग्गहे, दोहि वि लहु होंति एते पच्छित्ता।
कालगुरू कोडुंबे, दंडियपारिग्गहे तवसा॥

परिगृहीत में यह प्रायश्चित्त है—प्रथम अर्थात जघन्य में चार उद्घातिम अर्थात् लघुमास, दूसरा अर्थात् मध्यम में वे अनुद्घातिम अर्थात् गुरुमास, उत्कृष्ट में छह उद्घातिम अर्थात् छह लघुमास।

ये ही प्रायश्चित्त प्राजापत्यपरिगृहीत में दोनों अर्थात् तप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और काल से लघु, कौटुम्बिकपरिगृहीत में कालगुरु और दंडिकपरिगृहीत में तप से गुरु।

२४७३.चत्तारि य उग्घाता, पढमे बिइयम्मि ते अणुग्घाया।
तइयम्मि अणुग्घाया, चउत्थ छम्मास उग्घाता॥
२४७४.पंचमगम्मि वि एवं, छट्ठे छम्मास होंतऽणुग्घाया।
असन्निहिए सन्निहिए, एस विही ठायमाणस्स॥

प्रथम जघन्य-असन्निहित, द्वितीय जघन्य सन्निहित, तृतीय मध्यम असन्निहित, चतुर्थ मध्यम सन्निहित, पंचम उत्कृष्ट असन्निहित और षष्ठ उत्कृष्ट सन्निहित। विधि यह है–जघन्य असन्निहित प्राजापत्यपरिगृहीत में रहने पर चार उद्घात मास, सन्निहित में चार अनुद्घात मास, मध्यम असन्निहित में चार अनुद्घातमास, सन्निहित में छह उद्घात मास, उत्कृष्ट असन्निहित में छह उद्घातमास और सन्निहित में छह अनुद्घातमास। यह विधि वहां रहने पर है।

२४७५.पढमिल्लुगम्मि ठाणे, दोहि वि लहुगा तवेण कालेण।
बिइयम्मि अ कालगुरू, तवगुरुगा होंति तइयम्मि॥

प्रथम स्थान अर्थात् प्राजापत्यपरिगृहीत में ये सारे प्रायश्चित्त तप और काल–दोनों से लघु होते हैं। दूसरे अर्थात् कौटुम्बिकपरिगृहीत में ये ही कालगुरुक और तीसरे अर्थात् दंडिकपरिगृहीत में ये तपोगुरुक होते हैं।

२४७६.अहवा भिक्खुस्सेयं, जहन्नगाइम्मि ठाणपच्छित्तं।
गणिणो उवरिं छेदो, मूलायरिए पदं हसति॥

अथवा जघन्य आदि में चतुर्लघु से प्रारंभ कर षड्गुरु पर्यन्त जो स्थानप्रायश्चित्त कहा है वह भिक्षु से संबंधित है। गणी अर्थात् उपाध्याय के षड्गुरु से ऊपर छेद पर्यन्त प्रायश्चित्त है। आचार्य के एक उपरीतन पद बढ़ता है और अधस्तन एक पद का ह्रास होता है अर्थात् आचार्य के षड्लघु से मूलपर्यन्त प्रायश्चित्त आता है। (यह स्थान-प्रायश्चित्त कहा गया है। आगे प्रतिसेवना प्रायश्चित्त है।)

२४७७.चत्तारि छ च्च लहु गुरु,
छम्मासितो छेदो लहुग गुरुगो य।
मूलं जहन्नगम्मिं,
सेवंति पसज्जणं मोत्तुं॥

प्राजापत्यपरिगृहीत जघन्य प्रतिमा जो असन्निहित है उसकी अदृष्टरूप में प्रतिसेवना करने पर चतुर्लघु और दृष्ट में चतुर्गुरु, सन्निहित अदृष्ट में चतुर्गुरु और दृष्ट में षड्लघु। कौटुम्बिकपरिगृहीत जघन्य, असन्निहित अदृष्टप्रतिसेवना का षड्लघु, दृष्ट में षड्गुरु, सन्निहित अदृष्ट में षड्गुरु और दृष्ट में लघुषाण्मासिक छेद। दंडिकपरिगृहीत जघन्य असन्निहित अदृष्ट प्रतिसेवना का लघुषाण्मासिक छेद, दृष्ट में गुरुषाण्मासिक छेद, सन्निहित अदृष्ट में गुरुषाण्मासिक छेद तथा दृष्ट में मूल। यह जघन्य दिव्यप्रतिमा की प्रतिसेवना का प्रायश्चित्त है। प्रसज्जना अर्थात् किसी के देख लेने पर ग्रहण, आकर्षण आदि जो दोषों के प्रसंग आते हैं, उन्हें छोड़कर इनका प्रायश्चित्त अलग से आता है।

२४७८.चउगुरुग छ च्च गुरु,
छम्मासिओ छेदो लहुओ गुरुगो य।
मूलं अणवट्ठप्पो,
मज्झिमए पसज्जणं मोत्तुं॥

मध्यमरूपवाली प्रतिमाओं की प्रतिसेवना का प्रायश्चित्त यह है–प्राजापत्यपरिगृहीत असन्निहित अदृष्ट–चतुर्गुरु, दृष्ट षड्लघु, सन्निहित अदृष्ट षड्लघु, दृष्ट षड्गुरु। कौटुम्बिकपरिगृहीत असन्निहित अदृष्ट षड्गुरु, दृष्ट लघुषाण्मासिकछेद, सन्निहित अदृष्ट लघुषाण्मासिक छेद, दृष्ट गृहषाण्मासिकछेद। दंडिकपरिगृहीत असन्निहित अदृष्ट गुरुषाण्मासिक छेद, दृष्ट मूल, सन्निहित अदृष्ट मूल, दृष्ट अनवस्थाप्य। इसमें भी प्रसज्जना को छोड़कर पूर्ववत्।

२४७९.तव छेदो लहु गुरुगो, छम्मासितो मूल सेवमाणस्स।
अणवट्ठप्पो पारंचि, उक्कोसे पसज्जणं मोत्तुं॥

उत्कृष्ट–प्राजापत्यपरिगृहीत असन्निहित अदृष्ट लघुषाण्मासिक तप, दृष्ट गुरुषाण्मासिक तप, सन्निहित अदृष्ट गुरुषाण्मासिक तप, दृष्ट लघुषाण्मासिक छेद। कौटुंबिक असन्निहित अदृष्ट लघुषाण्मासिक छेद, दृष्ट गुरुषाण्मासिक छेद, सन्निहित अदृष्ट गुरुषाण्मासिक छेद, दृष्ट मूल। दंडिक असन्निहित अदृष्ट मूल, दृष्ट अनवस्थाप्य, सन्निहित अदृष्ट अनवस्थाप्य, दृष्ट पारांचिक। इसमें भी पूर्ववत् प्रसज्जना को छोड़कर।

२४८०.पायावच्चपरिग्गहे, जहन्न सन्निहियए असन्निहिए।
दिट्ठाऽदिट्ठे सेवइ, एसाऽऽलावो उ सव्वत्थ॥

प्राजापत्यपरिगृहीत जघन्य सन्निहित असन्निहित दृष्ट अदृष्ट की जो प्रतिसेवना करता है–यह आलापक सर्वत्र समझना चाहिए। गाथा में असन्निहित और अदृष्ट पद का बंधानुलोमता के कारण पश्चात् निर्देश है।

२४८१.जम्हा पढमे मूलं, बिइए अणवट्ठो तइए पारंची।
तम्हा ठायंतस्सा, मूलं अणवट्ठ पारंची॥

जिससे प्रथम अर्थात् जघन्य की प्रतिसेवना करने वाले के चतुर्लघु से प्रारंभ कर मूल पर्यन्त, द्वितीय अर्थात् मध्यम में चतुर्गुरु से अनवस्थाप्य पर्यन्त और तृतीय अर्थात् उत्कृष्ट में षड्लघु से पारांचिक पर्यन्त प्रायश्चित्त आता है। इसीलिए जो वहां रहता है उसके स्थाननिष्पन्न जघन्य, मध्यम और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्कृष्ट में मूल, अनवस्थाप्य और पारांचिक प्रायश्चित्त विहित है।

२४८२.पडिसेवणाए एवं, पसज्जणा तत्थ होइ एक्केक्के।
चरिमपदे चरिमपदं, तं पि य आणाइनिप्फन्नं॥

प्रतिसेवना में ये प्रायश्चित्त हैं। प्रत्येक प्रायश्चित्त में प्रसज्जना होती है।[1] चरमपद का अर्थ है—अदृष्टपद से दृष्टपद और उस प्रायश्चित्त का चरमपद है पारांचिक तक प्रायश्चित्त है। तथा आज्ञाभंग आदि से निष्पन्न प्रायश्चित्त भी आता है।

२४८३.जइ पुण सव्वो वि ठितो,
सेविज्जा होज्ज चरिमपच्छित्तं।
तम्हा पसंगरहियं,
जं सेवइ तं न सेसाइं॥

जो ऐसे उपाश्रय में ठहरता है, वह प्रतिसेवना करता ही है तो चरम प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। ऐसा नहीं होता। अतः जो प्रसंगरहित ऐसे स्थान—उपाश्रय का सेवन करता है, उसके तन्निष्पन्न प्रायश्चित्त ही आता है, शेष मूल आदि नहीं।

२४८४.अद्दिट्ठाओ दिट्ठं, चरिमं तहि संकमाइ जा चरिमं।
अहवण चरिमाऽऽरोवण, ततो वि पुण पावए चरिमं॥

अदृष्टपद से दृष्टपद चरम है। चरमपद में शंका आदि होती है। तो क्रमशः पारांचिक पर्यन्त प्रायश्चित्त आता है। अथवा चरम आरोपणा जैसे जघन्य में चरम है मूल, मध्यम में चरम है अनवस्थाप्य और उत्कृष्ट में चरम है पारांचिक। फिर वह पुनः चरम अर्थात् पारांचिक प्रायश्चित्त को प्राप्त करता है।

२४८५.अहवा आणाइविराहणाउ एक्किक्कियाउ चरिमपदं।
पावइ तेण उ नियमो, पच्छित्तिहरा अइपसंगो॥

अथवा आज्ञा, अनवस्था, मिथ्यात्व और विराधना में चरमपद है विराधना। विराधना के दो प्रकार हैं—आत्म-विराधना और संयमविराधना। उसके एक-एक से चरमपद प्रायश्चित्त आता है। इसलिए यह नियम है कि जो वहां ठहरता है उसके स्थान प्रायश्चित्त ही आता है, प्रतिसेवना प्रायश्चित्त नहीं। अन्यथा अतिप्रसंग होगा।

२४८६.नत्थि खलु अपच्छित्ती,
एवं न य दाणि कोइ मुच्चिज्जा।
कारि-अकारीसमया,
एवं सइ राग-दोसा य॥

यदि अप्रतिसेवी को भी प्रायश्चित्त आता है तो फिर एक भी अप्रायश्चित्ती नहीं मिलेगा। कोई भी अभी कर्मबंधनों से मुक्त नहीं होगा। तथा दोष करने वाला और न करने वाला—दोनों समान हो जाएंगे। इस प्रकार प्रायश्चित्त देने पर राग-द्वेष की बात आएगी।

२४८७.मुरियादी आणाए, अणवत्थ परंपराए थिरिकरणं।
मिच्छत्ते संकादी, पसज्जणा जाव चरिमपदं॥

मौर्यवंशीय तथा आज्ञा को सार मानने वाले अन्य राजा—इनका दृष्टांत है। पहले अनवस्था, फिर परंपरा और फिर उसी अपराध पद का स्थिरीकरण। फिर मिथ्यात्व, शंका आदि। पसज्जना फिर चरमपद अर्थात् पारांचिक पर्यन्त प्रायश्चित्त।

२४८८.अवराहे लहुगयरो, किं णु हु आणाए गुरुतरो दंडो।
आणाए च्चिय चरणं, तब्भंगे किं न भग्गं तु॥

शिष्य ने पूछा—अपराध में लघुतर दंड और आज्ञाभंग में गुरुतर दंड—यह क्यों? आचार्य ने कहा—आज्ञा से ही चरण व्यवस्थित होता है। आज्ञा के भंग होने पर चरण का भंग क्यों नहीं होगा?

२४८९.भत्तमदाणमडंते, आणट्ठवणंब छेत्तु वंसवती।
गविसण पत्त दरिसए, पुरिसवइ सबालडहणं च॥

मौर्य दृष्टांत—चंद्रगुप्त मौर्य राजा बना। वह मोरपोषक का पुत्र है, यह सोचकर उसकी आज्ञा का पालन नहीं होता था। चाणक्य ने सोचा—**आणाहीणो केरिसो राया।** इसलिए मुझे ऐसा प्रयत्न करना चाहिए जिससे राजा की आज्ञा तीक्ष्ण हो। चाणक्य भिक्षा के लिए एक गांव में गया। वहां उसे भिक्षा नहीं मिली। उस गांव में अनेक आम के वृक्ष और बांस थे। चाणक्य ने आज्ञा की स्थापना के लिए, उस गांव वालों के पास राजा का एक आदेश भेजा—आम के वृक्षों को उखाड़ कर बांस के चारों तरफ बाड़ लगा दें। यह आदेश गांव वालों के पास पहुंचा। उन्होंने सोचा—राजाज्ञा दुर्लिखित है। गांव वालों ने बांस का छेदन कर आम के चारों ओर उनकी बाड़ लगा दीं। चाणक्य ने यह देखा। उसने गांव वालों को उपालंभ देते हुए कहा—यह क्या किया? आज्ञा का पालन क्यों नहीं किया? पुरुषों से बाड बनाई। गांव को जला डाला।[2]

२४९०.एगमरणं तु लोए, आणऽइआरुत्तरे अणंताइं।
अवराहरक्खणट्ठा, तेणाणा उत्तरे बलिया॥

---

१. प्रसज्जना होती है अर्थात् मुनि को वहां बैठा देखकर कोई स्त्री सोच सकती है कि यह मुनि प्रतिसेवना के लिए यहां बैठा है। उससे भोजिक आदि का दोष प्रसंग होता है। यह प्रसज्जना प्रति प्रायश्चित्त के लिए होती है।

२. देखें कथा परिशिष्ट, नं. ७३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लोक में आज्ञा का अतिक्रमण करने पर एक बार ही मरना होता है। लोकोत्तर आज्ञा का अतिक्रमण करने पर अनंत जन्म-मरण प्राप्त होते हैं। इसलिए लोकोत्तर में अपराध की रोकथाम के लिए आज्ञा बलवान् होती है।

२४९१.अणवत्थाए पसंगो, मिच्छत्ते संकमाइया दोसा।
दुविहा विराहणा पुण, तहियं पुण संजमे इणमो॥

यह बहुश्रुत मुनि भी सागारिक प्रतिश्रय में रहता है तो मैं क्यों न रहूं—इस प्रकार अनवस्था का प्रसंग उपस्थित होता है। शंका आदि दोष के कारण मिथ्यात्व का प्रसंग आता है। विराधना के दो प्रकार हैं—संयमविराधना और आत्म-विराधना। संयमविराधना यह है—

२४९२.अणट्ठादंडो विकहा, वक्खेवो विसोत्तियाए सइकरणं।
आलिंगणाइदोसा, असन्निहिए ठायमाणस्स॥

अनर्थदंड—ज्ञान आदि की हानि, विकथा, व्याक्षेप—प्रतिमा को देखने से सूत्रार्थ का परिमंथ, विस्रोतसिका, स्मृतिकरण, आलिंगन आदि दोष—ये सारे असन्निहित[1] प्रतिमा वाले उपाश्रय में रहने से होते हैं।

२४९३.सुट्ठु कया अह पडिमा,
विणासिया न वि य जाणसि तुमं पि।
इय विकहा अहिगरणं,
आलिंगणे भंगे भद्दितरा॥

प्रतिमा को देखकर विकथा करते हुए—एक कहता है यह प्रतिमा सुन्दर बनाई है। दूसरा कहता कहता है—इस प्रतिमा का विनाश कर डाला। तुम कुछ भी नहीं जानते। इस विकथा से अधिकरण का प्रसंग आता है। प्रतिमा का आलिंगन करने पर प्रतिमा का भंग हो सकता है। इससे भद्रक अर्थात् प्रतिमा का हस्तभंग आदि होने पर भद्रक हो तो पुनः उसका संस्थापन करना होता है और इतर अर्थात् प्रान्त हो तो ग्रहण, आकर्षण आदि दोष होता है।

२४९४.वीमंसा पडिणीयट्ठया व भोगत्थिणी व सन्निहिया।
काणच्छी उक्कंपण, आलाव निमंतण पलोभे॥

देवता द्वारा सन्निहित प्रतिमावाले उपाश्रय में रहने से उपरोक्त दोष तो होते ही हैं, ये दोष और अधिक होते हैं—जो देवता सन्निहित है वह साधु को तीन कारणों से प्रलुब्ध करती है—विमर्श से (जिज्ञासा से), प्रत्यनीकता से तथा भोगार्थिता से। पहले प्रतिमा-स्थित देवी यह विमर्श करती है कि क्या मैं इस मुनि को पथच्युत कर सकती हूं या नहीं। फिर वह प्रतिमा में प्रवेश कर काणाक्षी—कटाक्ष करती है, स्तनों को प्रकंपित करती है, आलाप करती है, फिर निमंत्रण देती हुई कहती है—स्वामिन्! मेरे साथ भोग भोगें और वह कक्षान्तर आदि दिखाकर मुनि को प्रलुब्ध करती है।

२४९५.काणच्छिमाइएहिं, खोभिय उद्धाइयस्स भद्दा उ।
नासइ इयरो मोहं, सुवण्णकारेण दिट्ठंतो॥

कटाक्ष आदि से क्षुब्ध मुनि उसको पकड़ने के लिए दौड़ता है तो यदि वह देवी भद्र है तो वह अदृश्य हो जाती है। साधु उसके प्रति मोहग्रस्त हो जाता है। यहां स्वर्णकार का दृष्टांत वक्तव्य है।[2]

२४९६.वीमंसा पडिणीया,विहरिसण-ऽक्खित्तमादिणो दोसा।
असंपत्ती संपत्ती, लग्गस्स य कड्ढणादीणि॥

प्रत्यनीक देवी भी मुनि को विमर्श—कटाक्ष आदि से क्षुब्ध करती है, मुनि जब उसे पकड़ने दौड़ता है। तब वह उसके हाथ में न आकर अपना विकृतरूप दिखाती है अथवा वह साधु के क्षिप्तचित्त आदि दोषों को पैदा कर देती है अथवा परिभोगसंपत्ति करती है। साधु को देवी के साथ लगा हुआ देखकर स्वामी या अन्य उसको पकड़ लेता है, उसको राजा आदि के पास ले जाता है।

२४९७.पंता उ असंपत्तीइ चेव मारिज्ज खेत्तमादी वा।
संपत्तीइ वि लाएतु कड्ढणादीणि कारेज्जा॥

जो प्रान्त देवी है वह इस प्रकार की चेष्टा करने वाले साधु को, बिना संप्राप्ति के ही मार देती है अथवा उसमें क्षिप्तचित्त आदि दोष उत्पन्न कर देती है। संप्राप्ति में भी उसको पकड़ कर राजा आदि के पास ले जाया जाता है।

२४९८.भोगत्थी विगए कोउगम्मि खित्ताइ दित्तचित्तं वा।
दट्ठूण व सेवंतं, देउलसामी करेज्ज इमं॥
२४९९.तं चेव निद्धवेई, बंधण निच्छुभण कडगमद्दे अ।
आयरिए गच्छम्मि य, कुल गण संघे य पत्थारो॥

भोगार्थी देवी मुनि के साथ भोग भोगकर भोगविषयक कौतुक समाप्त हो जाने पर 'दूसरी देवी के साथ भोग न भोगे' यह सोचकर उस मुनि को क्षिप्तचित्त, दृप्तचित्त या यक्षाविष्ट कर देती है। अथवा देवता के साथ भोग भोगते साधु को देखकर देवकुल का स्वामी उसके साथ इस प्रकार करता है—वह साधु के साथ मारपीट करता है, उसको बांध देता है, अथवा उसको नगर के बाहर निकाल देता है अथवा कटकमर्द—एक साधु के अपराध के कारण समस्त साधुवर्ग को मार देता है, अथवा उसके आचार्य, गच्छ, कुल, गण, संघ का प्रस्तार—विनाश कर देता है।

१. सन्निहित अर्थात् देवता द्वारा अधिष्ठित। असन्निहित अर्थात देवता द्वारा अनधिष्ठित।

२. आवश्यक, हारिभद्रीया टीका पत्र २९६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२५००.गिण्हणे गुरुगा छम्मास कड्ढणे छेदो होइ ववहारे।
पच्छाकडम्मि मूलं, उड्डहण-विरुंगणे नवमं॥
२५०१.उद्दावण निव्विसए, एगमणेगे पदोस पारंची।
अणवट्ठप्पो दोसु उ, दोसु उ पारंचिओ होइ॥

यदि देवकुल का स्वामी प्रतिसेवना करते हुए मुनि को पकड़ता है तो चार गुरुमास, हाथ या वस्त्र खींच कर राजकुल ले जाता है तो षड्लघु, साधु द्वारा प्रत्याकर्षित करने पर षड्गुरुमास, व्यवहार प्रारंभ होने पर छेद, पश्चात्कृत अर्थात् पराजित होने पर मूल, उड्डहन–गधे पर बिठाए जाने पर या विरूप बनाने पर अर्थात् नाक आदि काटने पर नौवां प्रायश्चित्त–अनवस्थाप्य, एक या अनेक साधुओं का प्रद्वेष से अपद्रावण, या देश-निष्काशन होने पर पारांचिक प्रायश्चित्त आता है। इस प्रकार उनको उड्डहन तथा विरूप किए जाने पर इन दोनों में अनवस्थाप्य, तथा इन दोनों में अपद्रावण या देश-निष्काशन होने पर पारांचिक प्रायश्चित्त आता है।

२५०२.एयस्स नत्थि दोसो,
अपरिक्खियदिक्खगस्स अह दोसो।
इति पंतो निव्विसए,
उद्दवण विरुंचणं व करे॥

अथवा प्रद्विष्ट होने पर कहा जाता है–इस मुनि का दोष नहीं है, किन्तु इसकी परीक्षा किए बिना जिस आचार्य ने इसको दीक्षित किया है उसका दोष है, यह सोचकर वह प्रान्त व्यक्ति आचार्य को देश से निष्काशन अथवा अपद्रावण या विरुंपन--कर्ण-नासा आदि का छेदन कर दिया जाता है।

२५०३.तत्थेव य पडिबंधो, अदिट्ठगमणाइ वा अणिंतीए।
एए अन्ने य तहिं, दोसा पुण होंति सन्निहिए॥

अथवा वहीं उसी देवी में मुनि का प्रतिबंध हो जाता है अथवा वह व्यन्तरी अदृष्ट हो जाए, पुनः न आए, तब वह मुनि प्रतिगमन आदि कर सकता है। ये तथा इसी प्रकार के अन्य दोष प्रतिमारूप सन्निहित उपाश्रय में होते हैं।

२५०४.कट्ठे पुत्थे चित्ते, दंतकम्मे य सेलकम्मे य।
दिट्ठिप्पत्ते रूवे, वि खित्तचित्तस्स भंसणया॥

सन्निहित प्रतिमाओं के ये प्रकार हैं–काष्ठमयी, पुस्तमयी, चित्रमयी, दन्तकर्ममयी, शैलकर्ममयी। इनका रूप देखने मात्र से क्षिप्तचित्त मुनि की संयमजीवन से भ्रंसना हो जाती है।

२५०५.सुहविन्नवणा सुहमोयगा य
सुहविन्नवणा य होति दुहमोया।
दुहविन्नप्पा य सुहा,
दुहविन्नप्पा य दुहमोया॥

सन्निहित देवियों के ये चार प्रकार हैं–(१) सुखविज्ञपना-सुखमोचा। (२) सुखविज्ञपना-दुःखमोचा, (३) दुःखविज्ञपना-सुखमोचा (४) दुःखविज्ञपना-दुःखमोचा। (विज्ञपना का अर्थ है–प्रार्थना या प्रतिसेवना।)

२५०६.सोपारयम्मि नगरे, रन्ना किर मग्गितो उ निगमकरो।
अकरो त्ति मरणधम्मा, बालतवे धुत्तसंजोगो॥
२५०७.पंच सय भोइ अगणी, अपरिग्गहि सालिभंजि सिंदूरे।
तुह मज्झ धुत्त पुत्तादि अवन्ने विज्जखीलणया॥

प्रथम विकल्प में यह दृष्टांत है–

सोपारक नगर के राजा ने निगमों (विशेष वणिकों) को कर देने के लिए कहा। उन्होंने राजा से कहा–हम अकर हैं। आज हम कर देंगे तो वह सदा-सदा के लिए लागू हो जाएगा। हम कर नहीं देंगे। उन्होंने कर देने के बदले अग्नि में प्रवेश कर मरना श्रेयस्कर समझा। वे सब अग्नि में प्रवेश कर मर गए। उनकी पत्नियां भी अग्नि में प्रवेश कर मर गईं। सभी बालतप के कारण मरकर अपरिगृहीत देवियां बनीं। वहां एक सिन्दूर की भांति लाल देवकुल था। वहां पांच सौ पुतलियां थीं। उन देवियों ने इन पुतलियों में प्रवेश कर डाला। वे सभी वहां स्थित धूर्तों से संप्रलग्न हो गईं। 'यह तुम्हारी है, यह मेरी है'–इस प्रकार धूर्तों में विवाद होने लगा। उन सबका पूर्वभव वृत्तांत सुनकर यह हमारा अवर्णवाद है, यह मानकर उन्होंने विद्याप्रयोग से सबको कीलित कर डाला।

२५०८.बिइयम्मि रयणदेवय, तइए भंगम्मि सुइगविज्जाओ।
गोरी-गंधाराइ, दुहविण्णप्पा य दुहमोया॥

दूसरे भंग में रत्न देवी का निदर्शन है। वह अल्प ऋद्धिवाली तथा कामातुर देवी थी। वह सुखविज्ञपना और दुःखमोचा थी। तीसरे भंग में शुचिभूत विद्यादेवियों का निदर्शन है। वे शुचिभूत और महर्द्धिक होने के कारण दुःखविज्ञपना होती हैं। वे उग्ररूप नित्य अप्रमत्त साधक द्वारा आराधनीय होती हैं। अन्त में अपाय के कारण सुखमोचा होती हैं। चौथे भंग में गौरी, गान्धारी आदि मातंग विद्यादेवियां आती हैं। वे लोक-गर्हित होने के कारण दुःखविज्ञप्या और दुःखमोचा होती हैं।

२५०९.तिण्ह वि कतरो गुरुतो, पागइ कोडुंबि दंडिए चेव।
साहस अपरिक्ख भए, इयरे पडिपक्ख पभु राया॥

शिष्य ने पूछा–भंते! प्राजापत्य, कौटुंबिक और दंडिक-परिगृहीत–इन तीनों में कौन सा गुरुतर है? शिष्य ही कहता है–मैं मानता हूं कि प्राजापत्य परिगृहीत प्रतिमा ही गुरुतर होती है, शेष दोनों लघुतर। क्योंकि साहस अर्थात् प्राकृत जन मूर्खता से साहसिक और अपरीक्षितकारी होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनीश्वर होने के कारण उसमें भय नहीं रहता, अतः वह साधु को मार भी सकता है। शेष दोनों—कौटुंबिक और दंडिक प्राकृत के प्रतिपक्षभूत हैं। आचार्य कहते हैं—दंडिक और कौटुंबिक गुरुतर हैं, क्योंकि उनका प्रभु राजा होता है। वह एक साधु पर रुष्ट होता है तो सारे संघ का विनाश कर देता है।

२५१०.ईसरियत्ता रज्जा व भंसए मन्नुपहरणा रिसओ।
ते य समिक्खियकारी, अण्णा वि य सिं बहू अत्थि॥

इसके प्रतिपक्ष में कहा जाता है—ये ऋषि मन्युप्रहरण—क्रोधरूपी शस्त्र वाले होते हैं। कौटुंबिक सोचता है—ये कुपित होकर मुझे ऐश्वर्य से च्युत कर सकते हैं। राजा सोचता है—ये मुझे राज्यच्युत कर सकते हैं। राजा आदि समीक्षितकारी होते हैं। उनके अन्यत्र भी अनेक प्रतिमाएं होती हैं। उनका एक के प्रति ही अनादर नहीं होता।

२५११.पत्थारदोसकारी, निवावराहो य बहुजणे फुसइ।
पागइओ पुण तस्स व,निवस्स व भया न पडिकुज्जा॥

राजा प्रस्तारदोषकारी होता है।[1] राजा के प्रति किया जाने वाला अपराध बहुत लोगों को ज्ञात हो जाता है। इसी प्रकार कौटुंबिक का भी होता है। प्राकृतापराध अनेक व्यक्तियों का स्पर्श नहीं करता। प्राकृतजन संयत या राजा के भय से कुछ प्रत्युपकार नहीं करता।

२५१२.अवि य हु कम्मद्दण्णो, न य गुत्ती ओ सि नेव दारट्ठा।
तेण कयं पि न नज्जइ, इतरत्थ पुणो धुवा दोसा॥

तथा प्राकृत जन अपने कार्य (खेतीबाड़ी) आदि में इतना लगा रहता है कि उसे अदन्न—क्षणभर का भी अवकाश नहीं मिलता। उसकी देवालयों के प्रति गुप्ति नहीं है, न वहां द्वारपाल ही है। कोई प्रतिमा की प्रतिसेवना करता है, वह भी ज्ञात नहीं होता। इतरत्र अर्थात् दंडिक और कौटुंबिक के प्रति अपराध से ध्रुव दोष होते हैं, वे ज्ञात हो जाते हैं।

२५१३.रन्नो य इत्थियाए, संपत्तीकारणम्मि पारंची।
अमच्ची अणवठप्पो, मूलं पुण पागयजणम्मि॥

राजा की स्त्री—अग्रमहिषी में जो मैथुनसंपत्ति लक्षण कारण में पारांचिक, अमात्य की पत्नी में अनवस्थाप्य और प्राकृतजन की स्त्री में मूल प्रायश्चित्त का विधान है।

२५१४.तुल्ले मेहुणभावे, नाणत्ताऽऽरोवणाय कीस कया।
जेण निवे पत्थारो, रागो वि य वत्थुमासज्ज॥

शिष्य पूछता है—स्त्रियों में मैथुनभाव की तुल्यता होने पर भी यह आरोपणा—प्रायश्चित्त का नानात्व क्यों किया गया? आचार्य ने कहा—इस अपराध में नृप प्रस्तार—कटकमर्द कर सकता है। इसलिए प्रायश्चित्त भी अधिक है। रागभाव भी वस्तु के आधार पर होता है।

२५१५.जइभागगया मत्ता, रागादीणं तहा चओ कम्मे।
रागाइविहुरया वि हु, पायं वत्थूण विहुरत्ता॥

मुनि की राग आदि की मात्रा जितने भाग में होती है, कर्म का चय भी उसी मात्रा में होता है। राग आदि की मात्रा का वैषम्य भी प्रायः वस्तु की विधुरता—सुंदर, सुंदरतर या सुंदरतम के आधार पर होती है।

२५१६.माणुस्सं पि य तिविहं, जहन्नगं मज्झिमं च उक्कोसं।
पायावच्च-कुडुंबिय-दंडियपारिग्गहं चेव॥

मनुष्यणी के भी तीन प्रकार हैं—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। प्रत्येक के तीन-तीन भेद हैं—प्राजापत्यपरिगृहीत कौटुंबिकपरिगृहीत और दंडिकपरिगृहीत।

२५१७.उक्कोस माउ-भज्जा, मज्झं पुण भगिणि-धूतमादीयं।
खरियादी य जहन्नं, पगयं सजितेतरे देहे॥

उत्कृष्ट है—माता और भार्या। मध्यम है—भगिनी, दुहिता, पौत्री आदि और जघन्य है—खरिका—दासी आदि अन्य स्त्रियां। यहां अधिकार है—देहयुत सजीव अथवा अजीव।

२५१८.पढमिल्लुगम्मि ठाणे, चउरो मासा हवंतऽणुग्घाया।
छम्मासाऽणुग्घाया, बिइए तइए भवे छेदो॥

प्रथम स्थान अर्थात् जघन्य मनुष्यणी वाले स्थान में रहने से चार अनुद्घातमास का प्रायश्चित्त आता है। द्वितीय अर्थात् मध्यम में छह अनुद्घातमास और तीसरे अर्थात् उत्कृष्ट में छेद प्रायश्चित्त का विधान है।

२५१९.पढमस्स तइयठाणे, छम्मासुग्घाइओ भवे छेदो।
चउमासो छम्मासो, बिइए तइए अणुग्घाओ॥

प्रथम अर्थात् प्राजापत्यपरिगृहीत के तृतीय अर्थात् उत्कृष्ट स्थान में रहने पर षाण्मासिक उद्घातिक छेद। द्वितीय—कौटुंबिकपरिगृहीत का तृतीय स्थान अर्थात् उत्कृष्ट स्थान में चतुर्गुरुक छेद और दंडिकपरिगृहीत के तृतीय स्थान में षाण्मासिक अनुद्घातिक छेद का प्रायश्चित्त है।

२५२०.पढमिल्लुगम्मि तवऽरिह,
दोहि वि लहु होंति एते पच्छित्ता।
बिइयम्मि य कालगुरू,
तवगुरुगा होंति तइयम्मि॥

प्रथम—प्राजापत्यपरिगृहीत के जघन्य और मध्यम स्थान में रहने पर जो तपोर्ह प्रायश्चित्त—चतुर्गुरु और षड्गुरु—ये तप और काल—दोनों से लघु होते हैं, कौटुंबिकपरिगृहीत में वे

१. प्रस्तारदोषकारी—कटकमर्द करने के अधिकार से संपन्न। कटकमर्द का अर्थ है—एक के अपराध पर सबको मौत के घाट उतार देना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही तप और काल से गुरु और दंडिकपरिगृहीत में वे ही तप से गुरु और काल से लघु होते हैं। (यह सारा स्थान-प्रायश्चित्त है।)

२५२१.चउगुरुका छग्गुरुका, छेदो मूलं जहण्णए होइ।
छग्गुरुक छेअ मूलं, अणवट्ठप्पो अ मज्झिमए॥

२५२२.छेदो मूलं च तहा, अणवट्ठप्पो य होइ पारंची।
एवं दिट्ठमदिट्ठे, सेवंते पसज्जणं मोत्तुं॥

प्रथम के जघन्य अदृष्ट प्रतिसेवना चतुर्गुरु, दृष्ट में षड्गुरु। द्वितीय में जघन्य अदृष्ट प्रतिसेवना षण्मासगुरु, दृष्ट में छेद। तृतीय के मध्यम अदृष्ट प्रतिसेवना छेद, दृष्ट में मूल।

प्रथम के मध्यम अदृष्ट प्रतिसेवना षण्मासगुरु, दृष्ट में छेद। द्वितीय के मध्यम अदृष्ट प्रतिसेवना छेद, दृष्ट में मूल। तृतीय के मध्यम अदृष्ट प्रतिसेवना मूल, दृष्ट में अनवस्थाप्य।

प्रथम के उत्कृष्ट अदृष्ट प्रतिसेवना छेद, दृष्ट में मूल। द्वितीय के उत्कृष्ट अदृष्ट प्रतिसेवना मूल, दृष्ट में अनवस्थाप्य। तृतीय में उत्कृष्ट अदृष्ट प्रतिसेवना में अनवस्थाप्य, दृष्ट में पारांचिक। इस प्रकार दृष्ट-अदृष्ट प्रतिसेवना करने वाले के प्रसज्जना तथा भोजिक आदि की शंका को छोड़कर यह प्रायश्चित्त है।

२५२३.जम्हा पढमे मूलं, बिइए अणवट्ठो तइए पारंची।
तम्हा ठायंतस्सा, मूलं अणवट्ठ पारंची॥

जिससे प्रथम अर्थात् जघन्य की प्रतिसेवना करने वाले के चतुर्लघु से प्रारंभ कर मूल पर्यन्त, द्वितीय अर्थात् मध्यम में चतुर्गुरु से अनवस्थाप्य पर्यन्त और तृतीय अर्थात् उत्कृष्ट में षड्लघु से पारांचिक पर्यन्त प्रायश्चित्त आता है। इसीलिए जो वहां रहता है उसके स्थाननिष्पन्न जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट में मूल, अनवस्थाप्य और पारांचिक प्रायश्चित्त विहित है।

२५२४.पडिसेवणाए एवं, पसज्जणा तत्थ होइ इक्किक्के।
चरिमपदे चरिमपदं, तं पि य आणाइनिप्फन्नं॥

प्रतिसेवना में ये प्रायश्चित्त हैं। प्रत्येक प्रायश्चित्त में प्रसज्जना होती है। चरमपद का अर्थ है—अदृष्टपद से दृष्टपद और उस प्रायश्चित्त का चरमपद है पारांचिक तक प्रायश्चित्त है। तथा आज्ञाभंग आदि से निष्पन्न प्रायश्चित्त भी आता है।

२५२५.ते चेव तत्थ दोसा, मोरियआणाए जे भणिय पुव्विं।
आलिंगणाइ मोत्तुं, माणुस्से सेवमाणस्स॥

वे ही अर्थात् अनवस्था-मिथ्यात्व आदि मनुष्यणी संबंधी दोष होते हैं जो पूर्व गाथा (२४८७) में कहे गए हैं। अन्तर इतना ही है कि दिव्य प्रतिमा में आलिंगन आदि से होने वाले जो प्रतिमा भंग आदि दोषों को छोड़कर देहयुत मानुष्यक की प्रतिसेवना से शेष दोष होते हैं।

२५२६.आलिंगंते हत्थाइभंजणे जे उ पच्छकम्मादी।
ते इह नत्थि इमे पुण, नक्खादिविछेअणे सूया॥

लेप्य प्रतिमा के आलिंगन से जो हाथ-पैर आदि के टूट जाने पर पश्चात्कर्म आदि जो दोष कहे गए हैं वे देहयुत मानुष्यणी के आलिंगन में नहीं होते। किन्तु ये दोष होते हैं—वह कामातुर स्त्री उस साधु के शरीर को अनेक स्थानों पर नखों से विच्छेदन करती है। इससे यह सूचा होती है कि यह श्रमण प्रतिसेवक है।

२५२७.सुहविन्नप्पा सुहमोइगा य
सुहविन्नप्पा य होंति दुहमोया।
दुहविन्नप्पा य सुहा,
दुहविन्नप्पा य दुहमोया॥

मानुषी के ये चार विकल्प हैं—
१. सुखविज्ञप्या-सुखमोच्या।
२. सुखविज्ञप्या-दुःखमोच्या।
३. दुःखविज्ञप्या-सुखमोच्या।
४. दुःखविज्ञप्या-दुःखमोच्या।

२५२८.खरिया महिड्ढिगणिया, अंतेपुरिया य रायामाया य।
उभयं सुहविन्नवणा, सुमोय दोहिं पि य दुमोया॥

पहले विकल्प का उदाहरण है दासी, दूसरी का महर्द्धिका गणिका, तीसरे का अंतःपुरिका और चौथे का उदाहरण है राजमाता। पहला विकल्प दोनों सुखपूर्वक, दूसरे में सुखविज्ञपना पर दुःखमोच्या, तीसरे में सुखमोच्या पर दुःखविज्ञपना और चौथे में दोनों दुःखपूर्वक होते हैं।

२५२९.तिण्ह वि कयरो गुरुओ, पागय कोडुंबि दंडिए चेव।
साहस असमिक्ख भए, इयरे पडिपक्ख पभु राया॥

शिष्य ने पूछा—भंते! प्राजापत्य, कौटुंबिक और दंडिक-परिगृहीत—इन तीनों में कौन सा गुरुतर है? शिष्य ही कहता है—मैं मानता हूं कि प्राजापत्य परिगृहीत स्त्रियां ही गुरुतर होती है, शेष दोनों लघुतर। क्योंकि साहस अर्थात् प्राकृत जन मूर्खता से साहसिक और अपरीक्षितकारी होता है। अनीश्वर होने के कारण उसमें भय नहीं रहता, अतः वह साधु को मार भी सकता है। शेष दोनों—कौटुंबिक और दंडिक प्राकृत के प्रतिपक्षभूत हैं। आचार्य कहते हैं—दंडिक और कौटुंबिक गुरुतर हैं, क्योंकि उनका प्रभु राजा होता है। वह एक साधु पर रुष्ट होता है तो सारे संघ का विनाश कर देता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२५३०.ईसरियत्ता रज्जा, व भंसए मन्नुपहरणा रिसओ।
ते य समिक्खियकारी, अन्ना वि य सिं बहू अत्थि॥

इसके प्रतिपक्ष में कहा जाता है—ये ऋषि मन्युप्रहरण—क्रोधरूपी शस्त्र वाले होते हैं। कौटुंबिक सोचता है—ये कुपित होकर मुझे ऐश्वर्य से च्युत कर सकते हैं। राजा सोचता है—ये मुझे राज्यच्युत कर सकते हैं। राजा आदि समीक्षितकारी होते हैं। उनके अन्यत्र भी अनेक स्त्रियां होती हैं। उनका एक के प्रति ही अनादर नहीं होता।

२५३१.पत्थारदोसकारी, निवावराहो य बहुजणे फुसइ।
पागइओ पुण तस्स व,निवस्स व भया न पडिकुज्जा॥

राजा प्रस्तारदोषकारी होता है। राजा के प्रति किया जाने वाला अपराध बहुत लोगों को ज्ञात हो जाता है। इसी प्रकार कौटुंबिक का भी होता है। प्राकृतापराध अनेक व्यक्तियों का स्पर्श नहीं करता। प्राकृतजन संयत या राजा के भय से कुछ प्रत्युपकार नहीं करता।

२५३२.अवि य हु कम्मद्दण्णा, न य गुत्तीओ सि नेव दारद्वा॥
तेणं कयं पि न नज्जइ, इतरत्थ पुणो धुवो दोसो॥

प्राकृत जन अपने कार्य में लगा रहता है। उसे क्षणभर का भी अवकाश नहीं रहता। उनमें गुप्ति भी नहीं होती और वर्जना करने वाला भी नहीं होता। उसके द्वारा स्त्रियों के प्रति किया जाने वाला अनर्थ ज्ञात नहीं होता। इतरत्र किये जाने वाला दोष जनता को ज्ञात हो जाता है।

२५३३.तुल्ले मेहुणभावे, नाणत्ताऽऽरोवणा उ कीस कया।
जेण निवे पत्थारो, रागो वि य वत्थुमासज्जा॥

शिष्य पूछता है—स्त्रियों में मैथुनभाव की तुल्यता होने पर भी यह आरोपणा—प्रायश्चित्त का नानात्व क्यों किया गया? आचार्य ने कहा—इस अपराध में नृप प्रस्तार—कटकमर्द कर सकता है। इसलिए प्रायश्चित्त भी अधिक है। रागभाव भी वस्तु के आधार पर होता है।

२५३४.तेरिच्छं पि य तिविहं, जहन्नयं मज्झिमं च उक्कोसं।
पायावच्च-कुडुंबिय-दंडियपारिग्गहं चेव॥

तिर्यंचस्त्रियों के भी रूप तीन प्रकार के हैं—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। प्रत्येक के तीन-तीन भेद हैं— प्राजापत्य-परिगृहीत, कौटुंबिकपरिगृहीत और दंडिक-परिगृहीत।

२५३५.अइय अमिला जहन्ना,
खरि महिसी मज्झिमा वलवमादी।
गोणि करेणुक्कोसा,
पगयं सजितेतरे देहे॥

जघन्यरूप—छगलिका, एडका। मध्यम—गधी, महिषी, घोड़ी आदि। उत्कृष्ट—गाय, हथिनी। इन तीनों के दो-दो प्रकार हैं—प्रतिमायुत और देहयुत। प्रस्तुत में सजीव तथा इतर अर्थात् अजीव देहयुत का अधिकार है।

२५३६.चत्तारि य उग्घाया, जहन्नए मज्झिमे अणुग्घाया।
छम्मासा उग्घाया, उक्कोसे ठायमाणस्स॥

प्राजापत्यपरिगृहीत आदि जघन्य देहयुत तिर्यंची वाले स्थान पर रहने से चार उद्घातमास, मध्यम में चार अनुद्घात और उत्कृष्ट स्थान में रहने पर षण्मासउद्घात का प्रायश्चित्त है।

२५३७.पढमिल्लुगम्मि ठाणे, दोहि वि लहुगा तवेण कालेणं।
बिइयम्मि उ कालगुरू, तवगुरुगा होंति तइयम्मि॥

प्रथम स्थान में रहने पर जो प्रायश्चित्त आता है वह तप और काल से लघु होता है। दूसरे में कालगुरु और तीसरे में तपःगुरु।

२५३८.चउरो लहुगा गुरुगा, छेदो मूलं जहन्नए होइ।
चउगुरुग छेद मूलं, अणवट्ठप्पो य मज्झिमए॥
२५३९.छेदो मूलं च तहा, अणवट्ठप्पो य होइ पारंची।
एवं दिट्ठमदिट्ठे, सेवंते पसज्जणं मोत्तुं॥

प्राजापत्यपरिगृहीत जघन्य अदृष्ट प्रतिसेवना चतुर्लघु।
प्राजापत्यपरिगृहीत जघन्य दृष्ट प्रतिसेवना चतुर्गुरु।
कौटुंबिकपरिगृहीत जघन्य अदृष्ट प्रतिसेवना चतुर्गुरु।
कौटुंबिकपरिगृहीत जघन्य दृष्ट प्रतिसेवना छेद।
दंडिकपरिगृहीत जघन्य अदृष्ट प्रतिसेवना छेद।
दंडिकपरिगृहीत जघन्य दृष्ट प्रतिसेवना मूल।
प्रथम मध्यम अदृष्ट चतुर्गुरु, दृष्ट छेद।
द्वितीय मध्यम अदृष्ट छेद, दृष्ट मूल।
तृतीय मध्यम अदृष्ट मूल, दृष्ट अनवस्थाप्य।
प्रथम उत्कृष्ट अदृष्ट छेद, दृष्ट मूल।
द्वितीय उत्कृष्ट अदृष्ट मूल, दृष्ट अनवस्थाप्य।
तृतीय उत्कृष्ट अदृष्ट अनवस्थाप्य, दृष्ट पारांचिक।

यह प्रायश्चित्त दृष्ट-अदृष्ट की प्रसज्जना को छोड़कर कहा गया है।

२५४०.जम्हा पढमे मूलं, बिइए अणवट्ठो तइए पारंची।
तम्हा ठायंतस्सा, मूलं अणवट्ठ पारंची॥

जिससे प्रथम अर्थात् जघन्य की प्रतिसेवना करने वाले के चतुर्लघु से प्रारंभ कर मूल पर्यन्त, द्वितीय अर्थात् मध्यम में चतुर्गुरु से अनवस्थाप्य पर्यन्त और तृतीय अर्थात् उत्कृष्ट में षड्लघु से पारांचिक पर्यन्त प्रायश्चित्त आता है। इसीलिए जो वहां रहता है उसके स्थाननिष्पन्न जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट में मूल, अनवस्थाप्य और पारांचिक प्रायश्चित्त विहित है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२५४१.पडिसेवणाए एवं, पसज्जणा तत्थ होइ इक्केक्के।
चरिमपदे चरिमपदं, तं पि य अणाइनिप्फन्नं॥

प्रतिसेवना में ये प्रायश्चित्त हैं। प्रत्येक प्रायश्चित्त में प्रसज्जना होती है। चरमपद का अर्थ है–अदृष्टपद से दृष्टपद और उस प्रायश्चित्त का चरमपद है पारांचिक तक प्रायश्चित्त है। तथा आज्ञाभंग आदि से निष्पन्न प्रायश्चित्त भी आता है।

२५४२.ते चेव तत्थ दोसा, मोरियआणाए जे भणिय पुव्विं।
आलावणाइ मोत्तुं, तेरिच्छे सेवमाणस्स॥

वे ही दोष जो मौर्य आज्ञा के संदर्भ में पहले कहे गए (गाथा २४८७) तथा मनुष्यद्वार में (२५२५-२५२६) बताए गए हैं वे होते हैं। केवल आलापना आदि को छोड़कर शेष सारे तिर्यंची देहयुत सेवना करने वाले के होते हैं।

२५४३.जह हास-खेड्ड-आगार-बिब्भमा होंति मणुयइत्थीसु।
आलावा य बहुविधा, तह नत्थि तिरिक्खइत्थीसु॥

जैसे मनुष्यस्त्रियों के साथ हास्य, क्रीडा, आकार, विभ्रम, तथा बहुविध आलापक होते हैं, वैसे तिर्यंच स्त्रियों के साथ नहीं होते।

२५४४.सुहविण्णप्पा सुहमोइगा य,
सुहविण्णप्पा य होंति दुहमोया॥
दुहविण्णप्पा य सुहा,
दुहविण्णप्पा य दुहमोया॥

तैरश्ची के चार विकल्प हैं–

१. सुखविज्ञप्या-सुखमोच्या।
२. सुखविज्ञप्या-दुःखमोच्या।
३. दुःखविज्ञप्या-सुखमोच्या।
४. दुःखविज्ञप्या-दुःखमोच्या।

२५४५.अमिलाई उभयसुहा, अरहण्णगमाइमक्कडि दुमोया।
गोणाइ तइयभंगे, उभयदुहा सीहि-वग्घीओ॥

अमिला–एडका आदि तिर्यंच उभयसुख वाले होते हैं। अरहन्नक की भाभी का उसके प्रति अनुराग था। वह मरकर बंदरी बनी। वह उसके लिए दुःखमोचा हो गई। तीसरे भंग में गाय आदि। ये दुःखविज्ञप्या और सुखमोचा होती हैं। सिंहनी, व्याघ्री आदि उभयदुःखा होती हैं।

२५४६.जइ ता सणप्फईसुं, मेहुणभावं तु पावए पुरिसो।
जीवियदोच्चा जहियं, किं पुण सेसासु जाईसु॥

यदि सनखपदवाली तिर्यंच स्त्रियों में–सिंहनी, व्याघ्री आदि जिनमें जीवितदोच्च–प्राणभय बना रहता है, उनमें भी मैथुनभाव को प्राप्त होता है तो फिर शेष तिर्यंचस्त्रियों की तो बात ही क्या?

(एक सिंहनी ऋतुकाल में मैथुनार्थी हो गई। उसे कोई सिंह न मिलने पर, वह किसी एक सार्थ से एक पुरुष को उठाकर अपने गुफा में ले आई और उसकी चाटुकारिता करने लगी। पुरुष ने सिंहनी के साथ मैथुन प्रतिसेवना की। दोनों में अनुराग हो गया। यह क्रम प्रतिदिन चलता रहा। सिंहनी मांस के द्वारा उस पुरुष का पोषण करने लगी। पुरुष को अब उसका भय नहीं रहा।)

२५४७.एसेव कमो नियमा, निग्गंथीणं पि होइ नायव्वो।
पुरिसपडिमाउ तासिं, साणम्मि य जं च अणुरागो॥

यही द्रव्य-भावसागारिक का क्रम नियमतः श्रमणियों के लिए भी ज्ञातव्य है। पुरुष प्रतिमा वाले स्थान में वे न रहें। तिर्यंच पुरुष में श्वान के अनुराग का दृष्टांत है। (एक स्त्री एकांत में कायिकी का उत्सर्ग कर रही थी। एक कुत्ते ने उसे देख लिया। वह अपनी पूंछ हिलाता हुआ उसके पास आया और चाटुकारिता करने लगा। स्त्री ने सोचा–देखती हूं, यह क्या करता है? वह अपनी योनि को उस कुत्ते के सामने कर सो गई। कुत्ते ने उसके साथ प्रतिसेवना की। स्त्री का कुत्ते के प्रति अनुराग हो गया। इसी प्रकार मृग, बकरा, वानर आदि भी स्त्री की अभिलाषा करते हैं।)

२५४८.अद्धाणनिग्गयादी, तिक्खुत्तो मग्गिऊण असईए।
गीयत्था जयणाए, वसंति तो दव्वसागरिए॥

अध्वनिर्गत श्रमणियों को यदि तीन बार गवेषणा करने पर भी उपयुक्त प्रतिश्रय प्राप्त न हो तो गीतार्थ श्रमणियां द्रव्य–सागारिक पुरुष उपाश्रय में रह सकती हैं।

२५४९.जहिं अप्पतरा दोसा, आभरणादीण दूरतो य मिगा।
चिलिमिलि निसि जागरणं, गीए सज्झाय-झाणादी॥

जहां रूप और आभरण आदि से अल्पतर दोष होते हैं वहां रहती हैं। मृग की भांति अज्ञ वे आभरण आदि का दूर से ही परिहार करती हैं। चिलिमिलिका आदि बांधकर आवरण कर लेती हैं। रात्री में जागरण करती हैं, जिससे उन प्रतिमाओं को पहनाए गए आभरण कोई चुरा न ले। गीत आदि के शब्द सुनाई देने से जोर-जोर से स्वाध्याय करे, ध्यान में लीन हो जाए।

२५५०.अद्धाणनिग्गयादी, वासे सावयभए व तेणभए।
आवरिया तिविहे वी, वसंति जयणाए गीयत्था॥

अध्वनिर्गत यदि ग्राम में वसति प्राप्त न हो तो बाह्य उद्यान में भी ठहरा जा सकता है। वहां ये भय रहते हैं–वर्षा का भय, चोरों का भय। अतः वे श्रमणियां तीनों प्रकार के सागारिक प्रतिश्रय में, गांव में प्रतिमाओं को आवृत कर रह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकती हैं। वहां वे गीतार्थ श्रमणियां यतनापूर्वक वास कर सकती हैं।

नो कप्पइ निग्गंथाणं इत्थिसागारिए उवस्सए वत्थए॥ (सूत्र २६)

कप्पइ निग्गंथाणं पुरिससागारिए उवस्सए वत्थए॥ (सूत्र २७)

नो कप्पइ निग्गंथीणं पुरिससागारिए उवस्सए वत्थए॥ (सूत्र २८)

कप्पइ निग्गंथीणं इत्थिसागारिए उवस्सए वत्थए॥ (सूत्र २९)

२५५१.अविसिट्ठं सागरियं, वुत्तं तं पुण विभागतो इणमो।
मज्झे पुरिससगारं, आदी अंते य इत्थीसु॥

पूर्वसूत्र में अविशिष्ट (स्त्री-पुरुषविशेष रहित) सागारिक की बात कही गई है। प्रस्तुत सूत्र में विभागशः सागारिक की बात कही गई है। मध्यवर्ती सूत्र में पुरुषसागारिक विषयक तथा आदि सूत्र और अन्त्यसूत्र में स्त्रीसागारिक विषयक विधि कही गई है।

२५५२.इत्थीसागरिए उवस्सयम्मि स च्चेव इत्थिया होइ।
देवी मणुय तिरिच्छी, स च्चेव पसज्जणा तत्थ॥

स्त्रीसागारिक उपाश्रय में रहना नहीं कल्पता। स्त्री चाहे देवी हो, मानुषी हो या तैरश्ची हो। वही प्रसज्जना यहां भी ज्ञातव्य है।

२५५३.जइ स च्चेव य इत्थी,सोही य पसज्जणा य स च्चेव।
सुत्तं तु किमारद्धं, चोदग! सुण कारणं इत्थं॥

शिष्य ने पूछा—यदि वही स्त्री, वही प्रायश्चित्त और वही प्रसज्जना है तो फिर यह स्त्रीसागारिक संबंधी सूत्र का आरंभ क्यों? आचार्य ने कहा—शिष्य! इसके कारण को तुम सुनो।

२५५४.पुव्वभणियं तु पुणरवि, जं भण्णइ तत्थ कारणं अत्थि।
पडिसेहोऽणुन्ना कारणं विसेसोवलंभो वा॥

पहले कहे हुए को जो पुनः कहा जाता है उसका भी कारण है। जो पहले अनुज्ञा के आधार पर कहा गया है वही प्रतिषेध द्वार के द्वारा कहा जा रहा है। जो पहले प्रतिषेध किया है, उन्हीं की अनुज्ञा देते हुए पुनः कहा जा रहा है। जो पहले सामान्यरूप से कहा गया, वही विशेष उपलंभ के द्वारा कहा जाता है।

२५५५.ओहे सव्वनिसेहो, सरिसाणुन्ना विभागसुत्तेसु।
जयणाहेउं भेदो, तह मज्झत्थादओ वा वि॥

ओघसूत्र—सामान्यसूत्र में समस्त सागारिक का निषेध किया गया है। विभागसूत्रों में सदृश—अनुज्ञा दी जाती है। यतना संबंधी सूत्रों में स्त्री-पुरुषों का विभाग किया जाता है। मध्यम सूत्रों में स्त्री-पुरुषों का अर्थतः भेद बताया जाता है।

२५५६. पुरिससागारिए उवस्सयम्मि,
चउरो लहुगा य दोस आणादी।
ते वि य पुरिसा दुविहा,
सविकारा निव्विकारा य॥

पुरुष सागारिक उपाश्रय में निर्ग्रंथों को रहना कल्पता है—परंतु सामान्यतः रहना नहीं कल्पता। जो रहते हैं उन्हें चतुर्लघु का प्रायश्चित्त आता है। तथा आज्ञाभंग आदि दोष प्राप्त होते हैं। पुरुष दो प्रकार के होते हैं—सविकार और निर्विकार।

२५५७.रूवं आभरणविहिं, वत्था-ऽलंकार-भोयणे गंधे।
आउज्ज नट्ट नाडग, गीए अ मणोहरे सुणिया॥

सविकार पुरुष वे होते हैं जो अपने रूप को संवारते हैं, आभरण-विधि का उपयोग करते हैं, केशों को संवारते हैं, शरीर को अलंकृत करते हैं, विशेष भोजन करते हैं, गंध का प्रयोग करते हैं, बाजे बजवाते हैं, नृत्य करवाते हैं, नाच करवाते हैं, मधुर गीत गाते हैं या गवाते हैं। मनोहर रूप आदि को देखकर, गीत आदि सुनकर पूर्व देखें रूपों और गीतों का स्मरण करते हैं, वे सविकार पुरुष होते हैं।

२५५८.एक्केक्कम्मि उ ठाणे, चउरो मासा हवंति उग्घाया।
आणाइणो य दोसा, विराहणा संजमाऽऽयाए॥
२५५९.एवं ता सविकारे, निव्वीकारे इमे भवे दोसा।
संसद्देण विबुद्धे, अहिगरणं सुत्तपरिहाणी॥

उपरोक्त स्थान में रहने पर प्रत्येक रूप आदि के स्थान का प्रायश्चित्त है—चार उद्घातमास (लघु), आज्ञाभंग आदि दोष तथा आत्मविराधना तथा संयमविराधना। ये सविकार पुरुष के दोष हैं। निर्विकार पुरुष से संबंधित उपाश्रय में रहने के ये दोष हैं—साधुओं के स्वाध्याय आदि के शब्दों से अन्य लोग जाग जाते हैं और वे अधिकरण करने में संलग्न हो जाते हैं। इससे सूत्रपरिहानि होती है।

२५६०.आउ ज्जोवण वणिए,
अगणि कुडुंबी कुकम्म कुम्मरिए।
तेणे मालागारे,
उब्भामग पंथिए जंते॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधुओं तथा गृहस्थों के शब्दों को सुनकर स्त्रियां जाग जाती हैं और वे पानी लाने चल पड़ती हैं। रथकार बैलों को रथों में जोत कर काम पर चले जाते हैं। वणिक् माल बेचने ग्रामान्तर चल पड़ते हैं। लोहकार अग्नि जला कर अपना काम करने लगते हैं। कौटुंबिक–कृषक खेतों में जाते हैं। कुकर्म अर्थात् मत्स्यमार आदि मछलियों को पकड़ने चलते हैं। कुमारक–कसाई अपने काम में लग जाते हैं। चोर और मालाकार तथा उद्भ्रामक व्यक्ति, पथिक तथा यांत्रिक अपनी प्रवृत्ति में संलग्न हो जाते हैं।

२५६१.एवं सुत्तं अफलं, सुत्तनिवाओ उ असइ वसहीए।
गीयत्था जयणाए, वसंति तो दव्वसागरिए॥

यदि ये सारे दोष होते हैं तो पुरुषवाले उपाश्रय में भी साधु को नहीं रहना चाहिए। यदि ऐसा है तो सूत्र अफल हो जाएगा। गुरु बोले–सूत्र का निपात इसलिए है कि यदि विशुद्ध वसति की प्राप्ति न हो तो गीतार्थ मुनि यतनापूर्वक द्रव्य सागारिक–पुरुष सागारिक वाले वसति में रहते हैं।

२५६२.ते वि य पुरिसा दुविहा, सन्नी अस्सन्निणो य बोधव्वा।
मज्झत्थाऽऽभरणपिया, कंदप्पा काहिया चेव॥

वे भी पुरुष दो प्रकार के होते हैं–संज्ञी और असंज्ञी। संज्ञी का अर्थ है–श्रावक और असंज्ञी का अर्थ है–अश्रावक। ये दोनों चार-चार प्रकार के होते हैं–मध्यस्थ, आभरणप्रिय, कांदर्पिक और काथिक।

२५६३.आभरणपिए जाणसु, अलंकरिंते उ केसमादीणि।
सइरहसिय-प्पललिया, सरीरकुइणो य कंदप्पा॥

२५६४.अक्खाइयाउ अक्खाणगाइं गीयाइं छलियकव्वाइं।
कहयंता य कहाओ, तिसमुत्था काहिया होंति॥

२५६५.एएसिं तिण्हं पी, जे उ विगाराण बाहिरा पुरिसा।
वेरग्गरुई निहुया, निसग्गहिरिमं तु मज्झत्था॥

जो केश आदि को माल्य आदि से अलंकृत करते हैं वे आभरणप्रिय होते हैं। जो स्वेच्छा से अट्टहास आदि करते हैं, प्रललित–द्यूतक्रीड़ा करते हैं, झूले झूलते हैं और शरीर-कुच–विविध प्रकार की नपुंसक चेष्टाएं करते हैं वे कान्दर्पिक होते हैं। जो आख्यायिका–तरंगवती, मलयवती आदि, आख्यानक–धूर्ताख्यान आदि, गीत तथा ललितकाव्य–शृंगारकाव्य, कथा–वसुदेवचरित, चेटक कथा आदि कहते हैं तथा त्रिसमुत्थ–धर्म, काम और अर्थ लक्षण वाली कथाएं कहते हैं वे काथिक होते हैं। इन तीनों के विकारों से जो रहित होते हैं, बाह्य होते हैं वे वैराग्यरुचिवाले, निभृत–जितेन्द्रिय स्वभावतः लज्जाशील पुरुष मध्यस्थ होते हैं।

२५६६.एक्केक्का ते तिविहा, थेरा तह मज्झिमा य तरुणा य।
एवं सन्नी बारस, बारस अस्सन्निणो होंति॥

इन चारों के तीन-तीन प्रकार हैं–स्थविर, मध्यम और तरुण। इस प्रकार संज्ञी पुरुषों के बारह भेद और असंज्ञी पुरुषों के भी बारह भेद हैं।

२५६७.काहीयातरुणेसुं, चउसु वि चउगुरुग ठायमाणस्स।
सेसेसुं चउलहुगा, समणाणं पुरिसवग्गम्मि॥

संज्ञी-असंज्ञी के काथिक तरुण ये दो भेद तथा पुरुष-वेशधारी नपुंसक के काथिक तरुण ये चार भेद–इनमें से किसी उपाश्रय में रहने से चतुर्गुरु तथा शेष भेद वाले उपाश्रय में रहने से चतुर्लघु प्रायश्चित्त है। यह प्रायश्चित्त पुरुषवर्ग वाले श्रमणों के लिए कहा गया है।

२५६८.सन्नीसु पढमवग्गे, असती अस्सन्निपढमवग्गम्मि।
तेण परं सन्नीसुं, कमेण अस्सन्निसुं चेव॥

निर्दोष वसति की प्राप्ति न होने पर संज्ञी के प्रथम वर्ग अर्थात् मध्यस्थ पुरुषों में रहे। यदि वैसा स्थान न मिले तो असंज्ञी के प्रथमवर्ग में रहे। उसके अभाव में संज्ञी के द्वितीय वर्ग आदि में क्रमशः रहे। उसके अभाव में असंज्ञी के द्वितीय वर्ग आदि में क्रमशः रहे।

२५६९.एवं एक्केक्क तिगं, वोच्चत्थकमेण होइ नायव्वं।
मोत्तूण चरिम सन्नी, एमेव नपुंसएहिं पि॥

इस प्रकार एक-एक पद के त्रिक अर्थात् स्थविर, फिर मध्यम, फिर तरुण–इनको वैपरीत्यविधि से जानना चाहिए। पर चरमसंज्ञी को छोड़कर। इसी प्रकार नपुंसकों के विषय में भी जानना चाहिए। (वृत्तिकार ने इसका विस्तार किया है।)

२५७०.एमेव होंति दुविहा, पुरिसनपुंसा वि सन्नि अस्सन्नी।
मज्झत्थाऽऽभरणपिया, कंदप्पा काहिया चेव॥

२५७१.एक्केक्का ते तिविहा, थेरा तह मज्झिमा य तरुणा य।
एवं सन्नी बारस, बारस अस्सन्निणो होंति॥

इसी प्रकार नपुंसक भी दो प्रकार के हैं–स्त्रीनेपथ्यिक और पुरुषनेपथ्यिक। पुरुषनपुंसक दो प्रकार के होते हैं–संज्ञी और असंज्ञी। दोनों के चार-चार प्रकार हैं–मध्यस्थ, आभरणप्रिय, कान्दर्पिक, काथिक। इन चारों के तीन-तीन प्रकार हैं–स्थविर, मध्यम और तरुण। इस प्रकार संज्ञी के बारह और असंज्ञी के बारह प्रकार होते हैं।

२५७२.जह चेव य पुरिसेसुं, सोही तह चेव पुरिसवेसेसु।
तेरासिएसु सुविहिय!, पडिसेवग-अपडिसेवीसु॥

जैसे पुरुषों के विषय में शोधि–प्रायश्चित्त है वही शोधि पुरुषवेशधारी त्रैराशिक अर्थात् नपुंसकों की है। हे सुविहित-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शिष्य! वे नपुंसक दो प्रकार के हैं–प्रतिसेवक और अप्रतिसेवक।

२५७३.जह कारणे पुरिसेसुं,
तह कारणे इत्थियासु वि वसेज्जा।
अद्धाण-वास-सावय-तेणेसु
व कारणे वसती॥

जैसे कारण में पुरुषों वाले या पुरुषवेशधारी नपुंसकों में रहा जा सकता है, उसी प्रकार कारण में स्त्रियों वाले या स्त्रीवेशधारी नपुंसक स्त्रियों के उपाश्रय में रहा जा सकता है। कारण की जिज्ञासा का समाधान करते हुए कहा है–अध्वान प्रतिगत, वर्षा के समय, श्वापदभय या स्तेनभय के होने पर।

२५७४.काहीयातरुणीसुं, चउसु वि मूलं तु ठायमाणाणं।
सेसासु वि चउगुरुगा, समणाणं इत्थिवग्गम्मि॥

स्त्रियों के या स्त्रीवेशधारी नपुंसकों के जो चौथे विभाग में अर्थात् काथिक तरुण स्त्रियों के उपाश्रय में रहने से मूल का प्रायश्चित्त तथा संज्ञी या असंज्ञी स्त्रियों के उपाश्रय में रहने से चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त है। यह निर्ग्रंथों के स्त्रीवर्ग वाले उपाश्रय में रहने का प्रायश्चित्त है।

२५७५.जह चेव य इत्थीसुं, सोही तह चेव इत्थिवेसेसु।
तेरासिएसु सुविहिय!, ते पुण नियमा उ पडिसेवी॥

हे सुविहितशिष्य! श्रमणों के लिए स्त्रियों के उपाश्रय में रहने पर जो शोधि कही गई है वही शोधि त्रैराशिक स्त्रीवेशधारी के लिए जानो। वे स्त्रीनपुंसक नियमतः प्रतिसेवी होते हैं।

२५७६.एमेव होंति इत्थी, बारस सन्नी तहेव अस्सन्नी।
सन्नीण पढमवग्गे, असइ असन्नीण पढमम्मि॥

इस प्रकार स्त्रियां तथा स्त्रीवेशधारी नपुंसक बारह प्रकार के संज्ञी और बारह प्रकार के असंज्ञी होते हैं। संज्ञी के प्रथम वर्ग–मध्यस्थ के उपाश्रय की अप्राप्ति होने पर असंज्ञी वर्ग के प्रथम वर्ग–मध्यस्थ के उपाश्रय में कहा जा सकता है।

२५७७.एवं एक्केक्क तिगं, वोच्चत्थकमेण होइ नेयव्वं।
मोत्तूण चरिम सन्निं, एमेव नपुंसएहिं पि॥

इस प्रकार प्रत्येक वर्ग के त्रिक अर्थात् तरुणी आदि के भेदत्रिक के विपर्यस्तक्रम से (पहले स्थविर, फिर मध्यम, फिर तरुणी) रहे परंतु चरम अर्थात् काथिक तरुणी संज्ञी को छोड़कर। इसी प्रकार स्त्रीवेशधारी नपुंसक के विषय में जानना चाहिए।

२५७८.एसेव कमो नियमा, निग्गंथीणं पि होइ नायव्वो।
जह तेसिं इत्थियाओ, तह तासिं पुमा मुणेयव्वा॥

यही क्रम श्रमणियों के लिए नियमतः ज्ञातव्य है। जैसे श्रमणों के लिए स्त्रियां गुरुकतर होती हैं, वैसे ही श्रमणियों के लिए पुरुष गुरुकतर होते हैं।

२५७९.काहीयातरुणीसुं, चउसु वि चउगुरुग ठायमाणीणं।
सेसासु वि चउलहुगा, समणीणं इत्थिवग्गम्मि॥

स्त्रियों तथा स्त्रीवेशधारी नपुंसकों के बीच काथिक तरुणी स्त्रियों के चारों प्रकार के उपाश्रय में रहने पर श्रमणियों को चतुर्गुरु तथा शेष अर्थात् मध्यस्थ आदि के उपाश्रय में रहने से चतुर्लघु प्रायश्चित्त है। यह श्रमणियों के लिए स्त्रीवर्ग वाले उपाश्रय में रहने का प्रायश्चित्त है।

२५८०.काहीयातरुणेसु वि, चउसु वि मूलं तु ठायमाणीणं।
सेसेसु उ चउगुरुगा, समणीणं पुरिसवग्गम्मि॥

पुरुष तथा पुरुषनपुंसक के संज्ञी-असंज्ञी के प्रत्येक के जो चार काथिक तरुण आदि भेद हैं, उस उपाश्रय में रहने पर श्रमणियों को मूल तथा शेष अर्थात् पुरुष तथा पुरुष-नपुंसक के उपाश्रय में रहने पर चतुर्गुरु प्रायश्चित्त आता है। यह श्रमणियों के पुरुषवर्ग वाले उपाश्रय में रहने पर प्रायश्चित्त है।

२५८१.थेराइएसु अहवा, पंचग पन्नरस मासलहुओ य।
छेदो मज्झत्थादिसु, काहियतरुणेसु चउलहुओ॥

२५८२.सन्नी-अस्सन्नीणं, पुरिस-नपुंसेसु एस साहूणं।
एएसुं चिय थीसुं, गुरुओ समणीण विवरीओ॥

अथवा स्थविर आदि तीन पदों में पंचक, पंचदशक, मासलघु तथा छेद प्रायश्चित्त आता है। मध्यम स्थविर के विषय में भी यही प्रायश्चित्त है। काथिक तरुणों में चतुर्लघु प्रायश्चित्त है। इसी प्रकार पुरुष या पुरुषनपुंसक जो संज्ञी अथवा असंज्ञी हों उनके विषय में यह पंचक से छेदपर्यन्त प्रायश्चित्त साधुओं के लिए है। यह प्रायश्चित्त श्रमणों के लिए गुरुक और श्रमणियों के लिए वही प्रायश्चित्त विपरीत अर्थात् लघु होता है।

पडिबद्धसेज्जा-पदं

नो कप्पइ निग्गंथाणं पडिबद्धसेज्जाए वत्थए॥ **(सूत्र ३०)**

२५८३.इति ओह-विभागेणं, सेज्जा सागारिका समक्खाया।
तं चेव य सागरियं, जस्स अदूरे स पडिबद्धो॥

इस प्रकार ओघ और विभाग से सागारिकयुक्त शय्याप्रतिश्रय का आख्यान किया गया है। वही सागारिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिस उपाश्रय से निकट रहता है, वह प्रतिबद्ध कहलाता है। वहां निर्ग्रंथों को नहीं रहना चाहिए।

२५८४.नामं ठवणा दविए, भावम्मि चउव्विहो उ पडिबद्धो।
दव्वम्मि पट्ठिवंसो, भावम्मि चउव्विहो भेदो॥

प्रतिबद्ध चार प्रकार का है—नामप्रतिबद्ध, स्थापना-प्रतिबद्ध, द्रव्यप्रतिबद्ध और भावप्रतिबद्ध। द्रव्यतः प्रतिबद्ध है पृष्ठवंश अर्थात् जो उपाश्रय गृहस्थ के घर से संबद्ध होता है वह द्रव्यप्रतिबद्ध है। भावप्रतिबद्ध चार प्रकार का होता है।

२५८५.पासवण ठाण रूवे, सद्दे चेव य हवंति चत्तारि।
दव्वेण य भावेण य, संजोगो होइ चउभंगो॥

भावप्रतिबद्ध के ये चार प्रकार होते हैं—प्रस्रवण, स्थान, रूप और शब्द।[1] द्रव्य और भाव प्रतिबद्ध के आधार पर चतुर्भंगी होती है—

(१) द्रव्यतः प्रतिबद्ध भावतः नहीं।
(२) भावतः प्रतिबद्ध द्रव्यतः नहीं।
(३) दोनों से प्रतिबद्ध।
(४) दोनों से प्रतिबद्ध नहीं।

२५८६.चउत्थपदं तु विदिन्नं, दव्वे लहुगा य दोस आणादी।
संसद्देण विबुद्धे, अहिकरणं सुत्तपरिहाणी॥

चतुर्थपद वितीर्ण—अनुज्ञात है। ऐसे प्रतिश्रय में रहा जा सकता है। द्रव्यतः प्रतिबद्ध प्रतिश्रय में रहने पर चतुर्लघु का प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं। साधुओं के आवश्यिकी-नैषधिकी शब्दों से जाग कर गृहस्थ अधिकरण में लग जाते हैं। इससे सूत्र की परिहानि होती है।

२५८७.आउ ज्जोवण वणिए,
अगणि कुडुंबी कुकम्म कुम्मरिए।
तेणे मालागारे,
उब्भामग पंथिए जंते॥

साधुओं तथा गृहस्थों के शब्दों को सुनकर स्त्रियां जाग जाती हैं और वे पानी लाने चल पड़ती हैं। रथकार बैलों को रथों में जोत कर काम पर चले जाते हैं। वणिक् माल बेचने ग्रामान्तर चल पड़ते हैं। लोहकार अग्नि जला कर अपना काम करने लगते हैं। कौटुंबिक—कृषक खेतों में जाते हैं। कुकर्म अर्थात् मत्स्यमार आदि मछलियों को पकड़ने चलते हैं। कुमारक—कसाई अपने काम में लग जाते हैं। चोर और मालाकार तथा उद्भ्रामक व्यक्ति, पथिक तथा यांत्रिक अपनी प्रवृत्ति में संलग्न हो जाते हैं।

२५८८.आसज्ज निसीही वा,
सज्झाय न करिंति मा हु बुज्झिज्जा।
तेणासंका लग्गण,
संजम आयाए भाणादी॥

अधिकरण के भय से मौन रहने पर ये दोष होते हैं—मुनि यह सोचे कि हमारे शब्दों से गृहस्थ जाग न जाएं, इसलिए वे आसज्ज—शब्दों का उच्चारण नहीं करते, आवश्यिकी आदि नहीं करते, स्वाध्याय नहीं करते—इनमें सूत्रपरिहानि होती है। गृहस्थ जागकर उसे चोर मानकर उसको पकड़ लेते हैं। परस्पर कलह से संयमविराधना और आत्मविराधना होती है तथा भाजनविराधना होती है। इसलिए द्रव्यप्रतिबद्ध उपाश्रय में नहीं रहना चाहिए।

२५८९.अद्धाणनिग्गयादी, तिक्खुत्तो मग्गिऊण असईए।
गीयत्था जयणाए, वसंति तो दव्वपडिबद्धे॥

जो अध्वनिर्गत हैं, उन्हें तीन बार गवेषणा करने पर भी अप्रतिबद्ध उपाश्रय प्राप्त नहीं होता तो गीतार्थ मुनि यतनापूर्वक द्रव्यप्रतिबद्ध उपाश्रय में रह सकते हैं।

२५९०.आपुच्छण आवासिय,
आसज्ज निसीहिया य जयणाए।
वेरत्ती आवासग,
जो जाहे चिंधण दुगम्मि॥

यतना यह है—यदि कोई मुनि कायिकीभूमी में जाना चाहे तो वह दूसरे साधु को पूछ कर जाए। आवश्यिकी और नैषधिकी के शब्दों का यतनापूर्वक उच्चारण करे। वैरात्रिकी वेला का ग्रहण, आवश्यक करना आदि जो जहां स्थित हो वहीं करे। यदि स्वाध्याय करते समय सूत्र और अर्थ—दोनों के विषय में शंका होने पर रात्री में विचार विमर्श न करे दिन में परामर्श कर समाधान पाले।

२५९१.जणरहिए वुज्जाणे, जयणा भासाए किमुय पडिबद्धे।
ढड्ढरसऽणुप्पेहा, न य संघाडेण वेरत्ती॥

जनरहित उद्यान में रहने वाले मुनि को भाषा विषयक यतना करनी चाहिए—इतने जोर से न बोले कि पशु-पक्षी भयभीत होकर व्याकुल हो जाएं। तो फिर द्रव्यप्रतिबद्ध उपाश्रय की तो बात ही क्या? ढड्ढर स्वर वाला मुनि जोर-जोर से स्वाध्याय न करे, अनुप्रेक्षा करे—मन से स्वाध्याय करे। मिलजुल कर स्वाध्याय न करे। एक-एक मुनि धीमे स्वरों में स्वाध्याय करे।

---

१. जहां स्त्रियां और साधुओं के कायिकी भूमी एक ही होती है वह प्रस्रवणप्रतिबद्ध है। जहां दोनों का एक ही बैठने का स्थान होता है, वह स्थानप्रतिबद्ध है। जहां से स्त्रियों का रूप दिखता है वह रूपप्रतिबद्ध है। जहां से स्त्रियों के भाषा, भूषण, रहस्यशब्द सुनाई देते हैं वह शब्दप्रतिबद्ध है। (वृ. प. ७२७)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२५९२.भावम्मि उ पडिबद्धे, चउरो गुरुगा य दोस आणादी।
ते वि य पुरिसा दुविहा, भुत्तभोगी अभुत्ता य॥

भावतः प्रतिबद्ध उपाश्रय में रहने पर चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोष। वे पुरुष दो प्रकार के होते हैं–भुक्तभोगी और अभुक्तभोगी।

२५९३.भावम्मि उ पडिबद्धे, पनरससु पदेसु चउगुरू होंति।
एक्केक्काउ पयाओ, हवंति आणाइणो दोसा॥

भावप्रतिबद्ध उपाश्रय चार प्रकार के हैं। उनके विकल्प सोलह होते हैं। प्रथम भंग से पन्द्रहवें विकल्प तक चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त है। एक-एक पद से आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं। सोलहवां विकल्प चारों पदों से शुद्ध होता है।

२५९४.ठाणे नियमा रूवं, भासासद्दो य भूसणे भइओ।
काइय ठाणं नत्थी, सद्दे रूवे य भय सेसे॥

स्थानप्रतिबद्ध उपाश्रय में नियमतः रूप अवलोकन और भाषा–शब्दों का श्रवण होता है और भूषण शब्दों की वहां भजना है। प्रस्रवण प्रतिबद्ध उपाश्रय में स्थान नहीं होता, भाषा, भूषण और रूप की संभावना होती है। शब्द और रूप प्रतिबद्ध उपाश्रय में शेष की भजना है।

२५९५.आयपरोभयदोसा, काइयभूमी य इच्छऽणिच्छंते।
संका एगमणेगे, वोच्छेद पदोसतो जं च॥

कायिकीभूमी से प्रतिबद्ध उपाश्रय में रहने से आत्म-समुत्थदोष, परसमुत्थदोष तथा उभयसमुत्थदोष होते हैं। साधु की इच्छा होने पर वह संयम से भ्रष्ट हो जाता है और इच्छा न होने पर वह स्त्री उड्डाह करती है। स्त्री पहले कायिकीभूमी में गई और यदि मुनि भी वहीं जाता है तो शंका होती है। इससे एक साधु अथवा साधु समुदय का व्यवच्छेद हो सकता है। अथवा प्रद्वेषवश उस स्त्री के स्वजन उस साधु को पकड़ कर आकर्षण आदि कर सकते हैं।

२५९६.दुग्गूढाणं छन्नंगदंसणे भुत्तभोगि सइकरणं।
वेउव्वियमाईसु य, पडिबंधुड्डुंचयाऽऽसंका॥

जो स्त्रियां दुर्गूढ अर्थात् दुष्प्रावृत्त हैं उनके गुप्तांगों को देखता है, उस भुक्तभोगी मुनि के सारी स्मृतियां ताजी हो जाती हैं। किसी मुनि के वैक्रिय सागारिक (प्रजनन लिंग) को देखकर स्त्री उसके साथ प्रतिबंध कर लेती है, कोई अगार उड्डंचक (लिंग में जकड़न) करता है, लोगों को आशंका होती है कि ये श्रमण स्त्रियों के साथ ऊठ-बैठ रहे हैं, इनका आचार शुद्ध नहीं है।

२५९७.बंभवयस्स अगुत्ती, लज्जानासो य पीइपरिवुड्ढी।
साहु तवोवणवासो, निवारणं तित्थपरिहाणी॥

सभी प्रस्रवण आदि स्थानों में ये दोष होते हैं–ब्रह्मचर्य की अगुप्ति, लज्जानाश, प्रीति की परिवृद्धि, लोग उपहास करते हुए कहते हैं–ये मुनि तो तपोवनों में रहते हैं। इनके पास कोई दीक्षित न हो–ऐसा कहकर वे निवारण करते हैं। इससे तीर्थ का व्यवच्छेद होता है।

२५९८.चंकम्मियं ठियं मोडियं च विप्पेक्खियं च सविलासं।
आगारे य बहुविहे, दट्ठुं भुत्तेयरे दोसा॥

रूपप्रतिबद्ध उपाश्रय में रहने से ये दोष होते हैं–स्त्रियों के चंक्रमण, उनकी ऊर्ध्वस्थित अवस्था, शरीर का मोड़ना, विशेषरूप से देखने की स्थितियां, विलासयुक्त हावभाव तथा अनेक प्रकार के आकारों को देखकर भुक्तभोगी तथा अन्य मुनियों में अनेक दोष होते हैं।

२५९९.जल्ल-मलपंकियाण वि, लायन्नसिरी जहेसि देहाणं।
सामन्नम्मि सुरूवा, सयगुणिया आसि गिहवासे॥

नानादेशीय उन मुनियों को देखकर स्त्रियों में ये दोष होते हैं–जल्ल और मल से पंकिल शरीर वाले इन मुनियों की लावण्यश्री श्रामण्य में भी इतनी प्रबल है, सुरूप है तो गृहवास में इन मुनियों की लावण्यश्री शतगुणित होनी चाहिए।

२६००.गीयाणि य पढियाणि य,
हसियाणि य मंजुला य उल्लावा।
भूसणसद्दे राहस्सिए अ
सोऊण जे दोसा॥

शब्दप्रतिबद्ध उपाश्रय के दोष–स्त्रियों के गीत, पठित, हसित, मंजुल उल्लाप, भूषणशब्द, राहस्यिकशब्द आदि शब्दों को सुनकर भुक्त-अभुक्तदोषों से निष्पन्न प्रायश्चित्त आचार्य को आता है।

२६०१.गंभीर-महुर-फुड-विसयगाहओ
सुस्सरो सरो जह सिं।
सज्झायस्स मणहरो,
गीयस्स णु केरिसो आसी॥

साधुओं के स्वाध्याय के शब्दों को सुनकर स्त्रियां सोचती हैं–इन मुनियों का शब्द गंभीर, मधुर, स्फुट, विषयग्राहक–अर्थवाची, सुस्वर–ऐसा मनोहर स्वर इनका स्वाध्याय में है तो फिर गृहवास में इनके गीतों का स्वर कैसा रहा होगा?

२६०२.पुरिसा य भुत्तभोगी, अभुत्तभोगी य केइ निक्खंता।
कोऊहल-सइकरणुब्भवेहिं दोसेहिमं कुज्जा॥

वे मुनि (संयत पुरुष) दो प्रकार के होते हैं–कई भुक्तभोगी और कई अभुक्तभोगी निष्क्रान्त होते हैं। उन मुनियों के ऐसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपाश्रयों में स्मृतिजन्य और कौतूहलजन्य ये दोष होते हैं। तब वे इस प्रकार करते हैं–

२६०३.पडिगमणमन्नतित्थिग, सिद्धी संजइ सलिंग हत्थे य।
अद्धाण-वास-सावय-तेणेसु व भावपडिबद्धे॥

वे मुनि प्रतिगमन कर देते हैं अथवा अन्यतीर्थिकों में चले जाते हैं अथवा सिद्धपुत्रिका, संयती या स्वलिंगी स्त्री के साथ प्रतिसेवना करते हैं या हस्तकर्म में लग जाते हैं। ये दोष हो सकते हैं, अतः भावप्रतिबद्ध उपाश्रय में नहीं रहना चाहिए। इन कारणों से वहां रहा भी जा सकता है–अध्वान प्रतिगत, अन्य वसति न मिलने पर, श्वापद या चोरों का भय होने पर।

२६०४.विहनिग्गया उ जइउं, रुक्खे जोइ पडिबद्ध उस्सा वा।
ठायंति अह उ वासं, सावय-तेणादओ भावे॥

मार्गनिर्गत अथवा तीन बार गवेषणा करने भी अन्य वसति न मिलने पर वे वृक्ष के नीचे या ज्योतियुत द्रव्यप्रतिबद्ध उपाश्रय में रहते हैं अथवा वर्षा गिर रही हो, श्वापद या चोरों का भय होने पर भावप्रतिबद्ध वसति में भी रहा जा सकता है।

२६०५.भावम्मि ठायमाणा, पढमं ठायंति रूवपडिबद्धे।
तहियं कडग चिलिमिली, तस्सऽसती ठंति पासवणे॥

भावप्रतिबद्ध उपाश्रय में रहने वाले मुनि सर्वप्रथम रूप-प्रतिबद्ध उपाश्रय में रहे। वहां अंतराल में कटक या चिलिमिलिका बांध दे। उस रूपप्रतिबद्ध उपाश्रय के अभाव में प्रस्रवणप्रतिबद्ध उपाश्रय में रहे।

२६०६.असई य मत्तगस्सा, निसिरणभूमीइ वा वि असईए।
वंदेण बोलकरणं, तासिं वेलं च वज्जिंति॥

मात्रक के अभाव में, दूसरी कायिकी निसर्जनभूमी के अभाव में दो-चार मुनि एक साथ आवाज करते हुए उसी कायिकी भूमी में प्रवेश करें। वे श्रमणियों के कायिकी-व्युत्सर्जनवेला का वर्जन अवश्य करें।

२६०७.भूसण-भासासद्दे, सज्झाय ज्झाण निच्चमुवओगो।
उवगरणेण सयं वा, पेल्लण अन्नत्थ वा ठाणे॥

प्रस्रवणप्रतिबद्ध उपाश्रय के अभाव में मुनि भूषणशब्द-प्रतिबद्ध उपाश्रय में रहे। उसके अभाव में भाषाप्रतिबद्ध उपाश्रय मे रहे। वहां स्वाध्याय करें और ध्यान में नित्य उपयोगवान् रहे। इस प्रकार के उपाश्रय के अभाव में स्थानप्रतिबद्ध उपाश्रय में रहे। वहां यदि स्त्रियां उपकरणों अथवा स्वयं को इस प्रकार प्रस्तुत करें कि मुनि को उस ओर देखने की प्रेरणा मिले। मुनि ऐसे स्थान को छोड़कर अन्यत्र स्थान में जाकर रहे।

२६०८.परियारसद्दजयणा, सद्द वए चेव तिविह तिविहा य।
उद्दाण-पउत्थ-सहीणभोइया जा जस्स वा गुरुगी॥

स्थानप्रतिबद्ध उपाश्रय के अभाव में रहस्यशब्दप्रतिबद्ध उपाश्रय में रहे। परिचार शब्द (स्त्री का भोग करते समय होने वाला स्त्री का शब्द) को सुनकर वहां मुनि की यतना यह है कि वह स्वाध्याय आदि में लग जाए। इस प्रकार के शब्द और अवस्था के आधार पर स्त्री के तीन प्रकार हैं–तीव्रशब्दवाली, मध्यमशब्दवाली और मन्दशब्दवाली। अवस्था के आधार पर स्त्रियों के तीन प्रकार हैं–स्थविरा, मध्यमा और तरुणी। इनमें प्रत्येक के तीन-तीन प्रकार हैं–अपद्राणभर्तृका, प्रोषितभर्तृका, स्वाधीनभोक्तृका। जो मुनि जिस शब्द में अनुरक्त है, वह उसके लिए गुरुक है। वह ऐसे गुरुकस्त्री से प्रतिबद्ध उपाश्रय को छोड़ दे।

२६०९.उद्दाण परिट्ठविया, पउत्थ कन्ना सभोइया चेव।
थेरी मज्झिम तरुणी, तिव्वकरी मंदसद्दा य॥

जहां कन्या–अपरिणीत स्त्री हो, उसके अभाव में अपद्राणभर्तृका स्त्री हो, उसके अभाव में भर्त्ता द्वारा परिष्ठापित–त्यक्त स्त्री हो, उसके अभाव में प्रोषितभर्तृका स्त्री हो, उसके अभाव में सभोजिका–स्वाधीन भर्तृका स्त्री हो, उसमें भी स्थविरा आदि के क्रम से अर्थात् स्थविरा, मध्यमा, तरुणी के क्रम से, उनमें भी तीव्रशब्दकरी, मध्यम-शब्दकरी, मंदशब्दकरी–इनमें व्युत्क्रम से मुनि उन उपाश्रयों में रह सकता है।

२६१०.थेरी मज्झिम तरुणी, वएण तिविहित्थि तत्थ एक्केक्का।
तिव्वकरी मज्झकरी, मंदकरी चेव सद्देणं॥

वय से स्त्रियां तीन प्रकार की हैं–स्थविरा, मध्यमा और तरुणी। प्रत्येक के तीन-तीन भेद हैं–तीव्रशब्दकरी, मध्यम-शब्दकरी और मंदशब्दकरी।

२६११.पासवण मत्तएणं, ठाणे अन्नत्थ चिलिमिली रूवे।
सज्झाए झाणे वा, आवरणे सद्दकरणे वा॥

कायिकीप्रतिबद्ध उपाश्रय में रहना हो तो प्रस्रवण मात्रक में करे। स्थानप्रतिबद्ध उपाश्रय की स्थिति में अन्यत्र जाकर रहे। रूपप्रतिबद्ध उपाश्रय में चिलिमिलिका का उपयोग करे। शब्दप्रतिबद्ध उपाश्रय में स्वाध्याय करे, जिससे कि परिचारणा का शब्द सुनाई न दे अथवा ध्यान करे। इतने पर भी शब्द सुनाई दे तो कानों का स्थगन करे या ऐसा शब्द करे कि वह शब्द स्थगित हो जाए।

२६१२.वेरग्गकरं जं वा, वि परिजियं बाहिरं व इअरं वा।
सो तं गुणेइ साहू, झाणसलद्धी उ झाएज्जा॥

अथवा मुनि वैराग्यपरक सूत्र या जो स्वयं का अभ्यस्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो, अत्यंत परिचित हो वह सूत्र, अंगबाह्य या अंगप्रविष्ट कोई आगम जो कंठस्थ हो, उसका इस प्रकार परावर्तन करे कि वह परिचारणा शब्द सुनाई न दे। जो साधु ध्यानलब्धि-संपन्न है वह ध्यान करे।

२६१३.दोसु वि अलद्धि कण्णे, ठएइ तह वि सवणे करे सद्दं।
जह लज्जियाण मोहो, नासइ जणनायकरणं वा॥

दोनों अर्थात् स्वाध्याय और ध्यान की लब्धि न होने पर कानों का स्थगन कर दे। फिर भी यदि शब्द सुनाई दे तो इस प्रकार शब्द करे कि वे दोनों (पति-पत्नी) लज्जित हो जाएं। और उनका मोह नष्ट हो जाए। फिर भी यदि संभोग से उपरत नहीं हो तो लोगों को ज्ञात करा देते हैं कि देखो, यह हमारे सामने अनाचार का सेवन कर रहा है।

२६१४.उभओ पडिबद्धाए, भयणा पन्नरसिया य कायव्वा।
दव्वे पासवणम्मि य, ठाणे रूवे य सद्दे य॥

उभयत अर्थात् द्रव्य और भाव से प्रतिबद्ध वसति के पन्द्रह भंगों की रचना करनी चाहिए। सोलहवां भंग–द्रव्यतः प्रतिबद्ध परन्तु प्रस्रवण आदि से नहीं–यह होता है, इसी प्रकार स्थान, रूप और शब्द से प्रतिबद्ध–यह भंग नहीं होता। अतः पन्द्रह भंग ही गृहीत है।

२६१५.उभओ पडिबद्धाए, ठायंते आणमाइणो दोसा।
ते चेव पुव्वभणिया, तं चेव य होइ बिइयपयं॥

उभयतः प्रतिबद्ध प्रतिश्रय में रहने से पूर्वभणित आज्ञा-भंग आदि दोष होते हैं। इसमें अपवादपद भी पूर्वोक्त की भांति ही जानना चाहिए।

कप्पइ निग्गंथीणं पडिबद्धसेज्जाए वत्थए॥ (सूत्र ३१)

२६१६.एसेव कमो नियमा, निग्गंथीणं पि नवरि चउलहुगा।
सुत्तनिवाओ निद्दोसे, पडिबद्धे असइ उ सदोसे॥

यही क्रम नियमतः श्रमणियों के लिए भी है। जो प्रतिबद्ध उपाश्रय में ठहरती हैं उनके लिए चतुर्लघु का प्रायश्चित्त है। शिष्य ने कहा–तब तो इस नवीन का निपात निरर्थक है, क्योंकि पूर्व में श्रमणियों का वहां अवस्थान अनुज्ञात है। आचार्य कहते हैं–सूत्र का निपात तो निर्दोषप्रतिबद्ध उपाश्रय के लिए है, प्रायश्चित्त सदोष प्रतिश्रय के लिए है। यदि निर्दोष प्रतिबद्ध उपाश्रय प्राप्त न हो तो सदोषप्रतिबद्ध उपाश्रय में रहा जा सकता है।

२६१७.आउज्जोवणमादी, दव्वम्मि तहेव संजईणं पि।
नाणत्तं पुण इत्थी, नऽच्चासन्ने न दूरे य॥

द्रव्यप्रतिबद्ध उपाश्रय में रहने से अप्काय-शकटयोजन आदि दोष श्रमणियों के भी वैसे ही होते हैं, विशेष यह है कि वह उपाश्रय वहां रहने वाली स्त्रियों से ही प्रतिबद्ध है, पुरुषों से नहीं। वह श्रमणियों का प्रतिश्रय गृहस्थ के न अत्यन्त निकट और न अतिदूर होता है।

२६१८.अज्जियमादी भगिणी,
जा यऽन्न सगारअब्भरहियाओ।
विहवा वसंति सागारियस्स
पासे अदूरम्मि॥

जहां अति दूर नहीं, निकट में आर्यिका–दादी, नानी रहती हो, भगिनी अथवा अन्य–भाभी आदि तथा शय्यातर की कोई पूज्य विधवा रहती हों, उनसे प्रतिबद्ध उपाश्रय में श्रमणियां रह सकती हैं।

२६१९.एयारिस गेहम्मी, वसंति वइणीउ दव्वपडिबद्धे।
पासवणादी य पया, ताहि समं होंति जयणाए॥

इस प्रकार स्त्रियों से द्रव्यतः प्रतिबद्ध उपाश्रय में श्रमणियां रहती हैं। उनके साथ रहती हुई वे प्रस्रवण आदि पदों को यतनापूर्वक करती हैं।

२६२०.कामं अहिगरणादी, दोसा वइणीण इत्थियासुं पि।
ते पुण हवंति सज्झा, अणिस्सियाणं असज्झा उ॥

स्त्रीप्रतिबद्ध उपाश्रय में रहती हुई श्रमणियों के भी अधिकरण आदि दोष होते हैं, यह कामं–अनुमत है। परन्तु वे दोष साध्य होते हैं, अर्थात् यतना से उनका परिहार किया जा सकता है। (देखें गाथा २५९०)। अनिश्रित रहने पर जो तरुण आदि से समुत्थदोष होते हैं वे असाध्य होते हैं।

२६२१.पासवण-ठाण-रूवा, सद्दो य पुमंसमस्सिया जे उ।
भावनिबंधो तासिं, दोसा ते तं च बिइयपदं॥

जो प्रस्रवण-स्थान-रूप-शब्द वाले उपाश्रय पुरुषों से आश्रित हों, प्रतिबद्ध हों, वहां साध्वियों का भावनिबंध अर्थात् भावप्रतिबद्ध है। उसमें पूर्वोक्त दोष तथा अपवाद पद भी वही है।

२६२२.बिइयपय कारणम्मी, भावे सद्दम्मि पूवलियखाओ।
तत्तो ठाणे रूवे, काइय सविकारसद्दे य॥

अपवाद में तथा कारण में अर्थात् अध्वनिर्गत आदि में भावप्रतिबद्ध प्रतिश्रय में रहना पड़े तो सबसे पहले पूपलिकाखादक वाले शब्दप्रतिबद्ध उपाश्रय में रहे, ततः उसीके स्थानप्रतिबद्ध ततः रूपप्रतिबद्ध, ततः कायिक-प्रतिबद्ध अथवा वायुकाय के विसर्जन से शब्द होता है, उससे सविकारशब्द वाले प्रतिश्रय में रहे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२६२३.नउई-सयाउगो वा, खट्टामल्लो अजंगमो थेरो।
अन्नेण उट्ठविज्जइ, भोइज्जइ सो य अन्नेणं॥

जो स्थविर नब्बे वर्ष का या शतायु वर्ष का हो, जो खट्टामल्ल है—खाट में पड़ा रहता हो, जो बाहर जा नहीं सकता, जो दूसरों के द्वारा उठाया जाता है, भोजन कराया जाता है वैसा स्थविर 'पूपलिकाखादक' कहा जा सकता है।

२६२४.पूवलियं खायंतो, चब्बच्चबसद्द सो परं कुणइ।
एरिसओ वा सद्दो, जारिसओ पूवभक्खिस्स॥

वह स्थविर पूपलिका खाता हुआ केवल चव-चव शब्द करता है। जैसा शब्द पूपलिका खाने वाले का होता है वैसा शब्द बोलने वाले का हो वह पूपलिकाखादक कहा जाता है।

२६२५.सो वि य कुड्डंतरितो, खाहुत्थूभाउ कुणइ जत्तेणं।
परिदेवइ किच्छाहि य, अवितक्कंतो विगयभावो॥

वह पूपलिकाखादक श्रमणियों के प्रतिश्रय के कुड्यान्तरित रहता हुआ भी खांसी और निष्ठीवन ये दो क्रियाएं भी कष्ट से करता है। वह कष्ट से उठ-बैठ सकता है। वह वितर्क न करता हुआ विगतभाव होता है। इस प्रकार के पूपलिकाखादक शब्द से प्रतिबद्ध उपाश्रय में श्रमणियां रह सकती हैं।

२६२६.अवि होज्ज विरागकरो, सद्दो रूवं च तस्स तदवत्थं।
ठाणं च कुच्छणिज्जं, किं पुण रागोब्भवो तम्मि॥

उस पूपलिकाखादक स्थविर के शब्द, उस अवस्था में उसका रूप तथा उसका कुत्सनीय स्थान—ये सभी स्त्रियों के लिए वैराग्यकर होते हैं। उनमें रागोद्भव कैसे हो सकता है?

२६२७.एयारिसम्मि रूवे, सद्दे वा संजईण जइऽणुण्णा।
समणाण किंनिमित्तं, पडिसेहो एरिसे भणिओ॥

यदि इस प्रकार के रूप, शब्द आदि में श्रमणियों को रहने की अनुज्ञा है तो फिर श्रमणों को इस प्रकार के स्त्रीप्रतिबद्ध उपाश्रय में रहने का निषेध क्यों किया गया है?

२६२८.मोहोदएण जइ ता, जीवनिउत्ते वि इत्थिदेहम्मि।
दिट्ठा दोसपवित्ती, किं पुण सजिए भवे देहे॥

जब मोहोदय के कारण जीवविमुक्त स्त्रीदेह में भी पुरुषों की प्रतिसेवना की प्रवृत्ति देखी जाती है तो फिर सजीव देह में वह क्यों नहीं होगी! इसलिए प्रतिषेध किया गया है।

गाहावइकुलमज्झवास-पदं

नो कप्पइ निग्गंथाणं गाहावइकुलस्स मज्झंमज्झेणं गंतुं वत्थए॥ (सूत्र ३२)

२६२९.जह चेव य पडिबंधो,निवारिओ सुविहियाण गिहिएसु।
तेसिं चिय मज्झेणं, गंतूण न कप्पए जोगो॥

जैसे पूर्व सूत्र में सुविहित मुनियों के लिए गृहस्थ विषयक प्रतिबंध निवारित किया था उसी प्रकार यहां भी गृहस्थों के बीच रहना नहीं कल्पता, यह योग—संबंध है।

२६३०.मज्झेण तेसि गंतुं, गिही व गच्छंति तेसि मज्झेणं।
पविसंत निंत दोसा, तहियं वसहीए भयणा उ॥

गृहस्थों के बीच से जहां प्रवेश और निर्गमन किया जाता है अथवा संयमियों के मध्य होकर गृहस्थ आते-जाते हैं, वहां रहना नहीं कल्पता। वैसे उपाश्रय में मुनियों के तथा गृहस्थों के आने-जाने में जो दोष होते हैं वे आगे (गाथा २६४० में) कहे जाएंगे। ऐसी वसति में रहने से दोषों की भजना है।

२६३१.सब्भावमसब्भावं, मज्झमसब्भावतो उ पासेणं।
निव्वाहिमनिव्वाहिं, ओकमइंतेसु सब्भावं॥

मध्य के दो प्रकार हैं—सद्भावमध्य और असद्भावमध्य। जहां आना-जाना गृहपतिगृह के पार्श्व से होता है वह असद्भावमध्य है। जहां घर के बीच से आना-जाना होता है वह सद्भावमध्य है। दोनों के दो-दो प्रकार हैं—निर्वाही और अनिर्वाही। जहां घर और उपाश्रय का फलिह पृथक्-पृथक् हो वह निर्वाही और जहां दोनों का फलिह एक ही हो वह अनिर्वाही होता है।

२६३२.साला य मज्झ छिंडी, निग्गंथाणं न कप्पए वासो।
चउरो य अणुग्घाया, तत्थ वि आणाइणो दोसा॥

उपरोक्त चारों प्रकारों के तीन-तीन भेद होते हैं—शाला, मध्यम और छिंडिका (घर का पिछवाड़ा)। इन तीनों में निर्ग्रंथों को रहना नहीं कल्पता। यदि रहते हैं तो चार अनुद्घातमास का प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं।

२६३३.सालाए पच्चवाया, वेउव्वियऽवाउडे य अद्दाए।
कप्पट्ठ भत्त पुढवी, उदगऽगणी बीय अवहन्ने॥

शाला में रहने से ये प्रत्यवाय होते हैं—अपावृत वैक्रिय अंगादान, अपावृत कल्पस्थ, भक्त, पृथ्वी, उदग, अग्नि, बीज, उदूखल.... (इनकी व्याख्या आगे।)

२६३४.सालाए कम्मकरा, घोडा पेसा य दास गोवाला।
पेह पवंचुड्डंचय, असहण कलहो य निच्छुभणं॥

शाला में रहने वाले कर्मकर, घोटा—विद्यार्थी, प्रेष्य—बाहर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भेजे जाने वाले नौकर, दास, गोपाल—ये शाला में रहते हैं, या सोते हैं, वे साधुओं को प्रत्युपेक्षणा करते देखकर प्रपंच करते हैं—स्वयं प्रत्युपेक्षणा करने लग जाते हैं, उपहास करते हैं, साधुओं को स्वाध्याय करते देखकर उड्डंचक—साधुओं की भांति बोलकर उनको चिढ़ाते हैं। इन सबको सहन न करने वाला साधु उनसे कलह करने लग जाता है। गृहपति उन कर्मकरों से उत्तेजित होकर साधुओं को वहां से निष्काशित कर देता है।

२६३५.आवासग सज्झाए, पडिलेहण भुंजणे य भासा य।
उच्चारे पासवणे, गेलन्ने जे भवे दोसा॥

मुनि यदि यह सोचकर कि लोग देखते हैं इसलिए आवश्यक, स्वाध्याय, प्रत्युपेक्षणा आदि नहीं करते या अविधिपूर्वक करते हैं तो उसका प्रायश्चित्त आता है। साधुओं को आहार करते हुए देखकर तथा उनकी भाषा को सुनकर तथा उनको उच्चार-प्रस्रवण करते देखकर गृहस्थ उपहास करते हैं या जुगुप्सा करते हैं। कोई मुनि ग्लान हो तो वह गृहस्थों के रहते कष्ट का अनुभव करता है। ये सारे दोष शाला में रहने से होते हैं।

२६३६.आहारे नीहारे, भासादोसे य चोदणमचोदे।
किड्डासु य विकहासु य, वाउलियाणं कओ झाओ॥

आहार नीहार तथा भाषा दोष—ये वहां रहने से होते हैं। यदि साधु परस्पर सामाचारी के लिए प्रेरणा देते हैं तो वहां गृहस्थ उपहास करते हैं। प्रेरणा न देने पर सामाचारी की हानि होती है। वहां के गृहस्थ परस्पर क्रीड़ा करते हैं, विकथाओं में संलग्न रहते हैं। उनकी कथाओं में व्याकुल बने हुए मुनियों के स्वाध्याय कैसे होगा?

२६३७.वंदामि उप्पलज्जं, अकालपरिसडियपेहुणकलावं।
धम्मं किह णु न काहिइ, कन्ना जस्सेत्तिया विद्धा॥

किसी मुनि के स्वभाव से ही या विक्रिया से उसका पुंलिंग त्वचारहित होता है, उसको अपावृत देखकर कोई कर्मकर कहता है—मैं उत्पलार्थ को वंदना करता हूं, अनवसर में परिशटित मयूरपिच्छकलाप वाले साधु को वंदन करता हूं। अथवा किसी महाराष्ट्रदेशीय मुनि के वेंटक से विद्ध लिंग को देखकर उपहास में कहता है—अरे! यह मुनि धर्म कैसे करेगा जिसके इतने कर्ण विद्ध हैं?

२६३८.अहिगरणं तेहि समं, अज्झोवायो य होइ महिलाणं।
तक्कम्मभावियाणं, कुतूहलं चेव इतरीणं॥

यह सब सुनकर कोई असहनशील साधु उनके साथ कलह करने लग जाता है। जो महिलाएं उस प्रकार के विकुर्वीत लिंग से प्रतिसेवना करने से भावित मन वाली हों, उनका उस साधु के प्रति अनुराग हो जाता है। दूसरी महिलाओं को कुतूहल होता है।

२६३९.अहाइय ने वयणं, वच्चामो राउलं सभं वा वि।
गोसे च्चिय अहाए, पेच्छंताणं सुहं कत्तो॥

नग्न मुनियों को देखकर वे कर्मकर आदि कहते हैं—आदर्श दर्शन से हमारा वदन पवित्र हो गया है, अतः हम राजकुल या सभा में जाएं। अथवा आज प्रभातवेला में ही इन मुनियों को अपावृत पुतों के दर्शन हुए हैं, अतः आज हमें सुख कहां?

२६४०.हत्थाईअक्कमणं, उप्फुसणादी व ओहुए कुज्जा।
गेलन्न मरण आसिय, विणास गरिहं दिय निसिं वा॥

मुनियों के आगमन-निर्गमन पथ पर बच्चे बैठे हों या खेल रहे हों। मुनियों द्वारा उनके हाथ-पैर आदि आक्रांत होने पर या उस बालक का उल्लंघन होने पर उसकी मां पानी से उत्स्पर्शन करती है अथवा लवणोत्तारण करती है। अथवा वह बालक ग्लान हो जाए या मर जाए तो शाला से साधुओं को निकाल देते हैं।

२६४१.भोत्तव्वदेसकाले, ओसक्कऽहिसक्कणं व ते कुज्जा।
दरभुत्ते वऽचियत्तं, आगय णिंते य वाघाओ॥

भोजन करने के देश-काल में वे गृहस्थ अवष्वष्कण या अभिष्वष्कण करते हैं। वे सोचते हैं जब साधु यहां से जायेंगे, तब उससे पूर्व हम भोजन कर लेंगे अथवा साधुओं के भिक्षा के लिए जाने के बाद भोजन कर लेंगे। वे गृहस्थ अभी आधा भोजन ही कर पाए हैं, इतने में साधु आ जाएं तो गृहस्थों के मन में अप्रीति होती है। इस अप्रीति के भय से मुनि भिक्षा लेकर आने और भिक्षा के लिए जाने में गृहस्थों के भोजन की प्रतीक्षा करते हैं। इससे भोजन, स्वाध्याय आदि में व्याघात होता है।

२६४२.कुड्डाइलिंपणट्ठा, पुढवी दगवारगो य उद्दित्ता।
कयविक्कयसंवहणे, धन्नं तह उक्खल तडे य॥

वहां कुड्य आदि के लिंपन के लिए मिट्टी रखी हुई है, पानी का घड़ा भरा हुआ हो, अग्नि जल रही हो, धान्य के क्रय-विक्रय के लिए उनका बिखराव हो, तो साधुओं के आने-जाने से संघट्टन आदि दोष होते हैं। उस शाला के पास ही कहीं उदूखल रखा हो। वहां स्त्रियां धान कूटने आती हैं और विविध गीत गाती हैं।

२६४३.एवं ता पमुहम्मी, जा साला कोट्ठतो अलिंदो वा।
भूमीइ व मालम्मि व, ठियाण मालम्मि सविसेसा॥

इस प्रकार प्रमुख—गृहद्वार में, शाला में, कोष्ठक में तथा आलिंद में रहने से ये दोष होते हैं। ये शाला आदि भूमीतल पर भी होते हैं और माल—ऊपरीतन भूमी में भी होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मालोपरि-स्थित शाला आदि में रहने से ये ही दोष सविशेष होते हैं।

२६४४.दुरुहंत ओरुभंते, हिट्ठठियाण अचियत्त रेणू य।
संकाय संकुडंते, पडणा भत्ते य पाणे य॥

ऊपर चढ़ते-उतरते हुए मुनि के चरणों से रेणु नीचे बैठे व्यक्तियों पर गिरती हैं। उससे उनके मन में अप्रीति होती है। वह संकोचवश अपने शरीर को संकुचित करता हुआ चढ़ता-उतरता है। वह नीचे गिर सकता है। भक्त-पान गिरकर जमीन पर बिखर जाते हैं।

२६४५.उव्वरए वलभीइ व, अंतो अन्नत्थ वा वसंताणं।
ते चेव तत्थ दोसा, सविसेसतरा इमे अन्ने॥

अपवरक, वलभी अथवा अन्यत्र गृहमध्य के मध्य रहने से वे सारे दोष हैं जो शाला में रहने से होते हैं। वे तथा ये अन्य दोष भी होते हैं।

२६४६.अइगमणमणाभोगे, ओभासण मज्जणे हिरन्ने य।
ते चेव तत्थ दोसा, सालाए छिंडिमज्झे य॥

गृहमध्य में रहने से दूसरे अपवरक में अनायास अतिगमन–प्रवेश हो सकता है। वहां महिला अचानक मुनि को प्रविष्ट हुआ देखकर उसका अपमान कर सकती है। कोई स्नान आदि कर रहा हो वहां हिरण्य या भोजन आदि बिखरा हुआ हो, यह देखकर किसी मुनि की आकांक्षा हो सकती है। ये विशेषदोष होते हैं। शाला तथा छिन्दिका विषयक जो दोष कहे हैं, वे तो होते ही हैं।

२६४७.उभयद्वाय विणिग्गए, अइंति सं पइं ति मन्नएऽगारी।
अणुचियघरप्पवेसे, पडणा-ऽऽवडणे य कुइयादी॥

कोई मुनि रात्री में कायिकी या संज्ञा के व्युत्सर्ग के लिए बाहर जाता है, लौटते समय वह अन्य कमरे में घुस जाता है। वहां कोई स्त्री सोई रहती है। वह उसे अपना पति मान लेती है। इससे अनर्थ होता है। अज्ञात गृह में प्रवेश करने पर वहां स्तंभ आदि से टकरा कर गिर सकता है। वहां यदि कोई स्त्री आदि हो तो वह जोर से चिल्लाती है। उस स्थिति में प्रवचन का उड्डाह होता है। साधु का निष्काशन आदि हो सकता है।

२६४८.अद्विगिमणट्ठिगी वा, उड्डाहं कुणइ सव्वनिच्छुभणं।
तेणुब्भामे मन्नइ, गिहिआवडिओ व छिक्को वा॥

कोई महिला मैथुनार्थी होकर मुनि से भोग की याचना करती है अथवा मुनि मैथुनार्थी होकर भोग की याचना करता है–दोनों ओर से प्रवचन का उड्डाह होता है। मुनियों का निष्काशन कर देते हैं। वह मुनि उस अपवरक में घुसा, किसी स्त्री से टकरा गया, गिर पड़ा, हाथ आदि से स्पर्श कर दिया तो घरवाले मानेंगे कि कोई चोर आ गया है अथवा कोई उद्भ्रामक होगा।

२६४९.मज्जणविहिमज्जंतं, दट्ठु सगारं सईकरणमादी।
सिज्जायरीउ अम्ह वि, एरिसया आसि गेहेसु॥

२६५०.तासिं कुचोरु-जघणाइदंसणे खिप्पऽइक्कमो कीवे।
इत्थीनाइ-सुहीण य, अचियत्तं छेदमाईया॥

मज्जनविधि–स्नान की महती प्रक्रिया से स्नान करते हुए सागारिक को देखकर स्वयं की पूर्व स्मृति उभर आती है। शय्यातरी को स्नान करते देखकर मुनि के मन में आता है कि हमारे गृहवास में भी ऐसा ही होता था। स्नान करती हुई शय्यातरी के कुच, उरु, जघन आदि देखकर दर्शन क्लीब मुनि के शीघ्र ही अतिक्रम–ब्रह्मव्रत की विराधना हो जाती है। उसी स्त्री के ज्ञातीजन, सुहृद्जन के मन में अप्रीति उत्पन्न होती है। वे तब मुनि को दिए जाने वाले द्रव्यों का व्यवच्छेद कर देते हैं।

२६५१.आसंकितो व वासो, दुक्खं तरुणा य सन्नियत्तेउं।
धंतं पि दुब्बलासो, खुब्भइ वलवाण मज्झम्मि॥

सदा उनका वहां वास आशंकित होता है। जो मुनि तरुण हैं, उनको स्त्रियों के अंग-प्रत्यंगों को देखने की आसक्ति से मोड़ना अत्यंत कष्टप्रद होता है। जैसे अत्यंत दुर्बल अश्व भी वडवाओं के मध्य रहता हुआ क्षुब्ध हो ही जाता है।

२६५२.तत्थ उ हिरण्णमाई, संमतओ दट्ठु विप्पकित्ताई।
लोभा हरेज्ज कोई, अन्नेण हिए व संकेज्जा॥

वहां शाला आदि में चारों ओर चांदी-सोना आदि को बिखरा हुआ देखकर कोई मुनि लोभवश उसका अपहरण कर लेता है और उत्प्रव्रजित हो जाता है अथवा कोई दूसरा उसका अपहरण कर लेने पर भी मुनियों पर आशंका हो सकती है।

२६५३.छिंडीइ पच्चवातो, तणपुंज-पलाल-गुम्म-उक्कुरुडे।
मिच्छत्ते संकादी, पसज्जणा जाव चरिमपदं॥

छिंडिका में रहने से ये दोष हैं। उस पुरोहड में तृणपुंज, पलालपुंज, गुल्म, ईंट-काठ आदि का पुंज होता है। वहां रहने पर नवप्रव्रजित को मिथ्यात्व आ सकता है। उसे अनेक प्रकार की शंका आदि हो सकती है। उसकी पसज्जना–भोजिक, घाटिक आदि को निवेदन करने पर चरम पद अर्थात् पारांचिक प्रायश्चित्त आ सकता है।

२६५४.एक्कतरे पुव्वगते, आउभए गभीर गुम्ममादीसु।
अह तत्थेव उवस्सओ, निरोहऽसज्झाय उड्डाहो॥

उस गुल्म–तृण पुंज आदि से गभीर–गहन पुरोहड में पहले मुनि गया है और फिर कोई स्त्री गई है या पहले स्त्री

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गई है और बाद में मुनि गया है वहां आत्मसमुत्थ और परसमुत्थ–दोनों प्रकार के दोष होते हैं। और यदि वहीं–पुरोहड में ही उपाश्रय हो तो स्त्रियों के कायिकी का निरोध होता है। तरुण मुनियों के स्वाध्याय में व्याघात होता है क्योंकि स्त्रियों के आने-जाने से उनकी दृष्टि उस ओर चली जाती है। शासन का उड्डाह भी होता है।

२६५५.छिंडीए अवंगुयाए, उब्भामग-तेणगाण अइगमणं।
वसहीए वोच्छेदो, उवगरणं राउले दोसा॥

छिंडिका रात्री में अपावृत रहने पर उद्भ्रामक लोग तथा चोर उसमें प्रवेश कर जाते हैं। वे कुछ अपहरण कर लेते हैं अथवा अगारी की प्रतिसेवना करते हैं तो शय्यातर वसति का व्यवच्छेद कर देता है। चोर वस्त्रों को चुरा ले जाता है तो शय्यातर राजकुल में शिकायत करता है। उससे अनेक दोष होते हैं।

२६५६.किं नागओ सि समणेहिं ढक्कियं दोस कूयरा जं तु।
एतेहऽवंगुएण व, अज्ज पइट्ठो सइरचारी॥

(शय्यातर की लड़की उद्भ्रामक से संप्रलग्न है। उसे रात्री में आने का संकेत दिया हुआ है। दूसरे दिन उसके आने पर वह पूछती है–) कल रात क्यों नहीं आए? वह कहता है–मैं आया था परंतु श्रमणों ने छिंडिका का द्वार ढक दिया था। तदनन्तर वे कुचर–उद्भ्रामक और उद्भ्रामिका, जो कुछ प्रद्वेषवश उत्पीड़न करते हैं, उससे निष्पन्न प्रायश्चित्त मुनि को आता है। अथवा सागारिक यह सोचता है–श्रमणों ने द्वार खुला छोड़ दिया इसलिए आज स्वैरचारी स्तेन या उद्भ्रामक हमारे गृह में प्रविष्ट हो गया। वह शय्यातर कोपाकुल होकर मुनियों को वसति से निकाल देता है।

२६५७.अवहारे चउभंगो, पसंग एएहिं संपदित्तं तु।
संजयलक्खेण परे, हरिज्ज तेणा दिय निसिं वा॥

अपहार की चतुर्भंगी होती है–

(१) कुछेक चोर संयतों के उपकरण आदि का अपहरण करते हैं, गृहस्थों के नहीं।
(२) कुछ गृहस्थों के, संयतों के नहीं।
(३) कुछ दोनों के।
(४) कुछ दोनों के नहीं।

गृहस्थों का कुछ भी चोरी हो जाने पर वे कहते हैं–इन श्रमणों ने द्वार को खुला रख दिया इसलिए इन्होंने स्तेनों को स्वर्ण आदि दिया है। यह सोचकर वे गृहस्थ राजकुल में शिकायत कर मुनियों के ग्रहण–आकर्षण का प्रसंग पैदा करते हैं। कुछेक चोर संयत के वेश मिष से आकर रात्री में कुछ अपहरण कर ले जाते हैं। ये सारे दोष शाला आदि में रहने से होते हैं।

२६५८.अद्धाणनिग्गयाई, तिक्खुत्तो मग्गिऊण असईए।
सालाए मज्झे छिंडी, वसंति जयणाए गीयत्था॥

अध्वनिर्गत मुनि तीन बार शुद्ध वसति की मार्गणा करे। उसके प्राप्त न होने पर गीतार्थ मुनि पहले शाला में रहे, उसके न मिलने पर गृहमध्य में, उसके अभाव में छिंडिका में यतनापूर्वक रहें।

२६५९.बोलेण झायकरणं, तहा वि गहिएऽणुसट्ठिमाईणि।
वेउव्वि खद्धऽवाउडि, छिड्डा चोले य पडले य॥

शाला में यह यतना है–सभी मुनि एकत्रित होकर स्वाध्याय करे, फिर भी वहां स्थित गृहस्थ उनके पदों को सुनकर ग्रहण करते हैं तो उनको समझाने का प्रयत्न करे, उन्हें कहे–गुरुगम के बिना पदों को ग्रहण करना हानिकारक होता है। किसी मुनि का सागारिक (लिंग) बहुत बड़ा हो, विंटकविद्ध हो, ऊपर की त्वचा रहित हो तो वह चोलपट्ट की पटली के एक पटल में छिद्र कर सागारिक को ढंक दे।

२६६०.अद्धागदोससंकी, जा पढमा ताव पाउया णिंति।
उद्दण-निवेसणेसु य, तत्तो पट्टिं न कुव्वंति॥

मुनि प्रथम प्रहर में बाहर जाएं तो प्रावृत होकर ही निकले। क्योंकि नग्नमुनियों को देखने वालों के मन में अमंगल की भावना बन जाती है। वे ऊठते-बैठते हुए गृहस्थों की ओर पीठ न करें, क्योंकि उनके पुतों को देखने से अमंगल होता है, ऐसी उनकी मान्यता है।

२६६१.अवणाविंतिऽवणिंति व, कप्पट्ठे परिरयस्स असईए।
अप्पत्ते सइकाले, बाहि वियट्टंति निग्गंतुं॥

मुनि बालकों के मार्ग को छोड़कर परिरय–मार्गान्तर से गमन करे। यदि मार्गान्तर न हो तो, शय्यातर आदि को कहकर मार्ग से उन बालकों को हटवाए या स्वयं उन बालकों को हटाए। मुनि गृहस्थों की भोजन वेला में भिक्षाकाल अप्राप्त होने पर ही जाता है, और खड़ा रहकर भिक्षावेला की प्रतीक्षा करता है।

२६६२.नीउच्चा उच्चतरी, चिलिमिलि भुंजंत सेसए भयणा।
पुढवी-दगाइएसुं, सारण जयणाए कायव्वा॥

जहां गृहस्थ संलग्न हों वहां मुनि आहार आदि करते समय तीन चिलिमिलिका बांधे–एक से दूसरी ऊंची और तीसरी सबसे ऊंची। यदि कुछेक मुनि अभक्तार्थी हों तो चिलिमिलि की भजना है। जहां पृथ्वी, पानी आदि की विराधना संभावित हो वहां गृहस्थों को यतनापूर्वक अनुशिष्टि दे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२६६३.जइ कुट्टणीउ गायंति विस्सरं साइयाउ मुसलेहिं।
विलवंतीसु सकलुणं, हयहियय! किमाकुलीभवसि॥

यदि कुट्टनियां धान्य को कूटती हुई गीत गाती है तो साधुओं को सोचना चाहिए कि यदि ये कुट्टनियां मुसलों को ऊंचा-नीचा फेंकती हुई उससे होने वाले श्रम को दूर करने के लिए यं विस्वर में गाती हैं। वास्तव में सकरुण विलाप करती हुई इनके गीतों को सुनकर हे हतहृदयशिष्य! तुम क्यों आकुल-व्याकुल हो रहे हो।

२६६४.मज्झे जग्गंति सया, निंति ससद्दा य आउला रत्तिं।
फिडिए य जयण सारण, एहेहि इओ इमं दारं॥

जहां मुनि गृहमध्य में रहते हैं वहां वृषभ मुनि सारी रात जागते रहते हैं। मुनि कायिकी-व्युत्सर्ग के लिए बाहर जाते हुए शब्द करते हैं और शीघ्र ही लौट आते हैं। कोई मुनि बाहर मार्गच्युत हो जाता है या अपने निवासस्थान को भूल जाते है तो यतनापूर्वक उसकी सारणा करते हुए कहना चाहिए—इधर आ जाओ। यह रहा द्वार।

२६६५.अविजाणंतो पविट्ठो, भणइ पविट्ठो अजाणमाणो मि।
एहामि वए ठविउं, न पवत्तइ अत्थि मे इच्छा॥

यदि कोई मुनि अजानकारी के कारण दूसरे अपवरक में प्रवेश कर जाता है, वहां कोई पूछने पर कहे—मैं अजानकारी के कारण यहां प्रविष्ट हुआ हूं। यदि स्त्री उसको अपने साथ भोग भोगने के लिए आग्रह करे तो उसे कहे—देखो, जिन गुरुओं के पास मैंने व्रत ग्रहण किए हैं, उनके पास व्रतों को स्थापित कर आऊंगा। मेरी भी तुम्हारे प्रति इच्छा है। गुरु के पास व्रतों को स्थापित किए बिना वैसा करना युक्त नहीं है। इस प्रकार कह कर वहां से निर्गमन कर देना चाहिए।

२६६६.कडओ व चिलिमिली वा,मज्जंतिसु थेरगा य तत्तो उ।
आइन्नहिरन्नेसु य, थेर च्चिय सिक्खगा दूरे॥

शय्यातर या उसकी स्त्री स्नान आदि करती हो तो अंतराल में चटाई या चिलिमिलिका का परदा लगाना चाहिए। वहां स्थविर मुनियों को स्थापित करना चाहिए। जहां हिरण्य आदि बिखरे हुए हों वहां भी स्थविर ही बैठे रहें। शिक्षकों (शैक्षों) को वहां से दूर रखें।

२६६७.दारमसुन्नं काउं, निंति अइंती ठिया उ छिंडीए।
काइयजयणा स च्चिय, वगडासुत्तम्मि जा भणिया॥

छिंडिका में रहते उसको संपूर्ण खाली न कर बाहर आते-जाते हैं। कायिकी की यतना तो पूर्ववत् ही है जो वगडा सूत्र (२२७२-२२७७) आदि के प्रकरण में कही गई है।

कप्पइ निग्गंथीणं गाहावइकुलस्स मज्झंमज्झेणं गंतुं वत्थए॥ (सूत्र ३३)

२६६८.एसेव कमो नियमा, निग्गंथीणं पि नवरि चउलहुगा।
नवरं पुण नाणत्तं, सालाए छिंडि मज्झे य॥

श्रमणियों के लिए भी यही नियमतः क्रम है। विशेष इतना ही है कि वहां रहने वाली श्रमणियों को चतुर्लघु प्रायश्चित्त आता है। शाला, छिंडिका तथा गृहमध्य—इनमें नानात्व है।

२६६९.सालाए कम्मकरा, उड्डंचय गीयए य ओहसणा।
घर खामणं च दाणं, बहुसो गमणं च संबंधो॥

शाला में कर्मकर इस प्रकार उड्डंचक—उपहास करते हैं—यह जैसी आर्यिका है वैसी ही मेरी मृत पत्नी थी, आदि। वे गीत गाते हुए भी विविध प्रकार के प्रपंच करते हैं, उपहसन करते हैं। जब वे श्रमणियां घरों में भिक्षार्थ जाती हैं तब वे क्षमायाचना करते हैं, दान देते हैं। फिर वे अनेक बार उन श्रमणियों के पास जाते हैं। इस प्रकार उनका परस्पर संबंध हो जाता है।

२६७०.पाणसमा तुज्झ मया, इमा य सरिसी सरिव्वया तीसे।
संखे खीरनिसेओ, जुज्जइ तत्तेण तत्तं च॥
२६७१.सो तत्थ तीए अन्नाहि वा वि निब्भत्थिओ गओ गेहं।
खामिंतो किल सुढिओ, अक्खुन्नइ अग्गहत्थेहिं॥
२६७२.पाएसु चेडरूवे, पाडेत्तू भणइ एस भे माता।
जं इच्छह तं दिज्जइ, तुमं पि साइज्ज जायाइं॥

श्रमणियां शाला में स्थित हैं। दो मित्र आते हैं। एक की पत्नी का सद्यः देहावसान हो गया है। मित्र उसका उपहास करते हुए कहता है—मित्र! प्राणसमा तेरी पत्नी का देहान्त हो गया। यह श्रमणी उसके सदृश है, समानवयवाली है। यदि इसके साथ तुम्हारा संबंध हो जाए तो शंख में दूध का अभिषेक तथा तप्त लोहे के साथ दूसरे लोह का संश्लेष जैसा होगा। यह सुनकर उस श्रमणी तथा अन्य श्रमणियों से वह अत्यंत निर्भर्त्सित होता है, घर चला जाता है। एक दिन वही श्रमणी भिक्षा के लिए घूमती हुई उसी के घर चली जाती है। वह तब वंदना करता हुआ क्षमायाचना करता है, अत्यंत आदर दिखाता है और हाथों को लंबा कर श्रमणीजी के चरणों में चित्रलिखित की भांति प्रदर्शित करता है। वह अपनी संतानों को श्रमणीजी के चरणों में गिरा कर कहता है—'यह तुम सबकी माता है। यह भिक्षा में जो चाहे वह दो। और श्रमणी को कहता है—ये सब आपके ही बच्चे हैं। इनका पालन-पोषण करो।' इस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार संबंध स्थापित होता है, और वह गाढ़तर होता जाता है।

२६७३.सुत्तनिवाओ पासेण गंतु बिइयपय कारणज्जाए।
सालाए मज्झे छिंडी, सागारिय निग्गहसमत्थो॥

सूत्रनिपात यह है कि पार्श्व से निर्गमन-प्रवेश करते हैं, अध्वनिर्गत निर्ग्रंथिनीयां अपवादपद में कारण होने पर वहां रह सकती हैं। वहां शाला में, गृहमध्यभाग में या छिंडिका में रहा जा सकता है यदि शय्यातर निग्रहसमर्थ हो तो।

२६७४.पासेण गंतु पासे, व जं तु तहियं न होइ पच्छित्तं।
मज्झेण व जं गंतुं, पिह उच्चारं घरं गुत्तं॥

२६७५.दुज्जणवज्जा साला, सागारअवत्तभूणगजुया वा।
एमेव मज्झ छिंडी, निय-सावग-सज्जणगिहे वा॥

जहां पार्श्व से निर्गमन-प्रवेश करते हैं अथवा वह गृहपति निवास के पास है, वहां रहने से कोई प्रायश्चित्त नहीं है। जिस वसति में गृहपतिकुल के मध्य जाकर प्रवेश किया जाता है, जहां पृथक् उच्चार-कायिकी भूमी हो, जो कपाट आदि से गुप्त हो वहां रहने पर प्रायश्चित्त नहीं आता। शाला में रहना पड़े तो वह दुर्जनों से रहित होनी चाहिए तथा जहां सागारिक के बालक रह रहे हों वहां रहा जा सकता है। इसी प्रकार चतुःशाला आदि गृहमध्य में तथा छिंडिका में जहां अपने निजक-संबंधीजन, श्रावक अथवा सज्जन व्यक्ति रह रहे हों वहां रहा जा सकता है।

विओसवण-पदं

भिक्खू य अहिगरणं कट्टु तं अहिगरणं 'विओसवित्ता विओसवियपाहुडे', इच्छाए परो आढाएज्जा इच्छाए परो नो आढाएज्जा, इच्छाए परो अब्भुट्ठेज्जा इच्छाए परो नो अब्भुट्ठेज्जा, इच्छाए परो वंदिज्जा इच्छाए परो नो वंदिज्जा, इच्छाए परो संभुंजेज्जा इच्छाए परो नो संभुंजेज्जा, इच्छाए परो संवसेज्जा इच्छाए परो नो संवसेज्जा, इच्छाए परो उवसमेज्जा इच्छाए परो नो उवसमेज्जा। जो उवसमइ, तस्स अत्थि आराहणा; जो न उवसमइ, तस्स नत्थि आराहणा। तम्हा अप्पणा चेव उवसमियव्वं। से किमाहु भंते? उवसमसारं सामन्नं॥

(सूत्र ३४)

२६७६.एगत्थ कहमकप्पं, कप्पं एगत्थ इच्चऽसद्दहतो।
पडिसिद्धे व वसंते, निवारण वइक्कमे कलहो॥

एकत्र अर्थात् गृहपतिकुल के मध्य में साधुओं का रहना अकल्प्य कैसे हो जाता है और साध्वियों के लिए कल्प्य कैसे हो जाता है? अथवा प्रतिषिद्ध वसति में रहने का किसी ने निवारण किया, उसका व्यतिक्रम करने पर कलह होता है।

२६७७.घेप्पंति चसद्देणं, गणि आयरिया य भिक्खुणीओ य।
अहवा भिक्खुग्गहणा, गहणं खलु होइ सव्वेसिं॥

प्रस्तुत सूत्र में 'च' शब्द से गणी, आचार्य तथा भिक्षुणीयों का ग्रहण किया गया है। अथवा भिक्षु के ग्रहण से सभी साधु-साध्वियों का ग्रहण हो जाता है।

२६७८.खामिय वितोसिय विणासियं च झवियं च होंति एगट्ठा।
पाहुड पहेण पणयण, एगट्ठा ते उ निरयस्स॥

क्षामित, व्यवशमित, विनाशित और क्षपित—ये एकार्थक हैं। प्राभृत, प्रहेनक, प्रणयन—ये तीनों शब्द नरक के एकार्थवाची हैं।

२६७९.इच्छा न जिणादेसो, आढा उण आदरो जहा पुव्विं।
भुंजण वास मणुन्ने, सेस मणुन्ने व इतरे वा॥

इच्छा शब्द जिनादेश नहीं है। आढाई आदि पद भी स्वच्छंद से कहे गए हैं। 'आढा' का अर्थ है—आदर। वह पूर्ववत् करना होता है। संभोजन और संवासन—ये दो पद मनोज्ञ अर्थात् सांभोगिक के विषय से संबद्ध हैं। शेष पद मनोज्ञ-अमनोज्ञ—दोनों से संबंधित हैं।

२६८०.नामं ठवणा दविए, भावे य चउव्विहं तु अहिगरणं।
दव्वम्मि जंतमादी, भावे उदओ कसायाणं॥

अधिकरण के चार प्रकार हैं—नामअधिकरण, स्थापना-अधिकरण, द्रव्यअधिकरण और भावअधिकरण। द्रव्य-अधिकरण है—यंत्र आदि और भाव अधिकरण है—क्रोध आदि कषायों का उदय।

२६८१.दव्वम्मि उ अहिगरणं, चउव्विहं होइ आणुपुव्वीए।
निव्वत्तण निक्खिवणे, संजोयण निसिरणे य तहा॥

द्रव्य विषयक अधिकरण क्रमशः चार प्रकार का होता है—निर्वर्तनाधिकरण, निक्षेपणाधिकरण, संयोजनाधिकरण[1] और निसर्जनाधिकरण।[2]

१. दृष्टांत के लिए देखें कथा परिशिष्ट, नं. ७६।

२. वृत्तिकार ने इनकी विस्तृत व्याख्या की है तथा कुछेक ऐतिहासिक तथ्य भी प्रस्तुत किए हैं। (वृ. पृ. ७५३)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२६८२.अह-तिरिय-उड्ढकरणे,
बंधण निव्वत्तणा य निक्खिवणं।
उवसम-खएण उड्ढं,
उदएण भवे अहेगरणं॥

कषायों का उदय भावाधिकरण है। अधोगति, तिर्यक्गति तथा ऊर्ध्वगतिनयन में उनका स्वरूप क्या होता है, उसकी मीमांसा करनी चाहिए। बंधन का अर्थ है—संयोजना, निर्वर्तना, निक्षेपणा और निसर्जना। कषायों के उदय से अधोगतिगमन होता है और उपशम और क्षय से ऊर्ध्वगति गमन होता है।

२६८३.तिव्वकसायसमुदया, गुरुकम्मुदया गती भवे हिट्ठा।
नाइकिलिट्ठ-मिऊहि य, उववज्जइ तिरिय-मणुएसु॥

तीव्र कषाय के उदय से गुरुकर्म—ज्ञानावरणीयादि का उपचय होता है और उससे अधस्ताद् गति होती है। जो कषाय अतिक्लिष्ट नहीं होते, उनके उदय से जीव तिर्यक्-गति में उत्पन्न होता है और जो कषाय मृदु होते हैं, प्रतनु होते हैं उनके उदय से जीव मनुष्ययोनि में उत्पन्न होता है।

२६८४.खीणेहि उ निव्वाणं, उवसंतेहि उ अणुत्तरसुरेसु।
जह निग्गहो तह लहू, समुवचओ तेण सेसेसु॥

कषायों के क्षीण होने पर निर्वाण प्राप्त होता है। उनके उपशांत होने पर जीव अनुत्तर देवों में उत्पन्न होते हैं। इन कषायों का जैसा निग्रह होता है, वैसा ही जीव लघु होता जाता है। यदि वैसा निग्रह नहीं है तो कर्मों का समुपचय होता है और तब जीव अनुत्तर विमानवासी देवों में उत्पन्न न होकर शेष देवलोकों में उत्पन्न होता है।

२६८५.गुरुयं लहुयं मीसं, पडिसेहो चेव उभयपक्खे वि।
तत्थ पुण पढमबिइया, पया उ सव्वत्थ पडिसिद्धा॥

व्यवहार से द्रव्य चार प्रकार का होता है—गुरुक, लघुक, मिश्र अर्थात् गुरु-लघुक और उभयतः प्रतिषेध अर्थात् न गुरुक और न लघुक। इनमें जो प्रथम और द्वितीय पद है (गुरुक और लघुक) वे सर्वत्र प्रतिषिद्ध हैं।[1]

२६८६.जा तेयगं सरीरं, गुरुलहु दव्वाणि कायजोगो य।
मण-भासा अगुरुलहू, अरूविदव्वा य सव्वे वि॥

औदारिक, वैक्रिय, आहारक और तैजस शरीर पर्यन्त द्रव्य तथा उनका काययोग—शरीरव्यापार—यह सारा गुरु-लघुक है। मन और भाषा के पुद्गल अगुरुलघु तथा जितने अरूपी द्रव्य हैं (धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाशास्ति, जीवास्ति) ये सब अगुरुलघु हैं। (आनपान, कार्मणप्रायोग्य-द्रव्य तथा उसके अपान्तरालवर्ती द्रव्य—ये सारे अगुरुलघु हैं।)

२६८७.अहवा बायरबोंदी, कलेवरा गुरुलहू भवे सव्वे।
सुहुमाणंतपदेसा, अगुरुलहू जाव परमाणू॥

अथवा बादरबोंदी—बादरनामकर्मोदयवर्ती जीवों के कलेवर तथा सारे बादर परिणामपरिणत द्रव्य—भू, भूधर, इन्द्रधनुष, गांधर्व नगर आदि गुरुलघु होते हैं। सूक्ष्मनामकर्मोदयवर्ती जंतुओं के शरीर तथा अनन्तप्रदेशी से परमाणु पर्यन्त सभी द्रव्य अगुरुलघु होते हैं।

२६८८.ववहारनयं पप्प उ, गुरुया लहुया य मीसगा चेव।
लेट्ठुग पदीव मारुय, एवं जीवाण कम्माइं॥

व्यवहारनय के अनुसार द्रव्य तीन प्रकार के होते हैं—गुरुक, लघुक और गुरुक-लघुक (मिश्र)। पत्थर गुरुक है। प्रदीपकलिका लघुक है और पवन—गुरुलघुक है। इसी प्रकार जीवों के कर्म भी तीन प्रकार के होते हैं—गुरुक, लघुक और गुरुक-लघुक (मिश्र)।

२६८९.कम्मं चिणंति सवसा, तस्सुदयम्मि उ परव्वसा होंति।
रुक्खं दुरुहइ सवसो, विगलइ स परव्वसो तत्तो॥

जीव कर्मों को बांधने में स्वतंत्र होता है, परन्तु कर्मों के उदय में वह परवश होता है, परतंत्र होता है। जैसे मनुष्य वृक्ष पर चढ़ने में स्ववश होता है, परंतु उससे स्खलित-विगलित होने में वह परवश होता है।

२६९०.कम्मवसा खलु जीवा, जीववसाइं कहिंचि कम्माइं।
कत्थइ धणिओ बलवं, धारणिओ कत्थई बलवं॥

(शिष्य ने पूछा—क्या संसारी जीव कर्मपरवश होते हैं? आचार्य ने कहा—नहीं, यह एकान्ततः सत्य नहीं है।)

संसारी जीव कर्म के वशीभूत होते हैं। परन्तु कहीं-कहीं कर्म जीव के वशीभूत होते हैं। कहीं धनिक (ऋण देने वाला) बलवान् होता है और कहीं धारणिक (ऋण लेने वाला) बलवान् होता है।

२६९१.धणियसरिसं तु कम्मं,
धारणिगसमा उ कम्मिणो होंति।
संताऽसंतधणा जह,
धारणग धिई तणू एवं॥

धनिक के सदृश होते हैं कर्म और धारणिक के सदृश होते हैं सकर्मक जीव। धारणिक दो प्रकार के होते हैं—धन वाले और अधनवाले। (धनवान् धारणिक अपना ऋण चुका कर मुक्त हो जाता है और अधनवाला धनिक के वशीभूत

१. निश्चयमत के अनुसार संसार में एक भी वस्तु ऐसी नहीं है जो एकांततः गुरुक हो या लघुक हो। इसलिए संसार में जितनी बादर वस्तुएं हैं वे सब गुरुलघु और शेष पदार्थ अगुरुलघु है। (वृ. पृ. ७५६)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होकर अनेक दुःखों का अनुभव करता है।) इसी प्रकार जिस मनुष्य का धृतिबल और शरीरबल होता है वह कर्मों का क्षय कर देता है। जिसमें ये दोनों बल नहीं होते, वे कर्म के वशीभूत होकर दुःख पाते हैं।

२६९२.सहणोऽसहणो कालं, जह धणिओ एवमेव कम्मं तु।
उदिया-ऽणुदिए खवणा, होज्ज सिया आउवज्जेसु॥

धनिक दो प्रकार के होते हैं—सहिष्णु और असहिष्णु। जो सहिष्णु होता है वह काल की प्रतीक्षा करता है। इसी प्रकार कर्म भी, काल की पूर्ति होने पर अथवा पूर्ति के बिना भी अपना विपाक दिखाते हैं। जो धृतिसंपन्न, संहननसंपन्न होते हैं वे आयुष्यकर्म को छोड़कर उदीर्ण और अनुदीर्ण शेष कर्मों की क्षपणा कर देते हैं। किन्हीं के ऐसा होता भी है और किन्हीं के यह नहीं भी होता।

(इस प्रकार जीव और कर्म—दोनों की यथायोग्य बलवत्ता है। यह श्लोक इसका वाचक है—

दृग्नाशो ब्रह्मदत्ते भरतनृपजयः सर्वनाशश्च कृष्णे,
नीचैर्गोत्रावतारश्चरमजिनपतेर्मल्लिनाथेऽबलात्वम् ।
निर्वाणं नारदेऽपि प्रशमपरिणतिः सा चिलातीसुतेऽपि,
इत्थं कर्मात्मवीर्ये स्फुटमिह जयतां स्पर्द्धया तुल्यरूपे॥

(वृ. पृ. ७५८)

२६९३.सच्चित्ते अच्चित्ते, मीस वओगय परिहार देसकहा।
सम्ममणाउट्टंते, अहिगरणमओ समुप्पज्जे॥

भावाधिकरण की उत्पत्ति के हेतु—सचित्त, अचित्त, मिश्र, वचोगत, परिहार, देशकथा—इन स्थानों में वर्तन न करने की प्रेरणा देने पर जो सम्यग् स्वीकार नहीं करता, इससे अधिकरण उत्पन्न होता है। (गाथा की विस्तृत व्याख्या आगे की गाथाओं में)।

२६९४.आभव्वमदेमाणे, गिण्हंत तहेव मग्गमाणे य।
सच्चित्तेतरमीसे, वितहापडिवत्तिओ कलहो॥

किसी आचार्य के पास शैक्ष-शैक्षिका प्रव्रज्या लेने आते हैं, वे उस आचार्य के आभाव्य होते हैं। उनको यदि कोई दूसरा आचार्य ग्रहण कर लेता है, या पूर्वगृहीत आभाव्य की याचना करने पर वह आचार्य वितथप्रतिपत्तियों—झूठें तर्कों से उसे झुठला देता है तो कलह होता है। आभाव्य सचित्त, अचित्त और मिश्र हो सकता है। (सचित्त—शैक्ष-शैक्षिका। अचित्त—वस्त्र, पात्र आदि। मिश्र—सभांडोपकरण शैक्ष आदि।)

२६९५.विच्चामेलण सुत्ते, देसीभासा पवंचणे चेव।
अन्नम्मि य वत्तव्वे, हीणाहिय अक्खरे चेव॥

सूत्र विषयक व्यत्याम्रेडित (अन्यान्य सूत्रालयों को यत्र-तत्र मिलाकर बोलना), अपनी-अपनी देशीभाषा बोलने पर, प्रपंच—नाना प्रकार की चेष्टाएं करना, अन्य के बोलने के समय अन्य का बोलना, हीनाक्षर, अत्याक्षर पद बोलना—रोकने पर ये सब कलह के कारण होते हैं।

२६९६.परिहारियमठवेंते, ठवियमणट्ठाए निव्विसंते वा।
कुच्छियकुले व पविसइ, चोइयऽणाउट्टणे कलहो॥

परिहारिक कुल वे होते हैं जहां गुरु, ग्लान, बाल आदि मुनियों के लिए प्रायोग्य भक्त-पान प्राप्त हो जाता है। यदि उनकी स्थापना न की जाए या स्थापित करने पर भी निष्कारण उनमें प्रवेश किया जाए और यदि उसमें जाने से रोका जाए तो कलह होता है। अथवा परिहारिककुल अर्थात् कुत्सित कुल में मुनि जाता है तो रोकने पर यदि नहीं रुकता है तो कलह होता है।

२६९७.देसकहापरिकहणे, एक्के एक्के व देसरागम्मि।
मा कर देसकहं ति य, चोइय अठियम्मि अहिगरणं॥

अनेक मुनि देशकथा में संलग्न हैं। अलग-अलग मुनियों की भिन्न-भिन्न देश के प्रति रागभाव होता है। वह उसकी प्रशंसा करता है, दूसरा उसका खंडन करता है। कोई कहता है देशकथा मत करो। यदि वे मुनि उपरत नहीं होते हैं तो कलह होता है।

२६९८.जो जस्स उ उवसमई, विज्झवणं तस्स तेण कायव्वं।
जो उ उवेहं कुज्जा, आवज्जइ मासियं लहुगं॥

जो साधु जिस साधु को कुपित कर देता है, वह उस क्रोध का उपशमन करे, उससे क्षमायाचना करे। जो उपेक्षा करता है, उसे लघुमासिक का प्रायश्चित्त आता है।

२६९९.लहुओ उ उवेहाए, गुरुओ सो चेव उवहसंतस्स।
उत्तुयमाणे लहुगा, सहायगत्ते सरिसदोसो॥

जो उपेक्षा करता है उसे लघुमास का प्रायश्चित्त और जो उपहास करता है उसे गुरुमास का प्रायश्चित्त तथा जो कलह करने वाले को उत्तेजित करता है उसे चार लघुक तथा जो कलह में सहायक होता है, उसे कलह करने वाले की भांति प्रायश्चित्त आता है अर्थात् चतुर्गुरुक का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२७००.चउरो चउगुरु अहवा, विसेसिया होंति भिक्खुमाईणं।
अहवा चउगुरुगादी, हवंति ऊ छेद निट्ठवणा॥

भिक्षु, वृषभ, उपाध्याय और आचार्य—इनके कलह करने पर प्रत्येक को चतुर्गुरुक का प्रायश्चित्त आता है। अथवा वे ही चतुर्गुरु तप और काल से विशेषित होते हैं। अथवा चतुर्गुरु से प्रारंभ कर उस प्रायश्चित्त की छेद में निष्ठापना होती है।

२७०१.परपत्तिया न किरिया, मोत्तु परट्ठं च जयसु आयट्ठे।
अवि य उवेहा वुत्ता, गुणो वि दोसो हवइ एवं॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परप्रत्ययिक क्रिया–कर्मबंध हमारे नहीं होता। इसलिए परार्थ को छोड़कर आत्मार्थ में प्रयत्नशील रहना चाहिए। इसीलिए उपेक्षा की बात कही गई है। आचार्य कहते हैं–उपेक्षा गुण है परन्तु वह भी इस प्रकार दोष हो जाता है।[1] (उपेक्षा सर्वत्र गुणकारी नहीं होती।)

२७०२.जइ परो पडिसेविज्जा, पावियं पडिसेवणं।
मज्झ मोणं चरंतस्स, के अट्ठे परिहायई॥

यदि कोई मुनि पापिका प्रतिसेवना (अकुशलकर्मरूप अधिकरण आदि) की प्रतिसेवना करता है तो मेरा क्या? मौन का आचरण करने वाले मेरे क्या कोई ज्ञान आदि के अर्थ की परिहानि होती है? कुछ भी नहीं।

२७०३.आयट्ठे उवउत्ता, मा य परट्ठम्मि वावडा होह।
हंदि परट्ठाउत्ता, आयट्ठविणासगा होंति॥

आत्मार्थ में उपयुक्त होना ही उत्तम है। परार्थ में कभी व्यापृत मत होओ। जो परार्थ में उपयुक्त होते हैं वे आत्मार्थ के विनाशक होते हैं।

२७०४.एसो वि ताव दम्मउ, हसइ व तस्सोमयाए ओहसणा।
उत्तरदाणं मा ओसराहि अह होइ उत्तुअणा॥

दो मुनि कलह कर रहे हैं। एक कुछ खिन्न हो रहा है। दूसरा मुनि कहता है इसका भी (जो खिन्न नहीं हो रहा है) दमन करना चाहिए। एक की अवमानना होने पर दूसरा हंसता है, यह उपहास है। दोनों के बीच कोई कहता है–उत्तर देते रहना। अपने निश्चय से मत हटना। तुम उससे हार मत मान लेना। यह उसको उत्तेजना देना है।

२७०५.वायाए हत्थेहि व, पाएहि व दंत-लउडमादीहिं।
जो कुणइ सहायत्तं, समाणदोसं तयं बेंति॥

दो व्यक्ति कलह कर रहे हैं। एक के पक्ष में होकर जो वाणी से, हाथों से, पैरों से, दांतों से तथा लकड़ी आदि से उनका सहयोग करता है, वह भी कलहकारी व्यक्तियों की भांति ही दोषी है, ऐसा तीर्थंकरों ने कहा है।

२७०६.नागा! जलवासीया!, सुणेह तस-थावरा!।
सरडा जत्थ भंडंति, अभावो परियत्तई॥
२७०७.वणसंड सरे जल-थल-खहचर वीसमण देवया कहणं।
वारेह सरडुवेक्खण, धाडण गयनास चूरणया॥

जो अधिकरण–कलह की उपेक्षा करते हैं, उससे क्या अनर्थ होता है वह निम्न निदर्शन से बताया गया है–

एक अरण्य के मध्य एक विशाल तालाब था। उसमें जलचर, स्थलचर और खेचर प्राणी थे। वहीं एक विशाल हस्तीयूथ था। वह यूथ उस तालाब में पानी पीने, क्रीड़ा करने और वृक्षों की छाया में विश्राम करने आता-जाता था। एक दिन वहीं दो शरट परस्पर झगड़ने लगे। यह देखकर वनदेवता ने सबको सचेत करते हुए कहा–

'हे हाथियो! हे सभी जलचर प्राणियो! तथा सभी त्रस और स्थावर जीवो! सुनो जो मैं कहता हूं। जहां तालाब के पास शरट लड़ रहे हों तो तुम जान लो कि वहां विनाश होने वाला है।'

इतना सुनने पर भी उन प्राणियों ने सोचा–ये शरट हमारा क्या बिगाड़ लेंगे? इतने में दोनों शरट लड़ते-लड़ते विश्राम कर रहे हाथियों के निकट आ गए। एक शरट, बिल समझकर, हाथी के सूंड में घुस गया। दूसरा भी उसके पीछे उसी सूंड में घुस गया। भीतर शिर-कपाल में जाकर वहां लड़ने लगे। हाथी को बहुत कष्ट होने लगा। वह आकुल-व्याकुल होकर उठा और उस वनखंड को चूर-चूर करता हुआ, उस तालाब में प्रविष्ट हो गया। वनखंड में अनेक स्थलचर प्राणी नष्ट हो गए। तालाब की पाल तोड़ डाली। सभी जलचर प्राणी विनष्ट हो गए।

इसलिए कलह छोटा हो या बड़ा, उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। उसके तत्काल उपशमन का प्रयत्न करना चाहिए।

२७०८.तावो भेदो अयसो, हाणी दंसण-चरित्त-नाणाणं।
साहुपदोसो संसारवड्ढणो साहिकरणस्स॥

अधिकरण के ये दोष हैं–ताप, भेद, अकीर्ति, ज्ञान-दर्शन और चारित्र की हानि, साधुओं में प्रद्वेष और संसार का प्रवर्धन।

२७०९.अइभणिय अभणिए वा, तावो भेदो उ जीव चरणे वा।
रूवसरिसं न सीलं, जिम्हं व मणे अयस एवं॥

ताप दो प्रकार का होता है–प्रशस्त और अप्रशस्त। अतिभणित प्रशस्त ताप है। व्यक्ति सोचता है–मैंने उसे बहुत ज्यादा कह डाला। अभणित अप्रशस्त ताप है। व्यक्ति सोचता है–मैंने उसे बहुत कम कहा। मुझे उसके ये-ये दोष उद्घाटित करने थे। भेद का अर्थ है–कलह करके स्वयं का जीवितभेद या चारित्रभेद कर देना। लोग कहने लगते हैं–इसके रूप के सदृश शील नहीं है। अथवा इसने कुछ लज्जनीय कार्य किया है, इसलिए यह म्लानवदन दिख रहा है। इस प्रकार उसका अयश होता है।

२७१०.अक्कुट्ठ तालिए वा, पक्खापक्खि कलहम्मि गणभेदो।
एगयर सूयएहिं व, रायादीसिट्ठे गहणादी॥

आक्रुष्ट या ताडित होने पर साधुओं का परस्पर

१. असंयतों के प्रति की जाने वाली उपेक्षा गुण है, संयतों के प्रति की जाने वाली उपेक्षा महान् दोष है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पक्षग्रहण करने पर कलह होता है और उससे गणभेद हो जाता है। कोई एक पक्ष राजकुल में जाकर इस कलह की सूचना देता है अथवा सूचक–राजपुरुषों द्वारा राजा को ज्ञापित करने पर, ग्रहण-आकर्षण आदि दोष होते हैं।

२७११.वत्तकलहो वि न पढइ, अवच्छलत्ते य दंसणे हाणी।
जह कोहाइविवड्ढी, तह हाणी होइ चरणे वि॥

कलह के समाप्त हो जाने पर भी जो पढ़ने से विमुख होता है, उसके ज्ञान की हानि होती है। साधु-प्रद्वेष से साधर्मिक मुनियों का वात्सल्य नहीं रहता। इससे दर्शन की हानि होती है। जैसे-जैसे कषायों की वृद्धि होती है, वैसे-वैसे चारित्र की हानि होती है।

२७१२.अकसायं खु चरित्तं, कसायसहितो न संजओ होइ।
साहूण पदोसेण य, संसारं सो विवड्ढेइ॥

निश्चयनय के अनुसार अकषाय ही चारित्र है। कषाय-सहित कोई संयत नहीं होता। साधुओं के प्रति प्रद्वेष रखने वाला मुनि संसार–भवभ्रमण को बढ़ाता है।

२७१३.आगाढे अहिगरणे, उवसम अवकड्ढणा य गुरुवयणं।
उवसमह कुणह ज्झायं, छड्डणया सागपत्तेहिं॥

कर्कश अधिकरण हो जाने पर दोनों को उपशांत करना चाहिए। पार्श्वस्थित मुनि दोनों का अपसारण करे। गुरु उनको कहे–कलह का उपशमन कर ध्यान करो, स्वाध्याय करो। अनुपशांत के न ध्यान होता है और न स्वाध्याय। तुम द्रमक की भांति कनकरस को शाकपत्रों के लिए क्यों फेंक रहे हो?

(एक परिव्राजक ने दीन-हीन द्रमक से पूछा–इतने चिंतातुर क्यों हो? उसने कहा–मैं दरिद्रता से अभिभूत हूं। 'परिव्राजक बोला–यदि तुम मेरे कथनानुसार चलोगे, करोगे तो मैं तुम्हें वैभवशाली बना दूंगा। उसने परिव्राजक की बात स्वीकार कर ली। दोनों चले। एक निकुंज में प्रविष्ट होकर परिव्राजक ने कहा–यह कनकरस है। इसके ग्रहण का उपचार (विधि) यह है कि जो उसे ग्रहण करता है वह शीत, आतप, परिश्रम, क्षुधा, पिपासा सहन करता हुआ, ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ, अचित्त कंदमूल का भोजन करता हुआ, कषायों का उपशमन कर, शमीवृक्ष के पुटकों में इसे ग्रहण करे। यह इसको ग्रहण करने की विधि है।' द्रमक ने वैसे ही किया और एक तुंबक को कनकरस से भरकर, दोनों वहां से चले। परिव्राजक ने कहा–यह बहुमूल्य रस है। इसको क्रोधवश फेंकना नहीं हैं।' चलते-चलते परिव्राजक बार-बार कहता–तुम मेरे प्रभाव से धनी बन जाओगे। द्रमक ने एक-दो बार सुना। फिर रुष्ट होकर बोला–तुम्हारे प्रभाव से मैं धनी बनूं, यह मुझे इष्ट नहीं है। उसने उस कनकरस को फेंक दिया।' तब परिव्राजक बोला–अरे दुरात्मन्! यह तुमने क्या किया? कषाय के कारण इतने बड़े लाभ से हाथ धो बैठा?)

२७१४.जं अज्जियं समीखल्लएहिं तव-नियम-बंभमइएहिं।
तं दाणि पच्छ नाहिसि, छड्डिंतो सागपत्तेहिं॥

परिव्राजक ने कहा–जो तुमने तप, नियम, ब्रह्मचर्य से अर्जित गुण रूप कनकरस को तप आदि रूप शमीवृक्ष के पत्रपुटकों में एकत्रित किया था, उसको फेंक दिया। अब तुम जान पाओगे कि तुमने शाकवृक्ष के पत्रतुल्य कषाय के कारण स्वयं की आत्मा को गुणों से रिक्त कर डाला है।

२७१५.जं अज्जियं चरित्तं, देसूणाए वि पुव्वकोडीए।
तं पि कसाइयमेत्तो, नासेइ नरो मुहुत्तेण॥

जो चारित्र देशोनपूर्वकोटी वर्षों में अर्जित किया है, उसको भी कषायितमात्र व्यक्ति एक मुहूर्त्त में विनष्ट कर देता है।

२७१६.आयरिय एगु न भणे, अह एगु निवारि मासियं लहुगं।
राग-दोसविमुक्को, सीयघरसमो उ आयरिओ॥

दो मुनि अधिकरण कर रहे हैं। आचार्य एक को कुछ नहीं कहते, एक को कलह करने से निवारित करते हैं। इस प्रवृत्ति से आचार्य को लघुमासिक का प्रायश्चित्त आता है। आचार्य शीतघर के समान होते हैं। वे राग-द्वेष से विप्रमुक्त होते हैं।

२७१७.वारेइ एस एयं, ममं न वारेइ पक्खरागेणं।
बाहिरभावं गाढतरगं च मं पेक्खसी एक्कं॥

आचार्य अमुक मुनि को कलह से निवारित करता है। तब दूसरा सोचता है–आचार्य मुझे परबुद्धि से देखते हैं, अतः मुझे निवारित नहीं करते। इस पक्षराग के कारण वह मुनि बाह्यभाव को प्राप्त हो जाता है अथवा कलह को बढ़ा देता है अथवा वह आचार्य को कहता है–आप मुझ एक को बाह्यरूप से देखते हैं।

२७१८.उवसंतोऽणुवसंतं, तु पासिया विन्नवेइ आयरियं।
तस्स उ पण्णवणट्ठा, निक्खेवो पर इमो होइ॥

२७१९.नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले तदन्नमन्ने अ।
आएस कम बहु पहाण भावओ उ परो होइ॥

उपशांत मुनि अनुपशांत मुनि को देखकर आचार्य को निवेदन करता है कि अमुक मुनि उपशांत नहीं हो रहा है। तब आचार्य उसको प्रज्ञापित करने के लिए 'परनिक्षेप' करते हैं। 'परनिक्षेप' यह है–नामपर, स्थापनापर, द्रव्यपर, क्षेत्रपर, कालपर। ये द्रव्यपर आदि प्रत्येक दो-दो प्रकार के होते हैं–तद्द्रव्यपर और अन्यद्रव्यपर। तथा आदेशपर, क्रमपर,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बहुपर, प्रधानपर और भावपर—इस प्रकार परनिक्षेप मूलभेद की अपेक्षा से दस प्रकार का है।

२७२०.परमाणुपुग्गलो खलु, तद्दव्वपरो भवे अणुस्सेव।
अन्नद्दव्वपरो खलु, दुपएसियमाइणो तस्स॥

परमाणु पुद्गल का अपर परमाणु पुद्गल परतया विचार करने पर वह तद्द्रव्यपर होता है। उसी परमाणुपुद्गल के द्विप्रदेशिक आदि स्कंध परतया विचार किए जाने पर अन्यद्रव्यपर होते हैं।

२७२१.एमेव य खंधाण वि, तद्दव्वपरा उ तुल्लसंघाया।
जे उ अतुल्लपएसा, अणू य तस्सऽन्नदव्वपरा॥

इसी प्रकार स्कंधों के भी तुल्यसंघात वाले स्कंध तद्द्रव्यपर होते हैं। अतुल्यप्रदेश वाले स्कंध तथा अणु—ये सब अन्यद्रव्यपर होते हैं।

२७२२.एगपएसोगाढादि खेत्ते एमेव जा असंखेज्जा।
एगसमयाइठिइणो, कालम्मि वि जा असंखेज्जा॥

इसी प्रकार एकप्रदेशावगाढ परमाणु से असंख्येय-प्रदेशावगाढ पर्यन्त जानना चाहिए। जैसे—एकप्रदेशावगाढ तत्क्षेत्रपर होता है और द्विप्रदेशावगाढ आदि अन्यक्षेत्रपर होता है।

इसी प्रकार कालविषयक भी यही स्थिति है। एक समय की स्थितिवाले पुद्गल से एक समय स्थितिवाले पुद्गल तत्कालपर और द्वि आदि समय स्थितिवाले अन्यकालपर होते हैं। इसी प्रकार असंख्येय समय की स्थितिवाले पुद्गल समान स्थितिवालों के साथ तत्कालपर और शेष एकसमय की स्थितिवालों के साथ अन्यकालपर होते हैं।

२७२३.भोअण-पेसणमादीसु एगखित्तट्ठियं तु जं पच्छा।
आदिसइ भुंज कुणसु व, आएसपरो हवइ एस॥

भोजन, प्रेषण—कार्य में व्यापृत करने आदि में, एक-क्षेत्रस्थित व्यक्ति को पश्चात्—अन्त में आदेश दिया जाता है कि जाओ, तुम भोजन करो अथवा यह कार्य करो। यह आदेश-पर है। तात्पर्य है कि 'पर' व्यक्ति आज्ञापित होता है।

२७२४.दव्वाइ कमो चउहा, दव्वे परमाणुमाइ जाऽणंतं।
एगुत्तरवुड्ढीए, विवड्ढियाणं परो होइ॥

क्रम का अर्थ है परिपाटी। उसकी अपेक्षा 'पर' चार प्रकार का है—द्रव्यक्रमपर, क्षेत्रक्रमपर, कालक्रमपर और भावक्रमपर। द्रव्यक्रमपर है परमाणु से लेकर अनन्त-प्रदेशी स्कंध पर्यन्त। एकोत्तरप्रदेशवृद्धि से बढ़ते हुए, जो जिसकी अपेक्षा से 'पर' है वह उससे द्रव्यक्रमपर होता है। (वृत्ति में वृत्तिकार ने अन्य क्रमपरों का भी वर्णन दिया है।)

२७२५.जीवा पुग्गल समया, दव्व पएसा य पज्जवा चेव।
थोवा णंता णंता, विसेसमहिया दुवेऽणंता॥

जीव सबसे स्तोक हैं। उनसे पुद्गल अनन्तगुणा, उनसे समय अनन्तगुणा, उनसे द्रव्य विशेषाधिक, उनसे प्रदेश अनन्तगुणा, उनसे पर्याय अनन्तगुणा होते हैं।

२७२६.दव्वे सचित्तमादी, सचित्तदुपएसु होइ तित्थयरो।
सीहो चउप्पएसुं, अपयपहाणा बहुविहा उ॥

प्रधानपर के दो प्रकार हैं—द्रव्यप्रधानपर और भाव-प्रधानपर। द्रव्यप्रधानपर के तीन भेद हैं—सचित्त, अचित्त और मिश्र। सचित्तप्रधान के तीन प्रकार हैं—द्विपद, चतुष्पद और अपद। द्विपद में तीर्थंकर प्रधान होते हैं। चतुष्पद में सिंह प्रधान होता है। अपदप्रधान बहुविध होते हैं। (सचित्त में सुदर्शनवृक्ष, जम्बूवृक्ष, पनस आदि। अचित्त धातु में—स्वर्ण, वस्त्र में चीनांशुक, गंधद्रव्य में गोशीर्षचन्दन, मिश्र में—स्वर्ण आदि से अलंकृत मूर्ति आदि)।

२७२७.वण्ण-रस-गंध फासेसु उत्तमा जे उ भू-दग-वणेसु।
मणि-खीरोदगमादी, पुप्फ-फलादी य रुक्खेसु॥

जो पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय वर्ण, रस, गंध और स्पर्श में उत्तम होते हैं वे भावप्रधानपर हैं। जैसे पृथ्वीकाय में मणि, अप्काय में क्षीरोदक और वनस्पतिकाय में पुष्प और फलवाले वृक्ष।

२७२८.आढणमब्भुट्ठाणं, वंदण संभुंजणा य संवासो।
एयाइं जो कुणई, आराहण अकुणओ नत्थि॥

२७२९.अकसायं निव्वाणं, सव्वेहि वि जिणवरेहिं पन्नत्तं।
सो लब्भइ भावपरो, जो उवसंते अणुवसंतो॥

जो मुनि आहार, अभ्युत्थान, वंदन, संभोजन—ये पद उपशांत होकर करता है, उसके आराधना होती है, जो ये पद नहीं करता उसके आराधना नहीं होती।

सभी जिनेश्वर देवों ने कहा—अकषाय निर्वाण है। जो अनुपशांत मुनि उपशांत मुनि के प्रति आदर आदि पद नहीं करता, वह भावपर—अर्थात् औदयिकभाव को प्राप्त होता है। क्योंकि उसके मन में अभी भी कषाय हैं।

२७३०.सो वट्टइ ओदइए, भावे तं पुण खओवसमियम्मि।
जह सो तुह भावपरो, एमेव य संजम-तवाणं॥

वह औदयिकभाव में प्रवर्तित है और तुम क्षायोपशमिक-भाव में प्रवृत्त हो। अतः वह तुम्हारे से अपरभाव में है तथा वह संयम और तप से भी पर है—पृथग् है।

२७३१.खेत्तादऽकोविओ वा, अनलविगिंचट्ठया व जाणं पि।
अहिगरणं तु करेत्ता, करेज्ज सव्वाणि वि पयाणि॥

क्षिप्तचित्त, दृप्तचित्त, यक्षाविष्ट मुनि अधिकरण करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अकोविद मुनि भी अधिकरण करता है। जानता हुआ गीतार्थ मुनि भी प्रव्रज्या के लिए अयोग्य मुनि के निष्काशन के लिए अधिकरण करता है। उसके साथ अधिकरण करके भी आदर आदि सभी पदों का समाचरण करता है।

चार-पदं

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा 'वासावासासु चारए'॥ (सूत्र ३५)

२७३२.अहिगरणं काऊण च, गच्छइ तं वा वि उवसमेउं जे।
पुव्वं च अणुवसंते, खामेस्सं वयइ संबंधो॥

अधिकरण करके अन्यत्र ग्राम में चला जाता है। अथवा उस अधिकरण को जानकर कोई मुनि उसके उपशमन के लिए आता है। अथवा पूर्व अधिकरण उपशांत नहीं हुआ है, इसलिए उस ग्राम में जाकर क्षमायाचना करूंगा, इस उद्देश्य से वहां जाता है–ये सारे पूर्व सूत्र से इस सूत्र के साथ संबंध स्थापित करते हैं।

२७३३.अहवा अखामियम्मि त्ति
कोई गच्छेज्ज ओसवणकाले।
सुभमवि तम्मि उ गमणं,
वासावासासु वारेइ॥

अथवा कोई मुनि अधिकरण करने के बाद बिना क्षमायाचना किए अन्यत्र चला जाता है। फिर 'ओसवण-काल' अर्थात् पर्युषणकाल में क्षमायाचना करने के लिए उस द्वितीय मुनि के ग्राम में जाता है। यद्यपि यह गमन शुभ है, फिर भी यह सूत्र वर्षावास में आने-जाने का निषेध करता है।

२७३४.वासावासो दुविहो, पाउस वासा य पाउसे गुरुगा।
वासासु होंति लहुगा, ते च्चिय पुण्णे अणिंतस्स॥

वर्षावास के दो प्रकार हैं–प्रावृड् और वर्षारात्र। श्रावण और भाद्रपद–प्रावृड् और आश्विन और कार्तिक–वर्षारात्र।[1] प्रावृड् में विहरण करने पर चतुर्गुरु और वर्षारात्र में विहरण करने पर चतुर्लघु। वर्षारात्र के पूर्ण होने पर उस गांव से विहार न करने पर चतुर्लघु का प्रायश्चित्त आता है।

२७३५.वासावासविहारे, चउरो मासा हवंतऽणुग्घाया।
आणाइणो य दोसा, विराहणा संजमाऽऽयाए॥
२७३६.छक्कायाण विराहण, आवडणं विसम-खाणु-कंटेसु।
वुब्भण अभिहण रुक्खोल्ल, सावय तेणे गिलाणे य॥

वर्षावास (श्रावण-भाद्रपद) में विहार करने पर अनुद्घात चार मास अर्थात् चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त आता है। तथा आज्ञा आदि दोष, और आत्म-संयमविराधना होती है। इस काल में विहरण से छहकाय की विराधना होती है। चलते-चलते फिसल कर गिरना, विषम भूभाग में स्खलित होना, पांवों स्थाणु और कांटों का लगना, पानी में बह जाना, रुक्खोल्ल–वृक्ष के नीचे विश्राम करते वृक्ष के गिरने से विराधना होना, अभिघात–गिरिनदी आदि के मार्ग से जाने से अभिघात होना, श्वापद तथा स्तेनों का उपद्रव होना, वर्षा में भीगने से ग्लान हो जाना–ये सारी आपत्तियां वर्षावास में विहरण करने से आती हैं।

२७३७.अक्खुन्नेसु पहेसुं, पुढवी उदगं च होइ दुहओ वि।
उल्लपयावण अगणी, इहरा पणगो हरिय कुंथू॥

अक्षुण्ण पथ में विहरण करने से पृथ्वीकाय की विराधना तथा दोनों प्रकार के अप्काय–भौम और अंतरिक्ष की विराधना होती है। भीगे हुए को सुखाने के लिए अग्नि की विराधना तथा पनक, हरित और कुंथु जीवों की विराधना होती है।

२७३८.असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलन्ने।
आबाहाईएसु व, पंचसु ठाणेसु रीइज्जा॥

अपवाद पद में विहरण किया जा सकता है। ये कारण हो सकते हैं–अशिव, अवमौदर्य, राजद्विष्ट, स्तेन का भय, ग्लान या आबाधा आदि पांच स्थान उत्पन्न होने पर।

२७३९.आबाहे व भये वा, दुब्भिक्खे वाह वा दओहंसि।
पव्वहणे व परेहिं, पंचहिं ठाणेहिं रीइज्जा॥

पांच स्थान ये हैं–आबाधा–मानसिक पीड़ा, भय–चोरों का भय, दुर्भिक्ष, पानी के प्रवाह से गांव या वसति के बह जाने पर, प्रव्यथन–दूसरों द्वारा पीड़ा आदि दिए जाने पर–इन पांच कारणों से विहार किया जा सकता है।

२७४०.एतं तु पाउसम्मी, भणियं वासासु नवरि चउलहुगा।
ते चेव तत्थ दोसा, बिदयपदं तं चिमं वऽन्नं॥

पूर्वोक्त प्रायश्चित्त अपवादरूप में प्रावृड् में विहार करने पर होते हैं। वर्षारात्र–आश्विन, कार्तिक में विहार करने पर चतुर्लघु का प्रायश्चित्त है। वहां वे ही दोष होते हैं तथा अपवादपद भी वही है। अथवा यह अपवादपद भी हो सकता है–

२७४१.असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलन्ने।
नाणादितिगस्सऽट्ठा, वीसुंभण पेसणेणं वा॥

---

१. बृहद्चूर्णि में–पाउसो सावणो भद्दवओ य, वासारत्तो आसाओ-कत्तियओ अ त्ति। विशेष चूर्णि–पाउसो आसाणे सावणो य, वासारत्तो भद्दवओ अस्सोगे अ त्ति।–यह मतभेद है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अशिव, अवमौदर्य, राजद्विष्ट, भय अथवा ग्लान हो जाने पर—यह प्रागुक्त द्वितीयपद है। यह दूसरा द्वितीयपद है—ज्ञान-दर्शन और चारित्र—इस त्रिक की प्राप्ति के लिए, आचार्य का देहावसान हो जाने पर अथवा आचार्य द्वारा किसी प्रयोजन-वश भेजे जाने पर—इन कारणों से वर्षाकाल में भी विहरण किया जा सकता है।

२७४२.आऊ तेऊ वाऊ, दुब्बल संकामिए अ ओमाणे।
पाणाइ सप्प कुंथू, उद्दण तह थंडिलस्सऽसती॥

अथवा यह अपवाद है—पानी से वसति प्रवाहित हो गई हो, अग्नि से जल गई हो, तेजवायु से यत्र-तत्र गिर गई हो, दुर्बल हो गई हो, किसी प्रत्यनीक को संक्रामित हो गई हो, अथवा श्राद्धकुल अन्यत्र संक्रामित हो गए हों अन्यतीर्थिकों से अपमानित किए जाने पर, वसति में जीवों का उपद्रव होने पर, सर्प आदि का निवास हो जाने पर कुंथु आदि सूक्ष्म प्राणियों से वसति संसक्त हो जाने पर, ग्राम उजड़ जाने पर या स्थंडिलभूमी का अभाव हो जाने पर—वर्षावास में विहरण किया जा सकता है।

२७४३.मूलग्गामे तिन्नि उ, पडिवसभेसुं पि तिन्नि वसहीओ।
ठायंता पेहिंति उ, , वियार-वाघायमाइट्ठा॥

इन सभी कारणों को ध्यान में रखकर साधु मूलग्राम में तीन वसतियों की प्रत्युपेक्षा करते हैं तथा प्रतिवृषभग्राम[1] अर्थात् जहां भिक्षाचर्या के लिए जाया जाता है—वहां भी तीन वसतियों की प्रत्युपेक्षा वर्षाकाल के प्रारंभ होने से पूर्व ही कर ली जाती है। मूलग्राम में विचारभूमी और वसति का व्याघात होने पर प्रतिवृषभग्राम में ठहर जाते हैं।

२७४४.उदगा-ऽगणि-वायाइसु,अन्नस्सऽसतीइ थंभणुद्दवणे।
संकामियम्मि भयणा, उद्दण थंडिल्ल अन्नत्थ॥

वहां भी यदि पानी, अग्नि, वायु आदि के कारण किसी भी प्रकार का व्याघात होता है तो साधु अन्य वसति में जाकर ठहर जाते हैं। अन्य वसति के अभाव में स्तंभनी विद्या के द्वारा पानी, अग्नि और वायु का स्तंभन करते हैं, सर्प को विद्या के द्वारा अन्यत्र भेज देते हैं। यदि ग्राम संक्रामित कर दिया हो तो वहां से अन्य वसति में जाने की भजना है—भद्रक कुल वाले हों तो वहीं रहे अन्यथा अन्यत्र चले जाएं। ग्राम उजड़ गया हो या स्थंडिलभूमी का व्याघात हो तो दूसरे ग्राम में चले जाएं।

२७४५.इंदमहादी व समागतेसु परउत्थिएसु य जयंति।
पडिवसभेसु सखित्ते, दुब्बलसेज्जाए देसूणं॥

उस ग्राम में यदि इन्द्रमहोत्सव आदि के कारण परतीर्थिक आ गए हों तो स्वक्षेत्र[2] के प्रतिवृषभग्राम में भिक्षा के लिए प्रयत्न करते हैं। शय्या दुर्बल हो जाने पर शय्यातर को कह कर स्थूणा आदि से उसे टिकाए रखें।

२७४६.दोन्नि उ पमज्जणाओ,उडुम्मि वासासु तइय मज्झण्हे।
वसहिं बहुसो पमज्जण, अइसंघट्टऽन्नहिं गच्छे॥

आठ ऋतुबद्धमासों में वसति का प्रमार्जन दो बार—पूर्वाह्न और अपराह्न में किया जाता है। वर्षा में तीन बार—मध्याह्न में भी प्रमार्जन किया जाता है। आवश्यकतावश अनेक बार प्रमार्जन भी किया जा सकता है। यदि अनेक प्रमार्जन से त्रस प्राणियों का अतिसंघट्टन होता हो तो अन्यत्र ग्राम में चला जाए।

२७४७.उत्तण ससावयाणि य, गंभीराणि य जलाणि वज्जेंता।
तलियरहिया दिवसओ, अब्भासतरे वए खेत्ते॥

जिस मार्ग में तृण बहुत ऊंचे हो गए हों, जो मार्ग श्वापदों और बहुत ऊंडे जल से युक्त हों—इन मार्गों का वर्जन करे। पैरों में बिना कुछ पहनें, दिन में, अत्यंत निकटवर्ती ग्राम में जाकर रहे।

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा
हेमंत-गिम्हासु चारए॥

(सूत्र ३६)

२७४८.दुस्संचर बहुपाणादि काउ वासासु जं न विहरिंसु।
तस्स उ विवज्जयम्मी, चरंति अह सुत्तसंबंधो॥

वर्षाकाल में मेदिनी दुःसंचर तथा बहुप्राणियों से संकुल हो जाती है, इसलिए मुनि ग्रामानुग्राम विहरण नहीं करते। वर्षावास के विपर्यय काल में अर्थात् ऋतुबद्धकाल में वे मुनि विहरण करते हैं। यही पूर्वसूत्र के साथ इस सूत्र का संबंध है।

२७४९.पुण्णे अनिग्गमे लहुगा, दोसा ते चेव उग्गमादीया।
दुब्बल-खमग-गिलाणा, गोरस उवहिं पडिच्छंति॥

वर्षावास के पूर्ण होने पर यदि उस क्षेत्र से निर्गमन नहीं किया जाता तो चतुर्लघु का प्रायश्चित्त विहित है। वे ही उद्गम आदि दोष वहां होते हैं। दूसरे ये दोष भी होते हैं—आचाम्ल आदि से शरीर दुर्बल हो गया हो, क्षपक, ग्लान, गोरस की उपलब्धि न होती हो, उपधि क्षीण हो गई हो—इन कारणों से साधु वहां से जाने की प्रतीक्षा करते हैं। निर्गमन न करने पर तद्विषयक परितापना के प्रायश्चित्त विहित है।

---

१. प्रतिवृषभग्राम—यह स्वग्राम से पांच कोश की दूरी तक हो सकता है। यही स्वक्षेत्र है।

२. स्वक्षेत्र—सक्रोशयोजनप्रमाण। (वृ. पृ. ७७४)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२७५०.एए न होंति दोसा, बहिया सुलभं च भिक्ख उवही य।
भवसिद्धिया उ वाणा, बिइयपय गिलाणमादीसु॥

वर्षावास के पूर्ण होने पर उस क्षेत्र से निर्गमन कर देने पर ये दोष नहीं होते। उस क्षेत्र से अन्य बाहर वाले क्षेत्र में भिक्षा और उपधि सुलभ होते हैं। भवसिद्धिक प्राणी मुनियों से बोध प्राप्त करते हैं। अतः विहार कर देना चाहिए। द्वितीयपद में ग्लानत्व आदि के कारण विहार नहीं भी किया जाता।

२७५१.तम्हा उ विहरियव्वं, विहिणा जे मासकप्पिया गामा।
छड्डेइ वंदणादी, तइ लहुगा मग्गणा पत्था॥

इसलिए वर्षावास के पश्चात् मासकल्पप्रायोग्य ग्रामों में विधिपूर्वक विहरण करना चाहिए। जो मासप्रायोग्य क्षेत्रों को वक्ष्यमाण वंदन आदि कारणों से छोड़कर अन्यत्र विहरण करता है, वह जितने क्षेत्र छोड़े हैं उतने ही चतुर्लघु प्रायश्चित्त का भागी होता है। द्वितीयपद में मासप्रायोग्य-क्षेत्रों के परित्याग में जो गुण हैं उनकी मार्गणा पथ्य अर्थात् हितकारी होती है।

२७५२.आयरिय साहु वंदण, चेइय नीयल्लए तहा सन्नी।
गमणं च देसदंसण, वइगासु य एवमाईणि॥

आचार्य साधु, चैत्य की वंदना करने के लिए, अपने स्वजन या श्रावकों को देखने के लिए, देशदर्शन के लिए अथवा गोकुल आदि के लिए–इन कारणों से मुनि मासकल्पप्रायोग्य क्षेत्रों को छोड़कर जाता है।

२७५३.अप्पुव्व विवित्त बहुस्सुया य परियारवं च आयरिया।
परियारवज्ज साहू, चेइय पुव्वा अभिनवा वा॥
२७५४.गाहिस्सामि व नीए, सण्णी वा भिक्खुमाइ वुग्गाहे।
बहुगुण अपुव्व देसो, वइगाइसु खीरमादीणि॥

अदृष्टपूर्व, विविक्त–निरतिचारचारित्रवाले, बहुश्रुत तथा बहुतसाधुपरिवारवाले आचार्य को वंदना करने के लिए, तथा इन गुणों से युक्त परन्तु साधु परिवार से रहित साधुओं को तथा प्राचीन और अभिनव चैत्यों को वंदन करने के लिए वह साधु जाता है। अपने सगे-संबंधियों को बोधि प्राप्त कराऊंगा, श्रावक जो अन्यतीर्थिकों से व्युद्ग्राहित हो रहे हैं, उनको स्थिर करूंगा–इस दृष्टि से जाता है। अथवा देश अपूर्व और बहुगुणोपेत है उसको देखने के लिए तथा व्रजिका–गोकुल आदि में दूध, दही, घृत आदि का प्रचुर लाभ होता है, इन कारणों से वह मासकल्पप्रायोग्य क्षेत्रों को छोड़कर अन्यत्र जाता है।

२७५५.अद्धाणे उव्वाता, भिक्खोवहि साण तेण पडिणीए।
ओमाण अभोज्ज घरे, थंडिल असतीइ जे जत्थ॥

इस प्रकार गमन करने पर ये दोष होते हैं–मार्ग में विहरण करते हुए मुनि परिश्रान्त हो जाते हैं, भिक्षा प्राप्त नहीं होती, उपधि आदि का अपहरण हो जाता है, कुत्तों का और चोरों का उपद्रव होता है, प्रत्यनीक को अवसर मिल जाता है, अपमान हो सकता है, अभोज्यगृहों से भिक्षा लेनी हो सकती है, वहां स्थंडिल भूमी का अभाव होने से संयम और आत्मविराधना होती है। इस प्रकार जहां जो दोष होते हैं, उनकी योजना करनी चाहिए।

२७५६.बिइयपए असिवाई उवहिस्स उ कारणा व लेवो वा।
बहुगुणतरं व गच्छे, आयरियाई व आगाढे॥

द्वितीयपद में इन कारणों से उन क्षेत्रों को छोड़ा भी जा सकता है–अशिव आदि कारण होने पर, वहां उपधि न मिलने पर, लेप आदि की प्राप्ति न होने पर, आगे का क्षेत्र गच्छ के लिए बहुगुणवाला है, इस स्थिति में, आचार्य आदि के प्रायोग्य द्रव्यों के न मिलने पर तथा आगाढ[2] योगवाही मुनियों के लिए प्रायोग्य की प्राप्ति न होने पर मासकल्प-प्रायोग्य क्षेत्र को छोड़कर अन्यत्र जाया जा सकता है।

२७५७.एएहिं कारणेहिं, एक्क-दुगंतर तिगंतरं वा वि।
संकममाणो खेत्तं, पुट्ठो वि जओ नऽइक्कमइ॥

इन सभी कारणों से एक, दो, तीन अपान्तराल क्षेत्रों का अतिक्रमण कर आगे बढ़ने वाला मुनि पूर्वोक्त दोषों से स्पृष्ट होने पर भी दोषवान् नहीं होता क्योंकि वह यतनापूर्वक वैसा कर रहा है, वह यतनावान् मुनि है।

२७५८.निक्कारणगमणम्मिं, जे च्चिय आलंबणा उ पडिकुट्ठा।
कज्जम्मि संकमंतो, तेहिं चिय सुज्झई जयणा॥

निष्कारण क्षेत्रसंक्रमण करने में जो आचार्य-साधु-चैत्यवंदन आदि आलंबन प्रतिक्रुष्ट–प्रतिषिद्ध हैं तथा कार्य अर्थात् द्वितीयपद में ज्ञान-दर्शन आदि की शुद्धि के लिए उन्हीं आचार्य आदि के आलंबनों से संक्रमण करता हुआ, यतनावान् मुनि अदोषभाग् होता है।

वेरज्ज-विरुद्धरज्ज-पदं

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा
वेरज्ज-विरुद्धरज्जंसि सज्जं गमणं सज्जं

---

१. आगाढ़ सात प्रकार का होता है–
१. द्रव्यागाढ़–जहां एषणीय द्रव्य की प्राप्ति नहीं होती।
२. क्षेत्रागाढ़–अत्यंत खुलक्षेत्र–स्वल्प भिक्षा देने वालों का क्षेत्र।
३. कालागाढ़–जो किसी भी ऋतु के योग्य न हो।
४. भावागाढ़–ग्लान प्रायोग्य द्रव्य की अप्राप्ति वाला।
५. पुरुषागाढ़–आचार्य आदि विशिष्ट पुरुषों के लिए अकारक।
६. चिकित्सागाढ़–वैद्यों से रहित क्षेत्र।
७. सहायागाढ़–सहायकों की प्राप्ति रहित। (वृ. पृ. ७७७)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आगमणं सज्जं गमणागमणं करेत्तए।

जो खलु निग्गंथो वा निग्गंथी वा वेरज्ज-विरुद्धरज्जंसि सज्जं गमणं सज्जं आगमणं सज्जं गमणागमणं करेइ, करेंतं वा साइज्जइ, से दुहओ 'वि अइक्कममाणे' आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं॥ (सूत्र ३७)

२७५९.चारो त्ति अइपसंगा, विरुद्धरज्जे वि मा चरिज्जाहि।
इय एसो उवघाओ, वेरज्जविरुद्धसुत्तस्स॥

हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में विहरण करना कल्पता है, ऐसे कहना अतिप्रसंग हो जायेगा। प्रस्तुत सूत्र में कहा गया है कि विरुद्धराज्य में विहरण नहीं करना चाहिए—इस अभिप्राय से यह सूत्र प्रारंभ किया जाता है। यह विरुद्धराज्यसूत्र का उपोद्घात है, संबंध है।

२७६०.वेरं जत्थ उ रज्जे, वेरं जायं व वेररज्जं वा।
जं च विरज्जइ रज्जं, रज्जेणं विगयरायं वा॥

जिस राज्य के साथ परंपरागत वैर है, वह वैराज्य कहलाता है। अथवा दो राज्यों के मध्य जो वैर हो गया है, वह वैराज्य है। अथवा परकीय राज्य से जो विरोध में प्रसन्न रहता है, वह वैराज्य है। अथवा जो विवक्षित राजा के साथ विरोध रखता है, वह वैराज्य है। अथवा जहां का राजा मर गया हो, जहां कोई राजा न हो, वह वैराज्य है। जहां दो राज्यों के मध्य गमनागमन विरुद्ध हो, वह विरुद्धराज्य कहलाता है।

२७६१.सज्जग्गहणा तीयं, अणागयं चेव वारियं वेरं।
पन्नवग पडुच्च गयं, होज्जाऽऽगमणं व उभयं वा॥

जहां सद्य अथवा वर्तमानकालभावी वैर हो, वहां गमनागमन नहीं कल्पता। इससे अतीत और अनागत वैर वाले क्षेत्र में भी गमनादिक निवारित हो जाता है। प्रज्ञापक (गुरु) की अपेक्षा 'गत' अर्थात् गमन या आगमन तथा दोनों—गमनागमन होता है। (जहां प्रज्ञापक हो वहां से अन्यत्र जाना गमन और दूसरे स्थान से प्रज्ञापक के पास आना आगमन है। जाकर लौट आना गमनागमन कहलाता है।)

२७६२.नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले य भाववेरे य।
तं महिस-वसभ-वग्घा-सीहा नरएसु सिज्झणया॥

वैर शब्द के छह निक्षेप हैं—नामवैर, स्थापनावैर, द्रव्यवैर, क्षेत्रवैर, कालवैर और भाववैर। भाववैर संबंधी यह दृष्टांत है—महिष-वृषभ-व्याघ्र-सिंह-मनुष्य-सिद्धगति को प्राप्त हो गए।[1]

२७६३.अणराए जुवराए, तत्तो वेरज्जए अ बेरज्जे।
एत्तो एक्किक्कम्मि उ, चाउम्मासा भवे गुरुगा॥

इसी प्रकार अराजक, यौवराज्य, वैराज्य और द्वैराज्य—इन चारों में गमनागमन करने से, प्रत्येक में चतुर्गुरु मास का प्रायश्चित्त विहित है। (पहले में तप और काल से गुरु, दूसरे में कालगुरु, तीसरे में तपोगुरु और चौथे में दोनों से गुरु।)

२७६४.अणरायं निवमरणे, जुवराया जाव दोच्च णऽभिसित्तो।
वेरज्जं तु परबलं, दाइयकलहो उ बेरज्जं॥

राजा के मर जाने पर जब तक दूसरे राजा तथा युवराजा का अभिषेक नहीं होता तब तक वह राज्य 'अराजक' कहलाता है। जब तक पूर्व युवराजा अपने दूसरे युवराजा का अभिषेक नहीं करता, तब तक वह राज्य 'यौवराज्य' कहलाता है। जिस राज्य में शत्रुराजा आकर उपद्रव मचाता है वह 'वैराज्य' कहलाता है। एक ही राज्य के दो दायक हों और वे परस्पर कलह कर रहे हों, वह द्वैराज्य कहलाता है।

२७६५.अविरुद्धा वाणियगा, गमणाऽऽगमणं च होइ अविरुद्धं।
निस्संचार विरुद्धे, न कप्पए बंधणाईया॥

जिस राज्य में वणिकों का गमनागमन अविरुद्ध है, वहां मुनियों का भी गमनागमन अविरुद्ध है। जहां वणिकों का संचरण निषिद्ध है, उस विरुद्ध राज्य में मुनियों को संचरण नहीं कल्पता। वहां जाने से बंधन आदि दोष होते हैं।

२७६६.अत्ताण चोर मेया, वग्गुर सोणिय पलाइणो पहिया।
पडिचरगा य सहाया, गमणागमणम्मि नायव्वा॥

कितने प्रकार से वहां जाया जाता है, वह इस श्लोक में निर्दिष्ट है—आत्मना (स्वयं) या अत्राण—जो कार्पटिक आदि देशान्तर जाते हैं, उनके साथ जाना। इसी प्रकार चौरों के साथ, मेद—म्लेच्छविशेषों के साथ, वागुरिकशौनिक—इनके साथ, पलायन करने वाले भटों के साथ, पथिकप्रतिचरक (गुप्तचर)—ये आठ प्रकार के व्यक्ति वैराज्य में गमनागमन करने में मुनियों के सहायक होते हैं।

२७६७.अत्ताणमाइएसुं, दिय पह दिट्ठे य अट्ठिया भयणा।
एत्तो एगयरेणं, गमणागमणम्मि आणाई॥

आत्मा (स्वयं) या अत्राण आदि पदों में प्रत्येक सहायक में दिवा-पथ-दृष्टपदों से सप्रतिपक्ष से आठ प्रकार से भजना होती है—आठ-आठ विकल्प होते हैं। इन आठ भेदों के, प्रत्येक के आठ-आठ प्रकार होते हैं। इनमें से किसी भी

१. दृष्टान्त के लिए देखें—कथा परिशिष्ट, नं. ७९।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार से जो गमनागमन करता है उसके आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं।

(आठ भंग ये हैं–

१. बिना किसी सहायक के आत्मना–स्वयं दिन में, मार्ग से, राजपुरुषों द्वारा दृष्ट, जाते हैं।
२. आत्मना दिन में मार्ग से राजपुरुषों द्वारा अदृष्ट।
३. आत्मना दिन में उन्मार्ग से राजपुरुषों द्वारा दृष्ट।
४. आत्मना दिन में उन्मार्ग से राजपुरुषों द्वारा अदृष्ट।
५. आत्मना रात्री में मार्ग से राजपुरुषों द्वारा दृष्ट।
६. आत्मना रात्रि में मार्ग से राजपुरुषों द्वारा अदृष्ट।
७. आत्मना रात्री में उन्मार्ग से राजपुरुषों द्वारा दृष्ट।
८. आत्मना रात्री में उन्मार्ग से राजपुरुषों द्वारा अदृष्ट।

इसी प्रकार चौर आदि के साथ प्रतिचरकान्त तक–प्रत्येक के आठ-आठ भंग होते हैं।)

२७६८.अत्ताणमाइएसुं, दिय-पह-दिट्ठेसु चलउहू होंति।
राओ अपह अदिट्ठे, चउगुरुगाऽइक्कमे मूलं॥

आत्मा या अत्राण आदि पदों में दिवा, पथ दृष्ट–इनमें तथा इनके प्रतिपक्ष में गमनागमन करने से चतुर्लघु प्रायश्चित्त है। जो रात्री विषयक चार भंग हैं, उनमें अपथ और अदृष्ट पदों में चतुर्लघु का प्रायश्चित्त है। अतिक्रम करने पर मूल का प्रायश्चित्त है।

२७६९.अत्ताणमाइयाणं, अट्ठण्हऽट्ठहि पएहिं भइयाणं।
चउसट्ठिए पयाणं, विराहणा होइमा दुविहा॥

आत्मा या अत्राण आदि आठ पदों को आठ भंगों के साथ भक्त करने पर, गुणित करने पर चौंसठ पद होते हैं। इन चौसठ पदों में से किसी भी पद या भंग में गमनागमन करने पर दोनों प्रकार की विराधना–आत्मविराधना और संयम-विराधना होती है।

२७७०.छक्काय गहणकड्ढण, पंथं भित्तूण चेव अइगमणं।
सुत्तम्मि य अइगमणे, विराहणा दुण्ह वग्गाणं॥

षट्काय की विराधना होती है–यह संयमविराधना है। राजपुरुषों द्वारा ग्रहण और आकर्षण होने पर–यह आत्म-विराधना है। वे मुनि यदि मार्ग को छोड़कर, उत्पथ से परजनपद में प्रवेश करते हैं तो अत्यधिक अपराधी माने जाते हैं। शून्य अर्थात् स्थानपालविरहित मार्ग से अतिगमन–प्रवेश करते हैं तो मुनियों तथा सहायकों–दोनों की विराधना मानी जाती है, दोनों अपराधी होते हैं।

२७७१.छक्काय चउसु लहुगा, परित्त लहुगा य गुरुग साहारे।
संघट्टण परितावण, लहु गुरुगऽइवायणे मूलं॥

छह कायों में से चार काय–पृथ्वी, अप्, तेजो और वायु तथा परित्त वनस्पतिकाय का संघट्टन होने पर लघुमास, साहार–अनन्तवनस्पति काय के संघट्टन में गुरु, द्वीन्द्रिय आदि के संघट्टन में लघु और परितापन में गुरु और इनका अतिपात होने पर मूल।

२७७२.संजय-गिहि-तदुभयभद्दया य
तह तदुभयस्स वि य पंता।
चउभंगो गोम्मिएहिं,
संजयभद्दा विसज्जेंति॥

गोल्मिक (स्थानपालक) द्वारा निर्दिष्ट मार्ग-रक्षक। उनकी चतुर्भंगी इस प्रकार है–

१. संयतभद्रक गृहस्थप्रान्त।
२. गृहस्थभद्रक संयतप्रान्त।
३. दोनों के प्रति भद्रक।
४. दोनों के प्रति भद्रक नहीं।

जो गोल्मिक संयतभद्रक होते हैं (प्रथम, तृतीय भंगवर्ती) वे साधुओं का निरोध नहीं करते।

२७७३.संजयभद्दगमुक्के, बीया घेत्तुं गिही वि गिण्हंति।
जे पुण संजयपंता, गिण्हंति जई गिही मुत्तुं॥

संयतभद्रक गोल्मिकों द्वारा मुक्त साधुओं को द्वितीय भंगवर्ती संयतप्रान्त गोल्मिक उनको पकड़ लेते हैं। तथा उनके साथ वाले गृहस्थों को भी पकड़ लेते हैं। जो गोल्मिक संयतों के प्रति प्रद्विष्ट होते हैं, वे संयतों का ग्रहण कर लेते हैं और साथ वाले गृहस्थों को मुक्त कर देते हैं।

२७७४.पढम-तइयमुक्काणं, रज्जे दिट्ठाण दोण्ह वि विणासो।
पररज्जपवेसेवं, जओ वि णिंती तहिं पेवं॥

प्रथम और तृतीय भंगवर्ती स्थानपालकों द्वारा मुक्त साधु यदि पर्रराज्य में प्रविष्ट होते हैं और राजपुरुष उन्हें देख लेते हैं तो दोनों–संयतों और स्थानपालकों का विनाश होता है। पर्रराज्य में प्रवेश के ये दोष कहे गए हैं। तथा जिस राज्य से निर्गमन करते हैं वहां भी ये ही दोष होते हैं।

२७७५.रक्खिज्जइ वा पंथो, जइ तं भित्तूण जणवयमइंति।
गाढतरं अवराहो, सुत्ते सुत्ते व दोण्हं पि॥

जिस मार्ग की स्थानपालक रक्षा करते हैं, उस मार्ग को छोड़कर जो मुनि उत्पथ से पर्रराज्य के जनपद में प्रवेश करता है तो यह गाढ़तर–महान् अपराध माना जाता है। यह केवल साधु का अपराध है। यदि स्थानपालक सोए हुए हों या वह स्थान सूना हो और साधु यदि जाते हैं तो साधु और स्थानपालक–दोनों का अपराध माना जाता है।

२७७६.गण्हणे गुरुगा छम्मास कड्ढणे छेओ होइ ववहारे।
पच्छाकडे य मूलं, उड्डहण विरुंगणे नवमं॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२७७७.उद्दावण निव्विसए, एगमणेगे पओस पारंची।
अणवट्ठप्पो दोसु य, दोसु य पारंचिओ होइ॥

अन्य राज्य की सीमा में चोरी से प्रवेश करते हुए साधु को देखकर यदि आरक्षक उसे पकड़ ले तो चतुर्गुरुक, आकर्षण करने पर षड्गुरुमास, व्यवहार–न्यायपालिका में ले जाने पर छेद, व्यवहार में यदि वह पश्चात्कृत–पराजित हो जाता है तो मूल, चौराहे पर उसकी उद्हणा–भर्त्सना होने पर तथा व्यंगन–हाथ-पैर आदि काटे जाने पर नौवां अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त आता है। राजा द्वारा अपद्रावित या देशनिष्काशन दिए जाने पर अथवा एक साधु के अपराध पर अनेक साधुओं पर प्रद्विष्ट हो जाने पर पारांचिक तथा उद्हन और व्यंगन–दोनों करने पर अनवस्थाप्य तथा अपद्रावण और निर्विषयी–दोनों करने पर पारांचिक प्रायश्चित्त आता है।

२७७८.एमेव सेसएहि वि, चोराईहि समगं तु वच्चंते।
सविसेसयरा दोसा, पत्थारो जाव भंसणया॥

इसी प्रकार चोर-प्रतिचरक आदि शेष सहायकों के साथ जाने पर भी वे ही दोष होते हैं। सविशेष यह होता है कि उन साधुओं के दोष से कुल, गण, संघ का प्रस्तार होता है–उनका ग्रहण आकर्षण होता है तथा जीवितव्य और चारित्र की भ्रंसना भी हो सकती है।

२७७९.तेणट्ठम्मि पसज्जण, निस्संकिए मूल अहिमरे चरिमं।
जइ ताव होंति भद्दय, दोसा ते तं चिमं चऽन्नं॥

चोरों के साथ जाने पर चोरी आदि करता है, कराता है या अनुसंधान करता है, यह प्रसज्जना है। यह स्तेन है–यह आशंका होने पर चतुर्गुरु, निःशंकित होने पर 'मूल' और यह 'अभिमर' है, यह होने पर चरम प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। यदि स्थानपालक भद्र होते हैं, उनके द्वारा विसर्जित और परराष्ट्र में प्रविष्ट साधुओं के लिए वे ही दोष होते हैं तथा ये अन्य दोष भी होते हैं।

२७८०.आयरिय उवज्झाया, कुल गण संघो य चेइयाइं च।
सव्वे वि परिच्चत्ता, वेरज्जं संकमंतेणं॥

वैराज्य में संक्रमण करने वाला मुनि, आचार्य, उपाध्याय, कुल, गण, संघ और चैत्य–इन सबको परित्यक्त कर देता है।

२७८१.किं आगय त्थ ते बिंति संति णे इत्थ आयरियमादी।
उग्घाएमो रुक्खे, मा एंतु फलत्थिणो सउणा॥

वहां जाने पर राजपुरुष साधुओं को पूछते हैं–यहां क्यों आए हैं? वे कहते हैं–'यहां हमारे आचार्य आदि हैं।' तब राजपुरुष कहते हैं–फलार्थी पक्षी वृक्षों के पास आते हैं। इसलिए हम उन वृक्षों को ही उखाड़ देते हैं, जिससे कि पक्षी वहां न आए। (इसी प्रकार हम उन आचार्य आदि का ही विनाश कर देते हैं कि उनके पास कोई न आए।)

२७८२.एयारिसे विहारो, न कप्पई समणसुविहियाणं तु।
दो सीमेऽइक्कमई, जिणसीमं रायसीमं च॥

अतः सुविहित श्रमणों का ऐसे वैराज्य-विरुद्धराज्य में विहार नहीं कल्पता। वहां जाने वाला मुनि दो सीमाओं का अतिक्रमण करता है–जिनसीमा और राजसीमा।

२७८३.बंधं वहं च घोरं, आवज्जइ एरिसे विहरमाणो।
तम्हा उ विवज्जेज्जा, वेरज्ज-विरुद्धसंकमणं॥

वैराज्य-विरुद्धराज्य में गमनागमन का विवर्जन करे, क्योंकि वहां जाने पर घोर बंधन तथा वध आदि की प्राप्ति हो सकती है।

२७८४.दंसण नाणे माता, भत्तविसोही गिलाणमायरिए।
अधिकरण वाद राय कुलसंगते कप्पई गंतुं॥

अपवाद स्वरूप वहां जाया जा सकता है। ज्ञान और दर्शन की प्राप्ति के लिए, माता-पिता को संबोध देने के लिए, किसी भक्तप्रत्याख्यान करने वाले साधु की विशोधि के लिए, ग्लान की परिचर्या के लिए, आचार्य के आदेश से अधिकरण के उपशमन के लिए, वाद करने के लिए, द्विष्ट राजा को उपशांत करने के लिए, कुल-गण-संघ के कार्य के लिए–उस राज्य में जाना कल्पता है।

२७८५.सुत्त-ऽत्थ-तदुभयविसारयम्मि पडिवन्न उत्तिमट्ठम्मि।
एतारिसम्मि कप्पइ, वेरज्ज-विरुद्धसंकमणं॥

वैराज्य-विरुद्धराज्य में कोई आचार्य सूत्र, अर्थ और तदुभय में विशारद हैं। उन्होंने अनशन को स्वीकार कर लिया है। उनसे सूत्रार्थ का ज्ञान लेने के लिए उस राज्य में संक्रमण करना कल्पता है।

२७८६.आपुच्छिय आरक्खिय-सेट्ठि-सेणावई-अमच्च-राईणं।
अइगमणे निग्गमणे, एस विही होइ नायव्वो॥

परराज्य में अतिगमन–प्रवेश और निर्गमन की यह विधि है–साधु पहले आरक्षिक को पूछे। अनुज्ञा न मिलने पर क्रमशः इनको पूछे–श्रेष्ठी, सेनापति, अमात्य और राजा।

२७८७.आरक्खितो विसज्जइ,
अहव भणिज्जा स पुच्छह तु सेट्ठिं।
जाव निवो ता नेयं,
मुद्दा पुरिसो व दूतेणं॥

आरक्षिक को पूछने पर यदि वह विसर्जित करता है, अनुज्ञा देता है तो ठीक है। अथवा वह यह कहे–श्रेष्ठी को पूछो तो श्रेष्ठी को पूछना चाहिए। इसी प्रकार यावत् राजा को पूछना चाहिए। राजा की आज्ञा मिलने पर मुद्रापट्टक और दूतपुरुष को साथ भेजने की मांग करनी चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२७८८.जत्थ वि य गंतुकामा, तत्थ वि कारिंति तेसि नायं तु।
आरक्खियाइ ते वि य, तेणेव कमेण पुच्छंति॥

जिस राज्य में साधु जाना चाहे और यदि वहां साधु हों तो उनको अवगत कराना चाहिए कि हम आ रहे हैं। तब तत्रस्थित मुनि भी वहां के आरक्षिकों आदि को उसी क्रम से पूछते हैं। उनकी अनुज्ञा मिलने पर उन साधुओं को यह कहलवा देते हैं कि यहां आने की अनुमति प्राप्त हो गई है।

२७८९.राईण दोण्ह भंडण, आयरिए आसियावणं होइ।
कयकरणे करणं वा, निवेद जयणाए संकमणं॥

दो राजाओं में परस्पर कलह चल रहा था। एक राज्य में जो आचार्य थे, उनके प्रति राजा का अतीव सत्कार-आदरभाव था। दूसरे राजा ने उन आचार्यों का 'असिवायण'—अपहरण कर दिया। यदि कोई 'कृतकरण' साधु हो, वह अपहरणकर्त्ता के साथ 'करण'—युद्ध कर आचार्य को मुक्त कर देता है। यदि कोई कृतकरण न हो तो अपहर्त्ता राजा से निवेदन कर यतनापूर्वक शेष साधु वहां से संक्रमण कर दें।

२७९०.अब्भरहियस्स हरणे, उज्जाणाईठियस्स गुरुणो उ।
उव्वट्टणासमत्थे, दूरगए वा वि सवि बोलं॥
२७९१.पेसवियम्मि अदेंते, रन्ना जइ वि उ विसज्जिया सिस्सा।
गुरुणो निवेइयम्मि, हारिंतगराइणो पुव्विं॥

उद्यान आदि में स्थित अभ्यर्हित गुरु का हरण कर लिया जाता है। कोई उद्वर्तनासमर्थ होता है वह आचार्य को छुड़ा लेता है। यदि उद्वर्तना समर्थ कोई नहीं होता है तो अपहर्त्ता जब दूर चला जाता है तब सभी साधु बाढ़ स्वरों से चिल्लाते हैं कि हमारे आचार्य का अपहरण हुआ है। यह सुनकर राजा अपने दूत को भेजता है। आचार्य को समर्पित न करने पर शिष्य राजा को कहते हैं—हमको वहां भेज दो। राजा उनको विसर्जित कर देता है, जाने की अनुज्ञा दे देता है तो भी उस अपर राज्य में अपहृत गुरु को निवेदन करवाना चाहिए कि हम भी वहां आ रहे हैं। तब गुरु उस अपर राज्य के राजा को जिसने अपहरण किया था, निवेदन करते हैं कि 'मेरे शिष्य यहां आ रहे हैं। आप अपने स्थानपालकों को आदेश दें कि वे उनको निरुद्ध न करें।'

ओग्गह-पदं

निग्गंथं च णं गाहावइकुलं पिंडवाय-पडियाए अणुप्पविट्ठं केइ वत्थेण वा पडिग्गहेण वा कंबलेण वा पाय-पुंछणेण वा उवनिमंतेज्जा, कप्पइ से सागारकडं गहाय आयरियपायमूले ठवेत्ता दोच्चं पि उग्गहं अणुण्णवेत्ता परिहारं परिहरित्तए॥
(सूत्र ३८)

२७९२.अविरुद्धे भिक्खगतं, कोइ निमंतेज्ज वत्थमाईहिं।
कारण विरुद्धचारी, विगिंचितो वा वि गेण्हेज्जा॥

कोई साधु अविरुद्ध अर्थात् विरुद्धराज्यविरहित ग्राम आदि में भिक्षा के लिए गया। वहां कोई उपासक वस्त्र आदि ग्रहण करने के लिए निमंत्रण दे अथवा विरुद्धराज्यचारी किसी मुनि के वस्त्र स्तेनों ने चुरा लिए हों और वह वस्त्र ग्रहण करता है तो वस्त्र-ग्रहण की विधि बतलाई जाती है।

२७९३.अहवा लोइयतेण्णं, निवसीम अइच्छिए इमं भणितं।
दोच्चमणणुन्नवेउं, उत्तरियं वत्थभोगादी॥

अथवा नृपति की सीमा का अतिक्रमण करना लौकिक-स्तैन्य है—यह पूर्वसूत्र में कथित है। प्रस्तुत सूत्र में दूसरी बार अवग्रह अर्थात् आचार्य को बिना ज्ञापित किए, बिना अनुज्ञा लिए जो मुनि वस्त्र का परिभोग, धारण आदि करता है तो यह लोकोत्तरिकस्तैन्य होता है।

२७९४.दुविहं च होइ वत्थं, जायणवत्थं निमंतणाए य।
निमंतणवत्थं ठप्पं, जायणवत्थं तु वोच्छामि॥

वस्त्र के दो प्रकार हैं—याञ्चावस्त्र और निमंत्रणावस्त्र। निमंत्रणावस्त्र स्थाप्य हैं अर्थात् उनके विषय में बाद में कहा जाएगा। याञ्चावस्त्र के विषय में अभी कहूंगा।[1]

२७९५.एयं जायणवत्थं, भणियं एत्तो निमंतणं वोच्छं।
पुच्छादुगपरिसुद्धं, पुणरवि पुच्छेज्जिमा मेरा॥

इस प्रकार याञ्चावस्त्र विषयक कथन किया गया है। आगे निमंत्रणावस्त्र की बात कहूंगा। जो निमंत्रणावस्त्र दो प्रश्नों—'यह वस्त्र किसका है?' क्या यह प्रतिदिन निवसनीय था? से परिशुद्ध होने पर पुनः तीसरी पृच्छा से पूछे। उसकी यह मेरा—सामाचारी है।

२७९६.विउसग्ग जोग संघाडएण भोइयकुले तिविह पुच्छा।
कस्स इमं किं व इमं, कस्स व कज्जे लहुग आणा॥

मुनि व्युत्सर्ग और योग करके एक दूसरे मुनि को साथ ले भिक्षा के लिए निकलता है। वह भोगिककुल में गया। वहां वस्त्र के लिए निमंत्रित होने पर वह तीन प्रकार की पृच्छा करे—(१) यह वस्त्र किसका है? (२) पहले यह क्या था? यह किस प्रयोजन से दे रहे हो?—यदि ऐसा नहीं पूछा जाता

१. वृत्तिकार ने यहां पीठिकान्तरगत वस्त्रकल्पिक द्वार की ४६ गाथाओं (६०२ से ६४८ तक) को यथावत् ग्रहण करने की बात कही है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है तो चतुर्लघु का प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोष प्राप्त होते हैं।

२७९७.मिच्छत्त सोच्च संका, विराहणा भोइए तहिं गए वा।
चउथं व विंटलं वा, वेंटल दाणं च ववहारो॥

भोगिनी द्वारा दिए गए वस्त्र की बात सुनकर भोगिक में मिथ्यात्व आ सकता है, उसे शंका हो सकती है। भोगिक के वहां रहते या देशान्तर में चले जाने पर, वहां से लौट आने पर यह विराधना होती है—वह स्त्री मैथुन की याचना करे या वेंटल (वशीकरण प्रयोग) आदि का प्रयोग पूछे तो वह मुनि इन बातों को नकारता हुआ उसको कहे ऐसा करना हमें नहीं कल्पता। यदि वह स्त्री वस्त्र को लौटाने के लिए कहे तो उसे यह वस्त्र लाकर दे दे। यदि वह वस्त्र अन्य किसी के काम आ गया हो और वह स्त्री उसी वस्त्र के लिए आग्रह करे तो राजकुल में शिकायत करे।

२७९८.वत्थम्मि नीणियम्मिं,
किं दलसि अपुच्छिऊण जइ गेण्हे।
अन्नस्स भोयगस्स व,
संका घडिया णु किं पुव्विं॥

भोगिनी के द्वारा वस्त्र दिए जाने पर यदि 'क्यों दे रही हो?' यह पूछे बिना ही यदि वस्त्र का ग्रहण किया जाता है तो उस स्त्री के पति या अन्य घर वालों (श्वसुर-देवर) को शंका होती है। वे सोचते हैं—इन दोनों के परस्पर पहले से ही कोई संबंध रहा है कि वस्त्र का दान और ग्रहण मौन भाव से किया जा रहा है।

२७९९.मिच्छत्तं गच्छेज्जा, दिज्जंतं दट्ठु भोयओ तीसे।
वोच्छेद पओसं वा, एगमणेगाण सो कुज्जा॥

उस भोगिनी को वस्त्र देते हुए देखकर उसका पति (भोगिक) मिथ्यात्व को प्राप्त हो सकता है। तब वह उस एक साधु या अनेक साधुओं के प्रति प्रद्विष्ट होकर दान देने का व्यवच्छेद कर सकता है।

२८००.एमेव पउत्थे भोइयम्मि तुसिणीयदाण-गहणे तु।
महत्तरगादीकहिए, एगतर पतोस वोच्छेदो॥
२८०१.मेहुणसंकमसंके, गुरुगा मूलं च वेंटले लहुगा।
संकमसंके गुरुगा, सविसेसतरा पउत्थम्मि॥

इसी प्रकार प्रोषित—देशान्तर गए हुए भोगिक के विषय में भी दोष जानने चाहिए। जब भोगिक देशान्तर से लौटा तब महत्तरिका, दासी आदि ने भोगिनी और मुनि के मौन दान और ग्रहण की बात कही। तब वह भोगिक अपनी पत्नी या मुनि के प्रति प्रद्विष्ट हो जाता है। तब वह उस मुनि का या समस्त मुनियों के दान का व्यवच्छेद कर डालता है। इस प्रसंग में मैथुन की शंका होने पर चतुर्गुरु और निःशंकित होने पर मूल का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। वेंटल की शंका होने पर चतुर्लघु और निःशंकित होने पर चतुर्गुरु। प्रोषित-भर्तृक में विशेषतर दोष होते हैं, उनका यथास्थान पहले ही निर्देश कर दिया गया है।

२८०२.एवं ता गेण्हंते, गहिए दोसा पुणो इमे होंति।
घरगयमुवस्सए वा, ओभासइ पुच्छए वा वि॥

वस्त्र को ग्रहण करते हुए ये दोष होते हैं। वस्त्र को ग्रहण करने के पश्चात् ये दोष होते हैं। उसी घर में जब वह मुनि जाता है या उस घर की स्त्री उपाश्रय में आती है तब वह मैथुन के लिए कहती है अथवा वेंटल—वशीकरण के लिए पूछती है।

२८०३.पुच्छाहीणं गहियं, आगमणं पुच्छणा निमित्तस्स।
छिन्नं पि हु दायव्वं, ववहारो लब्भए तत्थ॥

मुनि ने वस्त्र-ग्रहण काल में बिना पूछे ही वस्त्र ले लिया। तब वह स्त्री उपाश्रय में आकर निमित्त विषयक बात पूछती है। न बताने पर वस्त्र को लौटाने की बात कहती है। तब वस्त्र देना चाहिए। वस्त्र को फाड़ डाला हो तो भी उसे वह दे देना चाहिए।

यदि वह छिन्न वस्त्र न ले तो राजकुल में व्यवहार के लिए जाना चाहिए। वहां के कारणिक (न्याय करने वालों के) समक्ष यह व्यवहार प्राप्त होने की बात कहनी चाहिए।

एक व्यक्ति ने वृक्ष बेचा। खरीददार ने उसकी लकड़ियां बना घर ले गया। अब बेचने वाला कहता है—मूल्य लेकर मेरा वृक्ष मुझे दो। क्या उसको वृक्ष लौटाया जा सकता है? इसी प्रकार वस्त्र के खंड कर दिए जाने पर, खंड ही लौटाए जा सकते हैं, पूरा वस्त्र नहीं।

२८०४.पाहुणएणऽण्णेण व, नीयं व हियं व होइ दड्ढं वा।
तहियं अणुसट्ठाई, अन्नं वा दड्ढ मोत्तूणं॥

वह वस्त्र प्राघूर्णक मुनि द्वारा अन्यत्र ले जाया गया हो, या चोरों ने उसका हरण कर लिया हो या अग्नि द्वारा जल गया हो तो दाता को धर्मकथा कहकर समझाना चाहिए। दग्ध वस्त्र को छोड़कर उसे अन्य वस्त्र देना चाहिए।

२८०५.न वि जाणामो निमित्तं,
न य णे कप्पइ पउंजिउं गिहिणो।
परदारदोसकहणं,
तं मम माया य भगिणी य॥

वह दात्री स्त्री मैथुन या वेंटल की बात कहे तो मुनि उसे कहे—हम निमित्तशास्त्र नहीं जानते तथा गृहस्थों को उस विषय में बताना भी हमें नहीं कल्पता। मैथुन की याचना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करने पर उसे परदारदोष की बात समझाए और कहे तुम मेरी मां हो, बहिन हो।

२८०६.एक्कस्स व एक्कस्स व, कज्जे दिज्जंत गिण्हई जो उ।
ते चेव तस्स दोसा, बालम्मि य भावसंबंधो॥

पूर्वसंबंध या पश्चात्संबंध के प्रयोजन से दिए जाने वाले और ग्रहण किए जाने वाले वस्त्र के वे ही पूर्वोक्त दोष होते हैं। बालविषयक भावसंबंध आगे प्रतिपाद्य हैं।

२८०७.अहवण पुट्ठा पुव्वेण पच्छबंधेण वा सरिसमाह।
संकाइया उ तत्थ वि, कडगा य बहू महिलियाणं॥

अथवा उस वस्त्रदात्री को पूछने पर वह पूर्वसंबंध के आधार पर कहती है—जैसा मेरा भाई है वैसे ही तुम दीख रहे हो, और पश्चात्संबंध के आधार पर कहती है—तुम मेरे पति के सदृश दीख रहे हो—यदि इस कथन द्वारा दिए जाने वाले वस्त्र को मुनि ग्रहण करता है तो वहां भी शंका आदि दोष होते हैं। महिलाओं में बहुत माया होती है।

२८०८.एयद्दोसविमुक्कं, वत्थग्गहणं तु होइ कायव्वं।
खमउ त्ति दुब्बलो त्ति य, धम्मो त्ति य होति निद्दोसं॥

इन दोषों से विमुक्त वस्त्रग्रहण करना चाहिए। यदि दात्री कहे कि तुम क्षपक—तपस्वी हो, दुर्बल हो अथवा वस्त्रदान से धर्म होता है—इसलिए तुमको वस्त्र दे रही हूं, तो वह निर्दोष है।

२८०९.आरंभनियत्ताणं, अकिणंताणं अकारविंताणं।
धम्मट्ठा दायव्वं, गिहीहि धम्मे कयमणाणं॥

जो आरंभ से निवृत्त हैं, जो कुछ भी क्रय नहीं करते तथा न दूसरों से आरंभ और क्रय करवाते हैं, जो धर्म में मन लगाए हुए हैं अर्थात् साधु हैं, उनको गृहस्थ धर्म के लिए दान दें।

२८१०.संघाडए पविट्ठे, रायणिए तह य ओमरायणिए।
जं लब्भइ पाओग्गं, रायणिए उग्गहो होइ॥

एक संघाटक अर्थात् दो मुनि भिक्षा के लिए गए। एक रात्निक है, दूसरा उससे छोटा है। जो कुछ प्रायोग्य प्राप्त होता है, वह सारा रात्निक मुनि का अवग्रह होता है, वह उसका स्वामी है।

२८११.दोच्चं पि उग्गहो त्ति य,
केइ गिहत्थेसु दोच्चमिच्छंति।
साग! गुरुणो नयामो,
अणिच्छे पच्चाहरिस्सामो॥

दूसरी बार भी अवग्रह की अनुज्ञा लेनी चाहिए। यह जो सूत्र में बात कही है, उसकी अर्थाभिव्यक्ति कुछ आचार्य यह करते हैं कि गृहस्थ से दूसरी बार अवग्रह की अनुज्ञा लेनी चाहिए। वह कहे—श्रावक! हम वह वस्त्र गुरु के पास ले जाते हैं, (यदि वे चाहेंगे तो हम दूसरी बार तुम्हारी अनुज्ञा ले लेंगे।) यदि वे नहीं चाहेंगे तो हम यह वस्त्र तुम्हें लाकर दे देंगे।

२८१२.इहरा परिट्ठवणिया, तस्स व पच्चप्पिणंति अहिगरणं।
गिहिगहणे अहिगरणं, सो वा दट्ठूण वोच्छेदं॥

यदि ऐसा नहीं करते हैं तो परिष्ठापनिका दोष आता है। अप्रातिहारिक वस्त्र का परिभोग कर गृहस्थ को पुनः लौटाते हैं तो अधिकरण होता है। गृहस्थ उसको लेता है तो भी अधिकरण होता है। यदि उस वस्त्र को अन्य गृहस्थ लेता है, तो पूर्व वस्त्रदाता साधुओं के लिए वस्त्रदान का व्यवच्छेद कर देता है।

२८१३.चोयग! गुरुपडिसिद्धे, तहिं पउत्थे धरिंत दिन्नं तु।
धरणुज्झणे अहिगरणं, गेण्हेज्ज सयं व पडिणीयं॥

शिष्य! तुमने जो दोष बताए हैं, वे सारे दोष तुम्हारी क्रिया में होते हैं। वस्त्र लाकर गुरु को समर्पित किया। उसकी प्रयोजनीयता न होने पर गुरु ने उसका प्रतिषेध कर दिया। शिष्य को ग्रामान्तर भेज दिया। यदि वह वस्त्र का परिभोग करता है तो वह अदत्तादान है। अमुक का मानकर उस वस्त्र को धारण करता है या परिष्ठापना करता है तो अधिकरण तथा परिष्ठापना दोष लगता है। वह उस प्रतिनीत वस्त्र को स्वीकार कर लेता है, लौटाता नहीं। अतः द्वितीय अवग्रह गृहस्थ का नहीं, आचार्य का ही होता है।

निग्गंथं च णं बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खंतं समाणं केइ वत्थेण वा पडिग्गहेण वा कंबलेण वा पायपुंछणेण वा उवनिमंतेज्जा, कप्पइ से सागारकडं गहाय आयरियपायमूले ठवेत्ता दोच्चं पि ओग्गहं अणण्णुवेत्ता परिहारं परिहरित्तए॥ (सूत्र ३९)

२८१४.बहिया व निग्गयाणं, जायणवत्थं तहेव जयणाए।
निमंतणवत्थे तहेव, सुद्धमसुद्धं च खमगादी॥

बहिः का अर्थ है—विचारभूमी (संज्ञाभूमी) या विहारभूमी (स्वाध्यायभूमी) में निर्गत साधुओं का याच्यावस्त्र पूर्वोक्त यतनापूर्वक ग्रहण करना कल्पता है। निमंत्रण वस्त्र भी उसी प्रकार (गाथा २७९५ आदि) शुद्ध या अशुद्ध होता है। शुद्ध वह है जो क्षपक को या धर्म की बुद्धि से दिया जाता है। अशुद्ध वह है जो मैथुन-वेंटल आदि कार्य के लिए दिया जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निग्गंथिं च णं गाहावइकुलं पिंडवाय-पडियाए अणुप्पविट्ठं 'केइ वत्थेण वा पडिग्गहेण वा कंबलेण वा पायपुंछणेण वा उवनिमंतेज्जा, कप्पइ से सागारकडं गहाय' पवत्तिणिपायमूले ठवेत्ता दोच्चं पि ओग्गहं अणण्णुवेत्ता परिहारं परिहरित्तए॥

(सूत्र ४०)

निग्गंथिं च णं बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा 'निक्खंतं समाणिं केइ वत्थेण वा पडिग्गहेण वा कंबलेण वा पायपुंछणेण वा उवनिमंतेज्जा, कप्पइ से सागारकडं गहाय पवत्तिणी पायमूले ठवेत्ता दोच्चं पि ओग्गहं अणण्णुवेत्ता' परिहारं परिहरित्तए॥

(सूत्र ४१)

२८१५.निग्गंथिवत्थगहणे, चउरो मासा हवंतऽणुग्घाया।
मिच्छत्ते संकाई, पसज्जणा जाव चरिमपदं॥

साध्वी यदि गृहस्थ से वस्त्र-ग्रहण करती है तो उसे चार अनुद्घात–गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। मिथ्यात्व, शंका आदि दोष होते हैं तथा प्रसजना[1] यावत् पारांचिक पर्यन्त प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२८१६.पुरिसेहिंतो वत्थं, गिण्हंतिं दिस्स संकमादीया।
ओभासणा चउत्थे, पडिसिद्धे करेज्ज उड्डाहं॥

पुरुषों से वस्त्र-ग्रहण करती हुई साध्वी को देखकर शंका आदि दोष होते हैं। गृहस्थ वस्त्र देकर साध्वी से मैथुन की याचना करता है। प्रतिषेध करने पर वह उड्डाह कर सकता है।

२८१७.लोभेअ आभिओगे, विराहणा पट्टएण दिट्ठंतो।
दायव्व गणहरेणं, तं पि परिच्छित्तु जयणाए॥

स्त्री को सहजतया प्रलुब्ध किया जा सकता है। कोई उसको वस्त्र आदि से लुब्ध करता है, कोई उसको वश में करने के लिए अभियोग का प्रयोग करता है। इससे चारित्र विराधना होती है। यहां पट्टक का दृष्टांत है। इसलिए गणधर ही सात दिनों तक वस्त्र की परीक्षा करके यतनापूर्वक संयतियों को वस्त्र दे।

२८१८.पगई पेलवसत्ता, लोभिज्जइ जेण तेण वा इत्थी।
अवि य हु मोहो दिप्पइ, सइरं तासिं सरीरेसु॥

स्त्री प्रकृति से ही तुच्छधृतिबलवाली होती है, अतः उसे किसी भी प्रकार से प्रलुब्ध किया जा सकता है। वह स्वभावतः प्रबल मोहवाली होती है। जब वह पुरुषों से संलाप करती है या दान ग्रहण करती है तब स्वेच्छा से उसके शरीर में मोह उद्दीप्त होता है।

२८१९.वियरग समीवारामे, ससरक्खे पुप्फदाण पट्ट कया।
निसि वेल दारपिट्टण, पुच्छा गामेण निच्छुभणं॥

पट्टक दृष्टांत–एक गांव में बगीचे के पास एक विदरक–कूपिका थी। वहां स्त्रियां पानी लेने आती थीं। उस बगीचे में एक संन्यासी रहता था। वह उस स्त्री के प्रति आसक्त हो गया। उसने उस स्त्री को अभिमंत्रित फूल दिए। उस स्त्री ने उन फूलों को पट्ट पर रख दिया। वे फूल आधी रात में घर का दरवाजा खटखटाते थे। गृहस्वामी ने सारी बात की जानकारी कर, ग्रामवासियों को वस्तुस्थिति से परिचित करा उस संन्यासी को गांव से निष्कासित कर डाला।

२८२०.सत्त दिवसे ठवेत्ता, थेरपरिच्छाऽपरिच्छणे गुरुगा।
देइ गणी गणिणीए, गुरुगा सय दाण अट्ठाणे॥

गणधर साध्वियों के प्रायोग्य वस्त्रों को प्राप्तकर सात दिनों तक उनको स्थापित रखें। फिर उन वस्त्रों से स्थविर मुनि को प्रावृत करे। यदि कोई विकार न हो तो बहुत अच्छा। इस प्रकार परीक्षा करे। यदि बिना परीक्षा किए संयतियों को वस्त्र देते हैं तो चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त है। गणी–गणधर वस्त्रों को गणिनी–प्रवर्तनी को दे। प्रवर्तनी फिर साध्वियों को वितरित करे। यदि आचार्य साध्वियों को वस्त्र देते हैं तो उनको चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त आता है। यदि आचार्य स्वयं वस्त्र का दान देते हैं तो उनकी अस्थान में स्थापना होती है–कोई साध्वी कह सकती है–इस साध्वी को सुंदर वस्त्र दे दिया, मुझे यह पुराना वस्त्र दिया है।

२८२१.असइ समणाण चोयग!
जाइय-निमंतणवत्थ तह चेव।
जायंति थेरि असई,
विमिस्सिया मोत्तिमे ठाणे॥

यदि ऐसा है तो यह सूत्र निरर्थक हो जाएगा, क्योंकि सूत्र में संयतियों को वस्त्र याचना की अनुज्ञा दी है। आचार्य कहते हैं–शिष्य! सूत्र निरर्थक नहीं होता। श्रमणों के अभाव में स्थविरा साध्वी वस्त्र ग्रहण कर सकती है। याच्ञाप्राप्त और निमंत्रणवस्त्रों के लिए पूर्व विधि ही ज्ञातव्य है। स्थविरा

१. प्रसजना नाम–भोजिका घाटिकादि प्रसंगपरंपरा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साध्वी वस्त्र की याचना करे। उसके अभाव में, इन स्थानों को छोड़कर, तरुणी विमिश्रित स्थविरा साध्वी वस्त्र की याचना कर सकती है। वे स्थान ये हैं–

२८२२.कावालिए य भिक्खू, सुइवादी कुव्विए अ वेसित्थी।
वाणियग तरुण संसट्ठ मेहुणे भोइए चेव॥
२८२३.माता पिया य भगिणी, भाउग संबंधिए य तह सन्नी।
भावितकुलेसु गहणं, असई पडिलोम जयणाए॥

कापालिक, बौद्ध भिक्षु, शुचिवादी, कूर्चन्धर, वेश्यास्त्री, वणिक्, तरुण, संसृष्ट (पूर्वपरिचितउद्भ्रामक), मैथुन–मामा का पुत्र, भोक्ता–पति, माता, पिता, भगिनी, भ्राता, संबंधी तथा श्रावक–इन स्थानों को छोड़कर साध्वियां भावितकुलों से वस्त्र का ग्रहण कर सकती हैं। इन कुलों के अभाव में इन प्रतिषिद्ध स्थानों से प्रतिलोम के क्रम से यतनापूर्वक वस्त्र की याचना की जा सकती है।

२८२४.अट्ठी विज्जा कुच्छित,
भिक्खु निरुद्धा उ लज्जएऽण्णत्थ।
एव दगसोय कुच्चिग,
सुइग त्ति य बंभचारित्ता॥

अस्थि अर्थात् अस्थिसरजस्क–कापालिक लोग विद्या या मंत्र से कुत्सित अभिप्राय वाले होते हैं। भिक्षु–बौद्ध भिक्षु, अपनी कामभावना को जबरन निरोध करते हैं और वे अन्यत्र उसकी पूर्ति करने में लज्जा का अनुभव करते हैं, इसलिए वे श्रमणियों के प्रति आसक्त होते हैं। इसी प्रकार दकसौकरिक–परिव्राजक और कूर्चिक–कूर्चन्धर वे भी यह मानते हैं कि श्रमणियां ब्रह्मचारिणी होने के कारण अप्रसवा होती हैं, इसलिए ये शुचिभूत हैं।

२८२५.अन्नठवणट्ठ जुन्ना, अभिओगे जा व रूविणी गणिया।
भोइग चोरिय दिन्नं, दट्ठुं समणीसु उड्डाहो॥

कोई जीर्ण गणिका अपने स्थान पर अपरगणिका को स्थापित करने के लिए किसी रूपवती श्रमणी के प्रति अभियोग का प्रयोग करती है। किसी मातुलपुत्र ने अपनी भोजिका के वस्त्र को चुराकर साध्वी को दिया। साध्वी को उस वस्त्र से प्रावृत देखकर भोजिका उसका उड्डाह करती है।

२८२६.देसिय वाणिय लोभा, सइं दिन्नेण उ चिरं पि होहित्ति।
तरुणुब्भामग भोयग, संका आतोभयसमुत्था॥

देशान्तर से आया हुआ वणिक् सोचता है यदि इन श्रमणियों को एक बार प्रचुर दान दूंगा तो चिरकाल तक मेरी हो जाएंगी, इस प्रकार वह उनको प्रलुब्ध करता है। तरुण, उद्भ्रामक तथा भोक्ता–इनके हाथ से वस्त्र आदि लेने पर शंका तथा आत्मोभयसमुत्थ दोष होते हैं।

२८२७.दाहामो णं कस्सइ, नियया सो होहिई सहाओ णे।
सन्नी वि संजयाणं, दाहिइ इति विप्परीणामे॥

निजक–स्वजन सोचते हैं, इस साध्वी को हम कुछ देंगे तो यह हमारी सहायक होगी। श्रावक सोचता है–यह मेरी होगी तो अनेक मुनियों को दान दे सकेगी। इस सोच से वह उस साध्वी को विपरिणत करता है।

२८२८.मग्गंति थेरियाओ, लद्धं पि य थेरियाउ गेण्हंति।
आगार दट्ठु तरुणीण व देंते तं न गिण्हंति॥

स्थविर साध्वियां वस्त्र की अन्वेषणा करती हैं। प्राप्त होने पर स्थविर साध्वियां ही उन वस्त्रों को ग्रहण करती हैं। वस्त्र दाता स्थविर साध्वी को वस्त्र न देकर, कुछ आकार–इशारे कर कहता है–मैं उस तरुण साध्वी को वस्त्र दूंगा। इस प्रकार वस्त्र देने वाले दाता से वस्त्र न लें।

२८२९.सत्त दिवसे ठवित्ता, कप्पे कते थेरिया परिच्छंति।
सुद्धस्स होइ धरणा, असुद्ध छेत्तुं परिट्ठवणा॥

वस्त्र को उपाश्रय में लाकर सात दिन तक स्थापित रखें। फिर उनका कल्प करें, उनका प्रक्षालन करें। कल्प करने के पश्चात् स्थविर मुनि उसका प्रयोग कर परीक्षा करें। यदि शुद्ध है तो उसका उपभोग किया जा सकता है। अशुद्ध अर्थात् अशुद्ध भावोत्पादक होता है तो खंड-खंड कर उसको परिष्ठापित करना होता है।

२८३०.जं पुण पढमं वत्थं, चउकोणा तस्स होंति लाभाए।
वितिरिच्छंऽता मज्झे, य गरहिया चउगुरू आणा॥

वस्त्र से होने वाले लाभ-अलाभ के परिज्ञान का उपाय–जो पहला वस्त्र प्राप्त होता है उसके यदि चारों कोने अंजन-खंजन आदि चिह्न से उपलक्षित हों तो वह लाभ के लिए होता है। वस्त्र के तिरश्चीन दोनों अन्त्यविभाग तथा मध्यविभाग यदि अंजन लेप आदि से चिह्नित हों तो वह गर्हित माना जाता है। इसके ग्रहण से चतुर्गुरु प्रायश्चित्त तथा भगवद् आज्ञा की विराधना होती है।

२८३१.नवभागकए वत्थे, चउसु वि कोणेसु होइ वत्थस्स।
लाभो विणासमन्ने, अंते मज्झे य जाणाहि॥

वस्त्र के नौ भाग करने पर, चारों कोनों तथा मध्यवर्ती दो भाग यदि अंजन आदि लेप से युक्त हों तो वह लाभ के लिए होता है। वस्त्र के मध्यवर्ती तीन भाग–दो अन्त्यविभाग और एक सर्वमध्यवर्ती विभाग यदि वे लेप युक्त हों तो वह वस्त्र विनाश के लिए होता है।

२८३२.अंजण-खंजण-कद्दमलित्ते,
मूसगभक्खिय अग्गिविदड्ढे।
तुन्नि य कुट्टिय पज्जवलीढे,
होइ विवाग सुहो असुहो वा॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अंजन-खंजन-कर्दम से लिप्त, चूहों आदि द्वारा भक्षित, अग्नि के द्वारा विशेषरूप से दग्ध, तुन्नित, कुट्टित–रजक आदि के द्वारा बहुत पीटा हुआ, पर्यवलीढ–अत्यंत पुराना–ऐसे वस्त्रग्रहण से शुभ-अशुभ विपाक होता है। जो शुभविभाग वाले वस्त्र हैं, उनसे शुभ विपाक और जो अशुभविभाग वाले वस्त्र हैं, उनसे अशुभ विपाक होता है।

२८३३.चउरो य दिव्विया भागा, दुवे भागा य माणुसा।
आसुरा य दुवे भागा, मज्झे वत्थस्स रक्खसो॥
२८३४.दिव्वेसु उत्तमो लाभो, माणुसेसु य मज्झिमो।
आसुरेसु य गेलन्नं, मज्झे मरणमाइसे॥

वस्त्र के नौ विभागों के स्वामी–

चार कोने दैव्य, अंचलमध्यवर्ती दो भाग–मानुष्य, दो भाग आसुर, सर्वमध्यगत भाग राक्षस। इन में शुभ-अशुभ विभाग ये हैं–दैव्यभाग यदि अंजन आदि से लिप्त हो तो उत्तम लाभदायी होता है। मनुष्य भाग वाला वस्त्र लिप्त हो तो मध्यम लाभ, आसुर भागवाला वस्त्र लिप्त हो तो ग्लानत्व का कारण और राक्षस भाग वाला वस्त्र लिप्त हो तो मरण की प्राप्ति होती है।

२८३५.जं किंचि होइ वत्थं, पमाणवं सम रुइं थिरं निद्धं।
परदोसे निरुवहतं, तारिसगं खु भवे धन्नं॥

जो वस्त्र प्रमाणोपेत, सम, रुचिकारक, स्थिर और स्निग्ध होता है तथा जो परदोषों से निरुपहत होता है, वही वस्त्र धन्य होता है–ज्ञानादि प्राप्त कराने वाला होता है।

राइभोयाण-पदं

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा
'राओ वा वियाले वा असणं वा पाणं वा
खाइमं वा साइमं वा' पडिग्गाहेत्तए।
नऽन्नत्थ एगेणं पुव्वपडिलेहिएणं
सेज्जा-संथारएणं[1]॥

(सूत्र ४२)

२८३६.वयअहिगारे पगए, राईभत्तवयपालणा इणमो।
सुत्तं उदाहु थेरा, मा पीला होज्ज सव्वेसिं॥

पूर्व में तीसरे महाव्रत प्रकरणगत अवग्रह की बात कही गई थी। प्रस्तुत में रात्रीभक्तव्रत के पालन के लिए यह सूत्र स्थविर श्री भद्रबाहुस्वामी ने कहा है। इस छठे व्रत के भग्न होने पर सभी महाव्रतों की पीड़ा–विराधना होती है, इसलिए इसका प्रतिपादन है।

२८३७.अहवा पिंडो भणिओ,
न यावि तस्स भणिओ गहणकालो।
तस्स गहणं खपाए,
वारेइ अणंतरे सुत्ते॥

पूर्व सूत्रों में पिंड का कथन किया गया है, परंतु उसके ग्रहण-काल का निर्देश नहीं है। प्रस्तुत सूत्र में रात्री में उसके ग्रहण का वर्जन किया गया है।

२८३८.रातो व वियाले वा, संज्झा राई उ केसिइ विकालो।
चउरो य अणुग्घाया, चोदगपडिघाय आणादी॥

कुछेक आचार्य संध्या को रात्री और शेष रात्री को विकाल मानते हैं और कुछेक आचार्य संध्या को विकाल और शेष रात्री को रात्री मानते हैं। जो मुनि रात्री या विकाल में चतुर्विध आहार ग्रहण करता है, खाता है, उसके चतुर्गुरु मास का प्रायश्चित्त आता है। शिष्य पूछता है–बयालीस दोषों में रात्रीभोजन का प्रतिषेध नहीं है। बयांलीस दोष वर्जित आहार लेने और परिभोग करने में क्या दोष है? आचार्य उसके कथन का प्रतिघात करते हुए कहते हैं–इसमें आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं।

२८३९.जइ वि य न प्पडिसिद्धं, बायालीसाए राइभत्तं तु।
छट्ठे महव्वयम्मी, पडिसेहो तस्स नणु वुत्तो॥

यद्यपि बयांलीस दोषों में रात्रीभक्त का प्रतिषेध नहीं किया गया है। किन्तु छठे महाव्रत में उसका प्रतिषेध किया है।

२८४०.जइ ता दिया न कप्पइ, तमं ति काऊण कोट्ठयाईसु।
किं पुण तमस्सईए, कप्पिस्सइ सव्वरीए उ॥

जब अंधकार से व्याप्त नीचे द्वार वाले कोठों से दिन में भी भक्त-पान लेना नहीं कल्पता, तब बहुल अंधकारमय रात्री में वह कैसे ग्रहण किया जा सकता है।

२८४१.मिच्छत्तम्मी भिक्खू, विराहणा होइ संजमायाए।
पक्खलण खाणु कंटग, विसम दरी वाल साणे य॥
२८४२.गोणे य तेणमादी, उब्भामग एवमाइ आयाए।
संजमविराहणाए, छक्काया पाणवहमादी॥

रात्री में भिक्षा के लिए घूमता हुआ निर्ग्रंथ भगवान् की सर्वज्ञता के प्रति शंका का उत्पादन करता है। इससे मिथ्यात्व की वृद्धि होती है। इस प्रसंग में भिक्षुक का दृष्टांत है।[2] उससे संयमविराधना और आत्मविराधना–दोनों होती है। रात्री में अंधकार के कारण मुनि प्रस्खलित हो सकता है, पैरों में स्थाणु और कांटे लग जाते हैं, विषम गढ़े में गिर सकता है, सर्प काट सकता है, कुत्ते उपद्रव कर सकते हैं, बैल हनन कर सकता है, रात्री में घूमने के कारण आरक्षिक

१. वृत्तिकृता एतत् स्वतंत्रसूत्रं स्वीकृतम्।

२. दृष्टांत के लिए देखें कथा परिशिष्ट, नं. ८१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसे चोर समझ कर पकड़ सकते हैं, उसे अभिमर मानकर उत्पीड़ित कर सकते हैं—यह आत्मविराधना होती है। संयमविराधना में छह कायों की विराधना अथवा प्राणवध आदि दोष होते हैं।

२८४३.पाणवह पाणगहणे, कप्पट्ठोद्दाणए अ संका उ।
भणिओ न ठाइ ठाणे, मोसम्मि उ संकणा साणे॥

रात्री प्रत्युपेक्षा न कर सकने के कारण प्राणी (बीज आदि) ग्रहण से प्राणवध होता है। रात्री में मुनि को देखकर बालक भयभीत हो जाने पर गृहस्वामी के मन में शंका होती है। कोई गृहस्थ साधु को कहता है—रात्री में मेरे घर मत आया करो। वह साधु कहता है—अब तेरे घर में कुत्ते आयेंगे। परन्तु वह साधु अपने वचनों में स्थिर नहीं रहता। वह उसी घर में रात को जाता है। तब गृहस्थ को शंका होती है कि ये मुनि मृषावादी हैं।

२८४४.हंतुं सवित्तिणिसुयं, पडियरई काउमऽग्गदारम्मि।
समणेण णोल्लियम्मी, पवेदण जणस्स आसंका॥

कोई स्त्री रात्री में अपने सौत के बच्चे को मारकर घर के अग्रद्वार पर उसको हाथ में लेकर जागती हुई खड़ी रहती है। इतने में ही श्रमण भिक्षा के लिए आया, दरवाजा खोला तो सहसा वह मृत बालक भूमी पर आ गिरा। स्त्री ने चिल्लाते हुए कहा—इस श्रमण ने बालक की हत्या की है। लोग एकत्रित हुए। उनको श्रमण पर आशंका हुई। उस समय ग्रहण-आकर्षण आदि दोष होते हैं।

२८४५.मा निसि मोकं एज्जसु, भणाइ एहिंति ते गिहं सुणगा।
पुणरिंतं सड्ढिपई, भणाइ सुणओ सि किं जातो॥

२८४६.एवं चिय मे रत्तिं, कुसणं दिज्जाहि तं च सुणएण।
खइयं ति य भणमाणे, भणाइ जाणामि ते सुणए॥

रात्री में साधु को भिक्षा के लिए आया हुआ देखकर गृहपति बोला—'रात्री में मेरे घर मत आया करो।' साधु ने कहा—'तुम्हारे घर पर कुत्ते आयेंगे।' साधु पुनः उसी घर में आया। गृहपति बोला—क्या तुम कुत्ते हो गए? एक दिन गृहपति ने अपनी पत्नी से कहा—मेरे लिए 'कुसण'[1] रखना। रात्री में वह मुझे देना। रात्री में गृहपति ने पत्नी को 'कुसण' परोसने के लिए कहा। पत्नी बोली—कुत्ते उसे खा गए। इस प्रकार कहती हुई पत्नी से पति बोला—मैं तुम्हारे (पुरुष) कुत्तों को जानता हूं। इस प्रकार मृषावाद विषयक शंका होती है।

२८४७.सयमेव कोइ लुद्धो, अवहरती तं पडुच्च कम्मकरी।
वाणिगिणी मेहुन्नं, बहुसो व चिरं व संका या॥

कोई मुनि भिक्षा के लिए रात्री में गृहस्थ के घर में प्रविष्ट हुआ। वहां वस्त्र-हिरण्य आदि बिखरे पड़े थे। वह स्वयं लोभवश उनका हरण कर लेता है अथवा घर में काम करने वाली कर्मकरी, उन्हें यह सोचकर उठा लेती है कि श्रमण पर ही अपहरण का आरोप आयेगा। रात्री में मुनि को घर पर आया देख कोई प्रोषितभर्तृका वणिक्स्त्री उससे मैथुन की याचना करती है—इससे चतुर्थव्रत की विराधना होती है। अथवा उस घर में बार-बार आने, चिरकाल तक आलाप-संलाप करने से लोगों को मैथुनप्रतिसेवना की आशंका होती है।

२८४८.अणभोगेण भएण व, पडिणीओम्मीस भत्तपाणं तु।
दिज्जा हिरन्नमादी, आवज्जण संकणा दिट्ठे॥

कोई अजानकारी में या भय से भक्त-पान में मिश्रित हिरण्य आदि दे देता है अथवा कोई शत्रुता के कारण भक्तपान के साथ स्वर्ण आदि दे देता है। उसे मूर्च्छावश पास में रख लेने पर दूसरों द्वारा दृष्ट होने पर मुनि के प्रति शंका आदि दोष होते हैं। इसलिए रात्री में भिक्षाचर्या के लिए पर्यटन नहीं करना चाहिए।

२८४९.तं पि य चउव्विहं राइभोयणं चोलपट्टमइरेगे।
परियावन्न विगिंचण, दर गुलिया रुक्ख सुन्नघरे॥

रात्री भोजन चार प्रकार का है—

१. दिन में लाया हुआ, दिन में खाता है।
२. दिन में लाया हुआ रात्री में खाता है।
३. रात्री में लाया हुआ दिन में खाता है।
४. रात्री में लाया हुआ, रात्री में खाता है।

चोलपट्टक, अतिरेक, पर्यापन्न, विगिंचण, दर, गुलिका, वृक्ष, शून्यगृह—(विस्तारार्थ आगे की गाथाओं में—यह निर्युक्ति गाथा है)।

२८५०.खमणं मोहतिगिच्छा, पच्छित्तमजीरमाण खमओ वा।
गच्छइ सचोलपट्टो, पुच्छ द्ववणं पढमभंगो॥

एक साधु ने क्षपण—उपवास किया। वह मोहचिकित्सा के लिए या प्रायश्चित्त स्वरूप या अजीर्ण हो जाने के कारण या एकान्तरिक तप हेतुक किया गया हो। उस मुनि के संज्ञातकों के वहां आज संखड़ी है। वह बिना पात्र लिए, केवल चोलपट्ट पहनकर वहां गया। उन्होंने पूछा—पात्र नहीं लाए। क्या आज उपवास है? उसने कहा—हां! तब गृहस्वामी ने उस संबंधी मुनि के लिए, संखड़ी में बने भोज्य का, एक विभाग स्थापित कर दिया। 'हम कल पारणक में इस मुनि को देंगे'—यह उसकी भावना थी। दूसरे दिन पारणक में उस द्रव्य को ग्रहण

१. कुसणं—मुद्गदाल्यादि तस्य यदुदकं तदपि कुरुवम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर, उसका परिभोग करने वाले को, रात्रीभोजन का प्रथम भंग लगता है।

२८५१.कारणगहिउव्वरियं,आवलियविहीए पुच्छिऊण गओ।
भोक्खं सुए दराइसु, ठवेइ साभिग्गहऽन्नो वा॥

विभिन्न कारणों से यदि प्रायोग्य द्रव्य अतिरिक्त ले लिया गया और परिभोग के पश्चात् भी वह बच गया हो तो आवलिका विधि—आचाम्ल, उपवास आदि करने वाले मुनियों की परिपाटी से पूछने पर भी यदि बच जाए तो उसको परिष्ठापन के लिए वह मुनि गया परंतु उसने सोचा—कल मैं इसे खालूंगा। यह सोचकर वह उस द्रव्य को 'दर' (गढ़े) आदि में स्थापित कर देता है। वह मुनि साभिग्रहिक भी हो सकता है और अनभिग्रहिक भी हो सकता है। (साभिग्रहिक अर्थात् जो कुछ परिष्ठापनायोग्य होता है उसको परिष्ठापित करने वाला और उससे विपरीत अनभिग्रहिक।)

२८५२.बिले मूलं गुरुगा वा,अणंते गुरु लहुग सेस जं चऽन्नं।
थेरीय उ निक्खित्ते, पाहुण-साणाइखइए वा॥

२८५३.आरोवणा उ तस्सा, बंधस्स परूवणा य कायव्वा।
कुल नामऽट्ठिगमाउं, मंसाऽजिन्नं न जाऽऽउट्टो॥

बिल में स्थापित करने पर मूल प्रायश्चित्त अथवा चतुर्गुरु, अनन्तवनस्पति के कोटर में स्थापित करने पर चतुर्गुरु और शेष स्थानों में चतुर्लघु। स्थविरा के घर में रखने पर चतुर्लघु और वहां यदि प्राघूर्णक या श्वान आदि के खा जाने पर उस स्थापित करने वाले मुनि के आरोपणा प्रायश्चित्त (चतुर्लघु आदि यथायोग्य) आता है। यहां कर्मबंध की प्ररूपणा करनी चाहिए। शिष्य ने पूछा—प्राघूर्णक आदि के खा जाने पर कितने काल तक कर्मबंध होता है? कर्मबंध विषयक अनेक मत हैं—

१. प्राघूर्णक के सातवें कुलवंश तक प्रतिसमय उस भोजन को स्थापित करने वाले मुनि के कर्मबंध होता है।
२. जब तक उसका नाम-गोत्र प्रक्षीण नहीं होता।
३. जब तक उसकी हड्डियां रहती हैं।
४. जब तक वह जीवित रहता है।
५. जब तक उस भोजन से होने वाले मांसोपचय को धारण करता है।
६. जब तक वह भोजन जीर्ण नहीं हो जाता।

इन सब मतान्तरों को सुनकर आचार्य ने कहा—ये सारे अनादेश हैं। सिद्धांत का सद्भाव यह है—जब तक वह मुनि उस क्रिया का प्रायश्चित्त नहीं करता तब तक उसके (उस निमित्त से) कर्मबंध होता रहता है।

२८५४.संखडिगमणे बीओ, वीयारगयस्स तइयओ होइ।
सन्नायगमण चरिमो, तस्स इमे वन्निया भेदा॥

अपराह्न में संखड़ी में जाने से 'द्वितीय भंग' और सूर्योदय से पूर्व बाहर विचार भूमी में गए हुए मुनि द्वारा गृहीत भोज्य 'तृतीय भंगवर्ती' तथा संज्ञातक कुल में जाकर रात्री में ग्रहण कर, रात्री में खाने में 'चरम भंग' होता है। चौथे भंग के ये प्रायश्चित्त भेद वर्णित है। (ये चारों भंग रात्रीभोजन के हैं)।

२८५५.गिरिजन्नगमाईसु व, संखडि उक्कोसलंभे बिइओ उ।
अग्गिट्ठि मंगलट्ठी, पंथिग-वइगाइसू तइओ॥

गिरियज्ञ[1] आदि संखड़ियों में मुनि गया। सूर्यास्त से पूर्व उसने वहां से उत्कृष्ट द्रव्य—अवग्राहिम आदि लिए। परंतु स्थान पर आते-आते सूर्यास्त हो गया। उसने रात्री में उस द्रव्य का उपभोग किया। यह रात्रीभोजन का द्वितीय भंग है। अग्निष्टिका[2] में पका हुआ मांड अरुणोदय वेला में लेना, सूर्योदय से पूर्व यात्रायित होने के कारण मंगलपाठ सुनने वालों से कुछ भोज्य ग्रहण करना, पथिकों से अथवा व्रजिकाओं—गोकुलों से सूर्योदय से पूर्व कुछ लेना—इनको लेकर उनका परिभोग करना तीसरा भंग है।

२८५६.छन्दिय-सयंगयाण व, सन्नायगसंखडीइ वीसरणं।
दिवसे गते संभरणं, खामण कल्लं न इच्छिं ति॥

किन्हीं साधुओं के संज्ञातकों के वहां संखडी का उपक्रम था। उन्होंने साधुओं को निमंत्रित किया। परंतु वे मुनियों को भूल गए। दिवस के बीतने पर उन्होंने संयतों को याद किया। वे साधुओं के उपाश्रय में गए और अपनी विस्मृति के लिए क्षमायाचना की और भक्तपान लेने की प्रार्थना की। मुनियों ने कहा—अभी रात में नहीं, कल देखेंगे/लेंगे।

२८५७.संसत्ताइ न सुज्झइ,
नणु जोण्हा अवि य दो वि उसिणाइं।
काले अब्भ रए वा,
मणिदीवुद्दित्तए बेंति॥

---

१. गिरियज्ञ—इसके तीन अर्थ हैं—गिरियज्ञः कोंकणादिषु भवति उस्सूरे त्ति (१) कोंकण आदि देशों में होने वाला सायंकालभावी भोज। (२) गिरियज्ञ को मत्तबाल संखडी भी कहा जाता है। यह लाटदेश में वर्षारात्र (आश्विन, कार्तिक मास) में होता है। गिरिजन्नो मत्तवाल-संखडी भन्नई, सा लाडविसए वरिसारत्ते भवइ त्ति। (३) भूमिदाह— गिरिकं (ज) न्नत्ति भूमिदाहो त्ति भणितं होइ—(विशेष चूर्णि)।

२. दक्षिणापथ में अर्द्धकुडव आटे से प्रभूत मंडक बनाया जाता है। उसे हेमन्त काल में अरुणोदय के समय अग्निष्टिका में पकाकर (गुड़, घी से मिश्रित कर) पथिकों को दिया जाता है। इसे अग्निष्टिका ब्राह्मण भी कहा जाता है। (वृ. पृ. ८०८)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गृहस्थों ने पूछा—क्या कारण है? मुनि बोले—रात्री में भक्तपान जीवों से संसक्त है या नहीं—इस प्रकार शुद्धि नहीं होती। तब चांदनी रात थी। गृहस्थ बोले—आज पूर्ण ज्योत्स्ना है तथा दोनों—कूर और कुसण उष्ण हैं। इस काल में यदि चन्द्रमा अभ्रच्छन्न या रजच्छन्न होता तो हमारे पास मणिरत्न है। उसका भी अपूर्व प्रकाश होता है। तथा प्रदीप जल रहा है। अथवा पहले ही ज्योति उद्दीप्त है।

२८५८.जोण्हा-मणी-पदीवा, उद्दित्त जहन्नगाइं ठाणाइं।
चउगुरुगा छग्गुरुगा, छेओ मूलं जहण्णम्मि॥

ज्योत्स्ना के प्रकाश में भोजन करने वाले मुनि के चतुर्गुरु, मणि के प्रकाश में षड्गुरु, प्रदीप के प्रकाश में छेद और उद्दीप्त ज्योति के प्रकाश में मूल। ये प्रायश्चित्त-स्थान जघन्य हैं।

२८५९.भोत्तूण य आगमणं, गुरूहिं वसभेहि कुल गणे संघे।
आरोवणा कायव्वा, बिइया य अभिक्खगहणेणं॥

रात्री में ज्योत्स्ना आदि के प्रकाश में भोजन कर मुनि गुरु के पास आए। गुरु ने उन्हें कहा—निशाभक्त का आसेवन करना उचित नहीं है। यदि वे इसे स्वीकार कर लेते हैं तो चतुर्गुरु, स्वीकार न करने पर षड्गुरुक प्रायश्चित्त है। इसी प्रकार वृषभ, कुल, गण और संघ का कथन स्वीकार करने या न करने पर प्रायश्चित्त की वृद्धि होती रहेगी। ऐसी आरोपणा अर्थात् प्रायश्चित्त वृद्धि करनी चाहिए। द्वितीय है—रात्रिभक्त का पुनः पुनः सेवन करने पर प्रायश्चित्त की वृद्धि होती है। (वृत्ति में पूरा विवरण है।)

२८६०.तिहिं थेरेहिं कयं जं, सद्दाणे तं तिगं न वोलेइ।
हेट्ठिल्ला वि उमरिमे, उवरिमथेरा उ भइयव्वा॥

(शिष्य ने पूछा—कुल, गण और संघ के स्थविरों के वचन का अतिक्रमण करने पर गुरुतर प्रायश्चित्त की बात क्यों कही गई है? कहा जाता है कि ये तीनों स्थविर आचार्य से भी बड़े होते हैं। ये प्रमाणपुरुष के रूप में स्थापित होते हैं। क्योंकि ये—) कुल, गण और संघ—इन तीनों स्थविरों द्वारा जो कार्य किया गया है, जो निर्णय लिया गया है, वह स्वस्थान में उचित है। तीनों स्थविर उसका परस्पर व्यतिक्रम नहीं करते। इन तीनों में जो नीचे वाला स्थविर कर लेता है, उसका उल्लंघन ऊपर वाले स्थविर नहीं करते। जैसे—नीचे वाले हैं कुलस्थविर वे उपरितन स्थविर अर्थात् गणस्थविर और संघस्थविरों द्वारा कृत का उल्लंघन नहीं करते। गणस्थविर, संघस्थविरों द्वारा कृत का अतिक्रमण नहीं करते। उपरितन स्थविरों द्वारा कृत की भजना है। जैसे—कुलस्थविरों द्वारा अरक्तद्विष्टभाव से जो किया है उसे गण और संघस्थविर अन्यथा नहीं करते और राग-द्वेष से प्रेरित होकर किया हो तो उसे प्रमाण नहीं मानते। इसी प्रकार गणस्थविरों द्वारा अरक्तद्विष्टभाव से किए हुए का संघस्थविर अन्यथा नहीं करते और राग-द्वेष से किए हुए को प्रमाण नहीं मानते। अतः इन स्थविरों के वचनों का अतिक्रमण करने पर गुरुतर प्रायश्चित्त आता है।

२८६१.चंदुज्जोवे को दोसो, अप्पप्पाणे य फासुए दव्वे।
भिक्खू वसभाऽऽयरिए, गच्छम्मि य अट्ठ संघाडा॥

ज्योत्स्ना के प्रकाश में रात्रीभक्त का आसेवन कर आने वाले साधुओं को यदि भिक्षु आदि उनको ऐसा न करने के लिए कहते हैं तो वे कहते हैं—ज्योत्स्ना के प्रकाश में प्राणरहित प्रासुक द्रव्य लेने में क्या दोष है? इस प्रकार कहने पर प्रायश्चित्त आता है और वृषभ, आचार्य, गच्छ अर्थात् कुलस्थविर, गणस्थविर तथा संघस्थविर के कहने पर स्वीकार या अस्वीकार करने पर वह प्रायश्चित्त बढ़ता जाता है। उस प्रायश्चित्त के आठ संघाटक (लता, प्रकार) हो जाते हैं। (वृत्ति में इस वृद्धि को विस्तार से समझाया गया है।)

२८६२.सन्नायग आगमणे, संखडि राओ अ भोयणे मूलं।
बिइए अणवट्ठप्पो, तइयम्मि य होइ पारंची॥

संज्ञातक कुल में आगमन कर अथवा संखडी में जाकर यदि मुनि रात्री में भोजन करता है तो उसको मूल प्रायश्चित्त आता है। दूसरी बार रात्री में भोजन करने पर अनवस्थाप्य और तीसरी बार करने पर पारांचिक प्रायश्चित्त आता है।

२८६३.जइ वि य फासुगदव्वं,कुंथू-पणगाइ तह वि दुप्पस्सा।
पच्चक्खनाणिणो वि हु, राईभत्तं परिहरंति॥

यद्यपि कुछेक द्रव्य प्रासुक हैं परन्तु कुंथु, पनक आदि रात्री में दुर्दर्श होते हैं। प्रत्यक्षज्ञानी भी रात्रीभक्त का परिहार करते हैं।

२८६४.जइ वि य पिपीलियाई, दीसंति पईव-जोइउज्जोए।
तह वि खलु अणाइन्नं, मूलवयविराहणा जेणं॥

यद्यपि प्रदीप, ज्योति तथा चन्द्रमा के उद्योत में पिपीलिका आदि जन्तु दृष्टिगोचर हो जाते हैं, फिर भी रात्रीभक्त अनाचीर्ण है। क्योंकि यह मूलव्रत—महाव्रतों की विराधना है।

२८६५.गच्छगहणेण गच्छो, भणाइ अहवा कुलाइओ गच्छो।
गच्छग्गहणे व कए, गहणं पुण गच्छवासीणं॥

(गाथा २८६१ में प्रयुक्त 'गच्छम्मि' पद की व्याख्या)

गच्छ शब्द के ग्रहण से गच्छ अर्थात् साधु समुदाय। वह रात्रीभक्तप्रतिसेवक साधुओं को कहता है। अथवा कुल आदि अर्थात् कुल-गण-संघ रूप गच्छ वे उन साधुओं को कहते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। अथवा गच्छ ग्रहण करने पर गच्छवासियों का ग्रहण जानना चाहिए, जिनकल्पिकों का नहीं।

२८६६.बिइयादेसे भिक्खू, भणंति दुट्ठु भे कयं ति वोलेंति।
छल्लहु वसभे छग्गुरु, छेदो मूलाइ जा चरिमं॥

द्वितीयादेश का तात्पर्य है—द्वितीय नौ संस्थित प्रायश्चित्त का प्रकार। निशिभक्तसेवी मुनियों को जब भिक्षु कहते हैं—'आपने उचित कार्य नहीं किया।' यदि वे मुनि इस कथन को स्वीकार नहीं करते हैं तो उनको षड्लघु का प्रायश्चित्त विहित है। वृषभ के वचन का अतिक्रमण करने पर षड्गुरु, आचार्य के वचन का अतिक्रमण करने पर छेद, कुलस्थविर की बात का उल्लंघन करने पर मूल, गणस्थविर के वचन का अतिक्रमण करने पर अनवस्थाप्य और संघस्थविर की बात न मानने पर चरम अर्थात् पारांचिक प्रायश्चित्त आता है।

२८६७.तइयादेसे भोत्तूण आगया नेव कस्सइ कहिंति।
तेसऽत्ततो व सोच्चा, खिंसंतऽह भिक्खूणो ते उ॥

तृतीय आदेश—रात्रीभक्त की प्रतिसेवना कर आए हुए मुनि किसी को कुछ नहीं कहते। किन्तु भिक्षु उन मुनियों के आलाप-संलाप सुनकर अथवा उन प्रतिसेवी मुनियों ने श्रावकों को कहा हो और उन श्रावकों से सुनकर भिक्षु उन मुनियों की खरंटना करते हैं, उनकी भर्त्सना करते हैं। यदि वे मुनि खरंटना का अतिक्रमण करते हैं, स्वीकार नहीं करते तो निम्न प्रायश्चित्त का विधान है—

२८६८.भिक्खुणो अतिक्कमंते,
छल्लहुगा वसभे होंति छग्गुरुगा।
गुरु-कुल-गण-संघाइक्कमे य
छेदाइ जा चरिमं॥

भिक्षुओं के कथन का अतिक्रमण करने पर षड्लघु, वृषभों के अतिक्रमण में षड्गुरु, गुरु के अतिक्रमण में छेद, कुलस्थविर के अतिक्रमण में मूल, गणस्थविर के अतिक्रमण में अनवस्थाप्य और संघस्थविर के अतिक्रमण में पारांचिक प्रायश्चित्त है। (यह तीसरी नौ है।)

२८६९.भिक्खू वसभाऽऽयरिए,
वयणं गच्छस्स कुल गणे संघे।
गुरुगादऽइक्कमंते,
जा सपद चउत्थ आदेसो॥

चतुर्थ आदेश—भिक्षु के वचन का अतिक्रमण करने पर चतुर्गुरु, वृषभ के षड्गुरु, आचार्य के षड्गुरुक, गच्छस्थविर के छेद, कुलस्थविर के मूल, गणस्थविर के अनवस्थाप्य और संघस्थविर के स्वपद अर्थात् पारांचिक प्रायश्चित्त है।

२८७०.पेच्छह उ अणायारं, रत्तिं भुत्तुं न कस्सइ कहंति।
एवं एक्केक्कनिवेयणेण वुड्ढी उ पच्छित्ते॥

भिक्षु आदि कहते हैं—देखो, इन मुनियों का अनाचार। रात्री में भोजन कर किसी को नहीं कहते। इस प्रकार भिक्षु वृषभों को और वृषभ आचार्य को तथा आचार्य एक-एक को कहने पर प्रायश्चित्त की वृद्धि होती जाती है।

२८७१.को दोसो को दोसो, त्ति भणंते लग्गई बिइयठाणं।
अहवा अभिक्खगहणे, अहवा वत्थुस्स अइयारो॥

क्या दोष है? क्या दोष है? इस प्रकार कहने वाले उन रात्रिभक्तप्रतिसेवियों को द्वितीय प्रायश्चित्तस्थान प्राप्त होता है। अथवा पुनः पुनः रात्रिभक्त का आसेवन करने पर अथवा वस्तु—आचार्य आदि के वचनों को अतिक्रमणरूप अतिचार से प्रायश्चित्त की वृद्धि होती है। इसलिए चारों प्रकार के रात्रीभक्त का आसेवन नहीं कल्पता। कारण में वह कल्पता है।

२८७२.बिइयपयं गेलन्ने, पढमे बिइए य अणहियासम्मि।
फिट्टइ चंदगवेज्झं, समाहिमरणं व अद्धाणे॥

अपवादपद में ग्लानत्व, पहले तथा दूसरे परीषह को न सह सकने के कारण, चन्द्रकवेध नामक अनशन का निर्वाह न कर सकने के कारण, समाधिमरण के लिए तथा मार्ग में—इनमें रात्रीभक्त के चारों प्रकार की प्रतिसेवना की जा सकती है। (विस्तार अगली गाथाओं में।)

२८७३.पइदिणमलब्भमाणे, विसोहि समइच्छिउं पढम भंगो।
दुल्लभ दिवसंते वा, अहि-सूलरुयाइसुं बिइओ॥

२८७४.एमेव तइयभंगो, आइ तमो अंतए पगासो उ।
दुहओ वि अप्पगासो, एमेव य अंतिमो भंगो॥

ग्लान के लिए प्रतिदिन प्रायोग्यद्रव्य की प्राप्ति न होने पर विशोधिकोटि के दोषों के आधार पर प्रतिदिन लाकर दिया जा सकता है। यदि वह भी अतिक्रांत हो जाता है तो प्रथम भंग अर्थात् 'रात्री में लाकर दिन में देना' का आसेवन किया जा सकता है। ग्लान प्रायोग्य दुर्लभ द्रव्य प्राप्त कर, स्थान पर आते-आते दिन अस्त हो जाए तो वह रात्री में दिया जा सकता है। अथवा सायं सर्प ने डस दिया या शूलरोग उत्पन्न हो गया तो रात्री में औषध आदि दी जा सकती है। यह रात्रीभक्त का दूसरा विकल्प है। इसी प्रकार तीसरा भंग होता है। इसमें आदि में अंधकार यानि रात्री और अंत में प्रकाश यानि दिन। चतुर्थ भंग में आदि और अंत में अप्रकाश— आगाढ़ कारण में यह विहित है।

२८७५.पढमबिइयाउरस्सा,
असहुस्स हवेज्ज अहव जुअलस्स।
कालम्मि दुरहियासे,
भंगचउक्केण गहणं तु॥

पहले और दूसरे परीषह में जो मुनि आकुल हो गया हो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथवा जो उनको सहन करने में अक्षम हो[1] अथवा युगल–बाल और वृद्ध मुनि असहिष्णु हो गए हों या काल अवमौदर्य का हो–इन सबमें चारों भंगों का आसेवन किया जा सकता है।

२८७६.एमेव उत्तिमट्ठे, चंदगवेज्झसरिसे भवे भंगा।
उभयपगासो पढमो, आदी अंते य सव्वतमो॥

चन्द्रकवेध (आठ चक्रों के बीच की पुत्तलिका के दांई आंख को बींधने के) सदृश अनशन करने वाले मुनि के कदाचिद् असमाधि उत्पन्न हो जाए तो चारों भंग विहित हैं। इनमें प्रथम भंग आदि-अंत–उभयतः प्रकाशवान् है, द्वितीय भंग आदि में प्रकाशवान् अन्त में अंधकारमय, तृतीय भंग आदि में अंधकारमय, अन्त में प्रकाशवान् और चतुर्थ भंग सर्व अधंकारमय होता है–रात्री में ग्रहण और रात्री में ही परिभोग।

२८७७.अद्धाणम्मि व होज्जा, भंगा चउरो उ तं न कप्पइ उ।
दुविहा उ होंति उ दरा, पोट्टे तह धन्नभाणे य॥

अध्वनिर्गत मुनियों के लिए चारों भंग होते हैं। परंतु जो मुनि ऊर्ध्वदर में अध्वगमन करते हैं, उनके लिए नहीं कल्पता। दर दो प्रकार के हैं–पोट्टदर और धान्यभाजनदर। (पोट्ट का अर्थ है उदर, तद्रूप दर होता है–पोट्टदर, धान्यभाजन–कट, पल्य आदि, वे ही हैं दर–धान्यभाजनदर। वे दर ऊर्ध्व अर्थात् जहां भरे जाते हैं, वह है ऊर्ध्वदर।)

२८७८.उद्दरे सुभिक्खे, अद्धाणपवज्जणं तु दप्पेण।
लहुगा पुण सुद्धपए, जं वा आवज्जई जत्थ॥

ऊर्ध्वदर और सुभिक्ष के चार भंग होते हैं–

(१) ऊर्ध्वदर तथा सुभिक्ष।
(२) ऊर्ध्वदर असुभिक्ष।
(३) सुभिक्ष न ऊर्ध्वदर।
(४) न ऊर्ध्वदर और न सुभिक्ष।

इनमें दूसरे और चौथे भंग में अध्वगमन करना चाहिए। पहले और तीसरे भंग में दर्प से कोई अध्वगमन करता है तो शुद्धपद में भी चतुर्लघु का प्रायश्चित्त है तथा संयमविराधना आदि होने पर तन्निष्पन्न प्रायश्चित्त भी आता है।

२८७९.नाणट्ठ दंसणट्ठा, चरितट्ठा एवमाइ गंतव्वं।
उवगरणपुव्वपडिलेहिएण सत्थेण गंतव्वं॥

प्रथम तथा तृतीय भंग में इन कारणों से गमन विहित है–ज्ञान के लिए, दर्शन के लिए तथा चारित्र के लिए। गमन करने वाले–जाने वाले तलिकादि उपकरण लेकर जाएं तथा पूर्व प्रत्युपेक्षित सार्थ के साथ जाए।

२८८०.सगुरु कुल सदेसे वा, नाणे गहिए सई य सामत्थे।
वच्चइ उ अन्नदेसे, दंसणजुत्ताइअत्थो वा॥

अपने गुरु के पास जो ज्ञान–श्रुत विषयक ज्ञान था वह ग्रहण कर लिया परंतु श्रुत के ग्रहण में और सामर्थ्य है तो वह अपने देश में, स्वकुल में वह श्रुत ज्ञान प्राप्त करे। उसके अभाव में परकुल में जाकर भी ग्रहण करे। स्वदेश में यदि ऐसे बहुश्रुत आचार्य न हों तो अन्य देश में जाकर वह श्रुत प्राप्त करे। तथा दर्शनविशोधिकारक ग्रंथों (गोविन्दनिर्युक्ति आदि) के प्रयोजन से प्रमाणशास्त्र में निपुण आचार्यों के पास वाचना ले।

२८८१.पडिकुट्ठ देस कारण गया उ तदुवरमि निंति चरणट्ठा।
असिवाई व भविस्सइ, भूए व वयंति परदेसं॥

मुनियों के विहार के लिए सिन्धुदेश आदि प्रतिक्रुष्ट हैं। वहां अशिव आदि कारणों से गए हुए मुनि उन कारणों के उपरत हो जाने पर चारित्र की पालना के लिए वहां से आ जाएं। अथवा वहां रहते हुए निमित्त बल से जान लिया कि यहां अशिव आदि होंगे, अथवा हुआ है, तो वे परदेश में परिव्रजन कर दें।

२८८२.चम्माइलोहगहणं, नंदीभाणे य धम्मकरए य।
परउत्थियउवकरणे, गुलियाओ खोलमाईणि॥

चर्म आदि तथा लोह, नन्दीभाजन, धर्मकरक, परतीर्थिक के उपकरण, गुलिका तथा खोल (गोरस से भावित वस्त्र)–अध्वनिर्गत मुनि ये उपकरण साथ में ले। (विस्तार आगे)।

२८८३.तलिय पुडग वज्झे या, कोसग कत्ती य सिक्कए काए।
पिप्पलग सूइ आरिय, नक्खच्चणि सत्थकोसे य॥

तलिका (पदत्राण), पुटक–खल्लक, वर्ध्र, कोशक–अंगुलित्राण, कृत्ति–चर्म, सिक्कक, कापोतिका, पिप्पलक, सूची, आरिका, नखार्चनी–नाखून काटने का ओजार तथा शस्त्रकोश–ये साथ में ले।

२८८४.तलियाउ रत्तिगमणे, कंटुप्पहतेण सावए असहू।
पुडगा विवच्चि सीए, वज्झो पुण छिन्नसंधट्ठा॥

रात्री में गमन करने पर पैरों में कांटे आदि न चुभें इसलिए तलिका उपयोगी है। चोर और श्वापद से बचने के लिए (वेग से चलने या भागने के लिए) तथा सुकुमारपाद होने के कारण बिना क्रमणिका के चलने में असहिष्णु होने के कारण तलिका बांधी जाती है। शीत में पैरों के फट जाने पर (बवाई के कारण) पुटक अर्थात् खल्लक पहने जाते हैं। त्रुटित तलिकाओं को सांधने के लिए वर्ध्र प्रयोजनीय होता है।

१. स्थूलभद्र के लघु भ्राता श्रीयक की भांति (वृ. पृ. ८१५)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२८८५.कोसग नहरक्खट्ठा,हिमा-ऽहि-कंटाइसू उ खपुसादी।
कत्ती वि विकरणट्ठा, विवित्त पुढवाइरक्खट्ठा॥

नखों की रक्षा के लिए कोशक, शीत, सर्प तथा कंटक–इनसे बचने के लिए 'खपुस', कृत्ति–चर्म इसलिए लिया जाता है कि प्रलंब आदि का विकरण करने पर वे धूल के साथ न मिल जाएं तथा कभी-कभी चोर मुनियों के वस्त्रों का अपहरण कर लेते हैं तब मुनि चर्म का परिभोग करते हैं तथा पृथ्वीकाय की रक्षा के लिए चर्म को बिछाकर भोजन करते हैं। या चर्म को बिछाकर बैठते हैं।

२८८६.तहिं सिक्कएहिं हिंडति,
जत्थ विवित्ता व पल्लिगमणं वा।
परलिंगग्गहणम्मि वि,
निक्खिवणट्ठा व अन्नत्थ॥

यदि मुनि विवित्त–लूटे जा चुके हैं अथवा चौरपल्ली में भिक्षा के लिए जाना हो तो वे सिक्कक लेकर घूमते हैं। परलिंग में भिक्षार्थ जाते समय सिक्कक में ही घूमना होता है। अध्वकल्प आदि का निक्षेपण सिक्कक में ही किया जाए तथा प्रलंब आदि भी सिक्कक में ही लाकर स्थविरगृह में उनका निक्षेपण किया जाता है।

२८८७.जे चेव कारणा सिक्कगस्स ते चेव होंति काए वि।
कप्पुवही बालाइ व, वहंति तेहिं पलंबे वा॥

सिक्कक के उपयोग के विषय में जो कारण कहे गए हैं, वे ही कारण कापोतिका के विषय में हैं। अध्वकल्प, आचार्य तथा अन्य मुनियों की उपधि, बाल मुनि या प्रलंब आदि का वहन कापोतिका में किया जाता है।

२८८८.पिप्पलओ विकरणट्ठा, विवित्त जुन्ने व संधणं सूई।
आरि तलिसंधणट्ठा, नक्खच्चण नक्ख-कंटाई॥

पिप्पलक प्रलंब को काटने के लिए, लुटे गए मुनियों के जीर्ण वस्त्रों को सीने के लिए सूची, तलिकों का संधान करने के लिए आरिका, नखार्चन नखों को काटने के लिए तथा कंटक आदि शल्यों को निकालने के लिए काम आता है।

२८८९.कोसाऽहि-सल्ल-कंटग,
अगदोसहमाइयं तु चग्गहणा।
अहवा खेत्ते काले,
गच्छे पुरिसे य जं जोग्गं॥

शस्त्रकोश का यह प्रयोजन--सर्प ने जितने अंग को डसा है उसका छेदन करने के लिए तथा शल्य और कांटों का उद्धरण करने के लिए शस्त्रकोश काम आता है। गाथा २८८३ में चकार का प्रयोग है–'नक्खच्चणि सत्थकोसे य।' च से अगद–एक द्रव्य से निष्पन्न औषधि तथा एकांगिक जो होती है वह औषधि कहलाती है। अथवा 'च' शब्द से क्षेत्र में, काल में जो दुर्लभ हो वह साथ में ले तथा गच्छ और पुरुष (आचार्य आदि) के लिए जो योग्य हो वह सब साथ में ले।

२८९०.एक्कं भरेमि भाणं, अणुकंपा णंदिभाण दरिसंति।
निंति व तं वइगाइसु, गालिंति दवं तु करएणं॥

कोई श्रावक अध्वगत मुनियों को अनुकंपावश कहता है–'मैं प्रतिदिन आपका एक भाजन पूरा भर दूंगा।' तब उसको नन्दीभाजन दिखाते हैं। अथवा उस नन्दीभाजन को व्रजिका आदि में ले जाते हैं तथा धर्मकरक से द्रव अर्थात् पानक गालते हैं।

२८९१.परउत्थियउवगरणं, खेत्ते काले य जं तु अविरुद्धं।
तं रयणि-पलंबट्ठा, पडिणीए दिया व कोट्टादी॥

अन्यतीर्थिक के जो उपकरण जिस क्षेत्र और काल में अविरुद्ध होते हैं उसका प्रयोग रात्री में प्रलंब लाने के लिए करना चाहिए। जहां प्रत्यनीक होते हैं अथवा म्लेच्छ कोट्ट (म्लेच्छ-पल्ली) में जाना होता है, वहां अन्यतीर्थिक के वेष में जाए।

२८९२.गोरसभाविय पोत्ते, पुव्वकय दवस्सऽसंभवे धोवे।
असईय उ गुलिय मिए, सुन्ने नवरंगदइयादी॥

खोल का अर्थ है–गोरस से भावित वस्त्र। अध्वगत मुनि पूर्वकृत खोल साथ में लेते हैं और जहां प्रासुक द्रव की प्राप्ति नहीं होती तब वे उन खोल-वस्त्रों को धोते हैं। वह द्रव प्रासुक हो जाता है। खोल न होने पर 'गुलिका'–तुवरवृक्ष के चूर्ण से निर्मित गुटिका से पानक को प्रासुक बना लेते हैं और मृग अर्थात् अगीतार्थ मुनियों को कहते हैं–शून्यग्राम[1] से नवरंगदृतिका से यह पानक लाया गया है।

२८९३.एक्केक्कम्मि य ठाणे, चउरो मासा हवंतऽणुग्घाया।
आणाइणो य दोसा, विराहणा संजमाऽऽयाए॥

अध्वनिर्गत मुनि यदि पूर्वोक्त उपकरणों को साथ नहीं लेता है तो प्रत्येक उपकरण के लिए चार अनुद्घात (गुरु) मास का प्रायश्चित्त आता है तथा आज्ञाभंग आदि दोष और संयमविराधना तथा आत्मविराधना–दोनों होती हैं।

२८९४.एमाइ अणागयदोसरक्खणट्ठा अगेण्हणे गुरुगा।
अणुकूले निग्गमओ, पत्ता सत्थस्स सउणेणं॥

इस प्रकार के अनागतदोषों की रक्षा के लिए उन उपकरणों का ग्रहण करना चाहिए। ग्रहण न करने पर प्रत्येक उपकरण के लिए चतुर्गुरुमास का प्रायश्चित्त है। चन्द्रबल, ताराबल, अनुकूल होने पर निर्गमक–प्रस्थान करना चाहिए।

१. शून्यग्राम–वह गांव जो चोरों आदि के भय से उजड़ गया हो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपाश्रय से निर्गत हो जाने तथा सार्थ को प्राप्त न करने तक स्वयं का शकुन और सार्थ को प्राप्त हो जाने के पश्चात् सार्थ के शकुन से जाएं।

२८९५.अप्पत्ताण निमित्तं, पत्ता सत्थम्मि तिन्नि परिसाओ।
सुद्धे त्ति पत्थियाणं, अद्धाणे भिक्खपडिसेहो॥

सार्थ को प्राप्त न होने तक स्वयं का निमित्त अर्थात् शकुन होता है। सार्थ के साथ हो जाने पर सार्थ का शकुन काम आता है। सार्थ को प्राप्त कर तीन परिषदें करते हैं–सिंहपर्षद्, वृषभपर्षद् और मृगपर्षद्। सार्थ को शुद्ध समझ कर उसके साथ प्रस्थान किया। मार्ग में भिक्षा का प्रतिषेध कर डाला। (व्याख्या आगे)

२८९६.कडजोगि सीहपरिसा,
गीयत्थ थिरा य वसभपरिसा उ।
सुत्तकडमगीयत्था,
मिगपरिसा होइ नायव्वा॥

जो कृतयोगी–गीतार्थ हैं वे सिंहपर्षद्, जो गीतार्थ और स्थिर हैं वे वृषभपर्षद् और जो अगीतार्थ हैं, कृतसूत्र–सूत्र पढ़ने वाले हैं वे मृगपर्षद् होते हैं।

२८९७.सिद्धत्थग पुप्फे वा, एवं वुत्तुं पि निच्छुभइ पंतो।
भत्तं वा पडिसेहइ, तिण्हऽणुसट्ठाइ तत्थ इमा॥

मुनियों ने सार्थवाह से पूछा–हम आपके साथ प्रस्थान करना चाहते हैं। क्या आप हमारा योगक्षेम वहन करेंगे? सार्थवाह ने कहा–शिर पर डाले हुए सरसों के दाने और चंपक पुष्प कोई पीड़ा नहीं करते वैसे ही आप भी हमारे लिए कोई भार नहीं हैं। इस प्रकार कहने के पश्चात् भी कोई प्रान्त सार्थवाह अटवी के मध्य मुनियों को निष्काशित कर देता है और भक्तपान का प्रतिषेध कर देता है, तब तीनों–सार्थ, सार्थवाह तथा आयत्तिक (व्यवस्थापक) को अनुशिष्टि आदि की यह यतना करनी चाहिए।

२८९८.अणुसट्ठी धम्मकहा, विज्ज निमित्ते पभुत्तकरणं वा।
परउत्थिगा व वसभा, सयं व थेरी व चउभंगो॥

अनुशिष्टि का अर्थ है–धर्मकथा। तीनों को विस्तार से धर्म, कर्म, पुण्य, पाप आदि की बात बतानी चाहिए। विद्या, मंत्र, निमित्त के द्वारा उनको वश में करना चाहिए। जो मुनि बलवान् हो उसे प्रभुत्व स्थापित करना चाहिए। सर्वथा भक्त-पान का प्रतिषेध करने पर वृषभ अन्यतीर्थिकों के वेष में भक्तपान का उत्पादन करे अथवा स्वलिंग से रात्रीभक्त विषयक चतुर्भंगी से प्रयत्न करे अथवा स्थविरा श्राविका से प्राप्त करे।

२८९९.पडिसेह अलंभे वा, गीयत्थेसु सयमेव चउभंगो।
थेरिसगासं तु मिए, पेसे तत्तो व आणीयं॥

भक्तपान का प्रतिषेध करने पर या उसका लाभ न होने पर गीतार्थ मुनि स्वयं रात्रीभक्तचतुर्भंगी की यतनापूर्वक प्रतिसेवना करे। यदि मुनि गीतार्थमिश्र हों तो सार्थ में स्थविरा श्राविका हो तो उसके पास उस भोजन का निक्षेप कर देते हैं। फिर मृगतुल्य शिक्षार्थी मुनियों को भेजकर वह भक्तपान मंगा लेते हैं और कहते हैं–यह भक्तपान स्थविरा के पास से लाया गया है।

२९००.कुओ एयं पल्लीओ, सड्ढा थेरि पडिसत्थिगाओ वा।
नायम्मि य पन्नवणा, न हु असरीरो भवइ धम्मो॥

वृषभ मुनियों को यदि वे शिक्षार्थी शिष्य पूछते हैं कि यह भक्तपान कहां से लाए हैं? तब कहे–पल्ली से। अथवा दानादिश्राद्धों ने दिया है, स्थविरा से या प्रतिसार्थिकों से प्राप्त हुआ है। इतने पर भी यदि उन शिष्यों को यथार्थ ज्ञात हो जाए तो यह प्रज्ञापना करनी चाहिए–**'न हु असरीरो भवइ धम्मो'**–'शरीर से विरहित धर्म नहीं होता', अतः सर्वप्रयत्न से शरीर की रक्षा करनी चाहिए।

२९०१.पुरतो वच्चंति मिगा, मज्झे वसभा उ मग्गओ सीहा।
पिट्ठओ वसभऽन्नेसिं, पडियाऽसहुरक्खगा दोण्हं॥

मार्ग में जाते समय 'मृग' अगीतार्थ मुनि आगे, मध्य में 'वृषभ'–समर्थ गीतार्थ और मार्गतः–पीछे 'सिंह'–गीतार्थ मुनि चलें। अन्य आचार्यों के मत के अनुसार वृषभ पीछे चलें, क्योंकि दोनों अर्थात् मृग-सिंह अर्थात् बाल-वृद्ध में जो श्रान्त हो गए हैं या क्षुधा-पिपासा परीषह से पीड़ित हो गए हैं, उनके रक्षक वृषभ होते हैं, अतः वे पीछे चलते हैं।

२९०२.पुरतो य पासतो पिट्ठतो य वसभा हवंति अद्धाणे।
गणवइपासे वसभा, मिगमज्झे नियम वसभेगो॥

अथवा मार्ग में चलते समय वृषभ आगे-पीछे तथा मध्य में होते हैं। गणपति के पास नियमतः वृषभ होते हैं तथा मृग मुनियों के पास नियमतः एक वृषभ मुनि रहता है।

२९०३.वसभा सीहेसु मिगेसु चेव थामावहारविजढा उ।
जो जत्थ होइ असहू, तस्स तह उवग्गहं कुणंति॥

वृषभ मुनि अपने बल और वीर्य को छुपाते नहीं। वे मृग तथा सिंह मुनियों में जो अक्षम हो जाता है उसका वे यथार्थ उपग्रह–सहयोग करते हैं।

२९०४.भत्ते पाणे विस्सामणे य उवगरण-देहवहणे य।
थामावहारविजढा, तिन्नि वि उवगिण्हए वसभा॥

वे उनको भक्त-पान लाकर देते हैं। उनके परिश्रान्त हो जाने पर विश्रामणा की व्यवस्था करते हैं। जो चल नहीं सकते उनको तथा उनके उपकरणों का वहन करते हैं। इस प्रकार शक्ति का गोपन करने से विमुक्त वे वृषभ तीनों–मृग,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिंह और वृषभ–के उपकारी होते हैं, तीनों का सहयोग करते हैं।

२९०५.जो सो उवगरणगणो, पविसंताणं अणागयं भणिओ।
सट्ठाणे सट्ठाणे, तस्सुवओगो इहं कमसो॥

अध्वनिर्गत–मार्ग में प्रविष्ट मुनि को उपकरणसमूह लेना चाहिए–यह जो कथन है, उसके अनुसार उन-उन उपकरणों का अपने-अपने प्रयोजनीय स्थान पर क्रमशः उपयोग करना चाहिए।

२९०६.असई य गम्ममाणे, पडिसत्थे तेण-सुन्नगामे वा।
रुक्खाईण पलोयण, असई नंदी दुविह दव्वे॥

यदि मार्ग-निर्गत मुनि को भक्तपान की प्राप्ति न हो तो प्रतिसार्थ या स्तेनपल्ली या शून्यग्राम में उसकी एषणा करनी चाहिए। प्रलंब आदि के निमित्त वृक्षों का अवलोकन करना चाहिए। यदि सर्वथा अप्राप्ति हो तो दो प्रकार के द्रव्यों–परीत्त और अनन्त में से जिस द्रव्य से नंदी–तप-संयम की वृद्धि होती हो वैसे करे।

२९०७.भत्तेण व पाणेण व, निमंतएऽणुग्गए व अत्थमिए।
आइच्चो उदिय त्ति य, गहणं गीयत्थसंविग्गे॥

अध्वनिर्गत मुनियों को यदि कोई सूर्योदय से पूर्व या सूर्यास्त के पश्चात् भक्तपान के लिए निमंत्रण दे तो गीतार्थ मुनि उसे ग्रहण कर ले। सार्थ के पड़ाव पर पहुंच कर सभी मुनियों को सुनाते हुए यह कहे–आदित्य उदित है, यह मानकर हमने भक्तपान ग्रहण किया है। इस प्रकार की यतना गीतार्थ, संविग्न मुनि करते हैं।

२९०८.गीयत्थग्गहणेणं, सामाए गिण्हए भवे गीओ।
संविग्गग्गहणेणं, तं गेण्हंतो वि संविग्गो॥

गीतार्थ का ग्रहण इसलिए किया गया है कि गीतार्थ मुनि ही रात्री में भक्तपान लेता है, अगीतार्थ नहीं। संविग्न का ग्रहण इसलिए है कि रात्रीभक्त लेता हुआ, करता हुआ संविग्न ही है, मोक्षाभिलाषी ही है।

२९०९.बेइंदियमाईणं, संथरणे चउलहू उ सविसेसा।
ते चेव असंथरणे, विविरीय सभाव साहारे॥

स्तेनपल्ली में भक्तपान के लिए जाने पर वहां तो केवल मांस ही मिल सकता है। इतरभक्तपान से निर्वाह होता हो तो द्वीन्द्रिय आदि का मांस लेने पर तप और काल से विशेषित चतुर्लघु का प्रायश्चित्त आता है। यदि उससे संस्तरण–निर्वाह न हो तो उनसे विपरीत–उत्क्रम से त्रीन्द्रिय आदि का मांस लेने पर भी चतुर्लघु का ही प्रायश्चित्त है। (द्वीन्द्रिय का मांस-बल अधिक इन्द्रिय वाले प्राणियों के मांसबल से अल्पतरबल वाला होता है) अतः मुनि स्वभावतः जो साधारण है, उसे ही वे ग्रहण करते हैं।

२९१०.जत्थ विसेसं जाणंति तत्थ लिंगेण चउलहू पिसिए।
अन्नाएण उ गहणं, सत्थम्मि वि होइ एसेव॥

जिस गांव में लोग विशेषरूप से यह जानते हों कि 'श्रमण मांस नहीं खाते', वहां यदि स्वलिंग से मांस ग्रहण हो जाता है तो चतुर्लघु का प्रायश्चित्त आता है। अतः अज्ञात रहकर परलिंग से उसे ग्रहण करे। सार्थ में भी मांस-ग्रहण करने में भी यही विधि है।

२९११.अद्धाणासंथरणे, सुत्ते दव्वम्मि कप्पई गहणं।
लहुओ लहुया गुरुगा, जहन्नए मज्झिमुक्कोसे॥

अध्वगत मुनि यदि प्राप्त से निर्वाह नहीं कर पाते तो वे शून्यग्राम–भय से उजड़े हुए गांव में द्रव्य अर्थात् जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट ले सकते हैं। यदि संस्तरण होने पर भी लेते हैं तो जघन्य द्रव्य-ग्रहण में मासलघु, मध्यम में चतुर्लघु और उत्कृष्ट में चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त आता है।

२९१२.उक्कोसं विगईओ, मज्झिमगं होइ कूरमाईणि।
दोसीणाइ जहन्नं, गिण्हंते आयरियमादी॥

उत्कृष्ट द्रव्य है–घृत, दूध आदि विकृतियां, मध्यम द्रव्य है–कूर, कुसण आदि तथा जघन्य द्रव्य है–वासी चावल आदि। इनको ग्रहण करने पर आचार्य आदि के आज्ञाभंग का दोष होता है।

२९१३.अद्धाणे संथरणे, सुत्ते गाममि जो उ गिण्हेज्जा।
छेदादी आरोवण, नायव्वा जाव मासलहू॥

मार्ग में संस्तरण होने पर भी जो शून्यग्राम से विकृति आदि ग्रहण करता है उसके छेद से प्रारंभ कर मासलघु यावत् आरोपणा प्रायश्चित्त आता है।

२९१४.छेदो छग्गुरु छल्लहु,
चउगुरु चउलहु य गुरु लहू मासो।
आयरिय वसभ भिक्खू,
उक्कोसे मज्झिम जहन्ने॥

उत्कृष्ट द्रव्य–अन्तर्दृष्ट लेने पर छेद, अदृष्ट लेने पर षड्गुरु, बहिर्दृष्ट लेने पर षड्गुरु और अदृष्ट लेने पर षड्लघु। मध्यम द्रव्य–अन्तर्दृष्ट षड्गुरु, अदृष्ट षड्लघु, बहिर्दृष्ट–षड्लघु, अदृष्ट चतुर्गुरु। जघन्य द्रव्य–अन्तर्दृष्ट षड्लघु, अदृष्ट चतुर्गुरु, बहिर्दृष्ट चतुर्गुरु, अदृष्ट चतुर्लघु। यह आचार्य से संबंधित द्रव्यों का प्रायश्चित्त विधान है। इसी प्रकार वृषभ और भिक्षु से संबंधित, कुछ अन्तर से, ऐसा ही प्रायश्चित्त है। इसलिए संस्तरण होने पर नहीं लेना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२९१५.विलओलए व जायइ, अहवा कडवालए अणुन्नवए।
इयरेण व सत्थभया, अन्नभया वुड्डिते कोट्टे॥

विलओलग[1]—लूटेरों से विकृति द्रव्य की याचना करता है अथवा कटपालक—वृद्ध और अजंगम गृहपालकों को अनुज्ञापित कर, लेता है। परलिंग से ग्रहण करता है। कोट्ट[2]—भिल्लदुर्ग में सार्थ के भय से अथवा अन्य भय से जो वसति उजड़ गई हो वहां जघन्य द्रव्य की याचना करता है, वहां यह यतना है—

२९१६.उद्दूढसेस बाहिं, अंतो वी पंत गिण्हमद्दिट्ठं।
बहि अंत तओ दिट्ठं, एवं मज्झे तहुक्कोसे॥

लुटेरों द्वारा लूटा[3] हुआ तथा खाने के पश्चात् शेष रहे हुए भोज्य पदार्थ जो उनके द्वारा गांव के बाहर छोड़ दिए हों, वह जघन्य अदृष्ट द्रव्य पहले ग्रहण करे। उसके अभाव में गांव के मध्य प्रान्त अदृष्ट द्रव्य, उसके अभाव में ग्राम के बाहर दृष्ट, फिर ग्राम के मध्य दृष्ट ग्रहण करे। उसके अभाव में मध्यम द्रव्य तथा उत्कृष्टद्रव्य का भी इसी चारणिका के आधार पर ग्रहण करे।

२९१७.तुल्लम्मि अदत्तम्मी, तं गिण्हसु जेण आवइं तरसि।
तुल्लो तत्थ अवाओ, तुच्छबलं वज्जए तेणं॥

सभी प्रकार के द्रव्यों में अदत्तदोष तुल्य होने पर जिससे असंस्तरण की आपदा दूर हो सके वह द्रव्य ग्रहण करे, क्योंकि वहां संयम और आत्मविराधना रूप अपाय तुल्य है, इसलिए तुच्छबल वाले आहार का वर्जन करे।

२९१८.फासुग जोणिपरित्ते, एगट्ठि अबद्ध भिन्नऽभिन्ने य।
बद्धट्ठिए वि एवं, एमेव य होइ बहुबीए॥

प्रासुक परीत्तयोनिक, एकास्थिक, अबद्धास्थिक, भिन्न—विदारित अभिन्न—अविदारित। इसी प्रकार बद्धास्थिक तथा बहुबीज में भी भिन्न-भिन्न भंग होते हैं। वृत्ति में इन सबके ३२ भंग बतलाए हैं। यह वृक्ष के नीचे पड़े प्रलंब के विषय में है।

२९१९.एमेव होइ उवरिं, एगट्ठिय तह य होइ बहुबीए।
साहारणं सभावा, आदीए बहुगुणं जं च॥

इसी प्रकार वृक्ष के ऊपर प्रलंब आदि एकास्थिकपद तथा बहुबीजपद के साथ भी बत्तीस भंग होते हैं। इनमें जो स्वभावतः साधारण द्रव्य है, शरीरोपष्टंभकारक है, वह ग्रहण करे। वही बहुगुण—बहुत उपकारी हो सकता है।

२९२०.नंदंति जेण तव-संजमेसु नेव य दर त्ति खिज्जंति।
जायंति न दीणा वा, नंदि अतो समयतो सन्ना॥

अध्वगत मुनि जिस भोजन से तप-संयम में समाधि का अनुभव करते हैं वह नन्दी अथवा जिस द्रव्य के उपभोग से शीघ्र कृशता नहीं आती, वह है नन्दी अथवा जिसके योग से मुनि दीन नहीं होते, वह है नन्दी। यह आगमिक परिभाषा है।

२९२१.परिनिट्ठिय जीवजढं, जलयं थलयं अचित्तमियरं च।
परित्तेतरं च दुविहं, पाणगजयणं अतो वोच्छं॥

द्रव्य दो प्रकार के होते हैं—परिनिष्ठित (दूसरों के लिए अचित्त किया हुआ), जीव विप्रमुक्त (मुनियों के लिए अचित्त किया हुआ अर्थात् आधाकर्म)।[4] अथवा द्रव्य दो प्रकार के हैं—जलज और स्थलज। अथवा अचित्त और इतर—सचित्त।[5] अथवा परीत्त और अनन्त। यह आहार विषयक यतना है। आगे पानक विषयक यतना कहूंगा।

२९२२.तुवरे फले अ पत्ते, रुक्ख-सिला-तुप्प-मद्दणाईसु।
पासंदणे पवाए, आयवतत्ते वहे अवहे॥

अध्वगत मुनि को यदि कांजिक आदि प्रासुक पानक प्राप्त न हो तो निम्न पानक—एक के अभाव में दूसरा और दूसरे के अभाव में तीसरा—इस क्रम से ले सकता है।

(१) तुवर फल—हरीतकी आदि तथा तुवरपत्र—पलाशपत्र आदि से परिणामित पानक।
(२) वृक्ष के कोटर में कटुक फल या पत्र से परिणामित।
(३) सिलाजित से भावित।
(४) तुप्प—मृत कलेवर, वशा, घृत से भावित।
(५) मर्दन—हाथी आदि से आक्रांत।
(६) प्रस्यंदन—निर्झर का पानक।
(७) प्रपातोदक।
(८) आतप से तप्त।
(९) अवहमान—जो बहता नहीं है।
(१०) वहमान।

ये पानक क्रमशः लिए जा सकते हैं।

२९२३.जड्डे खग्गे महिसे, गोणे गवए य सूयर मिगे य।
उप्परिवाडी गहणे, चाउम्मासा भवे लहुगा॥

इनके द्वारा आक्रांत पानक (पानी) लिया जा सकता है—हाथी, गेंडा, महिष, गाय, गवय, शूकर, मृग। जो क्रम का

१. विलओलग त्ति देशीपदत्वाद् लुण्टाकाः।
२. कोट्ट—अटवी में भिल्ल, पुलिन्द्र आदि चतुर्वर्णजनपदमिश्र भिल्लदुर्ग।
३. उद्दूढ—देशीवचनत्वात् मुषितं।
४. चूर्णि—परिनिट्ठियं ति जं परकडमचित्तं, जीवजढं ति आहाकम्मं।
५. (क) अचित्तं ति जं नावि परट्ठाए अचित्तीभूयं, नावि संजयट्ठाए, केवलं आयुक्खएण अचित्तं ति॥ चूर्णि
(ख) तीन शब्द हैं—परिनिट्ठित, जीवविप्रमुक्त और अचित्त। तीनों के अर्थ भिन्न हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उल्लंघन कर पानक ग्रहण करता है उसे चार लघुमास का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२९२४.रातो सिज्जा-संथारग्गहणे,
चउरो मासा हवंति उग्घाया।
आणाइणो य दोसा,
विराहणा संजमाऽऽयाए॥

रात्री में जो मुनि शय्या-संस्तारक ग्रहण करता है, उसे चार उद्घात (लघु) मास का प्रायश्चित्त आता है। आज्ञाभंग आदि दोष तथा संयम और आत्मविराधना होती है।

२९२५.छक्कायाण विराहण, पासवणुच्चारमेव संथारे।
पक्खलण खाणु कंटग, विसम दरी वाल गोणे य॥

रात्री में अप्रत्युपेक्षित भूमी में उच्चार-प्रस्रवण का व्युत्सर्ग करने तथा संस्तारक करने से भी षट्काय विराधना होती है। स्थाणु आदि के कारण प्रस्खलन हो सकता है, पैरों में कांटे लग सकते हैं, निम्नोन्नत भूमी पर या गढ्ढों में गिर सकते है, व्याल–सर्प का दंश तथा बलीवर्द का अभिघात हो सकता है।

२९२६.एरंडइए साणे, गोम्मिय आरक्खि तेणगा दुविहा।
एए हवंति दोसा, वेसित्थि-नपुंसएसुं वा॥

हडक्किया–पागल कुत्ता काट सकता है, गौल्मिक आरक्षक–रक्षपाल पकड़ लेते हैं, दो प्रकार के स्तेनकों से वह पीडित हो सकता है। रात में शय्या-संस्तारक ग्रहण करने से ये दोष होते हैं। वेश्यास्त्री तथा नपुंसकों के पाटक में रात्री में शय्या आदि का परिवर्तन करने पर लोगों में अपवाद होता है।

२९२७.सुत्तं निरत्थगं कारणियं, इणमो अद्धाणनिग्गया साहू।
मरुगाण कोट्ठगम्मी, पुव्वद्दिट्ठम्मि संज्झाए॥

शिष्य ने कहा–यदि ऐसा है तो सूत्र निरर्थक है। आचार्य ने कहा–नहीं, यह कारणिकसूत्र है। अध्वनिर्गत साधु सूर्यास्त की वेला में एक गांव में पहुंचे। वहां उन्होंने ब्राह्मणों का कोष्ठक–अध्ययन-कक्ष देखा। उस समय स्वामी वहां नहीं था। संध्या–रात्री में उसके आने पर अनुज्ञा लेकर पूर्वदृष्ट उस कोष्ठक में वे रह जाते हैं।

२९२८.दूरे व अन्नगामो, उव्वाया तेण सावय नदी वा।
दुल्लभ वसहि ग्गामे, रुक्खाइठियाण समुदाणं॥

अध्वगत मुनि जहां जाना चाहते थे, वह अन्य ग्राम दूर निकल गया अथवा वे थक गए थे, इसलिए विश्राम करते हुए चले, चोरों तथा श्वापद का भय था, इसलिए बिना सार्थ आ नहीं पाए या सार्थ विलंब से मिला इसलिए पहुंचने में विलंब हो गया अथवा नदी प्रवाहित हो गई और मध्यवर्ती गांव में गए, वहां वसति दुर्लभ थी अतः वृक्ष आदि के मूल में रहकर सभी सामुदानिक भिक्षा के लिए घूमने लगे।

२९२९.कम्मार-णंत-दारग-कलाय-
सभ भुज्जमाणि दिय दिट्ठा।
तेसु गएसु विसंते,
जहिं दिट्ठा उभयभोमाई॥

घूमते हुए उन मुनियों ने ये स्थान देखे–कर्मारशाला (लोहकारशाला), नन्तकशाला (जुलाहे की शाला), दारक-शाला (पाठशाला), कलादशाला (स्वर्णकारशाला), सभा-स्थल–ये सारे स्थान दिन में उपभोग में आने वाले दृष्टि-गोचर हुए। लोहकार आदि कार्य करने वालों के कार्य पूर्ण हो जाने पर, संध्या समय में उनकी आज्ञा लेकर उन शालाओं में प्रवेश करते हैं। वहां दोनों भूमियां–उच्चार और प्रस्रवण भूमियां प्रत्युपेक्षित कर रात्री में वहां रह जाते हैं।

२९३०.मज्झे व देउलाई, बाहिं व ठियाण होइ अइगमणं।
सावय मक्कोडग तेण वाल मसयाऽयगर साणे॥

मुनि गांव के मध्य देवकुल में ठहरे हुए हैं या गांव के बाहर मंदिर में ठहरे हैं–उन स्थानों से उनका रात्री में अतिगमन–गांव में प्रवेश होता है, क्योंकि लोग कहते हैं–यहां रहने पर श्वापद, मकोड़ों, चोरों, सर्प, मशक, अजगर, कुत्तों आदि का भय रहता है। इन कारणों से वे गांव में जाते हैं।

२९३१.दिवसट्ठिया वि रत्तिं, दोसे मक्कोडगाइए नाउं।
अंतो वयंति अन्नं, वसहिं बहिया व अंतो उ॥

देवकुल आदि स्थानों में दिन में रहे और वहां मकोड़ों आदि दोषों को जानकर ग्राम के अन्दर जाए और वहां अन्य वसति में ठहरे, उसके प्राप्त न होने पर बाहरिका में स्थित देवकुल आदि में चले जाते हैं। दिन में वहां रहे और वहां भी वे ही दोष हों तो बाहरिका से गांव के अन्दर आ जाते हैं।

२९३२.पुव्वट्ठिए व रत्तिं, दट्ठूण जणो भणाइ मा एत्थं।
निवसह इत्थं सावय-तक्करमाइ उ अहिलिंति॥
२९३३.इत्थी नपुंसओ वा, खंधारो आगतो त्ति अइगमणं।
गामाणुगामि एहि वि, होज्ज विगालो इमेहिं तु॥

देवकुल आदि में पूर्वस्थित साधुओं को रात्री में देखकर लोग कहते हैं–यहां मत रहो। यहां श्वापद, तस्कर आदि आते हैं। यहां रात्री में स्त्री, नपुंसक तथा स्कंधावार आदि आते हैं। यह सुनकर वे बाहरिका से गांव में प्रवेश करते हैं। ग्रामानुग्राम विहरण करने वाले मुनियों के लिए भी इन कारणों से विकाल–रात्री हो सकती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२९३४.वितिगिट्ठ तेण सावय,
फिडिय गिलाणे व दुब्बल नई वा।
पडिणीय सेह सत्थे,
न उ पत्ता पढमबिइयाई॥

मासकल्प के पश्चात् जिस गांव में जाना है, वह व्यतिकृष्ट–दूर है, मार्ग में स्तेनों और श्वापदों का भय है, मार्ग से भटक गए हों, ग्लान और दुर्बल मुनि साथ में हैं, नदी का पूर आ गया हो, प्रत्यनीक ने मार्ग अवरुद्ध कर दिया हो, कोई शैक्ष प्राप्त होने वाला हो, वह जिसके साथ आ रहा है वह सार्थ मंदगति से आ रहा है–इन कारणों से प्रथम द्वितीय या तृतीय-चतुर्थ प्रहर में भी वे वहां पहुंच नहीं सके अर्थात् रात्री में वहां पहुंचते हैं। उनको भी गांव में विधिपूर्वक प्रवेश करना चाहिए, अविधि से नहीं।

२९३५.अइगमणे अविहीए, चउगुरुगा पुव्ववन्निया दोसा।
आणाइणो विराहण, नायव्वा संजमाऽऽयाए॥

अविधि से अतिगमन–प्रवेश करने पर चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त तथा पूर्ववर्णित दोष (षट्कायविराधना आदि), आज्ञाभंग तथा संयम और आत्मविराधना आदि दोष ज्ञातव्य हैं।

२९३६.सव्वे वा गीयत्था, मीसा वा अजयणाए चउगुरुगा।
आणाइणो विराहण, पुव्विं पविसंति गीयत्था॥

यदि सभी मुनि गीतार्थ हों तो सभी प्रवेश करते हैं यदि मिश्र हों और अयतना से प्रवेश करते हैं तो चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त, आज्ञाभंग आदि दोष तथा संयम और आत्म-विराधना होती है। उसमें यतना यह है–गीतार्थ पहले प्रवेश करते हैं।

२९३७.जइ सव्वे गीयत्था, सव्वे पविसंति ते वसहिमेव।
विहि अविहीए पवेसो, मिस्से अविहीइ गुरुगा उ॥

यदि सभी गीतार्थ हों तो सभी एक साथ वसति में प्रवेश करते हैं। यदि अगीतार्थमिश्र हों तो विधि या अविधि से प्रवेश होता है। अविधि से प्रवेश करने पर चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त आता है।

२९३८.विप्परिणामो अप्पच्चओ य दुक्खं च चोदणा होइ।
पुरतो जयणाकरणे, अकरणे सव्वे वि खलु चत्ता॥

गीतार्थ मुनि यदि ज्योति दीपक आदि स्वयं लाने की यतना करते हैं तो शैक्ष मुनियों के मन में विपरिणाम होता है और उनमें गीतार्थ मुनियों के प्रति अविश्वास हो जाता है। फिर उन शैक्ष मुनियों को सामाचरी की यथार्थ पालना के लिए प्रेरणा देना कष्टप्रद हो जाता है। और यदि गीतार्थ मुनि ज्योति–दीपक आदि की यतना नहीं करते हैं तो आचार्य आदि सभी परित्यक्त हो जाते हैं, क्योंकि दीपक के अभाव में सर्पदंश, श्वाभक्षण आदि आत्मविराधना होती है।

२९३९.बाहिं काऊण मिए, गीया पविसंति पुंछणे घेत्तुं।
देउल सभ परिभुत्ते, मग्गंति सजोइए चेव॥

जो मृग–अगीतार्थ मुनि हों, उनको गांव के बाहर बिठाकर गीतार्थ मुनि प्रोंछन–दारुदंडक लेकर पहले गांव में प्रवेश करे और देवकुल, सभा आदि, जो काम में ली जा रही हैं, जो ज्योति–दीप सहित हों, उनकी याचना करे। (यदि ज्योति न हो तो गृहस्थों से कहे या स्वयं जाकर लाएं। फिर उच्चार आदि भूमी की प्रत्युपेक्षा कर बहिस्थित मुनियों को बुला लें।)।

२९४०.परिभुज्जमाण असई, सुन्नागारे वसंति सारविए।
अहुणुव्वासिय सकवाड निब्बिले निच्चले चेव॥

यदि परिभुज्यमान वसति की प्राप्ति न हो तो 'सारवित'–प्रमार्जित शून्यगृह जो अभी-अभी शून्य हुआ है, जो कपाट-सहित, बिलरहित और निश्चल है, उसकी गवेषणा करे।

२९४१.जइ नाणयंति जोइं, गिहिणो तो गंतु अप्पणा आणे।
कालोभयसंथाराण भूमिओ पेहए तेणं॥

यदि गृहस्थ ज्योति नहीं लाते हैं तो गीतार्थ मुनि स्वयं ले आए। उस प्रकाश में कालभूमी, संज्ञाभूमी, कायिकीभूमी तथा संस्तारकभूमी–इन चारों की प्रत्युपेक्षा करे।

२९४२.असई य पईवस्सा, गोवालाकंचु दारुदंडेणं।
बिल पुंछणेण ढक्कण, मंतेण व जा पभायं तु॥

यदि प्रदीप की व्यवस्था न हो तो मुनि गोपालकंचुक को धारण कर दारुदंडक से वसति का प्रमार्जन करे। वहां बिलों को पादप्रोंछन से ढंक दे, अथवा मंत्र से सर्प आदि का स्तंभन करे और प्रातः होते ही पादपोंछन आदि को निकाल ले।

२९४३.एमेव य भूमितिए, हरियाई खाणु-कंट-बिलमाई।
दोसदुगवज्जणट्ठा, पेहिय इयरे पवेसंति॥

पूर्वोक्त विधि गीतार्थ मुनियों की है। साथ में अगीतार्थ मुनि हों तो उनको गांव के बाहर स्थापित कर गीतार्थ मुनि गांव में प्रवेश कर वसति को प्राप्त कर, वहां भूमीत्रिक अर्थात् संज्ञाभूमी, कायिकीभूमी और कालभूमी–इन तीनों भूमियों की प्रत्युपेक्षा करे, हरियाली, स्थाणु, कंटक, बिल आदि प्रत्युपायों तथा दोषद्वय–संयम और आत्मविराधना के वर्जन के लिए पूरी वसति का निरीक्षण कर बहिस्थित अगीतार्थ मुनियों को गांव में बुला ले।

२९४४.ठाणासई य बाहिं, तेणगदोच्चा व सव्वे पविसंति।
गुरुगा उ अजयणाए, विप्परिणामाइ ते चेव॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यदि गांव के बाहर स्थान न मिले और वहां स्तेनों का भय हो तो सभी मुनि एक साथ गांव में प्रवेश कर लें। अयतना होने पर चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त तथा विपरिणाम, अविश्वास आदि वे ही दोष होते हैं।

२९४५.अविगीयविमिस्साणं, जयण इमा तत्थ अंधकारम्मि।
आणणऽणाभोगेणं, अणागयं कोइ वारेइ॥

अंधकारमय वसति में अगीतार्थमिश्र मुनियों की यह यतना है—अगीतार्थ मुनि न जान पाएं, इस प्रकार अन्य किसी बहाने प्रदीप मंगाया जाए। यदि गृहस्थ न लाए तो उसके घर जाकर कहा जाए, जिससे कि वह दीप लेकर आए। यदि कोई उसकी वर्जना करता है तो उसे शिक्षा दे।

२९४६.अम्हेहि अभणिओ अप्पणो णु आओ णु अम्ह अट्ठाए।
आणेइ इहं जोइं, अयगोलं मा निवारेह॥

यदि कोई गृहस्थ वहां दीपक लेकर आता है और कोई मुनि उसकी वर्जना करता है तो मुनि को कहना चाहिए—हमने इसको दीपक लाने के लिए नहीं कहा है। यह अपने प्रयोजन के लिए अथवा हमारे लिए यहां दीपक ला रहा है तो हमें इसकी चिन्ता क्यों करनी चाहिए? गृहस्थ लोहे के गोले के समान होता है। इसकी वर्जना मत करो।

२९४७.गिहिणं भणंति पुरओ,
अइतमसमिणं न पस्सिमो किंचि।
आणंति जइ अवुत्ता,
तहेव जयणा निवारंते॥

यदि गृहस्थ स्वयं वहां दीपक नहीं लाते तो मुनि उनको कहते हैं—वसति में बहुत अंधेरा है। वहां कुछ भी दिखाई नहीं देता। यदि ऐसा कहे बिना भी वे प्रदीप ले आते हैं तो बहुत अच्छा। जो उसकी वर्जना करता है उसके प्रति वही यतना—प्रेरणा है।

२९४८.गंतूण य पन्नवणा, आणण तह चेव पुव्वभणियं तु।
भणण अदायण असई, पच्छायण मल्लगाईसु॥

इतना कहने पर भी यदि गृहस्थ न समझे तो जाकर मुनि उन्हें स्पष्टरूप से प्रज्ञापित करे। तब वे यदि प्रदीप लाते हैं और कोई मुनि वर्जना करता है तो पूर्वोक्त विधि से मुनि को समझाए। यदि कोई मुनि गृहस्थ से कहे—प्रदीप ले आओ और दूसरा मुनि उस मुनि से कहे—यह सावद्य प्रवृत्ति क्यों कराते हो? तब उसके समक्ष मिथ्या दुष्कृत कहना चाहिए। यदि गृहस्थ प्रदीप लाना नहीं चाहता है तो गीतार्थ मुनि प्रदीप को मल्लक आदि से ढंक कर ले आए, जिससे कि वह अगीतार्थ मुनियों को दृष्टिगोचर न हो।

२९४९.गिहि जोइं मग्गंतो, मिगपुरओ भणइ चोइओ इणमो।
णाभोगेण मउत्तं, मिच्छाकारं भणामि अहं॥

यदि कोई मुनि अगीतार्थ मुनियों के सामने गृहस्थ से प्रदीप की मांग करता है और कोई अगीतार्थ मुनि उसे कहता है—यह सावद्य प्रवृत्ति क्यों कराते हो? तब मुनि कहता है—मैंने अज्ञात अवस्था में ऐसा कह दिया। मैं उसका 'मिच्छामि दुक्कडं' कहता हूं।

२९५०.एमेव जइ परोक्खं, जाणंति मिगा जहेइणा भणिओ।
तत्थ वि चोइज्जंतो, सहसाऽणाभोगओ भणइ॥

इसी प्रकार कोई मुनि अगीतार्थ मुनियों के परोक्ष में गृहस्थ को इस सावद्य प्रवृत्ति के लिए कहता है और वे अगीतार्थ मुनि इसे जान जाते हैं कि इस मुनि ने गृहस्थ को कहा है, और वह मुनि उस मुनि को सावद्य प्रवृत्ति न करने की प्रेरणा देता है तो वह मुनि कहता है—मैंने सहसाकार या अजानकारी में कह दिया। इसका मैं 'मिच्छामि दुक्कडं' करता हूं।

२९५१.गिहिगम्मि अणिच्छंते, सयमेवाणेइ आवरित्ताणं।
जत्थ दुगाई दीवा, तत्तो मा पच्छकम्मं तु॥

गृहस्थ प्रदीप लाना नहीं चाहता तो मुनि स्वयं जाकर प्रदीप को आवृत कर ले आता है। वह वैसे घर से दीपक लाता है जहां दो-तीन दीपक जल रहे हों। जहां केवल एक ही दीपक हो उस घर से दीपक न लाए क्योंकि वहां पश्चात्कर्म की संभावना रहती है।

२९५२.उज्जोविय आयरिओ, किमिदं अहगं मि जीवियट्ठीओ।
आयरिए पन्नवणा, नट्ठो य मओ य पव्वइओ॥

प्रतिश्रय के उद्योतित होने पर आचार्य मुनि को कहते हैं—'यह तुमने क्या किया?' वह कहता है—'मैं आज भी जीवितार्थी हूं।' तब आचार्य (मायापूर्वक) उसे कहते हैं—प्रव्रजित होकर ऐसा कार्य करते हो तो सन्मार्ग से परिभ्रष्ट और मृत—संयम जीवन से रहित हो। कैसा है तुम्हारा जीवित रहना?

२९५३.तस्सेव य मग्गेणं, वारणलक्खेण निंति वसभा उ।
भूमितियम्मि उ दिट्ठे, पच्चप्पिय मो इमा मेरा॥

उसी प्रदीप लाने वाले साधु के निवारण के मिष से उसके पीछे वृषभ निर्गत होते हैं। भूमीत्रिक को देख लेने पर तथा प्रदीप को प्रत्यर्पित कर देने पर यह मर्यादा है, सामाचारी है।

२९५४.खरंटण वेंटिय भायण,
गहिए निक्खिवण बाहि पडिलेहा।
वसभेहि गहियचित्ता,
इयरे पसाइंति कल्लाणं॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य उस मुनि की खरंटना करे। वह मुनि अपने उपकरण और पात्र लेकर बाहर चला जाए। यह उसको गच्छ से पृथक् करना केवल बहाना मात्र है। वह बाहर रहकर प्रत्युपेक्षा तथा प्रतिक्रमण करता है। वृषभ भावना को समझते हुए तथा इतर मुनि आचार्य को प्रसन्न करते हैं और तब आचार्य उस मुनि को पांच कल्याणक का प्रायश्चित्त देकर गच्छ में सम्मिलित कर लेते हैं।

२९५५.तुम्ह य अम्ह य अट्ठा, एसमकासी न केवलं सभया।
खामेमु गुरुं पविसउ, बहुसुंदरकारओ अम्हं॥

वृषभ तथा इतर मुनि आचार्य से कहते हैं—आर्य! इस मुनि ने आपके लिए तथा हम सबके लिए ऐसा किया था, केवल स्वयं के भयनिवारण के लिए नहीं। अतः आप इसे पुनः गच्छ में प्रवेश दें, हम सब आपसे क्षमायाचना करते हैं। यह हम सबके लिए बहुत कल्याणकारक हुआ है, मुनि भी और प्रतिश्रय भी।

(गुरु कहते हैं—ओह! तुम सभी उसके पक्षधर हो गए।)

२९५६.अन्ने वि विद्दवेहिइ, अलमज्जो! अहव तुब्भ मरिसेमि।
तेसिं पि होइ बलियं, अकज्जमेयं न य तुदंति॥

गुरु कहते हैं—आर्य! यह मुनि इस प्रकार करता हुआ अन्य मुनियों को भी बिगाड़ देगा। अब इससे हमारा बहुत हो चुका। (साधु कहते हैं—गरुदेव! अब आगे यह इस प्रकार नहीं करेगा। आप इसे एक बार क्षमा करें।) आचार्य कहते हैं—यदि ऐसा है तो मैं तुम्हारी बात मानकर इसे गच्छ में लेता हूं।' यह सब सुनकर अन्यान्य अगीतार्थ मुनियों के भी यह भावना अत्यंत हृदय में समा जाती है कि ऐसा करना अकार्य है। फिर उनको सावद्य कार्य न करने की प्रेरणा देने पर वे व्यथा का अनुभव नहीं करते।

२९५७.एसो विही उ अंतो, बाहि निरुद्धे इमो विही होइ।
सावय तेणय पडिणीय देवयाए विही ठाणं॥

यह विधि ग्राम में प्रविष्ट मुनियों के लिए कही गई है। ग्राम के बहिस्थित मुनियों की यह विधि होती है। अध्वनिर्गत मुनि विकाल में ग्राम पहुंचे। उस समय नगरद्वार निरुद्ध अर्थात् बंद हो गए। उस कारण से उन्हें बाहर रुकना पड़ा। यदि वहां श्वापद, स्तेन तथा प्रत्यनीक का भय हो तो देवता को आहूत करने के लिए विधिपूर्वक स्थान—कायोत्सर्ग करे। तथा कपाटवाले भूमीगृह अथवा देवकुल में ठहरे। वे स्थान कपाटवाले न मिले तो आवरणरहित स्थान में रहे। वे विद्या द्वारा द्वार को स्थगित कर दे, विद्या द्वारा दिशाओं को बांध दे, जिससे कि श्वापद आदि प्रवेश न कर सकें। विद्या के अभाव में अचित्त कंटक आदि से, उसके अभाव में मिश्र कंटक, उसके अभाव में सचित्त कंटक आदि से द्वार को स्थगित करे। उसके अभाव में 'गुरु आणा'—गुरु आज्ञा अर्थात् भगवती आज्ञा की प्ररूपणा यह है—आचार्य आदि के मारणान्तिक उपसर्ग उपस्थित होने पर जो मुनि समर्थ हो, वह अपने सामर्थ्य के अनुसार उस उपसर्ग के निवारण के लिए पराक्रम करे।

२९५८.भूमिघर देउले वा, सहियावरणे व रहियआवरणे।
रहिए विज्जा अच्चित्त मीस सच्चित्त गुरु आणा॥

२९५९.सकवाडम्मि उ पुव्विं, तस्सऽसई आणइंति उ कवाडं।
विज्जाए कंटियाहि व, अचित्त-चित्ताहि वि ठयंति॥

पहले सकपाटवाले भूमीगृह अथवा देवकुल में ठहरें। उसके अभाव में अकपाटवाले स्थान में ठहर कर अन्य स्थान से कपाट लाए। कपाट न मिलने पर विद्या से द्वार का स्थगन कर, या अचित्त, मिश्र या सचित्त कंटकों से स्थगित करे।

२९६०.एएसिं असईए, पागार वई व रुक्ख नीसाए।
परिखेव विज्ज अच्चित्त मीस सच्चित्त गुरु आणा॥

भूमीगृह या देवकुल आदि न मिलने पर प्राकार, वृत्ति या वृक्ष की निश्रा में रहें। वहां भी विद्या से परिक्षेप का निर्माण करे। उसके अभाव में क्रमशः अचित्त, मिश्र या सचित्त कंटकों से परिक्षेप करे। गुरु आज्ञा इस प्रकार है।

२९६१.गिरि-नइ-तलागमाई, एमेवागम ठएंति विज्जाई।
एग दुगे तिदिसिं वा, ठएंति असईए सव्वत्तो॥

गिरि या नदी या तालाब आदि की निश्रा में रहे। इनमें जहां एक ही प्रवेश हो वहां रहे, उसके अभाव में दो दिशाओं अथवा तीन दिशाओं में प्रवेश हो वहां भी रहा जा सकता है। उनके आगम—प्रवेशमुख को विद्या आदि से स्थगित करे। इनके अभाव में खुले आकाश में रहना पड़े तो सभी ओर से विद्याप्रयोग से स्थगन करे या दिशा-बंध करे।

२९६२.नाउमगीयं बलिणं, अविजाणंता व तेसि बलसारं।
घोरे भयम्मि थेरा, भणंति अविगीयथेज्जत्थं॥

२९६३.आयरिए गच्छम्मि य,कुल गण संघे य चेइय विणासे।
आलोइयपडिकंतो, सुद्धो जं निज्जरा विउला॥

खुले आकाश में स्थित मुनि किसी अगीतार्थ मुनि के समर्थ जानकर अथवा साथवाले मुनियों के बलसार को जानते हुए, घोर भय उपस्थित होने पर स्थविर आचार्य अगीतार्थ मुनियों के स्थिरीकरण के लिए कहते हैं आचार्य, गच्छ, कुल, गण, संघ या चैत्य का विनाश उपस्थित होने पर उसका निवारण करने के लिए जो साधु पराक्रम करता है और उसमें कोई दोष होता है, वे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आलोचना, प्रतिक्रमण करने से शुद्ध हो जाता है और उसके विपुल निर्जरा होती है।

२९६४.सोऊण य पन्नवणं, कयकरणस्सा गयाइणो गहणं।
सीहाई चेव तिंग, तवबलिए देवयट्ठाणं॥

आचार्य की यह प्रज्ञापना सुनकर कृतकरण मुनि गदा आदि लेकर रात को जागता रहता है। वह सिंहत्रिक को भगा देता है या मार डालता है। उसके अभाव में जो मुनि तपोबलिक होता है, वह देवता को आहूत करने कायोत्सर्ग करता है।

(सभी मुनि सो रहे थे। एक कृतकरण मुनि हाथ में गदा लेकर जाग रहा था। इतने में एक सिंह आ गया। मुनि ने उस पर प्रहार किया। वह वहां से कुछ दूरी पर गिरा और मर गया। दूसरा सिंह आया। मुनि ने सोचा, वही सिंह पुनः आ गया है। उस पर तीव्रता से प्रहार किया। वह भी कुछ दूर जाकर मर गया। तीसरा सिंह आया। मुनि ने तीव्रतम प्रहार किया और वह भी मर गया। रात्री सुखपूर्वक बीत गई।)

२९६५.हंत म्मि पुरा सीहं, खुड्डयाइ इयाणि मंदथामो मि।
तिन्नाऽऽवाए सीहो, रत्तिं, पहओ मया न मओ॥

प्रातः वह गुरु के पास जाकर बोला–भंते! पहले मेरा शरीर शक्तिसंपन्न था। मैंने खुड्डका (हाथ के चपेटा) मात्रा से सिंह को मार डाला था। अब मेरे शरीर की शक्ति मंद हो गई है। रात्री में एक सिंह तीन बार आया। मैंने उस पर तीन बार प्रहार किया, वह मरा नहीं, भाग गया। गुरु ने उसे मिच्छामि दुक्कडं का दंड दिया, क्योंकि उसका परिणाम शुद्ध था।

२९६६.निंतेहिं तिन्नि सीहा, आसन्ने नाइदूर दूरे य।
निग्गयजीहा दिट्ठा, स चावि पुट्ठो इमं भणइ॥

प्रभात में बाहर जाते समय आचार्य ने तीन सिंहों को मरे हुए देखा। उन तीनों की जिह्वा बाहर निकली हुई थी। एक सिंह निकट ही मरा पड़ा था, दूसरा कुछ दूरी पर और तीसरी उससे आगे मरा पड़ा था। आचार्य ने उस मुनि से पूछा–ये तीन सिंह कैसे मरे? वह बोला–

२९६७.मा मरिहिइ त्ति गाढं, न आहओ तेण पढमओ दूरे।
गाढतर बिइय तइओ, न य मे नायं जहऽन्नत्तो॥

भंते! जब पहला सिंह आया, मैंने सोचा–यह मर न जाए इसलिए उस पर गाढ़ प्रहार नहीं किया, हल्का प्रहार किया। वह बहुत दूर जाकर मर गया। दूसरी बार सिंह आया। मैंने सोचा वही पुनः आ गया है, इसलिए उस पर गाढ़ प्रहार किया वह भी कुछ दूर जाकर मर गया। तीसरी बार सिंह के आने पर मैंने गाढ़तर प्रहार किया, वह निकट भूमी पर ही मर गया। मैं नहीं जान पाया कि ये पृथग्-पृथग् तीन सिंह थे।

२९६८.खमओ व देवयाए, उस्सग्ग करेइ जाव आउट्टा।
रक्खामि जा पभायं, सुवंतु जइणो सुवीसत्था॥

ऐसे कृतकरण मुनि के अभाव में मुनि देवता को आहूत करने के लिए कायोत्सर्ग करे। जब वह देवता आराधित हो जाता है, तब आकर कहता है–मुनिवर्य! आप कायोत्सर्ग को संपन्न करें। प्रभात होने तक मैं आप सबकी श्वापदों से रक्षा करूंगा। आप सभी मुनि विश्वस्त होकर सुखपूर्वक सोएं।

२९६९.जह सेज्जाऽणाहारो, वत्थादेमेव मा अइपसंगा।
दियदिट्ठवत्थगहणं, कुज्जा उ निसिं अतो सुत्तं॥

जैसे शय्या–वसति अनाहार है इसी प्रकार वस्त्र भी अनाहार है इसलिए रात्री में उनको ग्रहण करना कल्पता है। अतः अतिप्रसंग से दिन में देखा हुआ वस्त्र रात्री में ग्रहण न कर ले इसलिए यह सूत्र है।

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा रातो वा वियाले वा वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा पडिग्गाहेत्तए।

नऽन्नत्थ एगाए हरियाहडियाए। सा वि य परिभुत्ता वा धोया वा रत्ता वा घट्टा वा मट्ठा वा संपधूमिया वा॥[1]

(सूत्र ४३)

२९७०.रातो वत्थग्गहणे, चउरो मासा हवंति उग्घाया।
आणाइणो य दोसा, आवज्जण संकणा जाव।

रात्री में वस्त्र ग्रहण करने पर चार अनुद्घात मास का प्रायश्चित्त, आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं यावत् पांचों महाव्रतों के प्रति आपत्ति तथा शंका उत्पन्न होती है।

२९७१.बिइयं विहे विवित्ता, पडिसत्थाई समिच्च रयणीए।
ते य पए च्चिय सत्था, चलिहिंतुभए व इक्को वा॥

उत्सर्गतः रात्री में वस्त्र-ग्रहण करना नहीं कल्पता, किन्तु द्वितीयपद–अपवाद में इन कारणों से ग्रहण किया जा सकता है। अध्वनिर्गत होने पर मार्ग में, चोरों द्वारा लूटे जाने पर या प्रतिसार्थवाह को प्राप्त कर रात्री में वस्त्र लिया जाता है। प्रातःकाल होते ही सार्थ और प्रतिसार्थ दोनों चले जायेंगे या दोनों में से कोई एक रवाना हो जाएगा यह सोचकर रात्री में वस्त्र ग्रहण करते हैं।

१. वृत्तिकृता एतत् स्वतंत्रसूत्रं स्वीकृतम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२९७२.उद्दद्दरे सुभिक्ख, अद्धाणपवज्जणं तु दप्पेण।
लहुगा पुण सुद्धपदे, जं वा आवज्जई जत्थ॥

ऊर्ध्वदर और सुभिक्ष के चार भंग होते हैं–

(१) ऊर्ध्वदर तथा सुभिक्ष।
(२) ऊर्ध्वदर असुभिक्ष।
(३) सुभिक्ष न ऊर्ध्वदर।
(४) न ऊर्ध्वदर और न सुभिक्ष।

इनमें दूसरे और चौथे भंग में अध्वगमन करना चाहिए। पहले और तीसरे भंग में दर्प से कोई अध्वगमन करता है तो शुद्धपद में भी चतुर्लघु का प्रायश्चित्त है तथा संयमविराधना आदि होने पर तन्निष्पन्न प्रायश्चित्त भी आता है।

२९७३.नाणट्ठ दंसणट्ठा, चरित्तट्ठा एवमाइ गंतव्वं।
उवगरण पुव्वपडिलेहिएण सत्थेण गंतव्वं॥

प्रथम तथा तृतीय भंग में इन कारणों से गमन विहित है–ज्ञान के लिए, दर्शन के लिए तथा चारित्र के लिए। गमन करने वाले–जाने वाले तलिकादि उपकरण लेकर जाएं तथा पूर्व प्रत्युपेक्षित सार्थ के साथ जाए।

२९७४.सत्थे विविच्चमाणे, असंजए संजए तदुभए य।
मग्गंते जयण दाणं, छिन्नं पि हु कप्पई घेतुं॥

चार प्रकार के स्तेन (चोर) होते हैं–

१. असंयतप्रान्त ३. उभयप्रान्त
२. संयतप्रान्त ४. उभयभद्रक।

असंयतप्रान्त स्तेन सार्थ को लूटते समय साथ वाले मुनियों से वस्त्र मांगते हैं। उस समय यतनापूर्वक दान करना चाहिए। वे स्तेन यदि फाड़ा हुआ वस्त्र भी प्रत्यर्पित करें तो उसे ग्रहण करना कल्पता है।

२९७५.संजयभद्दा गिहिभद्दगा य पंतोभए उभयभद्दा।
तेणा होंति चउद्धा, विगिंचणा दोसुं तू जइणं॥

स्तेन चार प्रकार के होते हैं–

१. संयतभद्रक परन्तु गृहस्थप्रान्त।
२. गृहस्थभद्रक परन्तु संयतप्रान्त।
३. दोनों के लिए प्रान्त।
४. दोनों के लिए भद्रक।

दूसरे और तीसरे भंगवर्ती स्तेन यतियों के वस्त्रों का विवेचन–पृथक्करण करते हैं, उनके वस्त्र लूट लेते हैं।

२९७६.जइ देंतऽजाइया जाइया व न वि देंति लहुग गुरुगा य।
सागार दाण गमणं, गहणं तस्सेव नऽन्नस्स॥

गृहस्थों के वस्त्र लूट लिए जाने पर यदि मुनि गृहस्थों के बिना मांगे ही उनको वस्त्र देते हैं तो चतुर्लघु का प्रायश्चित्त आता है और यदि मांगने पर भी नहीं देते हैं तो चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त है। गृहस्थों को प्रातिहारिक कहकर वह वस्त्र दे और जिस पथ से गृहस्थ जाएं, उसी पथ से मुनि विहरण करें। यदि दूसरे मार्ग से जाते हैं तो चतुर्लघु का प्रायश्चित्त आता है। छिन्न हो जाने पर भी उसी वस्त्र का ग्रहण करे, दूसरे वस्त्र का नहीं।

२९७७.दंडपडिहारवज्जं, चोल-पडल-पत्तबंधवज्जं च।
परिजुण्णाणं दाणं, उड्डाह-पओसपरिहरणा॥

उन गृहस्थों को दंडपरिहार अर्थात् अत्यंत जीर्णकम्बल, चोलपट्ट, पडलक तथा पात्रबंध–इनको छोड़कर अन्य परिजीर्ण वस्त्र दे। यह दान गृहस्थों के उड्डाह तथा प्रद्वेष निवारण के लिए होता है।

२९७८.धोयस्स व रत्तस्स व,
अन्नस्स वऽगिण्हणम्मि चउलहुगा।
तं चेव घेत्तु धोउं,
परिभुंजे जुण्णमुज्झेज्जा॥

गृहस्थ यदि उस वस्त्र को धो दे या रंग दे, तो भी उसी का ग्रहण करना चाहिए। दूसरा वस्त्र लेने पर अथवा उस धोए, रंगे वस्त्र को न लेने पर चतुर्लघु का प्रायश्चित्त विहित है। अतः साधु उसी वस्त्र को ग्रहण कर, उसे धोकर, उसका परिभोग करे और जो अतिजीर्ण हो गया हो उसका परिष्ठापन कर दे।

२९७९.सट्ठाणे अणुकंपा, संजय पडिहारिए निसिट्ठे य।
असईअ तदुभए वा, जयणा पडिसत्थमाईसु॥

स्वस्थान अनुकंपा अर्थात् साधुओं के वस्त्र यदि लूट लिए गए हों तो साध्वियां अनुकंपा करे, वस्त्र दें। साधु उनसे प्रातिहारिक वस्त्र ग्रहण करें। यदि साध्वियों के वस्त्र लूट लिए गए हों तो साधुओं के लिए साध्वियां स्वस्थान हैं, अतः उन पर अनुकंपा कर उन्हें वस्त्रदान दें। उनको प्रातिहारिक वस्त्र नहीं अपने निज के वस्त्र दें। यदि निजक अधिक न हों तो प्रातिहारिक वस्त्र भी दिए जा सकते हैं। यदि साधु-साध्वी–दोनों के वस्त्र लूट लिए गए हों तो प्रतिसार्थ आदि में वस्त्रान्वेषण की यतना करनी चाहिए।

२९८०.न विवित्ता जत्थ मुणी,समणी य गिही य जत्थ उद्दूढा।
सट्ठाणऽणुकंप तहिं, समणुन्नियरासु वि तहेव॥

जहां साधुओं के वस्त्र नहीं लूटे गए किन्तु साध्वियां और गृहस्थों के वस्त्र लूट लिए गए हों तो स्वस्थान अर्थात् साध्वी वर्ग के प्रति अनुकंपा कर साधु उनको वस्त्रदान करे। साध्वियां दो प्रकार की हैं–समनोज्ञ[1] (सांभोगी) और

१. समनोज्ञ–समनोज्ञया-परस्परसदृशया सामाचार्या वर्त्तन्ते इति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अमनोज्ञ (असांभोगी)। दोनों के लिए पर्याप्त वस्त्र हों तो दोनों को दे अन्यथा स्वस्थान अर्थात् समनोज्ञ साध्वियों को दे।

२९८१.लिंगट्ठ भिक्ख सीए, गिण्हंती पाडिहारियमिमेसु।
अमणुन्नियरगिहीसुं, जं लद्धं तन्निभं दिंति॥

यदि साधु लूटे जा चुके हों[1] तो वे लिंग के लिए रजोहरण और मुखवस्त्रिका, भिक्षा के लिए पात्रबंध और पटलक आदि तथा शीतरक्षा के लिए प्रावरण आदि प्रातिहारिक रूप में अमनोज्ञ या पार्श्वस्थ आदि से तथा गृहस्थों से ले सकते हैं। चोलपट्ट आदि जब प्रातिहारिक के सदृश प्राप्त हो उसे ग्रहण कर अमनोज्ञ आदि को प्रत्यर्पित कर दे।

२९८२.उद्दूढे व तदुभए, सपक्ख परपक्ख तदुभयं होइ।
अहवा वि समण समणी, समणुन्नियरेसु एमेव॥

दोनों के मुषित होने पर यहां तदुभय (अर्थात् दोनों) के ये अर्थ हैं—स्वपक्ष और परपक्ष। अथवा श्रमण और श्रमणियां। अथवा समनोज्ञ और अमनोज्ञ।

२९८३.अमणुन्नेतर गिहि-संजईसु असइ पडिसत्थ-पल्लीसु।
तिण्हऽट्ठाए गहणं, परिहारिय एतरे चेव॥

अमनोज्ञ, इतर अर्थात् पार्श्वस्थ आदि, गृहस्थ, साध्वी—इनके वस्त्रों को चुरा लिए जाने पर ये प्रतिसार्थ अथवा पल्ली में वस्त्र की एषणा करे। तीन कार्यों के लिए प्रतिहारिक या निसृष्ट वस्त्र ग्रहण करे—लिंग, भिक्षा और शीतपरित्राण।

२९८४.एवं तु दिया गहणं, अहवा रत्तिं मिलेज्ज पडिसत्थो।
गीएसु रत्ति गहणं, मीसेसु इमा तहिं जयणा।

इस प्रकार वस्त्र-ग्रहण दिन में करे। यदि रात्री में प्रतिसार्थ मिले और वहां सभी गीतार्थ हों तो रात्री में भी ग्रहण करे। यदि मुनि मंडली अगीतार्थमिश्र हो तो यह यतना है।

२९८५.वत्थेण व पाएण व, निमंतएऽणुग्गए व अत्थमिए।
आइच्चो उदिउ त्ति य, गहणं गीयत्थसंविग्गे॥

प्रतिसार्थ में यदि कोई सूर्योदय से पूर्व अथवा सूर्यास्त के पश्चात् वस्त्र अथवा पात्र-ग्रहण के लिए निमंत्रण दे और वह सार्थ यदि रात्री में ही प्रस्थान कर रहा हो तो वे गीतार्थ-संविग्न मुनि रात्री में ही वस्त्र ग्रहण कर सूर्योदय के समय मुनि मंडली से मिल जाते हैं।

२९८६.खंडे पत्ते तह दब्भचीवरे तह य हत्थपिहणं तु।
अद्धाणविवित्ताणं, आगाढं सेसऽणागाढं॥

साध्वियों के यदि वस्त्र लूट लिए गए हों तो उन्हें चर्मखंड या शाकपत्र आदि पहनने के लिए देने चाहिए। अथवा दर्भ को सघनरूप से ग्रथित कर अर्पित करना चाहिए। सर्वथा परिधान के अभाव में साध्वियां अपने गुह्यस्थान को हाथ से ढंक लें। अध्वगत मुषित साध्वियों का यह आगाढ़कारण है, शेष अनागाढ़कारण है।

२९८७.असईय निग्गया खुड्डगाइ पेसंति चउसु वग्गेसु।
अप्पाहिंति वऽगारं, साहुं व वियारमाइगयं॥

प्रतिसार्थ अथवा पल्ली में वस्त्रों की प्राप्ति न होने पर अध्वनिर्गत साधु-साध्वी उद्यान में पहुंच कर क्षुल्लक मुनि या क्षुल्लिका साध्वी को गांव में इन चार वर्गों—संयत, संयती, श्रावक, श्राविका के पास भेजकर वस्तुस्थिति बतानी चाहिए। यदि क्षुल्लक साधु-साध्वी न हों तो गांववासी किसी गृहस्थ को अथवा गांव से विचारभूमी में आए हुए मुनि के साथ संदेश भेजना चाहिए कि गांव के बाहर साधु-साध्वी स्थित हैं। मार्ग में उनके वस्त्र लूट लिए गए हैं। अतः उनके लिए योग्य वस्त्रों की व्यवस्था करें।

२९८८.खुड्डी थेराणऽप्पे, आलोगितरी ठवित्तु पविसंति।
ते वि य घेत्तुमइगया, समणुन्नजढे जयंतेवं॥

(जहां साध्वियां साधुओं को और साधु साध्वियों के लिए वस्त्र ले जाते हैं वहां यह विधि है—)

क्षुल्लिका साध्वी स्थविर साधु को वस्त्र दे आती है। क्षुल्लिका न हो तो मध्यमा या तरुण साध्वियां स्थविर साधुओं के आलोक में वस्त्रों को स्थापित कर गांव में प्रवेश कर जाती हैं। (इसी प्रकार क्षुल्लक मुनि या अन्य मुनि स्थविरा साध्वी के पास वस्त्र स्थापित कर आते हैं।) वे मुनि साध्वी द्वारा दत्त वस्त्रों को पहन कर गांव में जाते हैं, वहां स्वयोग्य वस्त्रों का उत्पादन कर पहले वाले वस्त्र साध्वियों को पुनः अर्पित कर देते हैं। जहां समनोज्ञ मुनि न हों वहां यह यतना है।

२९८९.अद्धाणनिग्गयाई, संविग्गा सन्नि दुविह अस्सण्णी।
संजइ एसणमाई, असंविग्गा दोण्णि वी वग्गा॥

अध्वनिर्गत आदि, संविग्न, संज्ञी—श्रावक, असंज्ञी—दो प्रकार के। संयती, एषणा आदि, असंविग्न के दोनों वर्ग। (यह निर्युक्ति गाथा है। व्याख्या आगे की गाथाओं में)।

२९९०.संविग्गेतरभाविय, सन्नी मिच्छा उ गाढऽणागाढे।
असंविग्ग मिगाहरणं, अभिग्गहमिच्छेसु विस हीला॥

संज्ञी दो प्रकार के हैं—संविग्नभावित और असंविग्न-भावित। मिथ्यादृष्टि के भी दो प्रकार हैं—आगाढ़मिथ्यादृष्टि और अनागाढ़मिथ्यादृष्टि। सबसे पहले संविग्नभावित संज्ञी—श्रावकों में वस्त्र की एषणा करे, वहां न मिलने पर अनागाढ़ मिथ्यादृष्टि से वस्त्र प्राप्त करे, किन्तु असंविग्नभावित या आगाढ़मिथ्यादृष्टि से याचना न करे। क्योंकि

१. उद्दूढ—देशीशब्द, मुषित—लूट लिए गए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

असंविग्नभावित व्यक्ति अकल्प्य वस्त्र दे सकता है। यहां 'लुब्धक' का दृष्टांत (गाथा १६०७ वत्) जानना चाहिए। आभिग्राहिक मिथ्यादृष्टि व्यक्ति विष दे सकता है, हीलना कर सकता है।

२९९१.असंविग्गभाविएसुं, आगाढेसुं जयंति पणगादी।
उवएसो संघाडग, पुव्वग्गहियं व अन्नेसु॥

असंविग्नभावित से वस्त्र ग्रहण करे। उनके अभाव में आगाढ़मिथ्यादृष्टि से वस्त्र ग्रहण करे, यदि आत्मा तथा प्रवचन का उपघात न हो तो। वहां भी प्राप्त न होने पर पंचक आदि प्रायश्चित्त की परिहानि से संविग्नभावित आदि व्यक्तियों से याचना करे। फिर अन्यतीर्थिक कुलों से, जहां पहले उपदेश दिया था वहां से, पश्चात् संघाटक के पास से, फिर उन्होंने जो वस्त्र पहले से लिए हुए हों, उनमें से ले।

२९९२.उवएसो संघाडग, तेसिं अट्ठाए पुव्वगहियं तु।
अभिनव पुराण सुद्धं, उत्तर मूले सयं वा वि॥

पहले अन्यसांभोगिक के उपदेश से वस्त्र ग्रहण के लिए पर्यटन करे। फिर उसके संघाटक के साथ। यदि वस्त्र प्राप्त न हो तो अन्यसांभोगिक उनके वस्त्रों के लिए पर्यटन करते हैं अथवा उनके द्वारा पूर्वगृहीत वस्त्र लेते हैं। वह वस्त्र नया हो या पुराना—ले लेते हैं। वह मूल-उत्तरगुण शुद्ध हो तो ले, अन्यथा नहीं। इतने पर भी यदि वस्त्र प्राप्त न हो तो कृतकरण मुनि स्वयं कपड़ा बुनकर उपभोग करे।

२९९३.उवएसो संघाडग, पुव्वग्गहियं व निइयमाईणं।
अभिनव पुराण सुद्धं, पुव्वमभुत्तं ततो भुत्तं॥

पार्श्वस्थ तथा नित्यवासी आदि साधुओं के उपदेश से वस्त्र प्राप्त करे। उसके अभाव में उनके ही संघाटक से, उसके अभाव में उन्हीं के द्वारा पूर्वगृहीत, नया या पुराना, शुद्ध, पूर्व अभुक्त वस्त्र ग्रहण करे। उसके अभाव में भुक्त वस्त्र भी लिया जा सकता है।

२९९४.उत्तर मूले सुद्धे, नवे पुराणे चउक्कभयणेवं।
परिकम्मण परिभोगे, न होंति दोसा अभिनवम्मि॥

मूलगुण और उत्तरगुण से विशुद्ध वस्त्र संबंधी चतुर्भंगी।

१. मूलगुण और उत्तरगुण—दोनों से शुद्ध।
२. मूलगुणशुद्ध, उत्तरगुणशुद्ध नहीं।
३. मूलगुणशुद्ध नहीं, उत्तरगुणशुद्ध।
४. दोनों से शुद्ध नहीं।

इन चारों भंगों में प्रत्येक के साथ नये और पुराने वस्त्र विषयक जो चतुर्भंगी होती है, उसकी भजना है। अभिनव वस्त्र में परिकर्म (अविधि से सीए हुए आदि) तथा परिभोग (धोना, सुगंधित करना) आदि दोष नहीं होते।

२९९५.असईय लिंगकरणं, पन्नवणट्ठा सयं व गहणट्ठा।
आगाढे कारणम्मी, जहेव हंसाइणो गहणं॥

इस प्रकार भी यदि वस्त्र-प्राप्ति न हो तो अन्यलिंगी के वेश में उन उपासकों को यह प्रज्ञापित करे कि मुनियों को वस्त्रदान दे अथवा स्वयं अन्यलिंगी का वेश पहनकर वस्त्र का उत्पादन करे, वस्त्र-ग्रहण करे। क्योंकि आगाढ़ कारण में जैसे हंसतैल आदि के ग्रहण की अनुज्ञा है, वैसे ही वस्त्र-ग्रहण की अनुज्ञा भी जान लेनी चाहिए।

२९९६.सेडुय रूए पिंजिय, पेलु ग्गहणे य लहुग दप्पेणं।
तव-कालेहि विसिट्ठा, कारणे अकमेण ते चेव॥

'सेडुग' का अर्थ है कपास। उसका बीज निकाल देने पर रूई होती है। उसको पिंजित कर पूणिका के रूप में तैयार करने पर 'पेलु' बन जाती है। यदि मुनि पेलु को दर्प से ग्रहण करता है, बिना कारण ग्रहण करता है तो तप और काल से विशिष्ट चतुर्लघु का प्रायश्चित्त आता है। कारण में इनको अक्रम से (अर्थात् पहले पेलुक, फिर पिंजित, फिर रूई और फिर सेडुक) ग्रहण करने पर चतुर्लघु का प्रायश्चित्त है। (सेडुक तीन वर्षों के पश्चात् विध्वस्तयोनिक हो जाता है।)

२९९७.कडजोगि एक्कओ वा, असईए नालबद्धसहिओ वा।
निप्फाए उवगरणं, उभओपक्खस्स पाओग्गं॥

(सेडुक आदि लेकर क्या करे?) यदि कोई मुनि कृतयोगी हो (रूई कातना, कपड़ा बुनना आदि जानता हो) वह गच्छ में वस्त्र का अभाव होने पर एकाकी अथवा नालबद्धसंयती-सहित, निर्जन भूभाग में, साधु-साध्वियों के प्रायोग्य वस्त्रों का निष्पादन करे।

२९९८.अगीयत्थेसु विगिंचे, जहलाभं सुलभउवहिखेत्तेसु।
पच्छित्तं च वहंति, अलंभे तं चेव धारेंति॥

अगीतार्थ मुनि यदि उपधि की सुलभप्राप्ति वाले क्षेत्रों से जो-जो वस्त्रलाभ लेकर आते हैं, उसके आधार पर व्यूतवस्त्र की विगिंचना—परिष्ठापना कर देते हैं। यदि वस्त्र प्राप्त नहीं होता है तो वह स्वयं द्वारा व्यूतवस्त्र को धारण करते हैं, उसका परिभोग करते हैं।

२९९९.एमेव य वसिमम्मि वि, झामिय ओम हिय वूढ परिजुन्ने।
पुव्वुट्ठिए व सत्थे, समइच्छंता व ते वा वि॥

इसी प्रकार गांव आदि में रहने वाले मुनियों की उपधि दग्ध हो गई, अवमौदर्य में विक्रीत हो गई, चोरों द्वारा अपहृत हो गइ, पानी में बह गई या परिजीर्ण हो गई—इन सबमें पूर्वोक्त विधि ही माननी चाहिए। यदि गांव में समागत सार्थ सूर्योदय से पूर्व ही प्रस्थान कर देता है, उस सार्थ को, वे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपधिरहित मुनि चलते हुए रात्री में प्राप्त करते हैं, वहां वे रात्री में ही यतनापूर्वक वस्त्र ग्रहण करते हैं।

३०००.सो वि य नत्तं पत्तो, नत्तं चिय चलिउमिच्छइ भयं च।
ते वा नत्तं पत्ता, गिण्हिज्ज पए चलिउकामा॥

वह सार्थ भी रात्री में ही गांव में पहुंचा। स्तेनों के भय के कारण वह रात्री में ही वहां से आगे जाना चाहता है। वे उपधिरहित साधु भी रात्री में ही गांव में पहुंचे और वे प्रग–सूर्योदय से पूर्व ही वहां से आगे विहरण करना चाहते हैं तो वे सार्थ से रात्री में ही उपधि ग्रहण कर सकते हैं।

३००१.सुत्तेणेव य जोगो, हरियाहडि कप्पए निसिं घेतुं।
हरिऊण य आहडिया, छूढा हरिएसु वाऽऽहडु॥

सूत्र से ही सूत्र का संबंध है। पूर्वसूत्र में रात्री में वस्त्र-ग्रहण का निषेध किया गया है। प्रस्तुत सूत्र में कहा है–जो हृताहृतिक (या हारिताहृतिक) वस्त्र है, उस रात्री में लेना कल्पता है। पहले वस्त्र का हरण कर पुनः उसे लाना यह हृताहृतिक कहलाता है। अथवा वस्त्र का हरण कर उसे हरित पर प्रक्षिप्त कर दिया वह हरिताहृतिक है।

३००२.अद्धाणमणद्धाणे, व विवित्ताणं तु होज्ज आहडिया।
अविहे वसंति खेमे, विहं न गच्छे सइ गुणेसु॥

जो मार्ग में या अमार्ग में लूटे गए हों, उनके लिए हृताहृतिक होता है। जो अध्वगत नहीं हैं वे निरूपद्रव क्षेत्र में रहते हैं। ज्ञान आदि गुण होने पर मार्ग में प्रवेश न करे अर्थात् विहरण न करे।

३००३.उद्दद्दरे सुभिक्खे, अद्धाणपवज्जणं तु दप्पेणं।
लहुगा पुण सुद्धपए, जं वा आवज्जई जत्थ॥

ऊर्ध्वदर और सुभिक्ष के चार भंग होते हैं–

(१) ऊर्ध्वदर तथा सुभिक्ष।
(२) ऊर्ध्वदर असुभिक्ष।
(३) सुभिक्ष न ऊर्ध्वदर।
(४) न ऊर्ध्वदर और न सुभिक्ष।

इनमें दूसरे और चौथे भंग में अध्वगमन करना चाहिए। पहले और तीसरे भंग में दर्प से कोई अध्वगमन करता है तो शुद्धपद में भी चतुर्लघु का प्रायश्चित्त है तथा संयमविराधना आदि होने पर तन्निष्पन्न प्रायश्चित्त भी आता है।

३००४.नाणट्ठ दंसणट्ठा, चरित्तट्ठा एवमाइ गंतव्वं।
उवगरण पुव्वपडिलेहिएण सत्थेण गंतव्वं॥

प्रथम तथा तृतीय भंग में इन कारणों से गमन विहित है–ज्ञान के लिए, दर्शन के लिए तथा चारित्र के लिए। गमन करने वाले–जाने वाले तलिकादि उपकरण लेकर जाएं तथा पूर्व प्रत्युपेक्षित सार्थ के साथ जाए।

३००५.अद्धाण पविसमाणा, गुरुं पवादिंति ते गता पुरतो।
अह तत्थ न वादेंती, चाउम्मासा भवे गुरुगा॥

प्रस्थान करने से पूर्व अपने गुरु का वृत्तान्त बताते हुए कहते हैं–हमारे आचार्य आगे चले गए हैं, अतः हम भी प्रस्थान कर रहे हैं। यदि यह प्रवाद नहीं कहते हैं तो वे चतुर्गुरु प्रायश्चित्त के भागी होते हैं।

३००६.गुरुसारक्खणहेउं, तम्हा थेरो उ गणधरो होइ।
विहरइ य गणाहिवई, अद्धाणे भिक्खुभावेणं॥

गुरु के संरक्षण के लिए स्थविर मुनि गणधर रूप में प्रस्तुत होता है। मार्ग में मूल गणाधिपति एक सामान्य भिक्षु के वेश में विहरण करते हैं।

३००७.हयनायगा न काहिंति उत्तरं राउले गणे वा वि।
अम्हं आहिपइस्स व, नायग-मित्ताइएहिं वा॥

अध्वगत मुनियों के वस्त्र लूटने के पश्चात् वे चोर सोचते हैं–ये साधु आचार्यरहित हैं, अतः ये राजकुल में या गण में या हमारे नायक के समक्ष या उसके ज्ञातिजनों या मित्रों को जाकर लूटे जाने की शिकायत नहीं करेंगे।

३००८.संजयपंता य तहा, गिहिभद्दा चेव साहुभद्दा य।
तदुभयभद्दा पंता, संजयभद्देसु आहडिया॥

चोर चार प्रकार के होते हैं–

१. संयतप्रान्त गृहस्थभद्रक
२. साधुभद्रक गृहस्थप्रान्त
३. उभयभद्रक
४. उभयप्रान्त।

जो संयतभद्रक होते हैं उनसे संबंधित है–हृताहृतिका अर्थात् वे वस्त्रों का हरण करके भी पुनः अर्पित कर देते हैं।

३००९.सत्थे विचिच्चमाणे, आहिपई भद्दओ व पंतो वा।
भद्दो दट्ठूण निवारणं व गहियं व पेसेइ॥

सार्थ को लूटते समय चोराधिपति भद्रक या प्रान्त हो सकता है। जो भद्रक होता है, वह लूटते समय चोरों को यतियों के वस्त्र लूटने का निषेध करता है और यदि वह वहां सन्निहित न हो तो लूटे हुए वस्त्रों को पुनः भेज देता है।

३०१०.नीयं दट्ठूण बहिं, छिन्नदसं सिव्वणीहि वा नाउं।
पेसे उवालभित्ताण तक्करे भद्दओ अहिवो॥

वह चोराधिपति लूटकर लाए हुए वस्त्रों को देखकर सोचता है–इन वस्त्रों के किनारी नहीं है तथा इनकी सीने की विधि भिन्न है। उनको देखकर जान लेता है कि ये वस्त्र साधुओं के हैं। वह अपने साथी चोरों को उपालंभ देता है और वह भद्रक चोराधिपति उन्हीं चोरों को साधुओं के वस्त्रों को अर्पित करने के लिए भेजता है।

३०११.वीसत्थमप्पिणंते, भएण छड्डित्तु केइ वच्चंति।
बहिया पासवण उवस्सए व दिट्ठम्मि जा जयणा॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्तेन दो प्रकार के होते हैं—आक्रान्तिक और अनाक्रान्तिक। जो आक्रान्तिक होते हैं, वे निर्भय होते हैं। चोराधिपति के कहे जाने पर वस्त्रों को विश्वस्तरूप से साधुओं को दे देते हैं। जो अनाक्रान्तिक होते हैं वे साधुओं को पुनः देने के लिए लूटे हुए वस्त्र ले जाते हैं, परन्तु भय के कारण उन वस्त्रों को उपाश्रय के बाहर, प्रस्रवणभूमी में या उपाश्रय के मध्य में रखकर भाग जाते हैं। साधु जब उन वस्त्रों को देखते हैं तब यह यतना करनी चाहिए।

३०१२.गीयमगीया अविगीयपच्चयट्ठा करिंति वीसुं तु।
जइ संजई वि तहियं, विगिंचिया तासि वि तहेव॥

(यदि गच्छ में सभी गीतार्थ मुनि हों तो उन उपकरणों को अपने मौलिक उपकरणों के साथ मिलाकर अपनी रुचि के अनुसार उनका परिभोग करे।) यदि गच्छ में गीतार्थ और अगीतार्थ—दोनों प्रकार के मुनि हों तो गीतार्थ मुनि अगीतार्थ मुनियों के प्रत्यय के लिए हृताहृतिक उपकरण पृथक् रखते हैं। यदि साध्वियों के वस्त्र भी अपहृत हो गए हों उनके उपकरण भी पृथक् कर देते हैं।

३०१३.जो वि य तेसिं उवही, अहागडऽप्पो य सपरिकम्मो य।
तं पि य करिंति वीसुं, मा अविगीयाइ भंडेज्जा॥

उन साधुओं का यथाकृत, अल्पपरिकर्मित और परिकर्मित जो उपधि है उसको भी पृथक् कर देते हैं। यह इसलिए कि अगीतार्थ मुनि परस्पर कलह न करें।

३०१४.पंतोवहिम्मि लुद्धो, आयरिए इच्छए विवादेउं।
कयकरणे करणं वा, आगाढे किसो सयं भणइ॥

यदि चोराधिपति प्रान्त हो और वह उपकरणों में लुब्ध हो तो वह आचार्य को मारने की इच्छा करता है। उस स्थिति में कृतकरण मुनि उसको उपशांत करे। इस प्रकार की परिस्थिति आने पर, इस प्रकार के आगाढ़ कारण में जो कोई कृश मुनि है, वह स्वयं को आचार्य कहता है।

३०१५.को तुब्भं आयरितो, एवं परिपुच्छियम्मि अद्धाणे।
जो कहयइ आयरियं, लग्गइ गुरुए चउम्मासे॥

प्रान्त चोराधिपति पूछता है—तुम्हारे में कौन आचार्य है? इस प्रकार अध्वगत अवस्था में पूछे जाने पर जो मुनि आचार्य को बता देता है उसे चतुर्गुरु मास का प्रायश्चित्त आता है।

३०१६.सत्थेणऽन्नेण गया, एहिंति व मग्गतो गुरू अम्हं।
सत्थिल्लए व पुच्छह, हयं पलायं व साहिंति॥

पूछे जाने पर साधु कहे—हमारे गुरु दूसरे सार्थ के साथ आगे चले गए हैं अथवा पीछे से आ रहे हैं। यदि हमारी प्रतीति न हो सार्थ के पुरुषों को पूछ लें अथवा कहे हमारे आचार्य मारे गए हैं अथवा पलायन कर गए हैं।

३०१७.जो वा दुब्बलदेहो, जुंगियदेहो असब्भवक्को वा।
गुरु किल एएसि अहं, न य मि पगब्भो गुरुगुणेहिं॥

३०१८.वाहीण व अभिभूतो, खंज कुणी काणओ व हं जातो।
मा मे बाहह सीसे, जं इच्छह तं कुणह मज्झं॥

अथवा जो मुनि दुर्बल शरीर वाला हो, विकलांग हो, जो असमंजसप्रलापी हों, वह चोराधिपति को कहता है—मैं इन मुनियों का गुरु हूं परंतु मैं गुरु के गुणों से परिपूर्ण नहीं हूं। मैं रोग से अभिभूत हूं, लंगड़ा और लूला हूं और काणा हूं। मैं ऐसा हो गया हूं। अतः मेरे शिष्यों को तुम बाधित मत करो। जो कुछ तुम करना चाहते हो वह मेरे साथ ही करो।

३०१९.इहरा वि मरिउमिच्छं, संतिं सिस्साण देह मं हणह।
मयमारगत्तणमिणं, जं कीरइ मुंचह सुते मे॥

अन्यथा भी मैं मरना चाहता हूं। मुझे मार दो, परंतु मेरे शिष्यों को शांति प्रदान करो। मुझे मारने का तात्पर्य होगा मरे हुए को मारना। इसलिए मेरे शिष्यों को तुम छोड़ दो।

३०२०.एयं पि ताव जाणह, रिसिवज्झा जह न सुंदरी होइ।
इह य परत्थ य लोए, मुंचंतऽणुलोमिया एवं॥

और यह भी तुम जान लो कि ऋषिहत्या इहलोक और परलोक के लिए सुंदर परिणामवाली नहीं होती। इस प्रकार अनुकूल उपदेश देने पर वे तस्कर सभी को छोड़ देते हैं।

३०२१.धम्मकहा चुण्णेहि व, मंत निमित्तेण वा वि विज्जाए।
नित्थारेइ बलेण व, अप्पाणं चेव गच्छं च॥

यदि इतने पर भी तस्कर मुक्त न करे तो धर्मकथा, चूर्णप्रयोग, मंत्र, निमित्तबल अथवा विद्या के द्वारा चोर-सेनापति को उपशांत करे। अथवा कोई शक्तिशाली मुनि अपनी शक्ति से सेनापति पर विजय प्राप्त कर स्वयं को तथा गच्छ को उबार ले।

३०२२.वीसज्जिया व तेणं, पंथं फिडिया व हिंडमाणा वा।
गंतूण तेणपल्लिं, धम्मकहाईहिं पन्नवणा॥

उपरोक्त सामग्री के अभाव में चोर साधुओं के उपधि को लूटकर साधुओं को मुक्त कर देता है तब वे मुनि चोरपल्ली में जाकर उपधि की गवेषणा करें। मार्ग में किसी के पूछने पर कहे—हम मार्ग से भटक गए थे अथवा विहरण करते-करते यहां आए हैं। चोरपल्ली में धर्मकथा की प्रज्ञापना करे।

३०२३.भद्दमभद्दं अहिवं, नाउं भद्दे विसंति तं पल्लिं।
फिडिया मु त्ति य पंथं, भणंति पुट्ठा कहिं पल्लिं॥

चोरपल्ली में जाने से पूर्व यह ज्ञात कर ले कि वहां का चोराधिपति भद्र है या प्रान्त। यदि भद्र हो तो उस पल्ली में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवेश करे। पल्ली में क्यों आए—यह पूछने पर कहे—हम मार्ग में भटक गए थे, अतः इधर आ गए।

३०२४.मुसिय त्ति पुच्छमाणं,
को पुच्छइ किं व अम्ह मुसियव्वं।
अहिवं भणंति पुव्विं,
अणिच्छे सन्नायगादीहिं॥

कोई यह पूछे कि क्या आप लूटे गए हैं? उसे कहे—हमें कौन पूछता है? हमारे पास लूटने जैसा है ही क्या? पल्ली में जाकर सबसे पहले चोराधिपति को अपहृत उपधि के विषय में पूछते हैं। यदि वह देना न चाहे तो उसके स्वजनों, मित्रों को प्रज्ञापित करते हैं।

३०२५.उवसंतो सेणावइ, उवगरणं देइ वा दवावेइ।
गीयत्थेहि य गहणं, वीसुं वीसुं च से करणं॥

चोराधिपति उपशांत होने पर स्वयं उपकरणों को दे देता है या अपने साथियों से दिला देता है। गीतार्थ मुनि उनको ग्रहण कर उनको पृथक्-पृथक् कर स्थापित करते हैं।

३०२६.सत्थो बहू विवित्तो, गिण्हह जं जत्थ पेच्छह अडंता।
इहइं पडिपल्लीसु य, रूसेह बिइज्जओ हं भे॥

चोराधिपति कहता है—हमारे अनेक साथियों ने सार्थ को लूटा है। आप घूमते हुए देखें और अपने वस्त्र ग्रहण कर लें। तब मुनि कहे—आप अपना एक आदमी हमारे साथ भेजें। एक आदमी को साथ भेजने पर वह कहता है। इस पल्ली में या प्रतिपल्ली में जो-जो आपके वस्त्र है उन्हें आप 'रूसेह'—ढूंढ लें। मैं आपके साथ दूसरा व्यक्ति हूं।

३०२७.अम्हं ताव न जातो, जह एएसिं पि पावइ न हत्थं।
तह कुणिमो मोसमिणं, छुभंति पावा अह इमेसु॥

चोर सोचते हैं—यह लूट हमारे हस्तगत नहीं हुई तो हम ऐसा उपाय करें कि लूटा हुआ सामान साधुओं के हस्तगत भी न हो, इसलिए वे चोर उस सामान को निम्न स्थानों में फेंक देते हैं।

३०२८.पुढवी आउक्काए, अगड-वणस्सइ-तसेसु साहरई।
सुत्तत्थजाणएणं, अप्पाबहुयं तु नायव्वं॥

पृथ्वीकाय पर, अप्काय पर, कूए में, वनस्पति पर, त्रस जीवों पर अपहृत उपकरणों का निक्षेप कर डालते हैं। इस स्थिति में सूत्रार्थ को जानने वाला मुनि उन उपकरणों को ग्रहण करने या न करने से होने वाले दोषों के अल्प-बहुत्व को जान ले।

३०२९.हरियाहडिया सुविहिय!, पंचवन्ना वि कप्पई घेत्तुं।
परिभुत्तमपरिभुत्ता, अप्पाबहुगं वियाणित्ता॥

हे सुविहित! ह्रताहृतिक यदि पांच वर्णवाले भी कर लिए जाते हैं, उन्हें भी पुनः लेना कल्पता है। वे वस्त्र परिभुक्त हों या अपरिभुक्त, वे लिए जा सकते हैं, किन्तु उस विषयक अल्पबहुत्व को जान लेना चाहिए।

३०३०.आधत्ते विक्कीए, परिभुत्ते तस्स चेव गहणं तु।
अन्नस्स गिण्हणं तस्स चेव जयणाए हिंडंति॥

वस्त्र चोरों ने लेकर रख दिया हो, उसको बेच दिया हो, उसका परिभोग कर लिया हो और वे यदि उसके बदले दूसरा वस्त्र देना चाहे तो कहे—हमें वही वस्त्र दो। उसी वस्त्र को ग्रहण करे, न प्राप्त होने पर अन्य वस्त्र का ग्रहण करे। उस चोराधिपति द्वारा साथ में भेजे गए आदमी के साथ वस्त्रान्वेषण के लिए यतनापूर्वक घूमे।

३०३१.अन्नं च देइ उवहिं, सो वि य नातो तहेव अन्नातो।
सुद्धस्स होइ गहणं, असुद्धि घेत्तुं परिट्ठवणा॥

वह चोराधिपति दूसरा वस्त्र दे, वह वस्त्र ज्ञात भी हो सकता है और अज्ञात भी। उसमें जो शुद्ध हो वह ले और जो अशुद्ध है, उसे लेकर परिष्ठापित कर दे।

३०३२.तं सिव्वणीहि नाउं, पमाण हीणाहियं विरंगं वा।
इतरोवहिं पि गिण्हइ, ता अहिगरणं पसंगो वा॥

उस वस्त्र के सीने की विधि से प्रमाण से हीन या अधिक तथा बदरूप देखकर यह जान ले कि यह दूसरों का है, फिर भी उसे ग्रहण कर ले क्योंकि ग्रहण न करने पर अधिकरण—असंयत व्यक्तियों के परिभोग का प्रसंग उपस्थित हो सकता है।

३०३३.अन्नस्स व पल्लीए, जयणा गमणं तु गहण तह चेव।
गामाणुगामियम्मि य, गहिए गहणे य जं भणियं॥

यदि ह्रतोपकरण का कुछ भाग अन्य चोरपल्ली में चला गया हो तो उस पल्ली में यतनापूर्वक गमन करे और यतनापूर्वक वस्त्र ग्रहण करे। यदि ग्रामानुग्राम विहरण करने वाले मुनि लूट लिए गए हों तो वस्त्रान्वेषण के लिए गमन और वस्त्र-ग्रहण में पूर्वोक्त यतना करणीय है।

३०३४.तत्थेव आणवावेइ तं तु पेसेइ वा जहिं भद्दो।
सत्थेण कप्पियारं, व देइ जो णं तहिं नेइ॥

यदि मूल पल्लीपति भद्र हो तो उन वस्त्रों को वहीं मंगा लेता है अथवा अपने आदमी को भेजकर प्राप्त कर लेता है। अथवा सार्थ के साथ वहां जाना चाहिए। यदि सार्थ प्राप्त न हो तो पल्लीपति से एक आदमी की मांग करनी चाहिए। पल्लीपति 'कल्पितार'—मार्गदर्शक अपने आदमी को देता है, वह साधुओं को उस पल्ली में ले जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३०३५.अणुसट्ठाई तत्थ वि, काउ सपल्लि इतरीसु वा घेत्तुं।
सत्थेणेव जणवय, उविंति अह भद्दए जयणा॥

वहां भी मुनि धर्मकथा करे, अपने उपकरण लेकर मूलपल्ली में आ जाए। वहां आकर किसी सार्थ के साथ जनपद में चले जाए। यह भद्रक पल्लीपति विषयक यतना है।

३०३६.फड्डगपइए पंते, भणंति सेणावइं तहिं पंते।
उत्तरउत्तर माडंबियाइ जा पच्छिमो राया॥

मूल पल्लीपति के अधीनस्थ कोई स्पर्द्धक पल्लीपति प्रान्त हो और वह लूटे हुए वस्त्र देना न चाहे तो मूल पल्लीपति को प्रज्ञापित करे। वह उससे वस्त्र दिला देता है। यदि वह भी प्रान्त हो तो माडंबिक–मडंब के अधिपति को कहना चाहिए। इसी प्रकार उत्तरोत्तर प्रज्ञापित करते-करते अंत में राजा तक बात पहुंचानी चाहिए।

३०३७.वसिमे वि विवित्ताणं, एमेव य वीसुकरणमादीया।
वोसिरणे चउलहुगा, जं अहिगरणं च हाणी जा॥

जनपद में भी लूट लिए जाने पर इसी प्रकार वस्त्रों को पृथक्-पृथक् करना आदि सारी विधि पूर्ववत् है। गवेषणा के श्रम से कतरा कर कोई लूटे गए वस्त्रों का व्युत्सर्जन करता है, उसे चतुर्लघु का प्रायश्चित्त तथा अधिकरण–अपहृत वस्त्रों के प्रक्षालन आदि का दोष और वस्त्रों के अभाव में संयमयोगों की हानि भी होती है।

अद्धाण-पदं

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा
राओ वा वियाले वा अद्धाणगमणं एत्तए।
संखडिं वा संखडिपडियाए इत्तए[1]॥
(सूत्र ४४)

३०३८.हरियाहडियट्ठाए, होज्ज विहेमाइयं न वारेमो।
जं पुण रत्तिं गमणं, तदट्ठ अन्नट्ठ वा सुत्तं॥

हृताहृत के प्रयोजन से जाना, पल्ली आदि में वस्त्र-गवेषणा के लिए गमन करना, हम उसका वर्जन नहीं करते हैं। हृताहृतिक के प्रयोजन से अथवा अन्य प्रयोजन से रात्री में जाना नहीं कल्पता, यह इस सूत्र का आशय है।

३०३९.अहवा तत्थ अवाया, वच्चंते होज्ज रत्तिचारिस्स।
जइ ता विहं पि रत्तिं, वारेतऽविहं किमंग पुणो॥

रात्रीचारी मुनि के मार्गगत अनेक अपाय–दोष हो सकते हैं, इसलिए रात्रीगमन का निषेध है। रात्री में विहरण का निषेध है, परन्तु अविह–गांव आदि में घूमने का निषेध क्यों?

३०४०.इहरा वि ता न कप्पइ, अद्धाणं किं तु राइविसयम्मि।
अत्थावत्ती संसइ, कप्पइ कज्जे दिया नूणं॥

मुनि को अन्यथा विहरण करना भी नहीं कल्पता तो फिर रात्रीविषयक बात ही क्या? सूत्र रात्रीविषयक निषेध करता है। अर्थापत्ति के आधार पर कहा जा सकता है कि कार्य उपस्थित होने पर दिन में विहरण किया जा सकता है।

३०४१.अद्धाणं पि य दुविहं, पंथो मग्गो य होइ नायव्वो।
पंथम्मि नत्थि किंची, मग्गो सग्गामो गुरु आणा॥

अध्वा के दो प्रकार हैं–पंथ और मार्ग। पंथ वह है जिससे विहरण करने पर कोई भी गांव, नगर, पल्ली आदि नहीं आते और मार्ग वह है जिसमें गांव आदि प्राप्त होते हैं। दोनों प्रकार के अध्वा से रात्री-गमन करने पर चतुर्गुरु और आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं।

३०४२.तं पुण गम्मिज्ज दिवा, रत्तिं वा पंथ गमण मग्गे वा।
रत्तिं आएसदुगं, दोसु वि गुरुगा य आणादी॥

अध्वा अर्थात् पथ या मार्ग में रात या दिन में जाया जाता है। रात्रीगमन में दो परंपराएं हैं।[2] इनके अनुसार पथ या मार्ग से रात्री या विकाल में विहरण करने पर चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं।

३०४३.मिच्छत्ते उड्डाहो, विराहणा होइ संजमा-ऽऽयाए।
रीयाइ संजमम्मी, छक्काय अचक्खुविसयम्मि॥

रात्री में विहार करने पर मिथ्यात्व, उड्डाह तथा संयम और आत्मा की विराधना होती है। संयमविराधना में ईर्यासमिति का अशोधन, रात्री में अचक्षुविषय–न दीखने के कारण षट्काय विराधना होती है। (यह द्वार गाथा है। अर्थ–विस्तार आगे)।

३०४४.किं मण्णे निसि गमणं, जतीण सोहिंति वा कहं इरियं।
जइवेसेण व तेणा, अडंति गहणाइ उड्डाहो॥

संयमी मुनियों का रात्रीगमन क्यों? रात्री में ईर्यासमिति का शोधन कैसे होता है? ये यतिवेश में चोर घूम रहे हैं। इसलिए उनको पकड़ लेने या राजकुल आदि में ले जाने पर प्रवचन का उड्डाह होता है।

३०४५.संजमविराहणाए, महव्वया तत्थ पढम छक्काया।
बिइए अतेण तेणं, तइए अदिन्नं तु कंदाई॥

---

१. वृत्तिकृता एतत् स्वतंत्रसूत्रं स्वीकृतम्।

२. कुछ आचार्य कहते हैं–जिससे संध्या शोभित होती है वह है रात्री। संध्या का बीत जाना–विकाल है। कुछ आचार्य कहते हैं–संध्या के बीत जाने पर चोर, पारदारिक आदि जिसमें सक्रिय होते हैं वह है रात्री। संध्या में वे विरत रहते हैं अतः वह है विकाल। संध्या और रात्री के मध्य का जो काल है, वह है विकाल।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संयमविराधना दो प्रकार की होती है–मूलगुणविषयक तथा उत्तरगुणविषयक। मूलगुण में महाव्रतों की विराधना होती है। रात्री में अध्वगमन से छहकाय की विराधना होती है। यह प्रथम महाव्रत की विराधना है। द्वितीय महाव्रत में अचोर को चोर कहलाता है। तृतीय महाव्रत में अदत्त कंद आदि ग्रहण कर लिया जाता है।

३०४६.दियदित्ते वि सचित्ते, जिणतेन्नं किमुय सव्वरीविसए।
जेसिं व ते सरीरा, अविदिन्ना तेहिं जीवेहिं॥

यद्यपि कन्द आदि दत्त ग्रहण करता है, फिर भी वह सचित्त होने के कारण तीर्थंकरों के द्वारा वह अनुज्ञात नहीं है, अतः दिन में भी उसे ग्रहण करना स्तैन्य है तो फिर रात्री में ग्रहण करने की बात ही क्या! जो कन्द आदि के शरीर हैं वे उन जीवों द्वारा अदत्त होने के कारण इससे तीसरे महाव्रत का भंग होता है।

३०४७.पंचमे अणेसणादी, छट्ठे कप्पो व पढम बिइया वा।
भग्गवउ त्ति य जातो, अपरिणतो मेहुणं पि वए॥

अनेषणीय का ग्रहण पांचवें महाव्रत का हनन तथा छठे व्रत में अध्वकल्प का परिभोग तथा पहले दूसरे परीषह से व्याकुल होकर खाने-पीने से छठे व्रत की विराधना होती है। 'मैं भग्नव्रत हो गया हूं', यह सोचकर वह मैथुन का सेवन भी कर लेता है अथवा अपरिणत–अपरिपक्व होने के कारण मैथुन का सेवन कर लेता है। यह सारी मूलगुणविराधना है।

३०४८.रीयादऽसोहि रत्तिं, भासाए उच्चसद्दवाहरणं।
न य आदाणुस्सग्गे, सोहए कायाइ ठाणाई॥

रात्री में ईर्यासमिति आदि का शोधन नहीं होता, परस्पर उच्चस्वर से बोलने के कारण भाषा समिति का, उदकार्द्र आदि न देख सकने के कारण एषणासमिति का, अप्रत्युपेक्षित भूभाग पर स्थान, निषीदन आदि करने से आदाननिक्षेप-समिति का, अस्थंडिल में कायिकी आदि का उत्सर्ग करने से उत्सर्गसमिति का–इस प्रकार रात्री में पांचों समितियों का शोधन नहीं हो सकता।

३०४९.वाले तेणे तह सावए य विसमे य खाणु कंटे य।
अकम्हाभयं आयसमुत्थं, रत्तिं मग्गे भवे दोसा॥

रात्री में जाने से व्याल, स्तेन, श्वापद–ये उपद्रव करते हैं, विषमभूमी में स्खलन होता है, स्थाणु, कांटों आदि से पैर बींध जाते हैं, आत्मसमुत्थ–अर्थात् मन की कल्पनाओं से कोई आकस्मिक भय उत्पन्न हो सकता है।

३०५०.कप्पइ गिलाणगट्ठा, रत्तिं मग्गो तहेव संज्ञाए।
पंथो य पुव्वदिट्ठो, आरक्खिओ पुव्वभणिओ य॥

ग्लान के लिए रात्री अथवा संध्या में जाना कल्पता है। जिस मार्ग से जाना है वह पूर्वदिष्ट होना चाहिए। आरक्षिक को पहले कह देना चाहिए।

३०५१.दुविहो य होइ पंथो, छिन्नद्धाणंतरं अछिन्नं च।
छिन्नम्मि नत्थि किंची, अछिन्न पल्लीहिं वइगाहिं॥

पथ दो प्रकार के हैं–छिन्नाध्वान्तर, अछिन्नाध्वान्तर। छिन्नाध्वान्तर मार्ग में कोई गांव, नगर नहीं होता और अछिन्नाध्वान्तर में पल्ली, व्रजिका आदि होते हैं।

३०५२.छिन्नेण अछिन्नेण व, रत्तिं गुरुगा य दिवसतो लहुगा।
उद्दद्दरे पवज्जण, सुद्धपदे सेवती जं च॥

छिन्न या अछिन्न पथ से रात्री में जाने पर चतुर्गुरु और दिन में जाने पर चतुर्लघु का प्रायश्चित्त आता है। जहां ऊर्ध्वदर पूर्ण किए जाते हैं वहां की यात्रा करने पर उस शुद्ध पद में भी यह प्रायश्चित्त है। उसमें जो अकल्पनीय आदि की प्रतिसेवना की जाती है उसका पृथक् प्रायश्चित्त आता है।

३०५३.उद्दद्दरे सुभिक्खे, खेमे निरुवद्दवे सुहविहारे।
जइ पडिवज्जति पंथं, दप्पेण परं न अन्नेणं॥

ऊर्ध्वदर, सुभिक्ष, क्षेम, निरुपद्रव और सुखविहार–इस प्रकार के जनपदों में जाने के लिए छिन्न-अछिन्न पथ को स्वीकार करते हैं। यह दर्प प्रतिसेवना अर्थात् देश-दर्शन के निमित्त की जा सकती है, अन्य प्रयोजन से नहीं।

३०५४.आणा न कप्पइ त्ति य,
अणवत्थ पसंगताए गणणासो।
वसणादिसमावण्णे,
मिच्छत्तारोहणा भणिया॥

शिष्य ने पूछा–ऐसा करने से क्या होता है? आचार्य कहते हैं– भगवान् की आज्ञा है कि निर्ग्रंथ को विहरण करना नहीं कल्पता–इस आज्ञा की विराधना होती है तथा अनवस्था का दोष और प्रसंग से अर्थात् परंपरा से गण का नाश होता है। विहरण करने पर मार्ग में कोई व्यसन–आपदा आदि प्राप्त होने पर मिथ्यात्व की आराधना होती है।

३०५५.वाय खलु वाय कंडग, आवडणं विसम-खाणु-कंटेसु।
वाले सावय तेणे, एमाइ हवंति आयाए॥

मार्ग में विहरण करते हुए खलुक–जानु आदि के संधि स्थल[1] वायु से जकड़ जाते हैं। विषम भूमी पर या स्थाणु से टकरा कर चलते-चलते गिर सकते है, कांटें चुभते हैं, व्याल, श्वापद, स्तेनक आदि उपद्रव करते हैं। यह आत्म-विराधना है।

३०५६.छक्कायाण विराहण, उवगरणं बाल-वुड्ढ-सेहा य।
पढमेण व बिइएण व, सावय तेणे य मिच्छा य॥

१. 'वाय-कंडक'–जंघा में वायु के कारण कंडक–फोड़े सदृश उभर आये हैं। वे कंडक कहलाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अध्वगत स्थिति में छह कायों की विराधना होती है। अध्वप्रायोग्य उपकरण—नंदी भाजन आदि के भार से वेदना होती है। बाल-वृद्ध तथा शैक्ष पहले अथवा द्वितीय परीषह से परितप्त होते हैं। मुनियों के लिए श्वापद, स्तेन तथा म्लेच्छ उपद्रव उपस्थित करते हैं।

३०५७.उवगरणगेण्हणे भार वेदणा तेण गुम्मि अहिगरणं।
रीयादि अणुवओगो, गोम्मिय भरवाह उड्डाहो॥

अध्वप्रायोग्य उपकरणों को लेकर विहार करने पर उनके भार से वेदना होती है। अति उपकरण होने पर चोर तथा गौल्मिक (मार्गरक्षक) उन्हें लूटते हैं, सताते हैं। उन अतिरिक्त उपकरणों का परिभोग करने पर अधिकरण होता है। भाराक्रान्त मुनियों द्वारा ईर्या में अनुपयोग होता है। गौल्मिक उपद्रव करते हैं। ये साधु भारवाही हैं—इस प्रकार उड्डाह—अवहेलना होती है।

३०५८.चम्मकरग सत्थादी,
दुलिंग कप्पे अ चिलिमिणिअगहणे।
तस विपरिणमुड्डाहो,
कंदाइवधो य कुच्छा य॥

विहरण करते समय मुनि यदि चर्मकरक नहीं लेते हैं तो त्रस जीवों की विराधना होती है। शस्त्रकोश न लेने पर शैक्ष विपरिणत हो सकते हैं। दुलिंग अर्थात् गृहस्थ के कपड़े तथा अन्यतीर्थिक का वेश साथ में न रहने पर प्रसंग पर उड्डाह हो सकता है। अध्वकल्प के बिना कन्द आदि का वध होता है, चिलिमिलि के बिना मंडली में साधुओं को एकत्रित भोजन करते देखकर लोग कुत्सा—जुगुप्सा करते हैं। (श्लोक के पूर्वार्द्ध के साथ उत्तरार्द्ध का संबंध।)

३०५९.अप्परिणामगमरणं अइपरिणामा य होंति नित्थक्का।
निग्गय गहणे चोइय, भणंति तइया कहं कप्पे॥

मार्गगत मुनियों को यदि एषणीय का लाभ न होने पर पंचक आदि की यतना से अनेषणीय का ग्रहण भी किया जाता है। अपरिणामक शिष्य उस अनेषणीय का ग्रहण नहीं करता है तो मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। अतिपरिणामक शिष्य अकल्पनीय को ग्रहण करते देख 'नित्थक'—निर्लज्ज हो जाता है। यदि वे अध्वनिर्गत स्थिति में अकल्प्य ग्रहण करते हैं और उन्हें यदि अकल्प्य ग्रहण न करने की प्रेरणा दी जाती है तो वे कहते हैं—उस समय मार्गगत होने पर वह कल्पनीय कैसे हो गया?

३०६०.तेणभयोदककज्जे, रत्तिं, सिग्घगति दूरगमणे य।
वहणावहणे दोसा, बालादी सल्लविद्धे य॥

स्तेनों के भय में दंडक और चिलिमिलिका के बिना, उदककार्य में चर्मकरक आदि के बिना, रात्री में शीघ्रगमन तथा दूरगमन में तलिका के बिना, बाल-वृद्ध को वहन करने के लिए कापोतिका के बिना, बाल-वृद्ध आदि शल्यविद्ध होने पर शस्त्रकोश के बिना—इन उपकरणों के बिना अनेक दोष होते हैं।

३०६१.बिइयपय गम्ममाणे, मग्गे असतीय पंथे जतणाए।
परिपुच्छिऊण गमणं, अछिण्णे पल्लीहिं वइगाहिं॥

द्वितीयपद अर्थात् अपवाद पद में अध्वगत होने पर सबसे पहले मार्ग से, उसके अभाव में पथ से यतनापूर्वक जाना चाहिए। उसमें लोगों को पूछकर पल्ली, व्रजिका आदि से अछिन्न पथ से गमन किया जा सकता है।

३०६२.असिवे ओमोदरिए, रायदुट्ठे भये व आगाढे।
गेलन्न उत्तिमट्ठे, णाणे तह दंसण चरित्ते॥

अशिव, अवमौदर्य, राजद्विष्ट, भय उत्पन्न हो जाने पर, आगाढ़ कारण से, ग्लान के लिए, उत्तमार्थ—संथारा आदि के लिए, ज्ञान-दर्शन और चारित्र के लिए—इन कारणों से देशान्तर जाया जा सकता है, विहार किया जा सकता है।

३०६३.एएहिं कारणेहिं, आगाढेहिं तु गम्ममाणेहिं।
उवगरण पुव्वपडिलेहिएण सत्थेण गंतव्वं॥

ये कारण जब आगाढ़रूप में प्राप्त होते हैं तब अध्व-प्रायोग्य उपकरण लेकर, पूर्व प्रत्युपेक्षित सार्थ के साथ जाना चाहिए।

३०६४.असिवे अगम्ममाणे, गुरुगा नियमा विराहणा दुविहा।
तम्हा खलु गंतव्वं, विहिणा जो वन्निओ हिट्ठा॥

अशिव उत्पन्न होने पर यदि गमन नहीं किया जाता तो चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। वहां रहने पर नियमतः दो प्रकार की—आत्म तथा संयमविराधना होती है। इसलिए वहां से विधिपूर्वक विहार कर देना चाहिए। विधि ओघनिर्युक्ति आदि में वर्णित है।[1]

३०६५.उवगरण पुव्वभणियं, अप्पडिलेहिंते चउगुरू आणा।
ओमाण पंत सत्थिय, अतियत्तिय अप्पपत्थयणो॥

अध्वगत मुनि यदि पूर्वकथित उपकरणों को साथ में नहीं लेता तथा सार्थ की प्रत्युपेक्षा नहीं करता, वह चतुर्गुरु प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोषों का भागी होता है। सार्थ अवमानित होकर उद्वेलित हो सकता है, सार्थिक आतियात्रिक—सार्थरक्षक या सार्थचिन्तक प्रान्त हो सकते हैं, सार्थ अल्प शंबल वाला हो सकता है—इसलिए सार्थ की प्रत्युपेक्षा करनी चाहिए।

१. 'संवच्छरबारसएण, होही असिवं ति ते तओ निंति।'.....(ओघ. भा. गा. १५)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३०६६.राग-दोसविमुक्को, सत्थं पडिलेहे सो उ पंचविहो।
भंडी बहिलग भरवह, ओदरिया कप्पडिय सत्थो॥

जिस सार्थ का गंतव्य के प्रति न राग है और न द्वेष, ऐसे सार्थ की प्रत्युपेक्षा करनी चाहिए। सार्थ के पांच प्रकार[1] हैं—भंडीसार्थ, बहिलक सार्थ, भारवाहसार्थ, औदरिकसार्थ, कार्पटिकसार्थ।

३०६७.गंतव्वदेसरागी, असत्थ सत्थं पि कुणति जे दोसा।
इअरो सत्थमसत्थं, करेइ अच्छंति जे दोसा॥

जिसका गंतव्य देश के प्रति राग होता है वह असार्थ को भी सार्थ बना देता है, वहां जो दोष होते हैं, उनसे निष्पन्न प्रायश्चित्त आचार्य को आता है। जिसका गंतव्य देश के प्रति द्वेष होता है वह सार्थ को भी असार्थ कर डालता है। वहां जो दोष होते हैं, उनके भी भागी वे ही होते हैं।

३०६८.उप्परिवाडी गुरुगा, तिसु कंजियमादिसंभवो होज्जा।
परिवहणं दोसु भवे, बालादी सल्ल गेलन्ने॥

यदि उत्परिपाटी—यथोक्तक्रम का उल्लंघन कर सार्थ के साथ जाने से चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त आता है। प्रथम तीन सार्थों में कांजिक आदि मानक उपलब्ध हो सकता है। तथा प्रथम दो सार्थों में शल्यविद्ध बाल-वृद्ध तथा ग्लान मुनियों का परिवहन हो सकता है।

३०६९.सत्थं च सत्थवाहं , सत्थविहाणं च आदियत्तं च।
दव्वं खेत्तं कालं, भावोमाणं च पडिलेहे॥

सार्थ, सार्थवाह, सार्थ का विधान, आतियात्रिक—सार्थ के रक्षक, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव तथा अवमान—इन द्रव्यों से संबंधित सार्थ की प्रत्युपेक्षा करनी चाहिए। (यह द्वार गाथा है। व्याख्या आगे।)

३०७०.सत्थि त्ति पंच भेया, सत्थाहा अट्ठ आइयत्तीया।
सत्थस्स विहाणं पुण, गणिमाई चउव्विहं होइ॥

सार्थ शब्द से पांच प्रकार के सार्थ गृहीत हैं। सार्थवाह और आतियात्रिक—सार्थरक्षक आठ-आठ प्रकार के हैं। सार्थ का विधान गणिम आदि के भेद से चार प्रकार का होता है।[2]

३०७१.अणुरंगाई जाणे, गुंठाई वाहणे अणुण्णवणा।
धम्मु त्ति वा भईय व, बालादि अणिच्छे पडिकुट्ठा॥

अनुरंग आदि यान, गुंठ—घोटक अथवा महिष आदि वाहन कहलाते हैं। इन यान, वाहनों की अनुज्ञापना करनी चाहिए। ऐसे सार्थों को कहना चाहिए, हमारे बाल या वृद्ध मुनियों को आवश्यकतावश यान-वाहन में चढ़ाना होगा। यदि सार्थ धर्म मानकर स्वीकार करते हैं तो अच्छा है, अन्यथा मूल्य देकर यान-वाहन में चढ़ाने की बात करनी चाहिए। यदि वे ऐसा करना नहीं चाहते हों तो वे सार्थ प्रतिषिद्ध हैं, उनके साथ नहीं जाना चाहिए।

३०७२.दंतिक्क-गोर-तिल्ल-गुल-सप्पिएमादिभंडभरिएसु ।
अंतरवाघातम्मि व, तं दिंतिहरा उ किं देंति॥

दंतिक—दन्त्यखाद्य, गोर—गेंहू, तैल, गुड़, सर्पि—घी, इन द्रव्यों से भरे हुए भांड वाले सार्थ द्रव्यतः शुद्ध होते हैं। बीच में व्याघात हो जाने पर भी दंतिक आदि खाद्य स्वयं सार्थ खाते हैं और साधुओं को भी देते हैं। उनके अभाव में वे क्या खाये और क्या दें?

३०७३.वासेण नदीपूरेण वा वि तेणभय हत्थि रोधे य।
खोभे व जत्थ गम्मति, असिवं वेमादि वाघाता॥

व्याघात होने के कारण—अत्यधिक वर्षा, नदी का पूर, स्तेनों का भय, हाथी का भय, जिस गांव में जाना चाहते हैं वहां रोध—शत्रु राजा ने आक्रमण कर दिया हो, राज्यक्षोभ हो गया हो, अशिव हो—इस प्रकार के व्याघात होते हैं।

३०७४.कुंकुम अगुरुं पत्तं, चोयं कत्थूरिया य हिंगुं च।
संखग-लोणभरितेण, न तेण सत्थेण गंतव्वं॥

कुंकुम, अगुरु, तगरपत्र, त्वक्—छाल, कस्तूरिका, हिंगुल, शंख, लवण आदि द्रव्यों से भरे हुए भांड हों, वैसे सार्थों के साथ न जाएं, क्योंकि व्याघात होने पर वे भोज्यरूप में क्या दे सकते हैं?

३०७५.खेत्ते जं बालादी, अपरिस्संता वयंति अद्धाणं।
काले जो पुव्वण्हे, भावे सपक्खादणोमाणं॥

बाल-वृद्ध मुनि सुखपूर्वक बिना थकावट अनुभव किए विहरण कर सकते हैं, उतनी दूरी तक जाने वाला सार्थ क्षेत्रतः शुद्ध होता है। जो सार्थ पूर्वाह्न में ठहर जाता है वह कालतः शुद्ध और जो सार्थ स्वपक्ष-परपक्ष के भिक्षुओं को पर्याप्त भिक्षा देता है वह भावतः शुद्ध होता है।

३०७६.एक्किक्को सो दुविहो, सुद्धो ओमाणपेल्लितो चेव।
मिच्छत्तपरिग्गहितो, गमणाऽऽदियणे य ठाणे अ॥

भंडीसार्थ और बहिलकसार्थ—इन दोनों में प्रत्येक के दो-

---

१. (१) भंडी सार्थ—गाड़ियों से चलने वाला।
(२) बहिलकसार्थ—ऊंट, बैल आदि से चलने वाला।
(३) भारवाहसार्थ—भार ढोने वालों का।
(४) औदारिकसार्थ—रुपये देकर मार्ग में भोजन करने वालों का।
(५) कार्पटिकसार्थ—भिक्षा से निर्वाह करने वालों का।

२. गणिम—गिनकर दी जाने वाली वस्तुएं।
धरिम—तोल कर दी जाने वाली वस्तुएं।
मेय—माप कर दिए जाने वाले पदार्थ।
परिच्छेद्य—आंखों से परीक्ष्य पदार्थ, जैसे—रत्न, मोती आदि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दो भेद हैं—शुद्ध और अशुद्ध। शुद्ध वह है जो अवमानप्रेरित (वस्तु के अभाव से प्रेरित) नहीं है, जो अवमानप्रेरित है वह अशुद्ध है। सार्थ का संरक्षक मिथ्यादृष्टि हो तो वह सार्थ मिथ्यात्वपरिगृहीत होता है। ऐसे सार्थ के साथ नहीं जाना चाहिए। जो सार्थ गमन में मंदगति वाला है, आदन—भोजन-वेला में तथा जो ठाण—स्थंडिल वेला में एक स्थान पर ठहर जाता है, वह सार्थ शुद्ध है।

३०७७.समणा समणि सपक्खो,
परपक्खो लिंगिणो गिहत्था य।
आया-संजमदोसा,
असईय सपक्खवज्जेण॥

श्रमण और श्रमणी स्वपक्ष हैं। लिंगी—अन्यतीर्थिक और गृहस्थ परपक्ष हैं। इनसे आकीर्ण सार्थ में पर्याप्त न मिलने पर आत्म-संयमदोष होते हैं। सार्थ में अनवमान न होने पर, स्वपक्ष को छोड़कर यदि परपक्षावमान होता है तो उस सार्थ के साथ जाया जा सकता है।

३०७८.गमणं जो जुत्तगती, वइगा-पल्लीहिं वा अछिण्णेणं।
थंडिल्लं तत्थ भवे, भिक्खग्गहणे य वसही य॥
३०७९.आदियणे भोत्तूणं, ण चलति अवरण्हे तेण गंतव्वं।
तेण परं भयणा ऊ, ठाणे थंडिल्लठाई उ॥

उस सार्थ का गमन शुद्ध है जो युक्तगति—मंदगति वाला होता है। वह सार्थ व्रजिका, पल्ली आदि से अच्छिन्न पथ से जाता है। वहां स्थंडिल भी प्राप्त हो जाता है, भिक्षाग्रहण तथा वसति भी सुलभता से प्राप्त हो जाती है। जो भोजनवेला में ठहर कर अपराह्न में चलता है, उस सार्थ के साथ जाना चाहिए। भोजनोपरान्त गमन की भजना है। जो सार्थगमन से उपरत होकर स्थंडिलस्थायी होता है, वह शुद्ध सार्थ है।

३०८०.पुराण सावग सम्मद्दिट्ठि अहाभद्द दाणसड्ढे य।
अणभिग्गहिए मिच्छे, अभिग्गहे अण्णतित्थी य॥

आठ प्रकार के सार्थवाह—

(१) पश्चात्कृत	(५) दानश्राद्ध
(२) श्रावक	(६) अनभिगृहीत मिथ्यादृष्टि
(३) सम्यग्दृष्टि	(७) अभिगृहीत मिथ्यादृष्टि
(४) यथाभद्रक	(८) अन्यतीर्थिक।

आदियात्रिक—सार्थ आरक्षक भी इसी तरह आठ प्रकार के होते हैं।

३०८१.सत्थपणए य सुद्धे,
य पेल्लिओ कालऽकालगम-भोगी।
कालमकालट्ठाई,
सत्थाहऽट्ठाऽऽदियत्तीया॥

सार्थपंचक में भंडीसार्थ तथा बहिलकसार्थ—ये दोनों शुद्ध अथवा प्रेरित हो सकते हैं। कालगामी-अकालगामी या कालभोजी-अकालभोजी या कालनिवेशी-अकालनिवेशी या स्थंडिलस्थायी-अस्थंडिलस्थायी—ये पांचों प्रकार के सार्थ हो सकते हैं। तथा आठ प्रकार के सार्थवाह और आठ प्रकार के आदियांत्रिक होते हैं।

३०८२.एतेसिं तु पयाणं, भयणाए सयाइं एक्कपन्नं तु।
वीसं च गमा नेया, एत्तो य सयग्गसो जयणा॥

इन पदों की भंगरचना करने पर ५१२० भंग होते हैं। एत्तो—इन भंगों में शतभेदवाली यतना होती है।

३०८३.कालुट्ठाई कालनिवेसी, ठाणट्ठाती य कालभोगी य।
उग्गतऽणत्थमि थंडिल, मज्झण्ह धरंत सूरे य॥

जो सार्थ कालोत्थायी अर्थात् सूर्योदय होने पर प्रयाण करता है और कालनिवेशी अर्थात् सूर्यास्त होने पर ठहर जाता है। जो सार्थ स्थानस्थायी अर्थात् स्थंडिल के समय व्रजिका आदि में ठहरता है और जो कालभोजी—मध्याह्न अथवा सूर्य के रहते भोजन कर लेता है।

३०८४.एतेसिं तु पयाणं, भयणा सोलसविहा उ कायव्वा।
सत्थपणएण गुणिया, असिती भंगा तु णायव्वा॥
३०८५.सत्थाह अट्ठगुणिया, असीति चत्ताल छस्सता होंति।
ते आइयत्तिगुणिया, सत एक्कावण्ण वीसहिया॥

इन कालोत्थायी आदि चारों पदों के १६ विकल्प करने चाहिए। इनको पांच प्रकार के सार्थ से गुणन करने पर ८० भंग होते हैं अनको आठ प्रकार के सार्थवाहों से गुणन करने पर (८०×८)=६४० विकल्प होते हैं। इस संख्या को आठ प्रकार के आयतियों से गुणन करने पर (६४०×८)=५१२० भंग होते हैं। (इन विकल्पों में जो बहुतरगुण वाला सार्थ हो उसके साथ गमन करना चाहिए।)

३०८६.दोण्ह वि चियत्त गमणं,
एगस्सऽचियत्त होति भयणा उ।
अप्पत्ताण णिमित्तं,
पत्ते सत्थम्मि परिसाओ॥

यदि दो सार्थाधिपति हों तो दोनों की आज्ञा लेनी चाहिए। यदि दोनों की प्रीति हो तो गमन करना चाहिए। यदि एक की अप्रीति हो तो वहां गमन की भजना है। सार्थ अप्राप्त हो तो स्वयं के निमित्त—शकुन से प्रस्थान कर देना चाहिए। सार्थ के प्राप्त हो जाने पर सार्थ के शकुन को मान्य करना चाहिए और साधुओं की तीन परिषदें करनी चाहिए—मृगपरिषद्, सिंहपरिषद् और वृषभपरिषद्। आगे मृग, बीच में सिंह और पीछे वृषभ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३०८७.दोन्नि वि समागया सत्थिगो य
जस्स व वसेण वच्चति तु।
अणणुण्णविते गुरुगा,
एमेव य एगतरपंते॥

सार्थवाह और आदियात्रिक–दोनों एक साथ आए तो दोनों की अनुज्ञा प्राप्त करनी चाहिए। जिसका सार्थ होता है, वह है सार्थवाह। उसकी अथवा जिसके वश में चलता है सार्थ उसकी अनुज्ञा लेनी होती है। बिना उनको अनुज्ञापित किए गमन करने पर चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त है। दोनों में से कोई एक भी प्रान्त हो और उसके साथ गमन करने पर भी यही प्रायश्चित्त है।

३०८८.जो होइ पेल्लतो तं, भणंति तुह बाहुछायसंगहिया।
वच्चामऽणुग्गहो त्ति य, गमणं इहरा उ गुरु आणा॥

जो उनमें प्रेरक–प्रमाणभूत होता है उसे मुनि कहे–हम तुम्हारी भुजाओं की छाया में संगृहीत होकर जाना चाहते हैं। तब यदि वह कहे–आपका मुझ पर अनुग्रह होगा। तब मुनि उस सार्थ के साथ गमन करे। अन्यथा गमन करने पर चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं।

३०८९.पडिसेहण णिच्छुभणं, उवकरणं बालमादि वा हारे।
अतियत्त गुम्मिएहि व, उड्डंभंते ण वारेति॥

प्रान्त सार्थवाह वाले सार्थ के साथ गमन करने पर वह भक्तपान का प्रतिषेध, सार्थ से निष्कासन, उपकरणों तथा बालसाधुओं का चोरों से अपहरण करा देता है, और चोर आदि साधुओं को लूटते हैं तब आदियात्रिक[1] या गौल्मिकों[2] द्वारा चोरों का निवारण नहीं कराता, उदासीन रहता है–ये दोष होते हैं।

३०९०.भद्दगवयणे गमणं, भिक्खे भत्तट्ठणाए वसधीए।
थंडिल्ल असति मत्तग, वसभा य पदेस वोसिरणं॥

भद्रक सार्थवाह के कहने पर उस सार्थ के साथ गमन करे। भिक्षा तथा भक्तार्थना–भोजन करने विषयक और वसति-विषयक यतना करे। स्थंडिल में व्युत्सर्ग करे। उसके अभाव में मात्रक में उत्सर्ग कर स्थंडिल में परिष्ठापन करे। यह वृषभों की यतना है। यदि सर्वथा स्थंडिल न मिले तो धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय तथा आकाशास्तिकाय के प्रदेशों में व्युत्सर्ग करे।

३०९१.पुव्वं भणिया जयणा, भिक्खे भत्तट्ठ वसहि थंडिल्ले।
सा चेव य होति इहं, णाणत्तं णवरि कप्पम्मि॥

भिक्षा, भक्तार्थ, वसति तथा स्थंडिल विषयक यतना जो पूर्वभणित है, वही अध्वगत के लिए होती है। केवल कल्प अर्थात् अध्वकल्प विषयक यतना में नानात्व है।

३०९२.अग्गहणे कप्पस्स उ,
गुरुगा दुविधा विराहणा णियमा।
पुरिसऽद्धाणं सत्थ,
णाउं वा वी ण गिण्हिज्जा॥

अध्वकल्प साथ न लेने पर चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त तथा नियमतः दोनों प्रकार की विराधना (आत्मविराधना, संयम-विराधना) होती है। यदि सार्थ के पुरुष संहनन और धृति-संपन्न हों, मार्ग केवल एक-दो दिन का हो, सार्थवाह भद्रक आदि हो–इन सारे तथ्यों की जानकारी कर अध्वकल्प न ले तो भी कोई दोष नहीं है।

३०९३.सक्कर-घत-गुलमीसा,अगंठिमा खज्जूरा व तम्मीसा।
सत्तू पिण्णागो वा, घत-गुलमिस्सो खरेणं वा॥

अध्वकल्प कैसा हो? घृत और गुड़ से मिश्रित या शर्करा और घृत से मिश्रित 'अग्रन्थिम' टुकड़े-टुकड़े किए हुए कदली फल, अथवा घृत-गुड़ से मिश्रित खर्जूर अथवा घृत-गुड़ मिश्रित सत्तु अथवा घृत-गुड़मिश्रित पिण्याक अथवा खर तैल से मिश्रित पिण्याक–ऐसा अध्वकल्प ग्रहण करना चाहिए।

३०९४.थोवा वि हणंति खुहं, न य तण्हं करेंति एते खज्जंता।
सुक्खोदणं वऽलंभे, समितिम दंतिक्क चुण्णं वा॥

ये अध्वकल्प थोड़े होने पर भी भूख को मिटाते हैं। इनको खाने से प्यास भी नहीं लगती। ऐसे अध्वकल्प के अभाव में सूखा ओदन या शुष्कमंडक या दंतिक्कचूर्ण–इन सबको घृत-गुड़ से मिश्रित कर रखना चाहिए।

३०९५.तिविहाऽऽमयभेसज्जे,वणभेसज्जे स सप्पि-महु-पट्टे।
सुद्धाऽसति तिपरिरए, जा कम्मं णाउमद्धाणं॥

अध्वगत मुनि वातज, पित्तज और श्लेमज–इन तीन प्रकार के रोगों के लिए भैषज्य तथा व्रणों पर लेप करने के लिए घृतमिश्रित या मधुमिश्रित भैषज्य तथा व्रणों पर बांधने के लिए पट्टी साथ में ले। ये शुद्ध न मिले तो 'त्रिपरिरय' यतनापूर्वक अर्थात् पंचकपरिहानि से प्रारंभ कर आधाकर्म पर्यन्त दोष की प्रतिसेवना कर उसे ग्रहण करे। मार्ग अल्प है या बहुत–यह जानकर उसके अनुसार अध्वकल्प ग्रहण करे।

३०९६.अद्धाण पविसमाणो, जाणगनीसाए गाहए गच्छं।
अह तत्थ न गाहिज्जा, चाउम्मासा भवे गुरुगा॥

अध्वगत होने से पूर्व आचार्य गीतार्थ की निश्रा में गच्छ

१. आदियात्रिक–सार्थआरक्षक।
२. गौल्मिक–स्थानरक्षपाल।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को अध्वकल्प प्राप्त कराए। यदि ऐसा नहीं करते हैं तो चार गुरुमास का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३०९७.सभए सरभेदादी, लिंगविओगं च काउ गीयत्था।
खरकम्मिया व होउं, करेंति गुत्तिं उभयवग्गे॥

जहां भय हो वहां स्वरभेद-वर्णभेदकारिणी गुटिकाओं का प्रयोग करते हैं गीतार्थ मुनि लिंग-वियोग कर चलते हैं, जिससे उनकी पहचान न हो सके। अथवा खरकर्मिक–शस्त्रों से सज्जित होकर चलते हैं, जिससे वे उभयवर्ग–साधु-साध्वी वर्ग की रक्षा कर सकें।

३०९८.जे पुव्विं उवकरणा, गहिया अद्धाण पविसमाणेहिं।
जं जे जोग्गं जत्थ उ, अद्धाणे तस्स परिभोगो॥

अध्व-प्रवेश करते समय जो पहले उपकरण साथ में लिए थे, उनका मार्ग में यथोचित काल में उपयोग करना चाहिए।

३०९९.सुक्खोदणो समितिमा, कंजुसिणोदेहि उण्हविय भुंजे।
मूलुत्तरे विभासा, जतिऊणं णिग्गते विवेगो॥

सूखा ओदन या शुष्कमंडक को कांजी[1] के साथ या उष्णोदक से गरम कर खाना चाहिए। उसमें मूलगुण और उत्तरगुणों का चिंतन करना चाहिए। इस प्रकार से यतनापूर्वक मार्ग को संपन्न करने के पश्चात् जो अध्वकल्प अवशिष्ट रहा है उसका परिष्ठापन कर देना चाहिए।

३१००.कामं कम्मं तु सो कप्पो, णिसिं च परिवासितो।
तहा वि खलु सो सेओ, ण य कम्मं दिणे दिणे॥
३१०१.आधाकम्माऽसतिं घातो, सइं पुव्वहते त्ति य।
जे उ ते कम्ममिच्छंति, निग्घिणा ते न मे मता॥

यह अनुमत है कि अध्वकल्प आधाकर्म है तथा रात्री में परिवासित भी है, फिर भी वह श्रेयस्कर है। प्रतिदिन प्राप्त आधाकर्म श्रेयान् नहीं है, क्योंकि प्रतिदिन होने वाले आधाकर्म में जीवोपघात अनेक बार होता है और अध्वकल्प में एक ही बार जीवोपघात होता है तथा पूर्वहत जीव प्रतिदिन नहीं मारे जाते। जो अध्वकल्प का परिभोग करना नहीं चाहते, किन्तु आधाकर्म का भोज्य खाने की इच्छा करते हैं, वे निर्घृण–दयाहीन हैं, इसलिए वे मेरे द्वारा सम्मत नहीं हैं।

३१०२.कालुट्ठाईमादिसु, भंगेसु जतंति बितियभंगादी।
लिंगविवेगोक्कंते, चुडलीए मग्गतो अभए॥

कालोत्थायी आदि भंगों में द्वितीय भंग से आगे के भंगों में यतना करते हैं। द्वितीय भंग में सार्थ को अकालभोजी जानकर मुनि अपने लिंग को छोड़ कर रात्री में अन्यलिंग से भक्त-पान लेते हैं। तीसरे चौथे भंग में सार्थ को अस्थानस्थायी जानकर बैलों आदि द्वारा आक्रांत भूमी में ठहरते हैं। आगे के चार भंगों में सार्थ को अकालनिवेशी जानकर चुडलिका के प्रकाश से संस्तारकभूमी आदि में बिल की गवेषणा करते हैं। आगे के आठ भंगों (९ से १६) रात्री में प्रस्थान करने वाले सार्थ के पीछे रहकर, फिर विहार करते हैं, यदि स्तेनों का भय न हो तो।

३१०३.सावय अण्णट्ठकडे, अट्ठा सुक्खे सय जोइ जतणाए।
तेणे वयणचडगरं, तत्तो व अवाउडा होंति॥

श्वापद आदि का भय हो तो सार्थ द्वारा कृत वृत्तिपरिक्षेप में ठहरें या साधुओं के लिए किए हुए परिक्षेप में रहे। उसके अभाव में स्वयं सूखे कंटक आदि से परिक्षेप तैयार करे। यतनापूर्वक अग्नि का उपयोग करे। यदि चोरों का भय हो तो मुनि परस्पर वचनचटकर–वाग् आडंबर करे कि चोर सुनकर भाग जाए। अथवा उन चोरों के अभिमुख होकर अपावृत–नग्न हो जाएं।

३१०४.सावय-तेणपरद्धे, सत्थे फिडिया ततो जति हवेज्जा।
अंतिमवइगा विंटिय, णियट्टणय गोउलं कहणा॥

श्वापद अथवा चोरों द्वारा सार्थ पर व्याघात किए जाने पर सार्थ के लोग अनेक दिशाओं में भाग जाते हैं। यदि मुनि इस प्रकार सार्थ से बिछुड़ जाएं। अंतिम व्रजिका में विंटिका। साधुओं का निवर्तन। गोकुल का कथन। (विस्तार आगे।)

३१०५.अद्धाणम्मि महंते, वट्टंतो अंतरा तु अडवीए।
सत्थो तेणपरद्धो, जो जत्तो सो ततो नट्ठो॥
३१०६.संजयजणो य सव्वो, कंची सत्थिल्लयं अलभमाणो।
पंथं अजाणमाणो, पविसेज्ज महाडविं भीमं॥

सार्थ प्रस्थित है। मार्ग बहुत लंबा है। बीच में एक महान् अटवी है। वहां चोरों ने सार्थ पर आक्रमण कर दिया। सार्थ के पुरुष जो जहां थे, वे वहां से पलायन कर गए। मुनिजन किसी सार्थपुरुष को न पाकर, मार्ग को न जानते हुए, वे भयंकर अटवी में प्रवेश कर गए।

३१०७.सव्वत्थामेण ततो, वि सव्वकज्जुज्जया पुरिससीहा।
वसभा गणीपुरोगा, गच्छं धारिंति जतणाए॥

वहां सर्वशक्तिसंपन्न वृषभ मुनि, जो पुरुषसिंह और सभी कार्य करने में उद्यत हैं, वे आचार्य के आगे आकर विपत्ति से घिरे गच्छ को यतना से धारण करते हैं, रक्षा करते हैं।

३१०८.जइ तत्थ दिसामूढो, हवेज्ज गच्छो सबाल-वुड्ढो उ।
वणदेवयाए ताहे, णियमपगंपं तह करेंति॥

यदि वहां सबालवृद्ध गच्छ दिशामूढ़ हो जाता है तो मुनि वनदेवता के आकंपन के लिए नियमप्रकंप–निश्चयपूर्वक किया जाने वाला कायोत्सर्ग इस प्रकार करते हैं कि

१. लाटदेश में अवश्रावण का अर्थ है–कांजिक।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह देवता आकंपित होने पर दिशा या पथ का निर्देश कर देता है।

३१०९.सम्मद्दिट्ठी देवा, वेयावच्चं करेंति साहूणं।
गोकुलविउव्वणाए, आसास परंपरा सुद्धा॥

सम्यग्दृष्टि देवता साधुओं का वैयावृत्त्य करते हैं। वे गोकुल की विकुर्वणा करते हैं। गोकुल के आश्वासन से–परंपरा से मुनि जनपद तक पहुंच जाते हैं। यह परंपरा भी शुद्ध है।

३११०.सावय-तेणपरद्धे, सत्थं फिडिया तओ जइ हविज्जा।
अंतिमवइगा विंटिय, नियट्टणय गोउलं कहणा॥

श्वापद या स्तेनों के आघात से सार्थ का पलायन हो जाने पर यदि साधु भटक जाएं तो कायोत्सर्ग के द्वारा देवता को आकंपित करे, वह पथदर्शन करता है और व्रजिका की विकुर्वणा कर साधुओं को जनपद तक पहुंचा देता है। अंतिम व्रजिका में देवयोग से मुनि वहां विंटिका को भूल जाते है। उसे लेने पुनः लौटते हैं, वहां गोकुल को नहीं देखने और फिर आचार्य को गोकुल की बात बताते है। गुरु जान जाते हैं कि गोकुल देवकृत थे।

३१११.भंडी-बहिलग-भरवाहिगेसु एसा तु वण्णिया जतणा।
ओदरिय विवित्तेसु य, जयण इमा तत्थ णातव्वा॥

भंडी, बहिलक, भारवाही–इन सार्थों के प्रति यह यतना कही गई है। औदारिक और विविक्त अर्थात् कार्पटिक सार्थों के प्रति यह यतना ज्ञातव्य है।

३११२.ओदरिपत्थयणाऽसइ,
पत्थयणं तेसि कन्द-मूल-फला।
अग्गहणम्मि य रज्जू,
वलिंति गहणं च जयणाए॥

औदारिक सार्थ के साथ जाने पर यदि उनके पास शंबल का अभाव होने पर वे कन्द-मूल-फल आदि खाते हैं और साधुओं को भी वही आहार देते हैं। उसको ग्रहण न करने पर वे साधुओं को डराने के लिए रज्जू को बंटते हैं, अतः यतना से उसे ग्रहण करते हैं।

३११३.कंदाइ अभुंजंते, अपरिणए सत्थिगाण कहयंति।
पुच्छा वेधासे पुण, दुक्खिहरा खाइउं पुरतो॥

अपरिणत शिष्य यदि कन्द आदि नहीं खाते हैं तो वृषभ मुनि सार्थिकों से कहते हैं। वे सार्थिक रज्जू को बंटते हैं। पूछने पर कहते हैं–जो कंद आदि नहीं खाते, हम उनको इस रस्सी से बांधकर आकाश में लटकाएंगे। अन्यथा बुभुक्षा से पीड़ित इस मुनि के सामने हमारा खाना दुष्कर है, कष्टप्रद है।

३११४.इहरा वि मरति एसो, अम्हे खायामो सो वि तु भएण।
कंदादि कज्जगहणे, इमा उ जतणा तहिं होति॥

यह मुनि बुभुक्षा से ऐसे ही मरने वाला है तो हम उसे रज्जू के सहारे आकाश में लटका कर मार देंगे और फिर हम कन्दादि खायेंगे। इन प्रयोजनों में कन्द आदि के भक्षण में यह यतना होती है।

३११५.फासुग जोणिपरित्ते, एगट्ठिगऽबद्ध भिन्नऽभिण्णे अ।
बद्धट्ठिए वि एवं, एमेव य होइ बहुबीए॥

प्रासुक परीत्तयोनिक, एकास्थिक, अबद्धास्थिक, भिन्न–विदारित अभिन्न–अविदारित। इसी प्रकार बद्धास्थिक तथा बहुबीज में भी भिन्न-भिन्न भंग होते हैं। वृत्ति में इन सबके ३२ भंग बतलाए हैं। यह वृक्ष के नीचे पड़े प्रलंब के विषय में है।

३११६.एमेव होइ उवरिं, एगट्ठिय तह य होइ बहुबीए।
साहारणं सभावा, आदीए बहुगुणं जं च॥

इसी प्रकार वृक्ष के ऊपर प्रलंब आदि एकास्थिकपद तथा बहुबीजपद के साथ भी बत्तीस भंग होते हैं। इनमें जो स्वभावतः साधारण द्रव्य है, शरीरोपष्टंभकारक है, वह ग्रहण करे। वही बहुगुण–बहुत उपकारी हो सकता है।

३११७.तुवरे फले य पत्ते, रुक्ख-सिला-तुप्प-मद्दणादीसु।
पासंदणे पवाते, आतवतत्ते वहे अवहे॥

अध्वगत मुनि को यदि कांजिक आदि प्रासुक पानक प्राप्त न हो तो निम्न पानक–एक के अभाव में दूसरा और दूसरे के अभाव में तीसरा–इस क्रम से ले सकता है।

(१) तुवर फल–हरीतकी आदि तथा तुवरपत्र–पलाशपत्र आदि से परिणामित पानक।
(२) वृक्ष के कोटर में कटुक फल या पत्र से परिणामित।
(३) सिलाजित से भावित।
(४) तुप्प–मृत कलेवर, वशा, घृत से भावित।
(५) मर्दन–हाथी आदि से आक्रांत।
(६) प्रस्यंदन–निर्झर का पानक।
(७) प्रपातोदक।
(८) आतप से तप्त।
(९) अवहमान–जो बहता नहीं है।
(१०) वहमान।

ये पानक क्रमशः लिए जा सकते हैं।

३११८.ओमे एसणसोहिं, पजहति परितावितो दिगिंच्छाए।
अलभंते वि य मरणे, असमाही तित्थवोच्छेदो॥

अवमौदरिका में भूख से परितापित होकर मुनि यदि एषणाशुद्धि को छोड़ देता है अथवा भक्तपान न मिलने पर मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। असमाधि में मरने पर दुर्गति होती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है तथा भूख से अनेक मुनियों के मरने से तीर्थ का व्यवच्छेद हो जाता है।

३११९.ओमोदरियागमणे, मग्गे असती य पंथे जयणाए।
परिपुच्छिऊण गमणं, चउव्विहं रायदुट्ठं च॥

अवमौदरिका में जाने का अवसर आए तो पहले मार्ग से जाना चाहिए। उसके अभाव में पूछ कर पथ यतनापूर्वक गमन करे। राजा के द्विष्ट होने के चार कारण हैं–

३१२०.ओरोहधरिसणाए, अब्भरहितसेहदिक्खणाए वा।
अहिमर अणिद्वदरिसण, वुग्गाहणया अणायारे॥

(१) किसी लिंगस्थ ने उसके अतःपुर की धर्षणा की है।
(२) अभ्यर्हित राजा, अमात्य आदि का पुत्र दीक्षित हुआ है।
(३) साधुवेश में कुछ अभिमर (चपेटा मार कर प्राण लेने वाले?) प्रवेश कर गए हैं।
(४) साधुओं के दर्शन अनर्थकारी होते हैं, इस प्रकार अमात्य आदि द्वारा व्युद्ग्राहित हो जाने पर अथवा साधु को अनाचार की प्रतिसेवना करते हुए देख लेने पर–ये कारण बनते हैं।

३१२१.निव्विसउ त्ति य पढमो, बितियो मा देह भत्त-पाणं से।
ततितो उवकरणहरो, जीय चरित्तस्स वा भेतो॥

इस प्रकार प्रद्विष्ट होकर राजा चार प्रकार का दंड प्रयुक्त करता है–

१. देश से निकाल देना।
२. भक्तपान देने का निषेध करना।
३. उपकरणों का हरण कर लेना अर्थात् उपकरण देने का निषेध करना।
४. मार डालना या चारित्र का भेद कर देना।

३१२२.गुरुगा आणालोवे, बलियतरं कुप्पे पढमए दोसो।
गिण्हंत देंतदोसा, बितिय-तिए चरिमे दुविह भेतो॥

देश निष्काशन की आज्ञा का लोप करने पर चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त। इस आज्ञा के उल्लंघन से राजा अत्यधिक कुपित हो जाता है। यह प्रथम आज्ञा का लोप संबंधी दोष है। दूसरी और तीसरी आज्ञा का लोप होने पर अर्थात् भक्तपान और उपकरण लेने वालों तथा इनको देने वाले गृहस्थों के ग्रहण-आकर्षण आदि दोष होते हैं तथा चौथे विकल्प में जीव और चारित्र–दोनों का भेद हो जाता है।

३१२३.सच्छंदेण य गमणं, भिक्खे भत्तट्ठणे य वसहीए।
दारे व ठितो रुंभति, एगट्ठ ठितो व आणावे॥

देश निष्काशन की आज्ञा प्राप्त कर मुनि वहां से स्वच्छंद गमन करे परंतु भैक्ष, भक्तार्थन तथा वसति विषयक सामाचारी का पालन करे। ग्रामद्वार पर स्थित अथवा सभा–देवकुल में स्थित कोई साधुओं को रोकता है और उनको आहार करने के लिए स्वयं के पास आज्ञापित करता है तो वहां यह यतना करनी चाहिए।

३१२४.सच्छंदेण उ गमणं, सयं व सत्थेण वा वि पुव्वुत्तं।
तत्थुग्गमादिसुद्धं, असंथरे वा पणगहाणी॥

स्वच्छंद गमन की स्थिति आने पर मुनि स्वयं अकेला या सार्थ के साथ प्रस्थान करे तथा पूर्वोक्त (गाथा ३१०५-३११०) यतना करे। उद्गमादि से शुद्ध भक्त-पान ग्रहण करे, अपर्याप्त होने पर पंचक परिहानि से भक्त-पान प्राप्त करे।

३१२५.तिण्हेगयरे गमणे, एसणमादीसु होति जतियव्वं।
भत्तट्ठण थंडिल्ले, असती वसहीए जं जत्थ॥

आगे कहे जाने वाले तीन प्रकार के गमन में से किसी एक प्रकार के गमन में भी एषणा आदि में यतना करनी चाहिए। भक्तार्थन (भोजन करने की विधि), स्थंडिल विषयक तथा वसति के अभाव में, जहां अल्पतर दोष हो, उसका आचरण करे।

३१२६.सच्छंदओ य एक्कं, बितियं अण्णत्थ भोत्तिहं एह।
ततिए भिक्खं घेत्तुं, इह भुंजह तीसु वी जतणा॥

तीन प्रकार के गमन–एक है–स्वच्छंदगमन, दूसरा है–राजपुरुष कहते हैं–अन्यत्र कहीं भी भोजन कर यहां आ जाना, तीसरा है–भिक्षा लेकर यहां आकर भोजन करना–इन तीनों में भैक्ष आदि की यतना करनी चाहिए।

३१२७.सबिइज्जए व मुंचति, आणावेत्तुं व चोल्लए देति।
अम्हुग्गमाइसुद्धं, अणुसट्ठि अणिच्छे जं अंतं॥

राजपुरुष भिक्षा के लिए जाने वाले साधुओं के साथ-साथ घूमता है अथवा वह राजपुरुष भोजन देता है तब मुनि उससे कहे–हमें उद्गम आदि से शुद्ध आहार लेना कल्पता है। यदि वह साधुओं को मुक्त कर देता है तो वे भिक्षा के लिए चले जाते हैं। मुक्त न करने पर अनुशिष्टि करनी चाहिए। न मानें तो उसके द्वारा लाया हुआ अन्त-प्रान्त ले लेना चाहिए।

३१२८.पुव्वं व उवक्खडियं, खीरादी वा अणिच्छे जं दिंति।
कमढग भुत्ते सण्णा, कुरुकुय दुविहेण वि दवेण॥

राजपुरुष जो भोजन लाया है उसमें जो दूध-दही आदि पूर्व उपस्कृत हैं, वे ले लें। यदि वह उन्हें देना न चाहे तो वह जो दे, उसीका भोजन कर ले।' 'कमढक' में भोजन कर ले। भोजन कर लेने तथा संज्ञा के व्युत्सर्जन के पश्चात् दोनों प्रकार के द्रव (सचित्त या अचित्त पानी) से कुरुकुच–हाथ आदि प्रक्षालित कर ले।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३१२९.बिइए वि होइ जयणा, भत्ते पाणे अलब्भमाणम्मि।
दोसीण-तक्क-पिंडी, एसणमादीसु जतितव्वं॥

राजद्विष्ट होने पर दूसरी आज्ञा जो भक्त-पान निवारण की है, उसकी यतना यह है–भक्त-पान की प्राप्ति न होने पर बासी भोजन, तक्र तथा पिण्याकपिंडी–इनकी एषणा में यतना करनी चाहिए।

३१३०.पुराणादि पण्णवेउं, णिसिं पि गीतत्थे होति गहणं तु।
अग्गीते दिवा गहणं, सुण्णघरे वा इमेहिं वा॥

यदि गच्छ में सभी गीतार्थ हों तो पुराने अर्थात् पश्चात्कृत या श्रावक आदि हों तो उनको प्रज्ञापित कर रात्री में भी वह लिया जा सकता है। अगीतार्थ से मिश्र होने पर दिन में ग्रहण करे या शून्यगृह, देवकुल आदि में स्थापित ग्रहण करे।

३१३१.उंबर कोट्टिंबेसु व, देवउले वा णिवेदणं रण्णो।
कतकरणे करणं वा, असती नंदी दुविहदव्वे॥

देवकुल आदि में उदुंबर की अर्चा के लिए कूर आदि लाया हुआ, कोट्टिम्ब–वह स्थान जहां गोभक्त दिया जाता है, वहां स्थापित गोभक्त, अरण्य के देवकुल में स्थापित बलि आदि ले। राजा को अपनी स्थिति निवेदित करते रहें। वह शांत न हो तो कृतकरण मुनि करण करे, राजा को बांध कर उस पर शासन करे। उसके अभाव में नंदी पात्र में दोनों प्रकार के द्रव्यों (प्रासुक-अप्रासुक, परीत्त-अनंत, परिवासित-अपरिवासित, एषणीय-अनेषणीय) को ग्रहण करे।

३१३२.तइए वि होति जतणा, वत्थे पादे अलब्भमाणम्मि।
उच्चुद्ध विप्पइण्णे, एसणमादीसु जतितव्वं॥

तीसरे दंड विषयक यह यतना है–वस्त्र, पात्र की प्राप्ति न होने पर परित्यक्त या उकरडी पर पड़े हुए ले। इनकी एषणा आदि में यतना करे।

३१३३.हियसेसगाण असती,
तण अगणी सिक्कगा व वागा वा।
पेहुण-चम्मग्गहणं,
भत्तं तु पलास पाणिसु वा॥

राजा ने वस्त्रों का अपहरण कर लिया। शेष कुछ भी नहीं रहा। उस स्थिति में मुनि तृण, अग्नि का सेवन करे। पात्रबंध के अभाव में सिक्कक, शण-वल्क आदि ग्रहण करे। रजोहरण के स्थान पर पेहुण–मयूरपिच्छी काम में ले। प्रस्तरण और प्रावरण के लिए चर्म ग्रहण करे। आहार आदि पलाशपत्रों या हाथ में ग्रहण करे।

३१३४.असई य लिंगकरणं, पण्णवणट्ठा सयं व गहणट्ठा।
आगाढे कारणम्मिं, जहेव हंसादिणं गहणं॥

राजा उपशांत न हो तो अन्यतीर्थिक का वेश धारण करे। यह परलिंग राजा को समझाने के लिए या स्वयं भक्तपान या वस्त्र आदि पाने के लिए किया जाता है। जैसे–आगाढ़ कारण होने पर हंस आदि का तैल ग्रहण किया जाता है वैसे ही वस्त्र-पात्र आदि ग्रहण किए जाते हैं।

३१३५.दुविहम्मि भेरवम्मिं, विज्ज णिमित्ते य चुण्ण देवी य।
सेट्ठिम्मि अमच्चम्मि य, एसणमादीसु जतितव्वं॥

दो प्रकार के भयंकर आघात–स्वमरण या चारित्रभ्रंश उपस्थित होने पर राजा को विद्या, निमित्त, चूर्ण, देवता की आराधना से उपशांत करना चाहिए। यदि उपशांत न हो तो श्रेष्ठी, अमात्य आदि को प्रज्ञापित करना चाहिए। एषणा आदि में यतना करनी चाहिए।

३१३६.आगाढे अण्णलिंगं, कालक्खेवो व होति गमणं वा।
कयकरणे करणं वा, पच्छादण थावरादीसु॥

आगाढ़ कारण में अन्यलिंग से कालक्षेप करे, दूसरे देश में गमन न करे। जो कृतकरण मुनि हो वह करण का प्रयोग करे। उसके अभाव में स्थावर अर्थात् वन के वृक्षों में दिनभर छुपा रहे और रात्री में विहरण करे।

३१३७.बोहिय-मिच्छादिभए, एमेव य गम्ममाण जतणाए।
दोण्हऽद्धा व गिलाणे, णाणादट्ठा व गम्मंते॥

बोधिक–मालवदेश के स्तेन, म्लेच्छ आदि का भय हो तो देशान्तर जाते हुए उसी प्रकार अर्थात् अशिव आदि द्वारवत् यतना करे। ग्लान हो तो वैद्य और औषधि दोनों के लिए गमन किया जा सकता है। अथवा ज्ञान आदि के लिए गमन होता है।

३१३८.एगापत्तं च सता, वीसं चऽद्धाणणिग्गमा णेया।
एत्तो एक्केक्कम्मि य, सतग्गसो होइ जतणाओ॥

अध्वनिर्गमन के ५१२० भंग होते हैं (देखें ३०८२-३०८५)। इनके प्रत्येक भंग में शताग्रशः यतनाएं होती हैं।

३१३९.दुविहाऽवाता उ विहे, वुत्ता ते होज्ज संखडीए तु।
तत्थ दिया वि न कप्पति, किमु रातिं एस संबंधो॥

अध्वनिर्गत मुनि के मार्ग में दो प्रकार के अपाय (संयम-आत्मविराधनारूप) होते हैं संखडी में जाते समय भी ये ही अपाय होते हैं। उसमें जाना दिन में भी नहीं कल्पता तो फिर रात्री में कैसे? यह पूर्व गाथा से संबंध है।

३१४०.संखंडिज्जंति जहिं, आऊणि जियाण संखडी स खलु।
तप्पडिताए ण कप्पति, अण्णत्थ गते सिया गमणं॥

संखडी वह है जहां जीवों के आयुष्य का खंड-खंड कर दिया जाता है अर्थात् जहां प्रचुर जीवों का घात होता है वह है संखडी। संखडी में जाने की प्रतिज्ञा से संखडी में जाना नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कल्पता। अन्यकार्य के लिए संखडी वाले ग्राम में जाने पर संखडी में गमन हो सकता है।

३१४१.राओ व दिवसतो वा, संखडिगमणे हवंतऽणुग्घाया।
संखडि एगमणेगा, दिवसेहिं तहेव पुरिसेहिं॥

रात या दिन में संखडी में गमन करने पर चार अनुद्घात का प्रायश्चित्त आता है। संखडी दिवस और पुरुषों की अपेक्षा से एक अथवा अनेक होती है।

३१४२.एगो एगदिवसियं, एगोऽणेगाहियं व कुज्जाहि।
णेगा व एगदिवसिं, णेगा व अणेगदिवसं तु॥

कोई एक व्यक्ति एक दैवसिकी संखडी करता है अथवा वह एक व्यक्ति अनेक दैवसिकी संखडी करता है। अनेक पुरुष मिलकर एक दैवसिकी अथवा अनेक दैवसिकी संखडी करते हैं।

३१४३.एक्केक्का सा दुविहा, पुरसंखडि पच्छसंखडी चेव।
पुव्वा-ऽवरसूरम्मिं, अहवा वि दिसाविभागेणं॥

प्रत्येक संखडी के दो-दो प्रकार हैं—पुरःसंखडी, पश्चात्-संखडी। जो सूर्य के उदित होने पर की जाती है वह पुरः-संखडी और जो सूर्य के अपरदिशा में जाने पर अर्थात् सायं की जाती है वह पश्चात्संखडी है। अथवा जिस ग्राम के पूर्व दिशा में की जाने वाली संखडी पूर्वसंखडी और पश्चिम दिशा में की जाने वाली संखडी पश्चात्संखडी है।

३१४४.दुविहाए वि चउगुरू, विसेसिया भिक्खुमादिणं गमणे।
गुरुगादि व जा सपदं, पुरिसेगा-ऽणेग-दिण-रातो॥

दोनों प्रकार की संखडियों में गमन करने पर चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त है। यह प्रायश्चित्त भिक्षु आदि के आधार पर तपः और काल से विशेषित होता है। चतुर्गुरु से प्रारंभ कर स्वपद पर्यन्त अर्थात् छेद तक ले जाना चाहिए। एक पुरुषकृत, अनेक पुरुषकृत, एक दैवसिकी, अनेक दैवसिकी, रात या दिन के आधार पर प्रायश्चित्त का विधान हैं। (वृत्ति में इसका विस्तार है।)

३१४५.आयरियगमणे गुरुगा,
वसभाण अवारणम्मि चउलहुगा।
दोण्ह वि दोण्णि वि गुरुगा,
वसभ बला तेतरे सुद्धा॥

आचार्य यदि संखडी में जाते हैं जो चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त है। वृषभ यदि उनकी वर्जना नहीं करते हैं तो उनको चतुर्लघु का प्रायश्चित्त है। दोनों जाते हैं तो दोनों को चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त तप और काल से गुरु होता है। वृषभों द्वारा वर्जना करने पर भी यदि आचार्य अपनी शक्ति के अहं से जाते हैं तो वे प्रायश्चित्त के भागी हैं, वृषभ शुद्ध हैं।

३१४६.सव्वेसि गमणे गुरुगा, आयरियअवारणे भवे गुरुगा।
वसभे गीता-ऽगीए, लहुगा गुरुगो य लहुगो य॥

यदि सभी साधु संखडी में जाते हैं तो सबको चतुर्गुरु और आचार्य यदि उनकी वर्जना नहीं करते हैं तो उनको भी चतुर्गुरु, वृषभ यदि वर्जना नहीं करते तो चतुर्लघु, गीतार्थ यदि भिक्षु की वर्जना न करे तो गुरु मास और अगीतार्थ वर्जना न करे तो लघुमास का प्रायश्चित्त है।

३१४७.एगस्स अणेगाण व, छंदेण पहाविया तु ते संता।
वत्तमवत्तं सोच्चा, नियत्तणे होंति चउगुरुगा॥

एक या अनेक के अभिप्राय से मुनि संखडी में गए और यह सुनकर की संखडी हो गई या होगी, वे निवर्तन कर देते हैं। उस स्थिति में चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त है।

३१४८.वेलाए दिवसेहिं व, वत्तमवत्तं निसम्म पच्चेंति।
होहिइ अमुगं दिवसं, सा पुण अण्णम्मि पक्खम्मि॥

वेला या दिन से प्रतिबद्ध संखडी को सुनकर मुनि प्रस्थित हुए, मार्ग में सुना कि संखडी समाप्त हो गई अथवा और कभी होगी। यह सुनकर मुनि लौट आते हैं। अन्य ग्राम में स्थित मुनियों ने सुना कि अमुक ग्राम में अमुक दिन संखडी होगी। उस प्रतिनियत दिन में साधु संखडी में जाने के लिए प्रस्थित हुए। मार्ग में सुना कि वह संखडी अमुक पक्ष में अमुक दिन होगी, आज नहीं है।

३१४९.आदेसो सेलपुरे, आदाणऽट्ठाहियाए महिमाए।
तोसलिविसए विण्णवणट्ठा तह होति गमणं वा॥

आदेश—दृष्टांत। शैलपुर, आदान, अष्टाह्निकमहिमा। तोसलिविषय, विज्ञापना, वहां गमन। (विस्तार आगे की गाथा में)

३१५०.सेलपुरे इसितलागम्मि होति अट्ठाहिया महामहिमा।
कोंडलमेंढ पभासे, अब्बुय पादीणवाहम्मि॥

तोसलिदेश के शैलपुरनगर में ऋषितडाग पर प्रतिवर्ष अष्टदिवसीय महान् उत्सव होता था। लोग वहां संखडी करते थे। तथा कुंडलमेंठ नाम वाले वानमन्तर की यात्रा में संखडी का आयोजन होता था। तथा प्रभास तीर्थ में या अर्बुदपर्वत की यात्रा पर संखडी की जाती थी। तथा सरस्वती नदी के पूर्वाभिमुख प्रवाह पर आनन्दपुर के वास्तव्य लोग शरद् ऋतु में संखडी करते थे। (कोई शिष्य इन संखडियों में जाने के लिए गुरु को निवेदन करता है। निषेध करने पर वह कहता है—)

३१५१.अत्थि य मे पुव्वदिट्ठा, चिरदिट्ठा ते अवस्स दट्ठव्वा।
मायागमणे गुरुगो, तहेव गामाणुगामम्मि॥

भंते! उस गांव में मेरे पूर्वपरिचित मित्र हैं। उनसे मिले

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुझे चिरकाल हो गया है। अतः अब मुझे उनसे अवश्य मिलना है। यदि मायापूर्वक गुरु की अनुज्ञा लेकर वहां गमन करता है तो उसे एक गुरुमास का प्रायश्चित्त तथा संखडी के लिए ग्रामानुग्राम जाने पर भी गुरुमास प्रायश्चित्त है।

३१५२.गामाणुगामियं वा, रीयंता सोउ संखडिं तुरियं।
छड्डेंति व सति काले, गामं तेसिं पि दोसा उ॥

ग्रामानुग्राम विहरण करने वाले मुनि भी संखडी को सुनकर शीघ्रता से जाते हैं और भिक्षाकाल संप्राप्त होने पर भी मार्गगत ग्राम को छोड़ देते हैं तो उनके भी ये वक्ष्यमाण दोष होते हैं।

३१५३.गंतुमणा अन्नदिसिं, अन्नदिसि वयंति संखडिणिमित्तं।
मूलग्गामे व अडं, पडिवसभं गच्छति तदट्ठा॥

३१५४.एगाहि अणेगाहिं, दिया व रातो व गंतु पडिसिद्धं।
आणादिणो य दोसा, विराहणा पंथि पत्ते य॥

भिक्षाचर्या के लिए अन्य दिशा में जाने का इच्छुक संखडी के निमित्त अन्य दिशा में जाता है अथवा भिक्षा के लिए मूलग्राम में घूमता हुआ प्रतिवृषभग्राम में संखडी के लिए जाता है, वह संखडी चाहे एक दिवसीय या अनेक दिवसीय हो, जिसमें रात या दिन में जाना भी प्रतिषिद्ध है, वहां जाने पर आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं। अध्वगत या स्थानप्राप्त मुनियों के संयम तथा आत्मविषयक विराधना होती है। (वह आगे के श्लोकों में)।

३१५५.मिच्छत्ते उड्डाहो, विराहणा होति संजमाऽऽयाए।
रीयादि संजमम्मि य, छक्काय अचक्खुविसयम्मि॥

संखडी में जाते हुए मुनियों को देखकर मिथ्यात्व की वृद्धि और उड्डाह तथा संयम और आत्मविराधना होती है। रात्री में वहां जाने पर ईर्यासमिति का शोधन नहीं होता, अंधकार के कारण षट्काय की विराधना होती है। यह संयमविराधना है।

३१५६.जीहादोसनियत्ता, वयंति लूहेहि तज्जिया भोज्जे।
थिरकरणं मिच्छत्ते, तप्पक्खियखोभणा चेव॥

लोग उड्डाह करते हुए कहते हैं—ये मुनि जिह्वादोष अर्थात् रसगृद्धि से रहित हैं, फिर भी रूक्ष भोजन से वर्जित होकर भोज्य—संखडी में जा रहे हैं। इस प्रकार लोगों में मिथ्यात्व का स्थिरीकरण होता है तथा जो मुनिपक्ष के श्रावक होते हैं। उनमें क्षोभ उत्पन्न होता है।

३१५७.वाले तेणे तह सावते य विसमे य खाणु कंटे य।
अकम्हाभयं आतसमुत्थं, रत्तेमादी भवे दोसा॥

रात्री में जाने पर ये दोष होते हैं—व्याल—सर्प, स्तेन, श्वापद आदि का व्याघात तथा निम्नोन्नत मार्ग में स्खलित होना, स्थाणु या कांटों से बींध जाना, आत्मा से उत्पन्न अकस्मात् भय से भयभीत हो जाना आदि।

३१५८.वसहीए जे दोसा, परउत्थियतज्जणा य बिलधम्मो।
आतोज्ज-गीतसद्दे, इत्थीसद्दे य सविकारे॥

वसति संबंधी जो दोष, परतीर्थिकों की तर्जना, बिलधर्म, आतोद्यशब्द और गीतशब्द तथा स्त्रियों के सविकारशब्द (व्याख्या आगे के श्लोकों में)।

३१५९.आहाकम्मियमादी, मंडवमादीसु होति अणुमण्णा।
रुक्खे अब्भावासे, उवरिं दोसे परूवेस्सं॥

संखडीकर्ता श्रावक साधुओं के निमित्त मंडप आदि बना देता है। यह आधाकर्म होता है। इसमें रहने पर अनुमति दोष प्राप्त होता है। यदि मुनि वहां नहीं रहते हैं तो अन्य वसति के अभाव में वृक्षमूल या अभ्रावकाश—खुले आकाश में रहते हैं। वहां रहने पर जो दोष प्राप्त होते हैं, उनकी प्ररूपणा आगे की जाएगी।

३१६०.इंदियमुंडे मा किंचि बेह मा णे डहेज्ज सावेणं।
पेहा-सोयादीसु य, असंखडं हेउवादो य॥

संखडी में परतीर्थिक संन्यासी भी आते हैं। वे श्रमणों को वहां आये हुए देखकर उनकी तर्जना करते हुए कहते हैं—ये इन्द्रियमुंड हैं। इन्हें कुछ मत कहना, अन्यथा ये शाप देकर जला डालेंगे। तथा श्रमणों को प्रत्युपेक्षा करते हुए तथा शौचादि करते हुए देखकर परतीर्थिक उनका उपहास करते हैं। तब कलह हो सकता है। परतीर्थिक हेतुवाद—वाद की मार्गणा करते हैं। वाद न करने पर तिरस्कार करते हैं और करने पर कलह के लिए तैयार हो जाते हैं।

३१६१.भिंगारेण ण दिण्णा, ण य तुज्झं पेतिगी सभा एसा।
अतिबहुओ ओवासो, गहितो णु तुए कलहो एवं॥

(सभा आदि का वह सामान्य स्थान जहां साधु और गृहस्थ पिंडीभूत होकर रहते हैं, उसे 'बिलधर्म' कहा जाता है।) ऐसे स्थान में अधिक स्थान रोकने पर गृहस्थ साधुओं को कहते हैं—यह स्थान आपको भृंगार से नहीं मिला है।[1] यह पैतृकी—परंपरा से भी प्राप्त नहीं है। इस प्रकार कलह होता है।

३१६२.तत्थ य अतिंत णेंतो, संविट्ठो वा छिवेज्ज इत्थीओ।
इच्छमणिच्छे दोसा, भुत्तमभुत्ते य फासादी॥

उस स्थान से आते-जाते या बैठते समय कोई साधु के

१.भृंगारेणणदत्ता, उदकेन न कल्पितेति भावः। (वृ. पृ. ८८६)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्त्री का स्पर्श हो जाए तो आत्म-परोत्थ दोष होते हैं। मुनि स्त्री की प्रतिसेवना की इच्छा करता है तो संयमविराधना होती है और इच्छा न करने पर उड्डाह होता है। स्त्री के स्पर्श आदि से भुक्त-अभुक्त दोष होते हैं।

३१६३.आवासग सज्झाए, पडिलेहण भुंजणे य भासाए।
वीयारे गेलण्णे, जा जहिं आरोवणा भणिया॥

आवश्यक, स्वाध्याय, प्रत्युपेक्षण, भोजन, भाषा, विचार और ग्लानत्व—इन विषयों में जहां जो आरोपणा कही गई है, वह ज्ञातव्य है। (यह द्वार गाथा है। विवरण आगे की गाथाओं में।)

३१६४.आवासगं तत्थ करेंति दोसा,
सज्झाय एमेव य पेहणम्मि।
उड्डंच वारेंतमवारणे य,
आरोवणा ताणि अकुव्वओ जा॥

श्रमणों को आवश्यक, स्वाध्याय तथा प्रत्युपेक्षा करते हुए देखकर लोग उपहास करते हैं, उनके स्वरों में विद्रूप स्वर मिलाते हैं। मनाही करने पर कलह होता है और वर्जना न करने पर प्रवचन की अवहेलना होती है। यदि इस भय से आवश्यक आदि नहीं करते हैं तो आरोपणा प्रायश्चित्त आता है।

३१६५.जं मंडलिं भंजइ तत्थ मासो,
गारत्थिभासासु य एवमेव।
चत्तारि मासा खलु मंडलीए,
उड्डाहो भासासमिए वि एवं॥

सभा आदि स्थानों में भोजन मंडली को तोड़ने पर मासलघु तथा गृहस्थ की भाषा बोलने पर मासलघु का प्रायश्चित्त है। वहां यदि मंडली में भोजन करते हैं तो चार लघुमास, उड्डाह भी होता है। यही भाषा समिति विषयक प्ररूपणा है।

३१६६.थोवे घणे गंधजुते अभावे,
दवस्स वीयारगताण दोसा।
आवायसंलोगगया य दोसा,
करेंतऽकुव्वं परितावणादी॥

विचारभूमी अर्थात् शौचभूमी में गए हुए मुनियों संबंधी ये दोष होते हैं—द्रव अर्थात् पानी थोड़ा, घन—कलुषित, गंधयुक्त, है अथवा उसका अभाव है तो अवर्णवाद आदि होता है। विचारभूमी में आपात और संलोक संबंधी भी दोष होते हैं। यदि दोष के भय से संज्ञा को धारण करते हैं तो परितापना आदि दोष होते हैं।

३१६७.गिलाणतो तत्थऽतिभुंजणेण,
उच्चारमादीण व सण्णिरोधा।
अगुत्तसिज्जासु व सण्णिवासा,
उड्डाह कुव्वंतिमकुव्वतो य॥

संखडी में अतिमात्र भोजन करने से अथवा स्थान गृहस्थों से आकीर्ण होने के कारण उच्चार आदि वेग के सन्निरोध के कारण तथा अगुप्त वसति में रहने के कारण ग्लानत्व हो जाता है। यदि ग्लान वहां उच्चार-प्रस्रवण आदि करता है तो लोग उड्डाह करते हैं। यदि नहीं करता है तो निरोध के कारण परितापना आदि होती हैं।

३१६८.बहिया य रुक्खमूले, छक्काया साण-तेण-पडिणीए।
मत्तुम्मत्त विउव्वण, वाहण जाणे सतीकरणं॥

गांव के बाहर वृक्षमूल में रहने पर षट्काय विराधना होती है। कुत्ते, स्तेन या प्रत्यनीक का उपद्रव होता है। वहां मत्त-उन्मत्त व्यक्ति विकुर्वणा कर आते हैं। वाहन, यान आदि आते हैं। उनको देखकर पूर्वस्मृति उभर आती है।

३१६९.मा होज्ज अंतो इति दोसजालं,
तो जाति दूरं बहि रुक्खमूले।
अभुज्जमाणे तहियं तु काया,
अवाउते तेण सुणा य णेगे॥

ग्राम में रहने पर पूर्वोक्त दोषजाल न हो इसलिए मुनि ग्राम से दूर वृक्षमूल में रहता है। अभुज्यमान उस प्रदेश में छहों कायों की विराधना होती है तथा वह स्थान अपावृत होने के कारण वहां स्तेन, कुत्ते और अनेक प्राणियों का उपद्रव होता है।

३१७०.उम्मत्तगा तत्थ विचित्तवेसा,
पढंति चित्ताऽभिणया बहूणि।
कीलंति मत्ता य अमत्तगा य,
तत्थित्थि-पुंसा सुतलंकिता य॥

वहां उन्मत्त व्यक्ति विचित्रवेश धारण कर, अनेक प्रकार का अभिनय करते हुए आते हैं और अनेक प्रकार के शृंगारकाव्यों का पठन करते हैं तथा मत्त-अमत्त स्त्री-पुरुष सम्यग् प्रकार से अलंकृत होकर वहां आते हैं और क्रीडा करते हैं।

३१७१.आसे रहे गोरहगे य चित्ते,
तत्थाभिरूढा डगणे य केइ।
विचित्तरूवा पुरिसा ललंता,
हरंति चित्ताणऽविकोवितार्णं॥

वहां आने वाले स्त्री-पुरुष अश्वों, रथों, बैलगाड़ियों,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नाना प्रकार के युग्य में और डगण–यान विशेष में आरूढ होकर आते हैं। वे विचित्र रूप वाले पुरुष क्रीड़ा करते हुए अगीतार्थ मुनियों के चित्त का हरण कर लेते हैं, उन्हें लुब्ध कर देते हैं।

३१७२.सामिद्धिसंदंसणवावडेण,
विप्पस्सता तेसि परेसि मोक्खे।
तत्थोतपोतम्मि समंततेणं,
भिक्खा-वियारादिसु दुप्पयारं॥

वहां आने वालों की समृद्धि देखने के लिए आकुल चित्तवाले मुनि उनके मुख्य यान–वाहनों को देखते रहते हैं, इससे सूत्रार्थ का परिमंथ होता है। चारों ओर स्त्री पुरुषों से संकीर्ण हो जाने के कारण भिक्षाचर्या, विचारभूमी आदि में आना-जाना कष्टप्रद हो जाता है।[1]

३१७३.दोसेहिं एत्तिएहिं, अगेण्हंता चेव लग्गिमो अम्हे।
गेण्हामु य भुंजामु य, ण य दोस जहा तहा सुणसु॥

शिष्य ने कहा–संखडी-गमन में जो दोष आपने बताए हैं, उतने दोष तो संखडी भक्त न लेने पर भी हमारे लग जाते हैं। आचार्य ने कहा–हम संखडी भक्त लेते हैं या खाते हैं, उसमें वे पूर्वोक्त दोष नहीं होते। वे जैसे होते हैं, वह सुनो।

३१७४.अपरिग्गहिय अभुत्ते, जति दोसा एत्तिया पसज्जंती।
इत्थं गते सुविहिया, वसंतु रण्णे अणाहारा॥

शिष्य बोला–यदि संखडी भक्त न लेने और न खाने पर भी इतने दोष होते हैं तो फिर सुविहित मुनियों को अनाहार रह कर अरण्य में रहना चाहिए।

३१७५.होहिंति न वा दोसा, ते जाण जिणो ण चेव छउमत्थो।
पाणियसद्देण उवाहणाउ णाविब्भलो मुयति॥

आचार्य ने कहा–वत्स! ये दोष होते हैं या नहीं, यह केवल जिन जानते हैं, छद्मस्थ नहीं जान सकता। पानी की आवाज सुनकर जूते नहीं छोड़े जा सकते। जो विह्वल होता है, मूर्ख होता है, वही जूते छोड़ता है, अविह्वल नहीं छोड़ता।

३१७६.दोसे चेव विमग्गह, गुणदेसित्तेण णिच्चमुज्जुत्ता।
ण हु होति सप्पलोद्धी, जीविउकामस्स सेयाए॥

देखो, तुम गुणद्वेषी होने के कारण नित्य गुणान्वेषण उद्युक्त होते हुए भी दोषों की ही मार्गणा करते हो। जो व्यक्ति जीवित रहने की कामना रखता है उसकी सर्पलुब्धि–सर्प को ग्रहण करने की इच्छा उसके श्रेयस् के लिए नहीं होती। (इसी प्रकार संयमजीवन की अभिलाषा रखने वाले व्यक्ति के लिए अरण्यवास हितकर नहीं होता।)

३१७७.भण्णति उवेच्च गमणे, इति दोसा दप्पदो य जहि गंतुं।
कम गहण भुंजणे या, न होंति दोसा अदप्पेणं॥

शिष्य ने पूछा–बताएं, संखडी में कब-कैसे गमन से दोष होते हैं और कब नहीं होते? आचार्य कहते हैं–यदि जानबूझकर संखडी में जाता है या दर्प से–बिना किसी कारण से जाता है तो दोष है। यदि गृहपरिपाटी के क्रम से संखडीगृह में जाता है, भोजन करता है तो कोई दोष नहीं है। तथा अदर्प–पुष्टालंबन से संखडी की प्रतिज्ञा से भी यदि जाता है तो दोष नहीं है।

३१७८.पडिलेहियं च खेत्तं, पंथे गामे व भिक्खवेलाए।
गामाणुगामियम्मि य, जहिं पायोग्गं तहिं लभते॥

प्रत्युपेक्षित क्षेत्र में जाने के लिए प्रस्थित मुनियों के यदि मार्ग में अथवा उसी ग्राम में संखडी हो तो भिक्षावेला में वहां जाना कल्पता है। ग्रामानुग्राम विहरण की स्थिति में भी जहां भिक्षावेला में प्रायोग्य की प्राप्ति होती है, वहां लेना कल्पता है।

३१७९.वासाविहारखेत्तं, वच्चंताऽणंतरा जहिं भोज्जं।
अत्तट्ठिताण तहिं, भिक्खमडंताण कप्पेज्जा॥

वर्षाविहार (वर्षावास) के क्षेत्र में जाते हुए बीच में कहीं भोज्य-संखडी प्राप्त हो और वहां संखडी के निमित्त नहीं, किन्तु स्वप्रयोजन से रहना हो तो भिक्षा के लिए घूमते हुए गृहपरिपाटी से संखडी से भक्त-पान लेना कल्पता है।

३१८०.नत्थि पवत्तणदोसो,परिवाडीपडित मो ण याऽऽइण्णा।
परसंसट्ठं अविलंबियं च गेण्हंति अणिसण्णा॥

वहां जाने पर प्रवर्तनादोष भी नहीं होता। गृहपरिपाटी में संखडी गृह आ जाने पर वह वहां भोजन ले सकता है। वह संखडी आकीर्ण भी नहीं है। न वहां परसंसृष्ट दोष होता है। वहां बिना रुके अविलंबित रूप से भिक्षा प्राप्त हो जाती है।

३१८१.संतऽन्ने वऽवराधा, कज्जम्मि जतो ण दोसवं जेसु।
जो पुण जतणारहितो, गुणो वि दोसायते तस्स॥

और भी अनेक अपराध (अनेषणीय आदि ग्रहणरूप) होते हैं, परन्तु कार्य अर्थात् पुष्टालंबन के कारण यतनापूर्वक प्रतिसेवना करने पर भी दोषभाक् नहीं होता। जो मुनि यतनारहित होता है उसके गुण भी दोष हो जाते हैं।

३१८२.असढस्सऽप्पडिकारे, अत्थे जततो ण कोइ अवराधो।
सप्पडिकारे, अजतो, दप्पेण व दोसु वी दोसो॥

जो मुनि अशठ–रागद्वेष रहित है, उसका किसी प्रयोजन में प्रतिसेवना के बिना कोई प्रतिकार नहीं है वह यदि यतनापूर्वक संखडी में जाता है तो कोई अपराध नहीं है। जो

१. उअपोते–देशीपदत्वात् आकीर्णे। (वृ.पृ. ८८९)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रयोजन प्रतिकार के योग्य है, वहां यदि यतना नहीं की जाती, दर्प से प्रतिसेवना करता है तो उसके अयतना और दर्प–दोनों का दोष लगता है।

३१८३.निद्दोसा आदिण्णा, दोसवती संखडी अणाइण्णा।
सुत्तमणाइण्णाते, तस्स विहाणा इमे होंति॥

निर्दोष, संखडी आचीर्ण है और सदोष संखडी अनाचीर्ण है। प्रस्तुत सूत्र अनाचीर्ण संखडी संबंधी है। उस अनाचीर्ण संखडी के ये विधान-भेद हैं।

३१८४.जावंतिया पगणिया,
सक्खित्ताऽखित्त बाहिराऽऽइण्णा।
अविसुद्धपंथगमणा,
सपच्चवाता य भेदाय॥

संखडियों के ये भेद हैं–

१. यावन्तिका	५. बाहिरा
२. प्रगणिता	६. आकीर्णा
३. सक्षेत्रा	७. अविशुद्धपथगमना
४. अक्षेत्रा	८. सप्रत्यपाया

यह जीवित भेद और चरण भेद के लिए होती है। (व्याख्या आगे)

३१८५.आचंडाला पढमा, बितिया पासंडजाति-णामेहिं।
सक्खेत्ते जा सकोसं, अक्खित्ते पुढविमाईसु॥

प्रथम अर्थात् यावन्तिका संखडी चांडाल पर्यन्त दातव्य होती है। दूसरी अर्थात् प्रगणिता संखडी में पाषंडियों की जाति अथवा नामों की गणना कर दिया जाता है। सक्षेत्रा संखडी वह है जो सक्रोशयोजन पर होती है। अक्षेत्रा संखडी सचित्त पृथ्वी आदि पर प्रतिष्ठित होती है।

३१८६.जावंतिगाए लहुगा, चउगुरु पगणीए लहुग सक्खेत्ते।
मीसग-सचित्त-ऽणंतर-परंपरे कायपच्छित्तं॥

यावन्तिका में जाने पर चतुर्लघु, प्रगणिता में चतुर्गुरु, सक्षेत्रा में चतुर्लघु, अक्षेत्रा यदि मिश्र, सचित्त, अनन्तर और परंपरा प्रतिष्ठित है तो कायप्रायश्चित्त आता है।

३१८७.बहि वुड्ढि अद्धजोयण, गुरुगादी सत्तहिं भवे सपदं।
चरगादी आइण्णा, चउगुरु हत्थाइभंगो य॥

क्षेत्र के बाहर संखडी में जाने पर चतुर्लघु, उसके बाद आधे योजन की वृद्धि से चतुर्गुरु से प्रारंभ कर सात वृद्धियों से स्वपद अर्थात् पारांचिक प्रायश्चित्त पर्यंत होता है। चरक आदि से आकुल संखडी आकीर्ण कहलाती है। इसमें जाने पर चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त आता है। वहां अत्यधिक संमर्द से हाथ, पैर आदि के टूटने की संभावना होती है।

३१८८.काएहऽविसुद्धपहा, सावय-तेणा पहे अवाया उ।
दंसण-बंभवता-ऽऽता, तिविधा पुण होंति पत्तस्स॥

३१८९.दंसणवादे लहुगा, सेसावादेसु चउगुरू होंति।
जीविय-चरित्तभेदा, विस-चरिगादीहि गुरुका उ॥

अविशुद्धपथ वाली संखडी में जाने से कायनिष्पन्न प्रायश्चित्त आता है। प्रत्यपाय दो प्रकार के होते हैं–पथगत और स्थानप्राप्त। पथगत अपाय दो प्रकार के है–श्वापद और स्तेन और स्थानगत अपाय तीन हैं–दर्शनअपाय, ब्रह्मव्रत-अपाय और आत्मअपाय।

दर्शन अपाय में चतुर्लघु और शेष अपायों में चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त है। यदि संखडीकर्त्ता अन्यतीर्थिक हो तो वह जहर देकर जीवितभेद कर सकता है। चरिक आदि चारित्रभेद कर सकते हैं। प्रत्येक में चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त है।

३१९०.कप्पइ गिलाणगट्ठा, संखडिगमणं दिया व रातो वा।
दव्वम्मि लब्भमाणे, गुरुउवदेसो त्ति वत्तव्वं॥

ग्लान के प्रयोजन से दिन या रात में संखडी में जाना कल्पता है। वहां ग्लान-प्रायोग्य द्रव्य की प्राप्ति होने पर उतनी ही मात्रा में वह ले, जितनी मात्रा ग्लान के लिए उपयुक्त हो। अधिक लेने का आग्रह करने पर उसे कहे–गुरु अर्थात् वैद्य का इतनी मात्रा का ही उपदेश है।

३१९१.पुव्विं ता सक्खेत्ते, असंखडी संखडीसु वी जतति।
पडिवसभमलब्भंते, ता वच्चति संखडी जत्थ॥

ग्लान के लिए प्रायोग्य द्रव्य की सबसे पहले स्वग्राम की असंखडी में गवेषणा करनी चाहिए। वहां न होने पर संखडी में गवेषणा की जाती है। उसके अभाव में प्रतिवृषभग्राम में प्रयत्न करे। उसके अभाव में जिस ग्राम में संखडी हो वहां जाए।

३१९२.उज्जेंत णायसंडे, सिद्धसिलादीण चेव जत्तासु।
सम्मत्तभाविएसुं, ण हुंति मिच्छत्तदोसा उ॥

(अथवा संखडी दो प्रकार की होती है–सम्यग्दर्शन-भाविततीर्थ विषयक तथा मिथ्यादर्शनभावितीर्थ विषयक।)

उज्जयंत, ज्ञातखंड, सिद्धशिला–इन सम्यक्त्वभावित तीर्थों में होने वाली यात्रा–संखडी में जाने से मिथ्यात्व-स्थिरीकरण आदि दोष नहीं होता।

३१९३.एतेसिं असईए, इतरीउ वयंति तत्थिमा जतणा।
पुट्ठो अतिक्कमिस्सं, कुणति व अण्णावदेसं तु॥

इन तीर्थों में होनेवाली संखडी के अभाव में इतर अर्थात् मिथ्यात्वभावितीर्थ में होनेवाली संखडी में जाया जा सकता है। वहां जाने की यह यतना है–किसी के पूछे जाने पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहे—मैं संखडी का अतिक्रमण कर दूंगा अथवा अन्यापदेश से प्रत्युत्तर दे।

३१९४.तहियं पुव्वं गंतुं, अप्पोवासासु ठाति वसहीसु।
जे य अविपक्कदोसा, ण णेंति ते तत्थ अगिलाणे॥

संखडी वाले ग्राम में पहले ही जाकर अल्पावकाश वाली वसति में रह जाए। जो मुनि अविपक्वदोष—अजितेन्द्रिय हों वे ग्लानकार्य के अभाव में बाहर न जाएं।

३१९५.विणा उ ओभासित-संथवेहिं,
जं लब्भती तत्थ उ जोग्गदव्वं।
गिलाणभुत्तुव्वरियं तगं तु,
न भुंजमाणा वि अतिक्कमंति॥

वहां बिना याचना और संस्तुति के ग्लानप्रायोग्य जो द्रव्य प्राप्त हो उसे ग्रहण करे। ग्लान के खाने के पश्चात् उसमें से बचे भक्त को अन्य मुनि खाते हुए भी भगवान् की आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करते।

३१९६.ओभासियं जं तु गिलाणगट्ठा,
तं माणपत्तं तु णिवारयंति।
तुब्भे व अण्णे व जया तु बेंति,
भुंजेत्थ तो कप्पति णऽण्णहा तू॥

ग्लानप्रायोग्य जो द्रव्य याचना से प्राप्त है, वह प्रामाणोपेत ही ग्रहण करे, अधिक का निवारण करे। उस समय यदि गृहस्थ कहे—आप या अन्य साधु इसका परिभोग करें तो प्रमाण से अधिक भी ग्रहण किया जा सकता है, अन्यथा नहीं।

३१९७.दिणे दिणे दाहिसि थोव थोवं,
दीहा रुया तेण ण गिण्हिमोऽम्हे।
ण हावयिस्सामो गिलाणगस्सा,
तुब्भे व ता गिण्हह गिण्हणेवं॥

मुनि उन गृहस्थों से कहे—ग्लान का रोग दीर्घकाल तक रहने वाला है। अतः यदि तुम प्रतिदिन थोड़ा-थोड़ा दोगे तो वह ग्लान के काम आ जायेगा, अतः हम ज्यादा नहीं लेंगे। यदि तब गृहस्थ कहे—हम ग्लान के प्रायोग्य द्रव्य में कभी कमी नहीं आने देंगे। आप भी ग्रहण करें। ऐसा कहने पर मुनि ग्रहण करें।

३१९८.न वि लब्भई पवेसो, साधूणं लब्भएत्थ अज्जाणं।
वावारण परिकिरणा, पडिच्छणा चेव अज्जाणं॥

अन्तःपुर आदि में जहां साधुओं का प्रवेश नहीं होता वहां आर्यिकाओं का प्रवेश हो सकता है। अतः ग्लानप्रायोग्य द्रव्य की प्राप्ति के लिए आर्यिकाओं को व्यापृत करनी चाहिए। ग्लान प्रायोग्य द्रव्य लाकर साधुओं के पात्र में डालती हैं। अतः आर्यिकाओं के हाथों से ग्लान-प्रायोग्य द्रव्य लिया जाता है।

३१९९.अलब्भमाणे जतिणं पवेसे,
अंतपुरे इब्भघरेसु वा वि।
उज्जाणमाईसु व संठियाणं,
अज्जाउ कारिंति जतिप्पवेसं॥

उद्यान आदि में रहे हुए मुनियों का अन्तःपुर तथा इभ्यगृहों में प्रवेश न हो पाने की स्थिति में आर्यिकाएं प्रयत्न कर उन स्थानों में मुनियों का प्रवेश कराती हैं। (आर्यिकाएं अन्तःपुर आदि में जाकर उनको प्रभावित करती हैं और तब यतिप्रवेश सुलभ हो जाता है।)

३२००.पुराणमाईसु व णीणवेंति,
गिहत्थभाणेसु सयं व ताओ।
अगारिसंकाए जतिच्चएही,
हिट्ठोवभोगेहि अ आणवेंती॥

आर्यिकाएं गृहस्थ के भाजन में ग्लान प्रायोग्य द्रव्य लेकर पुराणपुरुष आदि श्रावक के साथ वह साधु के पास भेजती हैं। यदि ऐसा गृहस्थ न मिले तो वे स्वयं उसे ले जाती हैं। गृहस्थ यह शंका करता है—ये गृहस्थ के भाजन में उत्कृष्ट द्रव्य लेकर किसी गृहस्थ को देंगी। अतः उसे मुनियों के अधस्ताद्-उपभोग्य भाजन अर्थात् असंभोज्य भाजन में ले आती हैं।

३२०१.तेसामभावा अहवा वि संका,
गिण्हंति भाणेसु सएसु ताओ।
अभोइभाणेसु उ तस्स भोगो,
गारत्थि तेसेव य भोगिसू वा॥

यदि असंभोग्य भाजन न हों अथवा उन भाजनों में लेने पर गृहस्थों को शंका होती है तो वे आर्यिकाएं अपने भाजन में भक्त लेकर जाती हैं तब मुनि असंभोग्य भाजनों में वह लेकर उस द्रव्य का भोग करते हैं। असंभोज्य भाजनों के अभाव में गृहस्थों के भाजनों का उपयोग करे और उनके अभाव में संयतियों के भाजन में भोजन करे। संयतियों को अपने भाजनों की शीघ्र जरूरत हो तो सांभोगिकों के भाजनों का उपयोग करें।

३२०२.अद्धाणनिग्गयादी, पविसंता वा वि अहव ओमम्मि।
उवधिस्स गहण लिंपण, भावम्मि य तं पि जयणाए॥

अध्वनिर्गत या अध्व में प्रवेश करने के इच्छुक अथवा अवम—दुर्भिक्ष होने पर या उपधि आदि तथा लेप लेने के लिए या शैक्ष का भाव हो जाने पर संखडी में यतनापूर्वक जाया जा सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३२०३.पविट्ठुकामा व विहं महंत,
विणिग्गया वा वि ततोऽधवोमे।
अप्पायणट्ठाय सरीरगाणं,
अत्ता वयंती खलु संखडीओ॥

लंबे मार्ग में प्रवेश करने के इच्छुक, अथवा उसके लिए प्रस्थित अथवा दुर्भिक्ष हो जाने पर, शरीर को परिपुष्ट करने के लिए अथवा जो आप्त हैं, गीतार्थ हैं वे संखडी में जाते हैं।

३२०४.वत्थं व पत्तं व तहिं सुलंभं,
णाणादिसिं पिंडियवाणिएसु।
पवत्तिसं तत्थ कुलादिकज्जे,
लेवं व घेच्छामो अतो वयंति॥

उस क्षेत्र में अनेक देशों से, नाना दिशाओं से समागत व्यापारी एकत्रित होते हैं। वहां वस्त्र और पात्रों की प्राप्ति सुलभ होती है। अथवा उस क्षेत्र में जाकर हम कुल, गण, संघ के कार्य संपन्न करेंगे। वहां लेप की प्राप्ति हो सकती है। इस प्रकार के प्रयोजनों से संखडी में जाते हैं।

३२०५.सेहं विदित्ता अतितिव्वभावं,
गीया गुरुं विण्णवयंति तत्थ।
जे तत्थ दोसा अभविंसु पुव्विं,
दीवेत्तु ते तस्स हिता वयंति॥

शैक्ष का संखडी के गांव में जाने का अतितीव्रभाव हो जाता है तब गीतार्थ मुनि गुरु को विज्ञापित करते हैं। तब आचार्य शैक्ष को वृषभ मुनियों के साथ जाने के लिए कहते हैं। संखडी में जाते हुए वृषभ मार्ग में होने वाले तथा संखडी में होने वाले सारे दोषों की जानकारी शैक्ष को कराते हैं, जिससे उसका हित हो सके। शैक्ष को लेकर वे संखडी में जाते हैं।

३२०६.पुव्वोदितं दोसगणं च तं तू,
वज्जेंति सेज्जाइजुतं जताए।
संपुण्णमेवं तु भवे गणित्तं,
जं कंखियाणं पविणेति कंखं॥

प्रागुक्त शय्या आदि के दोषों का यतनापूर्वक वर्जन करते हैं। शिष्य ने प्रश्न किया कि आचार्य शैक्ष को संखडी गमन की आज्ञा क्यों देते हैं? उत्तर में कहा गया कि गणी के गणित्व की अर्थात् आचार्य के आचार्यत्व की संपूर्णता इसी में है कि वे शिष्यों की कांक्षा[1]—अभिलाषा का विनयन करें।

एगागिगमण-पदं

नो कप्पइ निग्गंथस्स एगाणियस्स राओ वा वियाले वा बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा। कप्पइ से अप्पबिइयस्स वा अप्पतइयस्स वा राओ वा वियाले वा बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा॥

(सूत्र ४५)

३२०७.आहारा नीहारो, अवस्समेसो तु सुत्तसंबंधो।
तं पुण ण प्पडिसिद्धं, वारे एगस्स निक्खमणं॥

पूर्वसूत्र में आहार विषयक चर्चा है। आहार के पश्चात् नीहार अवश्यंभावी होता है। यह पूर्वसूत्र से संबंध है। नीहार प्रतिषिद्ध नहीं है। एकाकी व्यक्ति का निष्क्रमण वर्जित है।

३२०८.रत्तिं वियारभूमी, णिग्गंथेगाणियस्स पडिकुट्ठा।
लहुगो य होति मासो, तत्थ वि आणाइणो दोसा॥

रात्री में अकेले निर्ग्रंथ को विचारभूमी में जाना प्रतिक्रुष्ट है। विचारभूमी के दो प्रकार हैं—कायिकीभूमी और उच्चार-भूमी। कायिकीभूमी में रात्री में एकाकी जाने पर लघुमास का प्रायश्चित्त और आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं।

३२०९.तेणाऽऽरक्खिय-सावय-पडिणीए थी-णपुंस-तेरिच्छे।
ओहाणपेहि वेहाणसे य वाले य मुच्छा य॥

एकाकी जाने पर ये सात द्वार हैं—स्तेन, आरक्षिक, श्वापद, प्रत्यनीक, स्त्री, नपुंसक, तिर्यंच। वह अकेला मुनि परितापित होता हुआ वहां से पलायन कर सकता है, फांसी लगा सकता है, व्याल—सर्प से डसे जाने पर तथा मूर्च्छा से गिर कर परितापना पा सकता है। (निम्न गाथा इसीसे संबंधित है।)

३२१०.थी पंडे तिरिगीसु व, खलितो वेहाणसं व ओधावे।
सेसोवधी-सरीरे, गहणादी मारणं जोए॥

स्त्री तथा नपुंसक उसको एकाकी देखकर बलात् पकड़ सकते हैं। पशु उसका उपघात कर सकते हैं अथवा वह मुनि किसी तिर्यंची के साथ मैथुन की प्रतिसेवना कर सकता है। इससे उसके मन में अपराध भावना उत्पन्न होने पर वह अवधावन कर लेता है या फांसी लगा कर मर जाता है। शेष उपरोक्त जो द्वार हैं, उनसे यह हानि होती है। स्तेन उसकी

१.कखियस्स कंखं पविणित्ता भवइ त्ति—दशाश्रुतस्कंध, चौथी दशा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपधि का या स्वयं का अपहरण कर लेते हैं। आरक्षिक उस एकाकी मुनि को चोर समझ कर पकड़ लेते हैं। श्वापद आदि से मुनि का उपघात–मृत्यु हो सकती है।

३२११.दुप्पभिई उ अगम्मा, ण य सहसा साहसं समायरति।
वारेति च णं बितिओ, पंच य सक्खी उ धम्मस्स॥

रात्री में यदि दो-तीन आदि मुनि कायिकीभूमी में जाते हैं तो वे स्तेन, आरक्षिकों द्वारा अगम्य होते हैं। दो आदि मुनि होते हैं तो कोई प्रतिसेवना आदि का साहस नहीं कर सकता। कोई प्रतिसेवना करनी चाहे तो दूसरा-तीसरा मुनि उसे वारित करता है। धर्म के पांच साक्षी होते हैं–अर्हन्त, सिद्ध, साधु, सम्यग्दृष्टि देवता और आत्मा।

३२१२.एए चेव य दोसा, सविसेसुच्चारमायरंतस्स।
सबितिज्जगणिक्खमणे, परिहरिया ते भवे दोसा॥

रात्री में मुनि यदि एकाकी उच्चारभूमी में जाता है तो ये पूर्वोक्त दोष सविशेष होते हैं। यदि मुनि रात्री में एक मुनि को साथ ले प्रतिश्रय से निष्क्रमण करता है तो ये सारे दोष परिहृत हो जाते हैं।

३२१३.जति दोण्णि तो णिवेदित्तु णेंति तेणभए ठाति दारेक्को।
सावयभयम्मि एक्को, णिसिरति तं रक्खती बितिओ॥

यदि दो मुनि व्युत्सर्ग के लिए रात्री में बाहर जाते हैं तो वे जागृत मुनि को बताकर जाते हैं। यदि स्तेन का भय हो तो एक द्वार पर बैठा रहता है। यदि श्वापद का भय हो तो एक उत्सर्ग करने के लिए जाता है और दूसरा मुनि उसकी रक्षा में तत्पर रहता है।

३२१४.सभयाऽसति मत्तस्स उ, एक्को उवओग डंडओ हत्थे।
वति-कुड्डंतेण कडी, कुणति य दारे वि उवयोगं॥

यदि भय हो और दूसरा मुनि प्राप्त नहीं है तो मात्रक में उत्सर्ग करे। मात्रक न होने पर उपयोगपूर्वक दंड को हाथ में लेकर वृति या भींत के अन्त में अर्थात् पार्श्व में कटी करके उत्सर्ग करे तथा द्वार से स्तेन आदि का प्रवेश न हो, इसका उपयोग रखे।

३२१५.बितियपदे उ गिलाणस्स कारणा अहव होज्ज एगागी।
पुव्व ट्ठिय निद्दोसे, जतणाए णिवेदिउच्चारे॥

अपवादपद में कारण से अकेला भी जा सकता है अथवा मुनि किसी स्थिति में अकेला हो जाए तो अकेला जा सकता है। अथवा पहले निर्दोष अर्थात् निर्भय मानकर रहे और बाद में समय हो गया हो तो यतनापूर्वक निवेदन कर उच्चारभूमी या प्रस्रवणभूमी में जाए।

३२१६.एगो गिलाणपासे, बितिओ आपुच्छिऊण तं नीति।
चिरगते गिलाणमितरो, जग्गंतं पुच्छिउं णीति॥

तीन मुनि हैं। एक ग्लान हैं। एक मुनि ग्लान के पास बैठता है दूसरा मुनि पूछकर कायिकी आदि भूमी में जाता है। उसको यदि विलंब हो जाए तो ग्लान के पास स्थित मुनि जागते हुए ग्लान मुनि को पूछकर बाहर जाता है।

३२१७.जहितं पुण ते दोसा, तेणादीया ण होज्ज पुव्वुत्ता।
एक्को वि णिवेदेतुं, णिंतो वि तहिं णऽतिक्कमति॥

जो पूर्वोक्त स्तेन आदि के दोष न हों तो अकेला साधु जो जाग रहा हो, उसे कहकर यदि वह अकेला भी रात्री में जाता है तो वह भगवद् आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता।

३२१८.बहिया वियारभूमी, दोसा ते चेव अधिय छक्काया।
पुव्वद्दिट्ठे कप्पइ, बितियं आगाढ संविग्गो॥

रात्री में विहारभूमी–स्वाध्यायभूमी में एकाकी जाने पर वो ही दोष होते हैं तथा षट्कायविराधना का दोष अधिक होता है। इसमें अपवादपद यह है कि पूर्वदृष्ट अर्थात् दिन में प्रत्युपेक्षित स्वाध्यायभूमी में जाना कल्पता है। इसमें भी आगाढ़ कारण होने पर संविग्न मुनि ही जा सकता है।

३२१९.ते तिण्णि दोण्णी अह विक्कतो उ,
नवं च सुत्तं सपगासमस्स।
सज्झातियं णत्थि रहं च सुत्तं,
ण यावि पेहाकुसलो स साहू॥

वे मुनि तीन, दो या एक भी जा सकते हैं। किसी मुनि के सूत्र नया सीखा हुआ है। वह अर्थ-सहित उसका परावर्तन करना चाहता है। उस समय वसति में स्वाध्यायिक नहीं है। अथवा रहस्यसूत्र (निशीथ आदि) का परावर्तन करना है। वह मुनि अनुप्रेक्षा में कुशल नहीं है–इन आगाढ़ कारणों से जाया जा सकता है।

३२२०.आसन्नगेहे दियदिट्ठभोम्मे,
घेत्तूण कालं तहि जाइ दोसं।
वस्सिंदिओ दोसविवज्जितो य,
णिद्दा-विकारा-ऽऽलसवज्जितप्पा॥

काल को ग्रहण कर प्रादोषिक स्वाध्याय करने के लिए निकट के घर में, दिन में प्रत्युपेक्षित भौम में जाता है। वह मुनि वश्येन्द्रिय, दोष अर्थात् क्रोध आदि से विवर्जित, निद्रा, विकार, आलस्य से वर्जित हो।

३२२१.तब्भावियं तं तु कुलं अदूरे,
किच्चाण झायं णिसिमेव एति।
वाघाततो वा अहवा वि दूरे,
सोऊण तत्थेव उवेइ पादो॥

जिस घर में मुनि स्वाध्याय के लिए जाए वह कुल साधुओं से भावित हो, दूर न हो। वहां स्वाध्याय संपन्न कर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुनि रात्री में ही उपाश्रय में आ जाए। रात्री में आने पर कोई व्याघात की आशंका हो या दूर हो तो वहीं सोकर प्रातः उपाश्रय में आ जाए।

नो कप्पइ निग्गंथीए एगाणियाए राओ वा वियाले वा बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा। कप्पइ से अप्पबिइयाए वा अप्पतइयाए वा अप्पचउत्थीए वा राओ वा वियाले वा बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा॥ (सूत्र ४६)

३२२२.सो चेव य संबंधो, नवरि पमाणम्मि होइ णाणत्तं।
जे य जतीणं दोसा, सविसेसतरा उ अज्जाणं॥

प्रस्तुत सूत्र में भी पूर्व सूत्रोक्त संबंध है। केवल प्रमाण में नानात्व है। मुनियों के लिए जो दोष कहे गए हैं वे ही सविशेषतर रूप में आर्यिकाओं के होते हैं।

३२२३.बहिया वियारभूमी, णिग्गंथेगाणियाए पडिसिद्धा।
चउगुरुगाऽऽयरियादी, दोसा ते चेव आणादी॥

एकाकिनी आर्यिका का रात्री में बाह्य विचारभूमी–स्वाध्यायभूमी में जाना प्रतिषिद्ध है। यदि यह सूत्र आचार्य प्रवर्तिनी को नहीं बताते हैं तो चतुर्गुरु, प्रवर्तिनी भिक्षुणियों को नहीं कहती है तो चतुर्गुरु और भिक्षुणियां स्वीकार नहीं करती हैं तो मासलघु का प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं।

३२२४.भीरू पकिच्चेवऽबला चला य,
आसंकितेगा समणी उ रातो।
मा पुप्फभूयस्स भवे विणासो,
सीलस्स थोवाण ण देंति गंतुं॥

स्त्री प्रकृति से भीरु, अबला, चंचल होती है। उसे रात्री में अकेली देखकर लोगों में आशंका होती है। पुष्प की भांति सुकोमल साध्वी के शील का विनाश न हो, इसलिए स्तोक अर्थात् एकाकी साध्वी का रात्री में जाना निषिद्ध है।

३२२५.गुत्ते गुत्तदुवारे, कुलपुत्ते इत्थिमज्झे निद्दोसे।
भीतपरिस महविदे, अज्जा सिज्जायरे भणिए॥

साध्वियों का उपाश्रय गुप्त–वृति आदि से परिक्षिप्त हो, गुप्तद्वार–कपाटवाला हो, शय्यातर कुलपुत्र हो। वह उपाश्रय स्त्रीवाले गृहों के मध्य हो, निर्दोष हो। शय्यातर ऐसा हो जिससे लोग भयभीत हों, मृदु प्रकृतिवाला हो, आर्यिकाओं का शय्यातर ऐसा हो।

३२२६.पत्थारो अंतो बहि, अंतो बंधाहि चिलिमिली उवरिं।
तं तह बंधति दारं, जह णं अण्णा ण याणाई॥

आर्यिकाओं के प्रतिश्रय के बाहर एक प्रस्तार–कट और एक भीतर करना चाहिए। भीतर वाले कट पर चिलिमिलिका बांधनी चाहिए। उससे द्वार को इस प्रकार बांधे की अन्य साध्वी उसे खोल न सके।

३२२७.संथारेगंतरिया, अभिक्खणाऽऽउज्जणा य तरुणीणं।
पडिहारि दारमूले, मज्झे अ पवत्तिणी होति॥

आर्यिकाएं एकान्तरित संस्तारक करें–एक तरुण साध्वी, एक वृद्ध साध्वी के क्रम से करें। प्रवर्तिनी और प्रतिहारी बार-बार तरुण साध्वियों की उपयोजना–संघट्टना करे। प्रतिहारी साध्वी द्वारमूल में सोए, मध्य प्रदेश में प्रवर्तिनी सोए।

३२२८.निक्खमण पिंडियाणं, अग्गद्दारे य होइ पडिहारी।
दारे पवत्तिणी सारणा य फिडिताण जयणाए॥

रात्री में आर्यिकाएं पिंडीभूत होकर उपाश्रय से बाहर निकले। प्रतिहारी द्वार को खोलकर अग्रद्वार में बैठ जाए। प्रवर्तिनी द्वार पर बैठ कर बाहर से प्रवेश करने वाली साध्वी के कपोल और वक्ष का स्पर्श कर उसे प्रवेश दे। जो द्वार से भटक गई हों उन्हें यतनापूर्वक मूल द्वार की स्मृति कराए।

३२२९.बिइयपद गिलाणाए, तु कारणा अहव होज्ज एगागी।
आगाढे कारणम्मिं, गिहिणीसाए वसंतीणं॥

अपवाद पद में संयती के ग्लान हो जाने पर एकाकी आर्यिका भी विचारभूमी में जा सकती है। अथवा किसी कारण से एकाकी हो जाने पर जा सकती है। अब आगाढ़–आत्यन्तिक कारण हो जाने पर गृही की निश्रा में रहने वाले आर्यिकाओं की विधि कही जा रही है।

३२३०.एगा उ कारण ठिया, अविकारकुलेसु इत्थिबहुलेसु।
तुब्भ वसीहं णीसा, अज्जा सेज्जातरं भणति॥

एक आर्यिका कारणवश स्त्रीबहुल तथा अविकारकुल में स्थित थी। उसने शय्यातर से कहा–'मैं तुम्हारी निश्रा में यहां रह रही हूं।

३२३१.अपुव्वपुंसे अवि पेहमाणी,
वारेसि धूतादि जहेव भज्जं।
तहाऽवराहेसु ममं पि पेक्खे,
जीवो पमादी किमु जोऽबलाणं॥

हे आर्य शय्यातर! जैसे तुम बेटी, भगिनी तथा भार्या को अदृष्टपूर्वपुरुषों की ओर देखती हुई का वर्जन करते हो वैसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही जब मेरे से कुछ अपराध हो तो मुझे भी उसी प्रकार वर्जन करना क्योंकि जीव प्रमादी होता है, फिर चाहे वह स्त्री का संबंधी भी क्यों न हो?

३२३२.पायं सकज्जग्गहणालसेयं,
बुद्धी परत्थेसु उ जागरूका।
तमाउरो पस्सति णेह कत्ता,
दोसं उदासीणजणो जगं तु॥

क्योंकि प्रायः बुद्धि स्वयं के हित-अहित कार्य के परिच्छेद करने में अलस होती है और पर-प्रयोजन में जागरूक होती है। इस जीवलोक में कार्य करने में आतुर कर्त्ता दोष को नहीं देखता, तटस्थ व्यक्ति उस दोष को देख लेता है। (आर्या कहती है) इसलिए हे भद्र शय्यातर! अहित में प्रवृत्त होते समय मुझको तुम निवारित करना।

३२३३.तेणिच्छिए तस्स जहिं अगम्मा,
वसंति णारीतो तहिं वसेज्जा।
ता बेति रत्तिं सह तुब्भ णीहं,
अणिच्छमाणीसु बिभेमि बेति॥

यदि आर्यिका का कथन शय्यातर स्वीकार करता है तो वह अकेली आर्या उस शय्यातर की जो अगम्य अर्थात् माता, भगिनी आदि स्त्रियां रहती हैं वहां वह रहे। वे स्त्रियां उस आर्या को कहती हैं—जब तुमको कायिकी आदि के लिए बाहर जाना हो तो हम साथ चलेंगी। ऐसा कहने पर भी यदि वे रात्री में बाहर जाना न चाहें तो आर्या उनसे कहे—मैं अकेली बाहर जाने से डरती हूं।

३२३४.मत्तासईए अपवत्तणे वा,
सागारिए वा निसि णिक्खमंती।
तासिं णिवेदेतु ससद्द-दंडा,
अतीति वा णीति व साधुधम्मा॥

यदि कोई स्त्री साथ देना न चाहे तो मात्रक में कायिकी का उत्सर्ग करे। यदि मात्रक में कायिकी का प्रवर्तन—उत्सर्जन न होता हो अथवा स्थान सागारिकबहुल होने के कारण वह अकेली आर्या रात्री में बाहर जाती हुई, शय्यातरी को निवेदन करे तथा दंड हाथ में लेकर, खांसी जैसा शब्द करती हुई बाहर जाए और कार्य संपन्न कर प्रवेश करे। यह उसकी साधुसमाचारी है।

३२३५.एगाहि अणेगाहि व, दिया व रातो व गंतु पडिसिद्धं।
चउगुरु आयरियादी, दोसा ते चेव जे भणिया॥

एकाकिनी अथवा अनेक आर्यिकाओं के लिए दिन या रात्री में विहारभूमी—स्वाध्यायभूमी में जाना प्रतिषिद्ध है। यदि यह तथ्य आचार्य प्रवर्तिनी को नहीं कहते हैं तो उन्हें चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त आता है। प्रवर्तिनी भिक्षुणियों को न कहे तो चतुर्गुरु और भिक्षुणियां इसे स्वीकार न करें तो लघुमास का प्रायश्चित्त है। जो दोष पूर्व में कहे गए हैं, वे ही दोष यहां भी होते हैं।

३२३६.गुत्ते गुत्तदुवारे, दुज्जणवज्जे णिवेसणस्संतो।
संबंधि णिए सण्णी, बितियं आगाढ संविग्गे॥

अपवादपद में आर्यिकाएं गुप्त, गुप्तद्वारवाले तथा दुर्जन-जनरहित गृह में स्वाध्याय के लिए जा सकती हैं, यदि वह गृह उस पाटक के भीतर हो। यदि वैसा गृह प्राप्त न हो तो आर्यिकाओं के संबंधी के या मित्र के या श्रावक के घर में जाया जा सकता है। यह अपवाद पद आगाढ़योग में प्रवृत्त संविग्न आर्यिका के लिए है।

३२३७.पडिवत्तिकुसल अज्जा, सज्झायज्झाणकारणुज्जुत्ता।
मोत्तूण अब्भरहितं, अज्जाण ण कप्पती गंतुं॥

आगाढ़योग में प्रवृत्त साध्वी के साथ प्रतिपत्तिकुशल अर्थात् उत्तर देने में निपुण साध्वी को सहायक के रूप में भेजनी चाहिए। आगाढ़योग प्रतिपन्न साध्वी स्वाध्याय को एकाग्रता से करने में उद्युक्त रहे। जहां आर्यिकाओं का जाना-रहना गौरवार्ह माना जाता है, उस गृह को छोड़कर अन्यत्र स्वाध्याय के लिए जाना नहीं कल्पता।

३२३८.सज्झाइयं नत्थि उवस्सएऽम्हं,
आगाढजोगं च इमा पवण्णा।
तरेण सोहद्दमिदं च तुब्भं,
संभावणिज्जातो ण अण्णहा ते॥

(यदि गृहस्थ पूछे कि आप यहां क्यों आई हैं? तब प्रतिपत्तिकुशल साध्वी कहे—)

हे श्रावक! हमारे उपाश्रय में आज स्वाध्यायिक नहीं है। यह साध्वी आगाढ़योग में प्रवृत्त है। शय्यातर के साथ तुम्हारा यह सौहार्द है, यह सोचकर हम यहां आई हैं। अतः तुम हमको अन्यथा न मानना, संभावना मत करना।

३२३९.खुद्दो जणो णत्थि ण यावि दूरे,
पच्छण्णभूमी य इहं पकामा।
तुब्भेहि लोएण य चित्तमेतं,
सज्झाय-सीलेसु जहोज्जमो णे॥

यहां कोई क्षुद्रजन भी नहीं है। यह स्थान हमारे उपाश्रय से दूर भी नहीं है। यहां विस्तृत प्रच्छन्नभूमी है। आप लोगों का चित्त प्रतीत है, इसलिए स्वाध्यायशीलवाली हम यहां उद्यम कर सकेंगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आरियखेत्त-पदं

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पुरत्थिमेणं जाव अंग-मगहाओ एत्तए, दक्खिणेणं जाव कोसंबीओ एत्तए, पच्चत्थिमेणं जाव थूणाविसयाओ एत्तए, उत्तरेणं जाव कुणालाविसयाओ एत्तए। एतावताव कप्पइ। एतावताव आरिए खेते। णो से कप्पइ एत्तो बाहिं। तेणं परं जत्थ नाण-दंसण-चरित्ताइं उस्सप्पंति॥

–त्ति बेमि॥

(सूत्र ५०)

३२४०.इति काले पडिसेहो, परूवितो अह इदाणि खेत्तम्मि।
चउदिसि समणुण्णायं, मोत्तूण परेण पडिसेहो॥

पूर्वसूत्र में काल विषयक प्रतिषेध प्ररूपित हुआ है। प्रस्तुत सूत्र में क्षेत्र विषयक प्ररूपणा है। चारों दिशाओं में जितना क्षेत्र समनुज्ञात है, उसको छोड़कर शेष क्षेत्रों में विहार करना प्रतिषिद्ध है।

३२४१.हेट्ठा वि य पडिसेहो, दव्वाही दव्वे आदिसुत्तं तु।
घडिमत्त चिलिमिणीए, वत्थादी चेव चत्तारि॥

३२४२.वगडा रच्छा दगतीरगं च विह चरमगं च खित्तम्मि।
सारिय पाहुड भावे, सेसा काले य भावे य॥

पूर्वसूत्रों में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावविषयक प्रतिषेध हुआ है। द्रव्य प्रतिषेध विषयक आदि सूत्र (सू. १-५), घटीमात्रसूत्र (१६,१७), चिलिमिलिका सूत्र (१८), वस्त्र आदि के प्रतिषेधक चार सूत्र (३८-४१)–ये सब द्रव्य विषयक प्रतिषेध करने वाले सूत्र हैं। वगडा सूत्र (१०,११), रथ्या आदि (४६), और यह प्रस्तुत चरम सूत्र (५०)–ये सारे क्षेत्र प्रतिषेध विषयक सूत्र हैं। सागारिक सूत्र (२२-२४) प्राभृत सूत्र (३४)–ये भाव प्रतिषेध करने वाले सूत्र हैं। शेष अर्थात् मासकल्पप्रकृत आदि सूत्र (६-८)–ये सभी काल और भाव–दोनों का प्रतिषेध करते हैं।

३२४३.अहवण सुत्ते सुत्ते, दव्वादीणं चउण्हमोआरो।
सो य अधीणो वत्तरि, सोतरि य अतो अणियमोऽयं॥

अथवा प्रत्येक सूत्र में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव–चारों का समवतार होता है। यह समवतार वक्ता और श्रोता के अधीन होता है। अतः यह नियम नहीं है कि प्रतिसूत्र में द्रव्य आदि चतुष्क का समवतार निरूपित हो।

३२४४.जो एतं न वि जाणइ, पढमुद्देसस्स अंतिमं सुत्तं।
अहवण सव्वऽज्झयणं, तत्थ उ नायं इमं होइ॥

जो आचार्य प्रस्तुत प्रथम उद्देशक का अन्तिम सूत्र नहीं जानता अथवा सारा कल्प अध्ययन नहीं जानता तो उसके लिए यह ज्ञात–उदाहरण होता है।

३२४५.उज्जालितो पदीवो, चाउस्सालस्स मज्झयारम्मि।
पमुहे वा तं सव्वं, चाउस्सालं पगासेति॥

चतुःशाला वाले घर के मध्यभाग में अथवा उसके प्रवेश और निर्गमन के स्थान पर दीपक जलाकर रख दिया जाता है तो वह दीपक संपूर्ण चतुःशाला को प्रकाशित कर देता है। (इसी प्रकार सारे अध्ययनों के मध्यवर्ती यह अंतिम सूत्र, जो प्रथम उद्देशक का अन्त्यसूत्र है, उसको जो नहीं जानता वह अन्य सामाचारी का ज्ञाता नहीं हो सकता। उसे गण का साधु भी नहीं कहा जा सकता।)

३२४६.जो गणहरो न याणति, जाणंतो वा न देसती मग्गं।
सो सप्पसीसगं पिव, विणस्सती विज्जपुत्तो वा॥

३२४७.सी-उण्ह-वासे य तमंधकारे,
णिच्चं पि गच्छामि जतो मि णेसी।
गंतव्वए सीसग! कंचि कालं,
अहं पि ता होज्ज पुरस्सरा ते॥

३२४८.ससक्करे कंटइले य मग्गे,
वज्जेमि मोरे णउलादिए य।
बिले य जाणामि अदुट्ठ दुट्ठे,
मा ता विसूराहि अजाणि एवं॥

३२४९.तं जाणगं होहि अजाणिगा हं,
पुरस्सरं ताव भवाहि अज्ज।
एसा अहं णंगलिपासएणं,
लग्गा दुअं सीसग! वच्च वच्च॥

३२५०.अकोविए! होहि पुरस्सरा मे,
अलं विरोहेण अपंडितेहिं।
वंसस्स छेदं अमुणे! इमस्स,
दट्ठुं जतिं गच्छसि तो गता सि॥

जो गणधर यथोक्त सामाचारी को नहीं जानता अथवा जानता हुआ भी उस मार्ग का उपदेश नहीं देता वह सर्पशीर्ष तथा वैद्यपुत्र की भांति विनाश को प्राप्त हो जाता है। एक सर्प सुखपूर्वक विहरण करता था। एक बार उसकी पूंछ ने कहा–'तुम सदा आगे चलते हो। मैं तुम्हारे पीछे-पीछे शीत, ताप, वर्षा, अंधकार में, जहां तुम ले जाते हो, वहां जाती हूं। हे शीर्षक! कुछ समय तक मैं तुम्हारे आगे होकर चलना चाहती हूं।' शीर्षक बोला–'हे पूंछ! आगे चलता हुआ मैं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कंकर, पत्थर, कंटक तथा मयूर और नकुल वाले मार्ग को छोड़ देता हूं। मैं अदुष्ट और दुष्ट बिलों को जानता हूं। तू इनमें से एक भी नहीं जानती। इस अज्ञान के कारण तुम खिन्न मत होना।'

पुच्छिका कहती है–हे शीर्षक! तुम ज्ञायक बने रहो, मैं अज्ञायिका ही रहूंगी। अच्छा, तुम आज आगे-आगे चलो। मैं नंगलीपाशक से लग कर यहीं रह जाती हूं। हे शीर्षक! तुम शीघ्रता कर यहां से चलो, चलो।

शीर्षक बोला–'हे अकोविदे! हे मूर्खे! तुम मेरे से आगे हो जाओ। अपंडित–मूर्ख से विरोध करना अच्छा नहीं होता। हे मूर्खे! यदि तू मेरे वंश का उच्छेद देखकर भी जाती है तो तेरा भी विनाश ही होगा।

३२५१.कुलं विणासेइ सयं पयाता,
नदीव कुलं कुलडा उ नारी।
निब्बंध एसो णहि सोभणो ते,
जहा सियालस्स व गाइतव्वे॥

स्वच्छंदरूप में चलने वाली कुलटानारी दोनों कुलों–पितृकुल और श्वसुरकुल का विनाश वैसे ही कर देती है, जैसे महाप्रवाह से नदी अपने दोनों कूलों–तटों का विनाश कर देती है। हे पूच्छिके! इस प्रकार का निर्बन्ध–कदाग्रह तुम्हारे लिए सुन्दर नहीं होगा, जैसे शृगाल का गाने का कदाग्रह उसके विनाश का कारण बना।[१]

३२५२.उल्लत्तिया भो! मम किं करेसी,
थामं सयं सुट्ठु अजाणमाणी।
सुतं तया किण्ण कताइ मूढे!,
जं वाणरो कासि सुगेहियाए॥

हे पुच्छिके! तुम अपनी शक्ति को भलीभांति न जानती हुई मेरी ओर मुड़कर भी मेरा क्या कर लोगी? हे मूढ़े! क्या तुमने कभी यह नहीं सुना जो बंदर ने सम्मुख होकर उस सुगृहवाली बया पक्षी का किया था।[२]

३२५३.न चित्तकम्मस्स विसेसमंधो,
संजाणते णावि मियंककंतिं।
किं पीढसप्पी कह दूतकम्मं,
अंधो कहिं कत्थ य देसियत्तं॥

देख, अंधा व्यक्ति चित्रकर्म की रमणीयता को नहीं जान पाता और न वह चन्द्रमा की कान्ति को जान पाता है। कहां तो पीठसर्पी अर्थात् पंगु और कहां दूतकर्म करने वाला संदेशहारक! कहां तो अंधा व्यक्ति और कहां मार्गदर्शक!

३२५४.बुद्धीबलं हीणबला वयंति,
किं सत्तजुत्तस्स करेइ बुद्धी।
किं ते कहा णेव सुता कतायी,
वसुंधरेयं जह वीरभोज्जा॥

सर्पशीर्ष के द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर पूंछ बोलती है–हीन बल अर्थात् निःसत्व व्यक्ति ही बुद्धिबल को बड़ा बता सकते हैं। जो सत्वयुक्त हैं उनका बुद्धि क्या करेगी? सत्व ही कार्यसिद्धि का प्रतीक होता है। क्या तुमने कभी यह नहीं सुना कि यह वसुधा–पृथ्वी शूरवीर व्यक्तियों द्वारा भोग्य होती है। कहा है–

नेयं कुलक्रमायाता, शासने लिखिता न वा।
खड्गेनाक्रम्य भुञ्जीत, वीरभोग्या वसुन्धरा॥

३२५५.असंसयं तं अमुणाण मग्गं,
गता विधाणे दुरतिक्कमम्मि।
इमं तु मे बाहति वामसीले!,
अण्णे वि जं काहिसि एक्कघातं॥

शीर्षक बोला–'निस्सन्देह तुम मूर्खों के मार्ग को प्राप्त हो गई हो अर्थात् आत्मोपघात करने पर तुली हुई हो। क्योंकि विधान अर्थात् भवितव्यता दुरतिक्रम होती है। हे वामशीले! प्रतिकूल पथगामिनी! मुझे यही बाधा पहुंचाता है कि तुम स्वयं के अतिरिक्त दूसरों को भी एकघात करोगी–मार दोगी।

३२५६.सा मंदबुद्धी अह सीसकस्स,
सच्छंद मंदा वयणं अकाउं।
पुरस्सरा होतु मुहुत्तमेत्तं,
अपेयचक्खू सगडेण खुण्णा॥

वह मंदबुद्धिवाली पुच्छिका शीर्षक के वचन को नहीं मानती हुई, स्वच्छंद मति से पुरस्सर होकर मंदगति से जाने चली। वह अपेतचक्षु–अंधी पुच्छिका मुहूर्त्तमात्र आगे चली और एक शकट से क्षुण्ण होकर मृत्युधाम में पहुंच गई।

३२५७.जे मज्झदेसे खलु देस-गामा,
अतिप्पितं तेसु भयंतु! तुज्झं।
लुक्खण्ण-हिंडीहिं सुताविया मो,
अम्हं पि ता संपइ होउ छंदो॥

जो अगीतार्थ शिष्य हैं, वे आचार्य से कहते हैं–भदन्त! आर्यक्षेत्र में जो देश हैं, गांव हैं, वहां विहरण करना अत्यंत प्रिय है। किन्तु रूक्षान्न मात्र खाते रहने से तथा इधर-उधर परिभ्रमण करने से अत्यंत तापित हो गए हैं। अतः अब हम भी स्वच्छंदरूप से विहरण करना चाहते हैं।

१,२. पूरे कथानक के लिए देखें कथा परिशिष्ट, नं. ८४,८५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३२५८.देहोवहीतेणग-सावतेहिं,
पदुट्ठमेच्छेहि य तत्थ तत्थ।
जता परिब्भस्सध अंतदेसे,
तदा विजाणिस्सह मे विसेसं॥

आचार्य ने कहा–भद्रशिष्यो! जब तुम प्रत्यन्त देश में विहरण करोगे और जब देहस्तेन, उपधिस्तेन, श्वापद तथा प्रद्विष्टम्लेच्छों से वहां परितापित होकर संयम से परिभ्रष्ट होओगे तब तुम जान पाओगे कि मैंने क्या कहा था।

३२५९.वेज्जस्स एगस्स अहेसि पुत्तो,
मतम्मि ताते अणधीयविज्जो।
गंतुं विदेसं अह सो सिलोगं,
घेत्तूणमेगं सगदेसमेति॥

वैद्यपुत्र का दृष्टांत–एक गांव में एक वैद्य का पुत्र रहता था। पिता की मृत्यु हो गई। पुत्र ने वैद्यक शास्त्र नहीं पढ़ा था। राजा ने उसको वृत्ति नहीं दी। तब वह वैद्यक शास्त्र का अध्ययन करने विदेश में गया। वहां एक वैद्य के पास वैद्यक शास्त्र के अध्ययन के लिए रहा। एक दिन वैद्य से यह श्लोक सुना–

'पूर्वाह्णे वमनं दद्यादपराह्णे विरेचनम्।
वातिकेष्वपि रोगेषु, पथ्यमाहुर्विशोषणम्॥'

उसने सोचा–वैद्यक का रहस्य यही है। वह इस श्लोक को लेकर अपने देश आ गया।

३२६०.अहाऽऽगतो सो उ सयम्मि देसे,
लद्धूण तं चेव पुराणवित्तिं।
रण्णो णियोगेण सुते तिगिच्छं,
कुव्वंतु तेणेव समं विणट्ठो॥

उसके अपने देश में आ जाने पर राजा से वही पुरानी वृत्ति प्राप्त कर वैद्यगिरी करने लगा। एक बार राजा की आज्ञा से वह राजपुत्र की चिकित्सा उसी श्लोक के माध्यम से करने लगा। राजपुत्र उस अपप्रयोग से मर गया। वैद्यपुत्र भी उसीके साथ मार डाला गया।

(इसी प्रकार जो आचार्य इस कल्पाध्ययन को नहीं जानते अथवा कुछ अंश जानते हुए संघ का प्रवर्तन करते हैं वे स्वयं संसारचक्र में परिभ्रमण करते हुए अनेक जन्म-मरण करते हैं।)

३२६१.साएयम्मि पुरवरे, सभूमिभागम्मि वद्धमाणेण।
सुत्तमिणं पण्णत्तं, पडुच्च तं चेव कालं तु॥

साकेत नगर के सभूमीभाग उद्यान में भगवान् वर्द्धमान ने इस सूत्र की उस वर्तमान काल के आधार पर श्रमण-श्रमणियों के सम्मुख प्रज्ञापना की। उन्होंने कहा–

३२६२.मगहा कोसंबी या, थूणाविसओ कुणालविसओ य।
एसा विहारभूमी, एतावंताऽऽरियं खेत्तं॥

पूर्व दिशा में मगधजनपद, दक्षिण दिशा में कौशाम्बी, पश्चिम दिशा में स्थूणा जनपद और उत्तर दिशा में कुणाल जनपद–इतना ही आर्यक्षेत्र है। अतः साधुओं की यह विहार भूमी है। इससे आगे विहरण करना नहीं कल्पता।

३२६३.नामं ठवणा दविए, खेत्ते जाती कुले य कम्मे य।
भासारिय सिप्पारिय, णाणे तह दंसण चरित्ते॥

आर्यपद के १२ निक्षेप हैं–

१. नाम आर्य	७. कर्मार्य
२. स्थापनाआर्य	८. भाषार्य
३. द्रव्य आर्य[1]	९. शिल्पार्य
४. क्षेत्र आर्य[2]	१०. ज्ञानार्य
५. जात्यार्य	११. दर्शनार्य
६. कुलार्य	१२. चारित्रार्य।

१. १. द्रव्य आर्य–नामन आदि के योग्य तिनिश वृक्ष आदि।
२. क्षेत्र आर्य–साढ़े पचीस जनपद तथा वहां के निवासी।
३. जात्यार्य–अंबट्ठ आदि छह इभ्यजातियां।
४. कुलार्य–इक्ष्वाकु आदि छह कुलों में उत्पन्न।
५. भाषार्य–अर्धमागधी भाषाभाषी।
६. शिल्पार्य–तंतुवाय आदि।
७. ज्ञानार्य–मतिज्ञान आदि के धारक।
८. दर्शनार्य–सरागदर्शनार्य वीतरागदर्शनार्य।
९. चारित्रार्य–पांच प्रकार के चारित्र के धारक।

२. आर्यजनपद (आर्य क्षेत्र)और उनकी राजधानियां।

१. मगध–राजगृह	८. कुशार्त्त–सौर्यपुर	१५. मलय–भद्दियपुर	२२. भंगी–पावा
२. अंग–चंपा	९. पांचाल–कंपिल्ल	१६. वत्स–वैराट	२३. वर्त्त–मासपुरि
३. बंग–ताम्रलिप्ति	१०. जंगल–अहिच्छत्रा	१७. अच्छ–वरण	२४. कुणाल–श्रावस्ती
४. कलिंग–कंचनपुर	११. सौराष्ट्र–द्वारवती	१८. दशार्ण–मत्तियावती	२५. लाढ–कोटिवर्ष
५. काशी–वाराणसी	१२. विदेह–मिथिला	१९. चेदी–सुप्तीवती	२५½ कैकेयी अर्द्ध–श्वेतविका
६. कौशल–साकेत	१३. वत्स–कौशांबी	२०. सिन्धुसौवीर–वीतभय	(वृ. पृ. ९१३)
७. कुरु–गजपुर	१४. संडिब्भ–नंदीपुर	२१. शूरसेन–मथुरा	

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३२६४.अंबट्ठा य कलंदा, विदेहा विदका ति य।
हारिया तुंतुणा चेव, छ एता इब्भजातिओ॥

अंबष्ठ, कलिन्द, वैदेह, विदक, हारित, तुन्तुण–ये छह इभ्यजातियां मानी जाती थीं। इन जातिवाले व्यक्ति जात्यार्य कहलाते थे।

३२६५.उग्गा भोगा राइण्ण खत्तिया तह य णात कोरव्वा।
इक्खागा वि य छट्ठा, कुलारिया होंति नायव्वा॥

उग्र, भोग, राजन्य, क्षत्रिय, ज्ञात, कौरव, इक्ष्वाकु–ये छह (क्षत्रिय और कौरव को एक मानने पर) कुलार्य माने जाते हैं।

३२६६.जम्मण-निक्खमणेसु य,
तित्थकराणं करेंति महिमाओ।
भवणवइ-वाणमंतर-जोइस-
वेमाणिया देवा॥

आर्यक्षेत्र में विहार का कारण–

आर्यक्षेत्र में तीर्थंकरों के जन्म, निष्क्रमण आदि के अवसर पर भवनपति, वानमंतर ज्योतिष्क और वैमानिक देव महिमा करते हैं।

३२६७.उप्पण्णे णाणवरे, तम्मि अणंते पहीणकम्माणो।
तो उवदिसंति धम्मं, जगजीवहियाय तित्थकरा॥

उस क्षेत्र में घाती कर्मों के क्षीण होने पर तीर्थंकरों के अनन्तज्ञान–केवलज्ञान की उत्पत्ति होती है और तब वे जगत् के जीवों के हित के लिए धर्म का उपदेश देते हैं।

३२६८.लोगच्छेरयभूतं, ओवयणं निवयणं च देवाणं।
संसयवाकरणाणि य, पुच्छंति तहिं जिणवरिंदे॥

मनुष्यलोक में देवों का आश्चर्यकारी गमन-आगमन देखकर अनेक जीव प्रतिबुद्ध होते हैं। आर्यजनपद में अनेक जीव अपने संशयों का निवारण करने के लिए जिनेन्द्र भगवान् को पूछते हैं और समाधान प्राप्त करते हैं। जिनेश्वर देव भी असंख्य प्रश्नकर्त्ताओं के प्रश्नों का एक साथ उत्तर देकर उनके संशयों को मिटा देते हैं।

३२६९.समणगुणविदुऽत्थ जणो,
सुलभो उवधी सतंतमविरुद्धो।
आरियविसयम्मि गुणा,
णाण-चरण-गच्छवुड्ढी य॥

आर्यक्षेत्र के लोग श्रमणगुणों को जानने वाले होते हैं। वहां साधुओं के लिए उपयुक्त उपधि सिद्धान्तानुसार सुलभता से प्राप्त होती है। आर्यक्षेत्र में विहरण के ये गुण हैं तथा यहां ज्ञानवृद्धि, चरणवृद्धि तथा गच्छवृद्धि भी होती है।

३२७०.एत्थ किर सण्णि सावग,
जाणंति अभिग्गहे सुविहियाणं।
एतेहिं कारणेहिं,
बहिगमणे होंतिऽणुग्घाया॥

३२७१.आणादिणो य दोसा, विराहणा खंदएण दिट्ठंतो।
एतेण कारणेणं, पडुच्च कालं तु पण्णवणा॥

यहां आर्यक्षेत्र में संज्ञी–अविरतसम्यग्दृष्टि मनुष्य तथा श्रावक रहते हैं। वे सुविहित साधुओं के अभिग्रह को जानते हैं। उसकी पूर्ति यहां होती है। इन कारणों से आर्यक्षेत्र में विहरण करना चाहिए। उसके बाहर जाने पर चार अनुद्घात मास का प्रायश्चित्त विहित है। आज्ञाभंग आदि दोष तथा आत्म-संयमविराधना भी होती है। यहां स्कंधक का दृष्टांत है। यह वर्धमानस्वामी के काल की अपेक्षा से कहा गया है। अब महाराज संप्रति के काल की अपेक्षा से प्रज्ञापना की जा रही है–जहां-जहां ज्ञान-दर्शन और चारित्र का उत्सर्पण होता हो उस-उस क्षेत्र में विहार करना चाहिए।

३२७२.दोच्चेण आगतो खंदएण वादे पराजितो कुवितो।
खंदगदिक्खा पुच्छा, णिवारणाऽऽराध तव्वज्जा॥

३२७३.उज्जाणाऽऽयुध णूमण, णिवकहणं कोव जंतयं पुव्वं।
बंध चिरिक्क णिदाणे, कंबलदाणे रयोहरणं॥

३२७४.अग्गिकुमारुववातो, चिंता देवीय चिण्ह रयहरणं।
खिज्जण सपरिसदिक्खा, जिण साहर वात डाहो य॥

पालक श्रावस्ती नगरी में दूत बनकर आया। वहां वाद में स्कंदक से पराजित हो गया। वह स्कंदक पर अत्यंत कुपित हो गया। स्कंदक सुव्रतस्वामी के पास दीक्षित हो गया। एक दिन उसने भगवान् से पूछा–मैं कुंभकारकृत नगर जाना चाहता हूं। भगवान् ने निवारण करते हुए कहा–वहां उपसर्ग होगा। तुम्हारे अतिरिक्त सभी आराधक होंगे। स्कंदक अपने पांच सौ मुनियों के साथ चला और कुंभकारकृत नगर के बाहर एक उद्यान में ठहरा। पालक ने उद्यान में आयुधों को छुपाकर रखवा दिए। राजा से कहा–आपका राज्य हड़पने आया है। राजा कुपित हो गया। पालक ने तब साधुओं को पीलना प्रारंभ किया। स्कन्दक ने कहा–पहले मुझे पीलो। पालक ने उसे खंभे से बांध डाला। जो मुनि कोल्हू में पीले जा रहे थे उनके रक्त से सने वस्त्रों को देखकर स्कंदक ने निदान किया। उसकी बहन ने कंबलरत्न दिया था। स्कंदक ने उसका रजोहरण कर दिया। स्कंदक मरकर अग्निकुमारदेवों में उपपन्न हुआ। रक्त से सने रजोहरण को देखकर रानी ने सोचा–सभी साधुओं के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साथ भाई भी मारा गया। उसने राजा से कहा। बहुत खेद प्रगट किया। परिवारसहित रानी दीक्षा के लिए उद्यत हुई। जिनेश्वरदेव के पास सबका संहरण किया। अग्निकुमारदेव में उपपन्न स्कन्दक ने संवर्तक वायु की विकुर्वणा कर सारे नगर का दाह कर डाला।[1]

३२७५.कोसंबाऽऽहारकते, अज्जसुहत्थीण दमगपव्वज्जा।
अव्वत्तेणं सामाइएण रण्णो घरे जातो॥

कौशाम्बीनगर में आहार के लिए एक द्रमक आर्य सुहस्ती के पास प्रव्रजित हुआ। वह अव्यक्त सामायिक में मरकर राजा के घर में उत्पन्न हुआ।

(कौशांबीनगर में आर्य सुहस्ती समवसृत हुए। साधु गांव में भिक्षा के लिए घूमने लगे। द्रमक ने देखा। उसने साधुओं से आहार मांगा। साधु बोले—आचार्य जाने और तुम जानो। वह आचार्य के पास गया। आचार्य ने ज्ञानोपयोग से जान लिया कि यह प्रवचन का उपकारी होगा। उसे दीक्षित कर, सामायिक कराई। वह भूखा तो था ही। बहुत खा लिया। मर कर वह उस अव्यक्तसामायिक के प्रभाव से अंधे कुणाल-कुमार के घर में पुत्ररूप में जन्मा।)

३२७६.चंदगुत्तपपुत्तो य, बिंदुसारस्स नत्तुओ।
असोगसिरिणो पुत्तो, अंधो जायति काकणिं॥

चन्द्रगुप्त के प्रपौत्र बिन्दुसार महाराज का पौत्र अशोकश्री का पुत्र कुणाल नाम का अंधापुत्र आपसे 'काकणी' अर्थात् राज्य की याचना करता है।[2]

(राजा ने पूछा—अंधे के लिए राज्य का क्या प्रयोजन? उसने कहा—उसके पुत्र के लिए याचना है। राजा ने पुत्र को देखा। उसका नाम संप्रति किया। उसे राज्य दिया।)

३२७७.अज्जसुहत्थाऽऽगमणं, दट्ठुं सरणं च पुच्छणा कहणा।
पावयणम्मि य भत्ती, तो जाता संपतीरण्णो॥

एक बार आर्य सुहस्ती उज्जैनी में समवसृत हुए। आर्य सुहस्ती को देखकर राजा को जातिस्मृति हुई। उसने गुरु से पूछा—अव्यक्त सामायिक का क्या फल है? गुरु ने कहा—राज्य आदि की प्राप्ति। आचार्य से और अनेक तथ्य सुनकर महाराज संप्रति के मन में प्रवचन के प्रति भक्ति के भाव उत्पन्न हुए।

३२७८.जवमज्झ मुरियवंसे, दाणे वणि-विवणि दारसंलोए।
तसजीवपडिक्कमओ, पभावओ समणसंघस्स॥

मौर्यवंश यवमध्य की भांति है। जैसे यव मध्य में पृथुल और आदि-अन्त में क्षीण होता है, वैसे ही मौर्यवंश का आदिपुरुष चन्द्रगुप्त से बिन्दुसार और उससे अशोकश्री और उससे उत्कृष्ट संप्रति महाराज रहे। उन्होंने नगर के द्वार-संलोक—चारों द्वार पर दान का प्रवर्तन किया, वणि[3] विपणि[4] से साधुओं को वस्त्र दान की व्यवस्था की। महाराज संप्रति त्रसजीवों के प्रतिक्रामक (संरक्षक) तथा श्रमणसंघ के प्रभावक थे।

३२७९.ओदरियमओ दारेसु, चउसुं पि महाणसे स कारेति।
णिंताऽऽणिंते भोयण, पुच्छा सेसे अभुत्ते य॥
३२८०.साहूण देह एयं, अहं भे दाहामि तत्तियं मोल्लं।
णेच्छंति घरे घेत्तुं, समणा मम रायपिंडो त्ति॥

राजा संप्रति ने सोचा—पूर्वजन्म में मैं औदरिक—द्रमक था। यह सोचकर उन्होंने नगर के चारों द्वारों पर सत्राकार बड़े-बड़े भोजनालय करवाये। कोई भी आते-जाते वहां भोजन कर सकता था। एक बार राजा ने रसोइये से पूछा—दीन आदि को देने के पश्चात् जो भोजन बचता है उसका क्या करते हो? उन्होंने कहा—हम घर ले जाते हैं। राजा ने कहा—वह बचा भोजन साधुओं को दान में दे दो। मैं उतने का मूल्य तुमको दे दूंगा। श्रमण मेरे महलों से भोजन लेना नहीं चाहते, क्योंकि वे इसे राजपिंड मानते हैं।

३२८१.एमेव तेल्लि-गोलिय-पूविय-मोरंड-दुस्सिए चेव।
जं देह तस्स मोल्लं, दलामि पुच्छा य महगिरिणो॥

इसी प्रकार महाराज संप्रति ने तैलिकों को तैल, गोलिकों को तक्र आदि, पौपिकों को अपूपकादि, मोरंडिकों[5] को तिल आदि के मोदक और दौष्किकों को वस्त्र—ये सारे पदार्थ साधुओं को यथेष्ट देने के लिए कह दिया। जो पदार्थ दिए जायेंगे, उसका मूल्य राज्य से दिया जाएगा। एक बार आचार्य महागिरि ने आर्य सुहस्ती से पूछा। (और कहा—आप जानकारी करें कि कहीं राजा लोगों को इन सब पदार्थों के लिए बाध्य तो नहीं कर रहा है?)

३२८२.अज्जसुहत्थि ममत्ते, अणुरायाधम्मतो जणो देती।
संभोग वीसुकरणं, तक्खण आउट्टणे नियत्ती॥

आर्य सुहस्ती का अपने शिष्यों के प्रति ममत्व था। उन्होंने आचार्य महागिरी को कहा—'अनुराजधर्म'—अर्थात् प्रायः लोग राजधर्म का अनुवर्तन करने वाले होते हैं। अतः ये लोग आहार आदि देते हैं। आचार्य महागिरी ने आर्य सुहस्ती के इस कथन पर उनसे संभोग विच्छेद कर डाला। यह देखकर आर्य सुहस्ती का चिंतन तत्काल मुड़ा, चिंतन किया और उससे निवृत्त हो गए।

१,२. पूरे कथानक के लिए देखें कथा परिशिष्ट, नं. ८७,८८।
३. वणी—बृहत्तर आपण।
४. विपणी—लघु आपण।
५. मोरंड—तिल आदि के मोदक। उसको बेचने वाले मोरंडक।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३२८३.सो रायाऽवंतिवती, समणाणं सावतो सुविहिताणं।
पच्चंतियरायाणो, सव्वे सद्दाविया तेणं॥

३२८४.कहिओ य तेसि धम्मो, वित्थरतो गाहिता य सम्मत्तं।
अप्पाहिता य बहुसो, समणाणं भद्दगा होइ॥

वह अवन्तीपति महाराज संप्रति सुविहित मुनियों का श्रावक हो गया। राजा ने एक बार सभी प्रात्यन्तिक राजाओं को बुलाया और उनको विस्तार से धर्म-विषयक बात बताई। उनको सम्यक्त्व प्राप्त कराई और उनको कहा—आप अपने देश में जाकर श्रमणों के प्रति भद्रक बने रहें, उनके प्रति भक्तिभाव रखें।

३२८५.अणुजाणे अणुजाती, पुप्फारुहणाइ उक्किरणगाइं।
पूयं च चेइयाणं ते वि सरज्जेसु कारिंति॥

महाराज संप्रति रथयात्रा में साथ जाते थे। पुष्पारोहण तथा रथ के आगे उत्किरण अर्थात् विविध प्रकार के फल, खाद्यपदार्थ आदि, करते थे। चैत्यों की पूजा भी करते थे। अन्यान्य राजा भी अपने-अपने राज्यों में रथयात्रा आदि करवाते थे।

३२८६.जति मं जाणह सामिं, समणाणं पणमहा सुविहियाणं।
दव्वेण मे न कज्जं, एयं खु पियं कुणह मज्झं॥

महाराज संप्रति ने उन राजाओं से कहा—यदि तुम मुझे स्वामी मानते हो तो सुविहित श्रमणों को प्रणाम करो। मुझे द्रव्य नहीं चाहिए। मुझे केवल श्रमणों को प्रणमन करना प्रिय है। वह प्रियता आप करें।

३२८७.वीसज्जिया य तेणं, गमणं घोसावणं सरज्जेसु।
साहूण सुहविहारा, जाता पच्चंतिया देसा॥

यह शिक्षा प्रदान कर महाराज संप्रति ने एकत्रित सभी राजाओं को विसर्जित किया। वे राजा अपने राज्य में गए और अमारी की घोषणा करवाई। साधुओं के लिए वे क्षेत्र सुविहार क्षेत्र हो गए। (साधुओं ने राजा से कहा—ये प्रत्यन्तवासी कल्प्य-अकल्प्य को नहीं जानते, अतः वहां विहार कैसे करेंगे?' तब संप्रति ने अपने सुभटों को साधुवेश में सुशिक्षित कर वहां भेजा।)

३२८८.समणभडभाविएसुं, तेसू रज्जेसु एसणादीसु।
साहू सुहं विहरिया, तेणं चिय भद्दगा ते उ॥

वे क्षेत्र श्रमणवेशधारी सुभटों से एषणा आदि में सम्यक् भावित हो गए। फिर उन राज्यों में मुनि सुखपूर्वक विहार करने लगे। उसी काल से वे प्रत्यन्त देश भी भद्रक हो गए।

३२८९.उदिण्णजोहाउलसिद्धसेणो,
य पत्थिवो णिज्जियसत्तुसेणो।
समंततो साहुसुहप्पयारे,
अकासि अंधे दमिले य घोरे॥

महाराज संप्रति का सैन्यबल अपूर्व था। सेना प्रबल योद्धाओं से संकीर्ण तथा सर्वत्र अप्रतिहत थी। उस सेना ने समस्त विपक्षी सेनाओं को जीत लिया था। ऐसे सैन्यबल से अन्वित महाराज संप्रति ने प्रत्यपाय बहुल आंध्र, द्रविड़ आदि देशों को चारों ओर से साधुओं के सुखविहार के लिए उपयुक्त बना डाला।

प्रथम उद्देशक समाप्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूसरा उद्देशक

(गाथा ३२९०-३६७८)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूसरा उद्देशक

उवस्सए बीज-पदं

उवस्सयस्स अंतो वगडाए सालीणि वा वीहीणि वा मुग्गाणि वा मासाणि वा तिलाणि वा कुलत्थाणि वा गोहूमाणि वा जवाणि वा जवजवाणि वा 'उक्खिण्णाणि वा विक्खिण्णाणि वा' विइकिण्णाणि वा विप्पकिण्णाणि वा, नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अहालंदमवि वत्थए॥

(सूत्र १)

३२९०.एरिसए खेत्तम्मी, उवस्सए केरिसम्मि वसितव्वं।
पुव्वुत्तदोसरहिते, बीयादिजढेस संबंधो॥

ऐसे आर्यक्षेत्र में विहरण करने वाले मुनियों को कैसे उपाश्रय में निवास करना चाहिए? पूर्वोक्त दोषों से रहित, बीज आदि से वर्जित उपाश्रय में रहे। यह पूर्व सूत्र से संबंध है।

३२९१.अहवा पढमे सुत्तम्मि पलंबा वण्णिया ण भोत्तव्वा।
तेसिं चिय रक्खट्ठा, तस्सहवासं निवारेति॥

अथवा प्रथम उद्देशक के प्रथम सूत्र में प्रलंब का वर्णन है। उनको खाने का प्रतिषेध है। उन प्रलंबों की रक्षा के लिए वे जहां हों वहां रहना वर्जित है।

३२९२.अवि य अणंतरसुत्ते,
उवस्सतो अधिकतो णिसिं जत्थ।
समणाण न निग्गंतुं,
कप्पति अह तेण जोगो उ॥

यहां 'अपि' का अर्थ है कि पूर्वोक्त (३२९०,३२९१) दो श्लोक ही संबंध ज्ञापक नहीं हैं, तीसरा भी है। अनन्तरसूत्र में वैसा उपाश्रय अधिकृत है जहां से अकेले श्रमण को रात्री में बाहर जाना नहीं कल्पता। यह उस सूत्र के साथ संबंध है।

३२९३.नामं ठवणा दविए, भावे य उवस्सओ मुणेयव्वो।
एएसिं नाणत्तं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए॥

उपाश्रय शब्द के चार निक्षेप हैं—नाम उपाश्रय, स्थापना उपाश्रय, द्रव्य उपाश्रय और भाव उपाश्रय। मैं उनका नानात्व क्रमशः कहूंगा।

३२९४.दव्वम्मि ऊ उवस्सओ, कीरइ कड वुत्थमेव सुन्नम्मि।
भावम्मि निसिद्धे संजएसु दव्वम्मि इयरेसु॥

द्रव्य उपाश्रय वह है जो साधुओं के लिए बनाया जा रहा है या बनाया गया है या जहां साधु रहकर अभी गए हैं और वह अभी शून्य पड़ा है। पार्श्वस्थ आदि को दिया हुआ उपाश्रय भी द्रव्य उपाश्रय है। भाव उपाश्रय वह है जो संयतों को प्रदत्त है और वे वहां रह रहे हैं।[1]

३२९५.उवसग पडिसग सेज्जा,
आलय वसधी णिसीहिया ठाणे।
एगट्ठ वंजणाई,
उवसग वगडाय निक्खेवो॥

उपाश्रय शब्द के सात एकार्थिक हैं—उपाश्रय, प्रतिश्रय, शय्या, आलय, वसति, नैषेधिकी तथा स्थान। वगडा के निक्षेप करने चाहिए।

३२९६.एमेव होति वगडा, चउव्विहा सा उ वतिपरिक्खेवो।
दव्वम्मि तिप्पगारा, भावे समणेहि भुज्जंती॥

इसी प्रकार वगडा के भी चार प्रकार हैं—नाम वगडा, स्थापना वगडा, द्रव्य वगडा और भाव वगडा। द्रव्य वगडा है—घर से संबंधित वृतिपरिक्षेप। उसके तीन प्रकार हैं—सचित्त, अचित्त और मिश्र। साधुओं द्वारा जिस वृतिपरिक्षेप का परिभोग किया जा रहा है, वह है भाव वगडा।

३२९७.वलया कोट्ठागारा, हेट्ठा भूमी य होइ रमणिज्जा।
बीएहिं विप्पमुक्को, उवस्सओ एरिसो होइ॥

जहां वलय और कोष्ठागार होते हैं, उनके नीचे की भूमी रमणीय होती है, बीजों से रहित होती है। ऐसा उपाश्रय बीजों से विप्रयुक्त होता है।

---

१. जो समणट्ठाए कतो, वुत्था वा आसि जत्थ समणा उ।
अहवा दव्वउवस्सओ, पासत्थदीपरिग्गहिओ॥ (वृ. पृ. ९२५)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३२९८.कडपल्लाणं सण्णा, तणपल्लाणं च देसितो वलया।
णिप्परिसाडिमभुज्जंतगा य कयभूमिकम्मंता॥

कटपल्य, तृणपल्य और वलय—ये देशीभाषा के एकार्थ शब्द हैं। ऊपरीतल में बद्ध इनमें धान्य रखा जाता है। वहां वे धान्य परिशाटित नहीं होते, अभुज्यमान अर्थात् अव्यापार्यमाण होते हैं, तथा वहां की भूमी को लेपन आदि से तैयार कर लिया जाता है, उसके नीचे के आश्रय में रहना कल्पता है।

३२९९.चाउस्सालघरेसु व, जत्थोव्वर-कोट्ठएसु धण्णाइं।
निच्चट्ठइतमभोगा, तेसु निवासं न वारेइ॥

चतुःशाला आदि गृहों में जहां उपाश्रय हो वहां के अपवरक में, अथवा कोठों में धान्य रखा जाता है। वे सदा बंद रहते हैं और वे परिभोग में नहीं आते। उनके अतिरिक्त शेष अपवरकों तथा कोठों में रहना वर्ज्य नहीं है।

३३००.सालीहिं वीहीहिं, तिल-कुलत्थेहिं विप्पकिण्णेहिं।
आदिण्णे वितिकिण्णे, अहलंद ण कप्पती वासो॥

शालि—कलमधान, ब्रीही—लालरंग वाला साठी धान, तिल और कुलत्थ—इन धान्यों से विप्रकीर्ण, आकीर्ण या व्यतिकीर्ण[1] उपाश्रय में यथालंदकाल[2] तक वास करना भी नहीं कल्पता।

३३०१.सालीहिं व वीहीहिं व, इति उत्ते होति एतदुत्तं तु।
सालीमादीयाणं, होंति पगारा बहुविहा उ॥

पूर्व श्लोक में शालि, ब्रीही आदि में जो बहुवचन का निर्देश किया गया है, उससे यह ज्ञात होता है कि शालि आदि धान्यों के बहुविध प्रकार होते हैं। जैसे—कलमशालि, रक्तशालि, महाशालि आदि।

३३०२.उक्खित्त भिन्नरासी, विक्खित्ते तेसि होति संबंधो।
वितिकिण्णे सम्मेलो, विपइण्णे संथडं जाणे॥

उत्क्षिप्त अर्थात् धान्यों की पृथक्-पृथक् राशियां, विक्षिप्त अर्थात् पृथक्-पृथक् धान्यराशियां परन्तु एक ओर से जुड़ी हुई, व्यतिकीर्ण अर्थात् वे सारी धान्यराशियां एक ओर से सम्मिलित। व्यतिकीर्ण पद से उन सभी धान्यों का सम्मीलक और विप्रकीर्ण पद से उन धान्यों का संस्तृत—बिखराव जानना चाहिए।

३३०३.तिविहं च अहालंदं, जहन्नयं मज्झिमं च उक्कोसं।
उदउल्लं च जहण्णं, पणगं पुण होइ उक्कोसं॥

यथालंद तीन प्रकार का है—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। जितने समय में आर्द्र हाथ सूखता है वह जघन्य यथालंद है, पांच रात-दिन का काल उत्कृष्ट यथालंद है और इनका अपान्तरालवर्ती काल मध्यम यथालंद है।

३३०४.बीयाईआइण्णे, लहुओ मासो उ ठायमाणस्स।
आणादिणो अ दोसा, विराहणा संजमाऽऽताए॥

बीजों आदि से आकीर्ण उपाश्रय में रहने से लघुमास का प्रायश्चित्त, आज्ञाभंग आदि दोष तथा संयम और आत्म-विराधना होती है। (वृत्ति में आचार्य आदि तथा प्रवर्तिनी आदि के प्रायश्चित्त का नानात्व प्रतिपादित है।)

३३०५.उक्खित्तमाइएसुं, थिरा-ऽथिरेसुं तु ठायमाणस्स।
पणगादी जा भिण्णो, विसेसितो भिक्खुमाईणं॥

स्थिर-अस्थिर भेद वाले उत्क्षिप्त आदि पदों में भिक्षु आदि श्रमणों के पंचक प्रायश्चित्त से प्रारंभ कर भिन्नमास पर्यन्त तप और काल से विशेषित प्रायश्चित्त विहित है।

३३०६.साहारणम्मि गुरुगा, दसादिगं मासे ठाति समणीणं।
मासो विसेसिओ वा, लहुओ साहारणे गुरुगो॥

साधारणवनस्पति के बीज विषयक यही प्रायश्चित्त गुरुक हो जाता है। मुनियों के लिए यह गुरुपंचक से प्रारंभ होकर गुरुपचीस पर्यन्त होता है। श्रमणियों के लिए लघु दस रात-दिन से प्रारंभ होकर लघुमास तक जाता है। अथवा भिक्षु आदि के साधारण वनस्पति के बीजों के उत्कीर्ण आदि चारों में सामान्यतः तप और काल से विशेषित मासलघु का प्रायश्चित्त है। तथा अनन्तवनस्पति के बीजों के उत्कीर्ण आदि चारों में सामान्यतः तप और काल से विशेषित मासगुरु का प्रायश्चित्त विहित है।

३३०७.सालि-जव अच्छि सालुग,
णिस्सरणं मास-मुग्गमादीसु।
सस्सू गुज्झ कुतूहल,
विप्पइरण मास णिस्सरणं॥

वैसे उपाश्रय में रहने वाले साधुओं के शालि और यवों के शालुक—सूक्ष्म कण आंखों में गिर सकते हैं। वहां यदि मुद्ग और माष—उड़द आदि विकीर्ण हों तो साधुओं के गमनागमन करते समय निस्सरण—फिसलन हो सकता है। यहां श्वश्रू का दृष्टान्त है—एक गृहस्थ के मन में यह कुतूहल उत्पन्न हुआ कि मैं मेरी सास का गुह्य प्रदेश देखूं। उसने उसके गमनागमन के मार्ग पर उड़द बिखेर दिए। वह आई और वहां फिसल कर गिर पड़ी। वह नग्नसी अवस्था में सीधी पड़ी। उस गृहस्थ का कुतूहल शांत हो गया।

१. विप्रकीर्ण—इतस्ततो विक्षिप्तः। आकीर्ण—एकजातीयधान्यैः अभिव्याप्तः। व्यतिकीर्ण—अनेकजातीयधान्यैः संकुलः।
२. यथालंदकाल। देखें ३३०३ श्लोक।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३३०८.बिइयपय कारणम्मिं,
पुव्विं वसभा पमज्ज जतणाए।
विक्खिरणम्मि वि लहुओ,
तत्थ वि आणादिणो दोसा॥

अपवाद स्वरूप 'कारण' में वहां रहा जा सकता है। पहले वृषभ मुनि यतनापूर्वक उस उपाश्रय का प्रमार्जन कर दे। यदि प्रमार्जन करते समय बीजों के विकिरण को इतस्ततः विक्षेपण करते हैं तो लघुमास का प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं।

३३०९.गीया पुरा गंतु समिक्खियम्मि,
थिरे पमज्जित्तुमहाथिरे वा।
साहट्टुमेगंति वसंति लंदं,
उक्कोसयं जाणिय कारणं वा॥

अध्वनिर्गत मुनि गांव में पहुंचे। सबसे पहले गीतार्थ मुनि गांव में जाकर वसति की प्रत्युपेक्षा करे। बीजरहित वसति न मिलने पर स्थिर संहनन वाले बीजों से आकीर्ण वसति में रहे। उसके अभाव में अस्थिर संहनन वाले बीजों से आकीर्ण वसति में रहे। उन बीजों का एक ओर संहरण कर यथालंद वहां रहे। कारण को जानकर उत्कृष्ट यथालंद काल तक भी रहा जा सकता है।

अह पुण एवं जाणेज्जा—नो उक्खिण्णाइं नो विक्खिण्णाइं नो विइकिण्णाइं नो विप्पकिण्णाइं रासिकडाणि वा पुंजकडाणि वा भित्तिकडाणि वा कुलियाकडाणि वा लंछियाणि वा मुद्दियाणि वा पिहिताणि वा, कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा हेमंत-गिम्हासु वत्थए॥

(सूत्र २)

३३१०.रासीकडा य पुंजे-कुलियकडा पिहित मुद्दिते चेव।
ठायंतगाण लहुगा, कास अगीतत्थ सुत्तं तु॥

जिस उपाश्रय में बीज राशीकृत, पुंजीकृत, कुलिकाकृत, पिहित, मुद्रित हों वहां रहने पर चतुर्लघु का प्रायश्चित्त आता है। यह प्रायश्चित्त अगीतार्थ के लिए है। सूत्र तो गीतार्थ विषयक है।

३३११.पुंजो य होति वट्टो, सो चेव य ईसिआयतो रासी।
कुलिया कुड्डल्लीणा, भित्तिकडा संसिया भित्ती॥

जो धान्य के ढेर वृत्ताकार होता है वह है पुंज, जो थोड़ा आयत अर्थात् लंबा होता है वह है राशि। कुलिका का अर्थ है भींत। जो कुड्यालीन अर्थात् मिट्टी की भींत के साथ रखे जाते हैं वे हैं कुलिकाकृत। जो ईंटों की भींत के आश्रित स्थापित हैं वे भित्तिकृत कहलाते हैं।[1]

३३१२.छारेण लंछिताइं, मुद्दा पुण छाणपाणियं दिण्णं।
परिकल्लाइं करेत्ता, किलिंजकडएहिं पिहिताइं॥

लांछित का अर्थ है—राख से चिन्हित और जहां गोबर का पानी दिया जाता है, छांटा जाता है वह है मुद्रित। जो चटाई आदि से ढंके जाते हैं वे हैं पिहित। (ऐसे बीज वाले स्थानों में, हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में गीतार्थ को रहना कल्पता है, अगीतार्थ को नहीं।)

३३१३.नत्थि अगीतत्थो वा, सुत्ते गीतो व वण्णितो कोइ।
जा पुण एगाणुण्णा, सा सेच्छा कारणं किं वा॥

प्रस्तुत सूत्र में अगीतार्थ या गीतार्थ का कोई निर्देश नहीं है। अतः आप एक को अनुज्ञा देते हैं और दूसरे को प्रतिषेध करते हैं, यह आपकी इच्छा है। यदि कोई कारण हो तो बताएं।

३३१४.एयारिसम्मि वासो,
ण कप्पती जति वि सुत्तऽणुण्णातो।
अव्वोकडो उ भणितो,
आयरिओ उवेहती अत्थं॥

आचार्य ने कहा—यद्यपि सूत्र में ऐसे उपाश्रय में रहना अनुज्ञात है, फिर भी वहां रहना नहीं कल्पता, क्योंकि अव्याकृत अर्थ ही सूत्र में कहा गया है। आचार्य उसके अर्थ की उत्प्रेक्षा करते हैं। (जैसे कुंभकार एक मृत्पिंड से अनेक वस्तुओं का निर्माण करता है, वैसे ही आचार्य भी एक सूत्र पद से अनेक अर्थों की विकल्पना करते हैं।)

३३१५.जं जह सुत्ते भणितं, तहेव तं जइ वियालणा नत्थि।
किं कालियाणुओगो, दिट्ठो दिट्ठिप्पहाणेहिं॥

सूत्र में जो कथन जिस रूप में अर्थात् विधिरूप में या प्रतिषेधरूप में है उसे यदि वैसे ही स्वीकार किया जाए और यदि उसके युक्त-अयुक्त का विमर्श न किया जाए तो फिर दृष्टिप्रधानवाले तीर्थंकरों और गणधरों ने कालिकानुयोग आदि विभाग क्यों दिए? अथवा भद्रबाहुस्वामी ने निर्युक्ति के माध्यम से कालिकश्रुतानुयोग का प्रतिपादन क्यों किया?

३३१६.उस्सग्गसुतं किंची, किंची अववातियं भवे सुत्तं।
तदुभयसुत्तं किंची, सुत्तस्स गमा मुणेयव्वा॥

सूत्र चार प्रकार के हैं—१. कुछ उत्सर्गसूत्र हैं २. कुछ

१. इष्टकादिरचिता भित्तिः। मृत्पिण्डादिनिर्मितं कुड्यम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आपवादिकसूत्र हैं ३. कुछ तदुभयसत्र होते हैं। वे दो प्रकार के हैं। ४. (१) उत्सर्ग-आपवादिक और (२) अपवाद-औत्सर्गिक। ये सूत्र के चार गम हैं—प्रकार हैं। अथवा 'गम' का अर्थ है—दो बार उच्चारण करने योग्य पद। जैसे उत्सर्गोत्सर्गिक, अपवादापवादिक। इस प्रकार सूत्र के ४+२=६ भेद हो गए।

३३१७.णेगेसु एगगहणं, सलोम णिल्लोम अकसिणे अइणे।
विहिभिन्नस्स य गहणं, अववाउस्सग्गियं सुत्तं॥

सूत्र के ये भेद भी हैं—एक के ग्रहण से अनेक का ग्रहण कराने वाले सूत्र होते हैं।[1] कुछेक सूत्र केवल साध्वियों के लिए, कुछेक सूत्र केवल साधुओं के लिए और कुछेक सूत्र—दोनों के लिए सामान्य होते हैं। जैसे—साधुओं को निर्लोम चर्म ग्रहण करना नहीं कल्पता और सलोम चर्म ग्रहण करना कल्पता है। साध्वियों को सलोम चर्म धारण करना कल्पता नहीं और अलोम चर्म धारण करना कल्पता है। साधु-साध्वियों को चर्म के टुकड़े लेना कल्पता है—यह सामान्य सूत्र है। विधिभिन्न प्रलंब ग्रहण का जो सूत्र है वह अपवादौत्सर्गिक सूत्र है।[2]

३३१८.उस्सग्गठिई सुद्धं, जम्हा दव्वं विवज्जयं लभति।
ण य तं होइ विरुद्धं, एमेव इमं पि पासामो॥

शिष्य ने पूछा—जिसकी अपवादपद में अनुज्ञा है उसका प्रतिषेध क्यों? आचार्य ने कहा—उत्सर्गपद में जो शुद्ध द्रव्य लेने की अनुज्ञा है वही अपवाद में विपरीत हो जाती है अर्थात् अशुद्ध द्रव्य लेने की अनुज्ञा भी हो जाती है। यह ग्रहण करना विरुद्ध नहीं है। इसी प्रकार अपवादपद में अनुज्ञात होने पर भी अविधिभिन्न प्रलंब के ग्रहण का प्रतिषेध भी अविरुद्ध ही है।

३३१९.उस्सग्ग गोयरम्मी, निसेज्ज कप्पाऽववादतो तिण्हं।
मंसं दल मा अट्ठी, अववादुस्सग्गियं सुत्तं॥

उत्सर्ग सूत्र—गोचरी में गए हुए मुनि को दो घरों के अपान्तराल में निषद्या करना नहीं कल्पता।[3]

तीन व्यक्तियों—वृद्ध, रोगी और तपस्वी को निषद्या कल्पती है—यह आपवादिक सूत्र है।[4]

अपवादौत्सर्गिक सूत्र—मांस दो, अस्थि नहीं। **'मंसं दल मा अट्ठी'।**

३३२०.नो कप्पति व अभिन्नं, अववातेणं तु कप्पती भिन्नं।
कप्पति पक्कं भिण्णं, विधीय अववायउस्सग्गं॥

अभिन्न प्रलंब ग्रहण करना नहीं कल्पता[5]—यह उत्सर्ग सूत्र है। अपवादपद में भिन्न प्रलंब कल्पता है[6]—यह अपवाद सूत्र है। श्रमणियों को पक्व विधिभिन्न प्रलंब कल्पता है[7]—यह अपवादौत्सर्गिक सूत्र है।

(उत्सर्ग-आपवादिक[8]। उत्सर्ग-औत्सर्गिक[9]।

३३२१.कत्थइ देसग्गहणं, कत्थति भण्णंति णिरवसेसाइं।
उक्कम-कमजुत्ताइं, कारणवसतो णिजुत्ताइं॥

सूत्र में कहीं-कहीं अभिधेयपद का देशतः ग्रहण होता है और कहीं-कहीं अभिधेयपद का निरवशेष कथन होता है। कुछ सूत्र उत्क्रमयुक्त होते हैं, कुछ क्रमयुक्त होते हैं। ये सारे कारण विशेष के आधार पर रचे गए हैं।

३३२२.देसग्गहणे बीएहि सूयिया मूलमादिणो हुंति।
कोहादिअणिग्गहिया, सिंचंति भवं निरवसेसं॥

सूत्र में देशग्रहण से तज्जातीय सभी का ग्रहण हो जाता है। बीजों के सूचित होने पर मूल आदि भी गृहीत होते हैं। सूत्र में निरवशेष अभिधेय का कथन—जैसे—अनभिगृहीत क्रोध आदि संपूर्ण संसार का सिंचन करते हैं।

३३२३.सत्थपरिण्णादुक्कमे, गोयर पिंडेसणा कमेणं तु।
जं पि य उक्कमकरणं, तमभिणवधम्ममादऽट्ठा॥

उत्क्रम सूत्र का उदाहरण है आचारांग सूत्र का पहला अध्ययन—शस्त्रपरिज्ञा। (इसमें तेजस्काय के पश्चात् वनस्पति और त्रसकाय का निरूपण हुआ है। उसके पश्चात् वायुकाय का निरूपण है।)

क्रम सूत्र का उदाहरण—'आठ गोचर भूमियां, सातपिण्डैषणाएं।' जो शस्त्रपरिज्ञा में उत्क्रम किया वह सप्रयोजन है। जो अभिनवधर्मा शैक्ष मुनि हैं वे सहसा वायुकाय के जीवत्व को स्वीकार नहीं कर सकते। इसलिए पहले वनस्पति और त्रस जीवों की प्ररूपणा कर फिर वायुकाय की प्ररूपणा की गई है।

३३२४.बीएहि कंदमादी, वि सूयिया तेहिं सव्व वणकाओ।
भोम्मादिगा वणेण तु, सभेद सारोवणा भणिता॥

प्रस्तुत सूत्र में बीजों के ग्रहण से कन्द-मूल आदि भी सूचित होते हैं। कन्द आदि से समस्त वनस्पतिकाय को सूचित किया गया है। वनस्पति से भौम आदि अर्थात् पृथ्वीकाय आदि कायों का ग्रहण है। इस प्रकार भेद-प्रभेद सहित छहों काय सारोपणा अर्थात् प्रायश्चित्त सहित कहे गए हैं।

३३२५.जत्थ उ देसग्गहणं, तत्थऽवसेसाइं सूइयवसेणं।
मोत्तूणं अहिगारं, अणयोगधरा पभासंति॥

---

१. जैसे—कषाय आदि के सूत्र में एक क्रोधनिग्रह की बात है। किन्तु उसके आधार पर मान आदि अन्य कषायों के भी निग्रह की बात अर्थतः जान लेनी चाहिए।

२. देखें बृहत्कल्प, पहला उद्देशक, सूत्र ५।

३-४. वही, तीसरा उद्देशक, सूत्र २१-२२।

५-८. वही, पहला उद्देशक, सूत्र १,२,५,४२।

९. वही, चौथा उद्देशक, सूत्र १२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जहां देशग्रहण है वहां अवशिष्ट सारे पद सूचित हैं–ऐसा जानना चाहिए। कहीं-कहीं अनुयोगधर आचार्य अधिकार–प्रस्तुत अर्थ को छोड़कर, सूत्रानुपाती प्रसंगवश आए हुए अर्थ का निरूपण करते हैं।

३३२६.उस्सग्गेणं भणियाणि जाणि अववादतो तु जाणि भवे।
कारणजातेण मुणी!, सव्वाणि वि जाणितव्वाणि॥

जितने उत्सर्गसूत्र हैं या जितने अपवादसूत्र हैं, हे मुने! तुम उन सबको सकारण जानो। कारण का अर्थ है–प्रतिषिद्ध के आचरण का हेतु। सभी सूत्र उत्सर्ग और अपवाद–इन दोनों में निबद्ध हैं, ऐसा जानना चाहिए।

(उत्सर्गसूत्र में साक्षात् उत्सर्ग विषय का निबंध है, अर्थ के आधार पर कारण में उसकी अनुज्ञा भी है। अपवादसूत्र में कारण के उल्लेखपूर्वक अपवाद विषय का निबंध है, अर्थ के आधार पर वहां भी उत्सर्ग ज्ञातव्य है।)

३३२७.उस्सग्गेण निसिद्धाइं जाइं दव्वाइं संथरे मुणिणो।
कारणजाते जाते, सव्वाणि वि ताणि कप्पंति॥

उत्सर्गरूप में संस्तरण के आधार पर जिन द्रव्यों के ग्रहण का मुनि के लिए निषेध है, वे ही द्रव्य 'कारणजात' अर्थात् विशुद्ध आलंबन के कारण सारे ग्रहण करने योग्य हो जाते हैं, लेने कल्पते हैं।

३३२८.जं चिय पए णिसिद्धं,
तं चिय जति भूतो कप्पती तस्स।
एवं होतऽणवत्था,
ण य तित्थं णेव सच्चं तु॥

साधु के लिए जिसका ग्रहण पहले निषिद्ध किया गया था, यदि उसी का ग्रहण कल्पता है तो इस प्रकार अनवस्था दोष होता है। इससे न तो तीर्थ की अव्यवच्छित्ति होती है और न सत्य–संयम की आराधना होती है।

३३२९.उम्मत्तवायसरिसं, खु दंसणं ण वि य कप्पऽकप्पं तु।
अध ते एवं सिद्धी, ण होज्ज सिद्धी उ कस्सेवं॥

भंते! आपका यह दर्शन उन्मत्तव्यक्ति के वाक्य सदृश है। तथा यहां यह कल्प्य है और यह अकल्प्य है–ऐसी व्यवस्था भी नहीं है। यदि इस प्रकार भी आपके अभिप्रेतार्थ की सिद्धि होती है तो वैसी प्रयोजन-सिद्धि किसके नहीं होती? असंबद्ध वचन कहने वाले चरक-परिव्राजकों के भी वह होती ही है।

३३३०.ण वि किंचि अणुण्णायं,पडिसिद्धं वा वि जिणवरिंदेहिं।
एसा तेसिं आणा, कज्जे सच्चेण होतव्वं॥

आचार्य बोले–शिष्य! जिनेश्वरदेव ने कारण के अभाव में कुछ भी अकल्पनीय की अनुज्ञा नहीं दी और कारण में कुछ भी प्रतिषिद्ध नहीं किया है। तीर्थंकरों की यह आज्ञा है कि वास्तविक कारण के प्रसंग में सत्यदर्शी होना चाहिए, माया से कुछ नहीं करना चाहिए।

३३३१.दोसा जेण निरुब्भंति जेण खिज्जंति पुव्वकम्माइं।
सो सो मोक्खोवाओ, रोगावत्थासु समणं वा॥

जिस अनुष्ठान से दोषों–राग आदि का निरोध होता है, जिससे पूर्व कर्मों का क्षय होता है, वह अनुष्ठान मोक्ष का उपाय है, जैसे रोगावस्था में उसके शमन के लिए किया जाने वाला अनुष्ठान। (इसी प्रकार उत्सर्ग में उत्सर्ग का और अपवाद में अपवाद का समाचरण करते हुए श्रमण के लिए वे मोक्ष के उपाय ही हैं।)[1]

३३३२.अग्गीयस्स न कप्पइ, तिविहं जयणं तु सो न जाणइ।
अणुन्नवणाए जयणं, सपक्ख-परक्खजयणं च॥

अगीतार्थ मुनि को बीजाकीर्ण उपाश्रय में रहना नहीं कल्पता क्योंकि वह तीनों प्रकार की यतना को नहीं जानता। तीन यतनाएं ये हैं–अनुज्ञापना यतना, स्वपक्ष यतना और परपक्ष यतना।

३३३३.निउणो खलु सुत्तत्थो,
ण हु सक्को अपडिबोधितो णाउं।
ते सुणह तत्थ दोसा,
जे तेसिं तहिं वसंताणं॥

सूत्र का अर्थ निपुण अर्थात् सूक्ष्म होता है। इसलिए वह आचार्य आदि के द्वारा अप्रतिबोधित होने पर नहीं जाना जा सकता। अतः वे जब बीजाकीर्ण उपाश्रय में रहते हैं तब जो दोष होते हैं, वे मुझसे सुनो।

३३३४.अगीयत्था खलु साहू, णवरिं दोसे गुणे अजाणंता।
रमणिज्जभिक्ख गामो, ठायंतऽह धण्णसालाए॥

अगीतार्थ मुनि वसति के दोषों और गुणों को न जानते हुए, भिक्षा के लिए यह गांव रमणीय है ऐसा मानकर धान्यशाला में ठहर जाते हैं।

---

१. जैन शासन में जो मुनि समर्थ है उसके लिए अकल्प्य का प्रतिषेध है और जो असमर्थ है, उसके लिए वही विहित है। वैद्यक शास्त्र में भी कहा है–

उत्पद्येत हि साऽवस्था, देशकालाऽऽमयान् प्रति।
यस्यामकार्यं कार्यं स्यात्, कर्म कार्यं च वर्जयेत्॥

२. शिष्य ने पूछा–अगीतार्थ ने भी सूत्र पढ़े हैं, तो फिर वह क्यों नहीं जानता? उसके समाधान में आचार्य एक श्लोक कहते हैं–

सत्स्वपि फलेषु यद्वन्न ददाति फलान्यकम्पितो वृक्षः।
तद्वत् सूत्रमपि बुधैरकम्पितं नार्थवद् भवति॥
(बृ. पृ. ९३६)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३३३५.रमणिज्जभिक्ख गामो,
ठायामो इहेव वसहि झोसेह।'
धण्णघराणुण्णवणा,
जति रक्खह देमु तो भंते!॥

यह ग्राम भिक्षा के लिए रमणीय है, ऐसा सोचकर वहीं रहने का मन बना लेते हैं। रहने के लिए वसति की खोज करते हैं। वे एक धान्यगृह की अनुज्ञापना करते हैं। गृहस्वामी कहता है–भंते! यदि आप मेरे धान्यगृह की रक्षा करेंगे तो मैं यहां रहने की अनुज्ञा देता हूं, अन्यथा नहीं।

३३३६.वसहीरक्खणवग्गा, कम्मं न करेमो णेव पवसामो।
णिच्चिंतो होहि तुमं, अम्हे रत्तिं पि जग्गामो॥

वह गृहस्वामी कहता है–हम इस धान्यशालारूप वसति की रक्षा के लिए व्यग्र रहते हैं, कृषि आदि कर्म भी नहीं करते और न कहीं प्रवास में जाते हैं। तब वे मुनि कहते हैं–तुम निश्चिन्त रहो। हम रात्री में भी जागते रहेंगे।

३३३७.जोतिस-णिमित्तमादी, छंदं गणियं व अम्ह साधेत्था।
अक्खरमादी डिंभे, गाधेस्सह अजतणा सुणणे॥

गृहस्वामी कहता है–ज्योतिष, निमित्त आदि तथा छंदशास्त्र, गणितशास्त्र–ये सब आप हमें बताएं। हमारे बालकों को अक्षरज्ञान भी आप कराएं।' गृहस्वामी के ऐसा कहने पर यदि मुनि उसे स्वीकार करते हैं तो यह अनुज्ञापना की अयतना है।

३३३८.अणुण्णवण अजतणाए, पउत्थ सागारिए घरे चेव।
तेसिं पि य चीयत्तं, सागारियवज्जियं जातं॥

अनुज्ञापना की अयतना से साधुओं का उस धान्यगृह में रह जाने पर गृहस्वामी कहीं प्रवास में चला जाता है। उसके घर चले जाने पर साधुओं को भी प्रसन्नता होती है कि अच्छा हुआ यह धान्यशाला सागारिकरहित हो गई।

३३३९.तेसु ठिएसु पउत्थो, अच्छंतो वा वि ण वहती तत्तिं।
जति वि य पविसितुकामो,तह वि य ण चएति अतिगंतुं।
३३४०.संथारएहि य तहिं, समंततो आतिकिण्ण विइकिण्णं।
सागारितो ण एती, दोसे य तहिं ण जाणाती॥

साधुओं के वहां स्थित होने पर सागारिक निश्चिन्त होकर प्रवास में चला जाता है अथवा वहां रहता हुआ भी धान्य की चिन्ता नहीं करता। अथवा वह धान्य की सार-संभाल करने वहां प्रवेश करना चाहता है, फिर भी वह वहां प्रवेश नहीं कर सकता क्योंकि वह वहां उपाश्रय में संस्तारकों को चारों ओर अतिकीर्ण–एक के बाद एक बिछे हुए देखकर तथा व्यतिकीर्ण–अस्त-व्यस्त बिछे हुए देखकर वह सागारिक भीतर नहीं जाता। अतः वहां जो धान्य-परिशाटन आदि दोष होते हैं, उसे मुनि नहीं जानते।

३३४१.ते तत्थ सण्णिविट्ठा, गहिया संथारगा जधिच्छाए।
णाणादेसी साधू, कासइ चिंता समुप्पण्णा॥
३३४२.अणुहूया धण्णरसा, णवरं मोत्तूण सेडगतिलाणं।
काहामि कोउहल्लं, पासुत्तेसुं समारद्धो॥

वे अगीतार्थ मुनि उस उपाश्रय में स्थित होकर अपनी इच्छानुसार वहां संस्तारक ग्रहण करते हैं। साधु नानादेश वाले होते हैं। उन साधुओं में किसी के मन में चिंता उत्पन्न हो सकती है कि मैंने अनेक धान्यों के रस का अनुभव किया है, स्वाद चखा है, परंतु अभी तक 'सेडगतिल' अर्थात् सफेद तिलों के स्वाद नहीं चखा है। मैं इस अभिलाषा को पूरी करूंगा। यह सोचकर अन्यान्य साधुओं के सो जाने पर वह उन तिलों को खाने लगा।

३३४३.विगयम्मि कोउहल्ले, छट्ठवतविराहण त्ति पडिगमणं।
वेहाणस ओहाणे, गिलाण सेधेण वा दिट्ठो॥

कुतूहल के मिट जाने पर अर्थात् इच्छा की पूर्ति हो जाने पर उस मुनि के मन में यह भावना जाग जाती है कि मैंने छठे व्रत की विराधना की है। यह सोचकर वह प्रतिगमन कर देता है, गृहवास में चला जाता है। अथवा फांसी लगा कर मर जाता है अथवा पलायन कर पार्श्वस्थ आदि हो जाता है। अथवा तिल खाते हुए उस मुनि को ग्लान या शैक्ष देख लेता है।

३३४४.दट्ठूण वा गिलाणो, खुधितो भुंजेज्ज जा विराधणता।
एमेव सेधमादी, भुंजे अप्पच्चयो वा सिं॥

ग्लान उस मुनि को तिल खाते हुए देखकर स्वयं भूख को शांत करने के लिए तिल खा लेता है। उससे ग्लान के परितापना आदि विराधना होती है। इसी प्रकार शैक्ष मुनि भी तिल खा लेते हैं। उनके मन में अप्रत्यय होता है, साधु-संघ के प्रति अविश्वास उत्पन्न हो जाता है।

३३४५.उड्डाहं व करेज्जा, विप्परिणामो व होज्ज सेहस्स।
गेण्हंतेण व तेणं, सव्वो पुंजो समारद्धो॥
३३४६.फेडिय मुद्दा तेणं, कज्जे सागारियस्स अतिगमणं।
केण इमं तेणेहिं, तेणाणं आगमो कत्तो॥

शैक्ष मुनि तिलखादक का उड्डाह करते हैं, वे विपरिणत हो जाते हैं। वह तिलखादक मुनि तिल खाते-खाते सारा तिलपुंज खाने लगा। उसने तिलों पर लगी मुद्रा को मिटा डाला। उस दिन किसी प्रयोजनवश गृहस्वामी ने वहां प्रवेश किया। उसने तिलपुंज को विनष्ट देखकर पूछा। साधुओं ने

१. झोसेह–देशीवचनत्वाद् गवेषयत। (वृ. पृ. ९३७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहा—चोरों ने इसे विनष्ट किया है। गृहस्वामी ने पूछा—चोरों का यहां आगमन कैसे हुआ?

३३४७.इहरा वि ताव अम्हं,
भिक्खं व बलिं व गिण्हह ण किंचिं।
एण्हिं खु तारितो मी,
गिण्हह छंदेण जा अद्धो॥

३३४८.लहुगा अणुग्गहम्मी, अप्पत्तिग धम्मकंचुए गुरुगा।
कडुग-फरुसं भणंते, छम्मासा करभरे छेदो॥

यदि गृहस्वामी भद्रक हो तो वह कहेगा—आप हमारे घर से भिक्षा अथवा बलि में बचे पदार्थों को ग्रहण करें। आपकी कृपा से मैं संसार सागर से तर जाऊंगा। अन्य वस्तु भी जो आपको चाहिए वह स्वेच्छापूर्वक ग्रहण करें। यदि भद्रक इस प्रकार अनुग्रह मानता है तो चतुर्लघु का प्रायश्चित्त आता है। यदि गृहस्वामी प्रान्त हो तो वह अप्रीति करता हुआ कहता है—ये धर्मकंचुक में प्रविष्ट लुटेरे हैं। इसमें चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त है। वह कटुक-परुष भाषा बोलता है तो षड्गुरु और यदि वह कहता है—अब हमें 'श्रमणकर' का वहन करना पड़ेगा। इस स्थिति में छेद का प्रायश्चित्त आता है।

३३४९.मूलं सएज्झएसुं, अणवट्ठप्पो तिए चउक्के य।
रच्छा-महापथेसु य, पावति पारंचियं ठाणं॥

यदि पड़ौसी यह जान ले कि श्रमणों ने तिल खाए हैं तो मूल और यदि तिराहों-चौराहों पर यह स्तेनवाद प्रसार पाता है तो अनवस्थाप्य और गलियों में तथा राजमार्ग पर यह प्रवाद फैलता है तो पारांचिक प्रायश्चित्त आता है।

३३५०.चोरु त्ति कडुय दुब्बोडितो त्ति फरुसं हतो सि पव्वावी!।
समणकरो वोढव्वो, जातो णे करभरहताणं॥

'तुम चोर हो'—यह कटुक वचन है। 'तुम-दुर्मुण्ड हो', हे प्रव्रजित! 'तुम तो मर चुके'—यह परुषवचन है। यदि शय्यातर कहता है—हम 'कर' के भार से मुक्त हैं, किन्तु अब हमें 'श्रमणकर' वहन करना पड़ेगा। (यह स्वपक्षविषयक अयतना है।)

३३५१.परपक्खम्मि अजयणा,दारे उ अवंगुतम्मि चउलहुगा।
पिहणे वि होंति लहुगा, जंते तसपाणघातो य॥

परपक्ष विषयक अयतना—द्वार को खुला रखने पर चतुर्लघु और द्वार को बंद न करने पर भी चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त है। द्वारयंत्र में त्रस प्राणियों की घात होती है। उससे निष्पन्न प्रायश्चित्त आता है।

३३५२.गोणे य साणमादी, वारण लहुगा य जं च अधिकरणं।
खरए य तेणए या, गुरुगा य पदोसओ जं च॥

उस उपाश्रय का द्वार खुला रहने पर गाय प्रवेश कर धान्य खाती है। कुत्ता आदि प्रवेश कर धान्य को बिखेर देता है या खाता है। उनका निवारण करने पर चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त तथा उनका लौटते हुए किए जाने वाले अधिकरण (हरितमर्दन आदि) से निष्पन्न प्रायश्चित्त भी आता है। शय्यातर के दास-दासी या चोर धान्य को चुराने के इच्छुक हों और उनको निवारित किया जाए तो चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त आता है। उनके प्रद्विष्ट होने पर जो अभ्याख्यान या परितापन आदि होता है, उससे निष्पन्न प्रायश्चित्त भी आता है।

३३५३.तेसि अवारणे लहुगा, गोसे सागारियस्स सिट्ठम्मि।
लहुगा य जं च जत्तो, असिट्ठे संकापदं जं च॥

उनकी वर्जना न करने पर और प्रातःकाल गृहस्वामी को कहने पर चतुर्लघु का प्रायश्चित्त है। तदनन्तर गृहस्वामी उन दास-दासियों को जो परितापना, वध-बंधन आदि करता है, उससे निष्पन्न प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। न कहने पर चतुर्लघु और साधुओं के प्रति शंका होती है, उसमें भी चतुर्लघु का प्रायश्चित्त है।

३३५४.तिरियनिवारण अभिहणण मारणं जीवघातो णासंते।
खरिया छोभ विसाऽगणि, खरए पंतावणादीया॥

पशुओं का निवारण करने पर वे साधु का अभिघात या मारण कर सकते हैं। वहां से पशु पलायन करते हुए जीवघात कर सकते हैं। दासी का निवारित करने पर वह क्षुब्ध होकर साधु पर झूठा आरोप लगा सकती है, विष दे सकती है, वसति को अग्नि लगा सकती है और दास यदि प्रद्विष्ट होता है तो प्रान्तापना आदि कर सकता है।

३३५५.आसन्नो य छणूसवो, कज्जं पि य तारिसेण धण्णेणं।
तेणाण य आगमणं, अच्छह तुण्हिक्कका तेणा॥

चोरों के कोई क्षण (एक दैवसिक उत्सव) अथवा उत्सव (बहुदैवसिक उत्सव) सन्निकट है। उनको वैसे धान्य की आवश्यकता है, जो उस धान्यगृह में है। चोरों का आगमन होता है। यदि साधु कहे कि चोर आए हैं—ऐसे कहना नहीं कल्पता। चोर आकर साधुओं को कहते हैं—मौन बैठे रहो, अन्यथा हम तुमको मार डालेंगे।

३३५६.गहियं च णेहिं धण्णं, घेत्तूण गता जहिं सि गंतव्वं।
सागारिओ य भणती, सउणी वि य रक्खए णेडं॥

ऐसा कहकर चोरों ने धान्य ले लिया। धान्य लेकर उन्हें जहां जाना था, वहां चले गए। प्रातः सागारिक गृहस्वामी आया और बोला—भंते! पक्षी भी अपने नीड की रक्षा करता है, आपने इतना भी नहीं किया, धान्य की रक्षा भी नहीं की।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३३५७.रासी ऊणे दट्ठुं, सव्वं णीतं व धण्णखेरिं वा।
केण इमं तेणेहिं, असिट्ठे भद्देतर इमं तु॥

गृहस्वामी ने धान्यराशि को न्यून देखकर सारा धान्य अपहृत हो गया है यह सोचकर अथवा धान्य की खेरी अर्थात् बिखराव को देखकर साधुओं को पूछता है—धान्य कौन ले गया? साधु बोले—चोर। (यदि चोरों की पहचान बताते हैं तो ग्रहण-आकर्षण आदि दोष होते हैं।) यदि साधु कुछ नहीं बताते तो साधुओं पर ही चोरी की शंका होती है। यदि प्रान्त हो तो उसमें अप्रीति आदि दोष होते हैं।

३३५८.लहुगा अणुग्गहम्मिं, गुरुगा अप्पत्तियम्मि कायव्वा।
कडुग-फरुसं भणंते, छम्मासा करभरे छेदो॥

यदि गृहस्वामी भद्रक हो तो वह कहेगा—आप हमारे घर से भिक्षा अथवा बलि में बचे पदार्थों को ग्रहण करें। आपकी कृपा से मैं संसार सागर से तर जाऊंगा। अन्य वस्तु भी जो आपको स्वेच्छापूर्वक चाहिए वह ग्रहण करें। यदि भद्रक इस प्रकार अनुग्रह मानता है तो चतुर्लघु का प्रायश्चित्त आता है। यदि गृहस्वामी प्रान्त हो और वह अप्रीति करता है तो इसमें चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त है। वह कटुक-परुष भाषा बोलता है तो षड्गुरु और यदि वह कहता है—अब हमें 'श्रमणकर' का वहन करना पड़ेगा। इस स्थिति में छेद का प्रायश्चित्त आता है।

३३५९.मूलं सएज्झएसुं, अणवट्ठप्पो तिए चउक्के य।
रच्छा-महापहेसु य, पावति पारंचियं ठाणं॥

यदि पड़ौसी यह जान ले कि श्रमणों ने तिल खाए हैं तो मूल और यदि तिराहों-चौराहों पर यह स्तेनवाद प्रसार पाता है तो अनवस्थाप्य और गलियों में तथा राजमार्ग पर यह प्रवाद फैलता है तो पारांचिक प्रायश्चित्त आता है।

३३६०.एगमणेगे छेदो, दिय रातो विणास-गरहमादीया।
जं पाविहिंति विहणिग्गतादि वसधिं अलभमाणा॥

यदि सागारिक प्रद्विष्ट हो जाता है तो वह एक साधु अथवा अनेक साधुओं के लिए द्रव्यों का व्यवच्छेद कर देता है। अथवा उनको दिन में या रात में निष्काशित कर देता है। उससे स्तेन तथा श्वापदों द्वारा विनाश होता है। लोगों से गर्हा प्राप्त होती है। अध्वनिर्गत होने पर, कहीं वसति न मिलने पर आत्मविराधना आदि होती है। (ये सारे अगीतार्थ मुनि के दोष हैं।)

३३६१.गीयत्थेसु वि एवं, णिक्कारण कारणे अजतणाए।
कारणे कडजोगिस्सा, कप्पति तिविहाए जतणाए॥

गीतार्थ मुनि निष्कारण धान्यशाला में रहते हैं और कोई यतना नहीं रखते तो वे भी इन दोषों के भागी होते हैं। यदि कृतयोगी अर्थात् गीतार्थ मुनि धान्यशाला में रहे तो तीन प्रकार की यतनाओं सहित रहना कल्पता है।

३३६२.निक्कारणम्मि दोसा, पडिबद्धे कारणम्मि निद्दोसा।
ते चेव अजतणाए, पुणो वि सो लग्गती दोसे॥

धान्यप्रतिबद्ध गृह में निष्कारण रहने पर ये दोष होते हैं। कारणवश यतनापूर्वक रहने पर निर्दोष हैं। कारणवश रहकर यदि यतना नहीं करते हैं तो पूर्वोक्त दोष प्राप्त होते हैं।

३३६३.अद्धाणनिग्गतादी, तिक्खुत्तो मग्गिऊण असतीए।
गीतत्था जतणाए, वसंति तो धण्णसालाए॥

अध्वनिर्गत मुनि तीन बार विशुद्ध वसति की मार्गणा करने पर भी यदि वसति प्राप्त नहीं होती है तब गीतार्थ मुनि धान्यशाला में रहते हैं।

३३६४.तुस-धन्नाइं जहियं, णिप्परिसाड-परिसाडगाइं वा।
तेसु पढमं तु ठायति, तेसऽसती दंतखज्जेसु॥

जिन स्थानों में तुषधान्य (व्रीही-यव आदि) परिशाटित या अपरिशाटित हों, पहले उस उपाश्रय में रहते हैं। वैसे उपाश्रय यदि नहीं मिलते हैं तो दंतखाद्य अर्थात् तिल आदि के धान्यगृहों में रहते हैं।

३३६५.ण वि जोइसं ण गणियं,
ण अक्खरे ण वि य किंचि रक्खामो।
अप्पस्सगा असुणगा,
भातणखंभोवमा वसिमो॥

(गृहस्वामी यदि कहे कि आप हमारे बच्चों को अक्षरज्ञान, ज्योतिष आदि सिखायेंगे, घर की सार-संभाल करेंगे तो हम आपको वसति देंगे।) ऐसा कहने पर साधु उसे कहे—हम न ज्योतिष, न गणित और न अक्षरज्ञान सिखायेंगे और न घर की रक्षा करेंगे। हम आपके घर में भाजन और स्तंभ के सदृश होकर रहेंगे तथा हम अपश्यक और अश्रोता बनकर रहेंगे। यदि गृहस्वामी स्वीकार करे तो उस स्थान में रहा जा सकता है।

३३६६.निक्कारणम्मि एवं, कारणे दुलभे भणंतिमं वसभा।
अम्हे ठितेल्लग च्चि, अधापवत्तं वहह तुब्भे॥

कारण के अभाव में भी वहां रह सकते हैं। कारण में यदि शुद्ध वसति दुर्लभ हो तो धान्यशाला में रहते हुए वृषभ गृहस्वामी को कहते हैं—हम यहां स्थित हैं ही, आप भी यथाप्रवृत्त अपना कार्य करते रहें तो हमें कोई आपत्ति नहीं है।

३३६७.आमं ति अब्भुवगते,
भिक्ख-वियारादि णिग्गत मिएसु।
भणति गुरू सागारिय,
णाउं जे कत्थ किं धण्णं॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यदि गृहस्वामी इसे स्वीकार करता है तो वहां रहे। साथ वाले साधु यदि मृग–अगीतार्थ हों और वे यदि भिक्षाचर्या और विचारभूमी के लिए बाहर गए हुए हों तो गुरु–आचार्य उस गृहस्वामी से यह जानकारी लेते हैं कि कहां कौन सा धान्य है।

३३६८.सालीणं वीहीणं, तिल-कुलत्थाण मुग्ग-मासाणं।
दिट्ठ मए सण्णिचया, अण्णे देसे कुडुंबीणं॥

३३६९.एवं च भणितमित्तम्मि कारणे सो भणाति आयरियं।
अत्थि महं सण्णिचया, पेच्छह णाणाविहे धण्णे॥

३३७०.उवलक्खिया य धण्णा, संथाराणं जहाविधि ग्गहणं।
जो जस्स उ पाउग्गो, सो तस्स तहिं तु दायव्वो॥

आचार्य कहते हैं–शाली, व्रीही, तिल, कुलत्थ, मूंग और उड़द–इन धान्यों का अन्य देश में हमने कृषकों के घर में ढ़ेर देखे हैं। इस प्रकार आचार्य के कहने मात्र से वह गृहस्वामी आचार्य को कहता है–मेरे यहां भी धान्य के ढ़ेर हैं। उनमें आप नाना प्रकार के धान्यों को देखें। आचार्य ने धान्यों के ढ़ेरों को देख लिया। मुनियों के लिए यथाविधि संस्तारकों की व्यवस्था कर ली। जिस मुनि के लिए जो स्थान उपयुक्त हो, उसको वही स्थान दे दिया जाता है।

३३७१.निक्खम-पवेसवज्जण, दूरेण अभाविया तु धण्णाणं।
धण्णंतेण परिणता, चिलिमिणि दिवरत्तऽसुण्णं तु॥

जहां गृहस्वामी धान्य लेने के लिए आता-जाता है, उस स्थान को छोड़कर साधुओं को बैठना-सोना चाहिए। अभावित मुनियों को धान्य से दूर रखना चाहिए। जो परिणत हैं वे धान्य के निकट रह सकते हैं। बैठने के स्थान तथा धान्यस्थान के बीच चिलिमिली बांधनी चाहिए। गीतार्थ और परिणामक मुनि दिन-रात, धान्यगृह को अशून्य करते हुए, रह सकते हैं।

३३७२.ते तत्थ सन्निविट्ठा, गहिया संथारगा विहीपुव्वं।
जागरमाण वसंती, सपक्खजतणाए गीयत्था॥

३३७३.ठाणं वा ठायंती, णिसिज्ज अहवा सजागर सुवंति।
बहुसो अभिहवेंते, वयणमिणं वायणं देमि॥

वे मुनि वहां रहते हुए विधिपूर्वक संस्तारक ग्रहण करते हैं। गीतार्थ मुनि स्वपक्षयतना के लिए जागते हुए सोते हैं। अथवा वे कायोत्सर्ग करते हैं या बैठे-बैठे सूत्रार्थ की अनुचिंतना करते हैं या जागते हुए शयन करते हैं। यदि कोई मुनि बार-बार धान्य कणों का संघट्टन करता है तो आचार्य उसे कहते हैं–उठो, मैं वाचना दूंगा।

३३७४.फिडियं धण्णट्ठं वा, जतणा वारेंति न उ फुडं बेंति।
मा णं सोही, अण्णो, णित्थक्को लज्ज गमणादी॥

रात्री में द्वार से भटक गए मुनि को अथवा धान्यभक्षी मुनि का आचार्य यतनापूर्वक वारण करते हैं, परुष वचनों में उपालंभ नहीं देते। क्योंकि दूसरा मुनि कोई सुन न ले, और वह दूसरों को न बता दे। इससे वह मूल मुनि लज्जित न हो तथा वह लज्जा से पलायन आदि न कर दे।

३३७५.दारं न होइ एत्तो, णिद्दामत्ताणि पुंछ अच्छीणि।
भण जं व संकियं ते, गिण्हह वेरत्तियं भंते!॥

द्वार से भटके मुनि को कहे–आर्य! यह द्वार नहीं है। तुम निद्रा प्रमाद में हो, आंखें पौंछो और उनको खोलो। यदि तुम्हारे मन में सूत्र और अर्थ के प्रति कोई शंका हो तो बताओ, हम उसका निराकरण करेंगे। भंते–आर्य! वैरात्रिक काल ग्रहण करो, फिर स्वाध्याय करेंगे। (यह स्वपक्ष-यतना है।)

३३७६.परपक्खम्मि वि दारं, पिहंति जतणाए दो वि वारेंति।
तह वि य अठायमाणे, उवेह पुट्ठा व साहिंति॥

परपक्ष यतना यह है–उपाश्रय में गाय आदि के प्रवेश की संभावना से यतनापूर्वक द्वार बंद करना चाहिए। तिर्यंच और मनुष्य प्रवेश कर रहे हों तो उनका निवारण करना चाहिए। फिर भी यदि वे धान्य को ग्रहण करने से उपरत न होते हों तो साधुओं को उपेक्षा करनी चाहिए। गृहस्वामी के पूछने पर साधु बता दें कि धान्य का अपहरण किसने किया है?

३३७७.पेहिय पमज्जिया णं, उवओगं काउ सणिय ढक्केंति।
तिरिय णर दोन्नि एते, खर-खरि पुं-थी णिसिट्ठितरे॥

पहले द्वार की आंखों से प्रत्युपेक्षा करे, फिर रजोहरण से उसका प्रमार्जन करे और उपयोगपूर्वक उस द्वार को ढ़क दे। पशु और मनुष्य अथवा दास-दासी अथवा पुरुष और स्त्री, अथवा निसृष्ट–शय्यातर द्वारा जिसका प्रवेश अनुज्ञात है, अनिसृष्ट–जिसका प्रवेश अनुज्ञात नहीं है–ये यदि उस धान्यशाला से धान्यग्रहण करें तो उनकी वर्जना करनी चाहिए।

३३७८.गेण्हंतेसु य दोसु वि, वयणमिणं तत्थ बिंति गीयत्था।
बहुगं च णेसि धण्णं, किं पगतं होहिती कल्लं॥

धान्यग्रहण करने वाले स्त्री-पुरुष–दोनों को देखकर गीतार्थ मुनि उनको यह वचन कहे–तुम बहुत सारा धान्य ले जा रहे हो, क्या कल कोई प्रकृत–प्रकरण अर्थात् जीमनवार होगा?

३३७९.नीसट्ठेसु उवेहं, सत्थेण व तासिता उ तुण्हिक्का।
बहुसो भणाति महिलं, जह तं वयणं सुणति अण्णो॥

यदि निसृष्ट अर्थात् आक्रांतिक चोर धान्य को चुराते हों तो उनकी उपेक्षा करे। शस्त्रों के द्वारा त्रस्त किए जाने पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुनि मौन रखें। यदि महिलाएं धान्य चुरा रही हों तो उनको इस प्रकार कहें कि दूसरे भी उन वचनों को सुन सकें।

३३८०.साहूणं वसहीए, रत्तिं महिला ण कप्पती एंती।
बहुगं च णेसि धण्णं, किं पाहुणगा विकालो य॥

साधुओं के वसति में–उपाश्रय में रात्री में महिलाओं का आना नहीं कल्पता। तुम यहां से बहुत धान्य ले जा रही हो तो क्या मेहमान आ गए हैं। अथवा अभी विकाल बेला है अतः अभी धान्य ले जाने का समय नहीं है।

३३८१.तेणेसु णिसट्ठेसुं, पुव्वा-ऽवररत्तिमल्लियंतेसु।
तेणबियरक्खणट्ठा, वयणमिणं बेंति गीतत्था॥

३३८२.जागरह नरा! णिच्चं, जागरमाणस्स वड्ढते बुद्धी।
जो सुवति ण सो धण्णो,जो जग्गति सो सया धण्णो॥

उपाश्रय में ही पूर्वरात्र या अपरात्र में छिपे हुए निसृष्ट चोरों से धान्य की रक्षा करने के लिए गीतार्थ मुनि उच्च स्वरों में ये वचन कहेंगे–हे मनुष्यो! जागो, प्रतिदिन जागरूक रहो। जो जागता है उसकी बुद्धि बढ़ती है। जो सोता है वह धन्य नहीं होता। ज्ञानादि के योग्य नहीं होता। जो जागता है, वह सदा धन्य है।

३३८३.सीतंति सुवंताणं, अत्था पुरिसाण लोगसारत्था।
तम्हा जागरमाणा, विधुणध पोराणयं कम्मं॥

सोने वाले पुरुषों के अर्थ–ज्ञान आदि जो तीनों लोक में सारभूत हैं, वे क्षीण हो जाते हैं। इसलिए जागते रहते हुए पुरातन कर्मों को नष्ट कर डालो।

३३८४.सुवति सुवंतस्स सुतं, संकित खलियं भवे पमत्तस्स।
जागरमाणस्स सुतं, थिर-परिचितमप्पमत्तस्स॥

जो सोता है उसका श्रुत भी सो जाता है, विस्मृत हो जाता है। जो प्रमत्त होता है उसका श्रुत शंकित तथा स्खलित हो जाता है। जो जागता है तथा जो अप्रमत्त रहता है उसका श्रुत स्थिर और परिचित रहता है।

३३८५.नालस्सेण समं सुक्खं, न विज्जा सह निद्दया।
न वेरग्गं ममत्तेणं, नारंभेण दयालुया॥

जहां आलस्य है वहां सुख नहीं है। जहां निद्रालुता है वहां विद्या नहीं है। जहां ममत्व है वहां वैराग्य नहीं है और जहां आरंभ–हिंसा है, वहां दयालुता नहीं है।

३३८६.जागरिया धम्मीणं, आहम्मीणं च सुत्तया सेया।
वच्छाहिवभगिणीए, अकहिंसु जिणो जयंतीए॥

धार्मिक व्यक्तियों की जागरिका श्रेयस्करी है और अधार्मिक व्यक्तियों की सुप्तता श्रेयस्करी है। इस प्रकार जिनेश्वरदेव ने वत्स जनपद के अधिपति शतानीक की बहिन जयन्ती को कहा था।[1]

३३८७.सुवइ य अयगरभूओ सुयं च से नासई अमयभूयं।
होहिइ गोणब्भूओ, नट्ठम्मि सुए अमयभूए॥

जो अजगर की भांति निश्चिंत होकर सोता है, उसका अमृतमय श्रुत नष्ट हो जाता है। अमृतमय श्रुत के नष्ट हो जाने पर वह बैल के सदृश हो जाता है।

३३८८.तासेऊण अवहिए, अचेइय हिए व गोसि साहंति।
जाणंता वि य तेणं, साहंति न वन्न-रूवेहिं॥

चोरों ने साधुओं को डरा धमका कर धान्य का अपहरण कर लिया। अनाक्रान्तिक चोर आए। साधुओं को ज्ञात नहीं हुआ। वे भी धान्य लेकर चले गए। प्रातःकाल शय्यातर को कहा–चोर धान्य लेकर चले गए। उसने पूछा–कौन थे वे? चोरों को जानते हुए भी मुनि उनके रूप-वर्ण की कुछ भी पहचान न बताएं।

३३८९.सुण सावग! जं वत्तं, तेणाणं संजयाण इह अज्ज।
तेणेहिं पविट्ठेहिं, जाहे नीएक्कसिं धन्नं॥

३३९०.ताहे उवगरणाणिं, भिन्नाणि हियाणि चेव अन्नाणि।
हरिओवही वि जाहे, तेणा न लभंति ते पसरं॥

३३९१.गहियाऽऽउह-प्पहरणा, जाधे वधाए समुट्ठिया अम्हं।
नत्थि अकम्मं ति ततो, एतेसि ठिता मु तुण्हिक्का॥

शय्यातर को आचार्य कहते हैं–श्रावक! यहां आज चोरों और साधुओं के मध्य जो हुआ, उसे तुम सुनो। चोर इस धान्यगृह में प्रविष्ट हुए और जब उन्होंने धान्य बाहर निकाला तब हमारे कुछेक उपकरणों को फाड़ डाला और कुछेक उपकरणों का हरण कर लिया। जब वे दूसरी बार धान्य चुराने आए तब उपधिहारक उन चोरों को हमने रोका तब वे अपने आयुध और प्रहरण से हमारे वध के लिए तत्पर हो गए और कहा–'श्रमणो! मौन बैठे रहो। अन्यथा हम सबको मार डालेंगे।' तब हमने सोचा–'इन पापियों के लिए कुछ भी अकार्य नहीं है। इसलिए हम मौन रहे।'

---

१. वत्स जनपद में कौशांबी नगरी का राजा शतानीक था। उसकी बहिन का नाम था जयंती। वह परम श्राविका थी। एक बार भगवान् वर्द्धमान वहां पधारे। जयंती ने भगवान् से पूछा–भंते! सोना अच्छा है या जागना? भगवान् ने कहा–जयंती! धार्मिक व्यक्तियों का जागना अच्छा है, सोना अच्छा नहीं है और अधार्मिक व्यक्तियों का सोना अच्छा है, जागना अच्छा नहीं है।
(भगवती १२ उ. २)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३३९२.सेज्जायरो य भणती,अण्णं धण्णं पुणो वि होहिति णे।
एसो अणुग्गहो मे, जं साधु ण दुक्खविओ को वि॥

शय्यातर बोला—हमारे धान्य की प्राप्ति और भी हो जाएगी। मेरे पर यह महान् अनुग्रह हुआ है कि आपके किसी भी मुनि को चोरों ने दुःख नहीं दिया, पीड़ित नहीं किया।

अह पुण एवं जाणेज्जा—नो रासिकडाइं नो पुंजकडाइं नो भित्तिकडाइं नो कुलियकडाइं, कोट्ठाउत्ताणि वा पल्लाउत्ताणि वा मंचाउत्ताणि वा मालाउत्ताणि वा ओलित्ताणि वा लित्ताणि वा 'लंछियाणि वा मुद्दियाणि वा पिहियाणि वा', कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा वासावासं वत्थए॥

(सूत्र ३)

३३९३.कोट्ठाउत्ता य जहिं, पल्ले माले तधेव मंचे य।
ओलित्त पिहिय मुद्दिय, एरिसए ण कप्पती वासो॥

जिस उपाश्रय में कोष्ठागुप्त, पल्यागुप्त, मालागुप्त, मञ्चागुप्त, अवलिप्त, पिहित, मुद्रित, लिप्त या लांछित—इस रूप में धान्य हों तो इस प्रकार के उपाश्रय में रहना कल्पता है।

३३९४.छगणादी ओलित्ता, लित्ता मट्टियकता उ ते चेव।
कोट्ठियमादी पिहिता, लित्ता वा पल्ल-कडपल्ला॥
३३९५.आलिंपिऊण जहि अक्खरा कया लंछियं तयं बिंति।
जहियं मुद्दा पडिया, होति तगं मुद्दियं धण्णं॥

जिस धान्य कोठे के द्वार गोबर आदि से लिप्त हों वे अवलिप्त और जो मिट्टी से खरंटित हों वे लिप्त, जिसके कपाट ढंके हुए हो वह पिहित है। पल्य और कटपल्य लिप्त होते हैं।[1] अवलिप्त कर जहां अक्षर लिखे हैं वह लांछित कहलाता है। जो मुद्रायुक्त होता है वह धान्य मुद्रित कहलाता है।

३३९६.उडुबद्धम्मि अतीए, वासावासे उवट्ठिते संते।
ठायंतगाण लहुगा, कास अगीयत्थ सुत्तं तु॥

ऋतुबद्ध काल के बीत जाने पर तथा वर्षावास का काल उपस्थित हो जाने पर कोष्ठागुप्त आदि धान्ययुक्त उपाश्रय में रहने पर चतुर्लघु का प्रायश्चित्त आता है। यह प्रायश्चित्त अगीतार्थ के लिए है। प्रस्तुत सूत्र गीतार्थ विषयक है।

३३९७.अणुभूता धण्णरसा, नवरं मुत्तूण गंधसालीणं।
काहामि कोउहल्लं, थेरीए परंधणं भणियं॥

धान्यगृह में रहते हुए किसी मुनि के मन में यह इच्छा हो सकती है—'मैंने अनेक धान्यों के रस—स्वाद चखें हैं, परन्तु गंधशाली का स्वाद कभी नहीं चखा। मैं अपना कुतूहल पूरा करूंगा' यह सोचकर वह गंधशाली निकाल कर किसी स्थविरा को रांधने के लिए देता है, कहता है—इसे पकाकर लाओ।

३३९८.इहरा कहासु सुणिमो,इमे हु ते कलमसालिणो सुरभी।
थोवे वि णत्थि तित्ती, को य रसो अण्णमण्णाणं॥

इससे पूर्व तक हम कलमशाली की बात कथाओं में सुनते आए हैं कि वे सुरभिमय होते हैं। आज तो ये प्रत्यक्ष हैं। थोड़े-से इनसे तृप्ति नहीं होगी। अन्योन्यमिश्रित इनका स्वाद कैसा होता है, यह जानना चाहिए। (उस मुनि ने पल्य से शाली को निकाल कर स्थविरा श्राविका को दिया। वह पकाकर मुनि को देती। उनके स्वाद से अभिभूत मुनि प्रतिदिन ऐसा करने लगा।)

३३९९.निग्घोलियं च पल्लं, कज्जे सागारियस्स अतिगमणं।
सागारिओ विसन्नो, भीतो पुण पासए कूरं॥
३४००.सो भणइ कओ लद्धो, एसो अम्हं खु लद्धिसंपन्नो।
ओभावणं व कुज्जा, धिरत्थु ते एरिसो लाभो॥

इस प्रकार मुनि ने एक पल्य खाली कर दिया। किसी कार्यवश गृहपति वहां आया। वह शाली को खाली देखकर विषण्ण हो गया। उसे चोरों का भय लगा। घूमते-घूमते उसने साधु को शालिकूर लाते देखा। गृहस्वामी ने पूछा—यह शालिकूर कहां से मिला? एक साधु ने कहा—हमारा यह साधु लब्धिसंपन्न है। प्रतिदिन यह ऐसा शालिकूर लाता है। तब गृहस्थ बोला—धिक्कार है तुम्हारे ऐसे लाभ से। वह लोगों में उस मुनि का उड्डाह करता है। उससे अनेक दोष उत्पन्न होते हैं।

३४०१.इहरह वि ताव अम्हं,
भिक्खं व बलिं व गिण्हह न किंचि।
इण्हिं खु तारिओ मिं,
ठवेमि अन्ने वि जा धन्ने॥

यदि गृहस्वामी भद्रक हो तो वह कहेगा—आप हमारे घर से भिक्षा अथवा बलि में बचे पदार्थों को ग्रहण करें। आपकी

१. पल्य से कटपल्य बड़ा होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कृपा से मैं संसार सागर से तर जाऊंगा। मैं और भी धान्य की प्राप्ति कर लूंगा।[1]

उवस्सए वियड-पदं

उवस्सयस्स अंतो वगडाए सुरावियडकुंभे वा सोवीरयवियडकुंभे वा उवनिक्खित्ते सिया, नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अहालंदमवि वत्थए। हुरत्था य उवस्सयं पडिलेहमाणे नो लभेज्जा, एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए, जे तत्थ एगरायाओ वा दुरायाओ वा परं वसति, से संतरा छेए वा परिहारे वा॥

(सूत्र ४)

३४०२.पगयं उवस्सएहिं, वाघाया तेसि होंति अन्नोन्ना।
साहारण-पत्तेगा, जा पिंडो एस संबंधो॥

यहां उपाश्रय का अधिकार चल रहा है। उन उपाश्रयों के व्याघात अर्थात् दोष अन्योन्य–अपरापर होते हैं। उनमें जहां अल्पतर दोष हों वहां रहना चाहिए, इसकी सूचना देने के लिए साधारण सूत्र और प्रत्येक सूत्र का आरंभ किया जाता है।[2] पिंडसूत्र (२।८) पर्यन्त इसका संबंध है।

३४०३.सालुच्छूहि व कीरति, विगडं भुत्त तिसितोदयं पिबति।
आहारिमम्मि दोसा, जह तह पिज्जे वि जोगोऽयं॥

शाली, इक्षु आदि से विकट–मद्य का निर्माण होता है। इसलिए धान्यसूत्र के पश्चात् विकटसूत्र का उपन्यास किया गया है। शालिकूर आदि खाने के पश्चात् तृषा लगती है। प्यास लगने पर पानी पीया जाता है। अतः उदकसूत्र का न्यास है। अथवा आहारिम–तिल आदि खाने से जो दोष होते हैं, वैसे ही मद्य आदि पीने से भी दोष होते हैं। अतः उनसे प्रतिबद्ध उपाश्रय में रहना नहीं कल्पता।

३४०४.देसीभासाइ कयं, जा बहिया सा भवे हुरत्था उ।
बंधऽणुलोमेण कयं, परिहारो होइ पुव्वं तु॥

'हुरत्था' शब्द देशीभाषा में बाह्य अर्थ में प्रतिबद्ध है। विवक्षित उपाश्रय के बहिर्वर्ती वगडा को 'हुरत्था' कहा जाता है। बन्धानुलोमता से परिहारपद से पूर्व छेदपद है।

३४०५.अहवण वारिज्जंतो, निक्कारणओ व तिण्ह व परेणं।
छेयं चिय आवज्जे, छेयमओ पुव्वमाहंसु॥

अथवा विकटयुक्त उपाश्रय में रहने की वर्जना करने पर भी यदि कोई निष्कारण ही तीन दिनरात से अधिक रहता है, तो छेद प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। इसलिए छेदपद पहले कहा गया है।

३४०६.पिट्ठेण सुरा होती, सोवीरं पिट्ठवज्जियं जाणे।
ठायंतगाण लहुगा, कास अगीयत्थ सुत्तं तु॥

जो मद्य व्रीही आदि के पिष्ट से तैयार होता है उसे सुरा कहते हैं। जो बिना पिष्ट के केवल द्राक्षा, खजूर आदि से तैयार होता है उसे सौवीर कहते हैं। ये दोनों जिस उपाश्रय में हों, वहां रहने पर चतुर्लघु का प्रायश्चित्त आता है। यह प्रायश्चित्त अगीतार्थ के लिए है। प्रस्तुत सूत्र गीतार्थ विषयक है।

३४०७.अणुभूआ मज्जरसा, णवरिं मुत्तूणिमेसि मज्जाणं।
काहामि कोउहल्लं, पासुत्तेसुं समारद्धो॥

वहां रहने वाले किसी साधु के मन में यह विचार उत्पन्न होता है कि मैंने मद्यरसों का अनुभव किया है, किन्तु इन मद्यरसों का मैंने कभी अनुभव नहीं किया, अतः मैं अपने कुतूहल को पूरा करूंगा। यह सोचकर जब अन्य मुनि सो गए तब उसने मद्यपान करना प्रारंभ कर दिया।

३४०८.इहरा कहासु सुणिमो, इमं खु तं कापिसायणं मज्जं।
पीते वि जायति सती, तज्जुसिताणं किमु अपीते॥

इतने दिनों तक हम 'कापिशायन' नामक मद्य की बात कथाओं से सुनते थे। यह वही मद्य है। जिन्होंने गृहवास में यह मद्य पीया है, उनको भी इस मद्य को पीने पर स्मृति हो सकती है, बिना पीए नहीं।

३४०९.विगयम्मि कोउहल्ले, छट्ठवयविराहण त्ति पडिगमणं।
वेहाणस ओहाणे, गिलाणसेहेण वा दिट्ठो॥

कुतूहल के मिट जाने पर अर्थात् इच्छा की पूर्ति हो जाने पर उस मुनि के मन में यह भावना जाग जाती है कि मैंने छठे व्रत की विराधना की है। यह सोचकर वह प्रतिगमन कर देता है, गृहवास में चला जाता है। अथवा फांसी लगा कर मर जाता है अथवा पलायन कर पार्श्वस्थ आदि हो जाता है। अथवा विकटपान करते हुए उस मुनि को ग्लान या शैक्ष देख लेता है।

३४१०.उड्डाहं व करिज्जा, विप्परिणामो व हुज्ज सेहस्स।
गिण्हंतेण व तेणं खंडिय विद्धे व भिन्ने वा॥

---

१. वृत्तिकार ने यहां गाथा ३३४८ से ३३९२ की गाथाओं पर्यन्त ग्रहण करने की बात कही है। (वृ. पृ. ९५१)

२. साधारणसूत्र वह है जिसमें अनेक पद होते हैं, जैसे–विकटसूत्र, उदकसूत्र, पिंडसूत्र आदि। प्रत्येक सूत्र वह है जिसमें एक ही पद होता है, जैसे–प्रदीपसूत्र, ज्योतिःसूत्र आदि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शैक्ष यदि मुनि को विकटपान करते हुए देख लेता है तो वह उड्डाह करता है अथवा वह विपरिणत हो जाता है। विकटपान करने वाला मुनि विकटभाजन को ग्रहण करते हुए या रखते हुए उस भाजन को तोड़ देता है, उसके छेद कर देता है अथवा उसके टुकड़े कर देता है—ये सारी क्रियाएं हो सकती हैं।

३४११.आमं ति अब्भुवगए, भिक्खु-वियाराइनिग्गयमिएसु।
भणइ गुरू सागारिय, कहि मज्जं जाणणट्ठाए॥

विकटपूरित उपाश्रय में यदि शय्यातर रहने की अनुज्ञा देता है तब आचार्य अपने अगीतार्थ मुनियों के भिक्षा के लिए या विचारभूमी में निर्गत हो जाने पर, मद्य कहां है? यह जानने के लिए आचार्य सागारिक से कहते हैं—

३४१२.गोडीणं पिट्ठीणं, वंसीणं चेव फलसुराणं च।
दिट्ठ मए सन्निचया, अन्ने देसे कुडुंबीणं॥

हमने अन्य देश में एक कौटुम्बिक के घर पर गौड़ीन—गुड़निष्पन्न मदिरा, पैष्टी—व्रीही आदि धान्य से निष्पन्न मदिरा, वांशी—वंशकरीर से निष्पन्न मदिरा, फलसुरा—फलों से निष्पन्न मदिरा आदि—इन मदिराओं का संचय देखा है।

(इतना कहने मात्र से वह सागारिक आचार्य को कहता है—मेरे पास भी विविध मदिराओं का महान् संचय है। आप उसको भी देखें।)

३४१३.गहियम्मि वि जा जयणा, गेलन्ने अधव तेण गंधेणं।
सागारियादिगहणं, णेयव्वं लिंगभेयाई॥

शैक्ष के द्वारा विकट पीने पर जो यतना करनी है उसका कथन करना चाहिए। ग्लान के लिए अथवा उस विकट के गंध से जो अध्युपपन्न हो गया हो, उसके लिए सागारिक से या श्रावक से विकट का ग्रहण करना चाहिए। यदि स्वलिंग से प्राप्त न हो तो लिंगभेद आदि कर उसे प्राप्त करना चाहिए।

३४१४.पीयं जया होज्जऽविगोविएणं,
तत्थाऽऽणइत्ताण रसं छुभंति।
भिन्ने उ गोणादिपए करेंति,
तेसिं पवेसस्स उ संभवम्मि॥

यदि कोई अकोविद—मंदबुद्धिवाला शैक्ष विकट पी लेता है तब गीतार्थ मुनि उस विकटभाजन में इक्षुरस आदि डालकर उसे पुनः भर देते हैं। यदि पात्र टूट-फूट जाता है तो वे मुनि उपाश्रय के प्रांगण में गाय-बैल आदि के प्रवेश करते हुए तथा बाहर जाते हुए के पैरों का चित्रांकन कर देते हैं। यदि वहां गाय-बैल आदि का प्रवेश संभव हो सकता हो तो गृहस्वामी मान लेता है कि गाय आदि से ही विकटभाजन टूटा-फूटा है।

३४१५.बंधित्तु पीए जयणा ठवेंति,
मुद्दा जहा चिट्ठइ अक्खुया से।
ऊणम्मि दिट्ठम्मि भणंति पुट्ठा,
नूणं परिस्संदति भाणमेयं॥

विकटभाजन से विकट—मद्य पीकर, उसको पुनः लाख से स्थगित कर देते हैं, जिससे कि भाजन की मुद्रा यथावत् रह सके। गृहस्वामी उस भाजन को अपूर्ण देखकर मुनियों से पूछता है। मुनि कहते हैं—यह भाजन झरता है।

३४१६.सव्वम्मि पीए अहवा बहुम्मि,
संजोगपाढी व ठयंति अन्नं।
अन्नं व मग्गित्तु छुहंति तत्था,
कीयंकयं वा गिहिलिंगमाई॥

सारा मद्य या बहुत सारा मद्य पी लेने पर 'संयोगपाठी' मुनि (उस विकट की निष्पत्ति का ज्ञाता) दूसरी मदिरा निष्पन्न कर उसमें डाल देता है। यदि संयोगपाठी न हो तो दूसरा मद्य लाकर उसमें निक्षिप्त कर देते हैं। उसके प्राप्त न होने पर क्रीतकृत अथवा लिंग परिवर्तन अर्थात् गृहलिंग से प्राप्त कर उसकी पूर्ति करे।

३४१७.तब्भावियट्ठा व गिलाणए वा,
पुराण सागारिय सावए वा।
वीसंभणीआण कुलाणऽभावा,
गिण्हंति रूवस्स विवज्जएणं॥

कोई मुनि प्रारंभ से ही उस विकट से भावित रहा है और कोई ग्लान उस विकट के बिना स्वस्थ नहीं हो सकता तो उनके लिए पश्चात्कृत या सागारिक या श्रावक से अथवा विश्वसनीयकुलों से उस विकट को ग्रहण करना चाहिए। इन सबके अभाव में रूप का विपर्यय कर अर्थात् लिंग को छोड़कर विकट प्राप्त करना चाहिए।

३४१८.अच्चाउरं वा वि समिक्खिऊणं,
खिप्पं तओ घेत्तु दलित्तु तस्स।
अन्नं रसं वा वि तहिं छुभंती,
संगं च से तं हवयंति तत्तो॥

यदि ग्लान अत्यंत आतुर है ऐसी समीक्षा कर शीघ्र ही प्रतिश्रयवर्ती विकटभाजन से विकट लेकर उस ग्लान को दे दे और फिर उस भाजन में अन्य रस लाकर प्रक्षिप्त कर दे। फिर वे मुनि ग्लान के लिए इस प्रकार के विकटप्रसंग का निवारण करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उवस्सए उदग-पदं

उवस्सयस्स अंतो वगडाए सीओदग-वियडकुंभे वा उसिणोदगवियडकुंभे वा उवनिक्खित्ते सिया, नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अहालंदमवि वत्थए। हुरत्था य उवस्सयं पडिलेहमाणे नो लभेज्जा, एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए, जे तत्थ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वसति से संतरा छेए वा परिहारे वा॥

(सूत्र ५)

३४१९.छोढूण दवं पिज्जइ, गालिंति दवं व छोढुणं तं तु।
पातुं मुहं व धोवइ, तेणऽहिकारो सजीवं वा॥

पानी मिलकार मदिरापान किया जाता है, अथवा पानी मिलाकर मदिरा को गालते हैं, अथवा मदिरा पीकर मुंह का प्रक्षालन करते हैं, इसलिए मदिरा के पश्चात् पानी का अधिकार है। पानी सजीव और निर्जीव–दोनों प्रकार का होता है।

३४२०.सीतोदे उसिणोदे, फासुगमप्फासुगे य चउभंगो।
ठायंतगाण लहुगा, कास अगीतत्थ सुत्तं तु॥

शीतोदक-उष्णोदक-प्रासुक-अप्रासुक–इन पदों की चतुर्भंगी होती है। जैसे–शीतोदक प्रासुक, शीतोदक अप्रासुक, उष्णोदक प्रासुक, उष्णोदक अप्रासुक। इस प्रकार के उदकप्रतिबद्ध उपाश्रय में रहने पर चतुर्लघु का प्रायश्चित्त आता है। यह प्रायश्चित्त अगीतार्थ मुनि के लिए है। प्रस्तुत अनुज्ञा विषयक सूत्र गीतार्थ के लिए कहा है।

३४२१.अणुभूया उदगरसा, नवरं मोत्तुं इमेसि उदगाणं।
काहामि कोउहल्लं, पासुत्तेसुं समारद्धो॥

(यहां वृत्तिकार ने यह सूचना दी है कि ३३१३ से ३३४१ तक की सारी गाथाएं–उदकाभिलाप से विशेषित होकर ज्ञातव्य हैं।) मुनि के मन में यह चिंतन उभरता है कि मैंने यहां प्रस्तुत उदक रसों को छोड़कर अनेक उदकरसों का अनुभव किया है। तो अब मैं मेरी अभिलाषा को पूरी करूं। सभी साधुओं के सो जाने पर वह उदकपान करना प्रारंभ करता है।

३४२२.धारोदए महासलिलजले संभारिते व्व दव्वेहिं।
तण्हातियस्स व सती, दिया व राओ व उप्पज्जे॥

उस उपाश्रय में धारोदक–पर्वत के निर्झर का पानी, महान् नदियों (गंगा, सिन्धु आदि) का जल, अनेक द्रव्यों से सुवासित जल है। इन प्रकारों के पानी के प्रति प्यासे व्यक्ति की अभिलाषा होती है अथवा पूर्वानुभूत व्यक्ति के मन में रात-दिन स्मृति होती रहती है।

३४२३.इहरा कहासु सुणिमो, इमं खु तं विमलसीतलं तोयं।
विगयस्स वि णत्थि रसो, इति सेवे धारतोयादी॥

हम कथाओं में ऐसे विमल और शीतल जल की बातें सुनते थे। आज उसका प्रत्यक्षतः स्वाद चख लिया। प्रासुक जल में वह रस–स्वाद नहीं है, यह सोचकर धारोदक आदि का सेवन करता है।

३४२४.विगयम्मि कोउयम्मी, छद्दवयविराहण त्ति पडिगमणं।
वेहाणस ओहाणे, गिलाणसेहेण वा दिट्ठो॥

३४२५.तण्हाइओ गिलाणो, तं दट्ठु पिएज्ज जा विराहणया।
एमेव सेहमादी, पियंति अप्पच्चओ वा सिं॥

पानी पीने की अभिलाषा पूरी होने पर वह मुनि सोचता है, मैंने छठे व्रत की विराधना कर दी है। इसलिए वह प्रतिगमन या फांसी या पलायन कर लेता है। ग्लान या शैक्ष ने उसे पानी का सेवन करते हुए देख लिया तब प्यास से व्याकुल ग्लान भी पानी पी लेता है। उसके अनेक प्रकार की परितापना होती है, विराधना होती है। इसी प्रकार शैक्ष आदि मुनि भी उस पानी का सेवन करते हैं और उनके मन में परंपरा के प्रति अविश्वास उत्पन्न हो जाता है।

(यहां भी वृत्तिकार ३३४५ से ३३५५ तक गाथाओं का अध्याहार करने का संकेत देते हैं।)

३४२६.ऊसव-छणेसु संभारियं दगं तिसिय-रोगियट्ठाए।
दोहल कुतूहलेण व, हरंति पडिवेसयाईया॥

उत्सव और क्षण के लिए संभारित–कर्पूर आदि से वासित पानी को प्यास बुझाने या रोगी के लिए या दोहद की पूर्ति के लिए या स्वाद के कुतूहल से प्रेरित होकर चोर या पड़ौसी चुरा कर ले जाते हैं।

३४२७.गहियं च तेहिं उदगं, घित्तूण गया जहिं सि गंतव्वं।
सागारिओ व भणई, सउणी वि य रक्खई निड्डं॥

चोरों ने पानी ले लिया। पानी लेकर उन्हें जहां जाना था, वहां चले गए। प्रातः सागारिक गृहस्वामी आया और बोला–भंते! पक्षी भी अपने नीड की रक्षा करता है, आपने इतना भी नहीं किया, पानी की रक्षा भी नहीं की।

३४२८.दगभाणूणे दट्ठुं, सजलं व हियं दगं व परिसडियं।
केण इमं तेणेहिं, असिट्ठे भद्देयर इमे उ॥

किसी प्रयोजनवश गृहस्वामी वहां आता है और उदक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भाजनों को न्यून देखता है या पानी के भाजन को अपहृत देखता है, पानी को जमीन पर बिखरा हुआ देखता है तब वह पूछता है–पानी कौन ले गया? मुनि कहते हैं–चोर ले गए। कौन चोर? इस प्रश्न का उत्तर न देने पर, सागारिक के भद्र या प्रान्त होने पर जो दोष उत्पन्न होते हैं, वे ये हैं। (यहां गाथा ३३५८ से ३३६७ पर्यन्त अध्याहार्य हैं।)

३४२९.चउमूल पंचमूलं, तालोदाणं च तावतोयाणं।
दिट्ठ मए सन्निचया, अन्ने देसे कुडुंबीणं॥

आचार्य उस स्थान में पड़े उदक भाजनों की जानकारी करने के लिए गृहस्वामी से कहते हैं–भद्र! हमने अन्य देश में एक कौटुंबिक के घर में चतुर्मूल (चार प्रकार की सुरभित जड़ों से भावित), पंचमूल (पांच प्रकार की सुरभित जड़ों से भावित), तोसलिदेश में प्रसिद्ध तालोदक तथा राजगृह आदि में होने वाले तापतोय–तप्तपानी के सन्निचय देखें हैं।

(यहां गाथा ३३६९ से ३३८८ पर्यन्त द्रष्टव्य हैं।)

उवस्सए जोइ-पदं

उवस्सयस्स अंतो वगडाए सव्वराईए जोई झियाएज्जा, नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अहालंदमवि वत्थए। हुरत्था य उवस्सयं पडिलेहमाणे नो लभेज्जा, एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए। जे तत्थ एगरायाओ वा दुरायाओ वा परं वसति, से संतरा छेए वा परिहारे वा॥

(सूत्र ६)

३४३०.उदगाणंतरमग्गी, सो उ पईवो व होज्ज जोई वा।
पडिवक्खेणं व गयं, समागमो एस सुत्ताणं॥

प्रस्तुत सूत्र में उदक के पश्चात् अग्नि का कथन है। अग्नि प्रदीप या ज्योति हो सकती है। अथवा प्रतिपक्षरूप में यह सूत्र है, जैसे–पानी का शस्त्र है अग्नि और अग्नि का शस्त्र है पानी। ये परस्पर प्रतिपक्षी हैं। यह दोनों सूत्रों का समागम–संबंध है।

३४३१.देसीभासाए कयं, जा बहिया सा भवे हुरच्छा उ।
बंधऽणुलोमेण कयं, छेए परिहार पुव्वं तु॥

'हुरत्था' शब्द देशीभाषा में बाह्य अर्थ में प्रतिबद्ध है। विवक्षित उपाश्रय के बहिर्वर्ती वगडा को 'हुरत्था' कहा जाता है। बन्धानुलोमता से परिहारपद से पूर्व छेद पद है।

३४३२.अहवण वारिज्जंतो, निक्कारणओ व तिण्ह व परेणं।
छेयं चिय आवज्जे, छेयमओ पुव्वमाहंसु॥

अथवा ज्योतियुक्त उपाश्रय में रहने की वर्जना करने पर भी यदि कोई निष्कारण ही तीन दिनरात से अधिक वहां रहता है तो छेद प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। इसलिए छेदपद पहले कहा गया है।

३४३३.दुविहो य होइ जोई, असव्वराई य सव्वराई य।
ठायंतगाण लहुगा, कास अगीयत्थ सुत्तं तु॥

ज्योति दो प्रकार की होती है–सार्वरात्रिक, असार्वरात्रिक। दोनों प्रकार की ज्योतियुक्त उपाश्रय में रहने पर चतुर्लघु का प्रायश्चित्त है। यह प्रायश्चित्त अगीतार्थ के लिए है। सूत्र गीतार्थ के लिए प्रवृत्त है।

(यहां गाथा ३३१३ से ३३३४ पर्यन्त अध्याहार्य है।)

३४३४.उवगरणे पडिलेहा, पमज्जणाऽऽवास पोरिसि मणे य।
निक्खमणे य पवेसे, आवडणे चेव पडणे य॥

ज्योतियुक्त उपाश्रय में रहने वाले मुनियों के उपकरण के प्रत्युपेक्षण में, वसति के प्रमार्जन में, आवश्यक करने में, सूत्रार्थ की पौरुषी करने में, मन में राग-द्वेष करने में, निष्क्रमण और प्रवेश में क्रमशः नैषेधिकी और आवस्सही करने में, आपतन–टकरा कर गिरने में तथा पतन में तेजस्काय अथवा स्वयं की विराधना होती है। अतः तन्निष्पन्न प्रायश्चित्त आता है। दोष के भय से उपरोक्त क्रियाएं न करने पर भी प्रायश्चित्त आता है।

३४३५.पणगं लहुओ लहुया, चउरो लहुगा य चउसु ठाणेसु।
लहुगा गुरुगा य मणे, सेसेसु वि होंति चउलहुगा॥

उपकरणों का प्रत्युपेक्षण न करने पर जघन्य में पंचक, मध्यम में मासलघु और उत्कृष्ट में चतुर्लघु, वसति आदि का प्रमार्जन न करने पर मासलघु, आवश्यक न करने पर चतुर्लघु, सूत्रपौरुषी न करने पर मासलघु और अर्थपौरुषी न करने पर मासगुरु का प्रायश्चित्त है। इस प्रकार दोष के भय से भी उपकरण की प्रत्युपेक्षा करने, वसति की प्रमार्जना करने, सूत्रार्थ की पौरुषी करने–इन चारों में प्रत्येक का प्रायश्चित्त है चार लघुमास। मन में राग-द्वेष करने से क्रमशः चतुर्गुरु और चतुर्लघु का प्रायश्चित्त है। शेष में चतुर्लघु का प्रायश्चित्त है।

३४३६.पेह पमज्जण वासग अग्गी,
ताणि अकुव्वओ जा परिहाणी।
पोरिसिभंगे अभंगि सजोई,
होति मणे उ रती वऽरई वा॥

उपकरणों की प्रत्युपेक्षा, वसति की प्रमार्जना, वासय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् आवश्यक का करना—इसमें अग्निविराधना से निष्पन्न प्रायश्चित्त है। न करने पर संयम की परिहानि होती है। सूत्रार्थपौरुषी का भंग होने पर क्रमशः मासलघु और मासगुरु का प्रायश्चित्त है। उनको करने पर अग्निकाय की विराधना होती है। सज्योति उपाश्रय के प्रति मन में रति होने पर चतुर्गुरु और अरति होने पर चतुर्लघु का प्रायश्चित्त है।

३४३७.जइ उस्सग्गे न कुणइ,
तइ मासा सव्व अकरणे लहुगा।
वंदण-थुईअकरणे,
मासो संडासकाईसुं॥

आवश्यक के जितने कायोत्सर्ग नहीं करता उतने लघुमास, सारा आवश्यक न करने पर चतुर्लघु, जितने वंदनक और जितनी स्तुतियां नहीं देता/करता उतने ही मासलघु और करता है तो चतुर्लघु तथा बैठते हुए संदशक (एक प्रकार की आसनगत शरीरमुद्रा) का प्रमार्जन न करने पर मासलघु और प्रमार्जन करने पर चतुर्लघु का प्रायश्चित्त है।

३४३८.आवस्सिगा-निसीहिग-
पमज्ज-आसज्जअकरणे इमं तु।
पणगं पणगं लहु लहु,
आवडणे लहुग जं चऽन्नं॥

निष्क्रमण करते हुए 'आवश्यिकी' और प्रवेश करते हुए नैषेधिकी कहने पर पंचक तथा निष्क्रमण-प्रवेश करते हुए प्रमार्जन न करने पर तथा आसज्जशब्द न करने पर मासलघु, आपतन और पतन—दोनों में लघुमास तथा इनमें आत्मविराधना होती है, तन्निष्पन्न प्रायश्चित्त। तथा अग्नि में प्रतापना आदि की जाती है।

३४३९.सेहस्स विसीयणया, ओसक्कऽतिसक्क अन्नहिं नयणं।
विज्झविऊण तुअट्टण, अहवा वि भवे पलीवणया॥

शैक्ष अग्नि में ताप कर अपनी विशीतता—शीतता से मुक्ति पा सकता है। जितनी बार हाथ-पैरों को तपाता है उतने ही चतुर्लघु का प्रायश्चित्त है। अग्नि को शीघ्र बुझाने के लिए ईंधन निकालना, प्रज्वलित करने के लिए उसमें ईंधन डालना, उसे स्थानान्तरित करना, अग्नि को बुझाकर सोना—प्रत्येक में चतुर्लघु का प्रायश्चित्त है। प्रमाद के कारण दहन भी हो सकता है, आग लग सकती है।

३४४०. गाउअ दुगुणादुगुणं, बत्तीसं जोयणाइं चरिमपदं।
चत्तारि छ च्च लहु गुरु, छेओ मूलं तह दुगं च॥

एक गव्यूति से प्रारंभ कर द्विगुण से द्विगुण की वृद्धि करते हुए बत्तीस योजन पर्यन्त यह चरमपद के प्रायश्चित्त तक जाता है। जैसे—यदि एक गव्यूति तक दहन होता है तो चतुर्लघु, अर्द्धयोजन तक चतुर्गुरु, योजन तक षड्लघु, दो योजन का षड्गुरु, चार योजन छेद, आठ योजन मूल, सोलह योजन अनवस्थाप्य, बत्तीस योजन पारांचिक।

३४४१.गोणे य साणमाई, वारणे लहुगा य जं च अहिगरणं।
लहुगा अवारणम्मिं, खंभ-तणाई पलीवेज्जा॥

गाय, श्वान आदि की वर्जना करने पर चतुर्लघु तथा उनके लौटते समय जो उनके द्वारा अधिकरण होता है उसका प्रायश्चित्त भी आता है। यदि उनका वारण न किया जाए तो भी चतुर्लघु का प्रायश्चित्त है। वे पशु प्रविष्ट होकर अग्नि को चालित कर स्तंभ, तृण आदि को प्रदीप्त कर सकते हैं।

३४४२.अद्धाणनिग्गयाई, तिक्खुत्तो मग्गिऊण असतीए।
गीयत्था जयणाए, वसंति तो अगणिसालाए॥

अध्वा का अर्थ है—महान् अरण्य[1]। अध्वा से निर्गत होकर गांव में पहुंच कर तीन बार शुद्ध वसति की मार्गणा करते हैं। न मिलने पर गीतार्थ मुनि यतनापूर्वक अग्निशाला में ठहरते हैं।

३४४३.अद्धाणनिग्गयाई, तिण्हं असईए फरूससालाए।
गीयत्था जयणाए, वसंति तो पयणसालाए॥

अध्वनिर्गत मुनि गांव में पहुंचकर तीन बार शुद्ध वसति की मार्गणा करते हैं। न मिलने पर गीतार्थ मुनि यतनापूर्वक पचनशाला—कुंभकारशाला में रहते हैं।

३४४४.पणिए य भंडसाला, कम्मे पयणे य वग्घरणसाला।
इंधणसाला गुरुगा, सेसासु वि होंति चउलहुगा॥

पणितशाला, भांडशाला, कर्मशाला, पचनशाला, व्याघरणशाला, और ईंधनशाला। ईंधनशाला में निष्कारण रहने पर चतुर्गुरु का तथा शेष शालाओं में ठहरने में चतुर्लघु का प्रायश्चित्त है।

३४४५.कोलालियावणो खलु, पणिसाला भंडसाल जहिं भंडं।
कुंभारकुडी कम्मे, पयणे वासासु आवाओ॥
३४४६.तोसलिए वग्घरणा, अग्गीकुंडं तहिं जलति निच्चं।
तत्थ सयंवरहेउं, चेडा चेडी य छुब्भंति॥

कुलाल अर्थात् कुंभकार का आपण पणितशाला कहलाती है। जहां घट, शराव आदि भांड रखे जाते हैं वह है भांडशाला। कुंभकारकुटी—अर्थात् जहां कुंभकार घट आदि भाजन बनाता है। वर्षा में जहां मृत्भाजन पकाए जाते हैं वह है पचनशाला। ईंधनशाला जहां ईंधन रखा जाता है। तोसलिदेश में गांव के मध्य में जो शाला बनाई जाती है, वह है

१. अध्वा—महदरण्यम्। (वृ. पृ. ९६२)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याघरणशाला। वहां अग्निकुंड निरंतर प्रज्वलित रहती है। वहां अनेक लड़के और एक स्वयंवर रचने वाली लड़की को प्रविष्ट कराया जाता है। जिस लड़के को वह पसंद करती है, उसके साथ उसका विवाह कर दिया जाता है।

३४४७.इंधणसाला गुरुगा, आदित्ते तत्थ नासिउं दुक्खं।
दुविह विराहण झुसिरे, सेसा अगणी य सागरिए॥

ईंधनशाला में रहने पर चतुर्गुरु क्योंकि उसके प्रदीप्त होने पर उसको बुझाना सुदुष्कर होता है। वहां संयम और आत्म विराधना—दोनों होती हैं क्योंकि तृण आदि शुषिर होते हैं। पचनशाला में अग्नि दोष होता है। शेष शालाओं में केवल सागारिक रहता है—विक्रेता, क्रेता आदि।

३४४८.पढमं तु भंडसाला, तहि सागरि नत्थि उभयकालं पि।
कम्माऽऽपणि निसि नत्थी, सेस कमेणेंधणी जाव॥

शुद्ध उपाश्रय की प्राप्ति न होने पर पहले भांडशाला में क्योंकि वहां दिन-रात—दोनों समय कोई सागारिक नहीं रहता। कर्मशाला या आपणशाला में रात में सागारिक नहीं रहता। इनके अभाव में शेष पचनशाला आदि के क्रम से रहे यावत् ईंधनशाला में।

३४४९.ते तत्थ सन्निविट्ठा, गहिया संथारगा विहीपुव्वं।
जागरमाण वसंती, सपक्खजयणाए गीतत्था॥

वहां रहते हुए साधु विधिपूर्वक अपने संस्तारक करें। गीतार्थ मुनि स्वपक्षयतना करते हुए जागते रहे।

३४५०.पासे तणाण सोहण, अहिसक्कोसक्क अन्नहिं नयणं।
संवरणा लिंपणया, छुक्कारण वारणाऽऽगट्टी॥

अग्नि के पार्श्व में यदि तृण आदि हों तो उनका शोधन करें। श्वापद का भय होने पर अग्नि को प्रज्वलित करते हैं तथा चोरों का भय होने पर अग्नि को मंद कर देते हैं, सोने के समय अग्नि को अन्यत्र ले जाते हैं। अग्नि को ढंकना, स्तंभ आदि का गोबर से लिंपन करना, चोर आदि के प्रवेश करने की स्थिति में छुक्कार करना, यदि वे प्रवेश करना बंद न करें तो उनकी वर्जना करना, आग लग जाने पर धूल आदि से बुझाने का प्रयत्न करना—ये सारे कार्य गीतार्थ को करने होते हैं।

३४५१.कडओ व चिलिमिणी वा,
असती सभए व बाहि जं अंतं।
ठाणाऽसति य भयम्मि व,
विज्झायऽगणिम्मि पेहिंति॥

प्रत्युपेक्षणा आदि करते समय अग्नि और स्वयं के बीच कट या चिलिमिली देनी चाहिए। उनके अभाव में उपाश्रय के बाहर प्रत्युपेक्षणा करें और यदि बाहर भय हो तो अन्त्य—परिजीर्ण वस्त्र की प्रत्युपेक्षा करे। अग्नि के बुझ जाने पर सारोपकरणों की प्रत्युपेक्षा करे। यदि बाहर स्थान न हो और भय हो तो सारे उपकरणों का प्रत्युपेक्षण अग्नि के बुझ जाने पर करे।

३४५२.निंता न पमज्जंती, मूगाऽऽवासं तु वंदणगहीणं।
पोरिसि बाहि मणेण व, सेहाण य दिंति अणुसट्ठिं॥

३४५३.नाणुज्जोया साहू, दव्वुज्जोवम्मि मा हु सज्जित्था।
जस्स वि न एइ निद्दा, स पाउय निमीलिओ गिम्हे॥

बाहर जाते-आते भूमी का प्रमार्जन नहीं करते। वसति का भी प्रमार्जन नहीं करते। आवश्यक मौनभाव से तथा वन्दनक-रहित करते हैं। सूत्रार्थपौरुषी उपाश्रय के बाहर करते हैं। बाहर स्थान न होने पर मन ही मन कर लेते हैं। ज्योति के प्रकाश में राग रखने वाले शैक्ष मुनियों को गीतार्थ मुनि अनुशिष्टि देते हैं—'मुनियो! साधु ज्ञान के उद्योत वाले होते हैं। यह भाव उद्योत है। तुम द्रव्य उद्योत में राग मत करो। यदि प्रकाश में नींद नहीं आती है तो मुंह पर कपड़ा देकर सो जाओ। ग्रीष्म में आंखें बंद कर सो जाओ।'

३४५४.आवास बाहि असई,
ठिय वंदण विगड जयण थुइहीणं।
सुत्तत्थ बाहि अंतो,
चिलिमिणि काऊण व झरंति॥

आवश्यक बाहर करें। बाहर स्थान न हो तो जहां स्थित हों वहीं करें। वन्दनक न दें। विकटन—आलोचना यतनापूर्वक करे। स्तुतिमंगल मन से ही करें। सूत्रार्थपौरुषी बाहर करे। बाहर स्थान न हो तो उपाश्रय के भीतर चिलिमिलिका को बांधकर स्वाध्याय करे। चिलिमिलि के अभाव में मन ही मन सूत्र और अर्थ की अनुप्रेक्षा करे।

३४५५.मूगा विसंति निंति व, उम्मुगमाई कओ वि अछिवंता।
सेहा य जोइ दूरे, जग्गंति य जा धरइ जोई॥

उपाश्रय में प्रवेश या निर्गमन मूकभाव से करें। उल्मुक—अलात आदि अग्नि-स्थानों का स्पर्श न करते हुए आना-जाना करे। शैक्ष मुनियों को ज्योति से दूर स्थापित करे। गीतार्थ मुनि तब तक जागते रहें जब तक ज्योति बुझ न जाए।

३४५६.अद्धाणाई अइनिद्दपिल्लिओ गीओसक्किउं सुवइ।
सावयभय उस्सक्के, तेणभए होइ भयणा उ॥

अध्व आदि से परिश्रान्त अथवा अतिनिद्रा से प्रेरित गीतार्थ अग्नि को दूर हटाकर सो जाता है। श्वापद का भय होने पर अग्नि को प्रज्वलित करते हैं। स्तेनों का भय होने पर अग्नि का उज्ज्वालन या विध्यापन की भजना है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३४५७.अद्धाणविवित्ता वा, परकड असती सयं तु जालेंति।
सूलाई व तवेउं, कयकज्जा छार अक्कमणं॥

मार्ग में जो लूटे गए हैं वे दूसरे द्वारा प्रज्वलित अग्नि से अपने आपको तपा सकते हैं। यदि वह प्राप्त न हो तो स्वयं अग्नि जला सकते हैं। शूल आदि को तपाने के लिए स्वयं अग्नि जलाते हैं। कार्य संपन्न होने पर वे उस अग्नि को राख से ढंक देते हैं।

३४५८.सावयभय आणिंति व,सोउमणा वा वि बाहि नीणिंति।
बाहिं पलीवणभया, छारे तस्सऽसति निव्वावे॥

श्वापद का भय होने पर अन्य स्थान से अग्नि लाते हैं और सोते समय उसको बाहर रख देते हैं। बाहर आग लगने का भय हो तो उसे राख से ढक देते हैं। राख का अभाव हो तो अग्नि को बुझा देते हैं।

उवस्सए पईव-पदं

उवस्सयस्स अंतो वगडाए सव्वराईए पईवे दिप्पेज्जा, नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अहालंदमवि वत्थए। हुरत्था य उवस्सयं पडिलेहमाणे नो लभेज्जा, एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए। जे तत्थ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा परं वसति, से संतरा छेए वा परिहारे वा॥

(सूत्र ७)

३४५९.देसीभासाय कयं, जा बहिया सा भवे हुरच्छा उ।
बंधऽणुलोमेण कयं, छेया परिहार पुव्वं तु॥
३४६०.अहवण वारिज्जंतो, निक्कारणओ व तिण्ह व परेणं।
छेयं चिय आवज्जे, छेयमओ पुव्वमाहंसु॥

'हुरत्था' शब्द देशीभाषा में बाह्य अर्थ में प्रतिबद्ध है। विवक्षित उपाश्रय के बहिर्वर्ती वगडा को 'हुरत्था' कहा जाता है। बन्धानुलोमता से परिहारपद से पूर्व छेदपद है।

अथवा प्रदीपयुक्त उपाश्रय में रहने की वर्जना करने पर भी यदि कोई निष्कारण ही तीन दिनरात से अधिक रहता है, तो छेद प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। इसलिए छेदपद पहले कहा गया है।

३४६१.दुविहो य होइ दीवो, असव्वराई य सव्वराई य।
ठायंते लहु लहुगा, कास अगीयत्थ सुत्तं तु॥

दीपक के दो प्रकार हैं—असार्वरात्रिक और सार्वरात्रिक। असार्वरात्रिक दीपकयुक्त उपाश्रय में रहने पर मासलघु और सार्वरात्रिक दीपक वाले उपाश्रय में रहने पर चतुर्लघु का प्रायश्चित्त है। यह प्रायश्चित्त किसके हैं? अगीतार्थ के। सूत्र गीतार्थ विषयक है।

(आगे गाथा ३३१३ से ३३३४ पर्यन्त गाथाएं अध्याहार्य हैं। ऐसा वृत्तिकार ने लिखा है।)

३४६२.उवगरणे पडिलेहा, पमज्जणाऽऽवास पोरिसि मणे य।
निक्खमणे य पवेसे, आवडणे चेव पडणे य॥

प्रदीपयुक्त उपाश्रय में रहने वाले मुनियों के उपकरण के प्रत्युपेक्षण में, वसति के प्रमार्जन में, आवश्यक करने में, सूत्रार्थ की पौरुषी करने में, मन में राग-द्वेष करने में, निष्क्रमण और प्रवेश में क्रमशः नैषेधिकी और आवस्सही करने में, आपतन—टकरा कर गिरने में तथा पतन में तेजस्काय अथवा स्वयं की विराधना होती है। अतः तन्निष्पन्न प्रायश्चित्त आता है। दोष के भय से उपरोक्त क्रियाएं न करने पर भी प्रायश्चित्त आता है।

३४६३.पणगं लहुओ लहुगा, चउरो लहुगा य चउसु ठाणेसु।
लहुगा गुरुगा य मणे, सेसेसु वि होंति चउलहुगा॥

उपकरणों का प्रत्युपेक्षण न करने पर जघन्य में पंचक, मध्यम में मासलघु और उत्कृष्ट में चतुर्लघु, वसति आदि का प्रमार्जन न करने पर मासलघु, आवश्यक न करने पर चतुर्लघु, सूत्र पौरुषी न करने पर मासलघु और अर्थ पौरुषी न करने पर मासगुरु का प्रायश्चित्त है। इस प्रकार दोष के भय से भी उपकरण की प्रत्युपेक्षा करने, वसति की प्रमार्जना करने, सूत्रार्थ की पौरुषी करने—इन चारों में प्रत्येक का प्रायश्चित्त है चतुर्लघु। मन में राग-द्वेष करने से क्रमशः चतुर्गुरु और चतुर्लघु का प्रायश्चित्त है। शेष में चतुर्लघु का प्रायश्चित्त है।

३४६४.गुरुगा य पगासम्मि उ, लहुगा ते चेव अप्पगासम्मि।
सायम्मि होंति गुरुगा, अस्साए होंति चउलहुगा॥

यदि प्रदीप का प्रकाश रुचिकर लगता है तो चतुर्गुरु और अप्रकाश रुचिकर होता है तो चतुर्लघु का प्रायश्चित्त है। यदि प्रकाश में साता (रति) होती है तो चतुर्गुरु और असाता (अरति) होती है तो चतुर्लघु का प्रायश्चित्त है।

३४६५.पडिमाए झामियाए, उड्डाहो तणाणि वा भवे हेट्ठा।
साणाइ चालणा लाल,मूसए खंभ तणाइं पलीवेज्जा॥

देवकुल आदि में प्रतिमा के सम्मुख जो प्रदीप रहता है उसको बुझा देने पर उड्डाह होता है। नीचे संस्तारक आदि के तृण जल जाते हैं। श्वान आदि से प्रदीप इधर-उधर हो सकता है। मूषक दीपक की वर्तिका को ले जाते हैं, उससे स्तंभ या तृणों में आग लग सकती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३४६६.गाउय दुगुणादुगुणं, बत्तीसं जोयणाइं चरिमपदं।
चत्तारि छ च्च लहु गुरु, छेदो मूलं तह दुगं च॥

एक गव्यूति से प्रारंभ कर द्विगुण से द्विगुण की वृद्धि करते हुए बत्तीस योजन पर्यन्त यह चरमपद के प्रायश्चित्त तक जाता है। जैसे—यदि एक गव्यूति तक दहन होता है तो चतुर्लघु, अर्द्धयोजन तक चतुर्गुरु, योजन तक षड्लघु, दो योजन का षड्गुरु, चार योजन छेद, आठ योजन मूल, सोलह योजन अनवस्थाप्य, बत्तीस योजन पारांचिक।

३४६७.अद्धाणनिग्गयाई, तिक्खुत्तो मग्गिऊण असईए।
गीयत्था जयणाए, वसंति तो दीवसालाए॥

अध्वनिर्गत आदि मुनि गांव में पहुंचकर तीन बार शुद्ध वसति की मार्गणा करते हैं। यदि प्राप्त न हो तो गीतार्थ मुनि यतनापूर्वक प्रदीपशाला में ठहर जाते हैं।

३४६८.ते तत्थ सन्निविट्ठा, गहिया संथारगा विहीपुव्वं।
जागरमाण वसंती, सपक्खजयणाए गीतत्था॥

वहां रहते हुए साधु विधिपूर्वक अपने संस्तारक करें। गीतार्थ मुनि स्वपक्षयतना करते हुए जागते रहे।

३४६९.पडिमाझामण ओरुभण लिंपणा दीवगस्स ओरुभणं।
ओसक्कण उस्सक्कण, छुक्कारण वारणोकड्डी॥

प्रतिमा के जलने की आशंका से प्रतिमा का अन्यत्र संक्रमण कर देना चाहिए। यदि यह न हो सके तो स्तंभ का लिंपन किया जाए, प्रदीप को अन्यत्र रखा जाए। यदि प्रदीप को हटाया न जा सके तो उसकी वर्तिका का अवसर्पण-उत्सर्पण किया जाए। श्वान, गाय आदि का छुक्कार करे, प्रवेश न करने दे, दंडे आदि से उनका वारण करे या वर्तिका का अपकर्षण करे।

३४७०.सकलदीवे वत्तिं, उव्वत्ते पीलए व मा डज्झे।
रूएण व तं नेहं, घेत्तूण दिवा विगिंचिंति॥

शृंखलादीप को हटाया नहीं जा सकता, इसलिए उसकी वर्तिका का उद्वर्तन करे या निष्पीडन करे जिससे कि प्रदीप जले नहीं। रुई से प्रदीपवर्ती तैल लेकर दिन में उसका परिष्ठापन कर दे।

३४७१.हेट्ठा तणाण सोहण, ओसक्कऽभिसक्क अन्नहिं नयणं।
आगाढे कारणम्मिं, ओसक्कऽहिसक्कणं कुज्जा॥

प्रदीप के नीचे जो तृण हों उनका शोधन करे, प्रदीप का अवसर्पण या अभिसर्पण या अन्यत्र संक्रमण करे। आगाढ कारण होने पर गीतार्थ स्वयं प्रदीप का अवसर्पण या अभिसर्पण स्वयं करते हैं।

३४७२.मज्झे व देउलाई, बाहिं व ठियाण होइ अतिगमणं।
जे तत्थ सेहदोसा, ते इह आगाढे जयणाए॥

गांव के मध्य में देवकुल आदि हैं। वे प्रातःकाल जनसंकुल होते हैं। मुनिगण आए। दिन में बाहर ठहरे। संध्या वेला में गांव में आए और प्रदीप वाली वसति में ठहरे। वहां रहने से जो शैक्ष संबंधी दोष होते हैं उन सबका आगाढ कारण में परिहार करना चाहिए।

३४७३.अन्नाए तुसिणीया, नाए दट्ठूण करण सविउलं।
बाहिं देउल सद्दो, समागयाणं खरंटो य॥

यदि प्रमादवश आग लग जाए और किसी को ज्ञात न हो कि यहां साधु हैं, तो साधु मौनभाव से पलायन कर जाएं। यदि ज्ञात हो जाए तो जोर से बोले। अथवा देवकुल से बाहर निकल कर चिल्लाए। जो लोग एकत्रित हों उनके सामने खरंटना करे कि किसी ने आग लगा दी। हमारे उपकरण भी जल गए।

उवस्सए असणाइ-पदं

उवस्सगस्स अंतो वगडाए पिंडए वा लोयए वा खीरे वा दहिं वा नवणीए वा सप्पिं वा तेल्ले वा फाणिए वा पूवे वा सक्कुली वा सिहरिणी वा 'उक्खिण्णाणि वा विक्खिण्णाणि वा' विइकिण्णाणि वा विप्पइण्णाणि वा, नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अहालंदमवि वत्थए॥

(सूत्र ८)

३४७४.देहोवहीण डाहो, तदन्नसंघट्टणाय जोतिम्मि।
संगाल चरणडाहो, एसो पिंडस्सुवग्घाओ॥

पूर्व सूत्र में यह प्रतिपादित है कि शैक्ष या अन्य अर्थात् श्वान, गाय आदि के द्वारा ज्योति का संघट्टन होने पर शरीर या उपधि का दाह हो जाता है। प्रस्तुत सूत्र में पिंड आदि युक्त उपाश्रय में ठहरने पर पिंड के प्रति सराग होने के कारण चरण—चारित्र का दाह हो जाता है। इस पिंडसूत्र का पूर्व सूत्र के साथ उपोद्घात—संबंध है।

३४७५.पिंडो जं संपन्नं, पिंडगेज्झं व पिंडविगई वा।
जं तु सभावा लुत्तं, तं जाणसु लोयगं नाम॥

जो अशन आदि संपन्न है—षड्रसयुक्त है, वह है पिंड। जो पिंडरूप में ग्राह्य होता है वह है पिंड अथवा पिंड विकृति अर्थात् सघनगुड़ आदि पिंड है। जो स्वभावतः लुप्त है—आहार आदि के गुणों से युक्त हैं, वे लोचक कहलाते हैं, जैसे—दही, दूध, नवनीत, घृत, तैल आदि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३४७६.पूवो उ उल्लखज्जं, छुट्टगुलो फाणियं तु दविओ वा।
सक्कुलिगाई सुक्कं, तु खज्जगं सूयिअं सव्वं॥

पूप–मालपुआ आर्द्रखाद्यक है। इसी श्रेणी में लपसी (लपनश्री) आदि भी आते हैं। छुट्टगुल–गीला गुड़ तथा द्रविक–पानी के साथ मिला हुआ पिंडगुड़–ये दोनों फाणित कहलाते हैं। शक्कुलिका–जलेबी, मोदक आदि सभी शुष्क-खाद्य की सूची में आते हैं।

३४७७.जा दहिसरम्मि गालियगुलेण चउजायसुगयसंभारा।
कूरम्मि छुब्भमाणी, बंधति सिहरं सिहरिणी उ॥

दही को छानकर गालित गुड़ से निष्पन्न, इलायची-जैवत्री–तमालपत्र और नागकेशर–इन चार गंध द्रव्यों से वासित, जो भात में डालने पर शिखर को बांधती है (शिखर की भांति उन्नत होती है) वह शिखरिणी कहलाती है।

३४७८.पिंडाईआइन्ने, निग्गंथाणं न कप्पई वासो।
चउरो य अणुग्घाया, तत्थ वि आणाइणो दोसा॥

पिंड आदि से आकीर्ण उपाश्रय में ठहरना निर्ग्रन्थों (तथा निर्ग्रन्थिनियों) को नहीं कल्पता। वहां वास करने पर चार अनुद्घात मास का प्रायश्चित्त आता है तथा आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं।

३४७९.चउरो विसेसिया वा, दोण्ह वि वग्गाण ठायमाणाणं।
अहवा चउगुरुगाई, नायव्वा छेयपज्जंता॥

वहां रहने पर दोनों वर्गों–श्रमण-श्रमणी–को चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त तप और काल से विशेषित प्राप्त होते हैं। अथवा चारों (भिक्षु, वृषभ, उपाध्याय तथा आचार्य) को चतुर्गुरु प्रायश्चित्त से प्रारंभ कर छेदपर्यन्त प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

अह पुण एवं जाणेज्जा–नो उक्खित्ताइं नो विक्खिण्णाइं नो विइकिण्णाइं नो विप्पइण्णाइं रासिकडाणि वा पुंजकडाणि वा भित्तिकडाणि वा कुलियाकडाणि वा लंछियाणि वा मुद्दियाणि वा पिहियाणि वा। कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा हेमंत-गिम्हासु वत्थए॥

(सूत्र ९)

३४८०.अणुभूया पिंडरसा, नवरं मुत्तूणिमेसि पिंडाणं।
काहामो कोउहल्लं, तहेव सेसा वि भणियव्वा॥

वहां ठहरने पर किसी मुनि की इच्छा हो सकती है कि यहां रखें हुए पिंडों के रसों को छोड़कर मैंने अनेक पिंडों के रसों का अनुभव किया है। मैं अब अपना कुतूहल पूरा करूं–यह सोचकर वह भोज्य पिंडों को खाता है। इसी प्रकार शेष भोज्यों के विषय में भी जानना चाहिए।

अह पुण एवं जाणेज्जा–नो रासिकडाणि वा नो पुंजकडाणि वा नो भित्तिकडाणि वा नो कुलियाकडाणि वा कोट्ठाउत्ताणि वा पल्लाउत्ताणि वा मंचाउत्ताणि वा मालाउत्ताणि वा कुंभिउत्ताणि वा करभिउत्ताणि वा ओलित्ताणि वा विलित्ताणि वा लंछियाणि वा मुद्दियाणि वा पिहियाणि वा, कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा वासावासं वत्थए॥

(सूत्र १०)

३४८१.तेल्ल-गुड-खंड-मच्छंडियाण महु-पाण-सक्कराईणं।
दिट्ठ मए सन्निचया, अन्ने देसे कुडुंबीणं॥

आचार्य उस सागारिक को कहते हैं–आर्य! हमने अन्य देश में एक कौटुम्बिक के घर में अनेक पिंडों के सन्निचय देखें हैं। हमने तैल, गुड़, खांड, मत्स्यण्डिका, मधु-पान-शर्करा आदि के समूह देखे हैं।

३४८२.कुंभी करहीए तहा, पल्ले माले तहेव मंचे य।
ओलित्त पिहिय मुद्दिय, एरिसए ण कप्पती वासो॥

जिस उपाश्रय में कुंभी,[1] करभी,[2] पल्य, माल अथवा मंच–इनमें पिंड आदि निक्षिप्त कर, वे सब अवलिप्त, पिहित या मुद्रित हों तो वहां रहना कल्पता है।

३४८३.उडुबद्धम्मि अईते, वासावासे उवट्ठिए संते।
ठायंतगाण गुरुया, कास अगीतत्थ सुत्तं तु॥

ऋतुबद्धकाल के बीत जाने पर तथा वर्षावास के उपस्थित हो जाने पर जो ऐसे उपाश्रय में ठहरता है उसके चतुर्गुरुक का प्रायश्चित्त आता है। यह प्रायश्चित्त अगीतार्थ के लिए है। प्रस्तुत सूत्र में जो अनुज्ञा है, वह गीतार्थ विषयक है।

१. कुंभी–मुख के आकार वाला कोष्ठक।
२. करभी–घट के संस्थान वाला कोष्ठक।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आगमणगिहादिसु वास-पदं

नो कप्पइ निग्गंथीणं अहे आगमणगिहंसि वा वियडगिहंसि वा वंसीमूलंसि वा रुक्खमूलंसि वा अब्भावगासियंसि वा वत्थए॥

(सूत्र ११)

३४८४.आगमणे वियडगिहे, वंसीमूले य रुक्खमब्भासे।
ठायंतिकाण गुरुगा, तत्थ वि आणादिणो दोसा॥

जो श्रमणियां आगमनगृह, विवृतगृह, वंसीमूल, वृक्षमूल तथा अभ्रावकाश–इन स्थानों में ठहरती हैं, उनके चतुर्गुरुक का प्रायश्चित्त तथा आज्ञाभंग आदि दोष होते हैं।

३४८५.आगमगिहादिएसुं, भिक्खुणिमादीण ठायमाणीणं।
गुरुगादी जा छेदो, विसेसितं चउगुरू वा सिं॥

आगमनगृह आदि में रहने वाली श्रमणियों के चतुर्गुरुक का प्रायश्चित्त है। उससे प्रारंभ कर वह प्रायश्चित्त छेद पर्यन्त चला जाता है। इन चारों–भिक्षुणी, अभिषेका, गणावच्छेदिनी तथा प्रवर्तिनी–के चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त तप और काल से विशेषित होता है।

३४८६.आगंतुगारत्थिजणो जहिं तु,
संठाति जं चाऽऽगमणम्मि तेसिं।
तं आगमोगं तु विऊ वदंति,
सभा पवा देउलमादियं वा॥

आगंतुक पथिक आदि आकर जहां ठहरते हैं और जो स्थान पथिकों आदि के आगमन के लिए होता है उसको विद्वान् 'आगमौक'–आगमनगृह कहते हैं। वह सभा, प्रपा या देवकुल आदि हो सकते हैं।

३४८७.आगमणगिहे अज्जा, जणेण परिवारिया अणज्जेण।
दट्ठुं कुलप्पसूता, संजमकामा विरज्जंति॥

आगमनगृह में स्थित आर्या को अनार्यजनों से परिवृत देखकर संयम लेने की इच्छा वाली कुलप्रसूत स्त्रियां दीक्षा लेने से विरत हो जाती हैं। वे सोचती हैं–

३४८८.उवस्सए एरिसए ठियाणं,
ण सीलभारा सगला भवंति।
को दाणि हंसेण किणेज्ज काकं,
एवं नियत्तंति कुलप्पसूया॥

इस प्रकार के उपाश्रय में रहने वाली आर्यिकाओं के ब्रह्मचर्य का भार अखंड नहीं रहता, खंडित हो जाता है। वर्तमान में हमारा गृहवास हंसकल्प अर्थात् हंस के समान निष्कलंक है। इस प्रकार के प्रत्यपायवाले प्रतिश्रय में रहने वाली आर्याओं का संयमजीवन दोषयुक्त होने के कारण काकतुल्य है। कौन भला अब हंस को बेचकर काक को खरीदेगा? इस प्रकार सोचकर वे कुलप्रसूत–कुलीन स्त्रियां प्रव्रज्याग्रहण से निवर्तित हो जाती हैं।

३४८९.काइय पडिलेह सज्झाए, भुंजणे वीयारमेव गेलण्णे।
साणादी उवगरणे, तरुणाई जे भणिय दोसा॥

कायिकी, प्रत्युपेक्षा, स्वाध्याय, भोजन, विचार और ग्लानत्व–इनमें दोष होते हैं। श्वान आदि उपकरणों का अपहरण कर लेते हैं। तरुण आदि से होने वाले दोष जो प्रथम उद्देशक में कहे गए हैं, उनका यहां भी समवतार होता है।

३४९०.मोयस्स वायस्स य सण्णिरोहे,
गेलण्ण णीसट्ठमसण्णिरोहे।
पलोट्टणा घाण ससद्द मत्ते,
आतोभया तत्थ भवंति दीवे॥

आगमनगृह में स्थित आर्यिकाएं गृहस्थों के संकोचवश मोक–प्रस्रवण तथा अधोवायु का निरोध करती हैं तो ग्लानत्व होता है। यदि निरोध नहीं करती हैं तो निसृष्ट अर्थात् निर्लज्ज होती हैं। यदि कायिकी को मात्रक में व्युत्सृष्ट करती हैं तो मात्रक से परिष्ठापन करते समय या पोंछते समय नाक में दुर्गन्ध उछलती है। मात्रक में प्रस्रवण करते समय वह सशब्द होता है। उससे उड्डाह होता है। आत्मसमुत्थ तथा परसमुत्थ दोष वहां होते हैं। वह संयती स्वयं क्षुब्ध होती है, यह आत्मसमुत्थ दोष है। कायिकीशब्द को सुनकर क्लीव क्षुब्ध होता है, यह परसमुत्थ दोष है।

३४९१.पेहिंति उड्डाह पवंच तेणा,
अपेहणे सोहि तिहोवहिस्सा।
कीरंतऽकीरंत सुते य दोसा,
ण णिंति भिक्खस्स निरुद्धमग्गा॥

साध्वियां यदि सागारिक के देखते प्रत्युपेक्षा करती हैं तो गृहस्थ उड्डाह करते हैं, प्रपंच करते हैं–स्वयं वैसे ही वस्त्रों को देखना शुरू कर देते हैं। चोर सारवस्त्रों का अपहरण कर लेते हैं। यदि इस भय से प्रत्युपेक्षा नहीं करती हैं तो तीन प्रकार की उपधि के अप्रत्युपेक्षा का प्रायश्चित्त आता है–(जघन्य का पंचक, मध्यम का मासलघु और उत्कृष्ट का चतुर्लघु)। श्रुत अर्थात् स्वाध्याय के करने या न करने पर भी दोष होते हैं। स्वाध्याय करने पर गृहस्थ भी देखा-देखी वैसे ही बोलने लगते हैं और न करने पर श्रुत के नाश की संभावना होती है। गृहस्थों द्वारा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निर्गमन–प्रवेश निरुद्ध हो जाने पर आर्यिकाएं भिक्षा के लिए आ-जा नहीं सकतीं।

३४९२.दुक्खं च भुंजंति सति ट्ठितेसु,
तक्किंति देंते य अदेंति दोसा।
भुंजंति गुत्ता अधिकारिया उ,
कुलुग्गया किं पुण जा अतोया॥

गृहस्थों के वहां निरंतर बैठे रहने पर साध्वियों को भोजन करना कष्टप्रद हो जाता है। यदि कोई गृहस्थ आहार की याचना करे तो उसे देने या न देने से अनेक दोष होते हैं। कुलीन तथा अधिकारसंपन्न स्त्रियां एकान्त में भोजन करती हैं तो फिर ये अतोया–आचमन के लिए पानी न रखने वाली आर्याओं को तो एकान्त में ही भोजन करना चाहिए।

३४९३.वीयारभोमे बहि दोसजालं,
णिसट्ठ-बीभच्छकया य अंतो।
कीरंत किच्चे य गिलाण दोसा,
कालादिवत्ती य तहोसहस्स॥

यदि साध्वियां विचारभूमी के लिए बाहर जाती हैं तो अनेक दोष होते हैं और यदि उपाश्रय में ही संज्ञा से निवृत्त होती हैं तो निर्लज्ज और बीभत्स मानी जाती हैं। यदि ग्लान साध्वी के लिए वे कुछ कृत्य–अकल्प्य औषधि आदि देती हैं तो अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। यदि सागारिक हैं यह सोचकर नहीं करतीं तो औषधि के लिए कालातिपत्ति होती है, काल का अतिक्रमण हो जाता है।

३४९४.हरंति भाणाइ सुणादिया य,
सयंति भीया व वसंति णिच्चं।
णिच्चाउले तत्थ णिरुद्धचारे,
णेगग्गया होति कओ सि झाओ॥

वहां आगमनगृह में श्वान आदि आकर भाजन आदि ले जाते हैं। वहां श्वान आदि भयभीत होकर सदा रहते हैं, सोते हैं। वे गृह सदा आने-जाने वालों से आकीर्ण रहते हैं। आना-जाना निरुद्ध न होने के कारण वहां एकाग्रता नहीं होती तो वहां रहने वाली आर्याओं के स्वाध्याय कैसे होगा?

३४९५.तरुणा-वेसित्थि-विवाह-रायमादीसु होति सतिकरणं।
इच्छमणिच्छे तरुणा, तेणा ताओ व उवहिं वा॥

वहां आगमनगृह में तरुण, वेश्यास्त्रियां, विवाह आदि करने के लिए लोग आते हैं तथा राजा आदि की सवारियां देखी जाती हैं–इनसे स्मृतियां उभरती हैं। तरुणों के प्रति इच्छा से व्रतभंग और अनिच्छा से उड्डाह होता है। स्तेन साध्वियों का या उपधि का अपहरण कर लेते हैं।

३४९६.ओभावणा कुलघरे, ठाणं वेसित्थि-खंडरक्खाणं।
उद्धंसणा पवयणे, चरित्तभासुंडणा सज्जो॥

आगमनगृह में श्रमणियों का धूर्तों से परिवृत होने पर कुलगृह की निन्दा होती है। वह स्थान वेश्यास्त्रियों, खंडरक्षकों–यायावरों का होता है, इसलिए वह स्थान उद्धषणा, प्रवचन की हीलना तथा चारित्र का शीघ्र नाश करने वाला होता है।

३४९७.चिंताइ दट्ठुमिच्छइ, दीहं णीससति तह जरे डाहे।
भत्तारोयग मुच्छा, उम्मत्तो ण याणती मरणं॥

३४९८.मासो लहुओ गुरुओ,चउरो लहुगा य होंति गुरुगा य।
छम्मासा लहु-गुरुगा, छेदो मूलं तह दुगं च॥

उससे वे दस प्रकार के कामवेग उत्पन्न होते हैं–चिंता, देखने की इच्छा, दीर्घनिःश्वास, ज्वर, दाह, भोजन की अरुचि, मूर्च्छा, उन्मत्तता, कुछ न जानने की स्थिति (निश्चेष्टस्थिति) और मरण।

प्रथम वेग में लघुमास, दूसरे में गुरुमास, तीसरे में चार लघुमास, चौथे में चार गुरुमास, पांचवें में छह लघुमास, छठे में छह गुरुमास, सातवें में छेद, आठवें में मूल, नौवें में अनवस्थाप्य और दसवें में पारांचिक।

ये सारे आगमनगृह में रहने के दोष हैं।[1]

३४९९.एए चेव य दोसा, सविसेसतरा हवंति विगडगिहे।
वंसीमूलट्ठाणे, पडिबद्धे जे भणिय दोसा॥

ये ही सारे दोष विशेषरूप से विवृतगृह में ठहरने से होते हैं। वंशीमूलस्थान में ठहरने से वे दोष होते हैं जो द्रव्यतः और भावतः प्रतिबद्ध उपाश्रय में ठहरने पर कहे गए हैं।

३५००.अवाउडं जं तु चउद्दिसिं पि,
तीसुं दुसुं वा वि तहेक्कतो वा।
अहे भवे तं वियडं गिहं तु,
उड्ढं अमालं च अछन्नगं वा॥

विवृतगृह दो प्रकार का है–अधोविवृत और ऊर्ध्वविवृत। अधोविवृतगृह वह है जो चारों दिशाओं में, तीन-दो या एक दिशा में भींत रहित है, परन्तु ऊपर से आच्छन्न है। ऊर्ध्वविवृतगृह वह है जो पार्श्व में भींत युक्त किन्तु माला रहित और छाद्यरहित (अच्छन्न) है।

३५०१.अजंतिया तेण-सुणा उवेंति,
गोणादि णिस्संकमभिहवंति।
तेणादिया तत्थ चिलीय दोसा,
कडादिकम्मं तु सजीवघातं॥

विवृतगृह में चोरों और कुत्तों का आगमन अनियंत्रित होता

१. इन दसों वेगों की विस्तृत व्याख्या के लिए देखें–गाथा २२५८ से २२६२ पर्यन्त गाथाएं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। गाय-बैल आदि निःशंक होकर आघात करते हैं। वहां चिलिमिलिका बांधने पर चोर उसे उठा ले जाते हैं। ये दोष होते हैं। उसके अभाव में कट, किलिंच आदि बना कर स्थापित करने पर आधाकर्मनिष्पन्न प्रायश्चित्त तथा कट आदि करने में जिन जीवों का घात हुआ है, तन्निष्पन्न पृथक् प्रायश्चित्त आता है।

३५०२.जाओ वणे वी य बहिं घरस्स,
अलिंदओ वा अवसारिगा वा।
गेहस्स पासे पुर पिट्ठओ वा,
तं वंसिमूलं कुसला वदंति॥

जो गृह के पार्श्व में, आगे या पीछे अलिंदक और उपसारिका–पटालिका होती है, उसे कुशल व्यक्ति वंशीमूलगृह कहते हैं। ऐसे स्थान में रहने पर प्रतिबद्ध सूत्रोक्त दोष होते हैं।

३५०३.अट्ठिं व दारुगादी, सउणगपरिहार पुप्फ-फलमादी।
एवं तु रुक्खमूले, अब्भावासम्मि सिण्हाई॥

वृक्षमूल में ठहरने पर ऊपर से अस्थि, लकड़ी आदि गिर सकती है, पक्षियों का परिहार–बींट आदि गिरती है, पुष्प, फल आदि भी गिरते हैं। अभ्रावकाश में (खुले आकाश में) रहने पर ओस गिरता है, सचित्त रज आदि भी गिरते हैं।

३५०४.अद्धाणनिग्गयादी, तिक्खुत्तो मग्गिऊण असतीये।
वाडगआगमणगिहे, इयरम्मि य णिग्गहसमत्थे॥

अध्वनिर्गत आदि श्रमणियां गांव में विशुद्ध वसति की तीन बार मार्गणा करती हैं। यदि वह प्राप्त न हो तो वाटक के मध्यवर्ती आगमनगृह में रह सकती हैं। यदि शय्यातर जितेन्द्रिय तथा निग्रह करने में समर्थ हो तो वहां रहा जा सकता है, अन्यथा नहीं।

३५०५.जं देउलादी उ णिवेसणस्सा,
मज्झम्मि गुत्तं सुपुरोहडं च।
अदुट्ठगम्मं ण य दुट्ठमज्झे,
अदूरगेहं तहियं वसंति॥

गांव के मध्य में देवकुल आदि वृति से गुप्त तथा सुपुरोहड–रमणीय विचारभूमी से युक्त, सज्जन व्यक्तियों का आश्रय-स्थल तथा जो दुष्ट लोगों के मध्य न हो, तथा जहां निकट ही अन्यान्य घर हों, ऐसे स्थान में रह सकती हैं।

३५०६.जुवाणगा जे सविगारगा य,
पुत्तादओ तुज्झ इहं वसंति।
मा ते वि अम्हं इह संवयंतु,
इच्छंत सत्ते य वसंति तत्थ॥

वहां जो शय्यातर है उसे कहती हैं–तुम्हारे जो पुत्र आदि युवा हैं, सविकार हैं और जो यहां रहते हैं वे सारे इस प्रतिश्रय में न आएं। इस प्रकार कहने पर यदि वह चाहता हो और सबको निवारण करने में सशक्त हो तो वहां रहा जा सकता है।

३५०७.भोइयकुले व गुत्ते, दुज्जणवज्जे वसंति उ पउत्थे।
महतरगादिसुगुत्ते, वंसीमूलम्मि ठायंति॥

भोजिक–नगरस्वामी का गृह जो गुप्त हो, दुर्जनजनरहित हो, वहां रहा जा सकता है। यदि भोजिक देशान्तर गया हो तो महत्तर आदि के गृह जो सुरक्षित हों तो वैसे वंशीमूल गृह में रहा जा सकता है।

३५०८.तस्सऽऽसइ उड्ढवियडे, वसंति कडगादि छोडुणं उवरिं।
तस्सऽऽसति पासवियडे, कडगादी पंतवत्थेहिं॥

वैसे वंशीमूलगृह के अभाव में ऊर्ध्वविवृतगृह के ऊपर कटक आदि डालकर रहा जा सकता है। उसके अभाव में पार्श्वविवृत स्थान में रहती हैं। वहां कट आदि या प्रान्तवस्त्रों से चारों ओर आच्छादित कर रहती हैं।

३५०९.विहं पवन्ना घणरुक्खहेट्ठे,
वसंति उस्सा-ऽवणिरक्खणट्ठा।
तस्साऽसती अब्भगवासिए वि,
सुवंति चिट्ठंति व उण्णिछन्ना॥

विह अर्थात् मार्गगत साध्वियां यदि अधोविवृतगृह भी प्राप्त नहीं कर सकतीं तो घने वृक्षमूल में अवश्याय तथा सचित्त पृथ्वी की रक्षा के लिए रहती हैं। उसके अभाव में अभ्रावकाश–खुले आकाश में और्णिक कल्प से आच्छादित होकर सोती हैं या ठहरती हैं।

कप्पइ निग्गंथाणं अहे आगमणगिहंसि वा वियडगिहंसि वा वंसीमूलंसि वा रुक्खमूलंसि वा अब्भावगासियंसि वा वत्थए॥

(सूत्र १२)

३५१०.एसेव गमो नियमा, निग्गंथाणं पि णवरि चउलहुगा।
णवरिं पुण णाणत्तं, अब्भावासम्मि वतिगादी॥

यही अर्थात् निर्ग्रन्थी सूत्रोक्त विकल्प नियमतः निर्ग्रन्थों के लिए भी है। उनके प्रायश्चित्त चतुर्लघुक है। दोषजाल पूर्ववत् ही है केवल अपवादपद में नानात्व है। ग्लान के लिए गोकुल आदि में जाने पर अभ्रावकाश में रह सकते हैं।

३५११.सुत्तनिवाओ पोराण आगमे भोइए व रक्खंते।
आराम अहेविगडे, वंसीमूले व णिद्दोसे॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only .www.jainelibrary.org

सूत्र का समवतार पुराने आगमनगृह अथवा जहां रहने पर भोजिक रक्षा करता है, तथा अधोविवृत आरामगृह और निर्दोष वंशीमूलगृह के लिए है।

३५१२.अभुज्जमाणी उ सभा पवा वा,
गामेगपासम्मि ण थाऽणुपंथे।
पभू व वारेति जणं उवेंतं,
ण कुप्पती सो य तहिं तु ठंति॥

परिभोग में न आनेवाली सभा, प्रपा गांव के एक पार्श्व में होती है और वे मुख्य मार्ग के निकट नहीं होतीं। वहां ठहरने पर प्रभु–ग्रामस्वामी आने वालों को निवारित करता है और यदि आने वाले कुपित नहीं होते तो वहां रहा जा सकता है।

३५१३.गुम्मेहि आरामघरम्मि गुत्ते,
वइय तुंगाय व एगदारे।
अहे अगुत्ते छइतम्मि ठंती,
ण जत्थ लोगो बहु सण्णिलेति॥

गुल्म अर्थात् कोरण्टक आदि से गुप्त आरामगृह जो ऊंची वृति से परिक्षिप्त हो, एक द्वार वाला, अधोगुप्त और ऊपर से आच्छादित हो, वहां रहा जा सकता है। वहां बहुत लोग नहीं आते।

३५१४.जं वंसिमूलऽण्णमुहं च तेणं,
पिहद्दुवारं ण तओ उ छिंडी।
सुणेंति सद्दं न परोप्परस्स,
न काइयं णेव य दिट्ठिवातो॥

जो वंशीमूल मूलगृह से विपरीत मुंह वाला है, पृथक् द्वार वाला है, उसके छिंडिका नहीं होती, वहां परस्पर होने वाले शब्द सुनाई नहीं देते, कायिकी एकत्र नहीं होती, परस्पर दृष्टिपात नहीं होता–ऐसे स्थान में रहना कल्पता है।

३५१५.असई य रुक्खमूले, जे दोसा तेहिं वज्जिए ठंति।
अद्धाणमब्भवासे, गेलण्णागाढ वइगादी॥

आगमनगृह आदि के अभाव में जो दोष वृक्षमूल में रहने पर बताए गए हैं उनसे वर्जित वृक्षमूल में रहा जा सकता है। तथा मार्ग प्रतिपन्न या आगाढ़ ग्लानत्व के कारण व्रजिका आदि में गए हुए हों तो अभ्रावकाश में रह सकते हैं।

३५१६.कडं कुणंतेऽसति मंडवस्सा,
कडाऽसती पोत्तिमतेणगम्मि।
सद्दोवओगो धणुतासणा य,
सोट्ठादि पाडिंति य पुव्वलग्गे।

वृक्षमूल में मंडप हो तो वहां रहे। उसके अभाव में कट का प्रयोग करते हैं। उसके अभाव में कपड़ों की चिलिमिलिका करते हैं, यदि चोरों का भय न हो तो। पक्षियों के निवारण के लिए शब्द करते हैं, उपयोग रखते हैं, धनुष्य से या पाषाण से पक्षियों की त्रासना करते हैं, सोट्ठा–शुष्ककाष्ठ आदि जो वृक्ष पर पहले से लगे हुए हैं उनको नीचे गिराते हैं।

(आगाढ़ ग्लानत्व में दूध आदि का प्रयोजन होता है। व्रजिकागमन के अवसर पर अभ्रावकाश में रहना कल्पता है।)

३५१७.विसोहिकोडिं हवइत्तु गामे,
चिरं व कज्जं ति वयंति घोसं।
अब्भासगामाऽसति तत्थ गंतुं,
पडालि-रुक्खाऽसतिए अछण्णे॥

स्वग्राम में यदि शुद्धरूप में दूध आदि की प्राप्ति न होती हो तो वहीं विशुद्धिकोटि के दोषों को पंचक आदि प्रायश्चित्त के आधार पर दूध आदि लेते हैं। चिरकाल तक उसकी आवश्यकता होने पर गोकुल में जाते हैं। गोकुल के निकटस्थ गांव में रहकर दूध आदि गोकुल से लाते हैं। इसके अभाव में गोकुल में पाटलिका में रहते हैं। उसके अभाव में वृक्षमूल में और उसके अभाव में अभ्रावकाश में रहते हैं।

सागारिय-पदं

एगे सागारिए पारिहारिए, दो तिण्णि चत्तारि पंच सागारिया पारिहारिया, एगं तत्थ कप्पागं ठवइत्ता अवसेसे निव्विसेज्जा॥

(सूत्र १३)

३५१८.जहुत्तदोसेहिं विवज्जिया जे,
उवस्सगा तेसु जती वसंता।
एगं अणेगे व अणुण्णवित्ता,
वसंति सामिं अह सुत्तजोगो॥

यथोक्त (पूर्वोक्त) दोषों से विवर्जित जो उपाश्रय हैं उनमें यदि रहते हैं तो एक या अनेक गृहस्वामियों से अनुज्ञा लेकर वहां रहते हैं। यह पूर्वसूत्र के साथ योग–संबंध है।

३५१९.सागारिउ त्ति को पुण, काहे वा कतिविहो व से पिंडो।
असिज्जायरो व काहे, परिहरियव्वो व सो कस्सा॥
३५२०.दोसा वा के तस्सा, कारणजाए व कप्पती कम्मि।
जयणाए वा काए, एगमणेगेसु घेत्तव्वो॥

शय्यातर कौन होता है? शय्यातर कब होता है? उसका पिंड कितने प्रकार का होता है? अशय्यातर कब होता है?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किस मुनि से संबंधित शय्यातर परिहर्तव्य होता है? सागारिकपिंड के दोष क्या हैं? किस कारण में वह पिंड कल्पता है? किस यतना से उस पिंड को एक शय्यातर अथवा अनेक शय्यातरों से ग्रहण करने योग्य होता है?

३५२१.सागारियस्स णामा, एगट्ठा णाणवंजणा पंच।
सागारिय सेज्जायर, दाता य तरे धरे चेव॥

सागारिक के पांच नाम एकार्थक हैं, नाना व्यंजन वाले हैं। वे ये हैं–सागारिक, शय्याकर, शय्यादाता, शय्यातर और शय्याधर।

३५२२.अगमकरणादगारं, तस्सहजोगेण होइ सागारी।
सेज्जाकरणे सेज्जाकरो उ दाता तु तद्दाणा॥
३५२३.गोवाइऊण वसहिं, तत्थ वि ते यावि रक्खिउं तरइ।
तद्दाणेण भवोघं, च तरति सेज्जातरो तम्हा॥
३५२४.जम्हा धारइ सिज्जं, पडमाणिं छज्ज-लेपमाईहिं।
जं वा तीए धरेती, नरगा आयं धरो तम्हा॥

अगम अर्थात् वृक्ष। उनसे बने हुए गृह अगार हैं। अगार के साथ जिसका योग है वह है सागारिक। शय्या अर्थात् प्रतिश्रय। उसको करने वाला शय्याकर। शय्या का दान करने वाला शय्यादाता। जो शय्या-वसति का संरक्षण करने में समर्थ होता है वह है शय्यातर अथवा जो शय्या में रहने वालों का संरक्षण करता है वह है शय्यातर अथवा जो शय्या के दान से संसार समुद्र को तर जाता है वह है शय्यातर। जो गिरती हुई शय्या को छादन-लेपन के द्वारा धारण करता है वह है शय्याधर अथवा जो साधुओं को शय्या का दान कर अपनी आत्मा को नरक में गिरने से धारण करता है वह है शय्याधर।

३५२५.सेज्जायरो पभू वा, पभुसंदिट्ठो व होइ कायव्वो।
एगमणेगे व पभू, पभुसंदिट्ठे वि एमेव॥

शय्यातर उपाश्रय का प्रभु–स्वामी होता है अथवा वह भी शय्यातर होता है जो गृहस्वामी द्वारा निर्दिष्ट है। गृहस्वामी एक भी हो सकता है और अनेक भी। इसी प्रकार गृहस्वामी द्वारा निर्दिष्ट व्यक्ति एक भी हो सकता है और अनेक भी।

३५२६.सागारिय संदिट्ठे, एगमणेगे चउक्कभयणा तु।
एगमणेगा वज्जा, णेगेसु उ वज्जए एक्कं॥

सागारिक द्वारा संदिष्ट एक या अनेक के आधार पर चतुर्भंगी होती है–

१. एक प्रभु एक संदिष्ट।
२. एक प्रभु अनेक संदिष्ट।
३. अनेक प्रभु एक संदिष्ट।
४. अनेक प्रभु अनेक संदिष्ट।

इसमें एक अथवा अनेक शय्यातर वर्ज्य हैं। अनेक शय्यातर होने पर एक को स्थापित कर शेष वर्ज्य हैं।

३५२७.अणुणविय उग्गहंगण,पायोग्गाणुण्ण अतिगते ठविते।
सज्झाय भिक्ख भुत्ते, णिक्खित्ताऽऽवासए एक्को॥
३५२८.पढमे बितिए ततिए, चउत्थ जामे व होज्ज वाघातो।
निव्वाघाए भयणा, सो वा इतरो व उभयं वा॥

शय्यातर कब होता है, इस विषय में अनेक आदेश–मत हैं– १. जो प्रतिश्रय की अनुज्ञा देता है।
२. जब सागारिक के अवग्रह में प्रवेश कर जाते हैं।
३. जब उसके गृहांगण में प्रवेश कर लेने पर।
४. जब तृण-डगलक आदि अनुज्ञापित हो जाते हैं।
५. वसति में प्रवेश करने के पश्चात्।
६. दंडक आदि उपकरण स्थापित कर देने अथवा दान-श्राद्ध आदि कुलों की स्थापना कर देने पर।
७. जब वहां स्वाध्याय प्रारंभ कर देते हैं।
८. वहां से भिक्षा के लिए निर्गत होने पर।
९. आहार प्रारंभ कर देने पर।
१०. भाजनों को निक्षिप्त करने से।
११. जब दैवसिक आवश्यक कर लिया हो।
१२. रात्री के प्रथम याम व्यतीत हो जाने पर।
१३. दूसरा याम बीत जाने पर।
१४. तीसरा याम बीत जाने पर।
१५. चौथा याम बीत जाने पर।

आचार्य कहते हैं–ये सारे अनादेश हैं। क्योंकि दिन में इन सबमें व्याघात हो सकता है। निर्व्याघात होने पर रात्री में वहीं रहने पर वह गृहस्वामी शय्यातर होता है अथवा अन्य अथवा दोनों।

३५२९.जइ जग्गंति सुविहिया, करेंति आवासगं च अण्णत्थ।
सेज्जातरो ण होती, सुत्ते व कए व सो होती॥

यदि सुविहित मुनि रात्री के चारों प्रहरों में जागते हैं तथा प्राभातिक आवश्यक अन्यत्र जाकर करते हैं तो मूल उपाश्रयस्वामी शय्यातर नहीं होता। सोने पर तथा आवश्यक वहां करने पर वह शय्यातर होता है।

३५३०.अन्नत्थ व सेऊणं, आवासग चरममण्णहिं तु करे।
दोण्णि वि तरा भवंती, सत्थादिसु इधरधा भयणा॥

अन्य स्थान में सोकर, चरम अर्थात् प्राभातिक आवश्यक अन्यत्र करते हैं तो दोनों (जहां सोये तथा जहां आवश्यक किया) शय्यातर होते हैं। यह प्रायः सार्थ आदि में होता है। अन्यथा गांव आदि में रहने वालों के लिए इसकी भजना है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३५३१.असइ वसहीय वीसुं, वसमाणाणं तरा तु भयितव्वा।
तत्थऽण्णत्थ व वासे, छत्तच्छायं तु वज्जेंति॥

सभी साधुओं के सामने योग्य वसति के अभाव में अनेक साधु दूसरी वसति में रहते हैं। ऐसी स्थिति में शय्यातर विभक्त हो जाते हैं। मूल वसति में या अन्य वसति में रहते हैं तो वे आचार्य के 'छत्रछाया'[1]—मौलिक शय्यातरगृह का वर्जन करते हैं।

३५३२.दुविह चउव्विह छव्विह, अट्ठविहो होति बारसविहो य।
सेज्जातरस्स पिंडो, तब्बिवरीओ अपिंडो उ॥

शय्यातरपिंड दो, चार, छह या आठ प्रकार का होता है। उसके विपरीत अपिंड होता है, शय्यातरपिंड नहीं होता।

३५३३.आहारोवहि दुविहो, बिदु अण्णे पाण ओहुवग्गहिए।
असणादिचउर ओहे, उवग्गहे छव्विहो एस॥

३५३४.अण्णे पाणे वत्थे, पादे सूयादिया य चउरट्ठ।
असणादी वत्थादी, सूचादि चउक्कका तिन्नि॥

दो प्रकार का शय्यातरपिंड होता है—आहार और उपधि। अथवा द्विगुणितदो अर्थात् वह चार प्रकार का होता है—अन्न, पान, औघिक उपकरण तथा औपग्रहिक उपकरण। छह प्रकार का शय्यातरपिंड—अशन, पान, खादिम, स्वादिम, औघिक उपकरण और औपग्रहिक उपकरण। आठ प्रकार का शय्यातरपिंड—अन्न, पान, वस्त्र, पात्र, सूची, पिप्पलक, नखछेदनक तथा कर्णशोधन। बारह प्रकार का शय्यातर-पिंड—अशन, पान, खादिम, स्वादिम, वस्त्र, पात्र, कंबल, पादप्रोंछन, सूची, पिप्पलक, नखछेदनक तथा कर्णशोधनक।

३५३५.तण-डगल-छार-मल्लग-सेज्जा-संथार-पीढ-लेवादी।
सेज्जातरपिंडो सो, ण होति सेहो य सोवहिओ॥

तृण, डगल, क्षार, मल्लक, शय्या, संस्तारक, पीढ़, लेप आदि शय्यातरपिंड नहीं होते। वस्त्र, पात्र सहित शैक्ष (वह चाहे शय्यातर का पुत्र आदि क्यों न हो) भी शय्यातरपिंड नहीं होता।

३५३६.आपुच्छिय उग्गाहिय, वसहीतो णिग्गतोग्गहे एगे।
पढमादि जाव दिवसं, वुत्थे वज्जेज्जऽहोरत्तं॥

गाथा १५३९ तथा १५४० में उक्त वचनों से आचार्य द्वारा पूछने पर वह व्यक्ति शय्यातर नहीं होता।

१. विहार करने के इच्छुक होकर पात्र आदि उपकरणों को कंधों पर रख लिया तब.....।
२. जब वसति से निर्गत हो गए तब....।
३. सागारिक के अवग्रह से निर्गत होने पर....।
४. सूर्योदय से पहला प्रहर व्यतीत होने पर....।
५. दूसरा प्रहर व्यतीत होने पर....।
६. तीसरा प्रहर व्यतीत होने पर....।
७. पूरा दिन अर्थात् चौथा प्रहर व्यतीत होने पर....।

आचार्य कहते हैं—ये सारे अनादेश हैं। सिद्धांत कहता है—'वुत्थे वज्जेज्जऽहोरत्तं'—जिस वसति में रहे हैं, उसका अहोरात्र तक अशन आदि का वर्जन करे।

३५३७.अग्गहणं जेण णिसिं, अणंतरेगंतरं दुहिं च ततो।
गहणं तु पोरिसीहिं, चोदग! एते अणादेसा॥

रात्री में भक्तपान का अग्रहण होता है अतः उसके अनन्तर एक, दो, तीन, चार पौरुषी में शय्यातरपिंड ग्रहण करने के जो कथन हैं हे शिष्य! वे सारे अनादेश हैं। आदेश यह है कि रात्री के चार प्रहर शय्यातर है, उसके पश्चात् अशय्यातर।

३५३८.सूरत्थमणम्मि उ णिग्गयाण दोण्ह रयणीण अट्ठ भवे।
देवसिय मज्झ चउ दिणणिग्गति बितियम्मि सा वेला॥

सूर्य के अस्तमनवेला में निर्गत, उस रात्री के चार प्रहर, अपररात्री के चार प्रहर और दिन के चार प्रहर—इस प्रकार उत्कृष्ट अशय्यातर बारह प्रहर का होता है। यह एक मत है। दूसरा मत है—सूर्योदय होने पर दिन में यदि निर्गत हैं तो दूसरे दिन उसी वेला तक अशय्यातर होता है।

३५३९.लिंगत्थस्स उ वज्जो, तं परिहरतो व भुंजतो वा वि।
जुत्तस्स अजुत्तस्स व, रसावणो तत्थ दिट्ठंतो॥

लिंगस्थ मुनि उस शय्यातर पिंड का परिहार करता है या खाता है, वह साधुगुणों से युक्त हो या अयुक्त उसके लिए भी शय्यातर वर्जनीय होता है। यहां रसापण का दृष्टांत है।[2]

३५४०.तित्थंकरपडिकुट्ठो, आणा अण्णाय उग्गमो ण सुज्झे।
अविमुत्ति अलाघवता, दुल्लभ सेज्जा य वोच्छेदो॥

तीर्थंकरों द्वारा शय्यातरपिंड निषिद्ध है। जो उसे लेते हैं वे उनकी आज्ञा का पालन नहीं करते। अज्ञातोञ्छ तथा उद्गम की भी शुद्धि नहीं होती। अविमुक्ति, अलाघवता होती है। फिर शय्या की प्राप्ति दुर्लभ हो जाती है। शय्या का विच्छेद या भक्तपान का प्रतिषेध।

---

१. छत्रः—आचार्यस्तस्य च्छायां वर्जयन्ति, मौलशय्यातरगृहमित्यर्थः। (वृ. पृ. ९८३)

२. जैसे महाराष्ट्र देश में रसापण—मद्यविक्रयकेन्द्र पर लोगों के अवबोध के लिए एक ध्वज होता है, फिर चाहे वहां मद्य हो या न हो। ध्वज को देखकर सभी भिक्षाचर आदि उसका परिहार करते हैं। इसी प्रकार गच्छ में भी साधु गुणों से युक्त हो या न हो, परंतु जिसके पास रजोहरण ध्वज होता है उसके लिए भी शय्यातर वर्जनीय है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३५४१.पुर-पच्छिमवज्जेहिं, अवि कम्मं जिणवरेहिं लेसेणं।
भुत्तं विदेहएहि य, ण य सागरियस्स पिंडो उ।

पहले और अंतिम तीर्थंकरों को छोड़कर शेष बावीस तीर्थंकरों ने तथा महाविदेह क्षेत्र के तीर्थंकरों ने आधाकर्म पिंड का लेश अर्थात् सूत्र के आधार पर उपभोग करने की अनुज्ञा दी।[1] किन्तु सागारिक–शय्यातर पिंड की अनुज्ञा नहीं दी।

३५४२.सव्वेसि तेसि आणा, तप्परिहारीण गेण्हता ण कता।
अण्णाउंछ न जुज्जति, जहिं ठितो गेण्हतो तत्थ॥

सभी तीर्थंकरों ने शय्यातरपिंड का प्रतिषेध किया है, उन्होंने उसको लेने की आज्ञा नहीं दी। अज्ञातोञ्छ लेना भी उपयुक्त नहीं है। जिस घर में स्थित हैं, वहीं भिक्षा ग्रहण करना अज्ञातोञ्छ है।[2]

३५४३.बाहुल्ला गच्छस्स उ, पढमालिय-पाणगादिकज्जेसु।
सज्झायकरणआउट्टिता करे उग्गमेगतरे॥

गच्छ में साधुओं की बहुलता है। वे प्रातराश लाने, पानक आदि लाने के प्रयोजन से बार-बार उस घर में जाते हैं तथा स्वाध्याय और यथोक्तक्रिया करने से आकृष्ट गृहस्थ उद्गमदोषों में कोई भी दोष कर सकते हैं।

३५४४.दव्वे भावऽविमुत्ती, दव्वे वीरल्ल ण्हारुबंधणता।
सउणग्गहणे कड्ढण, पइद्ध मुक्को वि आणेइ॥

अविमुक्ति के दो प्रकार हैं–द्रव्यतः और भावतः। द्रव्य अविमुक्ति में वीरल्ल–बाज पक्षी का दृष्टांत है। बाज पक्षी के पैरों की सन्धि को एक डोरी से बांधकर जहां तीतर आदि पक्षी हों, वहां उसे छोड़ते हैं। जब वह किसी पक्षी को पकड़ लेता है तब उस डोरी को खींच लेते है। वह बाज उस पक्षी के साथ वहां आ जाता है। व्यक्ति हाथ में मांस का खंड रखता है। बाज उस मांस-खंड में आसक्त हो जाता है। फिर उसे बंधनमुक्त कर दिया जाता है, परन्तु वह पक्षियों को लाता है और वहीं रहता है।

३५४५.भावे उक्कोस-पणीयगेहितो तं कुलं ण छड्डेति।
ण्हाणादी कज्जेसु व, गतो वि दूरं पुणो एति॥

भाव अविमुक्ति यह है–उत्कृष्ट द्रव्य और प्रणीत भोजन की गृद्धि से वह शय्यातरकुल का परिहार नहीं करता। अथवा स्नान-रथयात्रा आदि पर्वों में तथा कार्यों अर्थात् कुल-गण-संघ आदि के प्रयोजनों से दूर चले जाने पर भी पुनः उसी कुल के लिए लौट आता है।

३५४६.उवहि सरीरमलाघव, देहे णिद्धाइविंधियसरीरो।
संघंसग-सासभया, ण विहरइ विहारकामो वि॥

अलाघव दो प्रकार का है–उपधि अलाघव और शरीर अलाघव। देह की अलाघवता यह है–प्रतिदिन स्निग्ध भोजन से शरीर का उपबृंहण होता है। इस स्थिति में वह विहार करने का इच्छुक व्यक्ति भी विहार कर नहीं सकता, क्योंकि मार्ग में जाते समय शरीर की जड़ता के कारण गात्र-संघर्षण होता है और श्वास उठने लगता है।

३५४७.सागारि-पुत्त-भाउग-णत्तुग
दाण अतिखद्ध भारभया।
ण विहरति ओम सावय,
णियडाऽगणि भाण एज्ज त्ति॥

शय्यातर ने तथा उसके पुत्र, भाई और पौत्रों ने अत्यधिक दान दे दिया। उस भार को उठाने के भय से वह विहार नहीं करता। अथवा अवम–दुर्भिक्ष के कारण विहार नहीं करता। श्रावक सोचता है–यह साधु उपकरणों के भार के भय से विहार नहीं कर रहा है। उसने मायापूर्वक साधु के उपकरण एक ओर छुपा कर वसति को आग लगा दी। साधु के पूछने पर कहा–सारे उपकरण जल गए, केवल दो पात्र बचे हैं। तुम अब विहार करो। पुनः लौट कर आना।

३५४८.भिक्खा पयरणगहणं, दोगच्चं अण्णआगमे ण देमो।
पयरण णत्थि ण कप्पति, असाहु तुच्छे य पण्णवणा॥

एक घर में अनेक साधु ठहरे। वे प्रतिदिन प्रतरणभिक्षा–सबसे पहले दी जाने वाली भिक्षा लेने लगे। कालान्तर में सेठ दरिद्र हो गया। एक बार अन्य साधुगण आए और उसी सेठ से वसति की याचना की। उसने कहा–नहीं देंगे। 'क्यों' के उत्तर में कहा–प्रतरण–प्रथमदेय भिक्षा नहीं है। साधु बोले–प्रतरण लेना नहीं कल्पता। उसने कहा–यह तो मेरे लिए असाधु है, अमंगल है। क्योंकि मेरे घर से साधु तुच्छ भाजन (खाली भाजन) लेकर जाएं। फिर साधुओं ने उसे प्रज्ञापित किया कि साधुओं को वसति देना परम मंगल है। उसने वसति दी।

३५४९.थल देउलिया ठाणं, सतिकालं दट्ठु दट्ठु तहिं गमणं।
निग्गए वसहीभंजण, अण्णे उब्भामगाऽऽउट्टा॥

किसी गांव के मध्य में एक स्थल था। ग्रामवासियों ने वहां एक देवकुलिका का निर्माण कर दिया। वहां साधु ठहरे। वे मुनि सत्काल–भिक्षा का देश-काल देख-देखकर उन घरों

---

१. बावीस तीर्थंकरों के तथा महाविदेह क्षेत्र के तीर्थंकरों के जिस साधु के लिए आधाकर्म किया है, उसी के लिए वह नहीं कल्पता, शेष साधु उसे ग्रहण कर सकते हैं। इस प्रकार उन्होंने यत्किंचित् रूप में आधाकर्म की अनुज्ञा दी है।

२. अज्ञातस्य–अविदितस्य यद् उञ्छं–भैक्षग्रहणं तदज्ञातोञ्छमिति कृत्वा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में भिक्षा के लिए जाते हैं। भिक्षा ग्रहण करते हैं, पीछे कुछ नहीं बचता। एक बार ग्रामवासियों ने मुनियों के वसति के बाहर निर्गत होने पर, वसति को नष्ट कर डाला। इसी प्रकार किसी अन्य ग्राम में मुनि देवकुलिका में ठहरे। वे उद्भ्रामक भिक्षाचर्या करते थे। तब गृहस्थ उनसे प्रभावित होकर एकत्रित होकर अपने घरों में भिक्षा के लिए निमंत्रित करने लगे। उन्होंने कहा—'हम बाल तथा वृद्ध मुनियों के लिए भिक्षा लेंगे।' इस प्रकार भिक्षा भी सुलभ हो गई और वसति का ध्वंस भी नहीं हुआ।

३५५०.दुविहे गेलन्नम्मी, निमंतणे दव्वदुल्लभे असिवे।
ओमोदरिय पओसे, भए व गहणं अणुण्णायं॥

शय्यातर का पिंड सात कारणों से अनुज्ञात है—

१. आगाढ़ या अनागाढ़ ग्लानत्व में २. निमंत्रण ३. दुर्लभद्रव्य ४. अशिव ५. अवमौदर्य ६. प्रद्वेष अथवा राजद्विष्ट ७. भय।

३५५१.तिपरिरयमणागाढे, आगाढे खिप्पमेव गहणं तु।
कज्जम्मि छंदिया घेच्छिमो त्ति ण य बेंति उ अकप्पं॥

अनागाढ़ ग्लानत्व में तीन बार परिभ्रमण करे, फिर भी यदि द्रव्य न मिले तो शय्यातर पिंड ले। आगाढ़ ग्लानत्व में तत्काल ले सकता है। यदि शय्यातर भिक्षा लेने के लिए निमंत्रित करे तो साधु कहे—प्रयोजन होने पर लेंगे। ऐसा न कहे—तुम्हारा भक्तपान नहीं कल्पता।

३५५२.जं वा असहीणं तं, भणंति तं देह तेण णे कज्जं।
णिब्बंधे चेव सइं, घेत्तूण पसंग वारेंति॥

जो द्रव्य शय्यातर के घर में अस्वाधीन है अर्थात् नहीं है, मुनि उसकी याचना करते हुए कहते हैं, हमारे उस द्रव्य से प्रयोजन है। शय्यातर यदि अतीव आग्रहपूर्वक कोई द्रव्य दे तो उसको एक बार ग्रहण कर ले परन्तु पुनः द्रव्य दे तो उसके प्रसंग का निवारण करे।

३५५३.दुल्लभदव्वं व सिया, संभारघयादि घेप्पती तं तु।
ओमऽसिवे पणगादिसु, जतिऊणमसंथरे गहणं॥

दुर्लभद्रव्य अथवा संभारघृत (अनेक द्रव्यों से संयुक्त घृत) आदि शय्यातर के घर में हो, वह ग्लान आदि के निमित्त लिया जाता है। इसी प्रकार अवमौदर्य तथा अशिव में असंस्तरण की स्थिति में पंचक हानि के आधार पर शय्यातर के घर से पिंड लिया जा सकता है।

३५५४.उवसमणट्ठ पदुट्ठे, सत्थो वा जा ण लब्भते ताव।
अच्छंता पच्छण्णं, गेण्हंति भए वि एमेव॥

राजा के प्रद्विष्ट हो जाने पर उसके उपशमन के लिए रहते हुए अथवा राजा साधुओं को देशनिष्काशन की आज्ञा दे देता है तो जब तक किसी सार्थ का आगमन नहीं होता तब तक मुनि प्रच्छन्न रहकर शय्यातर का पिंड लेते हैं। इसी प्रकार भय की स्थिति में भी वैसा किया जा सकता है।

३५५५.तिक्खुत्तो सक्खेत्ते, चउद्दिसिं मग्गिऊण कडयोगी।
दव्वस्स य दुल्लभया, सागारियसेवणा दव्वे॥

अपने क्षेत्र में चारों दिशाओं में तीन बार शुद्ध भिक्षा की मार्गणा करे। यदि प्राप्त न हो तो कृतयोगी—गीतार्थ मुनि द्रव्य की दुर्लभता को जानकर शय्यातरपिंड की प्रतिसेवना करते हैं।

३५५६.णेगेसु पिया-पुत्ता, सवत्ति वणिए घडा वए चेव।
एएसिं णाणत्तं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए॥

(एक शय्यातर विषयक चर्चा के अनन्तर अनेक शय्यातर विषयक चर्चा) अनेक शय्यातरों के ये भेद हैं—पिता-पुत्र, पत्नियां, व्यापारी, गोष्ठीपुरुष तथा गोकुल। मैं इनका नानात्व—विभाग यथानुपूर्वी प्ररूपित करूंगा।

३५५७.पित्त-पुत्त थेरए या, अप्पभु दोसा य तम्मि उ पउत्थे।
जेट्ठातिअणुण्णवणा, पाहुणए जं विधिग्गहणं॥

यदि पिता और पुत्र—दोनों स्वामी हों तो दोनों की अनुज्ञा लेनी चाहिए। यदि पिता स्थविर हो, पुत्र बाल हो तो दोनों अप्रभु हैं, इनकी अनुज्ञा आवश्यक नहीं होती। अनुज्ञा लेने पर वे ही दोष होते हैं। यदि मूल स्वामी देशान्तर गया हुआ हो तो उसके ज्येष्ठ आदि पुत्रों की अनुज्ञा लेनी चाहिए अथवा जो उनका प्राधूर्णक है उसकी अनुज्ञा लेनी होती है। इन सबमें विधिपूर्वक ग्रहण ही अनुज्ञात है।

३५५८.दुप्पभिइ पिया-पुत्ता,जहिं होंति पभू ततो भणइ सव्वे।
णातिक्कमंति जं वा, अपभुं व पभुं व तं पुव्वं॥

जहां दो आदि अनियत पिता-पुत्र प्रभु होते हैं तो सबकी अनुज्ञा प्राप्त की जाती है। अथवा जिस प्रभु या अप्रभु का अतिक्रमण नहीं होता, उसकी अनुज्ञा पहले ली जाती है।

३५५९.अप्पभु लहुओ दिय णिसि,
पभुणिच्छूढे विणास गरहा य।
असहीणम्मि पभुम्मि उ,
सहीणजेट्ठादऽणुण्णवणा॥

अप्रभु की अनुज्ञा लेने पर मासलघु। प्रभु द्वारा दिन में निष्काशन करने पर चतुर्लघु और रात्री में निष्काशन करने पर चतुर्गुरु। रात्री में निष्काशन होने पर विनाश होता है तो लोगों में निन्दा होती है। प्रभु यदि अस्वाधीन हो—वहां नहीं हो तो जो ज्येष्ठपुत्र आदि स्वाधीन हों उनसे अनुज्ञा प्राप्त करनी चाहिए। यदि सभी प्रभु हों तो एक साथ सबकी अनुज्ञा लेनी चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३५६०.पाहुणयं च पउत्थे, भणंति मेत्तं व णातगं वा से।
तं पि य आगतमेत्तं, भणंति अमुएण णे दिण्णं॥

प्रभु के देशान्तर चले जाने पर उसके प्राघूर्णक या मित्र या ज्ञातक की अनुज्ञा ली जाती है। प्रभु के देशान्तर से लौटने पर उसे कहते हैं—अमुक ने हमें यह वसति दी है।

३५६१.अप्पभुणा उ विदिण्णे, भणंति अच्छामु जा पभू एती।
पत्ते उ तस्स कहणं, सो उ पमाणं ण ते इतरे॥

यदि वहां अप्रभु हो तो उसे कहे—हम यहां तब तक रह रहे हैं जब तक वसतिस्वामी न आ जाएं। जब अप्रभु उस वसति की अनुज्ञा देता है तो वहां रह जाएं और प्रभु के आने पर उसे सारी बात बता दें। प्रभु उस वसति की अनुज्ञा दे या वहां से निष्काशन कर दे, वही अर्थात् प्रभु ही प्रमाणभूत होता है, इतर अर्थात् पहले वाला अप्रभु नहीं।

३५६२.इय एसाऽणुण्णवणाजतणा पिंडो पभुस्स ऊ वज्जो।
सेसाणं तु अपिंडो, सो वि य वज्जो दुविहदोसा॥

इस प्रकार प्रतिश्रय की अनुज्ञापना में यह यतना कही गई है। प्रभु अर्थात् शय्यातर के पिंड का वर्जन करना चाहिए। शेष जो अप्रभु हैं उनका अपिंड अर्थात् शय्यातर पिंड नहीं होता। वह भी दो प्रकार के दोषों—भद्रक और प्रान्तकृतदोष के कारण वर्जनीय है।

३५६३.एगे महाणसम्मी, एक्कतो उक्खित्ते सेसपडिणीए।
जेट्ठाए अणुण्णवणा, पउत्थे सुय जेट्ठ जाव पभू॥

शय्यातर के देशान्तरगमन करने पर उसकी जो पत्नियां हैं उनके भोजन विषयक चार विकल्प हैं—

१. एक स्थान पर पकाया, एक स्थान पर खाया।
२. एक स्थान पर पकाया, पृथक् पृथक् स्थानों पर खाया।
३. पृथक् स्थानों पर पकाया, एक स्थान पर खाया।
४. पृथक् स्थानों पर पकाया, पृथक् स्थानों पर खाया।

एक रसोईघर में पकाया और एकत्र खाया—यह पहला भंग गृहीत है। एक स्थान पर खाया और पृथक् स्थान पर पकाया—यह तीसरा भंग है। शेष प्रत्यानीत अर्थात् एकत्र पकाया और एकत्र खाया और जो शेष बचा उसको पत्नियां अपने-अपने घर ले गईं। भद्रक और प्रान्त दोषों को ध्यान में रखकर उस पिंड का भी वर्जन करना चाहिए। शय्यातर की अनुपस्थिति में उसकी ज्येष्ठ भार्या से अनुज्ञा लेनी चाहिए। यदि वह पुत्रवती न हो और छोटी भार्या पुत्रवती हो अथवा दोनों में जो ज्येष्ठपुत्रा हो, जो पुत्र प्रभु हो अथवा जो भार्या स्वयं प्रभु हो, प्रमाणभूत हो उसकी अनुज्ञा ली जा सकती है।

३५६४.तम्मि असाहीणे जेट्ठपुत्तमाया व जा व से इट्ठा।
अह पुत्तमाय सव्वा, जीसे जेट्ठो पभू वा वि॥

यदि गृहस्वामिनी वहां न हो तो ज्येष्ठ भार्या अथवा पुत्र-माता, अथवा गृहपति की जो वल्लभ पत्नी हो उससे वसति की अनुज्ञा ले। यदि सभी पत्नियां पुत्रमाताएं हो तो जिसका पुत्र ज्येष्ठ हो, उसकी माता से अनुज्ञा ली जाए। यदि ज्येष्ठ पुत्र प्रभु न हो तो जिसका पुत्र कनिष्ठ होने पर भी प्रभु हो तो उस माता की अनुज्ञा लेनी चाहिए।

३५६५.असहीणे पभुपिंडं, वज्जंती सेसए तु भद्दादी।
साहीणे जहिं भुंजइ, सेसे वि उ भद्द-पंतेहिं॥

गृहस्वामी वहां न हो और उसकी पत्नी प्रभु हो तो भी उसका पिंड वर्ज्य है। शेष पत्नियों के घर का पिंड शय्यातरपिंड नहीं होता परन्तु भद्रक-प्रान्तकृत दोषों के कारण वर्जनीय है। शय्यातर जिस पत्नी के घर में खाता है, वह शय्यातरपिंड है। वह वर्ज्य है। शेष पत्नियों के घर का पिंड भी भद्रक-प्रान्त दोषों के परिहार के कारण वर्जनीय है।

३५६६.एगत्थ रंधणे भुंजणे य वज्जेंति भुत्तसेसं पि।
एमेव वीसु रद्धे, भुंजंति जहिं तु एगत्था॥

एकत्र पकाया और एकत्र खाया—इस प्रथम विकल्प में शेष भोजन का ग्रहण भी वर्जनीय है। इसी प्रकार पृथक् पकाया और एकत्र खाया—इस तृतीय विकल्प में शेष बचे भोजन का ग्रहण भी वर्ज्य है।

३५६७.नियय व अणिययं वा, जहिं तरो भुंजती तु तं वज्जं।
सेसासु वि ण य गिण्हति, मा छोभगमादि भद्दाई॥

शय्यातर जिस पत्नी के घर में नियत—प्रतिदिन भोजन करता है अथवा अनियत—बारी-बारी से भोजन करता है—दोनों वर्ज्य हैं। शेष पत्नियों के घर से भी भोजन ग्रहण नहीं करते क्योंकि उसमें भद्रक-प्रान्तकृत क्षोभक दोष होते हैं।[1]

३५६८.दोसु वि अव्वोच्छिण्णे, सव्वं जंतम्मि जं च पाउग्गं।
खंधे संखडि अडवी, असती य घरम्मि सो चेव॥

कोई शय्यातर देशान्तर जाने का इच्छुक होकर गांव के बाहर रहता है। उसके दोनों—नगर के भीतर का घर और

१. भद्रक शय्यातर शेष पत्नियों के घर में भोजन सामग्री का छोभक—प्रक्षेप करा देते हैं। वह सोचता है—मेरे घर से भोजन ग्रहण नहीं करेंगे, वहां से तो ले ही लेंगे। ऐसा करके भी मैं पुण्य का उपार्जन करूं। प्रान्तक शय्यातर सोचता है—यदि मेरे घर का पिंड नहीं कल्पता है तो मेरे आधार पर जीवन यापन करने वाली मेरी पत्नियों के घर का पिंड कैसे कल्पता है? इस प्रकार वह प्रद्विष्ट होकर साधुओं को प्रतिश्रय से निकाल देता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बाहर का घर जहां वह ठहरा हुआ है, घरों में अव्यवच्छिन्न भक्तपान लाया जाता है वह नहीं कल्पता। शय्यातर प्रस्थित होकर जा रहा है, तब सारा अर्थात् उस दिन लाया हुआ या अन्य दिन लाया हुआ भक्त-पान नहीं कल्पता, फिर चाहे वह प्रासुक ही क्यों न हो। शय्यातर कंधे पर सामान रखकर दूसरे गांव में बेचने ले जाता है, वह यदि उस वस्तुजात में से दूध-दही मुनियों को देता है, संखडी बनाता है और उसमें से मुनियों को देता है, अथवा अटवी में जाते समय जो पाथेय साथ में हो, उसमें से मुनियों को देता है—इन तीनों में ग्रहण करना नहीं कल्पता। यदि वह शय्यातर सपुत्र-पशु-बांधव घर में न रहे तो देशान्तर में स्थित होने पर भी वही शय्यातर है।

३५६९.निग्गमगाइ बहि ठिए, अंतो खेत्तस्स वज्जए सव्वं।
बाहिं तद्दिणणीए, सेसेसु पसंगदोसेण॥

वणिक् ने देशान्तर जाने के लिए घर से प्रस्थान किया। गांव के बाहर ठहरा। यदि उसके ठहरने का स्थान क्षेत्र के भीतर हो तो शय्यातरपिंड के कारण सारा वर्ज्य है। यदि वह क्षेत्र से बाहर स्थित है तो उस दिन लाया हुआ पिंड शय्यातरपिंड है, वह वर्ज्य है। शेष दिवस लाया हुआ प्रसंग दोष के आधार पर अग्राह्य है।

३५७०.ठितो जया खेत्तबहिं सगारो,
भत्तादियं तस्स दिणे दिणे य।
अच्छिण्णमाणिज्जति णिज्जती य,
गिहा तदा होति तहिं वि वज्जे॥

शय्यातर क्षेत्र के बाहर स्थित है, उसके लिए प्रतिदिन भक्त घर से बाहर लाया जाता है और बाहर से घर ले जाया जाता है, वह सारा वहां रहने पर वर्जनीय होता है।

३५७१.बाहिं ठिय पठियस्स उ, सयं व संपत्थिया उ गेण्हंति।
तत्थ उ भद्दगदोसा, ण होंति ण य पंतदोसा उ॥

शय्यातर क्षेत्र से बाहर स्थित होकर वहां से आगे प्रस्थित हो जाता है तथा साधु भी स्वयं आगे जाने के लिए प्रस्थित हो गए हों तो वे उस शय्यातर से प्रासुक भक्तपान ग्रहण कर सकते हैं। उस समय लेने पर भद्रक और प्रान्त दोष नहीं होते।

३५७२.अंतो बहि कच्छउडियादि ववहरंते पसंगदोसा उ।
देउल-जण्णगमादी, कड्ढादऽडविं व वच्चंते॥

क्षेत्र के अभ्यन्तर या बाहर कक्षापुटिकादि लेकर कोई वणिक् अन्य गांवों में व्यापार के निमित्त जाता है और वह साधुओं को दूध-दही आदि दिलाता है, उसका ग्रहण नहीं करना चाहिए क्योंकि प्रसंग दोष की संभावना रहती है। इसी प्रकार देवकुल में, यज्ञ आदि में की जाने वाली संखडी तथा शंबल लेकर काठ के निमित्त अटवी में जाते समय में उनमें से कुछ नहीं लेना चाहिए।

३५७३.मुत्तूण गेहं तु सपुत्त-दारो,
वाणिज्जमादी जति कारणेहिं।
सयं व अण्णं व वएज्ज देसं,
सेज्जातरो तत्थ स एव होति॥

शय्यातर साधुओं को वसति की अनुज्ञा देकर अपने पुत्र और भार्या को साथ ले व्यापार आदि कारण के निमित्त अपने या दूसरे के देश में जाता है, वहां भी वही शय्यातर होता है।

३५७४.महतर अणुमहतरए, ललियासण कडुअ दंडपतिए य।
एतेहिं परिग्गहिया, होंति घडातो तदा काले॥

महत्तर, अनुमहत्तर, ललितासनिक, कटुक और दंडपति—इन पांचों से परिगृहीत ही पूर्वकाल में घटाएं—गोष्ठियां होती थीं।

३५७५.सव्वत्थ पुच्छणिज्जो, तु महतरो जेट्ठमासण धुरे य।
तहियं तु असण्णिहिए, अणुमहतरतो धुरे ठाति॥

जो सर्वत्र प्रच्छनीय होता था, जिसका आसन बृहत्तर होता था, जो सबसे आगे बैठता था, वह है महत्तर। जो महत्तर की अनुपस्थिति में आगे बैठता है, वह है अनुमहत्तर।

३५७६.भोयणमासणमिट्ठं, ललिए परिवेसिया दुगुणभागो।
कडुओ उ दंडकारी, दंडपती उग्गमे तं तु॥

जिसके मनोनुकूल भोजन और आसन किया जाता है, जिसके परोसनेवाली स्त्री होती है और जिसको इष्ट भोजन दुगुना दिया जाता है, वह है ललितासनिक। अपराध पर दंड देने वाला है कटुक और जो उस दंड को क्रियान्वित करता है वह है दंडपति।

३५७७.उल्लोमाऽणुण्णवणा, अप्पभुदोसा य एक्कओ पढमं।
जेट्ठादिअणुण्णवणा, पाहुणए जं विहिग्गहणं॥

जो मुनि महत्तर आदि के क्रम का उल्लंघन कर विपरीत क्रम से देवकुल-सभा आदि की अनुपालना करता है उसके मासलघु प्रायश्चित्त तथा अप्रभुदोष होते हैं, निष्काशन आदि हो सकता है। अतः सभी एक साथ मिलते हों तो पहले उनकी अनुज्ञा लेनी चाहिए। न मिलते हों तो ज्येष्ठ महत्तर के क्रम से अनुज्ञापना लेनी चाहिए। यदि महत्तर आदि कोई घर पर न मिले तो उनके प्राघूर्णक से अनुज्ञा ली जा सकती है। इस विधि से उपाश्रय का ग्रहण ही विधिग्रहण माना जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३५७८.उल्लोम लहू दिय णिसि,
तेणेक्कहिं पिंडिए अणुण्णवणा।
असहीणे जेट्ठादि व,
जइ व समाणा महतरं वा॥

विलोम से अनुज्ञापना करने पर मासलघु प्राप्त होता है। इसलिए उन पांचों का एकत्र मिलन पर पांचों की अनुज्ञा लेनी होती है। यदि पांचों का एकत्र मिलन न हो तो महत्तर आदि के घरों में जो ज्येष्ठ हो उसकी अनुज्ञा ले। जितने वहां हों उनकी अनुज्ञा ले। अथवा एक महत्तर की ही अनुज्ञा ली जा सकती है।

३५७९.बाहिं दोहणवाडग, दुद्ध-दही-सप्पि-तक्क-णवणीते।
आसण्णम्मि ण कप्पति, पंच पए उप्परिं वोच्छं॥

किसी शय्यातर के गांव के बाहर दोहनवाड़ी है। वहां दूध, दही, घृत, तक्र और नवनीत—ये पांचों होते हैं। क्षेत्र के भीतर देने पर इनका ग्रहण नहीं कल्पता। ये पांचों द्रव्य क्षेत्र के बाहर होते हैं। इनके ग्रहण की विधि मैं आगे कहूंगा।

३५८०.निज्जंतं मोत्तूणं, वारग भति दिवसए भवे गहणं।
छिण्णं भतीय कप्पति, असती य घरम्मि सो चेव॥

गोकुल से जो दूध आदि शय्यातर के घर ले जाया जा रहा है वह शय्यातरपिंड होता है। उसको छोड़कर गोकुल में जो दूध आदि ग्रहण किया जाता है वह शय्यातरपिंड नहीं होता। जिस दिन गोपाल की बारी हो उस दिन वह शय्यातरपिंड नहीं होता, उसे ग्रहण किया जा सकता है। भृति (गोपाल को दिया जाने वाला दूध आदि का हिस्सा) विभक्त हो जाने पर उसे लेना कल्पता है। यदि शय्यातर घर में रहकर, पुत्र और पत्नी सहित व्रजिका आदि में चला जाए तो भी वही शय्यातर है।

३५८१.बाहिरखेत्ते छिण्णे, वारगदिवसे भतीय छिण्णे य।
सो उण सागरिपिंडो, वज्जो पुण दिट्ठि भद्दादि॥

जो दूध आदि बहिर्क्षेत्र में छिन्न–विभक्त किया है वह, गोपाल के बारी के दिन का तथा जो प्रति दिवस प्राप्त भृति से विभक्त दूध आदि–यह सारा सागारिक पिंड–शय्यातर पिंड नहीं होता, फिर भी शय्यातर के देखने पर भद्रक-प्रान्त दोष न हों, इसलिए उसका भी वर्जन करना चाहिए।

३५८२.एगं ठवे णिव्विसए, दोसा पुण भद्दए य पंते य।
णिस्साए वा छुभणं, विणास गरहं व पावंति॥

अनेक शय्यातर होने पर भी यदि निष्कारण एक शय्यातर की स्थापना कर, शेष शय्यातरों का भक्तपान लिया जाता है तो भद्रक-प्रान्तदोष होते हैं। भद्रक व्यक्ति स्थापित शय्यातर के घर पर भक्तपान निक्षिप्त कर देता है। जो प्रान्त होता है वह साधुओं का निष्काशन कर सकता है और तब वे साधु विनाश तथा गर्हा को प्राप्त होते हैं।

३५८३.सड्ढेहि वा वि भणिया, एग ठवेत्ताण णिव्विसे सेसे।
गणदेउलमादीसु व, दुक्खं खु विवज्जिउं बहुगा॥

(उत्सर्ग पद में अनेक शय्यातरों में से एक को स्थापित करना नहीं कल्पता, परन्तु अपवादपद में वह किया जा सकता है)।

यदि श्रावक यह कहें कि आप एक शय्यातर को स्थापित कर शेष के घरों में भक्तपान ग्रहण करें। इस प्रकार कहने पर एक की शय्यातररूप में स्थापना कर शेष घरों में भिक्षा ली जा सकती है। अथवा बहुजनसामान्य देवकुल, सभा आदि में स्थित मुनि एक को स्थापित कर शेष घरों में भिक्षाचर्या करे। अनेक घरों का वर्जन करना कष्टकर होता है।

३५८४.गिण्हंति वारएणं, अणुग्गहत्थीसु जह रुई तेसिं।
पक्कण्णपरीमाणं, संतमसंतेयरे दव्वे॥

सभी शय्यातर अनुग्रहार्थी हों और उनकी रुचि बढ़ती जाए यह ध्यान में रखकर बारी-बारी से उनसे भिक्षा ग्रहण करे। वहां पके हुए अन्न का परिमाण अवश्य देखे और यह भी जाने कि वह द्रव्य उसके घर में विद्यमान था या नहीं? यदि पूर्वपरिमाण से सद्द्रव्य का उपस्कार करते हैं तो वह कल्पता है अन्यथा उसके ग्रहण की भजना है।

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा सागारियपिंडं बहिया अनीहडं असंसट्ठं वा संसट्ठं वा पडिग्गाहित्तए॥

(सूत्र १४)

३५८५.अंतो नूण न कप्पइ, कप्पइ णिक्खामिओ हु मा एवं।
पत्तेय विमिस्सं वा, पिंडं गेण्हेज्जऽतो सुत्तं॥

निश्चित ही घर के भीतर शय्यातरपिंड नहीं कल्पता, परंतु घर से बाहर निष्क्रामित होने पर वह कल्पता है, ऐसा सोचकर कोई प्रत्येक अर्थात् असंसृष्ट और विमिश्र अर्थात् संसृष्ट पिंड ग्रहण न करे, इसलिए प्रस्तुत सूत्र की रचना है।

३५८६.वाडगदेउलियाए, इच्छा देंतम्मि गहण तह चेव।
णीसट्ठमणीसट्ठे, गहणा-ऽगहणे इमे दोसा॥

शय्यातर के वाटक के मध्य में एक देवकुलिका है। वाटक वास्तव्य लोग संखडी करते हैं और भिक्षाचरों को देना चाहते हैं। उसका ग्रहण पूर्वसूत्र में कथित विधि से करना चाहिए। उसमें निसृष्ट–वानमंतरदेव को बली आदि दे दिए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाने पर या अनिसृष्ट—न दिए जाने पर ग्रहण-अग्रहण करने में ये दोष होते हैं।

३५८७.उप्पत्तियं वा वि धुवं व भोज्जं,
तस्सेव मज्झम्मि उ वाडगस्स।
अमिस्सिते सागरिचोल्लगम्मि,
अण्णेहिं सो चेव उ तस्स पिंडो॥

शय्यातर के वाटक के मध्य देवकुलिका को वानमंतर देव के उद्देश्य से लोग संखडी करते हैं। वह दो प्रकार की होती है—औत्पत्तिकी अर्थात् आकस्मिक, जब कभी की जाने वाली और ध्रुव अर्थात् पर्वतिथियों (नवमी, दशमी) में की जाने वाली। वहां अन्य भोजनों के साथ शय्यातर को भोजन मिश्रित न हो तो वह भोजन लिया जा सकता है। केवल वही भोजन शय्यातरपिंड होता है, जो शय्यातर का अपना है।

३५८८.भद्दो तन्नीसाए, पंतो घेप्पंते दट्ठूणं भणइ।
अंतोघरे ण इच्छह, इह गहणं दुट्ठधम्मो त्ति॥

जो शय्यातर भद्रक होता है, वह देवबली के साथ अपने निश्रा के भोजन का प्रक्षेप कर देता है। जो शय्यातर प्रान्त होता है, वह उसको ग्रहण करते हुए देखकर कहता है—अन्तर्गृह में दिया जाने वाला पिंड आप लेना नहीं चाहते और इस प्रकार ग्रहण करते हैं। आप दुष्ट-धर्मा हैं।

३५८९.तेसु अगिण्हंतेसु य, तीसे परिसाए एवमुप्पज्जे।
को जाणइ किं एते, साहू घेत्तुं ण इच्छंति॥

जब वे साधु शय्यातर के निवेदनापिंड नहीं लेते, तब संखडी करने वाले लोगों की परिषद् को यह चिंता होती है—कौन जानता है कि ये साधु इस शय्यातरपिंड को लेना क्यों नहीं चाहते?

३५९०.नूणं से जाणंति कुलं व गोत्तं,
आगंतुओ सो य तहिं सगारो।
भूणग्घऽसोयं व ततो च्चएवि,
जं अम्ह इच्छंति ण सेज्जदातुं॥

निश्चित ही ये साधु शय्यातर के कुल और गोत्र को जानते हैं। वह शय्यातर इस गांव में आगंतुक है (बाहर से आया हुआ है।)। इसलिए इसके कुल और गोत्र को कोई नहीं जानता। वे लोग सोचते हैं—यह शय्यातर 'भ्रूणघ्न'—बालमारक है, अशौच है इसलिए ये मुनि इसके भोजन को छोड़कर हमारा पिंड लेना चाहते हैं। शय्यादाता के पिंड को लेना नहीं चाहते।

३५९१.ओभामिओ णेहि सवासमज्झे,
चंडालभूतो य कतो इमेहिं।
गेहे वि णिच्छंति असाधुधम्मा,
अतो परं किं व करेज्ज अण्णं॥

तब शय्यातर यह सोचता है—मैं अपने सहवासीलोगों के मध्य इन श्रमणों से अवमानित हुआ हूं। मैं इनके द्वारा चंडालतुल्य बना दिया गया हूं। ये असाधुधर्मा मुनि मेरे घर से पिंड लेना भी नहीं चाहते। इससे आगे अब वे मेरा और क्या करना चाहते हैं?

३५९२.राओ दिया वा वि हु णेच्छुभेज्जा,
एगस्सऽणेगाण व सेज्जछेदं।
अद्धाण णिंता व अलंभे जं तू,
पावेज्ज तं वा वि अगिण्हमाणा॥

तब वह रात में या दिन में श्रमणों को प्रतिश्रय से निकाल देता है। इस प्रकार एक या अनेक मुनियों के लिए शय्या का व्यवच्छेद कर देता है। तब अध्व में निर्गत मुनि वसति के अलाभ से जो परिताप आदि प्राप्त करते हैं उसके मूल जनक वे मुनि हैं जिन्होंने उस शय्यातर के पिंड को ग्रहण नहीं किया था।

३५९३.संसट्ठस्स उ गहणे, तहियं दोसा इमे पसज्जंति।
तण्णीसाए अभिक्खं, संखडिकारावणं होज्जा॥

अन्य भोजन से संसृष्ट शय्यातरपिंड ग्रहण करने से ये दोष उसकी निश्रा से उत्पन्न होते हैं—वह शय्यातर यह सोचता है—यदि अन्यपिंड से संसृष्ट मेरा पिंड इन श्रमणों को कल्पता है तो मैं बार-बार इनको पिंड दूंगा—यह सोचकर बार-बार संखडी करने के लिए लोगों को प्रेरित करता है।

३५९४.अलऽम्ह पिंडेण इमेण अज्जो!,
भुज्जो ण आणेति जहेस इत्थं।
साहू ण इच्छंति इमस्स दोसा,
अम्हे वि वज्जेमु ण को वि एस॥

तब साधु गृहस्थों को कहते हैं—आर्य! इस संसृष्ट-पिंड से हमारा बहुत हो चुका। वे ऐसा इसलिए कहते हैं, जिससे कि वह शय्यातर फिर पिंड नहीं लाता। यह सुनकर गृहस्थ सोचते हैं—'यदि इस शय्यातर के दोष के कारण मुनि यह पिंड लेना नहीं चाहते तो हम भी इसके साथ दान ग्रहण आदि का व्यवहार की वर्जना करेंगे। यह आगंतुक होने के कारण यह जान नहीं सकेगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३५९५.अगम्मगामी किलिबोऽहवाऽयं,
बोट्टी व हुज्जा से सुणादिणा वा।
दोसा बहू तेण जहिं सगारो,
पिंडं णए तत्थ उ णाभिगच्छे॥

यह अगम्यगामी क्लीव हो जाएगा अथवा वह बहिष्कृत होकर शुनक आदि की भांति उसका पिंड अस्पृश्य माना जाने लगेगा। इस प्रकार बहुत दोष होते हैं। जहां शय्यातर संखडी आदि में अपना पिंड ले जाता है वहां नहीं जाना चाहिए।

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा सागारियपिंडं बहिया नीहडं असंसट्ठं परिग्गाहित्तए।

(सूत्र १५)

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा सागारियपिंडं बहिया नीहडं संसट्ठं पडिग्गाहित्तए॥

(सूत्र १६)

३५९६.बहिया उ असंसट्ठे, दोसा ते चेव मोत्तु संसट्ठं।
संसट्ठमणुण्णायं, पेच्छउ सागारितो मा वा॥

शय्यातर के वाटक से बाहर निष्काशित संखडी पिंड लेने में वे ही दोष हैं जो पूर्वसूत्र में कहे गए हैं। संसृष्ट पिंड में वे दोष नहीं होते। इसीलिए वाटक से बाहर संसृष्टपिंड प्रस्तुत सूत्र में अनुज्ञात है। शय्यातर उसको देखे या न देखे।

३५९७.नीसट्ठमसंसट्ठो, वि अपिंडो किमु परेहिं संसट्ठो।
अप्पत्तियपरिहारी, सगारदिट्ठं परिहरंति॥

जो पिंड निसृष्ट होने पर भी असंसृष्ट है, वह शय्यातरपिंड नहीं होता, फिर वह अन्य भोजनों से ही संसृष्ट क्यों न हो? परन्तु अप्रीति का परिहार करने वाले होने के कारण सागारिकदृष्ट का भी परिहार करते हैं।

३५९८.अदिट्ठस्स उ गहणं, असती तव्वज्जितेण दिट्ठस्स।
दिट्ठे व पत्थियाणं, गहणं अंतो व बाहिं वा॥

सबसे पहले सागारिक के द्वारा अदृष्ट, फिर संस्तरण के अभाव में उस एक सागारिक को छोड़कर शेष कुटुम्ब द्वारा दृष्ट संसृष्टपिंड का ग्रहण अनुज्ञात है। साधु यदि ग्रामान्तर के लिए प्रस्थित हों तो दृष्ट, संसृष्ट या असंसृष्ट अथवा वाटक के आभ्यन्तर या बहिर्—सर्वत्र ग्रहण अनुज्ञात है।

३५९९.पाहुणगा वा बाहिं, घेत्तुमसंसट्ठगं च वच्चंति।
अंतो वा उभयं पी, तत्थ पसंगादओ णत्थि॥

वहां प्राघूर्णक आए हैं। वे वाटक से बाहर निष्क्रामित पिंड, निसृष्ट या अनिसृष्ट लेकर (खाकर) जाते हैं। वाटक के भीतर उभय अर्थात् प्राघूर्णक और साधु—दोनों पिंड ग्रहण करते हैं। वहां प्रसंग आदि दोष नहीं होते। (प्रसंग का अर्थ है—उनकी निश्रा से पुनः संखडी करवाना)।

३६००.जो उ महाजणपिंडेण मेलितो बाहि सागरियपिंडो।
तस्स तहिं अपभुत्ता, ण होति दिट्ठे वि अचियत्तं॥
३६०१.जं पुण तेसिं चिय भायणेसु अविमिस्सियं भवे दव्वं।
तं दिस्समाण गहियं, करेज्ज अप्पत्तियं पभुणो॥
३६०२.जं पुण तेण अदिट्ठे, दुघाण गहणं तु होतऽसंसट्ठे।
तहियं ताणि कधिज्जा, ण यावि ण य आयरो तत्थ॥

जो सागारिक पिंड वाटक से बाहर महाजनपिंड के साथ मिश्रित हो गया, उसका ग्रहण कल्पता है। क्योंकि वहां सागारिक का अप्रभुत्व है, महाजन का ही प्रभुत्व है। सागारिक द्वारा देखे जाने पर भी उसमें अप्रीति नहीं होती। जो द्रव्य शय्यातर के मनुष्यों के भाजन में ही हो, वह अविमिश्रित होता है। उसको देखते हुए लेने पर शय्यातर के मन में अप्रीति पैदा हो सकती है, अतः उसे नहीं लेना चाहिए।

शय्यातर द्वारा अदृष्ट होने पर दुघाण—'दुर्भिक्ष' के समय असंस्तरण के कारण पिंड का ग्रहण करने पर, वे शय्यातर के मनुष्य जाकर शय्यातर को कहते हैं पर शय्यातर उस कथन को आदर नहीं देता।

'नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा सागारियपिंडं बहिया नीहडं असंसट्ठं संसट्ठं करेत्तए' जे खलु निग्गंथे वा निग्गंथी वा सागारियापिंडं बहिया नीहडं असंसट्ठं संसट्ठं करेइ, करेंतं वा साइज्जइ, से दुहओ वि अइक्कममाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं॥

(सूत्र १७)

३६०३.संसट्ठस्स उ करणे, चउरो मासा हवंतऽणुग्घाता।
आणादिणो य दोसा, विराहणा संजमा-ऽऽदाए॥

असंसृष्ट लेना नहीं कल्पता, यह सोचकर यदि संसृष्ट करता है तो चार अनुद्घातमास का प्रायश्चित्त आता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। तथा आज्ञा आदि दोष और संयम तथा आत्मविराधना होती है।

३६०४.सयमेव उ करणम्मी, उदगप्फुस भंडणुण्हवण पंते।
तेणा चारभडा वा, कम्मबंधे पसज्जणया॥

स्वयं करने में ये दोष होते हैं–संयत ने हमारे भाजनों का स्पर्श किया है, यह सोचकर उनका उदक से प्रक्षालन करते हैं, भंडन–कलह भी हो जाता है, उण्हवण–उन भाजनों को अग्नि में शुद्ध किया जाता है–ये प्रान्त संखडीकारी व्यक्ति करते हैं। स्तेन और चारभट–राजपुरुष संयतसंसृष्ट पिंड का अपहरण कर ले जाते हैं। कर्मबंध की प्रसज्जना होती है। वह संयत पुनः ऐसा नहीं करता।

३६०५.भिंदेज्ज भाणं दवियं व उज्झे,
डज्झेज्ज उण्हेण कडी व भुज्जे।
संसत्तगं तं व जहिं व छुब्भे,
विरोहि दव्वं व जहिं व छड्डे॥

संयत सागारिक पिंड को अन्यत्र डालता हुआ भाजन का भेद कर डालता है अथवा भाजन में जो द्रव्य है उसका परित्याग करता है अथवा वह द्रव्य अतीव उष्ण होने के कारण वह संयत उससे जल जाए, कटी वक्र हो जाए। जहां वह सागारिकपिंड का प्रक्षेप करता है, वह द्रव्य जंतुसंसक्त होने पर संयमविराधना होती है। अथवा वह द्रव्य विरोधी हो, उसे खाने पर अनेक रोग उत्पन्न हो सकते हैं, यह आत्मविराधना है। जहां उस द्रव्य का निक्षेपण किया जाता है वहां छहकाय विराधना संभव है।

३६०६.तं तेण छूढं तहिगं च पत्ता,
तेणा भडा घोड कुकम्मिगा य।
आसत्त णामऽट्ठित आउ मंसा,
ण जिण्णऽणादेस ण जा विउट्टे॥

उस संयत ने उस द्रव्य को भाजन में डाला और उसी समय स्तेन, भट–राजपुरुष, घोट–पंचालचट्ट तथा कुकर्मी वहां आ गए और उस भाजन का अपहरण कर ले गए। इस विषयक कर्मबंध में ये मत-मतान्तर हैं–

१. सातवें कुल के अनुवर्तन पर्यंत संयत के कर्मबंध होगा।
२. जब तक उनका नाम-गोत्र का अनुवर्तन होगा।
३. जब तक उनकी अस्थियां रहेंगी।
४. जब तक वे जीवित रहेंगे।
५. जब तक उस द्रव्य के अशन के परिणामस्वरूप मांसोपचय होगा।
६. जब तक वह भुक्त भोजन जीर्ण नहीं हो तब तक।

आचार्य कहते हैं–ये सारे अनादेश हैं। सिद्धान्तपक्ष यह है–जब तक वह संयत इस क्रिया की आलोचना-प्रतिक्रमण नहीं करता, तब तक कर्मबंध होता रहता है।

३६०७.णिच्छंति व मरुगादी, ओभावण जं च अंतरायं तु।
कुज्जा व पच्छकम्मं, पवत्तणं घाय बंधं वा॥

यह भोजन संयत द्वारा स्पृष्ट है, यह सोचकर मरुक–ब्राह्मण आदि उसे लेना नहीं चाहते। यह मुनियों का अपमान है और उस पिंड को न खाने वाले ब्राह्मणों आदि के अंतराय होता है। गृहस्थ उनके लिए पश्चात्कर्म करता है। भद्रक श्रावक उस अन्न को पवित्र समझकर अपने घर ले जाते हैं और जो प्रान्त होते हैं वे संयतों का घात या बंधन करते हैं।

३६०८.कारावणमण्णेहिं, अणुमोदण उम्हमादिणो दोसा।
दुविहे वतिक्कमम्मिं, पायच्छित्तं भवे तिविहं॥

मुनि संसृष्ट करने में असमर्थ होने पर दूसरों से कराते हैं या संसृष्ट करने वालों का अनुमोदन करते हैं। इसमें उष्मा आदि दोष होते हैं।[1] दो प्रकार के व्यतिक्रम–लौकिक और लोकोत्तरिक–में तीन प्रकार का प्रायश्चित्त है–करना, करवाना और अनुमोदन करना।

३६०९.लोउत्तरं च मेरं, अतिचरई लोइयं च मेलंतो।
अहवा सयं परेहि य, दुविहो तु वतिक्कमो होति॥
३६१०.पढमिल्लुगम्मि ठाणे, दोहि वि गुरुगा तवेण कालेण।
बितियम्मि य तवगुरुगा, कालगुरू होति ततियम्मि॥

लोकोत्तर मर्यादा यह है–असंसृष्ट को संसृष्ट करना नहीं कल्पता। लौकिक मर्यादा यह है–भोजन को नहीं मिलाना चाहिए। वह इस दोनों मर्यादाओं का अतिक्रमण करता है। अथवा स्वयं करना तथा दूसरों से करवाना–इस प्रकार दो प्रकार का व्यतिक्रम होता है। इनमें प्रथम स्थान में अर्थात् स्वयं करने पर चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त, तप और काल से भी गुरु। दूसरे स्थान में अर्थात् दूसरों से करवाने पर वही प्रायश्चित्त है, तप गुरुकयुक्त। तीसरे स्थान में अर्थात् अनुमोदन करने पर वही प्रायश्चित्त काल गुरुकयुक्त होता है।

३६११.अम्हच्चयं छूढमिणं किमट्ठा,
तं केण उत्ते कहिते जतीहिं।
ते चेव तोयादि पवत्तणा य,
असिद्ध तेणे व असंखडादी॥

कलह करने वाले कहते हैं–यह द्रव्य हमारा था इसको

१. जो गृहस्थ जिस द्रव्य से संसृष्ट करता है, वह अत्यंत उष्ण होने के कारण उसके हाथ तप्त हो जाते हैं। जो द्रव्य वह उसमें प्रक्षिप्त करता है, उस द्रव्य का स्वामी उससे कलह कर सकता है–तुमने मेरे द्रव्य का स्पर्श क्यों किया? इत्यादि दोष होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किसने और क्यों दूसरे द्रव्य में प्रक्षिप्त किया? इस प्रकार कहने पर रक्षपाल कहता है–यतियों ने यह द्रव्य मिलाया है। इस पर पूर्वोक्त उदकस्पर्शन–बर्तनों को धोना, भंडन आदि दोष होते हैं। जो भद्रक होते हैं वे उसे पवित्र मानकर घर ले जाते हैं। लोगों को न कहने पर रक्षपाल के साथ ही कलह आदि करने लग जाते हैं।

३६१२.अद्धाणणिग्गयादी, पविसंता वा वि अहव ओमम्मि।
अणुमोदण कारावण, पभुणिक्खंतस्स वा करणं॥

अध्वनिर्गत–विहार कर आए हुए अथवा अशिव क्षेत्र से आए हुए अथवा अध्व में प्रवेश करने के इच्छुक अथवा अवमौदर्य में संसृष्ट पिंड का अनुमोदन करते हुए या कराते हुए या प्रभु के निष्क्रमण करने पर स्वयं भी संसृष्टपिंड कर सकते हैं।

३६१३.पुराण सागं व महत्तरं वा,
अण्णं व गाहेंति तहिं च छोढुं।
सागारिओ वा वि विगोवितो जो,
स पिंडमण्णेसु तु संदधाति॥

संसृष्ट किससे कराए? पहले पश्चात्कृत से, उसके अभाव में श्रावक से, पश्चात् महत्तर से अथवा अन्य जो प्रमाणभूत हो उससे अन्यपिंडों में सागारिक पिंड को मिलाने के लिए प्रज्ञापना करते हैं। अथवा जो शय्यातर विकोविद है वह स्वयं ही अन्यपिंडों में स्वयं के पिंड को मिला देता है।

३६१४.सम्मिस्सियं वा वि अमिस्सियं वा,
गिण्हंति गीता इतरेहिं मिस्सं।
कारेंतऽदिट्ठं चऽविगोवितेसू,
दिट्ठं च तप्पच्चयकारि गीता॥

यदि गच्छ में सभी गीतार्थ हों तो वे सम्मिश्रित या अमिश्रित सागारिक पिंड ग्रहण करते हैं। यदि गच्छ अगीतार्थ मुनियों से युक्त होता है तो मिश्र–संसृष्ट लेते हैं, असंसृष्ट नहीं। अकोविद–अगीतार्थ संत न देखे, इस प्रकार वे संसृष्ट कराते हैं उनमें प्रत्यय होता है तब प्रत्ययकारी गीतार्थ उनके देखते हुए संसृष्ट कराते हैं।

३६१५.जो उज्जिओ आसि पभू व पुव्वं,
तप्पक्खिओ राय-गणच्चिओ वा।
सवीरिओ पक्खिवती इमं तु,
वोत्तूण किं अच्छइ एस वीसुं॥

पहले इस गांव का अधिपति ऊर्जित–शक्तिशाली था। वह तत्पाक्षिक–गांव का हितैषी तथा राजगणांचित–राजसम्मत था। ऐसा शक्तिशाली वह सागारिकपिंड को अन्यपिंड में प्रक्षिप्त कर देता है, यह वचन कहकर कि यह पिंड पृथक् क्यों पड़ा है।

सागारियस्स आहडिया सागारिएण पडिग्गाहिया, तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिग्गाहित्तए॥

(सूत्र १८)

सागारियस्स आहडिया सागारिएण अपडिग्गाहिया, तम्हा दावए एवं से कप्पइ पडिग्गाहित्तए॥

(सूत्र १९)

३६१६.नीहडसागरिपिंडस्स विवक्खो आहडो अह उ जोगो।
नीहडसुत्ते पुणरवि, जोगो संदट्ठओ नाम॥

पूर्वसूत्र में निर्हृतसागारिक पिंड के विषय में कहा गया था। प्रस्तुत सूत्र में उसके विपक्ष आहृत का प्रतिपादन है। यह प्रस्तुत सूत्र के साथ योग है। तथा इस सूत्र के पश्चात् पुनः निर्हृतसूत्र होगा। यह सन्दष्टक योग है अर्थात् आदि में निर्हृतसूत्र, मध्य में आहृतसूत्र और अन्त में पुनः निर्हृतसूत्र।

३६१७.आहडिया उ अभिघरा,
कुलपुत्तग भगिणि मट्टिगालित्ते।
दव्वे खेत्ते काले,
भावम्मि य होइ आहडिया॥

आहृतिका का अर्थ है–अभिघर अर्थात् दूसरे के गृह से प्राप्त होने वाला विशेष खाद्यद्रव्य। एक कुलपुत्र ने उसी गांव में ब्याही हुई अपनी बहन के लिए कुछ मिठाई भेजी। बहन उस समय मृत्तिका का लेप कर रही थी। उसके हाथ मृत्तिका से लिप्त थे। उसने मिठाई एक ओर रखवा दी। इस आहृतिका के चार प्रकार हैं–द्रव्याहृतिका, क्षेत्राहृतिका, कालाहृतिका और भावाहृतिका।

३६१८.आएसट्ठ विसेसे, सति काले भगिणि संभरित्ताणं।
भज्जिं भज्जाहत्थे, कुलओ पेसेति भगिणीए॥

कुलपुत्र ने प्राघूर्णक के लिए विशेष खाद्यद्रव्य बनाए। भोजन के समय अपनी बहन की स्मृति होने पर उसने अपनी भार्या के हाथ से भर्जिका–प्रहेणक अपनी बहिन के निमित्त भेजा। यह आहृतिका है।

(इसके चार विकल्प होते हैं–

१. द्रव्यतः स्वीकृत भावतः नहीं।

२. भावतः स्वीकृत द्रव्यतः नहीं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. भावतः और द्रव्यतः स्वीकृत।
४. दोनों से स्वीकृत नहीं।)

३६१९.उच्छंगे अणिच्छाए, ठविया दव्वगहिया ण पुण भावे।
एत्थ पुण भद्द-पंता, अचियत्तं चेव घेप्पंते॥

३६२०.वावार मट्टिया-असुइलित्तहत्था उ बिइयओ भंगो।
दोसु वि गहिए तइओ, चउत्थभंगे उ पडिसेहो॥

भाई द्वारा प्रेषित भर्जिका (प्रहेणक) को बहिन ने स्वीकार नहीं किया। उसके न चाहते हुए भी उसे लाने वाली ने उसको बहिन की ननद की गोद में रख दिया। यह आहृतिका द्रव्यतः स्वीकृत है, भावतः नहीं। इसमें भद्रक और प्रान्त दोष होते हैं तथा इसको ग्रहण करने पर अप्रीति उत्पन्न होती है। यह प्रथम भंग है।

वह भगिनी उस समय किसी कार्य में व्यापृत हो, मृत्तिका अथवा अशुचि से हाथ लिप्त हों तो कहती है—इसको यहां रख दो। यह भावतः स्वीकृत है, द्रव्यतः नहीं। यह द्वितीय भंग है। तृतीय भंग में द्रव्यतः और भावतः स्वीकृत है और चतुर्थ भंग में द्रव्यतः और भावतः प्रतिषेध है।

(द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से चार प्रकार की आहृतिकाओं के दो-दो भेद और हैं—छिन्न और अच्छिन्न।)

३६२१.संकप्पियं व दव्वं, दिट्ठा खेत्तेण कालतो छिन्नं।
दोसु उ पसंगदोसा, सागारिए भावतो दुविहो॥

अमुक द्रव्य उसके घर ले जाना है, इस प्रकार का संकल्प करना या इस प्रकार संकल्प कर उस द्रव्य को अलग रख देना यह द्रव्यतः छिन्न है। आहृतिका को सागारिक ने देख लिया वह क्षेत्रतः छिन्न है। जिसमें काल की मर्यादा की है वह कालतः छिन्न है। द्रव्य को ले जाने का भाव निवृत्त हो जाने पर वह भावतः छिन्न है।

पहला और चौथा भंग सागारिकपिंड नहीं है, परन्तु प्रसंगदोष के कारण ये दोनों वर्ज्य हैं। दूसरा और तीसरा भंग सागारिकपिंड होने के कारण नहीं कल्पता।

३६२२.संकप्पियं वा अहवेगपासे,
सगारिदिट्ठं अमुगं तु वेलं।
नियट्ट भावे नऽमुगं अदिट्ठा,
काले ण निद्देस अछिन्न भावे॥

विशेष द्रव्य ले जाने का संकल्प किया अथवा एक पार्श्व में रख दिया—यह द्रव्यतः छिन्न है। सागारिक ने अपने घर लाते हुए उसे देख लिया, वह क्षेत्रतः छिन्न है। अमुक वेला में यह नेतव्य है—यह कालतः छिन्न है और ले जाने का भाव निवृत्त हो जाना भावतः छिन्न है। ले जाने वाले द्रव्य का न संकल्प किया और न उसे पृथक् रखा, यह द्रव्यतः अच्छिन्न है। सागारिक द्वारा अदृष्ट होने पर क्षेत्रतः अच्छिन्न है। जहां वेला का निर्देश नहीं है वह कालतः अच्छिन्न है और जहां ले जाने का भाव अव्यवच्छिन्न है वह भावतः अच्छिन्न है।

३६२३.भावो जाव न छिज्जइ,विप्परिणय गेण्ह मोत्तु खेत्तं तु।
खेत्ते वि होति गहणं, अदिट्ठे विप्परिणतम्मि॥

जब तक भाव व्यवच्छिन्न नहीं होता तब तक नहीं कल्पता। 'जब नहीं ले जाऊंगा'—यह भाव विपरिणत—व्यवच्छिन्न हो जाता है तब ग्रहण करना कल्पता है, किन्तु क्षेत्रछिन्न नहीं कल्पता। क्षेत्रछिन्न भी लेना तब कल्पता है जब ले जाने का भाव विपरिणत हो जाता है और सागारिक के द्वारा अदृष्ट होता है।

३६२४.पुरतो पसंग-पंता, अचियत्तं चेव पुव्वभणियं तु।
बितिय-ततिया उ पिंडो, पढम-चउत्था पसंगेहिं॥

सागारिक के सामने ग्रहण करने पर भद्रक और प्रान्त का प्रसंग आता है। पूर्वभणित अप्रीतिक की बात भी आती है। दूसरे और तीसरे भंगवर्ती पिंड, शय्यातरपिंड होने के कारण परिहर्तव्य है। पहले और चौथे भंगवर्ती पिंड शय्यातर पिंड नहीं होते, परन्तु प्रसंगदोष के भय से वे भी वर्ज्य हैं।

३६२५.कप्पइ अपरिग्गहिया, णिक्खेवे चउ दुगं अजाणंता।
जाणंता वि य केई, सम्मोहं काउ लोभा वा॥

कुछ आचार्य कहते हैं—निक्षेप चतुष्क (श्लोक ३६१८) में पहले और चौथे भंग के आधार पर प्रस्तुत सूत्र प्रवृत्त हुआ है। वे इस सूत्र के अर्थ को न जानते हुए या जानते हुए भी कुछ अगीतार्थ मुनियों का मोह कर लोभवश यह कहते हैं—सागारिक द्वारा अपरिगृहीत आहृतिका का ग्रहण कल्पता है।

३६२६.जं आहडं होइ परस्स हत्थे,
जं णीहडं वा वि परस्स दिन्नं।
तं सुत्तछंदेण वयंति केई,
कप्पं ण चे सुत्तमसुत्तमेवं॥

कुछेक आचार्यदेशीय सोचते हैं—जो आहृतक (आहृतिका) शय्यातर के घर में ले जाया जा रहा है, वह दूसरे के हाथ में है—यह प्रस्तुत सूत्र का विषय है। जो आहृतक शय्यातर के घर से निष्काशित है और जो दूसरे के हाथ में है, इससे वक्ष्यमाणसूत्र गृहीत है। इस प्रकार का द्रव्य सूत्र के अभिप्राय से कल्प्य है। यदि इसे कल्प्य न मानें तो सूत्र असूत्र हो जाएगा, अप्रमाण हो जाएगा। इसके उत्तर में सूरी कहते हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३६२७.सुत्तं पमाणं जति इच्छितं ते,
ण सुत्तमत्थं अतिरिच्च जाती।
अत्थो जहा पस्सति भूतमत्थं,
तं सुत्तकारीहिं तहा णिबद्धं॥

यदि तुम सूत्र को प्रमाणरूप में मानते हो तो सोचो कि सूत्र अर्थ का अतिरेक नहीं करता। अर्थ जैसे अभिधेय को देखता है, सूत्रकर्ताओं ने उसी अभिप्राय से सूत्र की संरचना की है।

३६२८.छाया जहा छायवतो णिबद्धा,
संपत्थिए जाति ठिते य ठाति।
अत्थो तहा गच्छति पज्जवेसु,
सुत्तं पि अत्थाणुचरं तहेव॥

छायावान् पुरुष की जैसे छाया निबद्ध है–परतंत्र है, पुरुष के प्रस्थित होने पर वह चलती है, उसके बैठने पर वह भी स्थित हो जाती है, ठहर जाती है। इसी प्रकार अर्थ जिन-जिन पर्यायों में जाता है, सूत्र भी अर्थ का अनुचर होकर उन-उन पर्यायों को छूता है।

३६२९.जं केणई इच्छइ पज्जवेण,
अत्थो ण सेसेहि उ पज्जवेहि।
विही व सुत्ते तहि वारणा वा,
उभयं व इच्छंति विकोवणट्ठा॥

जो सूत्र जिस अर्थ को जिस किसी पर्याय से ग्रहण करना चाहता है वहां उसी को प्रमाण मानना चाहिए, शेष पर्यायों को नहीं। कहीं सूत्र में विधि का निरूपण है और कहीं सूत्र में वारणा का, प्रतिषेध का निरूपण है और कहीं-कहीं शिष्य की मति को बढ़ाने के लिए ही सूत्र में विधि-प्रतिषेध–दोनों निबद्ध हैं।

३६३०.उस्सग्गओ नेव सुतं पमाणं,
ण वाऽपमाणं कुसला वयंति।
अंधो य पंगुं वहते स चावि,
कहेति दोण्हं पि हिताय पंथं॥

तीर्थंकर या गणधर कहते हैं कि सामान्यतः सूत्र न प्रमाण है और न अप्रमाण। (किन्तु जो सूत्र पूर्वापर विरुद्ध नहीं है तथा पारंपरिक अर्थ से युक्त है, वह है प्रमाण, अन्यथा अप्रमाण) जैसे अंधा व्यक्ति पंगु को अपने कंधों पर वहन कर चलता है। वह पंगु भी दोनों के हित के लिए मार्ग का कथन करता है, मार्ग दिखाता है। (इसी प्रकार अर्थ से अप्रतिबोधित सूत्र अंध सदृश है। जब वह पंगुस्थानीय अर्थ को वहन करता है, तब वह अर्थ सूत्र की निश्रा से चलता हुआ अपने गन्तव्य तक पहुंच जाता है, सम्यग् अर्थावबोध करा देता है। अतः अर्थ पर अवलंबित सूत्र ही प्रमाण होता है।)

३६३१.अप्पस्सुया जे अविकोविता वा,
ते मोहइत्ता इमिणा सुएण।
तेसिं पगासो वि तमंतमेति
निसाविहंगेसु व सूरपादा॥

जो अल्पश्रुत और अकोविद–अगीतार्थ हैं, उनको इस सूत्र ने मोह लिया है। इसके आधार पर वे सागारिक का आहृतिकापिंड ग्रहण करते हैं। उनका यह प्रकाश भी प्रबल अंधकार में परिणत होता है। जैसे निशाचारी पक्षियों (उल्लू आदि) के लिए सूर्य की किरणें भी अंधकारमयी होती हैं।

३६३२.अहभावविप्परिणए, अद्दिट्ठ सुयं तु तम्मि उ पउत्थे।
नीहडियाए पुरओ, संछोभगमादिणो दोसा॥

यदि आहृतिका को ले जाने वाले का भाव स्वतः बदल जाता है तो उसे लेना कल्पता है। अथवा वह जिसके लिए आहृतिका ले जा रहा है, मार्ग में वह सुनता है कि वह व्यक्ति ग्रामान्तर गया हुआ है, तब वह सोचता है उसके लिए क्यों ले जाऊं–इस प्रकार वह विपरिणत होने पर, सागारिक द्वारा अदृष्ट होने पर वह ग्रहण किया जा सकता है। यह इस सूत्र का कथन है। वक्ष्यमाण सूत्र का कथन है कि निर्हृतिका को सागारिक के देखते हुए लेने पर संछोभक–प्रक्षेपक आदि दोष होते हैं। अतः सागारिक के समक्ष उसे नहीं लेना चाहिए।

३६३३.नीयं पि मे ण घेच्छति, धम्मो व जतीण होति देंतस्स।
वसणऽब्भुदओ वा सिं, भंडणकम्मे व अहण्णा॥

आहृतिका ले जाने वाला सोचता है–मैं इसे ले जा रहा हूं, परंतु वह इसे स्वीकार नहीं करेगा अथवा यतियों को ऐसा द्रव्य देने से धर्म होता है अथवा जिनके पास ले जाया जा रहा है उनके कोई शोक हो गया है अथवा कोई अभ्युदय–उत्सव आदि आ गया है अथवा कोई कलह हो रहा है अथवा वे कृषि आदि कर्म में व्याकुल हैं–अतः ये इसे स्वीकार नहीं करेंगे।

३६३४.इति भावम्मि णियत्ते, तेहि अदिट्ठस्स कप्पती गहणं।
छेत्तादिणिग्गतेसु व, कप्पति गहणं जहिं सुत्तं॥

इस प्रकार भावना की निवृत्ति हो जाने पर, जिनके पास वह आहृतिका ले जाई जा रही है उन शय्यातर मनुष्यों द्वारा अदृष्ट होने पर उसका ग्रहण कल्पता है। अथवा क्षेत्र आदि से निर्गत होने पर ग्रहण कल्पता है। यह सूत्र के अवतरण का विषय है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सागारियस्स नीहडिया परेण अपडिग्गाहिता, तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिग्गाहित्तए॥

(सूत्र २०)

सागारियस्स नीहडिया परेण पडिग्गाहिया, तम्हा दावए एवं से कप्पइ पडिग्गाहित्तए॥

(सूत्र २१)

३६३५.पढम-चउत्था पिंडो,
बितिओ ततिओ य होति उ अपिंडो।
पुरतो ते वि विवज्जे,
भद्दग-पंतेहिं दोसेहिं॥

सागारिक पिंड जो अन्यत्र ले जाया जाता है, उसे निर्हृतिका कहते हैं। उसके चार विकल्प हैं–

१. द्रव्यतः प्रतिगृहीत, भावतः नहीं।

२. भावतः प्रतिगृहीत, द्रव्यतः नहीं।

३. द्रव्यः और भावतः प्रतिगृहीत।

४. द्रव्यतः और भावतः प्रतिगृहीत नहीं।

इनमें प्रथम और चतुर्थ भंग शय्यातरपिंड है, द्वितीय और तृतीय भंग शय्यातरपिंड नहीं होता। परन्तु इसे भी सागारिक के देखते नहीं लेना चाहिए क्योंकि इसमें भद्रक और प्रान्त दोष होते हैं।

३६३६.केणावि अभिप्पाएण दिज्जमाणं पि णेच्छिउं पुव्विं।
अम्हे ओभावेंता, पुरओ च्चि णे पडिच्छंति॥

जो प्रान्त शय्यातर है वह यह सोचता है–पहले इन श्रमणों ने हमारे द्वारा दिया जाने वाला पिंड किसी भी अभिप्राय से नहीं लिया और अब ये हमारा तिरस्कार करते हुए हमारे सामने वही द्रव्य ले रहे हैं।

३६३७.किं तं न होति अम्हं, खेत्तंतरियं व किं विसमदोसं।
सुव्वत्त सोत्तिगादिव, चरेंति जतिणो वि डंभेणं॥

वे सोचते हैं–क्या यह द्रव्य हमारा नहीं है? क्या क्षेत्रान्तरित विष दोष के लिए नहीं होता? ये मुनि होकर भी व्यक्तरूप से ब्राह्मणों की भांति दंभ से आचरण करते हैं। (जैसे ब्राह्मण शूद्रों के घर भोजन नहीं करते परन्तु वहां से तंदुल आदि ग्रहण कर लेते हैं। जैसे उन ब्राह्मणों का अशूद्रान्नव्रत दंभ है वैसे ही इन श्रमणों का शय्यातरपिंड-परिहारव्रत दंभ मात्र है।)

३६३८.दुविहे गेलन्नम्मी, णिमंतणे दव्वदुल्लभे असिवे।
ओमोदरिय पओसे, भए य गहणं अणुण्णायं॥

शय्यातर का पिंड सात कारणों से अनुज्ञात है–

१. आगाढ़ या अनागाढ़ ग्लानत्व में। २. निमंत्रण। ३. दुर्लभद्रव्य। ४. अशिव। ५. अवमौदर्य। ६. प्रद्वेष अथवा राजद्विष्ट। ७. भय।

३६३९.निब्बंधनिमंतेंते, भणंति भज्जिं दलाहि जा एसा।
तं पुण अविगीतेसुं, गीया इतरं पि गेण्हंति॥

शय्यातर द्वारा हठपूर्वक निमंत्रित होने पर साधु कहते हैं–यह भर्जिका (आहृतिका या निर्हृतिका) हमें दो। यह अगीतार्थ मुनियों के लिए ली जाती है। गीतार्थ मुनि तो दूसरा सागारिकपिंड भी लेते हैं।

३६४०.णेच्छंतमगीतं एतिणेव सुत्तेण पत्तियावेंति।
सच्छंदण ण भणिमो, फुड-वियडमिणं भणति सुत्तं॥

यदि अगीतार्थ मुनि आहृतिका और निर्हृतिका को ग्रहण करना नहीं चाहते, उनको इसी सूत्र से विश्वास दिलाते हुए कहा जाता है–आर्य! हम स्वच्छंदरूप से कुछ नहीं कह रहे हैं, किन्तु प्रस्तुत सूत्र स्फुटरूप से स्पष्टाक्षरों में इस तथ्य को कह रहा है।

३६४१.जो तं जगप्पदीवेहिं पणीयं सव्वभावपण्णवणं।
ण कुणति सुतं पमाणं, ण सो पमाणं पवयणम्मि॥

जो कोई श्रमण जगत् के लिए प्रदीप स्वरूप तीर्थंकरों द्वारा प्रणीत तथा समस्त भाव के प्रज्ञापक श्रुत को प्रमाण रूप में नहीं मानता, वह मुनि प्रवचन अर्थात् धर्मसंघ में प्रमाण नहीं होता।

३६४२.जस्सेव पभावुम्मिल्लिताइं तं चेव हयकतग्घाइं।
कुमुदाइं अप्पसंभावियाइं चंदं उवहसंति॥

जिस चंद्रमा के प्रभाव से कुमुद खिलते हैं, वे कृतघ्नता के कारण 'हम ही शोभायमान हैं।' इस आत्मश्लाघा से प्रेरित होकर चन्द्रमा का उपहास करते हैं। इसी प्रकार आर्यो! जिस श्रुत के प्रभाव से तुम उद्बुद्ध हुए हो उसी को अप्रमाण मानना कृतघ्नता है।

सागारियस्स अंसियाओ अविभत्ताओ अव्वोच्छिन्नाओ अव्वोगडाओ अनिज्जूढाओ, तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिग्गाहित्तए॥

(सूत्र २२)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सागारियस्स अंसियाओ विभत्ताओ
वोच्छिन्नाओ वोगडाओ निज्जूढाओ,
तम्हा दावए एवं से कप्पइ पडिग्गाहित्तए॥
(सूत्र २३)

३६४३.छिन्नममत्तो कप्पति,
अच्छिण्णो ण कप्पती अह तु जोगो।
पत्तेगं वा भणितो,
इयाणि साहारणं भणिमो॥

यदि सागारिक ने अपने ममत्व को मिटा दिया है तो उसका अंशिकापिंड लेना कल्पता है और यदि ममत्व को नहीं हटाया है तो वह नहीं कल्पता। यह पूर्वसूत्र से प्रस्तुत सूत्र का योग–संबंध है। पहले प्रत्येक–एक-एक सागारिक के पिंड के विषय में कहा गया है। अब सागारिक तथा साधारण पिंड के विषय में विधि बतलाई जा रही है।

३६४४.सागारियस्स अंसिय, अविभत्ता खेत्त-जंत-भोज्जेसु।
खीरे मालाकारे, सगारदिट्ठं परिहरंति॥

सागारिक–शय्यातर के क्षेत्र, यंत्र, भोज्य, क्षीर, मालाकार संबंधी जो अंशिका है, इनमें हिस्सा है, वह जब तक अविभक्त है, उसे लेना नहीं कल्पता। सागारिक द्वारा दृष्ट का सर्वत्र परिहार किया जाता है।

३६४५.अंसो ति व भागो ति व,
एगट्ठा पुंज एव अविभत्ता।
कतभागो वि ण सव्वो,
वोच्छिज्जति सा अवोच्छिण्णा॥

अंश और भाग–ये दोनों एकार्थक हैं। सागारिक का भोजन जो पुंजरूप में है, अविभक्त है, वह अविभक्त अंशिका है। भाग कर देने पर भी मूलराशि का सारा व्यवच्छेद नहीं होता, वह अव्यवच्छिन्न अंशिका है।

३६४६.अव्वोगडा उ तुज्झं, ममं तु वा जा ण ताव णिद्दिसति।
तत्थेव अच्छमाणी, होति अणिज्जूहिया अंसी॥

सभी के भाग स्थापित कर दिए परन्तु जब तक यह निर्दिष्ट नहीं होता कि यह तुम्हारा है और यह मेरा, तब तक उसे अव्याकृत कहा जाता है। निर्दिष्ट कर देने पर भी वहां से अन्यत्र नहीं ले जाया जाता तब वह अनिर्गूढा अंशिका कहलाती है।

३६४७.सीताइ जन्नो पहुगादिगा वा,
जे कप्पणिज्जा जतिणो भवंति।
साली-फलादीण व णिक्कयम्मि,
पडेज्ज तेल्लं लवणं गुलो वा॥

शय्यातर तथा अन्य व्यक्तियों का सम्मिलित एक खेत है। क्षेत्रपूजा के समय शाली आदि पकाए जाते हैं अथवा मुनियों के लिए वहां कल्पनीय पृथक्–चिउडा आदि होते हैं, खेत में शाली, फल आदि होते हैं। उनको बेचने पर तैल, लवण, गुड़ आदि खरीदे जाते हैं। यह सारी क्षेत्रविषयक सागारिक की अंशिका है।

३६४८.जंते रसो गुलो वा, तेल्लं चक्कम्मि तेसु वा जं तू।
विक्केज्जंते पडितं, पवत्तणंते य पगयं वा॥

शय्यातर तथा अन्य व्यक्तियों का सम्मिलित इक्षुयंत्र तथा तिलयंत्र है। इक्षुयंत्र में रस या गुड़ होता है। तिलयंत्र को चक्र कहा जाता है। उसमें तिल आदि का तैल होता है। उनके विक्रय से तन्दुल, घृत, वस्त्र आदि लिए जाते हैं। यह यंत्रविषयक अंशिका है।

३६४९.गण-गोट्ठिमादि भोज्जा,भुत्तुव्वरियं व तत्थ जं किंचि।
भाउगमादीण पओ, अविभत्तं जं व गोवेणं॥

गण, गोष्ठी–जिसमें महत्तर आदि पांच विशिष्ट व्यक्ति होते हैं उनके लिए अथवा अन्य महाजनों के लिए जो भोज्य होते हैं, वह भोज्यविषयक अंशिका है। सागारिक के भाई, भतीजे का दूध जो सागारिक के साथ अविभक्त है अथवा गोपाल के साथ वाला दूध जो अविभक्त है वह क्षीर विषयक अंशिका है।

३६५०.पुप्फपणिएण आरामिगाण पडियं ण जाव उ विरिक्कं।
पक्खेवगादि समुहं, अचियत्तादी य पुव्वुत्ता॥

फूलों के विक्रय से मालाकार घी आदि खरीदता है वह अभी तक सागारिक के साथ विभक्त नहीं हुआ है। यदि सागारिक के सम्मुख उसमें से भक्त आदि लिया जाता है तो भद्रककृत प्रक्षेपक आदि दोष होते हैं और प्रान्तकृत पूर्वोक्त दोष होते हैं।

३६५१.अहवा वि मालकारस्स अंसियं अवणयंति भुज्जेसु।
सो य सगारो तेसिं, तं पि ण इच्छंति अविभत्तं॥

अथवा भोज आदि में मालाकार की अंशिका को पहले ही निकाल कर अलग रख देते हैं। वह मालाकार उन साधुओं का शय्यातर है तो साधु अविभक्त मालाकार की अंशिका को लेना नहीं चाहते।

३६५२.गेलण्णमाईसु उ कारणेसू,
माऽदिप्पसंगो ण य सव्वे गीता।
गिण्हंति पुंजा अविरेडियातो,
तस्सऽण्णतो वा वि विरेडियाओ॥

अपवादपद में ग्लानत्व, अवमौदर्य आदि कारणों में सर्वप्रथम शय्यातरपिंड लेने में अतिप्रसंग न हो तथा सभी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुनि गीतार्थ नहीं होते अतः सबसे पहले वे अविभक्त पुंज से, पश्चात् अन्य विभक्त राशि से सागारिक पिंड ग्रहण करे।

सागारियस्स पूयाभत्ते उद्देसिए चेइए पाहुडियाए, सागारियस्स उवगरणजाए निट्ठिए निसट्ठे पाडिहारिए, तं सागारिओ देइ सागारियस्स परिजणो देइ, तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिग्गाहित्तए॥

(सूत्र २४)

३६५३.दव्वे छिण्णमछिण्णं, ण कप्पती कप्पए य इति वुत्तं।
इदमण्णं पुण भावे, अव्वोच्छिण्णम्मि पडिसिद्धं॥

द्रव्य से छिन्न–विभक्त अंशिकाद्रव्य ग्रहण करना कल्पता है, अच्छिन्न–अविभक्त नहीं कल्पता, यह कहा गया है। प्रस्तुत सूत्र में यह अन्य बात कही जा रही है कि सागारिक की अव्यवच्छिन्न अंशिका भावतः प्रतिषिद्ध है।

३६५४.अविसेसिओ व पिंडो, हेट्ठिमसुत्तेसु एसमक्खातो।
इह पुण तस्स विभागो, सो पुण उवकरण भत्ते वा॥

अथवा पूर्व सूत्रों में अविशेषित–अविभक्त सागारिक पिंड कहा गया है। प्रस्तुत सूत्र में सागारिक पिंड के विभाग का कथन है। वह उपकरण अथवा भक्त हो सकता है।

३६५५.संबंधी सामि गुरू, पासंडी वा वि तं समुद्दिस्स।
पूया उक्खित्तं ति य, पट्ठगभत्तं च एगट्ठा॥

सागारिक का कोई संबंधी उसका स्वामी, गुरु अथवा पाषंडी–अन्यतीर्थिक है वह पूज्य होता है। उसको उद्दिष्ट कर जो किया जाता है वह पूज्यभक्त कहलाता है। पूज्यभक्त, उत्क्षिप्तभक्त तथा पट्टकभक्त–ये सभी एकार्थक हैं।

३६५६.चेइय कडमेगट्ठं, पाहुडिय पहेणगं च एगट्ठा।
उवगरणं वत्थादी, जाव विभागो व जोग्गं वा॥

चेतित और कृत–ये एकार्थक हैं। प्राभृतिका और प्रहेणक–ये एकार्थक हैं। उपकरण का अर्थ है–वस्त्र आदि। जितने विभाग उपकरणों के किए जाते हैं तथा जिसके लिए जो उपकरण योग्य है, वह वक्तव्य है।

३६५७.निट्ठिय कडं च उक्कोसकं च दिण्णं तु जाणसु णिसट्ठं।
भुत्तुव्वरियं पडिहारियं तु इयरं पुणो चत्तं॥

निष्ठित और कृत एकार्थक हैं। अथवा जो उत्कृष्ट वस्त्र आदि का निर्माण किया वह निष्ठित कहलाता है। जो दिया जाता है वह निसृष्ट कहलाता है। भोजन के पश्चात् जो शेष बचे वह हमें अर्पित करना है, वह प्रातिहारिक है। इतरत् अर्थात् अप्रातिहारिक वह है जिसका सागारिक ने पुनर् अदेयरूप में दे दिया है।

सागारियस्स पूयाभत्ते उद्देसिए चेइए पाहुडियाए, सागारियस्स उवगरणजाए निट्ठिए निसट्ठे पाडिहारिए, तं नो सागारिओ देइ नो सागारियस्स परिजणो देइ, सागारियस्स पूया देइ, तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिग्गाहित्तए॥

(सूत्र २५)

सागारियस्स पूयाभत्ते उद्देसिए चेइए पाहुडियाए सागारियस्स उवगरणजाए निट्ठिए निसट्ठे अपाडिहारिए, तं सागारिओ देइ सागारियस्स परिजणो देइ, तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिग्गाहित्तए॥

(सूत्र २६)

सागारियस्स पूयाभत्ते उद्देसिए चेइए पाहुडियाए सागारियस्स उवगरणजाए निट्ठिए निसट्ठे अपाडिहारिए, तं नो सागारिओ देइ, नो सागारियस्स परिजणो देइ, सागारियस्स पूया देइ, तम्हा दावए एवं से कप्पइ पडिग्गाहित्तए॥

(सूत्र २७)

३६५८.पूयाभत्ते चेतिए, उवकरणे णिट्ठिते णिसट्ठे य।
तं पि ण कप्पति घेत्तुं, पक्खेवगमादिणो दोसा॥

पूजा के निमित्त जो भक्त बनाया है, जो उपकरण निष्ठित किया है, वह अप्रातिहारिकरूप में दे दिया, उसे ग्रहण करना भी नहीं कल्पता, क्योंकि उसमें प्रक्षेपक आदि दोष तथा भद्रक, प्रान्तकृत दोष होते हैं।

वत्थ-पदं

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा 'इमाइं पंच' वत्थाइं धारित्तए वा परिहरित्तए वा, तं जहा–जंगिए भंगिए साणए 'पोत्तए तिरीडपट्टे' नामं पंचमे॥

(सूत्र २८)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३६५९.उवगरणं चिय पगयं,
तस्स विभागो उ बितिय-चरिमम्मि।
आहारो वा वुत्तो,
इदाणि उवधिस्स अधिकारो॥

पूर्वसूत्र में उपकरण का अधिकार था। अतः उपकरण के विभाग की प्ररूपणा द्वितीय उद्देशक के अंतिम दो सूत्रों में है। अथवा पूर्वसूत्र में आहार का कथन था, प्रस्तुत सूत्र में उपकरण का अधिकार है।

३६६०.ताइं विरूवरूवाइं देइ वत्थाणि ताणि वा घेत्तुं।
सेस जतीणं देज्जा, तत्थ इमे पंच कप्पंति॥

शय्यातर उन विरूपरूप वस्त्रों को अपने पूज्य कलाचार्य आदि को देता है। वे पूज्य व्यक्ति उनमें से बचे वस्त्रों को यतियों को देते हैं। उन दीयमानवस्त्र में से इन पांच प्रकार के वस्त्रों को ग्रहण करना कल्पता है।

३६६१.जंगमजायं जंगिय, तं पुण विगलिंदियं च पंचिंदी।
एक्केक्कं पि य एत्तो, होति विभागेणऽणेगविहं॥

जंगम प्राणियों से उत्पन्न जंगिक कहलाता है। वह द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय प्राणियों से निष्पन्न होता है। इनमें प्रत्येक विभाग के अनेक प्रकार होते हैं।

३६६२.पट्ट सुवन्ने मलए, अंसुग चीणंसुके च विगलेंदी।
उण्णोट्टिय मियलोमे, कुतवे किट्टे त पंचेंदी॥

विकलेन्द्रिय से निष्पन्न–पट्टसूत्रज, सुवर्ण–सुवर्ण वर्णवाले सूत्र कई कृमियों के होते हैं, उनसे निष्पन्न, मलयज–मलय देश में उत्पन्न, अंशुक–चिकने या सूक्ष्म तंतुओं से बना, चीनांशुक–कोशिकार नामक कृमि से निष्पन्न अथवा चीन देश में निष्पन्न। पंचेन्द्रिय से निष्पन्न–और्णिक, औष्ट्रिक, मृगरोमज, कुतप–छाग के रोम से निष्पन्न और किट्ट–पंचेन्द्रिय प्राणी (छाग आदि) के रोम से निष्पन्न।

३६६३.अतसी-वंसीमादी, उ भंगियं साणियं च सणवक्के।
पोत्तय कप्पासमयं, तिरीडरुक्खा तिरिडपट्टो॥

अतसीमय अथवा वंशकरीत से निर्मित भांगिक, सनवृक्ष की छाल से निर्मित सानक, कार्पासमय पोतक तथा तिरीटवृक्ष की छाल से निर्मित तिरीटपट्टक कहलाता है।

३६६४.पंच परूवेऊणं पत्तेयं गेण्हमाण संतम्मि।
कप्पासिगा य दोण्णि उ, उण्णिय एक्को य परिभोगो॥

इन पांच प्रकार के वस्त्रों (जांगिक, भांगिक, सानक, पोतज और तिरीटपट्ट) की प्ररूपणा कर प्रत्येक साधु के प्रायोग्य वस्त्र ग्रहण करते हुए यदि प्राप्ति हो तो कार्पासिक कल्प और एक और्णिक कल्प का उपभोग करना चाहिए।

३६६५.एक्कोन्नि सोत्ति दोण्णी,
तिण्णि वि गेण्हिज्ज उण्णिए लहुओ।
पाउरमाणे चेवं,
अंतो मज्झे व जति उण्णी॥

एक और्णिक और दो सौत्रिक कल्प–प्रत्येक मुनि के लिए ग्राह्य है। यदि तीनों कल्प और्णिक या सौत्रिक ग्रहण किए जाते हैं तो मासलघु का प्रायश्चित्त है। यदि एक और्णिक कल्प को ही प्रावरण के काम में लेता है, अथवा अन्तर या मध्य में और्णिक (दोनों सौत्रिक कल्पों के मध्य भाग में) का प्रावरण करता है तो भी मासलघु का प्रायश्चित्त आता है।

३६६६.अब्भिंतरं व बाहिं, बाहिं अब्भिंतरं करेमाणे।
परिभोगविवच्चासे, आवज्जइ मासियं लहुअं॥

जो मुनि प्रावरणों का व्यत्यय करता है अर्थात् अभ्यंतर प्रावरण को बाहर और बाहर प्रावरण को अभ्यन्तर में प्रयोग करता है, उसे मासलघु का प्रायश्चित्त आता है। (विधि यह है–सौत्रिक भीतर और और्णिक बाहर।)

३६६७.छप्पइय-पणगरक्खा, भूसा उज्झायणा य परिहरिया।
सीतत्ताणं च कतं, खोम्मिय अब्भिंतरे तेण॥

और्णिक को भीतर रखने पर जूंएं पड़ जाती हैं और उसमें पनक लग सकती है। विधियुक्त उसका परिभोग होने पर पनक की रक्षा हो सकती है। सौत्रिक को बाहर रखने से विभूषा होती है। इस विधि से परिभोग करने पर 'उज्झायणा'–दुर्गन्ध का भी परिहार हो जाता है। इससे शीतत्राण भी होता है। अतः क्षौमिक अर्थात् कार्पासिक वस्त्र को भीतर ओढ़ा-पहना जाए।

३६६८.कप्पासियस्स असती, वागय पट्टे य कोसियारे य।
असती य उण्णियस्सा, वागत कोसेज्ज पट्टे य॥

यदि कार्पासिक वस्त्र की प्राप्ति न हो तो वल्कज, उसके अभाव में पट्टवस्त्र और उसके अभाव में कौशिकारवस्त्र ग्रहण करे। और्णिक वस्त्र के अभाव में वल्कज, उसके अभाव में कौशेय, उसके अभाव में पट्टज वस्त्र ग्राह्य होता है।

३६६९.ण उण्णियं पाउरते तु एक्कं,
दोण्णी जता खोम्मिय उण्णियं च।
दो सुत्ति अंतो बहि उण्णि तीसु,
दुगादि उण्णी वि बहिं परेणं॥

केवल एक और्णिक कल्प का प्रावरण न करे। अकेले सौत्रिक कल्प का प्रावरण किया जा सकता है। जब दो कल्पों का परिभोग करना होता है तब सौत्रिक भीतर और और्णिक बाहर। तीनों कल्पों का परिभोग, करना हो तो दो सौत्रिक भीतर और एक और्णिक बाहर। यदि दो-तीन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और्णिक कल्पों का उपभोग करना हो तो सौत्रिक के ऊपर उनको रखे।

३६७०.पंचण्हं वत्थाणं, परिवाडीगाए होइ गहणं तु।
उप्परिवाडी गहणे, पच्छित्ते मग्गणा होइ॥

जंगिक आदि पांचों प्रकार के वस्त्रों का ग्रहण परिपाटी से करें। परिपाटी यह है—कार्पासिक, और्णिक, वल्कज, पट्टज आदि। इस परिपाटी का उल्लंघन कर ग्रहण करने पर प्रायश्चित्त की मार्गणा होती है—जैसे जघन्य उपधि को परिपाटी का उल्लंघन कर ग्रहण करने पर पांच रात-दिन, मध्यम का मासलघु और उत्कृष्ट का चतुर्लघु।

३६७१.अलंभऽहाडस्स उ अप्पकम्मं,
अलंभे तस्सावि उ जं सकम्मं।
एतं अकाउं चउरो उ मासा,
भवंति वत्थे परिवाडिहीणे॥

यथाकृत वस्त्र वह है जिसमें छेदन, सीवन और संधान इनमें से किसी भी प्रकार का परिकर्म नहीं होता। यदि यथाकृत वस्त्र की प्राप्ति न हो तो अल्प परिकर्म वाला वस्त्र ले और यदि उसकी भी प्राप्ति न हो तो सकर्म अर्थात् बहुत परिकर्म वाला वस्त्र ग्रहण करे। यदि इस क्रम का उल्लंघन होता है तो प्रायश्चित्त है चार लघुमास। यथाकृत आदि के विपर्यास से वस्त्र ग्रहण करने पर उत्कृष्ट का चतुर्लघु, मध्यम का मासिक और जघन्य का पंचक। यह परिपाटीहीन ग्रहण का प्रायश्चित्त है। प्राघूणक

३६७२.अद्धाणमाईसु उ कारणेसुं,
कुज्जा अलंभम्मि उ उक्कमं पि।
गेलन्नमादीसु विवज्जयं वा,
असतीय कुज्जा खलु खुम्मियस्स॥

मुनि बहुत लंबे मार्ग से चल रहे हैं अथवा दूर से चलकर आए हैं आदि कारणों से वस्त्र का अलाभ होने पर वे उत्क्रम से भी वस्त्र ले सकते हैं। ग्लानत्व आदि कारणों में वस्त्रों के परिभोग में भी विपर्यास किया जा सकता है। क्षौमिक कल्प की अप्राप्ति होने पर अकेले और्णिककल्प का भी परिभोग किया जाता है।

रयहरण-पदं

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा इमाइं पंच रयहरणाइं धारित्तए वा परिहरित्तए वा, तं जहा—'उण्णिए उट्टिए' साणए वच्चापिच्चिए मुंजापिच्चिए नाम पंचमे॥ —त्ति बेमि॥ (सूत्र २९)

३६७३.उदितो खलु उक्कोसो,
उवही मज्झिममिदाणि वोच्छामि।
संखा व एस सरिसी,
पाउंछण सुत्तसंबंधो॥

पूर्वसूत्र में उत्कृष्ट उपधि का कथन किया गया है। अब मध्यम उपधि—रजोहरण का कथन करूंगा। संख्या की दृष्टि से दोनों—वस्त्र और रजोहरण (पादप्रोञ्छन) समान हैं। यह पूर्वसूत्र का प्रस्तुत सूत्र के साथ संबंध है।

३६७४.अब्भिंतरं च बज्झं, हरति रयं तेण होइ रयहरणं।
तं उण्णि उट्टि सणयं, वच्चयचिप्पं च मुंजं च॥

आभ्यन्तर और बाह्य रजों का हरण करता है इसलिए इसे रजोहरण कहा जाता है। वह पांच प्रकार का है—और्णिक, औष्ट्रिक, शनक, वच्चकचिप्पग और मुंजचिप्पक।

३६७५.वच्चक मुंजं कत्तंति चिप्पिउं तेहि वूयए गोणी।
पाउरणऽत्थुरणाणि य, करेंति देसिं समासज्ज॥

वच्च (दर्भाकार तृणविशेष) और मूंज—पहले इनको कूट कर, फिर काता जाता है। उस वर्चक सूत से तथा मूंज सूत से बोरा बनाया जाता है। कई देश विशेष में इनसे प्रावरण और आस्तरण भी बनाए जाते हैं। उनसे निष्पन्न रजोहरण वच्चकचिप्पक और मूंजचिप्पक कहा जाता है।

३६७६.रयहरणपंचगस्सा, परिवाडीयाए होति गहणं तु।
उप्परिवाडी गहणे, आवज्जति मासियं लहुअं॥

रजोहरण पंचक का ग्रहण परिपाटी से होता है। परिपाटी के विपरीत ग्रहण करने पर लघु मासिक प्रायश्चित्त आता है।

३६७७.तिविहोत्तिय असतीए, उट्टियमादीण गहण धरणं तु।
उप्परिवाडी गहणे, तत्थ वि सट्ठाणपच्छेत्तं॥

यथाकृत आदि के भेद से तीन प्रकार के और्णिक रजोहरण हो उनको पहले ग्रहण करना चाहिए। यदि और्णिक न मिले तो औष्ट्रिक आदि चारों प्रकार के रजोहरणों का यथाक्रम ग्रहण करे। परिपाटी का उल्लंघन कर ग्रहण करने पर स्वस्थान प्रायश्चित्त अर्थात् मध्यम उपधि का प्रायश्चित्त लघुमास प्राप्त होता है।

३६७८.उट्ट-सणा कुच्छंती, उल्ला इयरेसु मद्दवं णत्थि।
तेणोण्णियं पसत्थं, असतीय उ उक्कमं कुज्जा॥

औष्ट्रिक और शनज—दोनों प्रकार के रजोहरण वर्षाकाल में आर्द्रता के कारण कुथित हो जाते हैं। वच्चकचिप्पक और मुंजचिप्पक रजोहरण मृदु नहीं होते। इसलिए और्णिक रजोहरण प्रशस्त है। उसकी प्राप्ति न होने पर उत्क्रम से भी ग्रहण किया जा सकता है।

द्वितीय उद्देशक समाप्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन परंपरा में मुख्यरूप से चार भाष्य प्रचलित हैं—दशाश्रुतस्कंध, बृहत्कल्प, व्यवहार और निशीथ। इनका निर्यूहण पूर्वों से हुआ, इसलिए इनका बहुत महत्त्व है। इनके निर्यूहणकर्त्ता भद्रबाहु 'प्रथम' माने जाते हैं। 'बृहत्कल्पभाष्य के प्रणयिता संघदास-गणी हैं। प्रस्तुत ग्रंथ के टीकाकार आचार्य मलयगिरि और आचार्य क्षेमकीर्ति हैं। मलयगिरि ने प्रारंभिक ६०६ गाथाओं की टीका लिखी। तत्पश्चात् क्षेमकीर्ति ने उसे आगे बढ़ाकर टीका संपन्न की।

शिष्य ने प्रश्न किया कि मूल आगमों के होते हुए छेदसूत्रों का क्या महत्त्व है? आचार्य कहते हैं—अंग, उपांग आदि मूलसूत्र हैं। वे मार्गदर्शक और प्रेरक हैं। परन्तु यदि साधु संयम में स्खलना करता है और वह अपनी स्खलना की शुद्धि करना चाहता है तो वे मूल आगम उसको दिशा-निर्देश नहीं दे सकते। दिशा-निर्देश और स्खलना की विशुद्धि छेदसूत्रों द्वारा ही हो सकती है। वे प्रायश्चित्तसूत्र हैं और प्रत्येक स्खलना की विशोधि के लिए साधक को प्रायश्चित्त देकर स्खलना का परिमार्जन और विशोधि कर साधक को शुद्ध कर देते हैं, इसीलिए उनका महत्त्व है।

भाष्यों की वाचना के विषय में कहा जाता है कि हर किसी को, हर किसी वेला में इनकी वाचना नहीं देनी चाहिए। ये रहस्य सूत्र हैं। सामान्य आगमों से इनकी विषयवस्तु भिन्न है। इनमें उत्सर्ग और अपवाद-विषयक अनेक स्थल हैं। हर कोई उन स्थलों को पढ़कर या सुनकर पचा नहीं सकता और तब वह निर्ग्रन्थ प्रवचन से विमुख होकर स्वयं भ्रांत होकर, अनेक व्यक्तियों को भ्रांत कर देता है, इसीलिए इनकी वाचना के विषय में पात्र-अपात्र का निर्णय करना बहुत आवश्यक हो जाता है। गृहस्थों को तो इनकी वाचना देनी ही नहीं है, साधुओं में सभी साधु इनकी वाचना देने योग्य नहीं होते।

सम्पादकीय से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन विश्व भारती द्वारा प्रकाशित आगम साहित्य

वाचना प्रमुख : आचार्य तुलसी

संपादक – विवेचक : आचार्य महाप्रज्ञ

(मूल पाठ पाठान्तर शब्द सूची सहित)

ग्रंथ का नाम	मूल्य
• अंगसुत्ताणि भाग-१ (दूसरा संस्करण) (आयारो, सूयगडो, ठाणं, समवाओ)	७००
• अंगसुत्ताणि भाग-२ (दूसरा संस्करण) (भगवई-विआहपण्णत्ती)	७००
• अंगसुत्ताणि भाग-३ (दूसरा संस्करण) (नायाधम्मकहाओ, उवासगदसाओ, अंतगडदसाओ, अणुत्तरोववाइयदसाओ, पण्णावागरणाइं, विवागसुयं)	५००
• उवंगसुत्ताणि खंड-१ (ओवाइयं, रायपसेणइयं, जीवाजीवाभिगम)	५००
• उवंगसुत्ताणि खंड-२ (पण्णवणा, जंबूद्दीवपण्णत्ती, चंदपण्णत्ती, कप्पवडिंसियाओ, निरयावलियाओ, पुप्फियाओ, पुप्फचूलियाओ, वण्हिदसाओ)	६००
• नवसुत्ताणि (द्वितीय संस्करण) (आवस्सयं, दसवेआलियं, उत्तरज्झयणाणि, नंदी, अणुओगदाराइं)	६९५

कोश

• आगम शब्दकोष (अंगसुत्ताणि तीनों भागों की समग्र शब्द सूची)	३००
• श्री भिक्षु आगम विषय कोश, भाग-१	५००
• श्री भिक्षु आगम विषय कोश, भाग-२	५००
• देशी शब्दकोश	१००
• निरुक्त कोश	६०
• एकार्थक कोश	७०
• जैनागम वनस्पति कोश (सचित्र)	३००
• जैनागम प्राणी कोश (सचित्र)	२५०
• जैनागम वाद्य कोश (सचित्र)	२५०

अन्य भाषा में आगम साहित्य

• भगवती जोड़ खंड-१ से ७ श्रीमज्जयाचार्य सेट का मूल्य	२९००
• आयारो (अंग्रेजी)	२५०
• आचारांगभाष्यम् (अंग्रेजी)	४००
• भगवई खंड-१ (अंग्रेजी)	५००
• उत्तरज्झयणाणि भाग-१, २ (गुजराती)	१०००
• सूयगडो (गुजराती)	

(मूल, छाया, अनुवाद, टिप्पण, परिशिष्ट-सहित)

ग्रंथ का नाम	मूल्य
• आयारो	२००
• आचारांगभाष्यम्	५००
• सूयगडो (तीसरा संस्करण)	६००
• ठाणं	७००
• समवाओ (दूसरा संस्करण)	प्रेस में
• भगवई (खंड-१)	५९५
• भगवई (खंड-२)	६९५
• भगवई (खंड-३)	५००
• भगवई (खंड-४)	५००
• भगवई (खंड-५)	प्रेस में
• नंदी	३००
• अणुओगदाराइं	४००
• दसवेआलियं (तीसरा संस्करण)	५००
• उत्तरज्झयणाणि (चौथा संस्करण)	६००
• नायाधम्मकहाओ	५००
• दसवेआलियं (गुटका)	७
• उत्तरज्झयणाणि (गुटका)	२५

अन्य आगम साहित्य

• निर्युक्तिपंचक (मूल, पाठान्तर)	५००
• सानुवाद व्यवहार भाष्य	५००
• व्यवहार भाष्य (मूल, पाठान्तर, भूमिका, परिशिष्ट)	७००
• बृहत्कल्पभाष्यम् खण्ड-१ (सानुवाद)	५००
• बृहत्कल्पभाष्यम् खण्ड-२ (सानुवाद)	५००
• गाथा (आगमों के आधार पर भगवान महावीर का जीवन दर्शन रोचक शैली में)	३५०
• आत्मा का दर्शन (जैन धर्म : तत्त्व और आचार)	५००

प्राप्ति स्थान :

जैन विश्व भारती

लाडनूं – ३४१३०६ (राज.)

ISBN - 81-7195-132-5

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org